।। णमोऽत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।।

(श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज के 62वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में प्रकाशित)

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

प्रथम श्रुतस्कन्ध

(संस्कृतच्छाया-पदार्थान्वय-मूलार्थ, हिन्दी-विवेचन एवं अध्यात्मसार सहित)

व्याख्याकार :

जैनधर्मदिवाकर, जैनागमरत्नाकर

आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

सम्पादक :

जैनधर्मदिवाकर ध्यानयोगी

आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज

प्रकाशक :

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति (लुधियाना)

भगवान महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सैंटर ट्रस्ट (दिल्ली)

आगम	:	**श्री आचाराङ्ग सूत्रम्** (प्रथम श्रुत स्कन्ध)
व्याख्याकार	:	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
सपादक	:	आचार्य सम्राट् डॉ श्री शिवमुनि जी महाराज
पूर्व-स सपादक	:	मुनि समदर्शी
सपादन-सहयोग	:	1 उपाध्याय श्री रमेश मुनि जी शास्त्री
		2 श्रमण सघीय मत्री श्री शिरीष मुनि जी
		3 महासती श्री कौशल्या जी म सा 'श्रमणी'
		4 महासती श्री मजुश्री जी म सा.
		5 महासती श्री सरिता जी म सा.
		6. महासती श्री रविरश्मि जी म सा.
प्रकाशक	:	आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना
	:	भगवान महावीर रिसर्च एड मेडीटेशन सेटर ट्रस्ट, नई दिल्ली
द्वितीयावृति	:	18 सितम्बर 2003
प्रतिया	:	1100
मूल्य	:	पाँच सौ रुपये
प्राप्ति स्थान	.	1. भगवान महावीर मेडिटेशन एंड रिसर्च सैटर ट्रस्ट श्री आर के. जैन, एस-ई 62-63, सिंघलपुर विलेज, शालीमार बाग, नई दिल्ली दूरभाष · 32030139, (ऑ) 27430082
		2 पूज्य श्री ज्ञान मुनि जैन फ्री डिस्पेसरी, डाबा रोड, नजदीक विजेन्द्र नगर, जैन कॉलोनी, लुधियाना
		3 श्री चन्द्रकान्त एम मेहता, ए-7, मोन्टवर्ट-2, सर्वे नं 128/2ए, पाषाण सुस रोड, पूना-411021 दूरभाष : 020-5862045
मुद्रण व्यवस्था	:	कोमल प्रकाशन C/o विनोद शर्मा, म न 2087/7 गली न. 20, शिव मन्दिर के पास, प्रेम नगर, (निकट बलजीत नगर) नई दिल्ली-110008 दूरभाष. 011-25873841, 9810765003

★ प्रकाशकीय ★

आगम-साहित्य वस्तुत· ज्ञान-विज्ञान का अक्षय-अपूर्व कोष है। ऐसा कोई भी विषय नही है, जिसके सन्दर्भ मे विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप से विचारणा नही की गई हो। वास्तव मे आगम-वाड्मय हमारे धर्म और अध्यात्म, समाज और सस्कृति की आधारशिला है। मूल्यवान एवं प्राणवान निधि है। सर्वस्व रूप है और सर्वेसर्वा है।

हमे इससे अतिशय प्रसन्नता है कि जैनागम-साहित्य के सर्वथा मौलिक और विशेष मार्मिक व्याख्याता तथा गहन-गम्भीर अध्येता आराध्यस्वरूप आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म. ने अपने जीवनकाल में आगम-साहित्य पर जिस युग में विस्तृत टीकाएँ निर्मित की, तलस्पर्शी विचारणा प्रस्तुत की, वह सब आधुनिक युग मे भी महत्त्वपूर्ण है, उपयोगी और प्रयोगी सिद्ध है।

श्रद्धास्पद आचार्यश्री जी द्वारा प्रणीत आगम-टीकाएँ प्रलम्ब समय से दुर्लभ हो गई, दुष्प्राप्य हो गई और उनकी मॉग नित्य निरन्तर बढ़ती गई। जैन धर्म दिवाकर आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म ने भगवान महावीर के 26 सौवें जन्मकल्याणक वर्ष के ऐतिहासिक अवसर और चादर महोत्सव के पावन प्रसंग पर दृढ़तापूर्वक सत्सकल्प किया कि आचार्य श्री आत्माराम जी म. द्वारा विवेचित आगम और लिखित साहित्य का पुन प्रकाशन किया जाए। आपश्री जी ने इस दिशा मे क्रियात्मक पदन्यास किया, आपश्री जी के इस चिरसचित, चिरअभिलषित और चिरप्रतीक्षित स्वप्न को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु **'आत्म ज्ञान शिव आगम प्रकाशन'** नामक संस्था का गठन हुआ है। उक्त सस्था के संगठन में श्री हीरालाल जी जैन, श्री राजेन्द्रपाल जी जेन, श्री रामकुमार जी जैन आदि समाज के प्रतिष्ठित और गण्यमान्य व्यक्तियों का प्रशसनीय श्रम और सहयोग रहा है।

'आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति' द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला यह प्रथम आगम है। परम पूज्य आचार्य भगवन श्री शिवमुनि जी महाराज एवं श्री शिरीष मुनि जी महाराज के दिशानिर्देशन मे हमारा यह पूर्ण प्रयास रहा है कि प्रकाशनादि

दृष्टि से प्रस्तुत आगम सर्वागसुन्दर और सर्वजन उपयोगी सिद्ध हो। परम पूज्य आचार्यश्री जी ने प्रस्तुत आगम का बारीकी से अध्ययन कर पूर्व प्रकाशन मे रह गई त्रुटियो को भी दूर किया है तथा अध्यात्मसार के रूप मे विस्तृत आलेख लिखकर आचाराङ्ग में प्रवेश को अत्यन्त सरल और सुबोध भी बना दिया है।

अपने इस प्रथम भागीरथ प्रयास पर 'आत्म-ज्ञान शिव आगम प्रकाशन समिति' स्वय को धन्य मानती है कि इसे प्रथम चरण में ही 'आचाराङ्ग' जैसे ज्ञान-गम्भीर और साध्वाचार के कोष स्वरूप आगम को प्रकाशित करने का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ है। हम आशा करते है कि निकट भविष्य में ही हमें पूज्य प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित आगमो के प्रकाशन का सौभाग्य मिलता रहेगा। इसी मगल मनीषा के साथ–

आत्म-ज्ञान-शिव आगम प्रकाशन समिति
लुधियाना (पजाब)

हार्दिक धन्यवाद

एस.एस. जैन श्रीसंघ मालेर कोटला उत्तर भारत का सुविख्यात श्री संघ है। यहां स्थानकवासी श्री सघ का शताब्दियों से वर्चस्व रहा है। यहां के श्रावक और श्राविकाएं जैन धर्म के प्रति पूर्णत: समर्पित और भद्र व सरल हैं। श्रमण और श्रमणियों के प्रति श्रद्धा जैन और जैनेतर वर्ग में समान रूप से देखने को मिलती है। इस नगर में हिन्दु, मुस्लिम, जैन आदि सभी वर्ग शुरू से ही पारस्परिक प्रेम, भ्रातृत्व और सौहार्दपूर्ण ढंग से रहते है

मालेर कोटला नगर एक ऐतिहासिक नगर है। यहा का जैन इतिहास भी काफी प्राचीन है। यह नगर आचार्य प्रवर श्री मोतीराम जी महाराज की तपोभूमि के रूप मे जैन जगत में प्रसिद्ध है। यहा पर कई महान संतो के चातुर्मास समय-समय पर होते रहे है। जिनमें आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म0 का चातुर्मास विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वर्तमान (सन् 2003) मे श्रमण संघीय चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी महाराज का चातुर्मास प्रगति पर है। आचार्य श्री का यह चातुर्मास अविस्मरणीय और ऐतिहासिक रहा है। जप, तप और ध्यान की अपूर्व लहर नगर के आबालवृद्ध में दिखाई दे रही है।

मालेर कोटला नगर निवासियो में अपूर्व धर्म श्रद्धा के साथ-साथ श्रुतसेवा और दान के प्रति भी काफी भाव है। उसी भाव का परिणाम है प्रस्तुत आगम का प्रकाशन। आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति श्रीसंघ मालेर कोटला का तथा सहयोगी भाई-बहनों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती है।

आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति

श्री आचारांग सूत्रम् के प्रकाशन सहयोगी

(1) एस एस जैन बिरादरी, तपावाली
(मालेर कोटला)

(2) सघरत्न दानवीर सेठ लाला श्री श्रीराम जी जैन सर्राफ
श्री मोहन लाल जी जैन (सुपुत्र)
श्रीमती कमला रानी जैन (पुत्रवधु)
मै० गौरी मल श्रीराम जैन ज्वैलर्स, सदर बाजार, मालेर कोटला

(3) श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन
मच्ची दुकान रजिस्टर्ड, क्लॉथ मर्चेट, मोती बाजार, मालेर कोटला
जिला सगरुर (पजाब)-148023 फोन : 01675-253269

(4) श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन
प्रधान एस एस जैन सभा, मालेर कोटला
मै० जैन कोलोनाईजर्स एण्ड बिल्डर्स, क्लब रोड, मालेर कोटला
घर पटेल स्ट्रीट, म न 24/208 मालेर कोटला

(5) श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया
मालेर कोटला

(6) श्रीमती एव श्री रतनचन्द जी जैन एव सरा
पार्टनर कमल थियेटर, मालेर कोटला (पजाब)
फोन : 263402 (नि) 253018 (ऑ)

(7) श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व श्री डोगरमल जी जैन
श्रीमती रक्षा देवी जैन धर्मपत्नी (मालिक मोती टाकिज)
अमित कुमार जैन (सुपुत्र), श्रीमती रूचि जैन (पुत्रवधु)
मालेर कोटला, फोन · 263221, 263409

(8) श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र
श्री केसरी दास जी जैन
मोती बाजार, मालेर कोटला

श्री आत्म-ज्ञान-श्रमण-शिव आगम प्रकाशन समिति के

सहयोगी सदस्य

(1) श्री महेन्द्र कुमार जी जैन, मिनी किंग लुधियाना
(2) श्री शोभन लाल जी जैन, लुधियाना
(3) आर.एन ओसवाल परिवार, लुधियाना
(4) सुश्राविका सुशीला बहन लोहटिया, लुधियाना
(5) स्त्री सभा, रूपा मिस्त्री गली, लुधियाना
(6) स्व० श्री सुशील कुमार जी जैन, लुधियाना
(7) एस.एस. जैन सभा, जगराओ
(8) सुश्राविका लीला बहन, मोगा
(9) वर्धमान शिक्षण सस्थान, फरीदकोट
(10) एस.एस. जैन सभा, गीदडबाहा
(11) एस.एस. जैन सभा, केसरी-सिह-पुर
(12) उमेश बहन, लुधियाना
(13) श्री नवरग लाल जैन
(14) श्री विद्यारत्न जी चौधरी, हनुमानगढ
(15) एस एस जैन सभा, रत्नपुरा
(16) श्री हेमराज जैन, सगरिया
(17) श्री एस.एस. जैन सभा, रानिया
(18) श्री एस.एस. जैन सभा, सरदूलगढ
(19) श्रीमती शकुन्तला जैन धर्मपत्नी श्री राजकुमार जैन, सिरसा
(20) एस.एस. जैन सभा, बरनाला
(21) श्री रवीन्द्र कुमार जैन, भठिण्डा
(22) लाला श्री श्रीराम जी जैन सर्राफ, मालेर कोटला
(23) श्री चमनलाल जी जैन सुपुत्र श्री नन्द किशोर जी जैन, मालेर कोटला
(24) श्रीमती मूर्ति देवी जैन धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी जैन (अध्यक्ष), मालेर कोटला
(25) श्रीमती माला जैन धर्मपत्नी श्री राममूर्ति जैन लोहटिया, मालेर कोटला
(26) श्रीमती एव श्री रत्नचन्द जी जैन एड सस, मालेर कोटला
(27) श्री बचनलाल जी जैन सुपुत्र स्व श्री डोगरमल जी जैन, मालेर कोटला
(28) श्री अनिल कुमार जैन, श्री कुलभूषण जैन सुपुत्र श्री केसरीदास जैन, मालेर कोटला
(29) श्री एस.एस. जैन सभा, मलौट मण्डी
(30) श्री एस.एस. जैन सभा, सिरसा
(31) श्रीमती काता जैन धर्मपत्नी श्री गोकुलचन्द जी जैन, शिरडी (महाराष्ट्र)
(32) किरण बहन, रमेश कुमार जैन, बोकड़िया, सूरत
(33) श्री श्रीपत सिह, गोखरु, जुहू स्कीम मुम्बई
(34) एस.एस. जैन बिरादरी, तपावाली (मालेर कोटला)

★ गुर्वावली ★

(मनहर छन्द)

अणुत्तरेहि गुणसहस्सेहि जुत्तो, सागरो व्व गम्भीरो दीहदंसी महप्पा।
नाहस्स सण्णा सिरिमोत्तीरामो, आयरिओ आसी विसालकित्ती॥1॥

तस्सतेवासी पुण्णपुञ्जस्सामी, कुम्मोव दतो ससीव सोमो।
थेरे मुणी गणवई य नामेण, गणावच्छेइ अ पयालंकिओ॥2॥

तस्स सीसे य महाणुभावो, गुरुभत्तिकारओ पण्णालधीरो।
विक्खायकित्ती जयरामो नाम, रत्तो वएसु सया अपमत्ती॥3॥

तस्स दिक्खिओ इगियागारसम्पन्नो, सुहुमनाणेसु आसी विसारओ।
नामत्थि जस्स सिरिसालिग्गामो, तस्स पसाएण लिहिओ एस गथो॥4॥

आयारधम्मदप्पणमिव संतिकर, आयारसुय अघतिमिरविणासय।
साहु आयार बोहय वीरेण पण्णत्त, चारित्तविवड्ढण मोक्खमग्गपयासय॥5॥

इम्मस्स सुयस्स 'हिंदी' पयत्थ्यो, छाया आदि विभूसिओ य।
लिहिओ मया गुरुपसाएण आइरिएण अप्पारामेण॥6॥

'वीर' प्रभु महाप्राण 'सुधर्मा' जी गुणखान।
'अमर' जी युगभान महिमा अपार है॥

'मोती राम' प्रज्ञावन्त 'गणपत' गुणवन्त।
'जयराम' जयवन्त सदा जयकार है॥

ज्ञानी ध्यानी 'शालीग्राम' जैनाचार्य 'आत्माराम'।
'ज्ञान' गुरु गुणधाम नमन हजार है॥

ध्यानयोगी 'शिवमुनि' मुनियो के शिरोमणि।
पुज्यवर प्रज्ञाधनी 'शिरीष' नैय्यापार है॥

श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी म०

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर
आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी म०

श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर
आचार्य सम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी म०

श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर
आचार्य सम्राट् श्री शिव मुनि जी म०

स्वामी श्री रुप चन्द जी महाराज
जन्म माघवदी दसवीं सं० 1868, स्वर्गवास ज्येष्ठ सुदी द्वादसी सं० 1937

एस० एस० जैन बिरादरी तपावली (मालेर कोटला)

श्री कीमतराय जैन, एडवोकेट
प्रधान

श्री सतीश कुमार जैन, एडवोकेट
मंत्री

जैन धर्म दिवाकर जैनागम रत्नाकर ज्ञान महोदधि
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज

बहुश्रुत, पंजाब केसरी, गुरुदेव
श्री ज्ञान मुनि जी महाराज

जैन धर्म दिवाकर ध्यान योगी
आचार्य सम्राट् डा० श्री शिवमुनि जी महाराज

सधुरत्न श्रमण श्रेष्ठ कर्मठ योगी
श्रमण संघीय मंत्री श्री शिरीष मुनि जी म०

श्रुत-सेवा
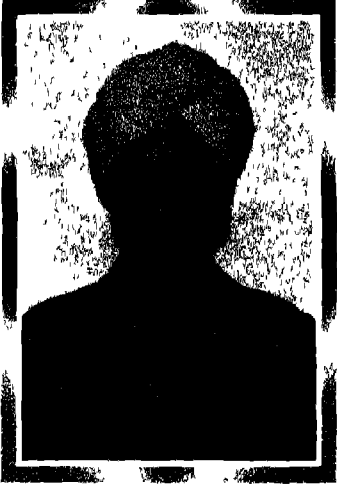
श्री श्रीराम सर्राफ जैन

श्री चमन लाल जैन

श्री बचन लाल जैन
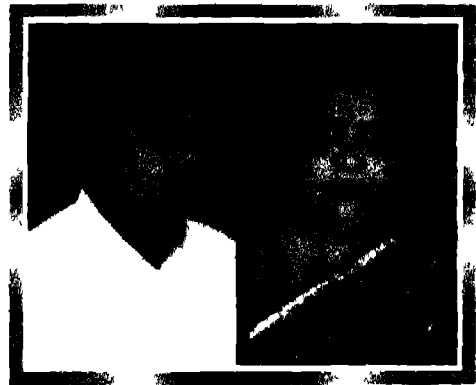
श्री रतन लाल जैन एवं श्रीमती मूर्ती देवी जैन

श्रुत-सेवा

श्रीमती एवं श्री रत्न चन्द जैन

श्रीमती माला जैन

श्री कुलभूषण कुमार जैन

श्री अनिल कुमार जैन

आचार्य श्री की कलम से

प्रस्तुत संस्करण आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी महाराज द्वारा व्याख्यायित आचारांग का सशोधित और परिवर्द्धित रूप है। वर्तमान में प्राप्त आगमो में आचार्यश्री की व्याख्या सर्वाधिक सरल, सुबोध, सरस और विस्तृत है। आचार्यश्री ने आचाराग के शब्द-शब्द को अर्थ की सुबोध व्याख्या प्रदान की है तथा आगमकार के कथ्य को अत्यन्त सरल रूप मे प्रस्तुत किया है। मैं समझता हूँ कि अज्ञ और विज्ञ, बालक और वृद्ध सभी स्तर के पाठक पूज्यश्री के आगमों को न केवल सरलता से पढ सकते है, अपितु समझ भी सकते है। पूज्यश्री की व्याख्या के इसी पक्ष ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया और मैंने निश्चय किया कि सर्वजनकल्याण के लिए आचार्यश्री के व्याख्या वाङ्मय को पुन प्रकाशित कराकर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।

आचाराग के प्रस्तुत अभिनव सस्करण में श्रद्धास्पद आचार्य श्री आत्माराम जी म के आशीवार्द एव अनुग्रह के फलस्वरूप इस आगमरत्न का विशेषत. स्वाध्याय करते समय जिन-शासनमाता की महती कृपा से आगमो मे निहित निगूढ रहस्य एव जैन साधना की विधियाँ प्राप्त हुई, जिसे हमने अनुभूति के स्तर पर आत्मसात् किया। साथ ही, सम्प्राप्त उन ज्ञान-रत्नों को शब्द रूप मे 'अध्यात्मसार' शीर्षक से कतिपय उद्देशकों के अन्त में प्रस्तुत किया है, जो मुमुक्षु एव अध्यात्म साधको के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगा। एतदर्थ प्रत्येक स्वाध्यायशील एव जिज्ञासु साधक इस समग्र सामग्री से लाभान्वित हो, इसी भाव से यह द्वितीय सस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है और व्यावहारिक साधनाविधि वास्तव मे गुरुगम से ही प्राप्त की जा सकती है।

आचारागसूत्र के साथ ही इस महनीय कार्य के लिए मेरे श्रद्धेय गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज एवं पूज्यवर श्री रतनमुनि जी महाराज की सतत प्रेरणा भी मुझे इस कार्य मे प्रवेश के लिए सम्प्रेरित करती रही।

भगवान महावीर के 2600 वे जन्मकल्याणक के परम पुनीत प्रसग पर मेरे हृदयोद्गारों को जानने के बाद श्रावक रत्न श्री हीरालाल जी जैन, श्री राजेन्द्रपाल जी जैन, श्री टी आर. जी जैन, श्री रामकुमार जी जैन आदि श्रावको ने न केवल इस बृहद् कार्य को अपने हाथो में लिया, अपितु मुझे भी शत-गुणित उत्साहित किया। उसी के फलस्वरूप अल्पावधि मे आचाराग का प्रथम श्रुतस्कन्ध आपके हाथो मे पहुँच रहा है।

—आचार्य शिवमुनि

प्रस्तुत आगम के सन्दर्भ में साधना के व्यवहारिक स्वरूप के रहस्यों के उद्घाटक अध्यात्मसार प्रणेता

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म. : संक्षिप्त जीवन परिचय

जैन धर्म दिवाकर गुरुदेव आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी म वर्तमान श्रमण सघ के शिखर पुरुष है। त्याग, तप, ज्ञान और ध्यान आपकी संयम-शैया के चार पाए हैं। ज्ञान और ध्यान की साधना में आप सतत साधनाशील रहते हैं। श्रमणसघ रूपी बृहद्-संघ के बृहद्-दायित्वो को आप सरलता, सहजता और कुशलता से वहन करने के साथ-साथ अपनी आत्म-साधना के उद्यान मे निरन्तर आत्मविहार करते रहते है।

पंजाब प्रान्त के मलौट नगर मे आपने एक सुसमृद्ध और सुप्रतिष्ठित ओसवाल परिवार मे जन्म लिया। विद्यालय प्रवेश पर आप एक मेधावी छात्र सिद्ध हुए। प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालयी कक्षा तक आप प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे।

अपने जीवन के शैशवकाल से ही आप श्री मे सत्य को जानने और जीने की अदम्य अभिलाषा रही है। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सत्य को जानने की आपकी प्यास को समाधान का शीतल जल प्राप्त न हुआ। उसके लिए आपने अमेरिका, कनाडा आदि अनेक देशो का भ्रमण किया। धन और वैषयिक आकर्षण आपको बाध न सके। आखिर आप अपने कुल-धर्म-जैन धर्म की ओर उन्मुख हुए। भगवान महावीर के जीवन, उनकी साधना और उनकी वाणी का आपने अध्ययन किया। उससे आपके प्राण आन्दोलित बन गए और आपने ससार से संन्यास मे छलाग लेने का सुदृढ सकल्प ले लिया।

ममत्व के असख्य अवरोधो ने आपके सकल्प को शिथिल करना चाहा। पर श्रेष्ठ पुरुषों के सकल्प की तरह आपका सकल्प भी वज्रमय प्राचीर सिद्ध हुआ। जैन धर्म दिवाकर आगम-महोदधि आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज के सुशिष्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज से आपने दीक्षा-मत्र अगीकार कर श्रमण संघ में प्रवेश किया।

आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। 'भारतीय धर्मों मे मुक्ति विचार' नामक आपका शोध ग्रन्थ जहा आपके अध्ययन की गहनता का एक साकार प्रमाण है वही सत्य की खोज मे आपकी अपराभूत प्यास को भी दर्शाता है। इसी शोध-प्रबन्ध पर पजाब विश्वविद्यालय ने आपको पी-एच.डी. की उपाधि से अलकृत भी किया।

दीक्षा के कुछ वर्षों के पश्चात् ही श्रद्धेय गुरुदेव के आदेश पर आपने भारत भ्रमण का लक्ष्य बनाया और पजाब, हरियाणा, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उडीसा, तमिलनाडु, गुजरात आदि अनेक प्रदेशो मे विचरण किया। आप जहा गए आपके सौम्य-जीवन और सरल-विमल साधुता को देख लोग गद्गद् बन गए। इस विहार-यात्रा के दौरान ही सघ ने आपको पहले युवाचार्य और क्रम से आचार्य स्वीकार किया। आप बाहर में ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे और अपने भीतर सत्य के शिखर सोपानो पर सतत आरोहण करते रहे। ध्यान के माध्यम से आप गहरे और गहरे पैठे। इस अन्तर्यात्रा मे आपको सत्य और समाधि के अद्भुत अनुभव प्राप्त हुए। आपने यह सिद्ध किया कि पचमकाल मे भी सत्य को जाना और जीया जा सकता है।

वर्तमान में आप ध्यान रूपी उस अमृत-विधा के देश-व्यापी प्रचार और प्रसार में प्राणपण से जुटे हुए हैं जिससे स्वयं आपने सत्य से साक्षात्कार को जीया है। आपके इस अभियान से हजारो लोग लाभान्वित बन चुके हैं। पूरे देश से आपके ध्यान-शिविरो की मांग आ रही है।

जैन जगत आप जैसे ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी संघशास्ता को पाकर धन्य-धन्य अनुभव करता है।

श्रीआचाराङ्गसूत्र : प्रथम-श्रुतस्कन्ध

विषय-सूची : क्या और कहाँ

प्रस्तावना

प्रत्येक साधक चाहे वह श्रमण-श्रमणी हो या श्रावक-श्राविका—का लक्ष्य मोक्ष है। उसका प्रत्येक पग अपने साध्य-पथ पर बढता है। परन्तु पथ पर कदम रखने के पूर्व उस पथ का ज्ञान होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। इसलिए जैनागमों में क्रिया के पहले ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है। आगम मे यहां तक उल्लेख मिलता है कि सम्यक् चारित्र के अभाव में ज्ञान सम्यक् रह सकता है, परन्तु सम्यक् ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नही रह सकता। इसलिए क्रिया के पहले ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया गया है। साधक को यह उपदेश दिया गया है कि ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया ही आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करने मे सहायक हो सकती है और सम्यक् ज्ञान पूर्वक क्रिया करने वाला साधक ही मोक्षमार्ग का आराधक हो सकता है।

ज्ञान के 5 भेद है—1 मतिज्ञान, 2 श्रुतज्ञान, 3 अवधिज्ञान, 4 मन पर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान। इनमे प्रथम के दो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते है और शेष तीन ज्ञान अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार पदार्थो का ज्ञान करने मे इन्द्रिय एवं मन के सहयोग की अपेक्षा नही रखते। तीसरा और चौथा ज्ञान सीमित क्षेत्र मे स्थित सीमित पदार्थो को जानता-देखता है, परन्तु केवलज्ञान असीम होता है। वह समस्त पदार्थो के समस्त भावो को जानता-देखता है। उसमे लोकालोक का कोई पदार्थ एव भाव छिपा हुआ नही रहता। अत' वह पूर्णत' अनावृत होता है।

श्रुतज्ञान का महत्व

इन पाचो ज्ञानो मे श्रुतज्ञान उपकारी माना गया है, क्योंकि श्रुतज्ञान सर्वज्ञ पुरुषो की वाणी है। इसमे द्वादशागी का समावेश हो जाता है। वस्तुत. तीर्थकर तीर्थ की स्थापना करके द्वादशागी का उपदेश देते है और इसी को श्रुतसाहित्य या श्रुतज्ञान कहते है। मतिज्ञान का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों एव बुद्धि के द्वारा पदार्थो का बोध करना और श्रुतज्ञान का अभिप्राय है कि सर्वज्ञोपदिष्ट श्रुतसाहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करके पदार्थो का सही बोध करना। अपनी बुद्धि को यथार्थ रूप से सोचने-समझने की प्रेरणा श्रुतज्ञान से ही मिलती है। श्रुतज्ञान के आधार पर ही

साधक पदार्थों की सही जानकारी कर सकता है और वह अपने चिन्तन का विकास करके आगे बढ़ सकता है। आगम मे स्पष्ट शब्दो में कहा है कि साधक श्रुतज्ञान को सुनकर या पढ़कर ही कल्याणकारी एवं पापकारी अथवा हेय एवं उपादेय पथ को जान सकता है[1]। उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर पूछा गया है कि श्रुतज्ञान की आराधना से क्या फल मिलता है। भगवान फरमाते हैं कि श्रुतज्ञान की आराधना के द्वारा साधक ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करता है[2]। वह आत्मज्ञान की ज्योति पर आए हुए आवरण को अनावृत करते-करते एक दिन निरावरण केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस तरह श्रुतज्ञान साध्य की सिद्धि में विशेष सहायक होने के कारण उपकारी माना गया है[3]। वर्तमान युग में साधक श्रुतज्ञान के आधार पर ही पदार्थो का यथार्थ ज्ञान करके आत्मा का विकास कर सकता है, मोक्षमार्ग पर कदम बढ़ा सकता है। अतः आत्मविकास के लिए श्रुतज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

तीर्थकर सर्वज्ञ होते ही तीर्थ-सघ की स्थापना करते हैं और भव्य प्राणियो को मोक्षमार्ग का उपदेश देते है। उन विस्तृत प्रवचनो को गणधर सूत्र रूप मे ग्रथित करते है, अर्थात् उस अर्थरूप वाणी का सक्षिप्त सस्करण तैयार करते हैं। उसे द्वादशांगी कहते है[4]। इस द्वादशांगी के निर्माता गणधर होते हैं, परन्तु इसका मूलाधार तीर्थकरों की वाणी है। वे उन्हीं भावों को सक्षेप में अभिव्यक्त करते है। परन्तु वे उसमें अपनी ओर से कुछ नही मिलाते है। इसलिए द्वादशांगी सर्वज्ञ (तीर्थकर) प्रणीत कहलाती है।

द्वादशांगी में आचारांग का स्थान

द्वादशांगी मे आचाराग सूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। यह प्रथम अंग सूत्र है। जितने तीर्थकर हुए हैं, उन सबने सर्वप्रथम आचाराग का उपदेश दिया है। वर्तमान

---

1 सोच्चा जाणइ कल्लाण, सोच्चा जाणइ पावग। —दशवैकालिक सूत्र, 4/11

2 सुयस्स आराहणयाए ण भते! जीवे कि जाणयइ?
सुयस्स आराहणयाए ण अन्नाण खवेइ, न य सकिलिस्सई।

—उत्तराध्ययन सूत्र, 29/24

3 अनुयोगद्वार सूत्र।

4. अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गथति गणहरा निउण। सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तई।
—अनुयोगद्वार सूत्र और आवश्यक निर्युक्ति।

काल में जो तीर्थकर (विहरमान) महाविदेह क्षेत्र मे विद्यमान हैं, वे भी अपने शासन-काल मे सर्वप्रथम आचाराग का उपदेश देते हैं और भविष्य मे होने वाले तीर्थकर भी सर्वप्रथम इसका प्रवचन देंगे। गणधर भी इसी क्रम से अंग सूत्रों को ग्रंथित करते हैं।

आचारांग सूत्र को सर्वप्रथम स्थान देने के रहस्य का उद्घाटन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि यह मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल आचार है[1]। प्रश्नोत्तर के रूप मे आचार के महत्त्व को बताते हुए निर्युक्तिकार प्रश्न उठाते हैं कि अंग सूत्रों का सार क्या है, आचार। आचार का सार क्या है, अनुयोग–अर्थ। अनुयोग का सार क्या है, प्ररूपणा करना। प्ररूपणा का सार क्या है, सम्यक् चारित्र को स्वीकार करना। चारित्र का सार क्या है, निर्वाण पद की प्राप्ति। निर्वाण पद पाने का सार क्या है, अक्षय सुख को प्राप्त करना[2]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति एवं अव्याबाध सुख का मूल आचार है; क्योंकि कर्म के आने का कारण भी क्रिया है और निर्जरा का कारण भी क्रिया है। सम्यग्ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया निर्जरा का कारण है। अत ज्ञान एव क्रिया की समन्वित साधना से मुक्ति मानने वाले जैनागमो में सम्यग्दृष्टि को क्रियावादी भी कहा गया है। इसका कारण यही है कि क्रिया के बिना आत्मा अक्रिय अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। अस्तु, मुक्ति के लिए सबसे पहली आवश्यकता चारित्र है। चारित्र शब्द का अर्थ है–कर्मजल को खाली करना या कर्मसमूह का नाश करना[3]। इसी कारण सभी तीर्थकर भगवान तीर्थ की स्थापना करते समय सर्वप्रथम आचाराग का उपदेश देते है।

---

1 सव्वेसि आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइ अगाइ एक्कारस आणुपुव्वीए॥
आयारो अगाण पढम, अग दुवालसण्हपि।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥ —आचाराग निर्युक्ति, 9/9

2 अगाण कि सारो? आयारो, तस्स हवइ कि सारो?
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो॥
सारो परूवणाए चरण, तस्सवि य होइ निव्वाण।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाह जिणाविति॥ —आचाराग निर्युक्ति, 16/17

3 एय चयरित्तकर, चारित्त होइ आहिय। —उत्तराध्ययन, 28/33

द्वादशांगी का वर्गीकरण

समस्त जैनवाड्मय को चार अनुयोगो में विभक्त किया जा सकता है– 1. धर्मकथानुयोग, 2 गणितानुयोग, 3. द्रव्यानुयोग और 4. चरण-करणानुयोग। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, अन्तकृत्‌दशाग आदि सूत्र धर्म-कथानुयोग में आते हैं। गणितानुयोग में भगवती सूत्र एवं सूर्यप्रज्ञप्ति आदि आगम माने जाते है। द्रव्यानुयोग सबंधी विवेचन स्थानांग, समवायाङ्गादि सूत्रों मे उपलब्ध होता है और आचारांग सूत्र मे चरण-करणानुयोग सबंधी वर्णन है।

प्रस्तुत वर्गीकरण मे प्रयुक्त 'अनुयोग' शब्द का अर्थ है व्याख्या करना। वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है कि "सूत्र के पश्चात् उसके अर्थ का वर्णन करना या सक्षिप्त सूत्र का विस्तृत विवेचन करना अनुयोग कहलाता है[1]।" इससे स्पष्ट होता है कि तीर्थकरो का प्रवचन चार अनुयोगों में विभक्त होता है। या यो कहिए कि वे चार शैलियो मे मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं या वस्तु तथा लोक का यथार्थ स्वरूप समझाते है। इस आचाराग मे चरण-करणानुयोग की शैली का स्पष्ट दर्शन होता है, क्योकि यह आगम आचार का निरूपण करता है।

आचार पंचक

प्रस्तुत आगम मे पाच आचारों का वर्णन मिलता है–1 ज्ञानाचार, 2. दर्शनाचार, 3 चारित्राचार, 4. तपाचार और 5 वीर्याचार। ज्ञानाचार का अर्थ है–ज्ञान की आराधना करना। आगम मे इसके आठ भेद बताए गए है–1. नियत समय पर शास्त्र का स्वाध्याय करना, 2. विनय-भक्तिपूर्वक सूत्र का अनुशीलन करना, 3 बहुमानपूर्वक उसका अध्ययन करना, 4. उपधान–तप करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना, 5 जिससे आगम का ज्ञान प्राप्त किया हो, उसके नाम को गुप्त न रखना, 6 सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना, 7 उसके शुद्ध एव यथार्थ अर्थ को ग्रहण करना और 8. सूत्र और अर्थ को बहुमान एव आदर पूर्वक स्वीकार करना[2]।

---

1 आचारस्यानुयोग·–अर्थकथनमाचारानुयोग , सूत्रादनुपश्चादर्थस्यानुयोगोऽनुयोग , सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना, अणोर्वा लघीयस सूत्रस्य महताऽर्थेन योगाऽनुयोग· इति। –आचाराग वृत्ति।

2 काले, विणए, बहुमाने, उवहाणे, तहा अणिण्हवणे।
वजण, अत्थ, तदुभए, अट्ठविहो णाणमायारो॥

उसी तरह दर्शनाचार के आठ भेद है—1. जिनवाणी में संशय नहीं करना, 2. अन्य मत की प्रशसा नही करना, 3 स्वकृत कर्म के फल के विषय मे सन्देह नही करना, 4. अमूढ़ दृष्टि होना, 5 गुणिजनो के गुणों की प्रशंसा करना, 6. धर्म से गिरते हुए व्यक्ति को धर्म मे स्थिर करना, 7. स्वधर्मी भाइयों मे वात्सल्य रखना और (धर्म की) प्रभावना करना[1]।

आगम मे चारित्राचार भी आठ प्रकार का बताया गया है—1 ईर्या समिति, 2 भाषा समिति, 3 एषणा समिति, 4 आदाणभडनिक्षेपणा समिति, 5. उच्चार-प्रश्रवण-खेल-जल्ल-सिघाण परिष्ठापना समिति, 5. मन गुप्ति, 7 वचन गुप्ति और 8 काय गुप्ति। इस तरह पाच समिति और तीन गुप्ति इस आठ प्रवचन माता को चारित्राचार कहते है[2]।

तपाचार के बारह भेद बताए है—1 अनशन, 2 उनोदरी, 3 भिक्षाचरी, 4 रसत्याग, 5 काय-क्लेश और 6. प्रतिसलीनता, ये बाह्य तप के 6 भेद है। और 1 प्रायश्चित्त, 2 विनय, 3 वैयावृत्य, 4 स्वाध्याय, 5 ध्यान और 6 कायोत्सर्ग, यह 6 प्रकार का आभ्यन्तर तप होता है। इस तरह तपाचार के 12 भेद होते है[3]।

वीर्याचार का परिपालन अनेक तरह से किया जा सकता है। इसे किसी निश्चित सख्या मे नहीं बांधा जा सकता। वीर्य का अर्थ शक्ति है। अत· कर्म क्षय करना या सयम साधना मे अपनी शक्ति का गोपन नही करना ही वीर्याचार है[4]। इस तरह प्रस्तुत सूत्र में पाचो आचारो का सांगोपाग वर्णन किया गया है।

---

1 निस्संकिय, निकक्खिय, निव्वितिगिच्छा, अमूढदिट्ठी य।
उववूह, थिरीकरणे, वच्छल्ल, पभावणे अट्ठ॥

2 तिन्नेव य गुत्तीओ पच समिइओ अट्ठ मिलियाओ।
पवयण-माईउ इमा तासु ठिओ चरण-सपन्नो॥

3 अणसणमूणोयरिया, वित्ति सखेवण रसच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ॥
पायच्छित्त विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाण उस्सग्गो विय, अब्भितरओ तवो होइ॥

4. अणिगूहिय बलवीरिओ, परक्कमई जो जहुत्तमाउत्तो।
झाण उस्सग्गो वि य, अब्भितरओ तवो होइ॥

प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्रतिपाद्य विषय

आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन है। आगमों में 'ब्रह्मचर्य' के नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। स्थानांग सूत्र मे लिखा है—'ब्रह्मचर्य के नव अध्ययन हैं—1 शस्त्र परिज्ञा, 2. लोक विजय, 3. शीतोष्णीय, 4. सम्यक्त्व, 5. लोकसार, 6 धूत, 7. विमोह, 8 उपधान और 9. महापरिज्ञा[1]।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—कुशल अनुष्ठान। अस्तु, जिस आगम मे कुशल अनुष्ठान-सयम साधना का वर्णन है, उसे 'ब्रह्मचर्य' अध्ययन कहते है। प्रस्तुत आगम में साध्वाचार का ही विशेष रूप से वर्णन होने से इसका 'ब्रह्मचर्य अध्ययन' नाम दिया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। शस्त्र दो प्रकार के होते है— 1 द्रव्य शस्त्र और 2 भाव शस्त्र। लाठी, तलवार, पिस्तौल, बम्बादि द्रव्य-शस्त्र हे और राग-द्वेष, काम-क्रोधादि भाव शस्त्र हैं। 'परिज्ञा' का अर्थ है—शस्त्रो की भयकरता एव उनके द्वारा बढने वाले ससार-परिभ्रमण के स्वरूप को जानकर उनका परित्याग करना। द्रव्य और भाव शस्त्रो का त्याग करना साधना का पहला कदम है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। लोक—ससार भी दो प्रकार का है— 1 द्रव्य और 2. भाव। द्रव्य लोक 4 गति रूप है और राग-द्वेष भाव लोक है। राग-द्वेष के कारण ही आत्मा द्रव्य लोक मे परिभ्रमण करती है। अत राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना ही लोक—ससार पर विजय प्राप्त करना है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्ययन का शीतोष्णीय नाम है। शीत का अर्थ है— अनुकूल परीषह और उष्ण का अभिप्राय है—प्रतिकूल परीषह। प्रस्तुत अध्ययन मे यही बताया गया है कि साधना के पथ पर गतिशील साधु को अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहो के उत्पन्न होने पर समभाव रखना चाहिए।

---

1 णव बभचेरा प. तजहा—सत्थपरिन्ना, लोग-विजओ जाव उवहाणसुय महापिरण्णा।

—स्थानागसूत्र, 9/662

चतुर्थ सम्यक्त्व अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन मे समभाव की साधना का उपदेश दिया गया है। साधु को दृष्टिमोह का त्याग करके अचल भाव से साधना मे सलग्न रहने का वर्णन किया गया है।

पाचवा लोकसार अध्ययन है। रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही लोक मे सार पदार्थ है। अत प्रस्तुत अध्ययन मे कषाय त्याग एव रत्नत्रय की साधना करने का उल्लेख किया गया है।

षष्ठ धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है—परिजनों के सग—आसक्ति का त्याग करना। क्योकि पारिवारिक स्नेह एव मोह साधक को ससार से ऊपर नहीं उठने देता। अत मुमुक्षु को उनके सग—साथ का त्याग करना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इसी का उल्लेख किया गया है।

सातवाँ विमोह अध्ययन है। मोह एवं राग-भाव-उत्पन्न परीषहो पर विजय प्राप्त करना ही साधक की सच्ची विजय है। अत. मोह से उत्पन्न होने वाले कष्टों से घबराकर साधु को यन्त्र-मन्त्र का सहारा नही लेना चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का उपदेश दिया गया है। परन्तु वर्तमान में प्रस्तुत अध्ययन उपलब्ध नहीं है।

अष्टम अध्ययन का नाम उपधान या विमोक्ष है। उपधान का अर्थ तप होता है। मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्म का नाश करना आवश्यक है। कर्म-निर्जरा के लिए तप अनिवार्य है। इसलिए इसमे यह बताया गया है कि साधु को वस्त्र-पात्र मे कमी करके परीषहो को सहन करना चाहिए और पण्डित-मरण को प्राप्त करने के लिए सलेखना एव अनशन व्रत को स्वीकार करके सयम साधना में सलग्न रहना चाहिए।

नवम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसमें भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। महा का अर्थ है—महान् और परिज्ञा का अर्थ है—ससार के स्वरूप को जानकर उसका परित्याग करना और परीषहो के उत्पन्न होने पर भी त्याग-मार्ग से च्युत नही होना। भगवान महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उसका अनुशीलन-परिशीलन करके मन मे परीषहों को सहने की भावना जागृत होती है। अस्तु, प्रस्तुत अध्ययन मे भगवान महावीर की विशिष्ट साधना का उल्लेख करके साधु को अपने साधना-पथ पर दृढता से चलने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे प्राय· साध्वाचार का वर्णन किया गया है। वह पाच चूला रूप है और उसके 16 अध्ययन है।

निर्युक्तिकार का कहना है कि आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पद है। पचचूलात्मक द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पदों की संख्या इससे भिन्न है[1]। टीकाकार ने भी निर्युक्तिकार के विचारो का समर्थन किया है। आचाराग-वृत्ति के रचयिता शीलांक आचार्य, नवागी वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि एव आचार्य मलयगिरि प्रभृति टीकाकारों ने भी येन-केन प्रकारेण निर्युक्तिकार के मत को ही परिपुष्ट किया है।

परन्तु जब हम आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो निर्युक्तिकार का मत उचित प्रतीत नहीं होता है। आगमो मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "चूलिका सहित आचारांग भगवान के 18 हजार पद हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही नही, अपितु उभय श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद हैं[2]। प्रस्तुत पाठ की टीका में आचार्य अभय देव सूरि ने निर्युक्ति के मत को ही पुष्ट करने का असफल प्रयत्न किया है। वे लिखते है कि "प्रस्तुत मे जो पद-सख्या दी गई है वह समग्र आचाराग की नही, प्रत्युत नव अध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कन्ध की समझनी चाहिए। क्योंकि निर्युक्तिकार ने केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही 18 हजार पद बताए है, चूलिका सहित सम्पूर्ण आचाराग के नही। मूल पाठ में जो चूलिका सहित (सचूलियागस्स) पद दिया है, उस का अभिप्राय केवल चूलिकाओ की सत्ता का प्रतिपादन करना है, न कि चूलिका सहित समग्र आचाराग की पद सख्या बतलाना। अत प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पद है और सूत्रो का अर्थ बहुत विचित्र है। इसलिए वह गुरु परम्परा से ही समझा जा सकता है[3]।

---

1 नव बभचेरमइयो अट्ठारस पयसहस्सियो वेओ।
हवइ य सपच चूलो बहु-बहुत्तरओ पयग्गेण॥ —आचाराग निर्युक्ति

2 आयारस्स ण भगवओ सचूलियागस्स अट्ठारस्स पय सहस्साइ पयग्गेण।
—समवायागमूत्र 18

3 स च नव ब्रह्मचर्याभिधानाध्ययनात्मक प्रथमश्रुतस्कन्ध रूप तस्यैवचेद पदप्रमाण न चूलानाम्, यदाह—"नव बभचेरमइओ अट्ठारस्सय पय सहस्सीओ वेओ, हवइ य सपंच चूलो बहु बहुत्तरओ पयग्गेण ॥1॥ त्ति। यच्च सचूलिकाकस्येति विशेषण तत्तस्य चूलिकासत्ता प्रतिपादनार्थम् न तु पदप्रमाणाभिधानार्थम्। यतोऽवाचि नन्दी-टीका कृता—'अट्ठारस पय सहस्साणि पुण पढम सुयखधस्स, नव बभचेरमइयस्स पमाणं विचित्तत्थाणिय सुत्ताणि गुरुवएसओ तेसि अत्थो जाणिअव्वो।
—समवायाग टीका

प्रस्तुत विवेचन मे आचार्य अभदेव सूरि ने निर्युक्ति का अंधानुकरण किया है। आगम का मूल पाठ सम्पूर्ण आचाराग के 18 हजार पदो का स्पष्ट उल्लेख कर रहा है; फिर भी टीकाकार उसे इसलिए नही मान रहे है कि निर्युक्तिकार उससे सहमत नही है। वे निर्युक्ति को आगम से अधिक प्रामाणिक मानते है। इसके अतिरिक्त उन्होने अपनी टीका मे जो नन्दी सूत्र के टीकाकार का उल्लेख किया है, वह भी आगम के अनुकूल नही है। नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि 'प्रथम अग (आचाराग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन है, 85 उद्देशन काल, 85 समुद्देशन काल हे और 18 हजार पद है[1]। प्रस्तुत पाठ में आचारांग के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा गया है, वह स्पष्ट ही है। इसमे आचारांग के उभय श्रुतस्कन्धों के 18 हजार पद स्वीकार किए है, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नही। यदि सूत्रकार को प्रथम श्रुतस्कन्ध के 18 हजार पदो का उल्लेख करना होता तो वे सम्पूर्ण सूत्र के अग-प्रत्यगो का वणन करने से पूर्व ही उसका उल्लेख कर देते। परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे स्पष्ट होता है कि दोनो श्रुतस्कन्धो के 18 हजार पद है।

आचार्य मलयगिरि ने उक्त सूत्र की टीका करते समय अभयदेव सूरि का ही अनुकरण किया है। उन्होने जिस रूप मे निर्युक्ति का समर्थन किया है, उससे उनकी परवशता ही झलकती है। पद-प्रमाण के विषय में आप प्रश्नोत्तर के रूप में लिखते है कि यदि आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध, 25 अध्ययन और 18 हजार पद माने तो निर्युक्तिकार के कथन से विरोध होगा। क्योकि वे प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही 18 हजार पद मानते है। जबकि नन्दी सूत्र के मूल पाठ मे दोनो श्रुतस्कन्धो के 18 हजार पद माने गए है? इस प्रश्न के समाधान में वे लिखते है कि 'प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध और 25 अध्ययन है, परन्तु 18 हजार पद सम्पूर्ण आचाराग के नही, केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के ही है। इस सूत्र से यही अर्थ अभिप्रेत है। क्योकि सूत्र अर्थ विलक्षण होता है। अत गुरु परम्परा से ही उसे समझा जा सकता है[2]।

इससे यही स्पष्ट होता है कि टीकाकारों को निर्युक्ति के विचारो का मोह है।

---

1 पढमे अगे दो सुयखधा, पणवीस अज्झयणा, पचासीइ उद्देसणकाला पचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस्स पयसहस्साणि पयग्गेण।
—नन्दी सूत्र, द्वादशागी वर्णन

2 समवायाग टीका

जबकि आचार्य मलयगिरि स्वयं मानते हैं कि मूल पाठ मे समग्र आचारांग के 18 हजार पद माने गए हैं। परन्तु वे उसका समर्थन इसलिए नहीं कर पा रहे हैं कि निर्युक्तिकार इससे सहमत नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने अपनी बुद्धि एव चिन्तन स्वातन्त्र्य को भी खो दिया।

हम यह नहीं समझ पाए कि प्रस्तुत पाठ मे अर्थ-वैचित्र्य क्या है और गुरु-परम्परा क्या है? नन्दी सूत्र मे सूत्रकृतांग के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही पाठ मिलता है कि "दूसरे अग (सूत्रकृतांग सूत्र) के दो श्रुतस्कन्ध, 23 अध्ययन, 33 उद्देशनकाल, 33 समुद्देशन काल और 36 हजार पद है[1]। आचाराग सूत्र के जैसा वर्णन होने पर भी टीकाकार ने प्रस्तुत आगम के दोनो श्रुतस्कन्धों के 36 हजार पद माने हैं। इससे स्पष्ट होता है कि टीकाकारो ने अपनी बुद्धि से बिना सोचे-समझे ही निर्युक्ति का अनुकरण मात्र किया है। अत. यह प्रामाणिक नही माना जा सकता और जब मूल पाठ सामने हो तब निर्युक्ति किसी भी तरह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। क्योकि मूल पाठ स्वत· प्रमाण है और निर्युक्ति एव टीका आदि परत· प्रमाण है। अतः इससे यही सिद्ध होता है कि समग्र आचारांग के ही 18 हजार पद है।

आचारांग की भाषा

भाषा ग्रथ का प्राण है। किसी भी ग्रथ के आन्तरिक एव बाह्य परिचय को प्राप्त करने के लिए भाषा एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उससे ग्रन्थ का यथार्थ सामने आ जाता है और उसके आधार पर किया गया निर्णय अधिक प्रामाणिक एव सन्तोषप्रद होता है।

जैनागमों मे यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थकर अर्द्धमागधी भाषा मे उपदेश देते हैं[2]। केवल तीर्थकर ही नही, प्रत्युत देव एव आर्य पुरुष भी अर्द्धमागधी भाषा मे बोलते हैं। भगवती एव प्रज्ञापना सूत्र में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि

---

1 बिइए अंगे दो सुयखधा, तेवीस अज्झयणा, तित्तीस उद्देसणकाला,
तित्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीस पयसहस्साणि पयग्गेण।

—नन्दी सूत्र, द्वादशागी अधिकार

2 भगव य ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। —समवायाग सूत्र, 34
अद्धमागहीए भासाए भासइ अरिहा धम्म परिकहेइ। —औपपातिक सूत्र।

देवों एव आर्यो की अर्द्धमागधी भाषा है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि अर्द्धमागधी भाषा गहन-गम्भीर एव श्रेष्ठ मानी गई है। ऐतिहासिक अन्वेषण से भी यह स्पष्ट होता है कि यह भारत की अति प्राचीन भाषा रही है। सस्कृत का उद्‌गम भी इसी भाषा से हुआ है।

प्रस्तुत आगम भी अर्द्धमागधी भाषा मे रचा गया है। प्रस्तुत आगम की भाषा एव शैली अधिक प्राचीन है। इसमे आर्ष अर्द्धमागधी के अधिक प्रयोग मिलते है। इसका प्रत्येक पद अर्थ गाम्भीर्य, पद लालित्य एव भाषा सौष्ठव को लिए हुए है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारागसूत्र सबसे प्राचीन है और इसी कारण इसकी अत्यधिक महत्ता है।

सूत्र शब्द का विश्लेषण

जैन परम्परा मे आगमों का सूत्र के नाम से भी उल्लेख किया गया है। आचारांग श्रुत-आगम साहित्य का सर्व प्रथम सूत्र ग्रथ है। सूत्र शब्द के भेद एव उसकी व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु बृहत्कल्प सूत्र की निर्युक्ति मे लिखते हैं— 1 सूत्र अर्थ से आबोधित होता है, 2 सुप्त है, 3 श्लेष है, 4 सूक्त है, 5 सूचक है, 6 सूचिका—सूई है, 7 उत्पादक है, 8 अनुसरण कर्ता है।

1. अर्थ से आबोधित—सूत्र अर्थ रूप से विस्तृत शब्दो का सक्षिप्त रूप होता है। उसमे अर्थ अन्तर्निहित रहते है।

2. सुप्त—जैसे 72 कलाओं मे प्रवीण पुरुष जब सो जाता है, तब उसे अपनी

---

1 से कि त भासारिया? भासारिया जे ण अद्धमागहोए भासाए भासेंति तत्थवि य ण जत्थ बभी लिवी पवत्तइ। बभिए ण लिविए अट्ठारस्सविहे लेक्खविहाणे प त. बभी 1 जवणाणिया 2 दोसाउरिया 3 खरोट्ठी 4 पुक्खरसारिया 5 भोगवइया 6 पहराइया 7 अतक्खरिया 8 अक्खरपुट्ठिया 9 वेणइया 10 निण्हइया 11 अकलिवी 12 गणिय लिवी 13, गन्धव्वलिवी 14 आयसलिवी 15 माहेसरी 16 दामिलिवी 17 पोलिदी 18 से त भासारिया।

—प्रज्ञापना पद 1

देवा ण भते! कयराए भासाए भासति? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति? गोयमा! देवा ण अद्धमागहोए भासाए भासति सा वि य ण अद्धमागहीभासा भासिज्जमाणी विसिस्सति।

—भगवती श 5 उ 4, सू. 191

कलाओं का कोई ज्ञान नही रहता है। परन्तु जागृत होते ही उसका ज्ञान भी जागृत हो जाता है। इसी तरह जब तक सूत्र का अर्थ के द्वारा बोध नहीं कराया जाता, तब तक उसके अर्थ को नही जाना जा सकता। परन्तु ज्यो ही उसके अर्थ का परिज्ञान करा दिया जाता है, त्यों ही वह अपने समस्त अर्थो को अभिव्यक्त करने लगता है।

3. **श्लेष**—जैसे श्लेष मे अनेक तन्तु सघटित-मिले हुए होते है, उसी तरह सूत्र मे अनेक अर्थ सन्निहित रहते हैं।

4. **सूक्त**—सूत्र सुन्दर एवं शोभनीय लगता है। इसलिए इसे सूक्त कहा है।

5. **सूचक**—सूई खो जाने पर जल्दी नही मिलती। परन्तु यदि वह सूत्र-धागे के साथ हो तो शीघ्र मिल जाती है। सूत्र धागे का सूचक है। इसी तरह सूत्र आगम के द्वारा उपदिष्ट अर्थ रूप वाणी की सूचना मिलती है।

6. **सूचिका**—जैसे सूचिका—सूई से वस्त्रों की सिलाई करके उन्हें एक जगह जोड लिया जाता है, उसी तरह सूत्र भी अनेक अर्थो को सकलित करता है।

7. **उत्पादक**—जैसे अग्नि मे सूर्यकान्त मणि और जल में चन्द्रकात मणि अपनी प्रभा को प्रकट करती है, उसी प्रकार सूत्र भी अर्थ का प्रसव—उत्पादन (पैदा) करता है, इसलिए इसे उत्पादक कहते है।

8. **अनुसरण**—अनुसरण द्रव्य और भाव से दो प्रकार का कहा गया है। इसे स्पष्ट करने के लिए एक अन्ध वणिकपुत्र का दृष्टान्त दिया गया है। एक दिन वैश्य ने सोचा कि यह अन्धपुत्र निकम्मा बैठकर खाएगा तो इसका तिरस्कार होगा। अत. उस वैश्य ने अपने घर के आगे पीछे दो स्तम्भ खडे कर दिए और उसमे एक रस्सी बाध दी और उसे कहा कि इस रस्सी के सहारे तुम इस कचरे को बाहर फेक दिया करो। इस तरह पिता के वचनों का अनुसरण करने से उसका जीवन सम्मान पूर्वक बीतने लगा। यहा आचार्य पिता के तुल्य है, साधु अन्धे पुत्र के समान है, सूत्र रस्सी के तुल्य है और अष्ट कर्म कचरे के समान है। साधक सूत्र का अनुसरण करके अष्ट कर्ममल से रहित हो जाता है, अत· इसे अनुसरण कहा है[1]।

---

1 सुत्त तु सुत्तमेव उ, अहवा सुत्त तु त भवो लेसो।
अत्थस्स सूयणा वा, सुवुत्तापिइ वा भवे सुत्त॥ →

इसके अतिरिक्त सूत्र के और भी भेद बताए गए है। इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार कहते हैं कि सूत्र तीन प्रकार का होता है—1 सज्ञा सूत्र, 2 कारक सूत्र और 3 प्रकरण सूत्र अथवा उत्सर्ग और अपवाद के भेद से भी सूत्र दो प्रकार का होता है। इसमे उत्सर्ग अल्प है या अपवाद, इसका उत्तर यह दिया गया है कि उभय सूत्र अपने-अपने स्थान पर श्रेयस्कर और बलवान है[1]।

संज्ञा सूत्र—जो सूत्र सामयिक संज्ञा के द्वारा किसी बात का निर्देश करता है, उसे सज्ञा सूत्र कहते है। जैसे—**'जे छेए से सागरियं परियाहरे'** आचारांग सूत्र के इस पाठ मे मैथुन के लिए 'सागारिय' शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह दोष के लिए 'आमगन्ध'। ससार के लिए 'आर' और मोक्ष के लिए 'पार' शब्द का प्रयोग किया गया है, ये सब संज्ञा सूत्र है। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि संज्ञा सूत्र का प्रयोग करने से क्या लाभ है। इससे सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह होता है कि पारस्परिक सभ्यता एवं शिष्टता का पालन होता है। जैसे प्रवचन करते समय या कभी साधु साध्वी को सूत्र का अध्ययन कराते समय मैथुन आदि अशिष्ट शब्दो के स्थान में 'सागारिय' आदि सज्ञा शब्दो का प्रयोग करने से व्यावहारिक शिष्टता का भग नही होता है और साधु-साध्वी एव अन्य उपस्थित व्यक्तियो को लज्जित होने का प्रसग भी उपस्थित नहीं होता है[2]।

नेरुत्तियाइ तस्स उ सूयइ सिव्वइ तहेव सुवइत्ति।
अणुसरतित्ति य भया, तस्स उ नामा इमा हुंति॥
पासुत्तमम सुत्त अत्थेणावोहिय न त जाणे।
लेस सरिसेण तेण अत्था सधाइया बहवे॥
सुइज्जइ सुत्तेण सूई नट्ठावि तह सुएणत्थो।
सिव्वइ अत्थ पयाणि व, जह सुत्त कचुगाईणि॥
सूरमणी जलकंता व अत्थमेव तु पसवई सुत्त।
वणिय सुयध कयवरे तदणुसरतो रय एव॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति, गाथा 310—314

1 सन्ना य, कारगे, पकरणे य सुत्त तु त भवे तिविह।
उस्सगे, अववाए, अप्पे सए य बलवते॥

—बृहत्कल्प निर्युक्ति, 315

2 बृहत्कल्प निर्युक्ति, 316

कुछ विचारक संज्ञा सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि जिसमें किसी अर्थ का सामान्य रूप से निर्देश किया जाए। वस्तुत· वस्तु के नाम-निर्देश को संज्ञा कहते है। अतः नाम-निर्देशक सूत्र 'संज्ञा सूत्र' कहलाते है।

कारक सूत्र—जिस सूत्र मे विचार-चर्चा या शका-समाधान के द्वारा किसी विधान की परिपुष्टि की जाए, उसे 'कारक सूत्र' कहते हैं। जैसे—भगवती सूत्र मे यह उल्लेख किया गया है कि "आधाकर्मी आहार करने वाला साधु आयु कर्म के अतिरिक्त अन्य सात कर्मो की कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है[1]।" इसके बाद गौतम स्वामी इसके सम्बन्ध मे विशेष जानकारी करने के लिए भगवान से प्रश्न पूछते है और शका-समाधान के द्वारा वस्तु का निर्णय करते है। इस तरह विचार-चर्चा के द्वारा किए गए निर्णय को 'कारक सूत्र' कहते हैं।

प्रकरण सूत्र—जिन सूत्रों मे स्व समय की अपेक्षा से ही आक्षेप और निर्णय का वर्णन किया गया हो, उसे 'प्रकरण सूत्र' कहते है। नमिपव्वज्जा, केसीगौतमीय, नालन्दी आदि उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग आदि के अध्ययन 'प्रकरण सूत्र' की शैली मे रचे गए है।

उत्सर्ग और अपवाद

निर्युक्तिकार ने सूत्र के उत्सर्ग और अपवाद दो भेद किए है तथा उत्सर्ग, अपवाद और उत्सर्ग-अपवाद ये तीन और उत्सर्ग, अपवाद, उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग ये चार भेद भी किए है। जो सूत्र निषेध प्रधान है, वह उत्सर्ग सूत्र है; जो विधि प्रधान है वह अपवाद सूत्र, जो निषेध और विधि प्रधान है वह उत्सर्ग-अपवाद सूत्र हे और जो विधि और निषेध प्रधान है वह अपवाद-उत्सर्ग सूत्र है। जैसे—साधु-साध्वी को अपक्व ताल फल अभिन्न (बिना काटा हुआ) लेना नही कल्पता, यह उत्सर्ग सूत्र है। साधु को पक्व (पका हुआ) ताल फल भिन्न या अभिनन लेना कल्पता है, यह अपवाद सूत्र है। साधु-साध्वी को परस्पर एक-दूसरे के प्रस्रवण को देना-लेना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता, परन्तु असाध्य रोग एव विशेष परिस्थिति में

---

1 आहाकम्मन्नं भुजमाणे समणे निग्गथे कइ कम्म-पगडीओ बधति? गोयमा।
आउ वज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ। से केणट्ठेण भते। एव वुच्चई?

—भगवती सूत्र, 1/9

एक-दूसरे को लेना-देना भी कल्पता है और साधु-साध्वी फल का गूदा ग्रहण कर ले, परन्तु गुठली को ग्रहण न करे[1]।

पहला उदाहरण पूर्णत. निषेध का है। साधु को कच्चा तालफल लेना नही कल्पता, यह उत्सर्ग मार्ग है। परन्तु वह फल पक्व हो तो साधु उसे ग्रहण कर सकता है, यह अपवाद मार्ग है। शेष दो भेद क्रमश उत्सर्ग-अपवाद और अपवाद-उत्सर्ग के हैं और वे इस विधि और निषेध को साथ लेकर ही बनाए गए है। इससे स्पष्ट होता है कि निवृत्ति उत्सर्ग मार्ग और प्रवृत्ति अपवाद मार्ग है।

परन्तु है दोनो ही मार्ग। साधक सदा-सर्वदा उत्सर्ग मार्ग पर गति नहीं कर सकता है। जैसे पटना या कोलकाता आदि शहरो को जाने वाला पथिक निरन्तर दौडता हुआ राह को तय नही कर सकता है। इतने लम्बे मार्ग को पार करने के लिए वह रास्ते मे बैठता भी है, शयन भी करता है, आहार-पानी भी करता है, मल-मूत्र का भी त्याग करता है, तव वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुचता है। इसी तरह साधक भी साधना-पथ पर चलते-चलते विघ्न-बाधाए या रोग आदि के उपस्थित होने पर अपवाद मार्ग का सहारा न ले तो वह शुद्ध सयम का पूर्णरूपेण परिपालन नही कर सकता। अत महापुरुषो ने उत्सर्ग और अपवाद दोनों को मार्ग कहा है और अपने-अपने स्थान पर दोनों को श्रेयस्कर एव समान बल वाला कहा है। परन्तु पर-स्थान में दोनों अश्रेयस्कर है। स्व-स्थान और पर-स्थान साधक की अपेक्षा से हैं। समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्व-स्थान एव अपवाद पर-स्थान है और असमर्थ साधक के लिए रोगादि अवस्था मे अपवाद स्व-स्थान और उत्सर्ग पर-स्थान है। जिस समय साधक स्वस्थ है, परीषहो को सहन करने मे सक्षम है, उस समय यदि वह अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेता है, तो अपवाद मार्ग उसके लिए परस्थान है, अश्रेयस्कर है। इसी तरह अवस्था एव विकट परिस्थिति में साधक परीषहो को सहने मे सक्षम नही है, उसका मन

---

1 (1) नो कप्पइ निग्गथाण-निग्गथीण वा आमे तालपलबे अभिन्ने पडिगहितए। (2) कप्पइ निग्गथाण-निग्गथीण पक्के तालपलबे भिन्नेऽभिन्ने वा पडिगाहितए। (3) नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अन्नमनन्नस्स मोय आदित्तए वा आयमित्तए वा अन्नत्था गाढेहिं रोगायकेहिं। (4) चम्ममस च दलाहि मा अट्ठियासि।

—बृहत्कल्प सूत्र, 1, 1, 1, 3, 5, 47-48 आचाराग सूत्र

डांवाडोल हो रहा है, उस समय अपवाद मार्ग उसके लिए स्वस्थान है, श्रेयस्कर है। यदि ऐसी स्थिति में वह अपवाद मार्ग पर न चलकर उत्सर्ग पर चलने का ही हठ रखता है तो उसकी साधना में पूर्ण विशुद्धता नहीं रह पाती। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि साधक को अपनी योग्यता के अनुसार परिस्थितिवश अपवाद मार्ग का अवलम्बन लेना पड़े तब भी वह साधना-पथ से च्युत नही होता है, उसके महाव्रतो का भग नहीं होता है। क्योंकि उत्सर्ग की तरह अपवाद भी साध्य को सिद्ध करने का मार्ग है और उस मार्ग पर चलने की भी वीतराग (तीर्थकर) भगवान की आज्ञा है। और आज्ञा मे प्रवृत्ति करना धर्म है[1]।

निर्युक्तिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है आगम मे उत्सर्ग और अपवाद दोनों तरह के सूत्र मिलते है। साधक के लिए दोनो मार्गो का अवलम्बन लेने की आज्ञा दी गई है। अत दोनो ही मार्ग अपने स्थान पर श्रेयस्कर है और दोनों मार्गो का अवलम्बन लेकर ही साधक अपने साध्य को सिद्ध करता है। अत उत्सर्ग के द्वारा अपवाद प्रसिद्ध है और अपवाद के द्वारा उत्सर्ग प्रसिद्ध है। दोनो ही समान बल वाले हैं, इनमे कोई छोटा-बड़ा नहीं है[2]।

सूत्र का लक्षण

'सूत्र' शब्द की परिभाषा करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि "जो अक्षर-सख्या में अल्प और अर्थ से महान एव विराट हो तथा बत्तीस दोषों से रहित एव आठ गुणों से सयुक्त हो उसे 'सूत्र' कहते है[3]।" प्रस्तुत गाथा मे उल्लिखित "थोड़े शब्दों मे विस्तृत अर्थ को व्यक्त करने वाला सूत्र कहलाता है।" यह सूत्र का लक्षण है और "वह 32 दोषों से रहित एव अष्ट गुणो से युक्त है।" यह अंश उसकी विशेषता को प्रकट करता है।

कुछ विद्वानो का कहना है कि निर्युक्ति मे सूत्र के जिन 32 दोषो एव अष्ट गुणो का उल्लेख मिलता है, वह निर्युक्तिकार का अपना अभिमत है, मूल आगमो मे इस

---

1 आणाए धम्म। —आचाराग सूत्र

2 बृहत्कल्प निर्युक्ति गाथा 319-323

3 अप्पग्गन्थ महत्थ बत्तीसा दोस निरहिय ज च।
लक्खण जुत्त सुत्त, अट्ठगुणेहिं उववेय॥ —बृहत्कल्प निर्युक्ति 324

सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु ऐसी बात नही है। आगमो मे भी सूत्र के गुण-दोषो का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र मे भी सूत्र के आठ गुणों एवं 32 दोषो का वर्णन मिलता है[1]। निर्युक्तिकार ने 32 दोषो का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1. **अनृतदोष**—सत्य का अपलाप करना एव असत्य की स्थापना करना अनृत दोष है। जैसे—अनादि काल से चले आ रहे जगत को ईश्वर कर्तृक बतलाना असत्य की स्थापना करना है और आत्मा, परलोकादि के अस्तित्व का निषेध करना सत्य का अपलाप करना है।

2 **उपघात**—हिसा का विधान करना उपघात दोष है। जैसे-वेद-विहित हिसा हिसा (पाप) नही, धर्म है।

3. **निरर्थक**—जिस सूत्र में मात्र वर्णो का निर्देश हो, परन्तु उसका कोई अर्थ न निकलता हो, वह सूत्र का निरर्थक दोष है जैसे-अ आ इ ई या डित्थ-डवित्थ आदि।

4. **अपार्थक**—जो सूत्र असम्बद्धार्थक हो या अर्थ के सबध से शून्य हो, उसे अपार्थक कहते है। जैसे-दशदाडिमानि षडूपूपा आदि।

5. **छल**—जहां विवक्षित अर्थ का अनिष्ट अर्थान्तर के द्वारा उपघात किया जाए, उसे छल कहते है। जैसे—किसी ने कहा-देवदत्त के पास नव (नया) कम्बल है। उसने 'नव' शब्द का नवीन के अर्थ में प्रयोग किया है। परन्तु कोई व्यक्ति यह कह कर उसका विरोध करे कि उसके पास नव (9) कम्बल कहा है? वह नवीन अर्थ मे प्रयुक्त नव शब्द को संख्यावाची बनाकर विरोध करे तो यह छल है।

6. **द्रुहिल**—जो सूत्र साधक को अहितकर उपदेश दे और पाप कार्य का परिपोषक हो उसे द्रुहिल कहते है।

7. **निस्सार**—जिस सूत्र मे कोई युक्ति या तर्क न हो, केवल शब्दाडम्बर हो उसे निस्सार कहते है।

8. **अधिक**—जिस सूत्र मे पद या अक्षर अधिक हो या एक हेतु या उदाहरण से अर्थ की सिद्धि होने पर भी कई हेतु एव उदाहरण दिए हो, उसे अधिक दोष कहते है।

---

1 छद्दोसं अट्ठगुणं तिण्णि वियं वित्ताइ।
एए नव कव्वरसा बत्तीसा दोस विहि समुप्पण्णा। —अनुयोग द्वार सूत्र, 46, 82

9. ऊन—जिसमें अक्षर, मात्रा, पद आदि कम हो, वह सूत्र ऊन दोष वाला कहा जाता है। जैसे—जैसे कृतक होने से शब्द अनित्य है। यहा उदाहरण की कमी है।

10. पुनरुक्त—एक ही बात को पुन·-पुनः दोहराना पुनरुक्त दोष कहलता है।

11. व्याहत—जिस सूत्र मे पूर्व कथन का पर-वाक्य से खण्डन होता है, उसे व्याहत दोष कहते हैं।

12. अयुक्त—जो वाक्य उपपत्ति से युक्त न हो, उसे अयुक्त दोष कहते हैं।

13. क्रम भिन्न—जिसमे पदार्थो को क्रमश· न रखा जाए, उसे क्रम भिन्न दोष कहते है। जैसे—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय न कहकर घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, स्पर्श और रसनेन्द्रिय कहना क्रमभिन्न दोष है।

14. वचन भिन्न—जिस सूत्र मे विशेष्य और विशेषण मे वचन भिन्न हो, उसे वचन भिन्न दोष कहते है।

15. विभक्ति भिन्न—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण मे विभक्ति भिन्न हो उसे विभक्ति भिन्न दोष कहते है।

16. लिंग भिन्न—जिस सूत्र में विशेष्य और विशेषण मे लिंगभिन्न हो, उसे लिगभिन्न दोष कहते है।

17. अनभिहित—अपनी सैद्धान्तिक मान्यता के विरुद्ध पदार्थो का वर्णन करना अनभिहित दोष है।

18. अपद—पद्य-छन्द के सम्बन्ध मे अनुचित योजना करना अपद दोष है।

19. स्वभावहीन—जिस सूत्र में वस्तु का स्वभाव से विपरीत चित्रण किया जाए, उसे स्वभावहीन दोष कहते हैं।

20. व्यवहित—प्रासगिक विषय को छोड कर अप्रासगिक विषय का वर्णन करना और पुन प्रासंगिक विषय पर आ जाना व्यवहित दोष है

21. कालदोष—जिस सूत्र में भूत, भविष्य और वर्तमान काल का ध्यान न रखा हो वह कालदोष कहलाता है।

22. यतिदोष—पद्य या गद्य रचना मे पूर्णविराम, अर्धविराम आदि का ध्यान न रखना यतिदोष है।

23. छविदोष—जहां पर कोई विशेष अलकार उपयुक्त हो, फिर भी उसे वहा नहीं कहना छविदोष कहलाता है।

24. समय विरुद्ध—किसी के मान्य सिद्धान्त के विरुद्ध मत की स्थापना करना समय विरुद्ध दोष है। जैसे—वेदान्त को द्वैतवादी और जैनदर्शन को अद्वैतवादी कहना समय विरुद्ध दोष है।

25. निर्हेतुक—जिस सूत्र में युक्ति-हेतु आदि कुछ न हो, केवल शब्द मात्र हो, उसे निर्हेतुक दोष कहते है।

26. अर्थापत्ति—जिस वाक्य का अर्थापत्ति से अनिष्ट अर्थ निकलता हो, उसे अर्थापत्ति दोष कहते है।

27. असमास—जिस जगह समास होता हो, वहां समास नही करना या विपरीत समास करना असमास दोष कहलाता है।

28. उपमादोष—उपमा दोष दो प्रकार का है—1 हीनोपमा और 2. अधिकोपमा। जैसे मेरु पर्वत को सरसो, राई के दाने की उपमा देना हीनोपमा है और सरसो के दाने को मेरु बताना अधिकोपमा है और ये दोनों दोष है।

29. रूपक दोष—पदार्थ के स्वरूप एव अवयवों का विपरीत रूपक के द्वारा वर्णन करना रूपक दोष है।

30. निर्देश दोष—निर्दिष्ट पदो मे एकरूपता नही रखना निर्देश दोष है।

31. पदार्थ दोष—पदार्थ के पर्याय को पदार्थान्तर से वर्णन करना पदार्थ दोष है।

32. सन्धि दोष—जहा पर सन्धि होती हो वहा सन्धि नहीं करना या विपरीत सन्धि करना सन्धि दोष कहलाता है।

अष्ट गुण

1. निर्दोष—समस्त दोषो से रहित हो।

2. सारवत्—जो अनेक पर्यायो से युक्त हो।

3. हेतुयुक्त—अन्वय, व्यतिरेक आदि हेतुओ से संयुक्त हो।

4. अलंकृत—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो से विभूषित हो।

5. उपनीत—उपनय के द्वारा जिसका उपसहार किया गया हो।

6. सोपचार—जो असभ्य कहावतो से नही, बल्कि सभ्य एवं शिष्ट कहावतो से युक्त हो।

7. मित—वर्णादि के नियत परिमाण से युक्त हो।

8. मधुर—जो सुनने में मधुर हो।

आचारांग सूत्र मे प्रयुक्त सूत्रो में थोड़े शब्दो मे विस्तृत अर्थ समाविष्ट कर दिया गया और ये सूत्र भी उक्त दोषों से रहित एव गुणो से युक्त हैं।

आचारांग का महत्त्व

यह हम पहले बात चुके हैं कि आचाराग द्वादशागी का सार है। क्योंकि द्वादशागी के उपदेश का उद्देश्य है—मोक्ष मार्ग को बताना और मोक्ष के लिए आचार का परिपालन करना अत्यावश्यक है। आचारांग में आचार का ही उपदेश दिया गया है, अत यह तीर्थकरो की वाणी का सार है। अत साधु-जीवन के लिए इसका स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन करना तथा इसे आचरण मे साकार रूप देना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। व्यवहार सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यदि नव दीक्षित साधु या साध्वी प्रमादवश या रोगादि के कारण आचाराग सूत्र को भूल गए हों तो उनसे पूछे कि तुम प्रमादवश भूल गये हो या रोगादि के कारण यह सूत्र तुम्हारी स्मृति में नही रहा? यदि साध्वी कहे कि मै प्रमादवश भूल गई हू तो उसे कभी भी प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका आदि पद प्रदान न करे। यदि वह कहे कि रोगादि के कारण यह शास्त्र मेरी स्मृति से ओझल हो गया है और अब मै पुन इसे याद कर लूंगी और वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार पुन याद कर ले तो उसे प्रवर्तिनी आदि पद से विभूषित किया जा सकता है। यदि वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार याद न करे तो वह किसी भी पद को पाने के योग्य नही है[1]। इसके आगे के पाठ में यही बात तरुण साधु के लिए कही गई है कि यदि वह प्रमादवश आचारांग सूत्र को भूल जाए तो उसे

---

1 निग्गथीए ण नव डहर तरुणियाए आयारप्पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा 'केण भे कारणेण' अज्जो। आयारप्पकप्पे नाम अज्झमणे परिब्भट्ठे, किं आबाहेण पमाएण? सा य वएज्जा 'नो आबाहेण पमाएण' जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तीय नो कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तरवा, सा य वएज्जा 'आबाहेण नो पमाएण' सा य सठवेस्सामीति सठवेज्जा, एव से कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा सा य सठवेस्सामीति नो सठवेज्जा एव से नो कप्पइ पवत्तिणित्त वा गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —व्यवहार सूत्र, 4/15

आचार्य, गणावच्छेदकादि का पद नही देना चाहिए[1]। प्रस्तुत आगम में आगे चलकर कहा है कि स्थविर को भी सदा आचाराग का स्वाध्याय करना चाहिए। स्थविर के लिए अनेक सुविधाएं दी गई है, परन्तु उसके लिए भी आचाराग का स्वाध्याय अनिवार्य बताया है। आगम मे कहा है कि जब कोई स्थविर रोग के कारण आचाराग को भूल गया हो या भूल रहा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह बैठे-बैठे या लेटकर या अधिक अस्वस्थ हो तो करवट बदलते हुए आचाराग का स्वाध्याय करे। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहे जिस स्थिति मे क्यो न हो, आचाराग का स्वाध्याय अवश्य करे[2]। क्योकि साधना का मूल आचार ही है।

प्रस्तुत आगम मे एक जगह लिखा है कि यदि तीन वर्ष की पर्याय (दीक्षा) वाला साधु आचार कुशल है, सयम-निष्ठ है और प्रवचन मे पारगत है और कम-से-कम आचाराग का परिज्ञाता है, तो उसे उपाध्याय पद से अलकृत किया जा सकता है[3]।

इसके अतिरिक्त साधु-साध्वी के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम आचारांग का अध्ययन करे। निशीथ सूत्र मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि जो साधु आचारांग का अध्ययन किए बिना ही अन्य आगमों का अनुशीलन-परिशीलन करता है, तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है[4]।

उक्त पाठो से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत-साहित्य मे आचाराग सूत्र का कितना महत्त्व है। आचाराग[5] सूत्र का परिज्ञाता मुनि ही आचार्य आदि पद को प्राप्त

---

1 व्यवहार सूत्र, 4/16

2 व्यवहार सूत्र, 5/18

3 व्यवहार सूत्र, 3/3

4 जे भिक्खु णव बभचेराइ अवाएत्ता उवरिमसुय वाएइ वायत वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र, 19, 20

5 प्रस्तुत पाठो मे प्रयुक्त 'आयारप्पकप्पे' का तात्पर्य आचार प्रकल्प अर्थात् निशीथ सहित आचाराग सूत्र से है। निशीथ आचाराग का एक अध्ययन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पाच चूलाओ मे पाचवी चूला का नाम आयारप्पकप्पे या निशीथ है और यह आचाराग सबद्ध थी। परन्तु बाद मे यह आचाराग से पृथक् कर दी गई और इसे निशीथ सूत्र के नाम से छेद सूत्रों मे स्थान दे दिया गया। अत यहाँ आचाराग के अध्ययन का अर्थ है—आचारप्रकल्प या निशीथ नामक अध्ययन सहित पूरे आचाराग का परिज्ञान करना।

करने का अधिकारी होता है। जिस साधु को आचारांग का बोध नहीं, उसे कोई पद नहीं दिया जा सकता। इससे आचाराग का गौरव स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। उसके लिए विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है।

आचाराग सूत्र जितना सरल है, उतना ही गम्भीर है। छोटे-छोटे सूत्रों में इतने गहन भाव समाविष्ट कर दिए हैं कि मानों गागर मे सागर भर दिया हो। अत. उसके अर्थ एव भावों को स्पष्ट करने के लिए आचार्यो ने इस पर विशद टीकाए लिखी हैं। सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने इस पर निर्युक्ति लिखी थी। इसके पश्चात् सिद्धसेनाचार्य ने गन्धहस्ति भाष्य नामक टीका की रचना की। विद्वानो का अभिमत है कि यह टीका बहुत विशाल एव आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट करने वाली थी। प्रस्तुत आगम के टीकाकार श्री शीलाकाचार्य ने अपनी टीका उसी के आधार पर लिखी है। श्री गन्धहस्ति टीका की गहनता को स्पष्ट करते हुए भी शीलाकाचार्य आचाराग टीका की उत्थानिका मे लिखते है कि गन्धहस्ति कृत आचाराग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन का वर्णन अत्यन्त गहन-गम्भीर है। जिज्ञासु सज्जनो को उसका सुगमता से बोध हो सके, इसके लिए मैं अपनी टीका मे उसमें से कुछ सार ग्रहण करता हू[1]।

जब शीलाकाचार्य जैसे प्रौढ विद्वान् गन्धहस्ति कृत टीका की महत्ता को स्वीकार करते है, तो उसकी गहनता एवं विशिष्टता को मानने मे किसी भी प्रकार के सन्देह को अवकाश नही रह जाता है। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से वह टीका आज उपलब्ध नही है, उसका नाम मात्र ही शेष रह गया है।

अत· विचारशील पाठको से मेरा नम्र निवेदन है कि वे आचारांग के महत्त्व को समझने एव उसके गम्भीर विषय पर तटस्थ मनोवृत्ति से चिन्तन-मनन करने का प्रत्यन करें। और उसके स्थूल शब्दार्थ मे ही न उलझकर, उसके आध्यात्मिक एवं वास्तविक अर्थ को समझने का पुरुषार्थ करे। गन्धहस्ति टीका मे प्राय आध्यात्मिक अर्थ को ही महत्त्व दिया गया था और आज भी जो टीकाएं उपलब्ध है, उनमें भी कई स्थलो पर आध्यात्मिक अर्थ करने की शैली अपनाई गई है। मैने भी प्रस्तुत विवेचन

---

1 शस्त्र-परिज्ञा विवरणमति बहुगहनञ्च गन्धहस्तिकृतम्। तस्मात् सुख बोधार्थ गृह्णाम्यहमंजसासारम्। —आचाराग टीका (श्री शीलाकाचार्य)

में उसी शैली का अनुसरण किया है। यदि अन्य आगमो के विवेचन मे भी इस शैली का उपयोग किया जाए तो श्रुत साहित्य का गौरव अधिक बढ सकता है।

प्रस्तुत विवेचन की आवश्यकता

आचाराग सूत्र इतना गम्भीर एव महत्त्वपूर्ण है कि इस पर प्राचीन काल से ही निर्युक्ति, वृत्ति एवं टीका आदि विवेचन लिखे जाते रहे है। फिर भी उसका अर्थ अभी तक पूर्णत स्पष्ट नही हो पाया है। और वे प्राचीन विवेचन प्राकृत एव सस्कृत मे हैं, अत. प्राकृत एव सस्कृत के ज्ञान से रहित व्यक्तियो के लिए उनका कोई उपयोग नहीं रह जाता। कुछ विचारको ने हिन्दी एव गुजराती भाषा मे भी अनुवाद किया है। फिर भी यह विषय इतना गम्भीर है कि इसका जितना विवेचन किया जा सके, उतना ही कम है। इस दृष्टि से मैने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध और अनुत्तरोपपातिक सूत्र के विवेचन एव अनुवादादि से अवकाश मिलते ही आचाराग का लेखन कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसमे इस बात का पूरा ख्याल रखा गया कि विवेचन की भाषा सरल-सुगम हो और अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो, जिससे प्रत्येक हिन्दी-भाषी लाभ उठा सके। अत मैने मूल के साथ छाया, पदार्थ और मूलार्थ देकर, उस पर विशद विवेचन भी कर दिया है। विवेचन मे सूत्र के मूल भावो को स्पष्ट करने का विशेष प्रयत्न किया गया है।

सहायक ग्रन्थ

प्रस्तुत विवेचन करते समय मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई, उसका मैने उन्मुक्त हृदय से उपयोग किया। परन्तु इसमे शीलाकाचार्य की टीका को प्रमुख स्थान दिया गया है। क्योकि वर्त्तमान मे उपलब्ध टीकाओ मे यह सबसे विशद, प्रौढ एव प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जिनसिहसूरि कृत आचाराग प्रदीपिका, पार्श्वचन्द्रसूरि कृत आचाराग बालावबोध टीका (गुजराती), एक अज्ञात लेखक का आचारांग टब्बा और प्रो रवजी भाई देवराज का मूल सहित आचाराग अनुवाद का भी सहयोग लिया गया है। प्रस्तुत विवेचन के लेखन कार्य मे जिन ग्रथो का सहयोग है, उनके लेखको का आभारी हूं।

इस तरह अनेक ग्रथो का अवलोकन करके प्रस्तुत विवेचन को हर तरह से उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। और इसमे इस बात का पूरा ख्याल रखा

गया है कि विवेचन में मूल पाठ के भावों के अनुरूप ही व्याख्या हो। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण भूल का हो जाना स्वाभाविक है। क्योकि छद्मस्थ भूल का पात्र है। अत. सावधानी रखते हुए भी कहीं त्रुटि रह गई हो तो विचारशील पाठक हमे सूचित करें जिससे उस पर विचार किया जा सके और आगामी संस्करण में सुधार किया जा सके।

शिवमस्तु सर्व जगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

—मुनि आत्माराम.
प्रथमाचार्य श्रमण संघ

आचारांङ् : एक अनुशीलन

भारतीय सस्कृति क्या है? विभिन्न दिशाओ मे प्रवहमान तीन स्वतन्त्र विचार-धाराओ का संगम। भारत मे तीन विचार-धाराए प्रवहमान रही है—1. जैन, 2 बौद्ध और 3. वैदिक। तीनो विचार-परम्पराए अपने-आप मे स्वतन्त्र है। तीनों का अपना स्वतन्त्र एव मौलिक चिन्तन है, स्वतन्त्र अस्तित्व है। परन्तु फिर भी हम ऐसा नही कह सकते कि तीनो विचार-धाराए एक-दूसरी से पूर्णतया असबद्ध है। तीनो मे कुछ हद तक या किसी अपेक्षा-विशेष से विचार-साम्य भी है। दृष्टि-भेद होने पर भी एक दर्शन दूसरे दर्शन से प्रभावित भी है। एक-दूसरे मे शब्दो का, भावो का, शैली का आदान-प्रदान भी होता रहा है। अत यह कहना उपयुक्त होगा कि तीनो सस्कृतियों का सगम ही भारतीय सस्कृति है।

भारतीय संस्कृति

तीनो विचारधाराओं का अनुशीलन-परिशीलन ही समग्र भारतीय सस्कृति का अध्ययन है। यदि जैन विचारधारा या श्रमण-परम्परा का अध्ययन करना है, तो इसके लिए यह आवश्यक है कि बौद्ध और वैदिक विचारधारा का भी गहन अध्ययन किया जाए। जब तक तीनो धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन नही करेंगे, तब तक हम उस दर्शन का या उस परम्परा का समग्र एव निर्भ्रम अध्ययन नही कर सकते। क्योंकि तीनो विचार-परम्पराओं की शृखला इतनी गहरी जुडी हुई है कि उसे हम एक-दूसरे से पृथक् नही कर सकते। इसलिए प्रबुद्ध जैन-विचारको एव वरिष्ठ आचार्यो का यह अभिमत बुद्धि एव न्याय-सगत है कि प्रवचनकार एव चर्चावादी को स्व-दर्शन और पर-दर्शन का अथवा अपनी एव अन्य धर्म की परम्पराओं का, विचारधाराओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह अपनी संस्कृति का स्पष्ट चित्र जनता के सामने रख सके। अत तीनो विचारधाराओ का समन्वित रूप ही भारतीय सस्कृति है। यह समन्वय की सस्कृति है, अनेकता मे भी एकत्व को खोजने एव पाने की संस्कृति है।

आगम—श्रुत-साहित्य

भारतीय विचारको एव चिन्तको ने आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में गहरी खोज की है। और अपनी शोध (Research) मे जो कुछ पाया, उसे शिष्य-प्रशिष्यो को सिखाकर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। इस ज्ञान-परम्परा को भारतीय संस्कृति में 'श्रुत या श्रुति' कहते है। 'श्रुत' का अर्थ है—सुना हुआ और 'श्रुति' का तात्पर्य है—सुनी हुई। जैन परम्परा में तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट वाणी को 'श्रुत-साहित्य' कहते हैं। जैनागमो में पाच ज्ञान का उल्लेख मिलता है—1 मति ज्ञान, 2 श्रुत-ज्ञान, 3 अवधि-ज्ञान, 4. मन -पर्यव ज्ञान और 5 केवल ज्ञान। इनमें मति और श्रुत ज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना गया है। द्वादशागी का ज्ञान श्रुत-ज्ञान माना गया है। वर्तमान मे उपलब्ध 11 अग, 12 उपाग, 4 छेद शास्त्र, 4 मूल-सूत्र और आवश्यक सूत्र 'श्रुत-साहित्य' कहलाता है। श्वेताम्वर-मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मे 45 आगम 'श्रुत-साहित्य' के रूप मे माने जाते है। क्योंकि तीर्थकर इनके उपदेष्टा होते है और उनके द्वारा श्रुत—सुनी हुई वाणी को गणधर अपने शिष्यो को सुनाते है और वह वाणी अनागत मे शिष्य-परम्परा से एक-दूसरे को सुनाई जाती है। आचाराग सूत्र के प्रारम्भ मे यह सूत्र आता है—**"सुयं मे आउस! तेणं भगवया एवमक्खायं"** हे शिष्य! मैंने सुना है कि उस—श्रमण भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है।

वैदिक साहित्य मे 'श्रुति' शब्द का प्रयोग होता है। श्रुति का अर्थ भी सुनी हुई बात होता है। वैदिक ऋषियो द्वारा रचित ऋचाओ एवं स्तुतियो को 'श्रुति' कहते है। क्योंकि ऋषियो के मुख से प्रवहमान वेद-वाणी को सुनकर शिष्यों ने उसे स्मृति में रखा और अपने शिष्य-प्रशिष्यो को सुनाकर उसके प्रवाह को सतत गतिमान रखने का प्रयत्न किया।

जैनागमो की तरह बौद्ध ग्रथो मे 'सुत' शब्द मिलता है। उसका अर्थ भी वही है, जो सुयं शब्द का है, अर्थात् सुना हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति की तीनो परम्पराओ में आगम के लिए प्रयुक्त श्रुति, श्रुत—सुय और सुत संज्ञा—नाम सर्वथा सार्थक है।

द्वादशांगी वाणी

श्रुत-साहित्य—आगमो में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि प्रत्येक युग मे होने वाले तीर्थकर द्वादशागी का उपदेश देते हैं। इस दृष्टि से द्वादशागी को अनादि-अनन्त भी मानते हैं। फिर भी वेदों की तरह ये अपौरुषेय नहीं है। यह एक विचार-परम्परा है कि अनादि काल से होने वाले तीर्थकर अपने शासनकाल में द्वादशागी का उपदेश देते हैं और अनागत काल मे होने वाले तीर्थकर इसी का उपदेश देगे और वर्तमान मे महाविदेह क्षेत्र मे स्थित तीर्थकर इसका उपदेश दे रहे हैं। इस तरह प्रवाह की दृष्टि से द्वादशागी-वाणी अनादि-अनन्त है। उसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से विचार करते है, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह कि प्रत्येक काल मे होने वाले तीर्थकर इसका उपदेश देते हैं। अत· उस शासन-काल मे विद्यमान द्वादशांगी उनके द्वारा उपदिष्ट होती है। जैसे—वर्तमान में द्वादशागी के उपदेष्टा श्रमण भगवान महावीर है। इस तरह द्वादशागी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नही, कृतक है, अपौरुपेय नही, पौरुषेय है। क्योंकि, वह वाणी है, शब्दो एव अक्षरों का समूह मात्र है। और वाणी, शब्द या अक्षर का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है, ईश्वर नहीं। अत किसी शास्त्र, धर्म-ग्रन्थ एवं वेद-वाक्य या श्रुति स्मृति और श्रुत-साहित्य को ईश्वर-वाणी मानना भ्रम है। क्योंकि ईश्वर शरीर-रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अत· जब ईश्वर के शरीर ही नही है, तब वह वाणी का प्रयोग कैसे करेगा? यह स्पष्ट समझ मे आने वाली बात है।

भगवती सूत्र मे भगवान की वाणी को द्वादशागी गणि-पिटक कहा है। वस्तुत· वह ज्ञान का पिटारा अर्थात् ज्ञान-मजूषा ही है, जिसमे आत्मा, परमात्मा एव सम्पूर्ण विश्व के यथार्थ रूप का ज्ञान-विज्ञान निहित है। वह द्वादशागी निम्न प्रकार है—1. आचाराग 2 सूत्रकृताग, 3 स्थानाग, 4 समवायांग, 5. विवाहपन्नत्ति-भगवती, 6. ज्ञाताधर्मकथाग, 7 उपासकदशाग, 8 अन्तकृतदशाग, 9. अनुत्तरोपपातिकदशाग, 10 प्रश्न-व्याकरण, 11 विपाक और 12 दृष्टिवाद। वर्तमान में दृष्टिवाद उपलब्ध नही है, शेष ग्यारह अग उपलब्ध है।

प्रस्तुत आगम

द्वादशाग मे आचाराग का सर्वप्रथम स्थान है। इसलिए आचार्य भद्रबाहु ने

प्रस्तुत आगम को भगवान[1] और वेद[2] कहा है। क्योकि तीर्थ प्रवर्तन में आचार का सर्व प्रमुख स्थान है। शेष ग्यारह अग उसके बाद है। इसका कारण यह है कि इसमें मुक्ति प्राप्त करने के साधन की चर्चा है और वस्तुत· देखा जाए तो समग्र प्रवचन एव द्वादशांगी का सार भी मोक्ष[3] है और आचारांग में मोक्ष-साधना का ही उपदेश है। इसलिए आचाराग को द्वादशागी का सार कहा है[4] और इसी कारण इसे इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आचारांग का उपदेश

आचार्य भद्रबाहु, चूर्णिकार और आचार्य शीलाक इस विषय मे एकमत हैं कि द्वादशांगी का उपदेश और इसकी रचना सर्व प्रथम हुई है[5]। परन्तु आवश्यक चूर्णि मे इसके विपरीत मतो का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारकों का अभिमत है कि तीर्थकरों ने सर्वप्रथम अर्थ रूप से पूर्वो का उपदेश दिया, परन्तु गणधरों ने सूत्र रूप से सर्वप्रथम आचाराग की रचना की। किन्तु कुछ आचार्यो का यह अभिमत है कि सर्वप्रथम उपदेश भी पूर्वो का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वो की ही की गई। उपदेश एव रचना की दृष्टि से पहले 'पूर्व' है, उसके बाद आचारागादि अग शास्त्र हैं, किन्तु स्थापन की दृष्टि से आचाराग को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है[6]। इन विचार-भेदो के आधार पर हम इतना तो निस्सदेह कह सकते है कि समग्र श्रुत-साहित्य मे आचाराग का अपना विशिष्ट स्थान है। भले ही वह उपदेश की दृष्टि से प्रथम न रहा हो, रचना की दृष्टि से रहा हो या स्थापन की दृष्टि से प्रथम रहा हो, परन्तु इसमे किसी के दो मत नही है कि आचाराग का आगम-साहित्य मे मूर्धन्य स्थान है। वह जैन-साहित्य-गगन का चमकता हुआ सूर्य है।

---

1 आयारस्स 'भगवओ' निज्जुत्ति कित्तइस्सामि। —आचाराग नि 1

2 आचाराग, नि 11

3 आचा नि 8,9

4 अगाणा कि सारो? आयारो। —आचा., नि ।

5 सव्वतित्थगरा वि आयारस्स अत्थ पढम आइक्खति ततो सेसगाण एक्कारसण्ह अगाण ताए चेव परिवाडिए गणहरा वि सुत्त गुथति। —आचाराग चूर्णि, पृ. 3

6 आवश्यक चूर्णि, पृ 56-57

आचारांग का परिचय

आचारांग सूत्र का परिचय नन्दी[1] और समवायाग सूत्र[2] मे दिया गया है। नन्दी सूत्र की अपेक्षा समवायांग सूत्र मे दिए गए परिचय मे कुछ विशेषण अधिक हैं। परन्तु इस बात मे उभय आगमो मे एकरूपता है कि आचाराग सूत्र के दो श्रुतस्कन्ध है। उनके 25 अध्ययन, 85 उद्देशक और 18 हजार पद है। दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य 'धवला' ग्रन्थ मे भी आचाराग सूत्र के इतने ही पदो का उल्लेख मिलता है[3]। इसमे भी उभय आगमों मे एकवाक्यता है कि आचाराग मे प्रमुख रूप से साध्वाचार का वर्णन है। आचार्य अकलक कृत राजवार्तिक[4], धवला[5] और जयधवला[6] मे भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि आचाराग सूत्र मे मुनि धर्म का वर्णन है। इससे स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर-मान्य आगमो मे आचारांग का परिचय समान रूप से मिलता है। ग्रन्थ की पद सख्या एव ग्रन्थ मे वर्णित विषय में उभय परम्परा मे कोई मतभेद नही है।

आचारांग का मौलिक रूप

परिचय मे हम देख चुके है कि नन्दी सूत्र एव समवायाग सूत्र मे प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कन्ध बताए है। वर्तमान मे उपलब्ध आचारांग सूत्र भी दो श्रुतस्कन्धो मे विभक्त है। परन्तु यह एक प्रश्न है कि आचाराग के दोनो श्रुतस्कन्ध मौलिक है या एक श्रुतस्कन्ध मौलिक है और दूसरा उसके साथ पीछे से जोडा गया है। इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया गया है—एक पक्ष प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानता है। आचाराग निर्युक्ति एव आचाराग चूर्णि मे भी इस मत का समर्थन मिलता है।

---

1 नन्दी सूत्र, पृ 45

2 समवायाग सूत्र, पृ 136

3 धवला भाग 1, पृष्ठ 99

4 राजवार्तिक, सूत्र 120

5 धवला, भाग 1, पृष्ठ 99

6 जयधवला भाग 1, पृ 122

निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविरकृत माना है[1]। इससे स्पष्ट होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध पीछे से जोड़ा गया है। चूर्णि मे आदि, मध्य और अन्तिम मगल के प्रकरण में प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तिम वाक्य को अन्तिम मगल कहा है[2]। इससे भी उक्त पक्ष को समर्थन मिलता है। भारतीय श्रुत-साहित्य के विचारक जर्मन विद्वान प्रो. हर्मन-जैकोबी भी प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही मौलिक मानते है[3]। आज के कुछ विचारक सन्त एवं विद्वान भी द्वितीय-श्रुतस्कन्ध को पीछे से सबद्ध किया हुआ मानते है। परन्तु नन्दी सूत्र एवं समवायांग सूत्र दोनों श्रुतस्कन्धों को मौलिक मानते हैं। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज भी उभय आगमो के मत से सहमत हैं। परन्तु भाषा एवं विषय की दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि नन्दी और समवायाग का संकलन होने के पूर्व द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम के साथ सम्बद्ध कर दिया गया होगा। इतना तो स्पष्ट है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-निरूपण-पद्धति द्वितीय श्रुतस्कन्ध से सर्वथा भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आचार का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है, उसकी भाषा भी गूढ है और सूत्र-सक्षिप्त शैली है। थोडे शब्दो में बहुत कुछ या सब कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे ऐसी बात नही है। उसमे आचार के नियमो का परिगणन किया गया है, इसलिए उसकी भाषा और शैली भी सरल है। और यह भी स्पष्ट है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूला रूप है, उसमें पाच चूलाए हैं। वर्तमान मे चार चूलाए ही है, पाचवी 'आयारप्पकप्प' चूला जिसे निशीथ भी कहते हैं, इससे पृथक् कर दी गई और वह स्वतन्त्र रूप से छेद सूत्र के रूप मे स्वीकार कर ली गई। चूलाए जोडने की परम्परा बहुत पुरानी रही है। मूल ग्रथ को स्पष्ट करने के लिए उसके साथ चूलाए जोड़ दी जाती थी। आचाराग का प्रथम श्रुतस्कन्ध भी विशिष्ट साधुओ के लिए उपयोगी था। सर्व साधारण उसका अनुशीलन करके उसे हृदयस्थ नहीं कर पाते थे। इस कठिनता को दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सर्वसाधारण के लिए उसके साथ सलग्न कर दिया होगा। विषय की दृष्टि से देखते है तो जो बात द्वितीय

---

1 आचाराग निर्युक्ति पृ 31-32

2 अचाराग चूर्णि, पृ 1

3 Sacred Book of the East, Vol 22, Introduction, P. 47 —By Jacobi.

श्रुतस्कन्ध मे कही गई है, वह सब प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आ ही गई है। अन्तर इतना ही है कि वह संक्षिप्त एवं गम्भीर शैली तथा प्रौढ भाषा मे कही गई है। इससे ऐसा लगता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम के साथ बाद मे जोड़ा गया होगा। हो सकता है कि उसका ग्रन्थन सुधर्मा ने नही, वल्कि अन्य गणधर ने किया हो या स्थविर ने। परन्तु वह है वाद का। फिर भी इस विषय मे कुछ निश्चित नही कहा जा सकता। इस पर अभी काफी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है और यह ऐतिहासिक विद्वानो के शोध (*Research*) का कार्य है।

आचारांग का समय और निर्माता

नन्दी सूत्र मे यह बताया गया है कि द्वादशांगी के प्रणेता तीर्थकर है[1]। आवश्यक निर्युक्ति मे भी यह अभिव्यक्त किया गया है कि अरिहन्त—तीर्थकर भगवान द्वादशांगी का अर्थ रूप से उपदेश देते है। अर्थ रूप से उपदिष्ट उस वाणी को गणधर सूत्र रूप मे ग्रथित करते है। शासन के हित के लिए गणधर तीर्थकर भगवान के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्रवद्ध करते है[2]। इससे यह स्पष्ट होता हे कि आचाराग का अर्थ रूप से उपदेश भगवान महावीर ने दिया था और गणधर सुधर्मा ने इसे सूत्रबद्ध किया था। अत गणधरो की सूत्र-रचना का मूलाधार (Original source) तीर्थकरो की अर्थ रूप वाणी होने से, तीर्थकरो को 'आगम-प्रणेता' कहते हे।

इससे सिद्ध होता है कि आचाराग के मूल निर्माता भगवान महावीर है और उसको सूत्र वद्ध करने वाले गणधर सुधर्मा है । इस तरह आचारांग का समय ईसा से छठी शताब्दि पूर्व का सिद्ध होता हे। परन्तु इसमे एक प्रश्न उठता है कि दोनो श्रुत-स्कन्ध गणधर-प्रणीत हे या प्रथम श्रुतस्कन्ध। इसमे दो अभिमत है—आचाराग निर्युक्ति मे द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर-कृत माना है[3]। स्थविर शब्द की व्याख्या

---

1 नन्दी सूत्र, 40

2 अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तेइ॥ —आवश्यक निर्युक्ति, 192

3. थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअ होउ पगडत्थ च।
आयाराओ अत्थो आयारग्गेसु पविभत्तो॥ —आचा नि , 287

करते हुए आचार्य शीलांक ने चतुर्दश पूर्वधर को स्थविर माना है[1]। परन्तु चूर्णिकार ने स्थविर का अर्थ गणधर किया है[2]। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ विचारक आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को गणधर-कृत और द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थविर (चतुर्दश पूर्वधर)-कृत मानते है और कुछ विचारक दोनो श्रुतस्कन्धो को गणधर कृत मानते है।

वर्तमान में भारतीय एवं पाश्चात्य ऐतिहासिक एवं दार्शनिक विद्वान प्रथम श्रुतस्कन्ध को ही गणधर-कृत मानते हैं। परन्तु आज के कुछ विद्वान एव आगमवेत्ता द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर-कृत स्वीकार करते है। प्रस्तुत आगम के व्याख्याकार श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज द्वितीय श्रुतस्कन्ध को गणधर-कृत मानने के पक्ष में है। और इस सम्बन्ध मे उनके विचार द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भूमिका मे दिए है। आचार्य श्री के द्वारा किया गया अन्वेषण (Research) और दिए गए तर्क (Arguments) अपना विशेष महत्त्व रखते है। उन्होने शोध करने वाले विद्वानो (Research scholors) के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

आचार्य श्री ने अपनी खोजपूर्ण भूमिका मे उसे भाषा, भाव, शैली आदि सब दृष्टियों से गणधरकृत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका प्रयत्न कितना सफल रहा है, यह तो विज्ञ पाठक की बता सकते है। परन्तु इस दिशा मे जो प्रयत्न उन्होंने किया है, वह स्तुत्य है और उनका श्रम हमे चिन्तन के लिए नई प्रेरणा देगा, इसमें कोई सन्देह नही है।

यह तो हम ऊपर देख चुके है कि भाषा, भाव एव शैली की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम से सर्वथा भिन्न है। दोनों की भाषा, भाव और शैली मे आकाश-पाताल जितना अन्तर है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा गम्भीर और प्राञ्जल है, उसके भावो मे भी गहनता है और उसकी शैली सूत्रात्मक है। थोड़े शब्दो मे बहुत कुछ या सब कुछ कह देने की शैली है। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे न तो भाषा की प्राजलता है, न

---

1 तत्र इदानी वाच्यं-केनैतानि निर्यूढानि, किमथ, कुतो वेति? अत आह—'स्थविरै' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दश- पूर्वविविद्भिर्निर्यूढानि—इति। —आचार्य शीलाक।

2 एयाणि पुण आयारग्गणि आयारा चेव निज्जूढाणि केण णिज्जूढाणि? थेरेहि, थेरा—गणधरा॥ —आचा चूर्णि, 326

भावो की गम्भीरता है और न सूत्र-शैली के ही दर्शन होते है। उसमें तो सरल भाषा एवं साधारण शैली मे सीधे-सादे भावो की—आचार के नियमो की परिगणना करा दी है। इस कथन मे कुछ तथ्य है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे भाषा, भाव और शैली मे सरलता लाने का कारण यह रहा है कि साधारण साधक भी आचार की महत्ता को सरलता से समझ सके और उसे आचरण मे उतार सके। हम भी इस बात को मानते हैं कि इसी उद्देश्य से प्रथम श्रुतस्कन्ध के साथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध को सम्बद्ध किया गया है। परन्तु इसके लिए अभी खोज एव चिन्तन करने की आवश्यकता है कि दोनो के कर्ता एक ही है या भिन्न व्यक्ति है। हमे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों के कर्ता दो भिन्न व्यक्ति होने चाहिए। क्योकि, प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा एव भावो को समझने मे जब कठिनाई उत्पन्न हुई होगी, तभी आचार्यो ने उसे दूर करने के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना की होगी? आचाराग निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दो में लिखा है कि आचारचूलिकाओ के विषय को स्थविरो ने आचार मे से ही लेकर शिष्यो के हितार्थ चूलिकाओ मे प्रविभक्त किया है[1]।

भले ही द्वितीय श्रुतस्कंध को गणधर-कृत माने या स्थविरकृत, इतना तो स्पष्ट है कि उसका मूलाधार वीतराग-वाणी है। स्थविरों ने जो कुछ रचना की है, वह भी गणधर-कृत अग सूत्रो एव पूर्वो मे से लेकर की है और चतुर्दश पूर्वधर को भी सर्वज्ञ के समान माना है, उसे श्रुत-केवली सबोधन से सबोधित किया है। गणधर सुधर्मा भी आचार्य पद पर स्थापित होते समय सर्वज्ञ नहीं, चतुर्दश पूर्वधर ही थे और वे कई वर्षो तक छद्मस्थ रहे है। परन्तु उनके ज्ञान की विशिष्टता के कारण उनकी वाणी को भी वीतराग-वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है। यही कारण है कि अग बाह्य आगमो को—जो स्पष्टत स्थविर-कृत है और अनेक आगमो के रचयिता स्थविरो के नाम भी उनके साथ सबद्ध है, भी प्रामाणिक माना है। परन्तु मध्यकाल मे स्थविर की अपेक्षा गणधर शब्द का अधिक महत्त्व माना जाने लगा और इसके कारण अंग बाह्य आगमो को भी गणधर-कृत कहा जाने लगा। उस समय स्थविर शब्द का अर्थ भी गणधर किया जाने लगा। यही कारण है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध को भी गणधर कृत माना गया।

---

1 आचा नि 287

यह ठीक है कि नन्दी एव समवायांग सूत्र में जो आचारांग के अध्ययनों, उद्देशों एव पदों की संख्या दी गई है, उसमे समग्र आचाराग का उल्लेख है। उसमे दोनों श्रुतस्कन्धो को विभक्त नहीं किया गया है। परन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि उभय आगमों का यह वर्णन उस समय का है, जब आचाराग सूत्र से आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पाचवी-चूला (26वां अध्ययन) आयारपकप्प, जो आज निशीथ सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है, अलग कर दी गई थी। आचारांग निर्युक्ति मे द्वितीय-श्रुतस्कन्ध की पाचवीं चूला का नाम 'आयारपकप्प तथा निसीह' दिया हुआ है[1]। अत' यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समवायाग में दी गई संख्या, गणधर सुधर्मा स्वामी के समय की है। यह ठीक है कि समवायाग के सूत्रकार गणधर ही होते है, क्योंकि वह अग शास्त्र है। परन्तु समवायाग स्थानाग में कुछ स्थल ऐसे भी है, जो स्पष्टत' प्रक्षिप्त प्रतीत होते है। स्थानाग सूत्र में सात निह्नव का उल्लेख आता है। उसमे तीसरे अव्यक्तिक से लेकर सातवे अबद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के 214 वर्ष बाद से लेकर 584 वर्ष बाद तक हुए है। सातवा अबद्धिक निह्नव भगवान महावीर के निर्वाण के 584 वर्ष पीछे हुआ है; फिर भी उसका स्थानाग सूत्र मे उल्लेख मिलता है। परन्तु उसके बाद बोटिक निह्नव हुआ, वह भगवान महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष पीछे हुआ, उसका इसमें उल्लेख नही है। इससे ऐसा लगता है कि वी. नि. स. 980 मे हुई बल्लभी वाचना मे नया सूत्र नही जोडा गया।

इससे हम यह नहीं कह सकते कि आगम मे मौलिकता है ही नही। उसमे बहुत कुछ मौलिक है और गणधर-कृत भी है। परन्तु आगमो का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद हम निश्चित रूप से ऐसा नही कह सकते कि इसमें उल्लिखित एक-एक शब्द वही है, जो भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट एव गणधर सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। उसमे कही-कही परिवर्तन भी हुआ है परन्तु फिर भी उसकी मौलिकता को कोई क्षति नही पहुची है। स्थविरों ने जो कुछ जोड़ा है, वह भी एकदम निराधार नही कहा जा सकता, क्योंकि स्थविर भी 14 पूर्वधर थे और उनकी रचना का आधार भी वीतराग वाणी या तीर्थकरों का उपदेश ही था। गणधरो ने भी तीर्थकरो के अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र-बद्ध किया है और स्थविरो ने भी जो कुछ रचना की है, वह पूर्वो मे से लेकर या अग

---

1 आचा. नि. 495-496

शास्त्रो मे से लेकर की है। अत· यह कहना या मानना उपयुक्त नही है कि स्थविर की रचना गणधरो के मुकाबले मे कमजोर है या अप्रामाणिक है, क्योकि यह तो सबको मान्य है कि गणधर भी स्थविरो की तरह 14 पूर्वधर थे और छद्मस्थ ही थे। अतर इतना ही है कि गणधरो के सामने भगवान महावीर स्वय विद्यमान थे और स्थविरो के सामने उनकी वाणी थी, उनका प्रवचन था।

इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रद्धेय स्व. आचार्य श्री ने द्वितीय श्रुतस्कन्ध के निर्माता कौन है, इसे खोज निकालने के लिए अथक परिश्रम किया है और उनके तर्क भी काफी महत्त्वपूर्ण एव वजनदार है। इस खोज से कई नई बातें एवं कई नए तथ्य सामने आए है। इससे अब एकदम यह नहीं कहा जा सकता कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध गणधरकृत है ही नही। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की इस खोज से ऐतिहासिक विचारकों को मार्गदर्शन मिलेगा और इससे वे अवश्य ही किसी निर्णय पर पहुचने मे सफल होगे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आचाराग के उपदेष्टा भगवान महावीर हैं और सूत्रकार है भगवान महावीर के पंचम गणधर और प्रथम आचार्य सुधर्मा और उसका रचना काल ईसा से छठी शताब्दी पूर्व माना जा सकता है। और द्वितीय श्रुतस्कन्ध का समय भी चौथी और पाचवी शताब्दी के मध्य में ही मान सकते हैं, उसके बाद नही। भले ही वह स्थविर कृत भी हो तब भी काफी प्राचीन है। हो सकता है, प्रथम श्रुतस्कन्ध के कुछ वर्ष बाद ही उसकी रचना की गई हो और उसे उसके साथ सलग्न कर दिया गया हो।

आचारांग की शैली

आचारांग के प्रथम-श्रुतस्कन्ध की शैली की तुलना ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण-यजुर्वेद, धर्मसूत्र आदि की शैली से की जा सकती है। प्रस्तुत आगम की यह विशेषता है कि इसमे गद्य और पद्य का मिश्रण हुआ है। नवम अध्ययन पूरा पद्य में ही है, अन्यत्र गद्य के साथ पद्यो का समेल दिखाई देता है। सूत्र-शैली—थोडे मे अधिक कहने की जो विशेषता है, वह भी प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ही परिलक्षित होती है और अर्थगाम्भीर्य भी प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध की भाषा मे ही है। इससे आचाराग की प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

भाषा

जैन परम्परा के अनुसार आगमों की भाषा–अर्द्धमागधी मानी गई है। तीर्थकर सदा अर्द्धमागधी भाषा में ही उपदेश देते है और उनका प्रवचन समस्त जाति एव देश के व्यक्ति तथा पशु-पक्षी भी समझ लेते है। आगम मे यह भी कहा गया है कि देवता भी अर्द्धमागधी भाषा में बोलते है।

आचारांग की भाषा–अर्धमागधी है जिसे आजकल प्राकृत कहते है। कुछ विचारकों का कहना है कि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा पालि और प्राकृत के बीच की कड़ी है। अन्य आगमों एव प्राकृत ग्रन्थो मे प्राकृत भाषा अपने विकसित रूप मे मिलती है, किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्ध में प्राकृत का सबसे प्राचीन रूप सुरक्षित है। इसकी भाषा की तुलना सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के साथ कुछ अशों में की जा सकती है। आर्ष प्राकृत के अधिक प्रयोग प्रस्तुत श्रुतस्कन्ध मे ही मिलते हैं, द्वितीय मे नही। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे परस्मैपद मे 'ति' प्रत्यय उसी रूप मे मिलता है, जबकि द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वह 'इ' के रूप मे प्रयोग किया गया है[1]। इसके अतिरिक्त प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाक्य छोटे और सादे हैं, जब कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के वाक्य लम्बे और अलकार युक्त भाषा मे है और गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा प्रथम की अपेक्षा कुछ विकसित रूप मे परिलक्षित होती है।

नाम

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनो को ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अध्ययन कहा है[2]। इससे धर्म सूत्रो मे प्रयुक्त ब्रह्मचर्य-आश्रम, उपनिषदो में उल्लिखित ब्रह्म शब्द और बौद्धो के ब्रह्म-विहार की स्मृति ताजी हो उठती है। नाम की साम्यता होते हुए भी अर्थ मे जो अन्तर है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। धर्मसूत्र मे ब्रह्म का मुख्य अर्थ है–वेद। अत. ज्ञान एवं ज्ञानप्राप्ति की चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है। उपनिषदों में

---

1. पमुच्चति (श्रु 1, अ 2, उ 1) परिसहइ आदि (द्वितीय श्रुतस्कन्ध)
2 नवबभचेर पन्नता। –समवायाग, 9/51

ब्रह्म का मुख्य अर्थ है—विश्व का एक मूल तत्त्व या आत्म तत्त्व, उसकी प्राप्ति या साक्षात्कार की चर्या—ब्रह्मचर्य है। बौद्धों में मैत्री, प्रमोद, उपेक्षा और करुणा, इन चार भावनाओं मे विचरण करना 'ब्रह्म विहार' माना है। जबकि आचारांग में ब्रह्म का अर्थ है—संयम। अत. संयम का आचरण करना ब्रह्मचर्य है। जैन दृष्टि से अहिसा, समभाव या समत्व की साधना का ही नाम सयम है[1] और इसी को सामायिक की साधना कहा है[2]। गीता मे समत्व भाव को योग कहा है[3] और इसे ब्रह्म भी माना है[4]। आचारांग एव गीता मे इस बात को स्पष्टत' स्वीकार किया गया है कि आध्यात्मिक दृष्टि अहिसा एव समभाव की साधना के मूल मे ही[5] है।

आचाराग मे अहिसा एव समभाव की साधना का ही उपदेश दिया गया है। अत उसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम सार्थक है। निर्युक्तिकार का यह कथन भी नितान्त सत्य है कि आचाराग सब अगो का सार है, क्योकि द्वादशागी का उपदेश संयम की साधना को तेजस्वी बनाने के लिए दिया गया है और आचारांग में मुख्य रूप से संयम-साधना का ही उपदेश है और संयम ही मुक्ति का कारण है। अत. आचारांग तीर्थकर-प्रवचन का सार है और उसका ब्रह्मचर्य नाम भी उपयुक्त एव सार्थक है।

शब्दों का आदान-प्रदान

भारतीय वाड्मय एव सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही श्रमण और ब्राह्मण-परम्पराए सर्वथा अलग-अलग रही हों, परन्तु एक-दूसरी परम्परा ने परस्पर एक-दूसरे के साहित्यिक शब्दो को अपने साहित्य मे ग्रहण किया है। श्रुत-साहित्य मे उस युग के प्रचलित वैदिक शब्दो को निस्सकोच भाव से लिया गया है। प्रस्तुत आगम मे भी ब्राह्मण-परम्परा मे प्रयुक्त शब्दो को

1 स्थानाग सूत्र 429-30, समवायाग 17

2 आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन

3 समत्व योग उच्यते।—गीता 2/48

4 इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता॥ —गीता, 5/19

5 आचा 1, 2, 3, 4, और गीता, 6/32

स्थान दिया गया है। परन्तु आगम-साहित्य में वैदिक शब्दों को श्रमण-संस्कृति के अनुरूप ढालने का भी पूरा प्रयत्न किया है।

वेद-युग मे वैदिक परम्परा का आराध्यदेव इन्द्र बहुत शक्तिशाली माना गया है और उसका वीरत्व दुष्टो एव शत्रुओ का सहार करने में माना गया है और वैदिक ऋषियों ने उसकी संहारक एव हिंसक शक्ति की स्तुति की है, गीत गाए हैं। परन्तु आचाराग मे वैदिक परम्परा में प्रयुक्त इस दोष को, कालिमा को हटा दिया गया है। उसमे वीरता, महावीरता, ब्राह्मणत्व, आर्यत्व आदि शब्दो का वैदिकों की हिंसा-प्रधान परम्परा के विपरीत करुणा, दया, विश्वबन्धुत्व एव समभावमूलक अहिसा के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

नवम अध्ययन मे भगवान महावीर की साधना का वर्णन है। उसके चारों उद्देशो के अन्त मे यह उल्लेख किया गया है कि "मतिमान ब्राह्मण ने यह आचरण किया है।" इसमे भगवान को क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण कहा गया है। परन्तु ब्राह्मणत्व के अर्थ को पूर्णतः परिष्कृत कर दिया गया है। कहा वैदिक यज्ञ-अनुष्ठान मे सलग्न, हिंसा मे अनुरक्त, रक्त-रंजित हाथो वाला ब्राह्मण और कहां आत्म-साधना में संलग्न अहिंसा का अधिदेवता यह ब्राह्मण। दोनो की जीवन-रेखा मे कहीं साम्य नही, मेल नही और दोनो की साधना में कही एकरूपता नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि सूत्रकार ने वैदिक परम्परा मे प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द की विषाक्त भावना एव कालिमा को धोकर उसके अर्थ का आध्यात्मिक विकास करके ही उसे आचाराग मे स्थान दिया है।

नायपुत-ज्ञातपुत्र या वर्द्धमान को वीर कहा है, वीर ही नही, बल्कि महावीर कहा है। आज तो भगवान का महावीर नाम ही सबकी जिह्वा पर नाच रहा है, अन्य नाम तो आगमो एव ग्रथो मे ही देखे-पढे जा सकते है। परन्तु भगवान की महावीरता किसी का सहार करने मे नहीं थी। उन्होंने इन्द्र की तरह जन-सहारक युद्ध नहीं लड़े और न उन्होने पशु-पक्षियों का वध ही किया। फिर भी वे वीर रहे है, वीर ही नहीं महावीर माने गए है। यहा वीरत्व की व्याख्या ही परिवर्तित कर दी गई है। ब्राह्मण क्रूरता को वीरत्व मानते है। परन्तु महावीर का वीरत्व सकषाय-चर्या (सदोष-आचरण) और अकषाय-चर्या (निर्दोष-आचरण) का परिज्ञान करके, अकषाय-चर्या को स्वीकार करने मे है। इस साधना मे राग-द्वेष का अभाव होने से हिसा आदि दोषो को पनपने का थोडा-बहुत भी अवकाश नही है, क्योकि भगवान महावीर ने दूसरों पर नहीं,

अपनी आत्मा पर नियन्त्रण किया। अपने मन-वचन और काय योगो के प्रबल प्रवाह को ससार की ओर से हटाकर, आत्म-साधना की ओर मोड़ा। उन्होंने कषायों एवं राग-द्वेष पर नियंत्रण किया। अत उनका वीरत्व महान है, निर्दोष है और ब्राह्मणो के वीरत्व की कल्पना से सर्वथा भिन्न रहा है।

ब्राह्मण अहर्निश यज्ञ-याग की चिन्ता मे डूबे रहते थे और बहुभाषी थे, जबकि भगवान महावीर **'माहणे अबहुबाई'** अल्पभाषी ब्राह्मण थे। इस तरह जब वैदिक शब्दों का स्वय भगवान महावीर के जीवन मे परिवर्तित अर्थ परिलक्षित होता है, तो आचाराग जो उनकी साधना का निचोड़ हैं, मन्थन है, उसमे उसका बदला हुआ वास्तविक रूप दृष्टिगोचर होता है, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? आचारांग मे अनेक जगह यह दोहराया गया है कि सयम-साधना वीरो का—महावीरो का मार्ग है, त्याग-तप एवं संयम-निष्ठ साधको का पथ है।

वैदिक अपने आपको आर्य कहते थे। परन्तु वेद, पुराण और ब्राह्मण-ग्रन्थ मे जो उनका हिंसा-प्रधान जीवन मिलता है, वह उनके अनार्यत्व का ही परिचायक है। आचाराग मे भी आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु इसकी व्याख्या मे उज्ज्वलता, समुज्ज्वलता एव धवलता निखर आई है। वस्तुत. आर्य वह नही है, जो रात-दिन याज्ञिक हिंसा मे उलझा रहता है तथा शूद्र और नारी का तिरस्कार एवं शोषण करता है। परन्तु आर्य वह है, जिसके जीवन-गवाक्ष से स्नेह, समता, मृदुता, कोमलता, अभय, अप्रमाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का ज्योतिर्मय प्रकाश छन-छन कर आता है और उसके साधना-पथ को प्रकाशित करता है तथा जिसके अन्तर्मन मे प्राणिजगत के प्रति प्रेम एव करुणा का झरना झरता है और जो प्रत्येक सतप्त एव पीडित व्यक्ति के दुःख एव सन्ताप को मिटाने को सन्नद्ध—तैयार रहता है। सचमुच मे, आर्य संयम-निष्ठ होता है। आर्य करुणा-सागर होता है। आर्य विषय-विकारो से रहित होता है। आर्य पक्ष-पात एव ऊच-नीच के भेद-भाव तथा छुआ-छूत की घृणित भावना से रहित होता है। आर्य विश्व के साथ भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित करने वाला होता है और प्राणिजगत का संरक्षक होता है।

आचाराग सूत्र मे ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पण्डित, आर्य, वेदविद् आदि अनेक वैदिक शब्दो का प्रयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रमण भगवान महावीर ने इन शब्दो के प्रयोग मे व्यवहृत हिसा, शोषण एवं उत्पीड़न

के विष को अमृत के रूप में परिणत करके इन शब्दों को बढ़ाया है और आर्यत्व एव आर्यपथ को दिव्य, भव्य एव उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाया है।

आचारांग क्या है :

प्रस्तुत आगम के नाम से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे आचार का वर्णन है। इसमे प्राय साध्वाचार का वर्णन है। इसी कारण यह सब अगों एव आगमों में महत्त्वपूर्ण एव सब अंग-शास्त्रों का सारभूत ग्रन्थ माना गया है। क्योकि जीवन का, साधना का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक् दर्शन और ज्ञान के साथ सम्यक्-आचार का होना आवश्यक है। अत मुक्ति-प्राप्ति का साधन आचार है और आचाराग मे आचार का ही वर्णन है। भगवान महावीर के उपदेश या द्वादशांगी का उद्देश्य भी मोक्ष-मार्ग को बताना है। इसलिए आचारांग में सब अंगों का निचोड़ समाविष्ट है और इसी कारण इसे सब अग-सूत्रो मे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत-आगम दो श्रुत-स्कधो मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कध में पंचाचारो—1 ज्ञान आचार, 2 दर्शन आचार, 3 चारित्र आचार, 4. तप आचार और 5. वीर्य आचार का सूत्र-शैली मे सैद्धान्तिक वर्णन किया गया है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे साधना मे प्रयुक्त होने वाले नियमो को गिना दिया गया हे। प्रस्तुत जिल्द में प्रथम श्रुतस्कन्ध ही प्रकाशित किया जा रहा है। अत हम यहां संक्षिप्त में प्रथम श्रुतस्कन्ध का ही परिचय देना उपयुक्त समझते हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध नव अध्ययनो में विभक्त है ओर नव अध्ययन इक्यावन उद्देशको मे विभक्त है।

प्रथम अध्ययन

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम—शस्त्र-परिज्ञा है। इसके सात उद्देशक है। इसमें यह बताया गया है कि शस्त्र महाभय का कारण है। इससे (शस्त्र से) वैर विरोध बढ़ता है और वैर विरोध के बढने से ससार-परिभ्रमण बढ़ता है। शस्त्र द्रव्य और भाव से दो प्रकार के हैं—गाली-गलौच, अपशब्द, लाठी-डंडे से लेकर रिवाल्वर, बन्दूक, अणु-बम, उद्जन बम और राकेट तक के हथियार द्रव्य शस्त्र हैं और राग-द्वेष, काम, क्रोध, भय, लोभ, मोह, माया आदि मनोविकार भाव शस्त्र है। भाव शस्त्रो—काषायिक भावो की भयकरता के अनुरूप ही द्रव्य शस्त्रो में

भयंकरता लाई जाती है। अतः विश्व-शान्ति के लिए शस्त्र खतरनाक है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह द्रव्य एवं भाव शस्त्रो की भयकरता का परिज्ञान करके उनसे सर्वथा निवृत्त हो जाए।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक में जीव का सामान्य संबोधन करके तथा अवशिष्ट 6 उद्देशों में 6 काय—1 पृथ्वी काय, 2 अप्काय, 3 तेजस् काय, 4 वायु काय, 5. वनस्पति काय और 6 त्रस काय के जीवो का वर्णन किया गया है और साधक को उनकी हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि हिंसा ही मृत्यु है, गांठ है, मोह है, जन्म-मरण के प्रवाह को बढाने का मूल कारण है। हिंसा से पाप-कर्म का बन्ध होता है और हिसा द्रव्य एव भाव शस्त्रो से होती है। अत· हिंसा का परित्याग करने वाले साधक को शस्त्रो से सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ **'सुयं में आउसं तेणं'** .. .पद से होता है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि प्रस्तुत आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा तीर्थकर भगवान महावीर हैं और सूत्रकार गणधर सुधर्मा स्वामी है। वे अपने शिष्य जम्बू से कहते है कि हे आयुष्मन्! मैने भगवान महावीर के मुख से ऐसा सुना है।

आचारांग सूत्र भगवान महावीर का सर्व प्रथम प्रवचन है, ऐसी मान्यता है और इसकी भाषा, विषय एव शैली से भी यह सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। अत· इस दृष्टि से इसका प्रथम वाक्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे बताया है—**"इहमेगेसिं नो सन्ना भवइ, तंजहा.** . " अर्थात् इस ससार मे कुछ जीवो को यह भी ज्ञात नही होता है कि वे कहा से आए है और यह जन्म-ग्रहण करने वाला आत्मा है या नही। वे यह भी नही जानते कि मैं कौन हू और मुझे मर कर कहा जाना है।

इसके आगे कहा गया है कि जिस व्यक्ति को स्वय के चिन्तन, मनन या विशिष्ट ज्ञानी जनो के ससर्ग से जब उक्त बातो का परिज्ञान हो जाता है, तब से वह आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पहले व्यक्ति के मन मे अपने एव लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और वह उसे समझने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने क्षयोपशम से या ज्ञान-सपन्न साधकों के सम्पर्क मे आकर उसे यथार्थतः जान लेता है, तभी वह आत्मवादी और लोकवादी अर्थात् आत्मा एवं लोक के स्वरूप का ज्ञाता कहलाता है। और स्वरूप का परिज्ञान करने के बाद ही वह कर्म एव क्रियावादी हो सकता है।

पहले जिज्ञासा उत्पन्न होती है, फिर ज्ञान होता है, तब क्रिया या आचरण का नम्बर आता है।

ऋग्वेद मे भी ऐसा उल्लेख मिलता है। ऋषि जब अपने सामने विराट् लोक को फैला हुआ देखता है, तो उसकी वाणी एकाएक मुखरित हो उठती है, **'कुतः आजाता, कुतः इयं विसृष्टिः'** आचारांग के प्रस्तुत सूत्र मे एव इस वाक्य मे आत्मा एव लोक के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा समान रूप से है। अन्तर इतना ही है कि आचाराग मे व्यष्टि की दृष्टि से वर्णन किया गया है और ऋषि समष्टि की दृष्टि से सोचता है। परन्तु दोनो ओर जिज्ञासा एक ही है—लोक के स्वरूप का परिज्ञान करने की, ससार के रहस्य को जानने की। यह ठीक है कि दोनो की व्यक्तिगत और समष्टिगत दृष्टि एवं चिन्तन के स्तर का अन्तर अवश्य है और वह प्रत्येक व्यक्ति में देखा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्म-ज्ञान के लिए जिज्ञासा पहली आवश्यकता है और यह जिज्ञासा वृत्ति सभी भारतीय आस्तिक दर्शनो में समान रूप से पाई जाती है।

प्रथम उद्देशक मे प्रयुक्त **'परिण्णा परिजाणियव्वा, परिणाम'** आदि शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ज्ञा' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ विवेक करना, जानना और पृथक् करना, अर्थात् हिसा एव शस्त्रो की भयंकरता के स्वरूप को जानकर उससे विरत होना परिज्ञा है। बोद्ध ग्रन्थो में भी 'परिज्ञा' शब्द परित्याग के अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'संज्ञा' शब्द भी अनुभवन और ज्ञान के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अनुभवन-सज्ञा कर्मोदय जन्य है और उसके आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि 16 भेद है और ज्ञान-सज्ञा के मतिज्ञान आदि 5 भेद है और वह क्षय या क्षयोपशम जन्य है। प्रस्तुत उद्देशक मे 'संज्ञा' शब्द का ज्ञान अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रथम उद्देशक मे सामान्य रूप से जीव का वर्णन करके साधक को जीव हिंसा से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है। उसे हिंसा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करके उससे निवृत्त होने को कहा है और हिसा से निवृत्त साधक को ही मुनि कहा गया है।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ मे बताया गया है कि लोक आर्त्त है, परिजीर्ण है, दुर्बोध है, बाल है। वह स्वय व्यथित है, पीडित है और अन्य प्राणियों को भी पीडित करता है। सताप एवं परिताप देता है। आचाराग में संसार की आर्त्तता का पुनः-पुनः

चित्र चित्रित किया गया है। फिर भी इसे पढ़कर साधक के मन में निराशावाद का उदय नही होता है, बल्कि उसके मन में इससे मुक्त होने का उत्साह उत्पन्न होता है, और वह मुक्त होने का मार्ग खोजता है। इसके लिए सयम, विरति, समभाव, अप्रमाद आदि की साधना को दु ख-मुक्ति का प्रशस्त पथ बताया है।

प्रस्तुत उद्देशक मे शाक्य-बौद्धादि कुछ ऐसे श्रमणो का भी उल्लेख किया गया है, जो अपने आपको त्यागी श्रमण कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रों के द्वारा रात-दिन पृथ्वी काय की हिसा मे सलग्न रहते है। ससार मे कुछ श्रमण ही ऐसे है, जो सर्वज्ञोपदिष्ट मार्ग को भली-भाति जान सकते हैं। वे इस बात को जानते है कि इस ससार मे हिसा ग्रन्थि—गांठ है, बन्धन है, मोह है, मार है और नरक है।

तीसरे उद्देशक में यह बताया गया है कि साधक को आत्मा का, लोक का अपलाप नही करना चाहिए। जो आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक का अपलाप करता है और जो लोक का अपलाप करता है वह आत्मा का अपलाप करता है।

इन सभी उद्देशको में अग्निकाय, अप्काय आदि जीवो की हिसा करने का कटु फल बताया गया है और साधक को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

द्वितीय अध्ययन

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। इसमे 6 उद्देशक है। इसमे यह बताया गया है कि लोक—संसार का बन्धन कैसे होता है और उससे छुटकारा कैसे पाना चाहिए। निर्युक्तिकार ने छहो उद्देशको के अर्थ का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—1 स्वजन-स्नेहियो के साथ निहित आसक्ति का परित्याग, 2 सयम मे प्रविष्ट शिथिलता का परित्याग, 3 मान और अर्थ (परिग्रह) मे सार-दृष्टि का त्याग, 4 भोगासक्ति का निषेध, 5. लोक निश्रा-लोक के आश्रय से सयम का परिपालन और 6 लोक आश्रय से सयम का निर्वाह होने पर भी लोक में ममत्व भाव नही रखना। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस अध्ययन का नाम सार्थक है।

लोक शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। प्रस्तुत अध्ययन मे लोक का अर्थ है—ससार। वह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। क्षेत्रादि लोक को द्रव्य लोक कहते हैं और कषाय को भाव लोक कहते है और कषाय लोक ही द्रव्य लोक

का कारण है। अतः जो साधक कषाय लोक पर विजय पा लेता है, वह सर्व लोक विजेता बन कर सिद्धत्व को पा लेता है।

प्रथम उद्देशक का प्रथम सूत्र है, **'जे गुणे, से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे'** अर्थात् जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है वह गुण है। इस गूढ वाक्य का भाव यह है कि जहां गुण-विषय-कषाय है वहां मूल-स्थान-आवर्त्त (ससार) है और जहां संसार है, वहा कषाय है। यदि ये गुण न हों तो जीव मे कषाय, आसक्ति, तृष्णा आदि भावो का उदय होता ही नही और जब इनका उदय नही होता है, तब उस जीव के ससार मे परिभ्रमण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत गुण-विषय-कषाय ही ससार है। वस्तुत' संसार का आधार गुण है और इन्ही कारणो से व्यक्ति स्वजन-स्नेहियो की आसक्ति में फसता है। इसीलिए इस उद्देश मे बताया गया है कि साधक को परिजनो की आसक्ति का परित्याग करके साधना मे संलग्न रहना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक मे सयम पथ पर दृढ रहने का उपदेश दिया गया है। सयम-साधना की कठिनना के कारण उसमे अरति पैदा होना स्वाभाविक है। परन्तु परीषहो से घबरा कर साधना-पथ से भ्रष्ट होने वालो के लिए कहा गया है—"वे मंद है, मोह से ग्रथित है। धीर, वीर और मेधावी पुरुष अलोभ से लोभ पर विजय प्राप्त करके प्राप्त भोगो का आसेवन नही करता। अत वह ससार से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।"

तृतीय उद्देशक मे मान का, अह-भाव का परित्याग करने के लिए उपदेश दिया गया है—"यह जीव अनेक बार उच्च और नीच गोत्र मे उत्पन्न हो चुका है। इससे न तो उसका उत्कर्ष हुआ है और न अपकर्ष ही। अत कर्म की विचित्रता को समझ कर साधक को उच्च-गोत्र एव ज्ञान-तप आदि उच्च क्रिया-काण्डो के मान का परित्याग कर देना चाहिए।"

चतुर्थ उद्देशक मे भोगासक्त जीवो की दुर्दशा का चित्रण किया गया है। उसमे बताया गया है 'भोगेच्छा की पूर्ति तो होगी तब होगी, किन्तु आशा एवं तृष्णा के शल्य की चुभन तो उन्हे अनवरत परेशान करती ही रहेगी। अत- साधक को अप्राप्त पदार्थो की तृष्णा से परे रहना चाहिए।

पचम उद्देशक में बताया गया है कि मुनि शरीर का निर्वाह करने के लिए हिसा न करे। किन्तु जो गृहस्थ अपने एवं अपने परिवार के लिए आहार, पानी, वस्त्र, मकान आदि बनाते या खरीदते है, उसमे वह निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करे। साधु

आर्य है, अत. वह आमगन्ध[1] का त्याग करके निरामगन्ध होकर विचरण करे।

छठे उद्देशक में बताया गया है कि मुनि लोक-गृहस्थ के घरों से आहारादि की गवेषणा करके जीवन का निर्वाह करता है; फिर भी वह उनमे एव आहारादि पदार्थों में आसक्त न बने। क्योंकि ममत्व भाव रखना परिग्रह है, परिग्रह बन्धन है और बन्धन संसार है। अत· निष्परिग्रही मुनि ममत्व-भाव से सर्वथा रहित होकर विचरण करे, क्योंकि निष्परिग्रही साधक ही परमार्थ मोक्षमार्ग को जान सकता है और जो उसे जानता है, वही उसे पा सकता है।

तृतीय अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—शीतोष्णीय। यह चार उद्देशको मे विभक्त है। साधारणत· शीत का अर्थ ठडा और उष्ण का अर्थ गरम होता है। परन्तु निर्युक्तिकार ने इनके आध्यात्मिक अर्थो का भी उल्लेख किया है। उसमे परीषह (कष्ट), प्रमाद, उपशम, विरति और सुख को शीत तथा परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दु·ख को उष्ण कहा है। परीषहो को शीत और उष्ण दोनो मे गिना गया है। स्त्री और सत्कार परीषह को शीत और शेष 20 परीषहो को उष्ण कहा है। एक विचारधारा यह भी है कि तीव्र-परिणामी उष्ण है और मद-परिणामी शीत।

प्रस्तुत अध्ययन मे इन्हीं आभ्यन्तरिक एव बाह्य शीतोष्ण की चर्चा की गई है। इसमे कहा गया है कि श्रमण साधक सदा शीत-उष्ण स्पर्श, सुख-दु ख, परीषह आदि को सहन करे और तप, सयम एव उपशम भाव मे सलग्न रहे और काम-भोगो का आसेवन न करे।

---

1. आम शब्द का वैदिक अर्थ अपक्व या कच्चा मास या अन्न आदि था। वैद्यक ग्रथो मे उसका अर्थ 'रोग' भी हुआ। पालि ग्रन्थ मे इसका अर्थ विस्तार होकर 'पाप' होने लगा, शारीरिक रोग की तरह पाप भी आध्यात्मिक रोग है। वहा निराम का अर्थ है—निष्पाप, क्लेश रहित। यहा आम-गन्ध का अर्थ होगा—'पाप की गन्ध'। परन्तु टीकाकार यहा आमगन्ध का पारिभाषिक अर्थ करते है—आधाकर्मादि दोषो से दूषित अशुद्ध आहार। अत निरामगन्ध का अर्थ हुआ—निर्दोष आहार।

—आचाराग टीका, पृ 50

प्रथम उद्देशक का प्रथम वाक्य है—**'सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति'**, अर्थात् अमुनि सुषुप्त-सोए हुए है और मुनि सदा जागृत रहते है। प्रस्तुत प्रसग में आध्यात्मिक या भाव निद्रा एवं जागरण से तात्पर्य है। प्रमाद सर्वत्र अहितकर है, हानिप्रद है और अप्रमाद सर्वत्र सुखप्रद एव लाभप्रद होता है। यह सबके अनुभव की बात है।

द्वितीय उद्देशक के प्रथम वाक्य में कहा है "प्रबुद्ध पुरुष को जब मोक्ष का ज्ञान हो जाता है, तब वह पाप-कर्म नही करता है।" उसकी भावना मे पाप के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। इसके पश्चात् इसका स्पष्ट चित्रण किया गया है कि पाप-कर्म करने से जीव किस प्रकार दु·खी होता है। अत· इस बात को जानने वाला आतकदर्शी साधक पाप कर्म नहीं करता, क्योंकि पाप कर्म में वही प्रवृत्त होता है, जिसे जीव-अजीव आदि का एव हिसा के फल का बोध नही है।

तृतीय उद्देशक के प्रारम्भ मे कहा गया है कि "साधक सब प्राणियो को आत्म-दृष्टि से देखे। किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा न करे।" इसमे आगे कहा गया है—"हे पुरुष! तू ही अपना मित्र है, अत बाह्य मित्रों की खोज क्यो करता है? तू आत्मा का ही आश्रय ले, उसका ही चिन्तन एवं शोधन कर। वस्तुत यही दु:ख-मुक्ति का मार्ग है।" जो साधक आत्मा का चिन्तन करता है और रात-दिन इसी को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करता है, वह पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

चतुर्थ उद्देशक मे कहा गया है—"मुनि, क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करता है। यह त्याग-मार्ग ही उस पश्यक-तीर्थकर का दर्शन है।" आगे कहा गया है कि "जो एक अपनी आत्मा को जान लेता है, वह सब को जान लेता है और जो सबको जान लेता है, वह एक को जान लेता है।" आगे चलकर एक और महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि "प्रमादी को सर्वत्र भय है और अप्रमादी को कहीं भी भय नही है।" क्योकि प्रमादी हिसा का सहारा लेता है और हिसा के साधन-भूत शस्त्र एक-दूसरे से अधिक तीक्ष्ण होते हैं, इसलिए उसे रात-दिन भय बना रहता है। परन्तु अहिंसा मे तीक्ष्णता नहीं है। उसमे समानता है। इसलिए शस्त्र का परित्याग करने वाला व्यक्ति कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि वह किसी भी प्राणी को भय नही देता है। उसके जीवन के किसी भी कोने में विषमता नहीं है। उसके जीवन मे एकरूपता है, अखण्डता है। अत· साधक को अपने आत्म-स्वरूप का परिज्ञान करके भाव

शस्त्रो—कषायो एव द्रव्य-शस्त्रो—हिसा के साधनों का त्याग करके सयम-साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

चतुर्थ अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देशक है। सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास। प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे, निष्ठा रखे। इसका उत्तर प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र मे दिया गया है। यह सूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस एक सूत्र मे जैन दर्शन का सार समाविष्ट है। वह सूत्र यह है—"अतीत, अनागत एव वर्तमान काल के सभी तीर्थकरो का कथन है कि सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व की हिसा नहीं करनी चाहिए। उन्हे पीडा एवं सताप नही देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है और शाश्वत है। अहिसा की इस श्रद्धा को, निष्ठा को, विश्वास को प्राप्त करके साधक अपनी आचरण की शक्ति को गोपन न करे, उसे छिपाए नही और लोकैषणा एव लोक-प्रशसा की भी इच्छा न करे।" समकित या सम्यक्त्व का अर्थ हे—अहिसा, दया, सत्य आदि सिद्धातो पर श्रद्धा रखना एव यथावसर उन्हे आचरण मे उतारने का प्रयत्न करना।

द्वितीय उद्देशक के प्रारम्भ में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि आस्रव एव सवर किसी स्थान विशेष मे आबद्ध नही है। "जो धर्म-स्थान संवर के कारण है, साधन है, वहां आस्रव हो सकता है और जो स्थान आस्रव—कर्म के आने के द्वार है, वहा सवर की साधना भी हो सकती है।" कहने का तात्पर्य यह है कि आस्रव एव सवर का आधार एकान्त-रूप से स्थान एव क्रिया नही, बल्कि क्रिया के साथ साधक की शुभाशुभ या शुद्ध भावना है। यदि भावना में विशुद्धता है, राग-द्वेष से रहित परिणाम है, तो क्रिया मे वाह्य रूप से हिसा होने पर भी उससे कर्मबन्ध नहीं होता और यदि भावना मे अविशुद्धता है, कषायों की आग प्रज्ज्वलित है, तो वह सामायिक भवन मे सामायिक करते हुए भी पापकर्म का बन्ध कर लेता है। अतः साधक को आस्रव एव सवर के मूलभूत साधन मे विश्वास रखकर अपनी भावना को विशुद्ध एव राग-द्वेष से रहित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में बताया गया है कि भाव-विशुद्धि से सवर होता है, कर्मो का आना रुकता है। परन्तु मुक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि जो पुरातन कर्म

अवशेष हैं, उन्हें भी नष्ट किया जाए। उनका क्षय करने के लिए तप-साधना आवश्यक है। अत· तप-साधना पर निष्ठा रखकर यथाशक्य उसे आचरण मे लाना चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक मे बताया है कि साधना का मार्ग वीरो का मार्ग है। इस पर चलना कठिन है। इसके लिए साधक को शारीरिक ममत्व एवं सुखो का त्याग करना पडता है।

अन्त में कहा गया है कि वस्तुत तत्त्वज्ञ या श्रद्धा-निष्ठ वह है, जो कर्म को फल-प्रदाता समझता है, उसे ससार का कारण जानता है और उस पर विश्वास करके कर्म-बन्ध के कारणो से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

वस्तुत· श्रद्धा-निष्ठ या सम्यक्त्वी वह है, जो अहिसा पर श्रद्धा रखता है, जो आस्रव एव संवर के मूलभूत कारण को जानता है, जो तप-साधना को निर्जरा का कारण मानता है और जो कर्म-बन्ध के साधनो को त्याज्य समझता है। साधक वह है, जो इस प्राणवन्त श्रद्धा को जीवन में, आचरण मे उतारने का प्रयत्न करता है।

पंचम अध्ययन

इस लोकसार अध्ययन के 6 उद्देशक है। वस्तुत· धर्म ही लोक में सारभूत तत्त्व है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र मे कहा गया है—"जो व्यक्ति प्रयोजन या निष्प्रयोजन से जीवो की हिसा करते है, वे सदा उन्ही जीवो में घूमते हुए दु·खो का अनुभव करते हैं।" क्योकि हिसा से कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्ध से ससार बढता है। अत हिसक प्राणी ससार को पार नही कर सकते। इसके आगे कहा गया है कि "वे न भोगो के अन्दर है और न उनसे दूर हैं।" इसका अभिप्राय यह है कि जीव विषय-भोगो के मध्य में रहते हुए भी सभी भोगो को भोग नही सकता। इसलिए वह पूर्णत· उनके मध्य मे भी नही है और सब भोगो को भोगने की शक्ति न होने पर भी उसका मन सदा भोगो मे घूमता रहता है, अत· वह भोगो से दूर भी नही है। अत ससार से वही दूर है, जो हिसा एवं भोगो का त्याग कर चुका है और जो मन मे उत्पन्न सशय अथवा जिज्ञासा का यथार्थ परिज्ञान कर चुका है। परन्तु जिसने हिंसा एवं भोगो का त्याग नहीं किया है और सशय का भी निवारण नहीं किया है, वह ससार से पार नहीं

हो सकता है। ज्ञानी पुरुषों ने उसे मुक्ति से दूर कहा है।

द्वितीय उद्देशक में कहा गया है कि मुनि वही है, जो लोक मे मध्य मे रहकर भी हिंसाजीवी नहीं है। उसने यह जान लिया है कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है, जीवन चाहता है, मरण सबको अप्रिय है। अत वह किसी भी प्राणी की हिसा नही करता। वह हिसा के पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय उद्देशक में अपरिग्रह की चर्चा की गई है। इसमे कहा गया है कि साधक को अपनी कामासक्त आत्मा से ही युद्ध करना चाहिए; क्योंकि आत्म-विजय ही सच्ची विजय है। अत साधक के लिए बाह्य विजय निष्प्रयोजन है। वस्तुत· "यह आर्य युद्ध ही सच्चा युद्ध है और यह युद्ध अति दुर्लभ एव कठिन है।" बाह्य युद्ध तो अनार्य युद्ध है। अत साधक को अनासक्त भाव से विकारो पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

चतुर्थ उद्देशक मे यह बताया है कि जो मुनि वय एवं ज्ञान से अपरिपक्व है, परीषहों को सहने मे अक्षम है, उसे एकाकी विचरण नही करना चाहिए।

पंचम उद्देशक मे कहा गया है कि सदा सशयशील रहने वाले साधक को समाधि-लाभ नहीं होता। उसे पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करके हिसादि दोषो से निवृत्त होना चाहिए। क्योकि पर-प्राणी की हिसा अपनी स्वय की हिसा है। अत यह कहा गया है कि "जिसे तू हन्तव्य—मारने योग्य जानता है, वही तू है।" क्योंकि उसे मारने के पूर्व तू अपने आत्म-गुणो का नाश करता है, अपनी आत्मा का वध कर रहा है। अतः साधक को चाहिए कि वह हिसा-अहिसा के यथार्थ स्वरूप को समझ कर हिसा का सर्वथा परित्याग करे।

छठे उद्देशक मे कहा गया है कि कुछ लोग सयम-रत है, किन्तु आज्ञा-आराधक नही है। कुछ आज्ञा के आराधक है, किन्तु संयम-रत नही है। कुछ न आज्ञा-आराधक है और न सयम-रत ही है। कुछ लोग आज्ञा-आराधक भी हैं और सयम-रत भी है। परन्तु वस्तुत वृद्धिमान साधक वही है, जो आज्ञा के अनुरूप आचरण करता है और वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। मुक्ति या मुक्त जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि "वह दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, परिमण्डल, कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, सुरभिगन्ध, दुरभिगन्ध, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर, कर्कश, मृदु, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, काय युक्त, रुह-पुनर्जन्म, सग, स्त्री,

पुरुष और नपुसक इनमें से कुछ भी नहीं है। मुक्तात्मा या परमात्मा का यही वर्णन उपनिषद् एव अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

षष्ठ अध्ययन

षष्ठ अध्ययन का नाम 'धुत' है। इसके पांच उद्देशक है। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके उसे साफ-स्वच्छ बना देना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। मैले-कुचैले वस्त्र को साबुन आदि क्षार पदार्थ लगाकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनाना द्रव्य धुत है और आत्मा पर चिपटे हुए कर्ममल को तप-स्वाध्याय आदि साधना के द्वारा दूर करके आत्मा को शुद्ध, निर्मल, उज्ज्वल, समुज्ज्वल, परमोज्ज्वल बनाना भाव धुत है। प्रस्तुत उद्देशक मे भाव-धुत, अर्थात् आत्मा को उज्ज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है।

प्रथम उद्देशक मे कुछ उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि मोह में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को नही पा सकता। जैसे तालाब मे निवसित कछुआ शैवाल से आच्छादित तालाब के बाहर क्या-कुछ है और बाहर जाने का मार्ग किस ओर है, यह नहीं जान सकता। वृक्ष भी दु:ख एव आपत्तियों से अपने बचाव करने के लिए अन्यत्र नही जा सकता है। उसी तरह मोह मे आसक्त व्यक्ति सत्य-मार्ग को नही देख सकता और न उसे पा सकता है, जिससे उस पथ पर चल कर शान्त-प्रशान्त स्थान पर पहुंच सके। वह संसार मे रहकर दु खो की चक्की मे पिसता रहता है। अत साधक को मोह एव ससार की आसक्ति से सदा दूर रहना चाहिए।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि कुछ साधक परीषहो से घबरा कर साधुत्व का परित्याग कर देते है। वे वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुछनक रजोहरण आदि सयम-साधना के उपकरणो का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। इससे वे ससार मे परिभ्रमण करते रहते है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु उक्त वस्त्र आदि उपकरणों को रखते थे। आगे बताया है कि कुछ साधक दृढता के साथ संयम का पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेते है।

तृतीय उद्देशक में यह बताया है कि वस्त्र का त्याग करने वाला मुनि इस बात की चिन्ता न करे कि मेरा वस्त्र फट गया है, अत· सूई-धागा लाकर इसे सीना है। परन्तु वह इस बात का अनुभव करे कि मैं हलका बन गया हू और मुझे सहज ही

तप-साधना का अवसर मिल गया है। अत· वस्त्र की चिन्ता न करके साधक उन महापुरुषो के जीवन का चिन्तन करे, जिन्होने निर्वस्त्र होकर भी समभाव-पूर्वक साधना के द्वारा कर्मो का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।

चौथे उद्देशक मे बताया गया है कि कुछ साधु आचार से च्युत होकर भी लोगों को सम्यक् आचार का उपदेश देते है। परन्तु कुछ साधक आचार के साथ ज्ञान से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। सम्यग् ज्ञान और दर्शन से भ्रष्ट साधु अपने जीवन का अध पतन कर लेते है। वे अनन्तकाल तक ससार मे भटकते रहते है। अत. साधक को सदा ज्ञान एवं आचार की साधना मे संलग्न रहना चाहिए।

पचम उद्देशक मे वताया गया है कि उपदेष्टा कैसा हो, उसे कब, किसको और कैसे उपदेश देना चाहिए। इसमें बताया गया है कि उपदेष्टा कष्ट-सहिष्णु हो, समस्त प्राणियों की दया एव रक्षा करने वाला हो, वेदविद्—आगमो का ज्ञाता हो, सबके लिए शरणभूत हो और उसका उपदेश सबके लिए हो और सबका हित करने वाला हो। और उपदेशक को शान्ति, अहिसा, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव और लाघव इन विषयो पर उपदेश देना चाहिए।

इस तरह की साधना के द्वारा ही साधक अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्मो को दूर कर सकता है। कर्म-रज से मुक्त होने के लिए ज्ञान और आचार (क्रिया) की समन्वित साधना आवश्यक है। प्रस्तुत उद्देशक में 'वेदवित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहा 'वेद' का अर्थ है—आत्मा, पदार्थ एव लोक के यथार्थ एव सम्यक् स्वरूप का प्रतिपादक आगम। अत· 'वेदवित्' का अर्थ हुआ—श्रुत-आगम-साहित्य या शास्त्रो का ज्ञाता।

सप्तम अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है और यह सात उद्देशको मे विभक्त है। वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है। महापरिज्ञा का अर्थ है—विशिष्ट ज्ञान। आचार्य शीलाक लिखते है कि प्रस्तुत अध्ययन मे मोह के कारण से होने वाले परीषहो और उपसर्गो का वर्णन है। इसके सम्बन्ध मे परम्परा से ऐसी मान्यता चली आ रही है कि इसमे मन्त्र-तन्त्र से बचने का उपदेश दिया गया था। क्योंकि मन्त्र-तन्त्र की साधना से मोह का उदय होना सम्भव है, इसलिए आचार्यो ने साधु-जीवन को

मोह-जन्य हानि से बचाने के लिए विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न साधकों के अतिरिक्त सर्व-साधारण के लिए इसका अध्ययन करना बन्द कर दिया। इस प्रतिबन्ध के कारण इसका अध्ययन कम हो गया और एक दिन यह स्मृति से ही उतर गया। अस्तु, जो कुछ भी कारण रहा हो, इसके विच्छेद होने से एक बड़ी साहित्यिक क्षति अवश्य हुई, यह तो मानना ही पड़ेगा।

अष्टम अध्ययन

प्रस्तुत विमोक्ष अध्ययन आठ उद्देशको मे विभक्त है। प्रथम उद्देशक मे असमान आचार वाले साधु के साथ नही रहने का उपदेश दिया गया है और उसे आहार-पानी वस्त्र-पात्र आदि देने एव उसकी सेवा करने का भी निषेध किया है। द्वितीय उद्देशक में अकल्प्य—जो वस्तु लेने योग्य नही है, उसको ग्रहण नही करने का उपदेश दिया गया है। तृतीय उद्देशक मे बताया गया है कि यदि उस अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण न करने पर कोई गृहस्थ रुष्ट हो जाए तो उसे साध्वाचार समझाना चाहिए। इस पर भी यदि वह साधु को भला-बुरा कहे या कुछ कष्ट दे, तो उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए, परन्तु अकल्पनीय वस्तु किसी भी स्थिति मे स्वीकार नहीं करनी चाहिए। चतुर्थ उद्देशक मे यह बताया है कि यदि साधु की अग-चेष्टा को देखकर किसी गृहस्थ के मन में कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया हो तो साधु उसका अवश्य ही निवारण कर दे। पचम उद्देशक मे एक पात्र एव तीन वस्त्र धारण करने वाले साधु के लिए कहा गया है कि वह इससे अधिक की अभिलाषा न रखे। छठे और सातवे उद्देशक मे क्रमशः एक पात्र और दो एव एक वस्त्र धारण करने वाले के सम्बन्ध मे यही बात कही गई है। अष्टम उद्देशक मे गद्य में वर्णित विषय का गाथाओं-पद्यो मे वर्णन किया गया है।

नवम अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान है। यह चार उद्देशको मे विभक्त है। इसमे एक भी सूत्र नहीं है। गाथाओ-पद्यो मे भगवान महावीर की साधना का वर्णन किया गया है।

प्रथम उद्देशक मे बताया गया है कि दीक्षा-ग्रहण करने के बाद भगवान ने इन्द्र

के द्वारा प्रदत्त देव-दूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई वस्त्र नही लिया और इसके लिए भी उन्होने यह प्रतिज्ञा की कि मै हेमन्त ऋतु मे इस वस्त्र को शरीर ढकने के लिए काम में नहीं लूंगा। उन्होंने उस वस्त्र को शीत-निवारण एव डंस-मशक के कष्ट से बचने के लिए कभी भी काम मे नहीं लिया। उन्होंने अनुधर्मिता-पूर्व तीर्थकरों की परम्परा को निभाने के लिए ही इसे स्वीकार किया था।

चूर्णि मे अनुधर्मिता का अर्थ गतानुगत किया है। तात्पर्य यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा का पालन किया था। इसका एक दूसरा अर्थ—अनुकूल धर्म्य भी किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान को आगे चलकर सोपधिक—वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना था, इसलिए भगवान ने एक वस्त्र को स्वीकार किया।

सस्कृत कोष मे यह शब्द नही मिलता है। परन्तु पालि ग्रन्थों में यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप मे मिलता है। कोष मे इसका अर्थ—"Lawfullness, Conformity to Dhamma" दिया है। पालि मे 'अनुधम्म' शब्द भी मिलता है। इसका अर्थ है—Conformity or accordance with the law, Lawfullness, relation, essence consistansy truth यदि इन अर्थो पर ध्यान दिया जाए तो अनुधर्मिता शब्द का अर्थ होता है—भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। और चूर्णिकार द्वारा किया गया अर्थ भी उपयुक्त है। क्योकि यह प्रश्न उठेगा कि भगवान ने कौन-से धर्म का आचरण किया। इसका समाधान यह होगा कि जो धर्म परम्परा से तीर्थकरो द्वारा आचरित था और व्यवहार मे रूढ हो रहा था। अतः वह केवल धर्म ही नही, अनुधर्म—परम्परा से चला आ रहा धर्म था[1]।

इसके आगे बताया गया है कि दीक्षा के पूर्व उनके शरीर पर चन्दनादि सुवासित पदार्थो का लेपन किया गया था। उस सुवास का आस्वादन करने के लिए भ्रमर—मधुमक्षिका आदि जीव-जन्तु उनके शरीर पर बैठने एव डक मारने लगे। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नही हुए। वे समभाव पूर्वक उन परीषहो को तथा वैसे एव उनसे भी भयकर अन्य परीषहो को भी सहन करते रहे।

वे सदा ईर्यासमिति से मार्ग को देखकर चलते थे। स्त्री-संसर्ग एवं विषय-वासनाओं

1 श्रमण, वर्ष 9, अक 9, पृष्ठ 27।

से पूर्णत. मुक्त थे। वे सदा अपने कर-पात्र (हाथ) मे ही भोजन करते थे। उन्होने कभी गृहस्थ के पात्र मे भोजन नहीं किया।

द्वितीय-उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान सदा शून्य-स्थानो में एव गाव या नगर के बाहर ठहरते थे और यह भी बताया गया है कि छद्मस्थ अवस्था मे भगवान सदा प्रमाद (निद्रा) से दूर रहे। यदि कभी निद्रा आने को होती तो वे खड़े होकर या चंक्रमण—घूम-फिर करके उसे हटा देते थे। शून्य एव निर्जन स्थानो मे देव-दानव एव जीव-जन्तुओ के द्वारा उन्हे अनेक परीषह एव उपसर्ग दिये गए। परन्तु वे उनसे कभी घबराए नहीं, सदा-सर्वदा स्थिर मन से साधना में दृढ़ रहे।

तृतीय उद्देशक मे भगवान महावीर के लाढ (अनार्य देश) मे उत्पन्न परीषहो का वर्णन है। यह लाढ देश वर्तमान मे गुजरात में पाए जाने वाले लाढ़ देश से भिन्न है। यह अनार्य देश बगाल मे था और बहुत करके बिहार प्रान्त की सीमा पर ही स्थित था।

चतुर्थ उद्देशक मे उनकी तप-साधना का वर्णन किया गया है। उसमे यह बताया गया है कि सर्प, कुत्ते आदि जानवरो के काटने या रोग के आने पर भी भगवान औषध का सेवन नहीं करते थे। उस समय भी वे तप-साधना को ही स्वीकार करते थे।

इस अध्ययन का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर की साधना सर्वोत्कृष्ट साधना थी। उनके जीवन मे, साधना में अपवाद को तो कही अवकाश ही नहीं था।

टीकाकार

प्रस्तुत आगम पर अनेक टीकाए लिखी जा चुकी है। आचार्य भद्रबाहु ने इस पर निर्युक्ति लिखी। आचार्य शीलाक ने सस्कृत टीका की रचना की। आचार्य जिनहस ने दीपिका लिखी और उपाध्याय पार्श्वचन्द्र ने बालावबोध की रचना की। इसके बाद गोपाल दास भाई ने इसका गुजराती में छायानुवाद किया। मुनि सन्तबाल जी ने प्रथम श्रुतस्कन्ध का गुजराती भाषा मे अनुवाद किया। आचार्य अमोलक ऋषि जी म. ने सर्व प्रथम हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया और प मुनि श्री सौभाग्य चन्द्र जी महाराज ने आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध पर हिन्दी-विवेचन किया।

परन्तु भारतीय भाषा और लिपि से अनभिज्ञ ऐसे आधुनिक विद्वानों को आचाराग का सर्व प्रथम सम्पूर्ण परिचय डाक्टर हरमन जैकोबी ने कराया। उन्होने The Sacred Book of the East Vol 22 मे इसे प्रस्तुत किया। शुब्रींलाइष्झिंग ने भी प्रथम श्रुतस्कन्ध का इंग्लिश और जर्मन मे Wrote Mahavira शीर्षक से अनुवाद किया।

इस तरह प्रस्तुत आगम पर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश और जर्मन आदि अनेक भाषाओ मे वहुत-कुछ लिखा जा चुका है। फिर भी इस पर बहुत कुछ शोंध (Research) करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत अनुवाद एवं व्याख्या

प्रस्तुत अनुवाद एव व्याख्या स्व आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने अपनी निजी पद्धति के अनुसार की है। इसमे मूल पाठ, सस्कृत-छाया, पदार्थ, मूलार्थ, हिन्दी भावार्थ और हिन्दी-विवेचन दिया गया है। श्रद्धेय आचार्य श्री जी के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अन्य आगम भी इसी शैली में प्रकाशित हुए है। इससे आगम के साधारण पाठक को भी समझने मे कठिनाई महसूस नहीं होती।

—मुनि समदर्शी

आचारांग-प्रथम श्रुतस्कन्ध
गाथा अनुक्रमणिका

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासख्या
1	अइवत्तिय–	9	1	17
2	अकसाई विगय–	9	4	15
3	अचित्त तु–	8	8	21
4	अणन्न परम–			10
5	अणाहारो–	8	8	8
6	अणुपुव्वेण–	8	8	1
7	अदु कुचरा–	9	2	8
8	अदु थावरा–	9	1	14
9	अदु पोरिसि–	9	1	5
10	अदुवा माहण–	9	4	11
11	अदु वायसा–	9	4	10
12	अप्प तिरि्य–	9	1	21
13	अभिक्कमे–	8	8	15
14	अय चापयतरे–	8	8	19
15	अय स अवरे–	8	8	12
16	अय से उत्तमे–	8	8	20
17	अयमतरसि–	9	2	12
18	अप्प जणे–	9	3	4
19	अवरेण पुव्वि–			11
20	अविझाइ स–	9	4	14
21	अवि साहिए–	9	4	6
22	अवि साहिय–	9	1	11
23	अवि सूइय–	9	4	13
24	अवि से–			6
25	अह दुच्चर–	9	3	2
26	अहाकड–	9	1	18
27	अहासुय बइस्सामि–	9	1	1
28	अहियासए–	9	2	10
29	आगन्तरे–	9	2	3

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासख्या
30.	आया वइय–	9	4	4
31	आवेसणसभापवासु–	9	1	2
32	आसीणे–	8	8	17
33	इंदिएहि–	8	8	14
34	इहलोइयाई–	9	2	9
35.	उच्चालइय–	9	3	12
36	उड्ढ साया–			13
37	उदरि च पास–			15
38	उम्मुञ्च पास–			5
39	उवसक–	9	3	9
40	एएहि मुणी–	9	2	4
41	एयाइ सन्ति–	9	1	13
42	एयाण तिन्नि–	9	4	5
43	एलिक्खएजणा–	9	3	5
44	एव पि तत्थ–	9	3	6
45	एस बिहि–	9	1	23
46	एस बिहि–	9	2	16
47	एस बिहि–	9	3	14
48	एस बिहि–	9	4	17
49	ओमोयरिय–	9	4	1
50	कसाए पयूण–	8	8	3
51	कोहाइयाण–			8
52	गडी अहवा–			14
53	गय परिणाय–			9
54	गढिए–	9	1	10
55	गन्थेहि–	8	8	11
56	गाम पविसे–	9	4	9
57	गामे वा अदुवा–	8	8	7
58	चत्तारि साहिए–	9	1	3
59	चरियासणाइ–	9	2	1
60	छट्ठेण एगया–	9	4	7
61	ज किचुवक्कम–	8	8	6
62	ज सिप्पेगे पवेयन्ति–	9	2	13
63	जओ बज्ज–	8	8	18
64	जाइ च वुड्ढि–			4

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासख्या
65	जावज्जीव–	8	8	22
66	जीविय नाभिकखिज्जा–	8	8	4
67	जे के इमे–	9	1	7
68	णच्चाण–	9	4	8
69	णो चेविमेण–	9	1	2
70	सुकरमेयमेगेसि–	9	1	8
71	णो सेवइ च–	9	1	19
72	त सि भगव–	9	2	15
73	तण फासे–	9	3	1
74	तम्हा निविज्जा–			7
75	दुविहपि–	8	8	2
76	दुविह समिच्च–	9	1	16
77	नाईयमट्ठ–			12
78	नागा सगामे–	9	3	8
79	निद्दपि नो पगामाए–	9	2	5
80	निहाय दड–	9	3	7
81	पग्गिक्कमे परिकिलन्ते–	8	8	16
82	पाणा देह–	8	8	10
83	पुढवि च–	9	1	12
84	फरुसाइ–	9	1	9
85	भगव च एवमन्नेसि–	9	1	15
86	भेउरेसु न रज्जिज्जा–	8	8	23
87	ममाणि–	9	3	11
88	मायण्णे–	9	1	20
89	मुज्झत्थो–	8	8	5
90	लाढेहि–	9	3	3
91	वित्तिछेय–	9	4	12
92	विरए गामधम्मेहि–	9	4	3
93	सघाडओ–	9	2	14
94	सबुज्झमाणे–	9	2	6
95	सवच्छर साहिय–	9	1	4
96	ससप्पगा य जे–	8	8	9
97	समोहण च–	9	4	2
98	स जाणेहि तत्थ–	9	2	11
99	सयणेहि–	9	1	6

क्रम	नाम	अध्ययन	उद्देशक	गाथासख्या
100	सयणेहि–	9	2	7
101	सयमेव अभिसमागम–	9	4	16
102	सव्वट्ठेहि–	8	8	25
103	सासएहि–	8	8	24
104	सिसिरसि–	9	1	22
105	सूरो संगाम–	9	3	13
106	सोलस्स एए गेगा–			16
107	हय षुव्वो–	9	3	10
108	हरिएसु–	8	8	13

श्रीआचारांगसूत्र : प्रथम श्रुतस्कन्ध
सूत्रसूची (Index)

क्रम	नाम	सूत्रसख्या
93	जस्स ते–	13
94	जस्स नत्थि इमा–	129
95	जस्स नत्थि पुरा–	140
96	जाए सद्धाए–	20
97	जाणित्तु दुक्ख–	69
98	जावसोय परिण्णाणा–	72
99	जीविए इह जे–	67
100	जुद्धारिह खलु दुल्लह–	155
101	जे आया से विन्नाया–	166
102	जे आसवा–	131
103	जे एग जाणइ–	123
104	जे कोह दसी–	126
105	जे खलु भो–	141
106	जे गिहेसु वा–	191
107	जे गुणे से आवट्टे–	41
108	जे गुणे से मूलट्ठाणे–	63
109	जे छेए से–	145
110	जे दीह लोग–	33
111	जे पमत्ते–	35
112	जे पुव्वट्ठाई–	153
113	जे भिक्खू अचेल–	220
114	जे भिक्खू एगेण–	215
115	जे भिक्खू दोहि–	213
116	जे भिक्खू तिहि–	208
117	जे ममाइय मइ–	99
118	जे हि वा सद्धि–	65
119	त आइत्तु न निहे–	128
120	तंजहा पुरत्थिमाओ–	3
121	त णो करिस्सामि–	40
122	त परिक्कमत–	177
123	त परिण्णाय मेहावी–	36
124	त परिण्णाय मेहावी–	77
125	तं भिक्खू सीयफास–	207

सार तत्त्व

तं सच्चं भगवं—

सत्य ही भगवान है।

एवं खु नाणिणो सारं,

ज्ञानी होने का सार यह है कि—

जं न हिंसइ किंचणं।

किसी की भी हिंसा न करे।

नाणं नरस्स सारं,

ज्ञान मानवता का सार है।

सारो वि नाणस्स होइ सम्मत्तं।

ज्ञान का सार है—सम्यक्त्व।

—भगवान महावीर

॥ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री आचारांग सूत्र

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

प्रथम उद्देशक

मूलम्—सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं॥1॥

संस्कृत-च्छाया—श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवता एवमाख्यातम्।

पदार्थ—आउसं!—हे आयुष्मन्। **मे सुयं**—मैने सुना है। **तेणं भगवया**—उस भगवान ने। **एवमक्खायं**—इस प्रकार कथन किया है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर के पचम गणधर, प्रथम पट्टधर—आचार्य श्री सुधर्मास्वामी अपने प्रमुख शिष्य आर्य जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते है—हे आयुष्मन्! मैने सुना है कि उस भगवान—भगवान महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है, कहा है।

हिन्दी-विवेचन

भारतीय सस्कृति मे साहित्य-सृजन की प्राचीन पद्धति यह रही है कि पहले मंगलाचरण करके फिर सूत्र या ग्रन्थ-रचना की जाती थी। जैनागमों एवं ग्रन्थों की रचना भी इसी पद्धति से की गई है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि पहले मगलाचरण करने की परम्परा रही है, तो प्रस्तुत सूत्र मे उस परंपरा को क्यों तोड़ा गया। क्योकि, आचारांग सूत्र को प्रारम्भ करते समय मगलाचरण तो नहीं किया गया है। 'सुयं ने आउसं!'—आदि पाठ लिखकर सूत्र आरम्भ कर दिया गया है। इससे ऐसा लगता है कि यहा सूत्रकार ने पुरातन परंपरा को नहीं निभाया है। नहीं, ऐसी बात नही है। यदि गहराई से सूत्र का अनुशीलन-परिशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि सूत्र के आरम्भ मे मंगलाचरण किया गया है। यहा मगलाचरण के रूप मे श्रुतज्ञान का उल्लेख किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के पहले सूत्र में कहा

है कि पांच ज्ञानो मे से श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चार ज्ञान स्थापने योग्य है। क्योंकि, पाच ज्ञानों में श्रुतज्ञान विशेष उपकारी है। श्रुतज्ञान को उपकारी इसलिए माना गया है कि तीर्थकरो द्वारा प्ररूपित मार्ग का बोध श्रुतज्ञान के द्वारा होता है। क्योंकि, श्रुत-आगम मे ही उनके प्रवचनो का सग्रह है। श्री भगवती सूत्र शतक 20, उद्देशक 8 मे गौतम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, भगवान ने फरमाया है—"हे गौतम! तीर्थकर प्रवचन नहीं, निश्चित रूप से प्रावचनिक होते है, द्वादशागी वाणी ही प्रवचन है" और इसी द्वादशागी वाणी को 'श्रुत' कहते हैं। इसे सुन-पढ़ कर तथा तदनुसार आचरण करके जीव सिद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होता है। सर्व कर्म-बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त होने के लिए तीर्थकरो की वाणी एक प्रकाशमान सर्चलाइट है। यही कारण है कि पाच ज्ञानों मे श्रुतज्ञान को उपकारी माना गया है और वीतराग-वाणी होने के कारण श्रुतज्ञान मंगल है, अत· उसका मगल रूप से ही उल्लेख किया गया है।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म को सर्वोत्कृष्ट मगल माना है[1]। स्थानांग सूत्र मे जहा दस धर्मो का वर्णन किया गया है, वहा श्रुत और चारित्र का धर्म रूप से उल्लेख किया गया है[2] और टीकाकार ने इसका विवेचन करते हुए श्रुत और चारित्र धर्म को प्रमुखता दी है। क्योकि, श्रुत धर्म मंगल रूप है।

आचारांग का पहला सूत्र है—"सुय मे आउस! तेण भगवया एवमक्खाय"! इस सूत्र मे श्रमण भगवान महावीर के वचनो को अकित किया गया है। "श्रुतमिति श्रुतज्ञान" मैने सुना है, यह श्रुत ज्ञान है। यह हम पहले ही बता चुके है कि तीर्थकरो की वाणी को श्रुत ज्ञान कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र—मैंने सुना है कि उस भगवान—श्रमण भगवान महावीर ने ऐसा कहा है, यह तीर्थकर भगवान की ही वाणी है। अतः प्रस्तुत सूत्र श्रुतज्ञान होने से मंगल रूप है। ऐसे देखा जाए तो सम्पूर्ण आगम-शास्त्र ही मगल रूप है। क्योकि, वह ज्ञान रूप है और ज्ञान से हेय और उपादेय का बोध होता है तथा साधक हेय वस्तुओं का त्याग कर के उपादेय को स्वीकार करता है। इससे कर्मो की निर्जरा होती है और एक दिन आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। कहा भी

1 "धम्मो मगलमुक्किट्ठ"—दशवैकालिक 1/1

2 स्थानाग सूत्र, स्थान 10

है कि अज्ञानी मनुष्य बाल तपस्या आदि अज्ञान क्रिया से जिन पाप कर्मो को अनेक करोडों वर्षो में क्षय करता है, उतने कर्मो को तीन गुप्तियो से युक्त ज्ञानी पुरुष एक उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है[1]। अत: श्रुत ज्ञान मोक्ष का कारण होने से मगल रूप है। यही कारण है कि सूत्रकार ने दूसरा मंगलाचरण न करके 'सुयं मे...' पद को मंगलाचरण के रूप मे देकर, पुरातन परंपरा को सुरक्षित रखा है।

मगलाचरण के विवेचन में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि द्वादशांगी श्रमण भगवान महावीर की धर्मदेशना का सग्रह है। भगवान महावीर ने द्वादशागी का अर्थरूप से प्रवचन किया था, परन्तु तीर्थकर भगवान का वह प्रवचन जिस रूप में ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध हुआ है, उस शब्द रूप के प्रणेता गणधर हैं[2]। आगमों में एव अन्य ग्रन्थो में जहा यह कहा गया है कि जैनागम—द्वादशागी तीर्थकर-प्रणीत हैं[3], उसका तात्पर्य यह है कि तीर्थकर उसके अर्थरूप से प्रणेता है, अर्थात् गणधरो द्वारा की गई सूत्ररचना का आधार तीर्थकरो की अर्थरूप वाणी ही है। अतः इस अपेक्षा से जैनागमो को तीर्थकर-प्रणीत कहा जाता है।

द्वादशागी वाणी मे श्री आचारांग सूत्र का प्रथम स्थान है। श्रमण संस्कृति में आचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह कर्म-क्षय का महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होने के लिए सम्यग् दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र-आचार का होना अनिवार्य है। आचरण के अभाव मे मात्र ज्ञान से मुक्ति का मार्ग तय नही हो पाता। इसलिए आचरण को प्रमुख स्थान दिया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है—आचार ही तीर्थकरों के प्रवचन का सार है[4], मुक्ति का प्रधान कारण है। अत: पहले इसका अनुशीलन-परिशीलन करने के पश्चात् ही अन्य अंग

---

1 ज अन्नाणी कम्म खवेइ, बहुयाहि वासकोडीहि, त नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ उस्सासमित्तेण।
—प्रवचसनार

2 अत्थ भासइ अरहा, सुत्त गन्थन्ति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्त पवत्तेइ ॥ —आवश्यक निर्युक्ति, 192

3 नन्दी सूत्र, 40

4 अगाणं कि सारो? आयारो।

शास्त्रों के अध्ययन में गति-प्रगति हो सकती है। यही कारण है कि द्वादशांगी का उपदेश देते समय तीर्थकर सबसे पहले आचार का उपदेश देते हैं और गणधर भी इसी क्रम से सूत्ररचना करते है।

प्रस्तुत सूत्र मे आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है। साधारणतः आचार शब्द का अर्थ होता है—आचरण, अनुष्ठान। प्रस्तुत सूत्र में आचार शब्द साधु के आचरण या संयम-मर्यादा से संबद्ध है और अग शास्त्र को कहते है। अत· आचार + अंग—आचाराग का यह अर्थ हुआ कि वह शास्त्र जिसमें साधु-जीवन से सबंधित आचरण या क्रिया-काण्ड का विधान किया गया है, संयम-साधना का निर्दोष मार्ग बताया गया है।

आचाराग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों मे विभक्त है। पहले श्रुतस्कंध मे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का सूत्र-शैली मे अच्छा विश्लेषण किया गया है। छोटे-छोटे सूत्रो में गंभीर अर्थ भर दिया है। दूसरे श्रुतस्कध में प्राय· चारित्राचार का वर्णन है। विषय के अनुरूप उसकी निरूपण-शैली भी सीधी-सादी है और भाषा भी सरल रखी गई है। दोनो श्रुतस्कंधों मे पच्चीस अध्ययन है। पहले श्रुतस्कंध मे नव और दूसरे श्रुतस्कध मे सोलह अध्ययन है। प्रत्येक अध्ययन कई उद्देशको में बटा हुआ है। एक अध्ययन के अनेको विभाग में से एक विभाग को अथवा एक अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति को आगमिक भाषा में उद्देशक कहते है। आचाराग सूत्र के पहले श्रुतस्कध का पहला अध्ययन सात उद्देशको मे विभक्त है, दूसरा अध्ययन छह, तीसरा और चौथा अध्ययन चार-चार, पाचवा अध्ययन छह, छठा अध्ययन पांच, सातवा अध्ययन सात[1], आठवा अध्ययन आठ और नवम अध्ययन चार उद्देशको मे बटा हुआ है। इस तरह आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के 9 अध्ययनो के 51 उदेशक बनते हैं।

आचाराग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध मे तीन चूलिकाए हैं। प्रथम चूलिका मे 10 से 16 तक, द्वितीय चूलिका मे 17 से 23 तक और तृतीय चूलिका में 24वां और 25वा ये दो अध्ययन हैं। इस तरह द्वितीय श्रुतस्कंध मे कुल 16 अध्ययन है। दसवें

1. इस अध्ययन का विच्छेद हो गया है, यह वर्तमान मे उपलब्ध नही होता है।

अध्ययन के 11 उद्देशक हैं। ग्यारहवे और बारहवे अध्ययन के तीन-तीन उद्देशक हैं। तेरहवें से सोलहवें अध्ययन तक सब के दो-दो उद्देशक हैं। शेष अध्ययनों में कोई उद्देशक नहीं है, उनमें एक ही विषय का एक ही धारा में वर्णन चलता है। इस तरह आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध की तीन चूलिकाएं, 16 अध्ययन और 25 उद्देशक है। यहा तक आचाराग सूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों मे वर्णित अध्ययनों एवं उद्देशकों की सख्या का निर्देश किया गया है। उनमें वर्णित विषय का विवेचन यथास्थान किया जाएगा।

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के प्रस्तुत अध्ययन का नाम शस्त्रपरिज्ञा है। जीवों की हिंसा के कारणभूत उपकरण को 'शस्त्र' कहते हैं। शस्त्र भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार के होते है। जिन हथियारों या शस्त्रास्त्रों से प्राणियों के प्राणो का विनाश किया जाता है, उन चाकू, तलवार, रिवाल्वर, राइफल, बम्ब आदि को द्रव्य शस्त्र कहते है। जिन अशुभ भावों से प्राणियों का वध करने की भावना उद्‌बुद्ध होती है तथा मन, वचन और शरीर के योगो की हिसा की ओर प्रवृत्ति होती है, उन राग-द्वेष युक्त विषाक्त परिणामों को भाव शस्त्र कहा गया है।

'परिज्ञा' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—ज्ञान। परन्तु ज्ञान का अर्थ सिर्फ जानना ही नहीं, तदनुसार आचरण करना भी है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर परिज्ञा शब्द के दो भेद किए गए हैं—1. ज्ञ परिज्ञा और 2 प्रत्याख्यान परिज्ञा। ससार के कारणभूत राग-द्वेष एव अशुभ योगो का परिज्ञान-बोध प्राप्त करना, 'ज्ञ' परिज्ञा है और 'ज्ञ' परिज्ञा से परिज्ञापित—भली-भाति जाने हुए विकारी भावों एव अशुभ योगो का परित्याग करना अथवा संसार मार्ग से निवृत्त होकर संयम साधना में प्रवृत्त होना 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा है। 'ज्ञ' परिज्ञा से ज्ञान का उल्लेख किया गया है और 'प्रत्याख्यान' परिज्ञा के द्वारा त्यागमय आचरण को स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। इस तरह एक 'परिज्ञा' शब्द मे ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय कर दिया गया है, जो वास्तव मे मोक्ष का मार्ग है। वस्तुत· ज्ञान का मूल्य भी त्याग मे, निर्वृत्ति मे ही रहा हुआ है। श्रमण-सस्कृति के चिन्तकों ने 'णाणस्स फल विरई' अर्थात् ज्ञान का फल विरक्ति है, यह कह कर इस बात को अभिव्यक्त किया है कि वही ज्ञान आत्मोत्थान में सहायक होता है, जो आचरण रूप से जीवन में प्रयुक्त होता है। जब तक ज्ञान आचरण का

रूप नही लेता, अर्थात् ज्ञान के अनुरूप जीवन के प्रवाह को नया मोड नहीं दिया जाता, तब तक मुक्ति के मार्ग को जानते-पहचानते हुए भी वह (आत्मा) उसे तय नही कर पाता है। अत· अपवर्ग—मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वय की आवश्यकता है। इसी बात को सूत्रकार ने 'परिज्ञा' शब्द से स्पष्ट किया है।

इस तरह शस्त्रपरिज्ञा का अर्थ हुआ—द्रव्य और भाव शस्त्रो की भयंकरता को जान-समझ कर उसका परित्याग करना, अर्थात् शस्त्र-रहित बन जाना। वस्तुतः संसार-परिभ्रमण एव अशान्ति का मूल कारण शस्त्र ही है। सब तरह के दु ख-दैन्य एवं विपत्तियॉ अस्त्र-शस्त्रो की ही देन है। भगवान महावीर की इस बात को आज के वैज्ञानिक भी मानने लगे है। शस्त्रों की शक्ति पर विश्वास रखने वाले राजनेताओ का विश्वास भी लड़खड़ाने लगा है। वे भी इस तरह की भाषा का प्रयोग करने लगे है कि विश्वशान्ति के लिए जल, स्थल एवं हवाई सभी तरह की सेनाओ के केन्द्र हटा देने तथा सभी तरह के बम्बों, राकेटो एवं आणविक शस्त्रो को समाप्त करने पर ही विश्व शान्ति का सास ले सकेगा। वस्तुत सत्य भी यही है। शस्त्र शान्ति के लिए भयानक खतरा है। अत अनन्त शान्ति की ओर बढ़ने वाले साधक को सबसे पहले शस्त्रो का परित्याग करना चाहिए। इसी अपेक्षा से सभी तीर्थंकर अपने प्रथम प्रवचन मे शस्त्र-त्याग की बात कहते है। इस तरह पहले अध्ययन में शस्त्रो के त्याग की बात कही गई है, यदि आज की भाषा मे कहू तो निश्शस्त्रीकरण—शस्त्ररहित होने का मार्ग बताया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन सात उद्देशकों मे विभक्त है। सातो उद्देशको मे विभिन्न तरह से छह काय के जीवों की हिसा एवं हिसाजन्य शस्त्रास्त्रो से होने वाले नुकसान का एक सजीव शब्द-चित्र चित्रित किया गया है। यहा हम अधिक विस्तार मे न जाकर प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक पर विचार करेगे। प्रस्तुत उद्देशक मे आत्मा एव कर्म-बन्ध के हेतुओं के सम्बन्ध मे सोचा-विचारा गया है। इस उद्देशक को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने—"सुयं मे आउस!.. " इत्यादि सूत्र का उच्चारण किया है।

वर्तमान मे उपलब्ध आगम-साहित्य आर्य सुधर्मा स्वामी और श्री जम्बू स्वामी इन दोनो महापुरुषों के सवाद रूप में है। आगम की विश्लेषण पद्धति से यह स्पष्ट

हो जाता है कि जम्बू स्वामी अपने आराध्य देव आर्य सुधर्मा स्वामी से विनम्रतापूर्वक शास्त्र सुनने की भावना अभिव्यक्त करते है। वे इस बात को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक है कि श्रमण भगवान महावीर ने द्वादशांगी गणिपिटक—आगमो मे किन भावो को व्यक्त किया है। आत्मा को कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त करने के लिए साधना का क्या तरीका बताया है? यद्यपि, प्रस्तुत सूत्र मे ऐसा स्पष्ट उल्लेख नही मिलता कि श्री जम्बू स्वामी ने आचारांग के भाव व्यक्त करने के लिए अपने गुरुदेव आर्य सुधर्मा स्वामी से प्रार्थना की हो। परन्तु अन्य आगमो की वर्णन-पद्धति से विचार करते है, तो फिर शंका को अवकाश नहीं रह जाता है, अर्थात् उक्त कथन सर्वथा सत्य सिद्ध हो जाता है। आचाराग सूत्र के "सुय मे..." इस सूत्र से स्पष्ट ध्वनित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी के पूछने पर ही इस भाषा मे आचारांग का वर्णन शुरू किया था। जो कुछ भी हो, तीर्थकरो की अर्थ रूप वाणी को गणधर सूत्ररूप में गूथते है और अपने शिष्यो की जिज्ञासा को देखकर उनके सामने अपना ज्ञान-पिटारा खोल कर रख देते है। आर्य सुधर्मा स्वामी ने भी भगवान महावीर से प्राप्त अर्थ रूप द्वादशागी को अपने प्रमुख शिष्य जम्बू की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सूत्र रूप मे सुनाना प्रारम्भ कर दिया।

प्रस्तुत सूत्र का पहला सूत्र है—"सुय मे आउसं! तेण भगवया एवमक्खाय॥1॥" सुय मे, अर्थात् मैने सुना है। इस पद से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह आगम मेरे मन की कल्पना या विचारो की उडान मात्र नही, बल्कि श्रमण भगवान महावीर से सुना हुआ है। इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि आगम सर्वज्ञ-प्रणीत होने से प्रामाणिक है। श्रमण सस्कृति के विचारकों ने भी आप्त पुरुष के कथन को आगम कहा है[1]। आप्त पुरुष कौन है? इसका विवेचन करते हुए आगमों मे कहा गया कि राग-द्वेष के विजेता तीर्थकर—सर्वज्ञ भगवान, जिनेश्वर देव आप्त है। फलितार्थ यह हुआ कि जिनोपदिष्ट वाणी ही जैनागम है[2] और वह सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट होने के कारण प्रामाणिक है।

दूसरी बात यह है कि इस पद से गणधर देव की अपनी लघुता, विनम्रता एव

---

1 तत्त्वार्थ भाष्य, 1/20

2 नन्दी सूत्र, 4

निरभिमानता भी प्रकट होती है। चार ज्ञान और चौदह पूर्वो के ज्ञाता एवं आगमो के सूत्रकार होने पर भी उन्होने यो नही कहा कि मै कहता हूँ, परन्तु यही कहा कि जैसा भगवान के मुह से सुना है, वैसा ही कह रहा हूँ। महापुरुषों की यही विशेषता होती है कि वे अहंभाव से सदा दूर रहते है। उनके मन में अपने आप को बड़ा बताने की कामना नहीं रहती। अस्तु, 'सुय मे' ये पद आर्य सुधर्मा स्वामी की विनयशीलता एवं भगवान महावीर के प्रति रही हुई प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति के सूचक हैं।

"आउस!" इस पद का अर्थ होता है—हे आयुष्मन्! यहां आयुष्मन् शब्द से जम्बू स्वामी को सम्बोधित किया गया है। अत. यह सम्बोधन पद जम्बू स्वामी का विशेषण है। जबकि मूल सूत्र मे विशेष्य पद का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी विशेष्य पद का अध्याहार कर लिया जाता है। क्योंकि, जब भी कोई वक्ता कुछ सुनाता है तो किसी श्रोता को ही सुनाता है। यहां आर्य सुधर्मा स्वामी आचाराग सूत्र सुना रहे है और उसके श्रोता हैं जम्बू स्वामी। इस बात को हम पीछे की पक्तियो मे बता आए है कि जम्बू की आगम-श्रवण करने की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही आर्य सुधर्मा स्वामी ने आचाराग सूत्र को सुनाना शुरू किया। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त सबोधन का विशेष्य पद जम्बू स्वामी ही है। इस तरह विशेष्य पद का अध्याहार कर लेने पर अर्थ होगा—हे आयुष्मन् जम्बू!

सस्कृत-व्याकरण के अनुसार अतिशय-दीर्घ अर्थ मे 'आयुष्' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय होकर आयुष्मान् शब्द बनता है[1]। इस तरह आयुष्मान् का अर्थ हुआ—दीर्घजीवी। बडी आयु वाले व्यक्ति को दीर्घजीवी कहते हैं। श्री जम्बू स्वामी को दीर्घजीवी कहने के पीछे तीन कारण है। प्रथम तो यह है कि जिस समय आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आचाराग सूत्र का वर्णन सुनाने लगे, उस समय वे बडी उम्र के थे, लघु वय के नही। अत· आर्य सुधर्मा स्वामी उन्हे आयुष्मन् शब्द से सबोधित करके उनकी आयुगत परिपक्वता बताकर, उनमे श्रुतज्ञान तथा उपदेश श्रवण, ग्रहण,

---

1. भूम-निन्दा-प्रशसासु, नित्ययोगेऽतिशायने।
ससर्गेऽस्ति विवक्षाया, भवन्ति मतुबादय· (वा 3183) सिद्धान्तकौमुदी। अतिशयितुमायुरस्य इति आयुष्मान्। इति व्याख्यासुधाख्य-व्याख्याया व्याख्यातमेतदमरकोषे।

धारण एवं आराधन करने की योग्यता अभिव्यक्त कर रहे हैं।

प्रस्तुत सबोधन का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस समय जम्बू स्वामी आचाराग सूत्र का श्रवण कर रहे थे, उस समय भले ही वे बडी उम्र के न रहे हों, परन्तु मति, श्रुत, अवधि और मन·पर्याय इन चार ज्ञानो से युक्त आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा अपने ज्ञान से अपने शिष्य के भावी जीवन को दीर्घ देखा गया हो और उन्हे दीर्घजीवी जान कर ही इस सबोधन से संबोधित किया हो। उनकी अन्तरात्मा ने इस बात को स्वीकार किया हो कि जम्बू दीर्घजीवी है, लम्बे समय तक जीवित रह कर यह जिन शासन की सेवा करेगा, जन-मानस मे अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित करके विश्व को जन्म-मरण के ताप से बचाएगा। अत· भविष्य के दीर्घ जीवन को देखकर आर्य सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी को प्रस्तुत सबोधन से सबोधित किया हो।

तीसरा कारण यह है कि साहित्य जगत मे इस संबोधन को सुकोमल माना जाता है और आदर की दृष्टि से देखा जाता है[1]। यह संबोधन इतना मधुर एव प्रिय है कि इसके सुनने मात्र से हृदय-कमल की एक-एक कली खिल उठती है, शिष्य के मन मे उल्लास और प्रसन्नता की लहरें लहर-लहर कर लहराने लगती है। जैनागमों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि एक ऐसा युग भी रहा है कि जिसमे सबोधन के लिए देवानुप्रिय शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, बाल-वृद्ध सभी के लिए इसका प्रयोग होता रहा है। साहित्यिक क्षेत्र में जो सम्मान देवानुप्रिय शब्द को प्राप्त था, वही आदर-सम्मान आयुष्मान् शब्द को प्राप्त था। इस संबोधन पद से भाषा का लालित्य, सौन्दर्य एवं माधुर्य छलक रहा था। बताया गया है कि निर्युक्तिकार ने 'आउस' शब्द के दस भेद किए है। उनमे संयम, यश और कीर्तिमय जीवन वाले व्यक्ति को भी इस सम्बोधन से संबोधित करने की परंपरा रही है[2]। इसी कारण आध्यात्मिक एव लौकिक सभी क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता रहा है। इसलिए वात्सल्यमय मधुर एवं सुकोमल भावना को अभिव्यक्त करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी

1. आयुष्मन्! इत्यनेन तु कोमलवचोभि शिष्यमन· प्रह्लादयताचार्येणोपदेशो देय·।
—स्थानाग सूत्र, प्रथम स्थान—वृत्ति।

2 स्थानागसूत्र (श्री धनपतराय जी द्वारा प्रकाशित) पृष्ठ 5

ने अपने प्रमुख शिष्य जम्बू को आयुष्मन् शब्द से संबोधित किया है।

'आउस' शब्द संबोधन के रूप मे प्रयुक्त होता है, इस बात का हम विवेचन कर चुके है। परन्तु इसके अतिरिक्त इसका दूसरे रूप मे प्रयोग घटित होता है। जब "आउस और तेण" दोनो शब्दो को अलग-अलग न करके इनका समस्त पद के रूप में प्रयोग करते है, तो इस 'आउसतेणं' पद का संस्कृत रूप 'आयुष्मता' बनता है और फिर यह शब्द सबोधन के रूप में न रहकर 'भगवया' शब्द का विशेषण बन जाता है और इसका अर्थ होता है—आयुष्य वाले भगवान ने। 'आउसंतेणं' शब्द को समस्त पद मानने के पीछे सैद्धान्तिक रहस्य भी अन्तर्निहित है। 'सुय मे' इन पदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान किसी व्यक्ति द्वारा ही दिया गया है। परन्तु इस पद से सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह जैन दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट कर दी गई है कि श्रुतज्ञान का प्रकाश आयु कर्म वाले शरीर-युक्त तीर्थकर भगवान ही फैलाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण द्वारा पूछे गए "घोर अँधेरे में निवसित ससार के प्राणियो के जीवन में कौन प्रकाश करता है?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने कहा कि जब सूर्य आकाश में उदित होता है, तो सारे लोक को प्रकाशित कर देता है। इसके बाद केशी श्रमण के 'वह सूर्य कौन है?' इस सशय का निराकरण करते हुए श्री गौतम स्वामी ने कहा कि जिसका संसार क्षय हो चुका है, ऐसा जिन, सर्वज्ञरूपी सहस्ररश्मि (सूर्य) उदित होगा और वह समस्त प्राणि-जगत मे धर्म का उद्योत करेगा, ज्ञान का प्रकाश फैलाएगा।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत ज्ञान का प्रकाश शरीरयुक्त तीर्थकर ही फैलाते हैं, न कि सिद्ध भगवान। सिद्ध भगवान शरीर-रहित है और श्रुत ज्ञान का उपदेश बिना मुख के दिया नहीं जा सकता और मुख शरीर का ही एक अंग है। अत· सिद्ध भगवान श्रुतज्ञान के उपदेशक नही हो सकते।

इस तरह 'आउसतेण', पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि दुनिया का कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नही है। वैदिक दर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि सृष्टि के पारम्भ मे ईश्वर ने अगिरा आदि ऋषियो को वेद का उपदेश दिया था। परन्तु यह कल्पना सर्वथा निराधार है। हम इस बात को पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि उपदेश मुख द्वारा दिया जाता है और मुख शरीर का ही एक

---

1 उत्तराध्ययन सूत्र, 23, 75-78

अग है। शरीर के अभाव में मुख हो नही सकता। अतः शरीर-रहित ईश्वर के द्वारा उपेदश की कल्पना करना नितान्त असत्य है। यदि वेदों का उपदेश ईश्वरकृत है और ईश्वर मुख आदि अवयवो से युक्त है तो फिर वह ईश्वर नही, देहधारी व्यक्ति ही है। इस तरह वेद अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय ही सिद्ध होते हैं।

यदि वैदिक दर्शन की वेदो को अपौरुषेय मानने की मान्यता को मान ले तो फिर मुसलमानों के कुरान शरीफ को भी खुदा (ईश्वर) कृत मानना होगा। क्योंकि उसका भी यह विश्वास है कि खुदा ने पैगम्बर मुहम्मद साहिब को कुरान शरीफ का ज्ञान कराया था। इस तरह कुरान भी वेदों की तरह अपौरुषेय होने के कारण वेदो के समकक्ष खडा हो जाएगा। इसके अतिरिक्त वेदों में जो याज्ञिक हिसा—यज्ञ मे की जाने वाली पशु-हिसा का आदेश दिया गया है और ईश्वर-कर्तृत्व जैसी असंगत बातों का उल्लेख पाया जाता है तथा कुरानशरीफ मे मास-भक्षण आदि अधर्ममयी बातों का कथन किया है, उसे सत्य एवं मोक्षोपयोगी मानना पडेगा। परन्तु ये मान्यताए नितान्त असत्य हैं, क्योंकि हिसाजन्य प्रवृत्ति मे धर्म हो नही सकता। अत- जो शास्त्र धर्म के नाम पर हिंसा का, पशु कि बलिदान का, पशु की कुर्बानी करने का आदेश देता है, वह धर्मशास्त्र नही, शस्त्र है, आत्मा का घातक है। वस्तुत· धर्मशास्त्र वह है, जो प्राणिमात्र की रक्षा एव दया का उपदेश देता है; क्योंकि धर्म सब जीवो के प्रति दया, करुणा एव कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने मे है और यह बात सर्वज्ञोपदिष्ट वाणी मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। अत. आगम अपौरुषेय नही, पौरुषेय है, पुरुषोपदिष्ट होने पर भी प्रामाणिक हैं। क्योकि उसके उपदेष्टा राग-द्वेष आदि विकारो से रहित हैं, सर्वज्ञ है, अतः उनकी वाणी में पारस्परिक विरोध नहीं मिलता। इस अपेक्षा से आगम पौरुषेय हैं और उनकी रचना का समय भी निश्चित है। अर्थात् वर्तमान काल मे उपलब्ध आगमो के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर है और सूत्रकार भगवान महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा स्वामी हैं। अतः 'आउसंतेणं' इस समस्त पद का तात्पर्य यह हुआ कि आयुष्य कर्म से युक्त और फलितार्थ यह निकला कि कर्म-बन्ध से मुक्त होने पर भी जिनका अभी आयु कर्म क्षय नहीं हुआ है, ऐसे तीर्थंकर आगमों का उपदेश देते हैं।

'आउसतेणं' इस पद पर उत्तराध्ययन सूत्र के द्वितीय अध्ययन की बृहद्वृत्ति में

वृत्तिकार ने भी कुछ विचार प्रस्तुत किए है। इस दिशा मे वृत्तिकार का चिन्तन भी मननीय एवं विचारणीय होने से आगे की पंक्तियो में दे रहे हैं—

"आउसंतेणं" त्ति प्राकृतत्वेन तिङ्व्यत्ययादाजुषमाणेन-श्रवणविधिमर्यादया गुरून् सेवमानेन, अनेनाप्येतदाह—विधिनैवोचितदेशस्थेन गुरुसकाशात् श्रोतव्यं न तु यथा-कथंचिद् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्षदुत्थितेभ्यो वा सकाशात् यथोच्यते—[1]परिसुट्ठियाणं पासे सुणेइ, सो विणय-परिभसि।"

अर्थात्—'आउसतेणं' यह पद प्राकृत भाषा मे तिङ्व्यत्यय (परस्मैपद का आत्मनेपद और आत्मनेपद का परस्मैपद) होने से परस्मैपद है, किन्तु सस्कृत में इस पद की आत्मनेपदी 'आजुषमाणेन' यह छाया बनती है। आयुष्मान् का अर्थ है—सुनने की पद्धति का पालन करते हुए गुरु की सेवा करना। सुनने की पद्धति के परिपालन का अभिप्राय यह है कि गुरुदेव से शास्त्र या हितकारी उपदेश सुनते समय शिष्य न तो गुरु से अधिक दूर बैठे और न अति निकट ही बैठे, परन्तु उचित स्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से उपदेश एव शास्त्र को सुने। अधिक दूर बैठने से भली-भाति सुनाई नही पडेगा और अति निकट बैठने पर हाथ आदि अगो के सचालन से उनके शरीर को आघात लग सकता है, अत· शिष्य को ऐसे स्थान में बैठकर शास्त्र एव उपदेश का श्रवण करना चाहिए, जहां से अच्छी तरह सुनाई भी पड सके और उनकी आशातना भी न हो। दूसरी बात यह है कि गुरुदेव की सभा से उठकर आने वाले लोगों से शास्त्र न सुने, परन्तु स्वयं गुरुदेव के सम्मुख उपस्थित होकर उनसे सुने। कभी-कभी कुछ अविनीत शिष्य ऐसा सोच-विचार कर कि गुरु के पास जाकर सुनेंगे तो उनका विनय करना होगा, अत· उनसे सुनकर जो व्यक्ति आ रहे हैं, उनसे ही जानकारी कर लें। यह सोचना उपयुक्त नही है। इससे जीवन में प्रमाद बढ़ता है, विनम्र भाव का नाश होता है—जो धर्म एव सयम का मूल है। इसी बात को ध्यान मे रखकर वृत्तिकार ने 'आयुष्मन्' पद देकर गुरु की सभा से आने वाले व्यक्तियों से ही सीधा शास्त्र एव उपदेश भी सुनने की वृत्ति का निषेध किया है और शिष्य को प्रेरित किया है कि वह विनम्र भाव से गुरु-चरणों मे बैठ कर ही शास्त्र का श्रवण करे। ऐसी विनम्र वृत्ति वाले शिष्य के लिए ही 'आयुष्मन्' पद का प्रयोग किया है।

---

1 पर्षदुत्थिताना पार्श्वे शृणोति, स विनयपरिभ्रशी।

"आउस। तेणं" इस पाठ के स्थान पर कुछ प्रतियों में 'आमुसंतेणं' तथा 'आवसंतेणं' ये दो पाठान्तर भी मिलते हैं। इनके अर्थ पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक नहीं होगा। 'आमुसतेण' इस पद की सस्कृत छाया 'आमृशता' और 'आवसंतेण' पद की संस्कृत छाया 'आवसता' होती है। इन उभय शब्दो का सम्बन्ध 'मे' पद से है। या यो कहिए कि ये दोनों पद आर्य सुधर्मा स्वामी के विशेषण है। टीकाकार श्री शीलांकाचार्य ने दोनों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—'मया आमुसंतेण' आमृशता (स्पृशता) भगवत्-पादारविन्दम्, आवसन्तेणं—आवसता वा तदन्तिके।"

अर्थात्—भगवान महावीर के चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने या भगवान महावीर के पास निरन्तर निवास करते हुए मैंने।

उक्त दोनो पाठान्तरो से श्रुत ज्ञान की प्राप्ति एंव उसकी सफलता के लिए शिष्य के जीवन मे जिन गुणों एवं सस्कारों का सद्भाव होना चाहिए, उनका भली-भांति बोध हो जाता है। सबसे पहले श्रुतग्राही शिष्य के जीवन में विनम्रता एव गुरु के प्रति प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिए। यदि शिष्य का जीवन-दीप विनय एवं श्रद्धा के स्नेह-तेल से खाली है, तो उसमे श्रुतज्ञान की प्रकाशमान ज्योति जग नहीं सकती, उसके जीवन को सम्यक् ज्ञान के प्रकाश से आलोकित नहीं कर सकती। अत· श्रुत ज्ञान को पाने के लिए गुरु के प्रति आस्था एवं सर्वस्व समर्पण की भावना तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा में सलग्न रहने की वृत्ति होनी चाहिए। 'आमुसंतेण' यह इन्ही आदर्श एव समुज्ज्वल भावो का संसूचक है।

श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु चरण सेवा ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु उनके निकट मे रहना भी आवश्यक है। गुरु के निकट मे स्थित रहना दो अर्थो मे प्रयुक्त होता है—(1) सदा गुरु के पास या उनके सामने ही रहना, अत· समय पर उनकी सेवा कर सके, उन्हे किसी काम के लिए इधर-उधर से आवाज़ देकर न बुलाना पड़े। (2) उनकी आज्ञा मे विचरण करना। अपनी प्रवृत्ति उनके विचारानुसार रखना। क्षेत्र से दूर रहते हुए सदा उनके पथ का अनुगमन करना भी उनके निकट में बसना है। इसी भावना को ध्यान में रखकर शिष्य को अन्तेवासी भी कहा है। अन्तेवासी का यह अर्थ नहीं है कि वह सदा उनके साथ या पास मे ही रहे। आवश्यकता पड़ने पर वह क्षेत्र से दूर भी जा सकता है, परन्तु उनके विचारो एव आज्ञा से दूर नहीं जाता।

अतः श्रुत ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक साधक को द्रव्य और भाव दोनों तरह से गुरु के निकट रहना चाहिए। 'आवसंतेणं' पद इन्ही भावो का परिचायक है।

'भगवया' यह पद भगवत् शब्द का तृतीयान्त प्राकृत रूप है। इसका अर्थ है—भगवान ने। भगवान शब्द भग से बनता है। भग शब्द की व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशस श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चापि, षण्णा भग इतीङ्गना॥"

अर्थात्—सम्पूर्ण ऐश्वर्य, रूप, यश, कीर्ति, श्री, ज्ञान, और वैराग्य इन छह संपदाओं के समुदाय को भग कहते है। अत· उक्त सपदाओ से जो युक्त है; उसे भगवान कहते है—

"भग·—ऐश्वर्यादिषडर्थात्मक· सोऽस्यास्तीति भगवान्।"

'अक्खाय' यह क्रिया पद है। इसका अर्थ है—कहा। इससे स्पष्ट होता है कि आचाराग सूत्र भगवान के द्वारा कहा गया है। इससे दो बाते स्पष्ट होती है। एक तो यह कि आगम किसी व्यक्ति द्वारा कहे गए है, जिसका विस्तृत विवेचन हम पीछे के पृष्ठो मे कर आए है। दूसरी बात यह सामने आती है कि आगम अनादि काल से चले आ रहे है। किसी तीर्थकर भगवान ने इनकी सर्वथा अभिनव रचना नही की। उन्होंने तो अनादि काल से चले आ रहे आगमो का अर्थ रूप से कथन मात्र किया है। अत· इस दृष्टि से आगम सादि भी है और अनादि एव कृतत्व-रहित भी हैं। उनके सादित्व पर हम विचार कर चुके है। यहा आगमो के अकृतत्व एवं अनादित्व पर विचार करेंगे।

परन्तु यह कथन भी अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि जैन विचारको की भाषा स्याद्वादमय रही है। उन्होंने प्रत्येक वस्तु एव प्रत्येक विचार पर स्याद्वाद की भाषा मे सोचा-विचारा है। आगम के सादित्व-अनादित्व अर्थात् आगम के मूल स्रोत की आदि निश्चित तिथि है या नही? दोनों पर गहराई से चिन्तन किया है। आगमो मे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि आगम अनादि भी है। क्योंकि ऐसा कोई समय नही रहा है, नही है और नही रहेगा, जबकि द्वादशागभूत गणिपिटक नहीं था,

नही है और नहीं होगा। वह तो पहले से था, अब है और अनागत मे भी रहेगा। वह ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है[1]।

इस कथन का यह तात्पर्य नही है कि अनन्त काल से चले आ रहे, अनन्त तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आगमो की भाषा एक ही थी, जो शब्द-भाषा वर्तमान मे उपलब्ध आगमो मे मिलते है, वे ही शब्द उन आगमों के थे। इसका अर्थ इतना ही है कि भाषा मे अन्तर होते हुए भी भावों में समानता थी। वास्तविक दृष्टि से विचारा जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। विभिन्न देश, काल और पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का उद्भव अनेक तरह से होता रहा है, परन्तु भाषा के उन विभिन्न रूपों मे एक ही त्रैकालिक सत्य अनुस्यूत रहा है। उस त्रैकालिक सत्य की ओर देखा जाए, और देश-काल एव पुरुष की अपेक्षा से बने आविर्भाव की उपेक्षा की जाए, तो यही कहना होगा कि जो भी तीर्थकर, अरिहन्त राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनकर उपदेश देते है, वे आचार को त्रैकालिक सत्य—सामायिक—समभाव, विश्ववात्सल्य, विश्वमैत्री का और विचार के त्रैकालिक सत्य—स्याद्वाद—अनेकान्तवाद या विभज्यवाद का ही उपदेश देते हैं। आचार से सामायिक की साधना एव विचार से अनेकान्त—स्याद्वाद की भाषा का तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट आदेश अनादि-अनन्त है, कर्तृत्व से रहित है। ऐसा एक भी क्षण नही मिलेगा कि विश्व मे इस सत्य का स्रोत नही बह रहा हो। अत. इस अपेक्षा से द्वादशाग, गणिपिटक—आगम अनादि-अनन्त हैं।

बृहत्कल्प भाष्य मे एक स्थल पर कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थकरो और भगवान महावीर की शरीर-अवगाहना एव आयुष्य में अत्यधिक वैलक्षण्य होने पर भी, उन सबकी धृति, सघयण और सठाण तथा आन्तरिक शक्ति—केवल ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाए तो उन सबकी उक्त योग्यता में कोई अन्तर न होने के कारण उनके उपदेश मे, सिद्धान्त-प्ररूपण मे कोई भेद नही हो सकता[2]। आगमो में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि सभी तीर्थकर वज्रऋषभनाराच सघयण और समचतुरस्त्र संस्थान वाले होते है और ससार मे सभी तत्त्वों को, पदार्थो को तथा

---

1 नन्दी सूत्र 58, समवायाग सूत्र 12, द्वादशागी परिचय।

2 बृहत्कल्प भाष्य

तीनों काल के भावों को समान रूप से जानते-देखते हैं। अत. उनके द्वारा की गई सैद्धान्तिक प्ररूपणा में कोई भेद नहीं होता। सभी तीर्थंकरों के उपदेश की एकरूपता का एक उदाहरण प्रस्तुत सूत्र मे भी मिलता है[1]। उसमे लिखा है कि "जो अरिहन्त भगवान पहले हो चुके है, जो भी वर्तमान मे है और जो भविष्य मे होंगे, उन सभी का एक ही उपदेश-आदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा मत करो; उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उन्हे परतन्त्र एव गुलाम मत बनाओ और उनको सतप्त मत करो, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकशील पुरुषों ने बताया है।"

जब व्यावहारिक दृष्टि से यह देखते है कि वर्तमान में उपलब्ध आगमों का आविर्भाव किस रूप में हुआ? किसने किया? कब किया? और कैसे किया तो जैनागमों की आदि भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। इसलिए कहा गया कि "तप-नियम और ज्ञानमय वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्त ज्ञानी तीर्थकर—केवली भगवान भव्य जनों के बोध के लिए ज्ञान-कुसुम की वृष्टि करते है। गणधर अपने बुद्धि पटल में उन समस्त कुसुमो का झेलकर द्वादशांग रूप प्रवचन माला गूथते है[2]।" इस तरह "जैनागम कर्तृत्व रहित अनादि अनन्त भी है और कर्ता की अपेक्षा से आदि सहित भी है।" का इस सूत्र मे सुन्दर समन्वय हो जाता है और आचार्य हेमचन्द्र का यह विचार पूर्णतया चरितार्थ होता है—

"आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु"[3]

इससे स्पष्ट हो गया कि स्याद्वाद की भाषा में विरोध खड़ा होने को कहीं भी अवकाश नही है। अनन्त तीर्थकरो में रही हुई केवल ज्ञान की एकरूपता के कारण

---

1 आचाराग, श्रु 1, अ 4 सू 126

2 "तवनियमनाणरुक्ख आरूढो केवली अमियनाणी,
तो सुयनाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए ॥89॥
त बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउ निरवसेसे,
तित्थयरभासियाइ गथति तओ पवयणट्ठा॥90॥ —आवश्यकनिर्युक्तिः

3 अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक 5

आगम अनादि काल से हैं, उनका उद्‌गम स्थान ढूंढ़ना दुष्कर ही नहीं, असंभव है और वर्तमान मे विद्यमान आगम के उपदेष्टा की दृष्टि से सोचते है, तो उसकी आदि है। क्योकि वर्तमान में उपलब्ध आगम के अर्थरूप से उपदेष्टा भगवान महावीर हैं। उनके प्रवचन को नव गणधरों ने सूत्ररूप से गूंथा था। क्योंकि आगम में ऐसा बताया गया है कि भगवान महावीर के ग्यारह गणधर और नव गण थे। अन्य गणधरों की शिष्य-परम्परा का प्रवाह आगे चला नहीं। भगवान महावीर के बाद पचम गणधर सुधर्मा स्वामी की ही शिष्य परम्परा चालू रही। अतः वर्तमान मे सुधर्मा स्वामी द्वारा सूत्ररूप में रचित आगम ही उपलब्ध होते हैं। अतः प्रस्तुत आगम का भगवान महावीर ने अर्थ रूप से उपदेश दिया था, और आर्य सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप से गूथा था।

इस तरह 'अक्खायं' इस पद से आगमों की नित्यता को प्रकट किया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आगम कूटस्थ नित्य नहीं हैं। क्योंकि हम इस बात को पहले ही बता चुके है कि जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु पर अनेकान्त या स्याद्वाद की दृष्टि से सोचता-विचारता है। यहां एकान्तवाद को कोई स्थान नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेक धर्म युक्त है। उसमे उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनों अवस्थाएं स्थित है[1]। इसमे विरोध जैसी कोई बात नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, अनुभव करते है कि स्वर्ण को गला कर उसका कगन बना लेते हैं, फिर कंगन को तुडवाकर बटन या ॲगूठी या और कुछ आभूषण बना लेते है। इस तरह प्रत्येक बार वस्तु के स्वरूप मे परिवर्तन हो जाता है। एक स्वरूप का विनाश हाता है तो दूसरे स्वरूप का निर्माण होता है, परन्तु पूर्व एवं उत्तर की दोनों अवस्थाओं में स्वर्ण अपने रूप में सदा स्थिर रहता है। यही स्थिति प्रत्येक वस्तु की है। द्रव्य रूप से प्रत्येक वस्तु सदा स्थित रहती है तो पर्याय रूप से उसमे सदा परिवर्तन होता रहता है। इसलिए जब किसी वस्तु को नित्य कहा जाता है, तो उसका अभिप्राय यह है कि वह परिणामी नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। यही बात आगम के सबंध में समझनी चाहिए। द्रव्य रूप से आगम नित्य है, ध्रुव हैं, अनादि से विद्यमान हैं। परन्तु पर्याय रूप से अनित्य हैं। क्योंकि उस त्रैकालिक सत्य का अभिव्यक्त करने वाले अनन्त समय में अनन्त

1 उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। —तत्त्वार्थ सूत्र 5/30

तीर्थकर हो चुके हैं और भविष्य काल में अनन्त तीर्थकर होते रहेंगे और अपने समय में सभी तीर्थकर उस त्रैकालिक सत्य का अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। अतः उपदेष्टा की अपेक्षा से उस समय के तीर्थकर आगम के प्ररूपक कहे जाते हैं। जैसे वर्तमान में उपलब्ध आगम के उपदेष्टा भगवान महावीर है। इस दृष्टि से आगम नित्य हैं, सादि हैं। इस तरह आगम नित्य भी है और अनित्य भी।

प्रस्तुत सूत्र मे आर्य सुधर्मा स्वामी, जम्बू अनगार से बोले—हे आयुष्मन् जम्बू! मैने सुना है कि उस भगवान् ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है। इस सूत्र को सुन-पढ़कर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् ने क्या प्रतिपादन किया था? किस बात को अभिव्यक्त किया? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

मूलम्—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ॥2॥

छाया—इहैकेषां नो संज्ञा भवति।

पदार्थ—इहं—इस संसार मे। **एकेसिं**—किन्ही जीवों को। **णो**—नही। **सण्णा**—संज्ञा-ज्ञान। **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—इस संसार में किन्ही जीवों को अथवा अनेक जीवो को ज्ञान नहीं होता है।

हिन्दी-विवेचन

आचाराग को आरम्भ करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह कहा था कि हे आयुष्मन् जम्बू! मैने सुना है कि उस भगवान ने ऐसा कहा है। क्या कहा है? इस बात को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि भगवान ने बताया हे कि इस प्राणि-जगत में परिभ्रमण करने वाले अनेकानेक जीव ऐसे हैं कि जिन्हें ज्ञान नहीं होता। यह प्रस्तुत सूत्र का फलितार्थ है।

'इह' पद 'इस' अर्थ का बोधक है। यह पद सर्वनाम होने से संसार और क्षेत्र, प्रवचन, आचार एव शस्त्र परिज्ञा आदि शब्दो का इसके साथ अध्याहार किया जाता है, क्योकि सर्वनाम सदा सज्ञा के स्थान में प्रयुक्त होता है। जब 'इहं' पद के साथ ससार शब्द का अध्याहार किया जाता है, तो उक्त पद का सबध 'एगेसिं' पद के साथ करना चाहिए। परन्तु यदि इस पद के साथ क्षेत्र, प्रवचन आदि शब्दो का

अध्याहार किया जाए तो फिर इस पद का संबंध प्रथम सूत्र के 'अक्खाय' इस क्रिया के साथ जोड़ना चाहिए। इस तरह सबंध के भेद से अर्थ में भी भेद हो जाता है। जब प्रस्तुत पद का संबंध 'एगेसि' पद के साथ जोड़ेंगे तो इसका अर्थ होगा कि "संसार में किन्हीं जीवों को संज्ञा-ज्ञान नहीं होता" और जब इसका सबंध 'अक्खायं' पद के साथ होगा तो इसका अर्थ होगा कि "हे आयुष्मन् जम्बू! उस भगवान अर्थात् भगवान महावीर ने इस क्षेत्र, प्रवचन, आचार एव शस्त्र-परिज्ञा मे कहा है कि कई एक जीवों को ज्ञान नहीं होता।" इस तरह 'इहं' पद का 'एगेसि' और 'अक्खायं' पद के साथ क्रमश सबंध-भेद से अर्थ-भेद भी प्रमाणित होता है।

'क्षेत्र' शब्द उस स्थान का परिबोधक है, भारतवर्ष या भारत मे भी जिस स्थान पर भगवान ने प्रस्तुत प्रवचन किया था। भगवान–तीर्थकरो के उपदेश को प्रवचन कहते हैं। प्रवचन का सीधा-सा अर्थ होता है–श्रेष्ठ वाणी या विशिष्ट महापुरुषो द्वारा व्यवहृत वचन। 'आचार' शब्द आचाराग सूत्र का परिचायक है और शस्त्र-परिज्ञा आचाराग सूत्र का प्रथम अध्ययन है।

उक्त चारों शब्दो का परस्पर संबध भी है, क्योकि प्रवचन किसी क्षेत्र-विशेष में ही दिया जाता है। अत· सर्वप्रथम क्षेत्र का उल्लेख किया गया और उसके अनन्तर प्रवचन का नाम निर्देश किया गया। वह प्रवचन क्या था? इसका समाधान आचार अर्थात् आचाराग इस शब्द से किया गया और आचाराग सूत्र मे भी प्रस्तुत वाक्य किस अध्ययन में कहा गया है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'शस्त्रपरिज्ञा' शब्द का कथन किया गया। इस तरह चारो पदों का एक-दूसरे पद के साथ सबध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'एगेसिं' यह पद 'किन्ही जीवों को' इस अर्थ का संसूचक है। इस पद को 'णो सण्णा भवइ' पदो के साथ संबद्ध करने पर इसका अर्थ होता है कि किन्ही जीवो को ज्ञान नहीं होता। आध्यात्मिक विकासक्रम के नियमानुसार आत्मा मे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अनुरूप ज्ञान का विकास होता है। अत· जिन जीवों के ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होता है, उनके ज्ञान का विकास भी उतना ही अधिक होता है और ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक आवरण हटाएंगे, उनका ज्ञान उतना ही अधिक निर्मल होगा। जिन जीवो का ज्ञानावरणीय कर्मगत क्षयोपशम

कम है, उनका ज्ञान भी अविकसित ही रहेगा। उन्हे इस बात का परिबोध नही हो पाएगा कि मैं पूर्व, पश्चिम आदि किस दिशा से आया हूँ? इस विशिष्ट परिबोध से अनभिज्ञ या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता वाले किन्हीं जीवों को सूत्रकार ने 'एगेसि' इस पद से अभिव्यक्त किया है।

'णो सण्णा भवइ' का अर्थ है—ज्ञान नहीं होता। यहाँ नही अर्थ का परिबोधक 'णो' पद है। प्रश्न हो सकता है कि 'णो' के स्थान पर 'अ' शब्द से काम चल सकता था। 'णो' और 'अ' दोनो अव्यय निषेधार्थक हैं। फिर यहां 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' पद देकर एक मात्रा का अधिक प्रयोग क्यो किया? इसका उत्तर यह है कि 'णो- और 'अ' दोनो अव्यय निषेधार्थ मे प्रयुक्त होते हुए भी समानार्थक नही है। दोनों में अर्थगत भिन्नता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'अ' का प्रयोग न करके 'णो' का प्रयोग किया है। यदि 'णो' का अर्थ 'अ' से निकल जाता तो सूत्रकार 'णो' का प्रयोग करके शब्द का गुरुत्व न बढ़ाते। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'णो' और 'अ' दोनो अव्ययों के अर्थ में कुछ अतर है।

'णो' अव्ययपद एक देश का निषेधक है और 'अ' अव्ययपद सर्वदेश का निषेध करता है। जैसे—'न घटोऽघटः' इस वाक्य में व्यवहृत 'अघट' शब्द मे 'घट' के साथ जुडा हुआ 'अ' अव्यय घट का सर्वथा निषेध करता है। परन्तु णो अव्यय किसी भी वस्तु का सर्वथा निषेध नही करता। 'णो सण्णा' से यह ध्वनित नही होता कि किन्ही जीवो मे संज्ञा-ज्ञान का सर्वथा अभाव है, क्योंकि आत्मा में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नही सकता। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। उसके अभाव मे आत्मस्वरूप रह नही सकता। जैसे—प्रकाश एव आतप के अभाव में सूर्य का एवं सूर्य के अभाव में उसके प्रकाश एवं आतप का अस्तित्व नही रह सकता। भले ही घनघोर घटाओं के कालिमामय आवरण से सूर्य का प्रकाश एवं आतप पूरी तरह दिखाई न पडे, यह बात अलग है। परन्तु सूर्य के रहते हुए उनके अस्तित्व का लोप नहीं होता। उसकी अनुभूति तो होती ही रहती है। इसी तरह का ज्ञान का सर्वथा अभाव होने पर आत्मा का अस्तित्व ही नही रह जाएगा। अत ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता। क्योंकि आहार-सज्ञा, भय-सज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा आदि सज्ञाए तो प्रत्येक ससारी प्राणी में पाई जाती है। इन्हीं संज्ञाओं के आधार पर ही जीव का जीवत्व सिद्ध होता है। यदि इन

सञ्ज्ञाओं का अभाव मान लिया जाए तो फिर आत्मा में चेतनता या सजीवता नाम की कोई चीज़ रह ही नहीं जायेगी। अस्तु, संज्ञा का सर्वथा निषेध करना आत्मतत्त्व की ही सत्ता नहीं मानता है और यह बात सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। इसलिए सूत्रकार ने 'असण्णा' का प्रयोग न करके 'णो सण्णा' का प्रयोग किया, जो सर्वथा उचित, युक्तियुक्त, न्याय-संगत एवं आगमानुसार है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'सण्णा' शब्द का अर्थ सञ्ज्ञा होता है। संज्ञा चेतना को कहते है और वह अनुभवन और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। अनुभवन संज्ञा के सोलह भेद हैं या यो कहिए कि जीव को सोलह तरह के अनुभूति होती है–

1. **आहारसंज्ञा**–क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से आहार–भोजन करने की इच्छा होना।

2. **भयसंज्ञा**–भयमोहनीय कर्म के उदय से खतरे का वातावरण देख, जान कर या खतरे की आशका से त्रास एवं दु:ख का संवेदन करना या भयभीत होना।

3. **मैथुनसंज्ञा**–वेदोदय से विषयेच्छा को तृप्त करने की या मैथुन सेवन की अभिलाषा होना।

4. **परिग्रहसंज्ञा**–कषायमोहनीय के उदय से भौतिक पदार्थो प्र आसक्ति, ममता एव मूर्च्छा भाव का होना।

5. **क्रोधसंज्ञा**–कषायमोहनीय कर्म के उदय से विचारो मे एव वाणी में उत्तेजना या आवेश का आना।

6. **मानसंज्ञा**–कषायमोहनीय कर्म के उदय से अहंभाव, गर्व या घमड का अनुभव करना।

7. **मायासंज्ञा**–कषायमोहनीय कर्म के उदय से छल-कपट करना।

8. **लोभसंज्ञा**–कषायमोहनीय कर्म के उदय से भौतिक पदार्थो, विषय-वासना एव भोगोपभोग के साधनो को प्राप्त करने की लालसा बनाए रखना, संग्रह की कामना को बढाते रहना।

9. **ओघसंज्ञा**–जीव की अव्यक्त चेतना, जो ज्ञानावरणीय कर्म के अल्पक्षयोपशम के कारण उत्पन्न होती है।

10. लोकसंज्ञा—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' आदि लोक-प्रचलित मान्यताओं पर विश्वास करना तथा उनके अनुसार अपनी धारणा बना लेना।

11. सुखसंज्ञा—इन्द्रियो एवं मनोऽनुकूल विषयो का उपभोग करना एव उसमें आनन्द की अनुभूति करना।

12. दुःखसंज्ञा—इन्द्रिय एवं मन के प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति होने पर दुःखानुभूति करना।

13. मोहसंज्ञा—मोहनीय कर्म के उदय से विषय-वासना एव कषायों मे आसक्त रहना।

14. विचिकित्सासंज्ञा—मोहनीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म एवं तत्त्वो मे शका—सदेह करना।

15. शोकसंज्ञा—मोहनीय कर्म के उदय से इष्ट वस्तु के न मिलने या उसका वियोग होने पर तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग पाकर रोना, पीटना, विलाप आदि करना।

16. धर्मसंज्ञा—मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आगार—गृहस्थ धर्म या अनगार—साधु धर्म को स्वीकार करना, सयम-मार्ग मे या त्याग-पथ पर गतिशील होना।

ज्ञानसज्ञा के भी 5 भेद किए गए है—

1. मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य क्षेत्र मे स्थित वस्तु को जानना-पहचानना।

2. श्रुतज्ञान—वाच्य-वाचक सबंध द्वारा शब्द से सबंधित अर्थ का परिज्ञान प्राप्त करना।

3. अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी द्रव्यो को जानना-देखना।

4. मनःपर्यवज्ञान—इन्द्रिय और मन के सहयोग बिना मर्यादित क्षेत्र में स्थित सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों के मन के भावो को जानना।

5. केवलज्ञान—मति आदि चारों ज्ञानो की अपेक्षा के बिना तीनों लोक में स्थित द्रव्यो एव त्रिकालवर्ती भावो को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

इस तरह 'सज्ञा' शब्द से अनुभूति और ज्ञान दोनों का निरूपण किया गया है। अनुभूति रूप सज्ञा या चेतना तो संसार के सभी जीवों में रहती है। अत· यहा उक्त सज्ञा का निषेध नहीं किया गया है। ज्ञान रूपी संज्ञा में भी संसार के समस्त छद्मस्थ जीवों में सम्यक् या असम्यक् किसी न किसी रूप मे मति एवं श्रुतज्ञान या अज्ञान रहता ही है। अतः 'णो सण्णा भवइ' वाक्य से प्रस्तुत सूत्र में जो ज्ञान का निषेध किया है, वह साधारण रूप से होने वाले ज्ञान का नहीं, परन्तु विशिष्ट रूप से पाए जाने वाले ज्ञान का निषेध किया है, जिससे आत्मा यह जान-समझ सके कि मैं किस दिशा-विदिशा से आया हूं? ऐसा विशिष्ट ज्ञान ससार के सभी जीवों को नही होता। इसलिए 'णो' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि संसार के कुछ एक जीवो को विशिष्ट ज्ञान नही होता। उस विशिष्ट ज्ञान का क्या स्वरूप है? इसका समाधान एव स्पष्ट विवेचन सूत्रकार के शब्दों मे आगे के सूत्र मे पढ़ें—

मूलम्—तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थि—माओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि॥3॥

छाया—पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पश्चिमाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधोदिशाया वा आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि।

पदार्थ—तंजहा—जैसे। **पुरत्थिमाओ वा दिसाओ**—पूर्व दिशा से। **आगओ अहमंसि**—मै आया हूं।[1] **दाहिणाओ वा दिसाओ**—अथवा दक्षिण दिशा से। **पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ**—या पश्चिम दिशा से। **उत्तराओ वा दिसाओ**—या उत्तर दिशा से। **उड्ढाओ वा दिसाओ**—या ऊर्ध्व दिशा से। **अहो दिसाओ वा**—या अधो दिशा से। **अण्णयरीओ वा दिसाओ**—या किसी भी एक दिशा से।

1. 'आगओ अहमंसि' का सब जगह 'मै आया हूँ' यह अर्थ समझना चाहिए।

अणु दिसाओ वा—या अनुदिशा-विदिशा से। **आगओ अहमंसि**—मैं आया हूँ।

मूलार्थ—जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हू या दक्षिण दिशा से आया हू या पश्चिम एवं उत्तर दिशा से या ऊर्ध्व एव अधोदिशा से या किसी एक दिशा-विदिशा से इस संसार में प्रविष्ट हुआ हूँ—आया हूँ।

हिन्दी-विवेचन

आत्मा मे अनन्त चतुष्क अर्थात् 1 अनन्त ज्ञान, 2. अनन्त दर्शन, 3. अनन्त सुख और 4 अनन्त वीर्य है। सिद्ध आत्माओ मे ही नहीं, प्रत्युत ससार में स्थित प्रत्येक आत्मा मे इन शक्तियों की सत्ता—अस्तित्व मौजूद है। फिर भी अनन्त काल से कर्मप्रवाह मे प्रवहमान होने के कारण यह संसार में इधर-उधर परिभ्रमण करती रहती है, चार गति-चौरासी लाख जीवयोनियों मे घूमती-भटकती है—कभी ऊर्ध्व दिशा मे उडान भरती है, तो कभी अधोदिशा की ओर प्रयाण करती है। कभी पूर्वदिशा की ओर बढ़ती है, तो कभी अस्ताचल—पश्चिमदिशा की ओर जा पहुँचती है। कभी उत्तरदिशा की तरफ गतिशील होती है, तो कभी दक्षिण दिशा का रास्ता नापती है। इस तरह कर्मबद्ध आत्मा संसार की इन सब दिशा-विदिशाओ में घूमती फिरती है। इस भव-भ्रमण का मूल कारण कर्मबन्धन है और कर्मबन्धन का मूल-राग-द्वेष है।[1] जब तक आत्मा मे राग-द्वेष की परिणति है, तब तक वह कर्मबन्धन से मुक्त नही हो सकती। क्योकि राग-द्वेष कर्मरूपी वृक्ष का बीज है, मूल है। जब तक बीज या मूल सुरक्षित है, स्वस्थ है, तब तक वृक्ष धराशायी नही हो सकता। यदि पूर्व फलित शाखा-प्रशाखाओं को काट भी दिया गया, तब भी मूल के सद्भाव मे वृक्ष का पूर्णतया नाश-विनाश नहीं हो सकता। मूल हरा-भरा है तो वह पुन· अकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हो उठेगा। यही स्थिति कर्मवृक्ष की है। पूर्व कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते है, क्षय हो जाते है, परन्तु उनका मूल रागद्वेष मौजूद रहता है, इससे उनका समूलत· नाश नही होता। पूर्व कर्मो की निर्जरा होती है तो नए कर्मो का बन्ध हो जाता है। इस तरह एक के बाद दूसरा प्रवाह प्रवहमान ही रहता है। अस्तु, कर्म के मूल रागद्वेष का क्षय किए बिना कर्मवृक्ष का समूलत· नाश नहीं होता और उसका पूर्णत· नाश हुए बिना आत्मा भव-भ्रमण के चक्कर से छुटकारा नही पा सकती।

---

1 रागो या दोसो विय कम्मबीय। उत्तराध्ययन-32

आस्तिक माने जाने वाले सभी दार्शनिकों का विश्वास है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान को स्व-प्रकाशक मानने के संबंध मे दार्शनिकों मे एकरूपता परिलक्षित नहीं होती। कतिपय दार्शनिक ज्ञान को स्व-प्रकाशक नहीं, पर-प्रकाशक मानते है। उनका कहना है कि आत्मा अपने ज्ञान से स्वय को नहीं जानता, परन्तु पर को जानता है, जैसे—आंख दुनिया के दृश्यमान पदार्थो का अवलोकन करती है परन्तु अपने आप को नही देखती। दीपक सब पदार्थो को प्रकाशित करता है, परन्तु उसके नीचे अधेरा ही बना रहता है—'दिए तले अन्धेरा' की कहावत लोक प्रसिद्ध है। इसी तरह ज्ञान भी अपने से इतर सभी द्रव्यों को, पदार्थो को देखता-जानता है। परन्तु अपना परिज्ञान उसे नहीं होता। अपने आपको जानने के लिए इतर ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

परन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान-स्व-प्रकाशक भी है और पर-प्रकाशक भी। जो ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है, वह दूसरे पदार्थ का भी अवलोकन नहीं कर सकता। वही ज्ञान अन्य द्रव्यो को भली-भाति देख सकता है जो अपने आपको भी देखता है। जैसे दीपक का प्रकाश अन्य पदार्थो के साथ स्वयं को भी प्राकशित करता है। ऐसा नहीं होता कि दीपक के अतिरिक्त कमरे मे स्थित अन्य सभी पदार्थ तो दीपक के उजाले मे देख लें और उस जलते हुए दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक लाए। जो ज्योतिर्मय दीपक सभी पदार्थो को प्रकाशित करता है, वह अपने आपको भी प्रकाशित करता है। उसे देखने के लिए दूसरे प्रकाश को लाने की आवश्यकता नही पडती। इस तरह आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं को भी जानता है और उससे स्वेतर द्रव्यों का भी परिज्ञान करता है। यों कहना चाहिए कि वह अपने को देखकर ही इतर द्रव्यो या पदार्थो को देखता है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं कि बहिनें भोजन तैयार करके दूसरों को परोसने-खिलाने के पहले स्वय चख लेती हैं। यदि उन्हे स्वादिष्ट लगता है, तो वे समझ लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, परिवार के सभी सदस्यो को अच्छा लगेगा। यदि ज्ञान स्वसवेदक या स्वप्रकाशक नहीं होता, तो बहिनों को यह ज्ञान कैसे होता है कि यह भोजन सबको स्वादिष्ट लगेगा। परन्तु ऐसा संवेदन प्रत्यक्ष में होता है और हम प्रतिदिन देखते है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। वह भोजन को चखकर

जब यह निर्णय कर लेती हैं कि भोजन ठीक बना है, तो वह अपने इसी निर्णय से जान लेती है कि यह खाद्य पदार्थ सबको पसन्द आ जाएगा। जो वस्तु मुझे स्वादिष्ट एव आनन्दप्रद लगती है, वह दूसरों को भी वैसी प्रतीत होगी, क्योकि उनमें भी मेरे जैसी ही आत्मा है और वह भी मेरे जैसी अनुभूति एवं सवेदन-युक्त है। इस तरह स्व के ज्ञान से पर के ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति होती है। आगमो मे भी कहा है—सब प्राणी जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता, सुख सबको प्रिय है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी भी प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिसा—घात न करे, न दूसरों से करावे और न हिसा करने वाले का समर्थन करे। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक सूत्र मे बताया है कि जो अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा को जानता है और रागद्वेष मे समभाव रखने वाला है, वही पूज्य है। अपनी आत्मा से आत्मा को जानने का तात्पर्य है कि अपनी ज्ञानमय आत्मा से अपने स्वरूप को जानना-समझना।[1] इन सबसे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ज्ञानमय है और—ज्ञान स्वप्रकाशक भी है। उसे अपने बोध के साथ दूसरे का भी परिबोध होता है।

इससे स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। जीव का लक्षण बताते हुए आगम में कहा है कि 'जीवो उवओगलक्खणो' अर्थात्—जीव का लक्षण 'उपयोग' है। वह उपयोग 1. ज्ञान, 2. दर्शन, 3. सुख और 4 दुःख रूप से चार प्रकार है।[2] इस प्रकार भी कहा गया है कि 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये जीव के लक्षण है।[3] उक्त दोनो गाथाओ में सुख-दुख का सवेदन एव चारित्र तथा तप का आचरण व्यवहार दृष्टि से जीव का लक्षण बताया गया है। सुख-दु ख का सवेदन वेदनीय कर्मजन्य साता-असाता या शुभ-अशुभ सवेदन का प्रतीक होने से समस्त जीवो मे और सदा काल नही पाया जाता। क्योकि यह सवेदना कर्मजन्य है, अत कर्म से आबद्ध ससारी जीवो में ही इसका अनुभव होता है और वह अनुभूति भी ससार-अवस्था तक ही रहती है। इसी तरह चारित्र एवं तप भी सभी जीवो मे सदा-सर्वदा विद्यमान

---

1 वियाणिया अप्पगमप्पएण। —दशवैकालिक 9/3/11

2 नाणेण दंसणेण च, सुहेण य दुहेण य। उतराध्ययन, 28/10

3 नाण च दसण चेव, चारित्तं च तवो तहा। वीरिय उवओगो य, एय जीवस्स लक्खणं॥ —उत्तरा., 28/11

नहीं रहता। क्योंकि चारित्र का अर्थ है—आत्मा मे प्रविष्ट कर्मसमूह को निकालने वाला, अर्थात् आत्मभवन मे निवसित कर्मसमूह को खाली करने वाला।[1] इससे यह भलीभांति स्पष्ट हो गया है कि चारित्र तभी तक है, जब तक कर्मो का प्रवाह प्रवहमान है। जिस समय जीव—आत्मारूपी सरोवर कर्मरूपी पानी से सर्वथा खाली हो जाता है, तब फिर चारित्र की अपेक्षा नहीं रहती है। अस्तु, चारित्र की आवश्यकता साधक अवस्था मे है, न कि सिद्ध अवस्था में। इसलिए चारित्र भी व्यवहार की अपेक्षा जीव का लक्षण है। तप चारित्र का ही भेद है, इसलिए वह भी आत्मा में सदासर्वदा नहीं पाया जाता। परन्तु ज्ञान, दर्शन और वीर्य से आत्मा में सदा-सर्वदा पाए जाते हैं। इसलिए वीर्य और उपयोग को आत्मा का निश्चय रूप से लक्षण कहा गया है। ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का आत्मा मे सदा सद्भाव रहता है। यह बात अलग है कि कर्मो के साधारण या प्रगाढ़ आवरण से आत्मज्योति का या अनंत चतुष्क का कुछ या बहुत-सा भाग आवृत हो जाए, परतु उसके अस्तित्व का सर्वथा लोप एव विनाश नही होता।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब फिर अनेक जीव अज्ञ—मूर्ख क्यो दिखाई देते हैं? यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा ज्ञानयुक्त है। ज्ञान के अभाव मे उसका अस्तित्व रह ही नहीं सकता। जैसे सूर्य की किरणे एव प्रखर प्रकाश सदा उसके साथ रहता है। जब बादल छा जाते हैं या राहु का विमान उसे प्रच्छन्न कर लेता है, तब भी रजत-रश्मियाँ उस सहस्त्ररश्मि से अलग नही होती, उनका अस्तित्त्व उस समय भी बना रहता है। परन्तु बादलों एवं राहु के विमान का कालिमामय गहरा आवरण होने से सहस्त्ररश्मि-सूर्य का प्रखर प्रकाश हमे दिखाई नही देता। इतना होने पर भी उसके अस्तित्व का पता लगता रहता है। भले ही कितने ही घनघोर बादल क्यो न छाए हों, उनमें से छन-छन कर आता हुआ मन्द-मन्द प्रकाश दिन की प्रतीति करा ही देता है। इसी तरह ज्ञानावरणीय कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं के आवरण के कारण आत्मा का अनन्तज्ञान-भानु प्रच्छन्न रहता है। कभी-कभी यह आवरण इतना गहरा हो जाता है कि आत्मा अपने पूर्व स्थान को ही भूल जाता है, अनेक जीवों की स्मरणशक्ति या जानने-पहचानने की

---

1 एयं चयरित्तकर चारित्तं होइ आहियं। उत्तरा., 28/33

ताकत बहुत कम रह जाती है। परन्तु आत्मा मे ज्ञान का सर्वथा अभाव कभी नहीं होता। उसकी थोड़ी-बहुत झलक पड़ती ही रहती है। अनन्त काल के लम्बे एवं विस्तृत जीवन में एक भी समय ऐसा नही आता कि ज्ञानदीप सर्वथा बुझ जाए। इसी कारण उसका लक्षण उपयोग बताया गया है, क्योकि वह सदा-सर्वदा आत्मा में रहता है और आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता। यह बात अलग है कि ज्ञानावरणीय कर्म के उदय एवं क्षयोपशम के कारण आत्मा में इसका अपकर्ष एव उत्कर्ष होता रहता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, तब इसका अपकर्ष दिखाई देता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में दिखाया है कि ज्ञान का अधिक भाग प्रच्छन्न हो जाने के कारण कई जीवों को इस बात का परिबोध नही होता कि मै पूर्व दिशा से आया हूँ या पश्चिम आदि दिशा-विदिशाओ से आया हूँ।

'दिसाओ' इस पद का अर्थ है—दिशाए। दिशाएं तीन प्रकार की होती है—1 ऊर्ध्वदिशा, 2 अधोदिशा और 3. तिर्यगृदिशा। ऊपर की ओर को ऊर्ध्वदिशा, नीचे की ओर को अधोदिशा और इन उभय दिशाओ के मध्य भाग को तिर्यगृदिशा कहते हैं। तिर्यगृदिशा—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा के भेद से चार प्रकार की हैं। जिस ओर से सूर्य उदित होता है, उसे पूर्वदिशा कहते हैं। जिस ओर सूर्य अस्त होता है, उसे पश्चिमदिशा कहते है। सूर्य के सम्मुख खड़े होने से बाएँ हाथ की ओर उत्तर दिशा है और दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा है। इस तरह ऊर्ध्व और अधोदिशा में उक्त चार तिर्यग् दिशाओ को मिला देने से 6 दिशाए होती हैं। इसके अतिरिक्त चार विदिशाए भी होती है, जिन्हे सूत्रकार ने 'अणुदिसाओ' पद से अभिव्यक्त किया है, जिन्हें 1. ईशान कोण, 2. आग्नेय कोण, 3. नैर्ऋत्य कोण और 4. वायव्य कोण कहते है। उत्तर और पूर्वदिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहते है। पूर्व एवं दक्षिण दिशा के बीच का कोण आग्नेय कोण के नाम से जाना—पहचाना जाता है। दक्षिण और पश्चिम का मध्य कोण नैऋत्य कोण के नाम से प्रसिद्ध है और पश्चिम तथा उत्तर दिश के बीच का कोण वायव्य कोण के नाम से व्यवहृत है। मेरु पर्वत को केन्द्र मानकर इन सभी दिशा-विदिशाओ का व्यवहार किया जाता है। इस तरह ऊर्ध्व और अधो दिशा, चार तिर्यग् दिशाए और चार विदिशाएं कुल मिलकर 2 + 4 + 4 = 10 होती है। परतु निर्युक्तिकार ने इस मान्यता से अपना भिन्न मत भी उपस्थित किया है। उन्होने सर्वप्रथम दिशा के द्रव्य और भाव दिशा ये दो भेद

किए हैं और तदनन्तर दोनों के अठारह-अठारह भेद किए हैं। अठारह द्रव्य दिशाओं का वर्णन इस प्रकार किया है—

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चार दिशाएं हैं। इन चारों के अंतराल में चार विदिशाए है। चार दिशा और चार विदिशा इन आठ के मध्य में आठ और अतर हैं। इस प्रकार ये सोलह दिशाएं बनती हैं और उक्त 16 में ऊर्ध्व और अधो दिशा, ये दो दिशाएं मिला दें तो कुल अठारह दिशाए बनती है। ये समस्त द्रव्य दिशाएं है।[1]

निर्युक्तिकार ने भाव दिशाएं भी 18 बताई हैं। मनुष्य, तिर्यञ्च, काय, वनस्पति देव और नारक इनकी अपेक्षा से भाव दिशा के 18 भेद किए हैं। यथा—मनुष्य चार प्रकार के हैं—1. सम्मूर्च्छिम मनुष्य, 2 कर्मभूमि मनुष्य, 3. अकर्मभूमि मनुष्य और 4. अंतर्द्वीपज मनुष्य। तिर्यञ्च के भी 4 भेद होते हैं = 1. द्वीन्द्रिय, 2. त्रीन्द्रिय, 3. चतुरिन्द्रिय और 4. पञ्चेन्द्रिय। काय के भी चार भेद हैं—1. पृथ्वीकाय, 2. अप्काय, 3 तेजस्काय और 4. वायुकाय। वनस्पति भी चार तरह की होती है—1 अग्रबीज, 2 मूलबीज, 3. स्कंधबीज और पर्वबीज। इस तरह चतुर्विध मनुष्य, चतुर्विध तिर्यञ्च, चतुर्विध काय और चतुर्विध वनस्पति कुल मिलाकर 4 + 4 + 4 + 4 = 16 भेद हुए और उक्त सोलह में 1 नारक और 2. देव मिलाने से 18 भेद होते हैं। इन सबको भाव-दिशा कहा है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि कर्मो से आबद्ध जीव इन्ही योनियों में यत्र-तत्र परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए इनको भाव-दिशा कहा है।[2]

'अण्णयरीओ वा दिसाओ' का अर्थ है—अन्यतर दिशा से। इसका तात्पर्य इतना

---

1 जत्थ य जो पण्णवओ, कस्स वि साहइ दिसासु य णिमित्त।
जत्तोमुही य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा॥
दाहिण-पासंमि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेण।
एयासिमन्तरेण अण्णा चत्तारि विदिसाओ॥
एयासि चेव अट्ठण्हमतरा अट्ठ हुति अण्णाओ।
सोलस-सरीर उस्सय बाहल्ला सववतिरिय दिसा॥
हेट्ठापायतलाणं अहोदिसा सीसउवरिया उड्ढा।
एया अट्ठारसवि, पण्णवादिसा मुणेयव्वा॥ —आचारांग निर्युक्ति, गाथा 51-54

2. मणुया तिरिया काया तहग्गबीया चउक्कगा चउरो।
देवा नेरइया वा अट्ठारस होंति भावदिसा॥ —आचारांग निर्युक्ति गाथा, 60

ही है कि पूर्व-पश्चिम आदि उक्त दिशाओं मे से किसी भी एक दिशा से आया हूँ। उक्त वाक्य से शास्त्रकार ने पुन. उन सभी दिशाओ की ओर समुच्चय रूप से संकेत कर दिया है। या यो भी कह सकते हैं कि 'उक्त समस्त दिशाओं के बीच किसी भी दिशा से' इस भाव को प्रस्तुत वाक्य से अभिव्यक्त किया है।

'आगओ अहमसि' वाक्य का अर्थ है—मै आया हूँ। सूत्रकार ने उक्त पदो को उपन्यस्त करके जैनदर्शन की आत्मा-सबंधी मान्यता की ओर सकेत कर दिया है। जैनदर्शन आत्मा को अनन्त और लोक के एक देश में स्थित या संसारी आत्मा को शरीर-परिमाण मानता है। कुछ दार्शनिक आत्मा को एक और सर्वव्यापक मानते हैं। वस्तुत ऐसा है नहीं, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि 'मैं आया हू, यदि ऐसा मान लिया जाए कि दुनिया में एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापक है तो "मै किस दिशा से आया हूँ तथा किस दिशा या गति मे जाऊंगा?" ऐसा प्रयोग घट नही सकता। फिर पुनर्जन्म एव बंध-मोक्ष, सुख-दु.ख आदि अवस्थाएं भी घटित नही हो सकेगी। क्योकि जब आत्मा सर्वव्यापक है तो वह नारक, देव, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि सभी गतियो में स्थित है, फिर एक गति का आयुष्य पूर्ण करके दूसरी गति मे जाने की बात एव जन्म-मरण की बात युक्ति-संगत प्रतीत नही होती। जब वह सब जगह व्याप्त है, तब तो वह बिना मरे या जन्मे ही यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां जाना चाहे, पहुँच जाएगा। न उसे गति करने की आवश्यकता है और न अन्य क्रिया करने की ही ज़रूरत है। परन्तु ऐसा होता नही है। व्यवहार मे भी हम स्वय चलकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते-आते हैं। यही स्थिति पुनर्जन्म के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। ससारी आत्मा कार्मण शरीर के साधन से एक गति से दूसरी गति की यात्रा तय करती है। इससे स्पष्टत· प्रमाणित होता है कि आत्मा सर्वव्यापक नही, देशव्यापक है। वह लोक के एक देश में स्थित है या यों भी कह सकते है कि ससारी आत्मा अपने शरीर-परिमाण स्थान में स्थित है और मुक्त आत्माए सिद्धशिला मे—जो 45 लाख योजन की लम्बी-चौडी है और जिसकी एक करोड़ बयालीस लाख छत्तीस हजार तीन सौ उनपचास योजन के कुछ अधिक परिधि है, उसके एक गाऊ (कोस), अर्थात् दो मील के ऊपर के छठे हिस्से मे लोक के अन्तिम प्रदेश को स्पर्श किए हुए—स्थित है। इस तरह सिद्ध या ससारी कोई भी आत्मा समस्त लोकव्यापी नहीं; बल्कि लोक के एक देश में स्थित है।

जैनदर्शन ने भी संसार में स्थित सर्वज्ञ एवं सिद्धों की आत्मा को एक अपेक्षा से सर्वव्यापक माना है। वह अपेक्षा यह है कि जब केवल ज्ञानी के आयुष्य के अन्तिम भाग में वेदनीय कर्म सबसे अधिक और आयुष्य कर्म थोड़ा रह जाता है, तो उस समय उक्त दोनों कर्मों—वेदनीय और आयुष्य कर्म में सन्तुलन लाने के लिए वे केवली समुद्घात करते हैं। उस समय वे पहले समय मे अपने आत्मप्रदेशो को दण्डाकार फैलाते हैं, दूसरे समय में उन्हें कपाट के आकार में बदलते हैं, तीसरे समय में मन्थनी के रूप मे अपनी आत्मा को फैलाते है और चौथे समय मे वे अपने आत्म-प्रदेशों को सारे लोक मे फैला देते है। उनके आत्म-प्रदेश लोक के समस्त आकाश-प्रदेशो को स्पर्श कर लेते हैं, पाचवें समय मे वे पुनः अपने आत्म-प्रदेशो को समेटने लगते हैं और उन्हे मथनी की स्थिति मे ले आते है, छठे समय मे फिर से कपाट और सातवे समय मे दड के आकार मे ले आते है एवं आठवे समय में अपने शरीर में स्थित हो जाते है। यह समुद्घात सभी सर्वज्ञ नहीं करते, वे ही केवल ज्ञानी करते है, जिनका वेदनीय आयुष्य कर्म से अधिक रह गया है, और उसे थोड़े से समय मे ही क्षय करना है। इस तरह वे अपने आत्म-प्रदेशों को लोक में सर्वत्र फैला देते हैं और तुरन्त समेट भी लेते हैं। इस अपेक्षा से वे सर्वव्यापी भी है, परन्तु वस्तुतः वे भी सदा-सर्वदा के लिए सर्वव्यापी नहीं है।[1]

सर्वज्ञ एव सिद्धो को एक दूसरी अपेक्षा से भी सर्वव्यापक माना गया है। वह है—ज्ञान की अपेक्षा। क्योंकि वे तीनों लोक एव तीनों काल मे स्थित सभी द्रव्यों को जानते-देखते है। लोक का एक प्रदेश भी ऐसा नहीं है, जिसे वे नही जानते हो। अस्तु, ज्ञान की अपेक्षा वे सर्वव्यापक हैं, अर्थात् समस्त लोक के द्रव्यों एवं भावो को

1 केवलीण चत्तारि कम्मसा अपलिक्खीणा भवंति, तजहा वेयणिज्ज आउयं, णामं, गुत्त सव्वबहुए से वेयणिज्जे कम्मे भवइ, सव्वत्थोवे से आउए कम्मे भवइ, विसम सम करेइ बधेणेहि ठिईहि य, विसमसमकरणयाए बधेणेहि ठिईहि य एव खलु केवली समोहणति एव खलु समुग्घाय गच्छन्ति। —उववाई सूत्र, सिद्ध स्वरूप 40
पढमे समए दडं करेइ, बिइए समए कवाड करेइ, तइए समय मथ करेइ, चउत्थे समए लोयं पूरइ, पचमे समए लोय पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथ पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाड साहरइ, अट्ठमे समये दंड पडिसाहरइ, तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ।
—उववाई सूत्र, वही।

जानते—देखते हैं। परन्तु आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से तो वे भी एक देशव्यापी है, क्योकि आत्म-प्रदेशों की अपेक्षा से आत्मा को सर्वव्यापी मानने से बन्ध एवं मोक्ष नहीं घट सकता। फिर तो वह संसार एव मोक्ष में सर्वत्र स्थित रहेगा ही, तब उसे मुक्ति पाने के लिए त्याग-तप एव धर्म-कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। अत· आत्मा सर्वव्यापक मानना युक्तिसगत एवं अनुभवगम्य नही कहा जा सकता है।

आत्मा को एक मानना भी यथार्थ से परे है, क्योकि आत्मा को एक मान लेते हैं, तो फिर संसारी जीवो मे जो कर्मजन्य विभिन्नता दृष्टिगोचर हो रही है, वह नहीं होनी चाहिए। ससार में परिलक्षित होने वाले अनन्त-अनन्त जीवो की आत्मा एक है, तो फिर कोई सुखी, कोई दु खी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई रोगी, कोई स्वस्थ, कोई कमज़ोर, कोई ताकतवर, कोई दुबला, कोई भारी शरीर वाला दिखाई देता है, यह भेद भी नहीं रहना चाहिए। फिर तो एक के सुखी होते ही सारा संसार सुखी हो जाना चाहिए एव एक के दु·खी होते ही सर्वत्र दुःख की काली घटाएं छा जानी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नही। व्यवहार में सबके सुख-दुःख अलग-अलग दिखाई देते है। एक के सुखी होने पर सारा ससार तो क्या, सारा गांव भी सुखी नहीं होता और एक के दु·खी होने पर सभी मुसीबत एव वेदना के दलदल मे नहीं धंसते। जगत् के सभी जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुरूप सुख-दु·ख का संवेदन करते हैं। अतः सभी आत्माएं एक नहीं, व्यक्तिश· विभिन्न है, अनेक हैं, अनंत है।

'मै आया हूँ' प्रस्तुत वाक्य से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जैनदर्शन एकांत रूप से आत्मा को एक एव सर्वव्यापक नही मानता है। सभी आत्माएं पृथक्-पृथक् हैं, सबका अपना स्वतत्र अस्तित्व है और लोक के एक देश में स्थित हैं। इसी कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा सकती है। यदि आत्मा एक एव सर्वव्यापक हो, तब तो एक आत्मा के चलने पर सभी चलने लगेगी और एक के ठहरने पर सभी स्थित हो जाएगी। इस तरह सासारिक आत्माओ में होने वाला गमनागमन एवं हरकतें ही बद हो जाएगी और फिर 'मै आया हू' आदि शब्दो का प्रयोग ही व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। परतु ऐसा होता नही, यह प्रयोग वास्तविक है और इसी से यह सिद्ध होता है कि आत्माए अनन्त है और लोक के एक देश मे स्थित है।

योग-दृष्टि से चिन्तन—जैन और वैदिक उभय परंपराओं में योग शब्द का प्रयोग मिलता है। शब्द-साम्यता होते हुए भी दोनों सम्पदाओं में योग शब्द के किए जाने वाले अर्थ मे एकरूपता नहीं मिलती। दोनों इसका अपने-अपने ढग से स्वतन्त्र अर्थ करते हैं। जैनदर्शन मे योग शब्द का प्रयोग मन-वचन और काया की प्रवृत्ति में किया गया है। मानसिक, वाचिक एव शारीरिक क्रिया को ही योग कहा गया है और मुमुक्षु के लिए आगमों में यह आदेश दिया गया है कि अपने मन-वचन और शरीर के योगो को अशुभ कामो से, पाप कार्यो से हटाकर शुभ कार्य में या संयम मार्ग में प्रवृत्त करे। इसे आगमिक परिभाषा मे गुप्ति और समिति कहते हैं। जैन दृष्टि से मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते है और पातञ्जल योग दर्शन में योग शब्द का समाधि अर्थ किया है। पातञ्जल योगदर्शन वैदिक सप्रदाय का योग विषयक सर्वमान्य ग्रथ है। प्रस्तुत ग्रथ मे योग की परिभाषा करते हुए पतञ्जलि ने लिखा है—"चित्त की वृत्तियो का निरोध करना अथवा उनकी प्रवृत्ति को रोकना योग है।"[1]

दोनो परम्पराओं की मान्य परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन मे योग शब्द का प्रयोग चित्तवृत्ति के निरोध मे नही, बल्कि मन-वचन एव शरीर के व्यापार मे किया गया है। इस त्रियोग मे चितन-मनन की प्रधानता रहती है। इस योगपद्धति से यदि प्रस्तुत सूत्र के आध्यात्मिक रहस्य पर गहराई से सोचा-विचारा एव चितन-मनन किया जाए तो साधना के क्षेत्र मे इस सूत्र का बहुत महत्त्व बढ जाता है। मुमुक्षु के लिए यह सूत्र बहुत ही उपयोगी है।

प्रस्तुत सूत्र के वर्णनक्रम से कि सूत्रकार ने सर्वप्रथम पूर्वादि चार दिशाओ का और तदनतर ऊर्ध्व और अधो इन दो दिशाओ का और अत में विदिशाओं का क्रमश वर्णन किया है। पूर्व आदि सभी दिशाओं का व्यवहार मेरु पर्वत को केद्र मानकर किया जाता है, परंतु इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपनी अपेक्षा से भी चितन कर सकता है। जब ध्यानस्थ व्यक्ति एक पदार्थ पर दृष्टि रखकर मानसिक चितन करता है, तब वह अपनी नाभि को केन्द्र मानकर सोचता है कि मै पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूँ। इस तरह चितन-मनन में योगो की प्रवृत्ति होने पर मन में एकाग्रता आती है और इससे आत्मा में विकास होने लगता है और चितन की

---

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोध पातञ्जल योगदर्शन 1/2

गहराई में गोते लगाते-लगाते ध्यानस्थ आत्मा को विशिष्ट बोध भी हो जाता है। यदि चितन-मनन का प्रवाह एक रूप से निर्बाध गति से सतत चलता रहे और विचारो मे स्वच्छता एवं शुद्धता बनी रहे तो उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है कि मै किस दिशा से आया हूँ। फिर उससे यह रहस्य छिपा नही रहता और दिशा-सम्बन्धी आगमन के रहस्य का आवरण अनावृत होते ही उसकी आत्मा अपने स्वरूप मे रमण करने लगती है, साधना एव ध्यान या चितन-मनन में सलग्न हो जाती है। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मानसिक एवं वैचारिक चिन्तन के लिए बडा ही महत्त्वपूर्ण है। इससे विचारो मे, चिन्तन मे एवं साधना के प्रवृत्ति-क्षेत्र में एकाग्रता एव एकरूपता आती है, ज्ञान का विकास होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि ससार मे ऐसे भी अनेक जीव है, जिनको ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता के कारण इस बात का परिबोध नही होता कि मै पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूं। ऐसे जीवों को 'किस दिशा से आया हू' इसके अतिरिक्त और भी जिन अनेक बातो का परिज्ञान नही होता है, उनका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते है—

इस सूत्र के आध्यात्मिक अर्थ आचार्य शिवमुनि जी द्वारा प्राप्त हुए है। वे उद्देशक के अन्त मे देखिये।

मूलम्—एवमेगेसि णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी? के वा इओचुए इह पेच्चा भविस्सामि?॥4॥

छाया—एवमेकेषां नो ज्ञात भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिक , कोऽहमासम्? को वा इतश्च्युत इह प्रेत्य भविष्यामि?

पदार्थ—एवमेगेसिं—इसी प्रकार किन्ही जीवो को। **णो णायं भवइ**—यह ज्ञान नहीं होता। **मे आया**—मेरी आन्मा। **उववाइए अत्थि**—औपपातिक—उत्पत्तिशील है। **आया, मे आया**—मेरी आत्मा। **उववाइए नत्थि**—उत्पत्तिशील-जन्मान्तर मे संक्रमण करने वाली नहीं है। **के अहं आसी**—मैं (पूर्व भव में) कौन था? **वा**—अथवा। **इओ चुए**—यहा से च्युत हो कर, अर्थात् यहा के आयुष्कर्म को भोग कर। **इह**—इस

संसार में। **पेच्चा**—परलोक, जन्मान्तर में। **के भविस्सामि**—क्या बनूगा?

मूलार्थ—इसी प्रकार जैसा कि पूर्व सूत्र मे कहा गया है कि किन्हीं जीवो को इस बात का परिबोध—ज्ञान नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक अर्थात् जन्मान्तर में एक योनि को छोड़कर दूसरी योनि मे उत्पन्न होने वाली है या नहीं? मै इस जन्म के पूर्व कौन था? यहा से मरकर भविष्य मे क्या बनूगा, अर्थात् किस गति मे जन्म ग्रहण करूगा?

हिन्दी-विवेचन

आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाले दर्शनो का यह विश्वास है कि ससारी आत्मा अनादि काल से कर्म से आबद्ध होने के कारण अनन्त-अनन्त काल से जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान है। कर्म के आवरण के कारण ही यह अपने अन्दर स्थित अनन्त शक्तियो के भण्डार को देख नहीं पाती है। कई एक आत्माओं पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण कभी-कभी इतना गहरा छा जाता है कि उन्हे अपने अस्तित्व तक का भी परिबोध नही होता। उस समय वह यह भी नही जानता कि मैं उत्पत्तिशील एक गति से दूसरी गति मे जन्म लेने वाला, विभिन्न योनियों मे विभिन्न शरीरो को धारण करने वाला हूँ या नहीं? इस जन्म के पहले भी मेरा अस्तित्व था या नहीं? यदि था तो मै किस योनि या गति मे था? मै यहां से अपने आयुष्य कर्म को भोगकर भविष्य मे कहा जाऊगा? किस योनि मे उत्पन्न होऊगा? ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ आवरण से आवृत्त ये आत्माएं उक्त बातो को नही जान पाती, उक्त जीवो की इसी अबोध दशा को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे अभिव्यक्त किया है।

ससार मे दिखाई देने वाले प्राणियों में आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व है या नहीं अथवा यों कहिए कि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व का प्रश्न दार्शनिको मे पुरातन काल से चला आ रहा है। जबकि आत्मा को चेतन तो सभी मानते हैं—यहां तक कि चार्वाक जैसे नास्तिक भी उसको चेतन मानते है। परन्तु दार्शनिको मे मतभेद इस बात का है कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है या नही? कुछ विचारक पाच भूतो के मिलन से चेतना का प्रादुर्भाव मानते हैं और उनके नाश के साथ चेतना या आत्मा का नाश मानते हैं। उनके विचार में आत्मा का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नही है। परन्तु

कुछ विचारक आत्मा को पांच भूतों से अलग मानते हैं और उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। इसी विचारभेद के आधार पर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद इन दो वादों या दर्शनो की परपरा सामने आई। इन उभय वादो का विचार-प्रवाह कब से प्रवहमान है, इसका पता लगा सकना ऐतिहासिको की शक्ति से बाहर है। फिर भी आगमों एव दर्शन-ग्रंथों के अनुशीलन-परिशीलन से इतना तो स्पष्ट है कि दोनो विचारधाराए हजारो-लाखो वर्षो से प्रवहमान हैं।

यह हम देख चुके है कि नास्तिक दर्शन आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व को नही मानता है। परन्तु आस्तिक दर्शन आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इस तथ्य को भी मानते हैं कि आत्मा अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार ऊर्ध्व, अधो या तिर्यग् दिशाओ मे जन्म लेता है। स्वर्ग और नरक की निरापद—सुखद एव भयावह—दु खद पगडण्डियों को तय करता है और तप, ध्यान, स्वाध्याय एव सयम आदि आध्यात्मिक साधनों के द्वारा अनत काल से बंधते आ रहे कर्म बंधनों को समूलत- उच्छेद करके निर्वाण—मुक्ति को भी प्राप्त करता है। परन्तु नास्तिकवाद इस बात को नहीं मानते। उनकी दृष्टि मे यह शरीर ही आत्मा है। इसके नाश होते ही आत्मा का भी विनाश हो जाता है। शरीर के अतिरिक्त अपने कृत-कर्म के अनुसार स्वर्ग-नरक आदि योनियो मे घूमने वाली तथा कर्मबधन को तोड़कर मुक्त होने वाली स्वतन्त्र आत्मा का कोई अस्तित्व नही है। जैनदर्शन को यह बात मान्य नही है। यहॉ आगमो के प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणो एव आत्म-अनुभव से सिद्ध आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला सबसे बलवान प्रमाण स्वानुभूति ही है। व्यक्ति को किसी भी समय मे अपने अस्तित्व में सदेह नही होता और आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति उसे प्रतिक्षण होती रहती है। जब कोई नास्तिक व्यक्ति यह कहता है कि 'मै नही हूँ' तो उसके इस उच्चारण मे यह बात स्पष्ट ध्वनित होती है कि मेरा (आत्मा का) अस्तित्व है। 'मै नहीं हूं' इस वाक्य में 'मै' को अभिव्यक्त करने वाला कोई स्वतंत्र व्यक्ति है, क्योंकि जड़ मे 'मै' को अभिव्यक्त करने की ताकत है नही और यह केवल शरीर भी 'मै' को अभिव्यक्त नही कर सकता। यदि अकेले शरीर मे 'मैं' को अभिव्यक्त करने की शक्ति हो तो यह शरीर तो मृत्यु के बाद भी विद्यमान रहता है। परतु चेतना के

अभाव में वह अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त नही कर सकता। तो इससे स्पष्ट है कि 'मैं' को अभिव्यक्त करने वाली शरीर में स्थित शरीर से अतिरिक्त कोई शक्ति है और वही शक्ति चेतना है, आत्मा है। तो 'मैं नहीं हूं' इस वाक्य से भी आत्मा के अस्तित्व की ही सिद्धि होती है। आत्मा के अस्तित्व का स्पष्ट बोध होने पर भी उससे इन्कार करना तो ऐसा है—जैसे कि लोगो में यह ढिढोरा पीटना कि 'मेरी माता वन्ध्या है-मेरी माता वन्ध्या है' यह वाक्य सत्य से परे है, उसी तरह 'मैं नहीं हू' या 'मेरी आत्मा का अस्तित्व नहीं है' कहना भी सत्य एव अनुभव के विपरीत है।

इसके अतिरिक्त हम देखते है कि हमारे शरीर की अवस्थाए प्रतिक्षण बदलती रहती है। बाल्यावस्था से यौवनकाल सर्वथा भिन्न नज़र आता है और बुढ़ापा बाल एव यौवन दोनों कालो को ही पछाड देता है, उस समय शरीर की अवस्था एकदम बदल जाती है। शरीर में इतना बड़ा भारी परिवर्तन होने पर भी तीनों काल मे किए गए कार्यो की अनुभूति मे कोई अतर नही आता। यदि शरीर ही आत्मा है या आत्मा क्षणिक है तो शरीर के परिवर्तन के साथ अनुभूति मे भी परिवर्तन आना चाहिए। पुराने शरीर की समाप्ति के साथ-साथ पुरातन अनुभवो का भी जनाज़ा निकल जाना चाहिये। परंतु ऐसा होता नही है। तीनों काल मे शारीरिक परिवर्तन होने पर भी आत्मानुभूति मे एकरूपता बनी रहती है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनंत-अनंत भूतकाल मे अनंत बार अभिनव-अभिनव शरीरो को धारण करने पर भी आत्मा के अस्तित्व में कोई अन्तर नही आया और न भविष्य मे ही आने वाला है। जब तक रागद्वेष एव कर्मबन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक शरीरों का परिवर्तन होता रहेगा। एक काल के बाद दूसरे काल मे या एक जन्म के बाद दूसरे जन्म मे शरीर बदल जाएगा, परंतु उसके साथ आत्मा मे परिवर्तन नहीं आता। वह त्रिकाल मे एक रूप रहता है। इससे आत्मा का अस्तित्व स्पष्टत· प्रमाणित होता है। इसमें शंका—संदेह को जरा भी अवकाश नहीं है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'एवं' शब्द 'इसी प्रकार' अर्थ का बोधक है। यह पद पिछले सूत्र से सम्बद्ध है। जैसे पिछले सूत्र मे बताया गया है कि 'किन्हीं जीवो को ज्ञान नहीं होता।' उसी तरह प्रस्तुत मे भी 'एवमेगेसि' आदि वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि

कई एक जीवो को यह परिज्ञान नही होता कि 'मै उत्पत्तिशील हूँ या नही? मैं कह से आया हूं और कहा जाऊगा?' इत्यादि। उसी उद्देश्य को लेकर सूत्रकार ने प्रस्तु सूत्र में 'एव' पद का प्रयोग किया है।

'उववाइए' का अर्थ है औपपातिक। औपपातिक शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त होता है। देव और नारकी को भी औपपातिक कहते है। देव-शय्या औ नरक-कुम्भी—जिसमें देव और नारकी जन्म ग्रहण करते है—उसे उपपात कहते हैं उपपात से उत्पन्न प्राणी औपपातिक कहलाते है। उक्त व्याख्या के अनुसार औपपातिव शब्द देव और नारकी का परिचायक है। परन्तु जब उक्त शब्द की इस प्रकार व्याख्य करते है

"उपपात· प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्राति उपपातं भव औपपातिकः"

—शीलाकाचार

तो इसका अर्थ हुआ—उत्पत्तिशील या जन्मांतर मे सक्रमण करने वाला। प्रस्तु प्रकरण मे 'औपपातिक' दोनो अर्थो में प्रयुक्त किया जा सकता है। फिर भी शीलाकाचार आदि सभी टीकाकारो ने प्रस्तुत प्रकरण मे उक्त शब्द को दूसरे अर्थ में ही प्रयुक्त किया है।

प्रस्तुत सूत्र मे 'एगेसि णो णाय भवति' ऐसा उल्लेख किया गया है। इससे यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सभी जीवो को बोध नही होता, ऐसी बात नही है। बहुत से जीवो को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण इस बात क परिबोध हो जाता है कि 'मै उत्पत्तिशील हूँ'। मै अमुक गति से आया हूं और यहा र मरकर अमुक गति मे जाऊगा। मेरी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है, इत्यादि। इसरं यह प्रश्न उठता है कि जिन जीवो को उक्त बातो का परिज्ञान होता है, वह नैसर्गिक-स्वभावत होता है या किसी निमित्त या साधन विशेष से होता है। इस प्रश्न का समाधान अगले सूत्र मे किया जा रहा है—

मूलम्—से जं पुण जाणेज्जा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दि—साओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि

एवमेगेसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं॥5॥

छाया—स यत् पुनर्जानीयात् सह सन्मत्या (स्वमत्या), परव्याकरणेन अन्येषामन्तिके वा श्रुत्वा तद्यथा-पूर्वस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि यावत् अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वा आगतो अहमस्मि। एवमेकेषां यदि ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, योऽस्या दिशोऽनुदिशो वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशोऽनुदिशः सोऽहम्।

पदार्थ—से—वह ज्ञाता। **पुण**—यह पद वाक्य-सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। **संमइयाए**—सन्मति या स्वमति। **परवागरणेणं**—तीर्थंकर के उपदेश के। **सह**—साथ। **वा**—अथवा। **अण्णेसि अन्तिए सोच्चा**—तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य उपदेष्टाओ से सुनकर। **जं**—जो। **जाणेज्जा**—जानता है। **तंजहा**—वह इस प्रकार है। **पुरत्थिमाओ वा दिसाओ**—पूर्व दिशा से। **आगओ अहमंसि**—मै आया हूॅ। **जाव**—यावत्—यह पद अपठित अवशिष्ट पदों का ससूचक अव्यय है। **अण्णयरीओ**—विदिशा से। **आगओ अहमंसि**—मैं आया हूॅ। **एवमेगेसि**—इसी प्रकार किन्हीं जीवो को। **जं**—जो। **णाय**—ज्ञात। **भवति**—होता है, वह यह है कि। **मे**—मेरा। **आया**—आत्मा। **उववाइए**—औपपातिक—जन्मान्तर में संक्रमण करने वाला। **अत्थि**—है। **जो इमाओ दिसाओ**—जो अमुक दिशा। **वा**—अथवा। **अणुदिसाओ**—विदिशा मे। **एवं सव्वाओ दिसाओ**—सभी दिशाओ। **वा**—अथवा। **अणुदिसाओ**—विदिशाओ मे। **अणुसंचरइ**—भ्रमण करता है। **सोऽहं**—मै वही हॅू।

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से, तीर्थंकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मैं पूर्व दिशा से आया हूं यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हू और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी भली-भांति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हू।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञानावरणीय आदि कर्मो से आवृत्त यह आत्मा अनत काल से अज्ञान अंधकार मे भटक रही है, ससार मे इधर-उधर ठोकरे खा रही है और जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान है। किन्तु जब आत्मा शुभ विचारों मे परिणति करता है, सत्कार्य में प्रवृत्त होता है, अपने चिंतन को नया मोड देता है और साधना के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म के पर्दे को अनावृत्त करने का प्रयत्न करता है और फलस्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब आत्मा मे अपने स्वरूप को जानने-समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधना के द्वारा एक दिन वह अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करने मे सफल भी हो जाता है और वह इन सभी बातो को जान लेता है कि मै कौन हूँ? कहा से आया हूँ? और कहा जाऊंगा? इत्यादि।

आत्मा के उक्त विकास में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अतरग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के बिना आत्मा अपने आपको पहचान ही नही सकता। परतु इस स्थिति तक पहुचने मे इस अतरंग कारण के साथ कुछ बाह्य साधन या बहिरग कारण भी सहायक है। उनका सहयोग भी आत्मविकास के लिए जरूरी है। अस्तु, अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंतरग एव बाह्य दोनो निमित्तों की अपेक्षा है। दोनो साधनो की प्राप्ति होने पर अज्ञान का पर्दा अनावृत्त होने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है और उस उज्ज्वल-समुज्ज्वल ज्योति मे आत्मा अपने पूर्व भव मे किये सज्ञी पचेन्द्रिय—पशु-पक्षी एवं मनुष्य के भवों को देखने लगता है। वह भली-भाति जान लेता है कि मै पूर्व भव मे कौन था? किस योनि मे था? वहा से कब चला? इत्यादि बातो का उसे परिज्ञान हो जाता है। ज्ञान-प्राप्ति मे कारणभूत अतरग एव बहिरग साधनो का ही प्रस्तुत सूत्र मे वर्णन किया गया है। जब कि उक्त कारणों को अतरग और बहिरंग दो भागों में स्पष्ट रूप से विभक्त नहीं किया गया है। फिर भी प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान-प्राप्ति के जो साधन बताए है, वे साधन अतरग एव बहिरंग दोनो तरह के है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्राप्ति मे तीन बातो को निमित्त माना है—1. सन्मति या स्वमति, 2. पर—व्याकरण और 3 परेतर—उपदेश।

सन्मति शब्द दो पदो के सुमेल से बना है—सद्-मति। सद् शब्द प्रशंसार्थक है

और मति शब्द ज्ञान का बोधक है। साधारणतः ज्ञान प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है, क्योकि वह आत्मा का लक्षण है, गुण है। उसके अभाव में आत्मा का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। अतः सामान्यत. ज्ञान का अस्तित्व समस्त आत्माओ मे है, परतु यह बात अलग है कि कुछ आत्माओं मे सम्यक् ज्ञान है और कुछ मे मिथ्या। मति-श्रुति ज्ञान भी ज्ञान के अवान्तर भेद हैं। ये यदि सम्यग् हों तो इनसे भी आत्मा के वास्तविक तत्त्वों का परिबोध होता है, ससार एव मोक्ष के मार्ग का परिज्ञान होता है। मति-श्रुत ये सामान्य और विशेष दो प्रकार के होते हैं। परतु समान्य मति-श्रुत से, मै पूर्व भव मे कौन था, इत्यादि बातो का बोध नही होता। इसलिए सामान्य मति-श्रुत ज्ञान को 'सन्मति' नही कहते, प्रत्युत जातिस्मरण, (पूर्व जन्मो को देखने वाला ज्ञान, मति-श्रुत ज्ञान का विशिष्ट प्रकार), अवधिज्ञान, मन.पर्यवज्ञान और केवलज्ञान आदि विशिष्ट ज्ञानो का संग्राहक है और यह विशिष्ट ज्ञान सभी जीवो को नही होते है।

'सन्मति' ज्ञान-प्राप्ति का अंतरंग कारण है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम या क्षय से आत्मा को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है या यो कहिए कि ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण जितना हटता जाता है, उतना ही आत्मा में अस्तित्व रूप में स्थित ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। जब पूर्णत. आवरण हट जाता है, तो आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन विशिष्ट ज्ञानों के द्वारा आत्मा अपने स्वरूप को एव पूर्व भव मे वह किस योनि या गति मे था? जान लेता है। उक्त ज्ञान के द्वारा वह यह भलीभांति जान लेता है कि मै किस दिशा-विदिशा से आया हूँ और मेरा यह आत्मा औपपातिक (उत्पत्तिशील) है तथा जो दिशा-विदिशाओ मे परिभ्रमण करता रहा है, वह मै ही हूँ।

'संमइयाए' पद के संस्कृत में दो रूप बनते हैं—1. सन्मत्या और 2. स्वमत्या 'सन्मति' के विषय में ऊपर विचार कर चुके है। अब ज़रा 'स्वमति' के अर्थ पर सोच-विचार लें।

'स्वमति' शब्द भी स्व+मति के सयोग से बना है। स्व का अर्थ आत्मा होता है और मति शब्द ज्ञान का परिचायक है। अत. 'स्वमति' का अर्थ हुआ आत्मज्ञान। साधारणतया सम्यग् ज्ञान को आत्मज्ञान कहते है। जो ज्ञान आत्मा के ऊपर लगी कर्मरज को दूर करने में सहायक है या यों कहिए कि जो ज्ञान मोक्षमार्ग का पथ-प्रदर्शक है, तत्त्व का सही निर्णय करने में सहायक है, वह आत्मज्ञान है। इस तरह मतिज्ञान

से लेकर केवलज्ञान तक के सभी ज्ञान आत्मज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु सूत्रकार को यह सामान्य अर्थ इष्ट नहीं है। वह यहां आत्म-ज्ञान से सामान्य मति एव श्रुत ज्ञान को आत्म-ज्ञान के रूप में नहीं स्वीकार करते। क्योंकि साधारणतः ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रखते है। इसी कारण इन्हें परोक्ष ज्ञान माना है। परतु विशिष्ट ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नही रखते। जहॉ इन्द्रिय की पहुंच नही है या उनमे जहा कि रूप आदि को देखने-सुनने की शक्ति नहीं है, जातिस्मरण, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवलज्ञान से उन पदार्थो को भी आत्मा जान-देख लेता है। जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा आख आदि इन्द्रियो की सहायता के बिना केवल आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अपने सज्ञी पञ्चेन्द्रिय के किए गए पूर्व भवो का बिना किसी बाधा के अवलोकन कर लेता है। इसलिए 'स्वमति' से विशिष्ट ज्ञानो को ही स्वीकार किया जाता है। उक्त ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थो का परिज्ञान करने मे इन्द्रिय एव मन की सहायता नहीं लेनी पड़ती, इसी कारण इन विशिष्ट ज्ञानों को प्रत्यक्ष या आत्म-ज्ञान कहते है। प्रस्तुत ज्ञान से ही आत्मा को अपने स्वरूप का एव मैं किस गति एव दिशा-विदिशा से आया हूॅ, इत्यादि बातो का बोध होता है।

'सह समइयाए' इस वाक्य में व्यवहृत 'सह' शब्द सबध का बोधक है। इस शब्द से आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य सबंध अभिव्यक्त किया गया है। ऐसे प्रायः सभी दार्शनिक आत्मा मे ज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करते है, परन्तु उसका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है, इस मान्यता मे सभी दार्शनिको में एकमत नही है। वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से सर्वथा पृथक् मानता है। वह कहता है कि 'आत्मा आधार है और ज्ञान आधेय है। ज्ञान गुण और आत्मा गुणी है। अतः वह आत्मा मे समवाय-सबंध से रहता है। क्योकि ज्ञान पर पदार्थ से उत्पन्न होता है। जैसे—घट के सामने आने पर आत्मा का घट से सबध होता है, तब आत्मा को घट का ज्ञान होता है और घट के हटते ही ज्ञान भी चला जाता है। इस तरह ज्ञान पर-पदार्थ से उत्पन्न होता है और समवाय-सबध से आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है। इस तरह वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आत्मा से पृथक् मानता है, पर-पदार्थ से उत्पन्न होने वाला स्वीकार करता है।

परन्तु जैनदर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है और उसे आत्मा का स्वभाव या धर्म मानता है और यह भी स्वीकार करता है कि प्रत्येक आत्मा मे अनंत ज्ञान

अस्तित्व—सत्ता रूप से सदा विद्यमान रहता है। यह बात अलग है कि अनेक जीवों में ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उसकी अनत ज्ञान की शक्ति प्रच्छन्न रहती है। भले ही आत्मा की ज्ञान-शक्ति पर कितना भी गहरा आवरण क्यो न आ जाए, फिर भी वह सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सकता, अनंत-अनंत काल के प्रवाह में एक भी समय ऐसा नही आता कि आत्मा का ज्ञान-दीप सर्वथा बुझ गया हो या बुझ जाएगा। वह सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहता है। हा, कभी उसका प्रकाश मद, मदतर और मंदतम हो सकता है, पर सर्वथा बुझ नही सकता। उसका अस्तित्व आत्मा में सदा बना रहता है। वह आत्मा मे समवाय-संबंध से नहीं, बल्कि तादात्म्य-सबध से है। समवाय संबध से स्थित ज्ञान समवाय-सम्बन्ध के हटते ही नाश को प्राप्त हो जायगा। परंतु ऐसा होता नही है और वस्तुत· देखा जाए तो ज्ञान का आत्मा के साथ समवाय-संबध घट भी नही सकता। क्योकि ज्ञान पर-स्वरूप नहीं, स्व-स्वरूप है। पर-पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानना अनुभव एव प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरुद्ध है। यदि ज्ञान पर-पदार्थ से ही पैदा होता है, तो फिर वह पदार्थ के हट जाने पर या सामने न होने पर उक्त पदार्थ का ज्ञान नही होना चाहिए। परंतु, ऐसा होता तो है। घट के हटा लेने पर भी घट का बोध होता है। घट के साथ-साथ घट-ज्ञान आत्मा में से नष्ट नहीं होता, उसकी अनुभूति होती है। कई बार घट सामने नही रहता, फिर भी घट का ज्ञान तो होता ही है। यदि वह पर-पदार्थ से ही उत्पन्न होता है, तो फिर घट के अभाव मे घट का ज्ञान नही होना चाहिए और विशिष्ट साधको को विशिष्ट ज्ञान से अप्रत्यक्ष मे स्थित पदार्थो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह भी नहीं होना चाहिए। विशिष्ट ऋषि-महर्षियो को योगि-प्रत्यक्ष ज्ञान वैशेषिक दर्शन के विचारको ने भी माना है, जो उनके विचारानुसार गलत ठहरेगा। परंतु ऐसा होता है और वैशेषिक स्वयं मानते भी है, अत· आत्मा से ज्ञान को सर्वथा पृथक् एव उसमे समवाय-संबंध से मानना युक्तिसगत नहीं है। ज्ञान आत्मा मे तादात्म्य-सबध से सदा विद्यमान रहता है, इसी बात को 'सह' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

२. पर-व्याकरण

ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा कारण पर-व्याकरण है। प्रस्तुत सूत्र मे 'पर' शब्द तीर्थकर भगवान का बोधक है तथा 'व्याकरण' शब्द का अर्थ उपदेश है। अत· तीर्थकर

भगवान के उपदेश से भी किन्हीं जीवो को ज्ञान की प्राप्ति मे तीर्थकर भगवान का उपदेश निमित्त कारण बनता है, इसलिए ऐसे ज्ञान की प्राप्ति मे 'पर-व्याकरण' यह कारण माना गया है। वस्तुत· ज्ञान की प्राप्ति का मूल कारण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम भाव ही है। फिर भी उस क्षयोपशम भाव की प्राप्ति में जो सहायक सामग्री अपेक्षित होती है या जिस साधन के सहयोग से जीव ज्ञानवरणीय कर्म का क्षयोपशम करता है, उस साधन को भी ज्ञान-प्राप्ति का कारण मान लिया जाता है। 'पर-व्याकरण' ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम मे सहायक होता है, तीर्थकरो का उपदेश सुनकर अपने स्वरूप को समझने की भावना उद्‌बुद्ध होती है, चितन में गहराई आती है, इससे अज्ञान का आवरण हटता है, आत्मा मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होती है और वह उसके उज्ज्वल प्रकाश मे अपने स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करती है, अत· 'पर-व्याकरण' को ज्ञान-प्राप्ति का कारण स्वीकार किया गया है।

'पर-व्याकरण' ज्ञान-प्राप्ति का बहिरग साधन माना जाता है। तीर्थकर भगवान के उपदेश के सहयोग से जीव अपनी पूर्व-भव-सबधी बातो को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि मै पूर्व-पश्चिम आदि किस दिशा-विदिशा से आया हूँ, इत्यादि। पर-व्याकरण—तीर्थकर भगवान के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करके साधनापथ पर गतिशील हुए व्यक्तियो के सबध मे आगमो मे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है। ज्ञाता धर्मकथांग मे श्री मेघ कुमार मुनि का वर्णन आता है। मेघ कुमार मुनि दीक्षा की प्रथम रात्रि को ही मुनियो की ठोकरे बार-बार लगने से आकुल-व्याकुल हो उठे और उस रात्रि मे प्राप्त वेदना से घबराकर उन्होने यह निर्णय भी कर लिया कि मैं प्रात सयम का परित्याग करके अपने राजभवन मे पुन लौट जाऊगा। सूर्योदय होते ही मुनि मेघ कुमार सयम-साधना में सहायक भण्डोपकरण वापस लौटाने के लिए भगवान महावीर के चरणो मे पहुंचे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ने मेघ मुनि के हृदय में मच रही उथल-पुथल को जान रहे थे, अत उन्होंने वह कुछ कहे उसके पूर्व ही उसके मन में चल रहे सारे विचारों को अनावृत्त करके उसके सामने रख दिया और उसे सयम पथ पर दृढ करने के लिए उसके पूर्वभव का वृत्तात सुनाते हुए बताया कि हे मेघ! तुमने हाथी के भव मे जगल मे प्रज्वलित दावानल के समय अपने द्वारा तैयार किए मैदान में अपने पैर

के नीचे आए हुए खरगोश की रक्षा करने के लिए जब तक दावानल शांत नही हुआ, तब तक अपने पैर को उठाए रखा, तीन पैरों पर ही खड़ा रहा। जब दावानल बुझ गया, सब पशु-पक्षी जगल में चले गए, तब तुमने अपने पैर को नीचे रखा। पर वह पैर इतना अकड गया था कि तू धडाम से नीचे गिर पडा और थोडी देर में शुभ भावो के साथ जीवन को समाप्त करके श्रेणिक के घर जन्मा। हे मेघ! कहा खरगोश की रक्षा—दया के लिए घंटो पैर को ऊँचे रखने का कष्ट—जिसके कारण तुम्हें अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा और कहा साधुओं के चरण स्पर्श से हुआ कष्ट, जरा सोच-समझ कि तू क्या करने जा रहा है? भगवान के द्वारा अपना पूर्व भव जानकर मेघ मुनि की भावना परिवर्तित हो गई। वह चिन्तन-मनन मे गोते लगान लगा और विचारो में जरा गहरा उतरने पर उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। भगवान द्वारा बताया गया वर्णन साफ-साफ दिखाई देने लगा। इसी तरह भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शन सेठ को भी जाति-स्मरण ज्ञान हो गया था। इसी तरह 'पर-व्याकरण' से होने वाले ज्ञान के अनेको उदाहरण शास्त्रो मे उल्लिखित हैं।

३. परेतर उपदेश

ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन 'परेतर-उपदेश' है। वैसे 'पर' और 'इतर' समानार्थक शब्द समझे जाते है। परतु प्रस्तुत सूत्र मे 'पर' शब्द तीर्थकर भगवान का परिचायक है और 'इतर' अन्य का परिबोधक है। अत. इसका अर्थ हुआ—तीर्थकर भगवान से अतिरिक्त ज्ञान वाले निर्ग्रन्थ मुनि, यति, श्रमण आदि महापुरुष 'परेतर' है। तीर्थकर पद से रहित केवलज्ञानी, मन.पर्यवज्ञानी या अवधिज्ञानी आदि विशिष्ट ज्ञानी एव पूज्य पुरुषो के उपदेश से भी अनेक ससारी जीवो का अपने पूर्वभव का भी परिबोध होता है। इस प्रकार के बोध मे 'परेतर-उपदेश' कारण बनता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे 'परेतर-उपदेश' को ज्ञान-प्राप्ति के अन्य साधनो मे समाविष्ट किया गया है।

'परेतर-उपदेश' भी ज्ञान-प्राप्ति मे बहिरंग कारण है। इस साधन से कई जीवो को अपने पूर्व भव का एव आत्म-स्वरूप का भलीभाति बोध हो जाता है। आगमो में इस तरह ज्ञान प्राप्त करने के कई उदाहरण आते है। ज्ञाता धर्मकथाग मे लिखा है कि मल्लि राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिए 6 राजकुमार एक साथ चढ़कर आ जाते हैं और शहर को चारों तरफ से घेर लेते है। अन्त में उन्हें प्रतिबोध देने के लिए

मल्लि राजकुमारी ने अपने आकार की एक स्वर्णमयी पुतली बनवाई और छहो राजकुमारों को बुलाकर उन्हें ससार का स्वरूप समझाकर तथा अपनी पूर्वभव सम्बन्धी मित्रता का परिचय देकर प्रबोधित किया। राजकुमारी के उपदेश से छहों राजकुमार अपने स्वरूप का चिन्तन करने लगते है और फलस्वरूप उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो जाता है। इस तरह तीर्थकर भगवान के अतिरिक्त अन्य अतिशय ज्ञानी के उपदेश से भी प्राप्त होनेवाले पूर्वभव के ज्ञान के अनेको उदाहरण आगमों मे मिलते है। अस्तु, यह साधन भी ज्ञान-प्राप्ति मे कारण है।

'सोऽहम्' पद का अर्थ होता है—वह मै हूँ। पहले बताया जा चुका है कि सन्मति या स्वमति, पर-व्याकरण और परेतर-उपदेश इन तीनो कारणो से कई जीवो को यह बोध प्राप्त होता है कि द्रव्य एव भाव दिशा-विदिशाओ में भ्रमण करने वाला यह मेरा आत्मा ही है। 'स·' से पूर्वादि दिशाओ मे भ्रमणशील इस अर्थ का बोध होता है और 'अहम्' पद 'मै' अर्थ का परिचायक है। 'स·+अहम्' दोनो पदों का संयोग करने से 'सोऽहम्' बनता है और उसका अर्थ होता है—दिशा-विदिशाओं में भ्रमणशील वह मैं ही हूँ। इसी भाव को सूत्रकार ने 'सोऽहम्' शब्द से अभिव्यक्त किया है।

'सोऽहम्' मे पठित 'स और अहम्' दोनो पदों को आगे-पीछे करने से एक अभिनव अर्थ का भी बोध होता है। वह इस प्रकार है—'अहं स·' का अर्थ है, मै वह हूँ और 'सोऽहम्' शब्द का अर्थ है, वह मै हूँ। दोनो अर्थो को संकलित करने पर फलितार्थ यह निकलता है कि 'जो मै हूँ वही वह है और जो वह है वही मैं हूँ।' इस फलितार्थ से आत्मा और परमात्मा के अभेद का बोध होता है। प्रस्तुत प्रसग मे 'स:' शब्द से समस्त कर्म-बन्धन से रहित, स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित सिद्ध भगवान की आत्मा का ग्रहण किया गया है और 'अहम्' पद कर्मो से आबद्ध संसारी आत्मा का परिचायक है। शुद्ध आत्मस्वरूप की अपेक्षा से दोनों एक समान गुण वाले है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि एक तो (सिद्ध भगवान) सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उत्कट साधना से समस्त कर्म बन्धनो को तोडकर जन्म-जरा और मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए है, कर्म एव कर्मजन्य दु खो से छुटकारा पा चुके है और दूसरे (ससारी जीव) कर्म-बन्धन से आबद्ध है, ऊर्ध्व एवं अधोगति मे परिभ्रमणशील है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि सिद्ध कर्ममल से रहित है और ससारी आत्माए अभी तक कर्ममल युक्त हैं। परंतु कर्मबन्ध से रहित और कर्मबन्ध सहित जीवों के

आत्म-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि सभी आत्मा से ही परमात्मा बनते है। परमात्मा कोई आत्मा से अलग शक्ति नहीं है। इस ससार में परिभ्रमण करने वाली आत्माओं ने ही विशिष्ट साधना के पथ पर गतिशील होकर आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त किया है और प्रत्येक आत्मा मे उस पद को प्राप्त करने की सत्ता है। परंतु, वही आत्मा परमात्मा बन सकती है, जो साधना के महारथ पर गतिशील होकर राग-द्वेष एव कर्मबन्धन को तोड़ डालती है। प्रत्येक आत्मा सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना-साधना करके सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है।

तो निष्कर्ष यह निकला कि 'स. और अह' में कोई मौलिक एवं तात्त्विक भेद नहीं है। 'अह' से ही विकास करके व्यक्ति 'सः' बनता है या यों कहिए कि आत्मा ही अपने जीवन का विकास करके परमात्म पद को प्राप्त करता है। इसलिए कहा गया कि मैं 'सिर्फ मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मै 'वह' हूँ जो 'वह है' अर्थात् मेरा स्वरूप परमात्मा के स्वरूप से भिन्न नही है। कुछ दार्शनिको-विचारकों ने यह माना है कि आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व है और दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। एक भक्त और दूसरा भगवान् है, एक उपासक है और दूसरा उपास्य है। एक सेवक है और दूसरा स्वामी है और यह भेद सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। आत्मा सदा आत्मा ही बना रहेगा, वह भक्त बन सकता है, परन्तु भगवान् नही बन सकता। वह भगवान् की भक्ति करके उसकी कृपा होने पर स्वर्ग के सुख एव ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईश्वरत्व को नहीं पा सकता। कुछ वैदिक विचारको ने यह तो माना कि वह ब्रह्म मे समा सकता है और ब्रह्म की इच्छा होने पर फिर से ससार में परिभ्रमण कर सकता है। परन्तु स्वतन्त्र रूप से आत्मा में ईश्वर बनने की सत्ता किसी भी वैदिक परम्परा के विचारकों ने स्वीकार नहीं की। उन्होंने सदा यही कहा कि 'तू तू है और वह वह है' तथा 'यह 'तू और वह या मै और वह या आत्मा और परमात्मा' का भेद सदा बना रहेगा। परन्तु जैनदर्शन ने इस बात पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन किया है। जैनो ने स्पष्ट रूप से कहा कि आत्मा का स्वरूप न तो परमात्म-स्वरूप से सर्वथा भिन्न ही है और न परमात्मा या ब्रह्म का अंश ही है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। कर्म से आबद्ध होने के कारण वह परमात्मा से भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु उसमें भी परमात्मा बनने की शक्ति है। इसलिए जैनों ने स्पष्ट भाषा में कहा

कि हे आत्मन्—'तू तू नहीं, तू वह है' अर्थात् 'तू' केवल ससार मे परिभ्रमण करने वाला आत्मा ही नहीं है, बल्कि पुरुषार्थ के द्वारा कर्म-बन्धन को तोड़कर परमात्मा भी बन सकता है। इसलिए तू अपने को उस रूप में देख। यही 'अहम्' से 'सः' बनने का या आत्मा से परमात्मा बनने की साधना का या 'सोऽहम्' का चिन्तन-मनन एव आराधना करने का एक मार्ग है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा में परमात्मा बनने की योग्यता है। यथोचित साधन-सामग्री के उपलब्ध होने पर आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ करके परमात्म पद को पा सकता है। आगमो मे बड़े विस्तार के साथ साधनों का वर्णन किया गया है। साधनों के लिए अनेक साधन बताए गए है। उन साधनो में 'सोऽह' का ध्यान, चिन्तन-मनन, अर्थ-विचारणा एवं मन्त्रजाप भी एक साधन है। साधना के पथ पर गतिशील साधक को आत्मविकास का प्रशस्त पथ दिखाने के लिए 'सोऽह' का चिन्तन एवं ध्यान उज्ज्वल प्रकाश स्तम्भ है। जिसके ज्योतिर्मय आलोक मे साधक आत्मविकास के पथ मे साधक एव बाधक तथा हेय एवं उपादेय सभी पदार्थो को भलीभांति जान लेता है और हेय उपादेय के परिज्ञान के अनुसार हेय पदार्थो से निवृत्त होकर साधना मे, सयम मे प्रवृत्त होता है, सयम में सहायक पदार्थो एवं क्रियाओ को स्वीकार करके सदा आगे बढता है। इस प्रकार यथायोग्य विधि से 'सोऽह' की विशिष्ट भावना का चिन्तन करता हुआ साधक निरन्तर आगे बढता है, ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करता चलता है ओर एक दिन जाति-स्मरण ज्ञान, अवधि ज्ञान या मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का समूलत' क्षय करके अपनी आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान—केवल ज्ञान को प्रकट कर लेता है। जाति स्मरण ज्ञान से पूर्व भव मे निरन्तर किए गए सज्ञी पञ्चेन्द्रिय के सख्यात भवो को अवधि एवं मन.पर्यव ज्ञान से सख्यात और असख्यात भवों को तथा केवल ज्ञान से अनन्त-अनन्त भवों को देख-जान लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान-प्राप्ति के तीन कारणो का निर्देश किया गया है—1. सन्मति या स्वमति, 2. पर-व्याकरण और 3 परेतर-उपदेश। उक्त साधनो से मनुष्य अपने पूर्वभव की स्थिति को भली-भाति जान लेता है और उसे यह भी बोध हो जाता है कि इन योनियो मे एवं दिशा-विदिशाओं मे भ्रमणशील मैं ही हूँ। इससे उसकी साधना मे दृढता आती है, चिन्तन-मनन मे विशुद्धता आती है।

उपर्युक्त त्रिविध साधनो से जो जीव—आत्मा अपने स्वरूप को समझ लेता है, वह आत्मवादी कहा गया है। जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है और जो लोकवादी होता है, वही कर्मवादी कहा जाता है और जो कर्मवादी है, वही क्रियावादी कहलाता है। आगे के सूत्र मे इन्हीं भावों का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने कहा है—

मूलम—से आयावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी॥6॥

छाया—स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी।

पदार्थ—से—वह, अर्थात् आत्मा के उक्त स्वरूप को जानने वाला। **आयावादी**—आत्मवादी, आस्तिक है, वही। **लोयावादी**—लोकवादी है, वही। **कम्मावादी**—कर्मवादी है, वही। **किरियावादी**—क्रियावादी है।

मूलार्थ—जिस साधक ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, वही आत्मवादी बन सकता है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। जो आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर सकता है, वही आत्मा लोक के स्वरूप को स्पष्टतः समझ एव समझा सकता है। जो लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वही कर्म के स्वरूप को बता सकता है। जो कर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है, वही वास्तव मे क्रिया—आचरण के स्वरूप का वास्तविक वर्णन कर सकता है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में बताए गये साधनो से जब किन्हीं जीवो को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है तो उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान भली-भांति हो जाता है। तब वह आत्मा, आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। आत्मतत्त्व का यथार्थ रूप से विवेचन करने वाले व्यक्ति को ही आगमिक भाषा मे आत्मवादी कहा है। आचार्य शीलाक ने लिखा है—

"आत्मवादीति आत्मान वदितु शीलमस्येति"

अर्थात्—आत्मतत्त्व के स्वरूप को प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति आत्मवादी कहलाता है।

जो व्यक्ति आत्मस्वरूप का ज्ञाता है, वही लोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है, और इस क्रम से जो लोक-स्वरूप को भलीभांति जानता है, वही कर्म और

क्रिया का परिज्ञाता होता है। इस तरह एक का ज्ञान दूसरे पदार्थ का जानने मे सहायक है। जब आत्मा एक तत्त्व को भलीभांति जान लेता है, तो वह दूसरे तत्त्व के स्वरूप को भी सुगमता से समझ सकता है, क्योंकि लोक मे स्थित तत्त्व एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। आत्मा भी तो लोक में ही स्थित है, लोक के बाहर उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसी तरह लोक एव कर्म का सबध रहा हुआ है। कर्म भी लोक–संसार मे स्थित जीवो के बॅधते है। कर्म और क्रिया का सबध तो स्पष्ट ही है। इसलिए जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जान लेता है, तो फिर उससे लोक का स्वरूप, कर्म का स्वरूप एवं क्रिया का स्वरूप अज्ञात नहीं रहता। इसी आचाराग सूत्र में आगे बताया है कि जो व्यक्ति एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है–

"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ"–

वस्तु का विवेचन करने के लिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है। जब तक जिस वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान नही है, तब तक उसके सबध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। इसी कारण सूत्रकार ने पहले ज्ञान-प्राप्ति के साधन का विवेचन किया और उसके पश्चात् आत्मा, लोक, कर्म एव क्रिया के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाली आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी वक्ताओं का विवेचन किया। ज्ञान का जितना अधिक विकास होता है, व्यक्ति उतना ही अधिक आत्मा आदि द्रव्यो को स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से जानता-समझता एव परिज्ञात विषय का विवेचन एव प्रतिपादन कर सकता है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा शुभाशुभ कर्म का कर्ता एव कर्म-जन्य अच्छे-बुरे फलो का भोक्ता, असख्यात प्रदेशी, शरीरव्यापी अखण्ड, चैतन्य रूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त है। वह पर्यायो की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, तो द्रव्य की अपेक्षा से सदा अपने रूप मे स्थित रहने से नित्य भी है। वास्तव मे देखा जाए तो वह न साख्य मत के अनुसार एकात–कूटस्थ नित्य है, और न बौद्धो द्वारा मान्य एकान्त अनित्य–क्षणिक ही है। जैनदर्शन के अनुसार दुनिया का कोई पदार्थ न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य है। प्रत्येक पदार्थ मे नित्यता और अनित्यता दोनो धर्म युगपत् स्थित है। किसी भी द्रव्य मे एकान्तता को अवकाश ही

नहीं है, क्याकि प्रत्येक द्रव्य अनेक गुणयुक्त है। अत· जैनदर्शन ने अनुभव-सिद्ध परिणामी नित्यता को स्वीकार किया है। क्योंकि ज्ञानदर्शन आत्मा का गुण है और उसमे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, ज्ञानदर्शन की पर्यायें बदलती रहती हैं तथा कर्म से बद्ध आत्मा के शरीर में, मानसिक चिन्तन मे, विचारों की परिणति मे, परिणामो तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि गतियों की अवस्थाओ में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु इन सब पर्यायिक परिवर्तनो में आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित रहता है। उसके असख्यात प्रदेशो तथा शुद्ध स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही आता। इस दृष्टि से आत्मा नित्य भी और अनित्य भी, अर्थात्–परिणामी नित्य–नित्यानित्य है।

यही सापेक्ष दृष्टि आत्मा को एक और अनेक मानने तथा उसके आकार-परिमाण आदि के सबंध मे भी रही हुई है। जैनदर्शन वेदान्त-सम्मत एक आत्मा तथा नैयायिको द्वारा मान्य अनेक आत्मा के एकान्त पथ को न स्वीकार कर, वह दोनो के आशिक सत्य को स्वीकार करता है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से लोक मे स्थित अनन्त-अनन्त आत्माए समान गुण वाली हैं, सत्ता की दृष्टि से सबमे समानता है, क्योकि सभी आत्माए असख्यात प्रदेशी है, उपयोग गुण से युक्त है, परिणामी नित्य है। इसी अपेक्षा से स्थानाग सूत्र मे कहा गया है–'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। यह हुई समष्टि की अपेक्षा, परन्तु व्यष्टि की अपेक्षा से सभी आत्माएं अलग-अलग है, सबका ज्ञानदर्शन एवं उसकी अनुभूति अलग-अलग है, सबका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। ससार मे परिभ्रमणशील अनन्त-अनन्त आत्माओ का सुख-दु ख का सवेदन अलग-अलग है, सबका उपयोग भी विभिन्न प्रकार का है–किसी मे ज्ञान का उत्कर्ष है, तो किसी मे अपकर्ष है। इस अपेक्षा को सामने रखकर आगम मे कहा गया कि आत्माए अनन्त हैं[1] और दोनो अपेक्षाएँ सत्य हैं, अनुभवगम्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह रहा कि आत्मा एक भी है और अनेक भी है। उसे एकान्ततः एक या अनेक न कहकर 'एकानेक' कहना मानना चाहिए।

आत्मा के परिमाण के सम्बन्ध मे भी सभी दर्शनों मे एकरूपता नही है। कुछ आत्मा को सर्वव्यापक मानते है, तो कुछ विचारक-अणुपरिमाण वाला मानते है। जैनों

---

1 अणताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजतवो। –उत्तराध्ययन सूत्र, 28/8

को दोनो मान्यताएं स्वीकार नहीं है, वे आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानते हैं। अर्थात् अनियत परिमाण वाला। क्योंकि शुद्ध आत्मा का कोई परिमाण है नहीं, परिमाण—आकार रूपी पदार्थो के होते है और आत्मा अरूपी है। फिर भी आत्म-प्रदेशों को स्थित होने के लिए कुछ स्थान अवश्य चाहिए। इस अपेक्षा से आत्म-प्रदेश जितने स्थान को घेरते है, वह आत्मा का परिमाण कहा जाता है। आत्माएं अनत है और प्रत्येक आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं, अर्थात् प्रदेशो की दृष्टि से सब आत्माएं तुल्य प्रदेश वाली है और आत्मप्रदेश स्वभाव से सकोच-विस्तार वाले है। जैसा छोटा या बड़ा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप वे अपने आत्मप्रदेशो को संकोच भी कर लेती है और फैला भी देती है। जैसे—विशाल कमरे को अपने प्रकाश से जगमगाने वाला दीपक, जब छोटे-से कमरे मे रख दिया जाता है तो वह उसे ही प्रकाशित कर पाता है अथवा उसका विराट् प्रकाश छोटे-से कमरे मे समा जाता है। यो कहना चाहिए कि दीपक को छोटे-से कमरे से उठाकर विशाल हॉल मे ले जाते हैं तो कमरे के थोड़े-से आकाश-प्रदेशो पर स्थित प्रकाश हाल के विस्तृत आकाश-प्रदेशों पर फैल जाता है और हॉल से कमरे में आते ही अपने प्रकाश को सकुचित कर लेता है। यही स्थिति आत्म-प्रदेशों की है। जैसा—छोटा या बडा शरीर मिलता है, उसी में असख्यात आत्म-प्रदेश स्थित हो जाते हैं। सिद्ध अवस्था मे शरीर नही है, वहां आत्मा का परिमाण इस प्रकार समझना चाहिए—जिस शरीर मे से आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त होती है, उस शरीर के तीन भाग मे से दो भाग जितने आकाश-प्रदेशों को वह आत्मा घेरता है।[1] शरीर की दृष्टि से अनन्त आत्माओं के विभिन्न आकार वाले शरीर है तथा विभिन्न आकार युक्त शरीरो मे से सिद्ध हुए हैं, अत· सभी आत्माओ का परिमाण-आकार एक एव नियत नहीं हो सकता। इसी अपेक्षा से जैनदर्शन ने आत्मा का मध्यम अर्थात् अनियत या शरीर प्रमाण आकार माना और यह अनुभवगम्य भी है।

आत्मा को शरीर-परिमाण या मध्यम परिमाण वाला मानने से आत्मा मे अनित्यता का दोष आ जाएगा। ठीक है, अनित्यता से बचने के लिए वास्तविकता को ठुकराना

1 दीह वा हस्स वा, ज चरिमभवे हवेज्ज सठाण। तत्तो तिभागहीण सिद्धाणोगाहणा भणिया।
—उववाई सूत्र।

युक्तिसंगत नही कहा जा सकता। वास्तव मे आत्मा एकात नित्य भी तो नही है। यह हम पहले बता चुके है कि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। अत· अनित्यता कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप अनित्य भी है। अस्तु, आत्मा को मध्यम परिमाण वाला मानना चाहिए। यदि आत्मा को अणु मानते है, तो शरीर मे होने वाले सुख-दु·ख की अनुभूति नही हो सकेगी। क्योंकि यदि आत्मा अणुरूप होगा, तो फिर वह शरीर के एक प्रदेश मे रहेगा, सारे शरीर मे नहीं रह सकता। अत· शरीर के जिस भाग में वह नहीं होगा, उस भाग मे सुख-दुःख का सवेदन नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सभी व्यक्तियों को पूरे शरीर में सुख-दु ख का सवेदन होता है और यदि आत्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक मानते हैं तो उसमे, क्रिया नही होगी, स्वर्ग-नरक एवं बन्ध-मुक्ति नहीं घट सकेगी। इसलिए आत्मा को अणु एव व्यापक मानना किसी भी तरह उपयुक्त नहीं है। अत उसे मध्यम–शरीर परिमाण वाला मानना चाहिए।

जैसे अनुभूति एव स्मृति का आधार एक ही है। उसी तरह कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व का आधार भी एक है। अनुभव करने वाला और अपने कृत अनुभवों को स्मृति मे सजोंए रखने वाला भिन्न नही है। ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव कोई करे और उन अनुभूतियो को स्मृति मे कोई और ही रखे। उसी तरह कर्म का कर्त्ता एव कृत कर्म का भोक्ता एक ही होता है। या यों कहना चाहिए कि जो कर्म करता है, वही उसका फल भी भोगता है और जो फल भोगता है, वह अपने कृत कर्म का ही फल भोगता है। अत कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो एक व्यक्ति–आत्मा मे घटित होते हैं। साख्य का यह मानना कि आत्मा स्वयंकर्म नही करता है, कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति द्वारा कृतकर्म का फल पुरुष–आत्मा भोगती है तथा बौद्ध दर्शन का यह मानना कि कर्म करने वाली आत्मा नष्ट हो जाती है, उस विनष्ट आत्मा द्वारा कृत कर्म का फल उसके स्थान में उत्पन्न दूसरी आत्मा या उक्त आत्मा की सन्तति भोगती है, किसी भी तरह युक्तिसगत नही कहे जा सकते। व्यवहार में भी हम सदा देखते है कि जो कर्म करता है, उसका फल दूसरे को या उसकी सन्तान को नहीं मिलता। यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसका स्वाद उसे ही आता है, न कि उसके किसी दूसरे साथी या उसकी सन्तान को आम का स्वाद आता हो। अस्तु,

कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों आत्मा में ही घटित होते है। प्रकृति मे कर्तृत्व नहीं, कर्तृत्व आत्मा मे ही है और उसका फल भी उसकी सन्तान को न मिलकर उसी आत्मा को मिलता है। इससे आत्मा की परिणामी नित्यता भी सिद्ध एव परिपुष्ट होती है।

जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वह लोक के स्वरूप का भी भली-भाति विवेचन कर सकता है, क्योकि आत्मा की गति लोक मे ही है और वह लोक मे ही स्थित है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य इसे गति देने एवं ठहरने में सहायक होते हैं, अर्थात् जहा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व है, वहीं आत्मा गति कर सकती है एव वही ठहर भी सकती है और एक गति से दूसरी गति मे परिभ्रमणशील आत्मा कर्म पुद्गलो से आबद्ध है। इससे पुद्गलो के साथ भी उसका सबध जुडा हुआ है। अत· यों कह सकते हैं कि धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल चारो द्रव्य लोकाकाश पर स्थित है या उक्त चारों द्रव्यो का जहा अस्तित्व है, उसे लोक कहते हैं। इस तरह लोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान के साथ लोक के स्वरूप का परिबोध हो जाता है और जिसे लोक के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह उसका विवेचन भी कर सकता है। इस दृष्टि से आत्मवादी के पश्चात् लोकवादी का उल्लेख किया गया।

आत्मा का लोक मे परिभ्रमण कर्म-सापेक्ष है। वही आत्मा ससार—लोक में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिभ्रमण करती है, जो कर्म-शृखला से आबद्ध है। अस्तु, लोक के ज्ञान के साथ कर्म का भी परिज्ञान हो जाता है और कर्म को जानने वाला आत्मा उसके स्वरूप का सम्यक्तया प्रतिपादन भी कर सकता है। इसी कारण लोकवादी के पश्चात् कर्मवादी का उल्लेख किया गया।

कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है। मन-वचन और शरीर की प्रवृत्ति-विशेष को 'क्रिया' कहते है। इस मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्ति से आत्मा के साथ कर्म का सबंध होता है। इस तरह कर्म और क्रिया का विशिष्ट सम्बन्ध होने से, कर्म का ज्ञाता क्रिया को भली-भाति जान लेता है और उसका अच्छी तरह वर्णन भी कर सकता है। इसलिए कर्मवादी के पश्चात् क्रियावादी को बताया गया।

मुमुक्षु के लिए आत्मा, लोक, कर्म एव क्रिया का यथार्थ स्वरूप जानना आवश्यक है। इन सबका यथार्थ जाने बिना साधक मुक्ति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता

और उसकी साधना मे भी तेजस्विता नहीं आ पाती। इन सबमें आत्मतत्त्व मुख्य है। उसका सम्यक्तया बोध हो जाने पर, अवशेष तीनों का ज्ञान होते देर नहीं लगती, उसमे फिर अधिक श्रम नही करना पड़ता, क्योकि लोक, कर्म एवं क्रिया का आत्मा के साथ संबंध जुडा हुआ है। अत. शास्त्रकार का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि जो एक को भली-भांति जान लेता है, वह सबका ज्ञान कर लेता है। यह लोक-कहावत भी सत्य है—'एक साधे सब सधे।'

कर्म-बन्धन से आबद्ध आत्मा ही ससार मे परिभ्रमण करती है। कर्म का कारण क्रिया है, अर्थात् क्रिया से कर्म का प्रवाह प्रवहमान रहता है। अत अब सूत्रकार क्रिया के संबध मे कहते है—

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि॥7॥

छाया—अकार्ष चाहं, कारयामि चाहं, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि।

पदार्थ—अकरिस्सं चऽहं—मैने किया। **कारवेसु चऽहं**—मै कराता हूँ। **करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि**—करने वाले व्यक्तियो का मैं अनुमोदन—समर्थन करूँगा।

मूलार्थ—मैने किया था, मै कराता हू और करने वाले अन्य व्यक्तियों का मै अनुमोदन—समर्थन करूगा।

हिन्दी-विवेचन

व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न होने वाली क्रिया कार्य के करने, कराने और समर्थन-अनुमोदन करने की अपेक्षा से तीन प्रकार की है और संसार का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक प्राणी तीनो कालों में क्रियाशील रहता है। इसलिए क्रिया के उक्त भेदो का तीनों कालो के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है और इस अपेक्षा से क्रिया के 9 भेद होते हैं; क्योकि भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीन काल है और प्रत्येक काल के तीन भेद होने से कुल नव भेद बनते हैं। भूतकाल के तीन भेद इस प्रकार बनते हैं—

1. मैंने अमुक क्रिया का अनुष्ठान किया था।
2. मैंने अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करवाया था।

3. मैंने अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन किया था।

वर्तमान काल मे की जाने वाली क्रिया के तीन रूप इस प्रकार बनते है—

1 मैं अमुक क्रिया या कार्य कर रहा हूँ।

2. मैं अमुक कार्य दूसरे व्यक्ति से करा रहा हूँ।

3. मैं अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करता हूँ।

अनागत—भविष्य काल में की जाने वाली क्रिया के भी तीन रूप बनते है, वे इस प्रकार हैं—

1. मैं अमुक दिन अमुक कार्य करूगा।

2 मै दूसर व्यक्ति से अमुक कार्य कराऊगा।

3 मै अमुक कार्य करने वाले व्यक्ति का समर्थन-अनुमोदन करूंगा।

इस तरह क्रिया के 9 भेद बनते है और ये मन-वचन और शरीर से सम्बन्धित भी रहते है। अतः तीनो योगों के साथ इनका सम्बन्ध होने से, क्रिया के (9 × 3 = 27) भेद हो जाते है।

'अकरिस्सं चऽह... ..' आदि प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने सर्वप्रथम 'मैंने किया' भूतकालीन कृत क्रिया का, तदनन्तर 'मै कराता हू' वर्तमानकालिक कारित क्रिया का और अन्त मे 'मै क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूगा' इस भविष्यत्कालीन अनुमोदित क्रिया का उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र मे क्रिया के नव भेदो मे से—मैने किया, मै कराता हूँ और मैं अनुमोदन करूगा—इन तीन भेदो का ही प्रतिपादन किया है। प्रश्न हो सकता है कि जब सूत्रकार ने क्रिया के तीन भेदो की ओर ही इशारा किया है, तब फिर क्रिया के नव भेद मानने के पीछे क्या आधार है? यदि क्रिया के नव भेद होते है तो सूत्रकार ने उन नव का उल्लेख न करके तीन का ही उल्लेख क्यो किया?

इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र मे तीन चकार और एक अपि शब्द का प्रयोग किया गया है। इन चकार एव अपि शब्दो से तीनो कालो की प्रयुक्त क्रियाओं मे अवशिष्ट क्रियाओ का बोध हो जाता है। सूत्र को अधिक लम्बा एव शब्दों से अधिक बोझिल न बनाने के लिए क्रिया के मुख्य तीन—कृत, कारित और अनुमोदित भेदो का उल्लेख करके, शेष भेदो को च एवं अपि शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त किया है। यह हम पहले बता चुके है कि आचाराग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध सूत्र रूप रचा

गया है; थोड़े शब्दों में अधिक भाव एवं अर्थ व्यक्त किया गया है। वस्तुत· सूत्र का तात्पर्य ही यह है कि थोड़े-से-थोड़े शब्दो मे अधिक बात कही जाए, आवश्यकता से अधिक शब्दो का प्रयोग न किया जाए। इसी दृष्टि को सामने रखकर सूत्रकार ने च एवं अपि शब्द से स्पष्ट होने वाले छह क्रिया-भेदो के लिए शब्द-रचना न करके उसे तीन भेदो के द्वारा अभिव्यक्त किया है। हा, यह समझ लेना आवश्यक है कि किस चकार से किस क्रिया का ग्रहण करना चाहिए।

'अकरिस्स चऽहं' मे प्रयुक्त 'चकार' भूतकालीन 'कारित और अनुमोदित' क्रिया का परिबोधक है। 'कारवेसु चऽह' यहा व्यवहृत 'चकार' वर्तमानकालिक 'कृत और अनुमोदित' क्रिया का परिचायक है और 'करओ आवि (चापि)' इस पद में प्रयोग किया गया 'चकार' भविष्यत्कालीन 'कृत और कारित' क्रिया का ससूचक है। प्रस्तुत सूत्र मे दिये गये 'अपि' शब्द से मन, वचन और काय शरीर इन तीन योगो के साथ क्रिया के नवभेदो के सम्बन्ध का परिबोध होता है। इस तरह थोडे से शब्दों मे सूत्रकार ने क्रिया के 27 भेदो को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है और इसी आधार पर क्रिया के 27 भेद माने गए है।

प्रस्तुत सूत्र मे भूत, वर्तमान एवं भविष्यकाल-सम्बन्धी क्रमश· कृत, कारित और अनुमोदित एक-एक क्रिया का वर्णन करके चकार एव अपि शब्द से अन्य क्रियाओं का निर्देश कर दिया है। परन्तु आचार्य शीलाक का अभिमत है कि प्रस्तुत सूत्र मे भूत और भविष्यत् दो कालो की ओर निर्देश किया है। उन्होने प्रस्तुत सूत्र की सस्कृत-छाया इस प्रकार बनाई है–

"अकार्ष चऽहं, अचीकर चऽह, कुर्वतश्चापि समनुज्ञो भविष्यामि"

आचार्य शीलाक के विचार से 'अकरिस्स-अकार्षम्' यह भूतकालिक कृत क्रिया है और 'कारवेसु-अचीकरम्' यह भूतकालीन कारित किया है और 'करओ आवि समणुन्ने भविष्स्स' यह भविष्यत्कालीन अनुमोदित क्रिया है। इस तरह सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे दो कालो का निर्देश किया है, तीसरे वर्तमान काल का ग्रहण उन्होंने इस न्याय से किया है कि आदि और अन्त का ग्रहण करने पर मध्यमवर्ती का ग्रहण हो जाता है।[1]

1 आद्यन्तग्रहणेन मध्यगानामपि ग्रहणम्।

प्रश्न हो सकता है कि जब आदि और अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण हो जाता है, तो फिर सूत्रकार ने 'कारवेसुं चऽहं' इस भूतकालिक कारित क्रिया का निर्देश क्यों किया? उक्त न्याय से इस भूतकालिक कारित क्रिया-भेद का ग्रहण किया जा सकता था। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शीलाक ने कहा—

"अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्प 'कारवेसुं चऽहं' इति सूत्रेणोपात्त.।"

अर्थात्—आदि और अन्त के ग्रहण करने पर मध्यवर्ती पदों का ग्रहण हो जाता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'कारवेसु चऽहं' पद का प्रयोग किया है। यदि उक्त पद का प्रयोग न किया गया होता तो इस न्याय की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती थी? अत उक्त न्याय का यथार्थ रूप समझ में आ सके, इसलिए इस पद का प्रयोग किया गया। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि मूल सूत्र मे प्रयुक्त तीन चकार से क्रियाओ का और अपि शब्द से मन, वचन और काय-शरीर का ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे यह समझने एव ध्यान देने की बात है कि मन, वचन और शरीर के द्वारा तीनों कालों मे होने वाली कृत, कारित और अनुमोदित सभी क्रियाए आत्मा मे होती है। उक्त सभी क्रियाओ में आत्मा की परिणति स्पष्ट परिलक्षित हो रही है, क्योकि धर्मी में परिवर्तन हुए बिना धर्मो मे परिवर्तन नही होता। इसी अपेक्षा से पहले आत्मा मे परिणमन होता है, बाद मे क्रिया में परिणमन होता। अत· क्रिया के परिणमन को आत्म-परिणति पर आधारित मानना उचित एवं युक्तिसंगत है। निष्कर्ष यह निकला कि 'अहं' पद से अभिव्यक्त जो आत्मा है, उसका परिणमन ही विशिष्ट क्रिया के रूप मे सामने आता है। अत. विभिन्न कालवर्ती क्रियाओ मे कर्तृत्व रूप से अभिव्यक्त होने वाला आत्मा एक ही है।

हम सदा-सर्वदा देखते हैं, अनुभव करते हैं कि तीनो कालो की कृत, कारित एवं अनुमोदित क्रियाए पृथक् हैं और इन सबका पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है। तीनो कालो की क्रियाआं मे कालगत भेद होने से अर्थात् विभिन्न काल-स्पर्शी होने के कारण ये समस्त क्रियाए एक-दूसरे से पृथक् है, परन्तु इन विभिन्न समयवर्ती क्रियाओं मे विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होने वाला 'मै अर्थात् 'अहं' पद एक ही है। इन विभिन्न समयवर्ती विभिन्न क्रियाओ में जो एक शृखलाबद्ध संबध परिलक्षित हो रहा है, वह

आत्मा की एकरूपता के आधार पर ही अवलम्बित है। क्योकि प्रत्येक क्रिया एक काल-स्पर्शी है, जब कि आत्मा तीनों कालो को स्पर्श करती है। यदि आत्मा को त्रिकाल-स्पर्शी न माना जाए तो उस में त्रिकाल में होने वाली पृथक्-पृथक् क्रियाओं की अनुभूति घटित नही हो सकती और न उसमे भूतकाल की स्मृति एव भविष्य के लिए सोचने-विचारने की शक्ति ही रह जाएगी। अतीत की स्मृति एव अनागत काल के लिए एक रूपरेखा तैय्यार करने की चिन्तन-शक्ति आत्मा में देखी जाती है। इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा परिणामी नित्य है, त्रिकाल को स्पर्श करती है।

यह स्पष्ट देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति शक्ति और धन के मद में आसक्त होकर यौवनकाल मे दुष्कृत्य एव अपने से दुर्बल व्यक्तियों के साथ दुर्व्यवहार करते है। परन्तु वृद्ध अवस्था मे शक्ति का ह्रास हो जाने के कारण वे अपने द्वारा कृत दुष्कृत्यो का स्मरण करके दु खी होते है और पश्चात्ताप करते हुए एव आसू बहाते हुए भी नजर आते है। उनकी दुर्दशा को देखकर आस-पास मे निवसित लोग भी कहने से नही चूकते कि इस भले आदमी ने धन, यौवन और अधिकार के नशे मे कभी नही सोचा कि मुझे इन दुष्कृत्यों का फल भी चखना पड़ेगा, उसने यह भी कभी नही विचारा कि ये क्षणिक शक्तिया नष्ट हो जाएगी, तब मेरी क्या दशा होगी, उसी का यह परिणाम है। इस से विभिन्न समय मे होने वाली त्रिकालवर्ती क्रियाओ का एक-दूसरे काल के साथ स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रथम समय मे वर्तने वाला वर्तमान दूसरे समय मे अतीत की स्मृति मे बदल जाता है और भविष्य के क्षण धीरे-धीरे क्रमश वर्तमान के रूप मे वर्त कर अतीत की स्मृति में विलीन हो जाते है। इसी कारण वर्तमान मे अतीत की मधुर एव दु.खद स्मृतियॉ तथा अनागत काल की योजनाए बनती है; और इन त्रिकालवर्ती क्रियाओ की शृङ्खला को जोडने वाली आत्मा सदा एकरूप रहती है। वह पर्यायो की दृष्टि से प्रत्येक काल मे परिवर्तित होती हुई भी द्रव्य की दृष्टि से एकरूप है। उसकी एकरूपता प्रत्येक काल मे स्पष्ट प्रतीत होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि त्रिकालवर्ती क्रियाओ में एकीकरण स्थापित करने वाली आत्मा है और वह परिणामी नित्य है। जैसे एक भव में अतीत, वर्तमान एव अनागत की क्रियाओं के साथ आत्मा का सबन्ध है, उसी तरह अनन्त भवो की क्रियाओं के साथ भी आत्मा का एवं वर्तमान भव से सबन्धित क्रियाओं का सबन्ध है। क्योंकि

वर्तमान काल एक समय का है, दूसरे समय ही वह भूत काल हो जाता है, इस तरह अनन्त-अनन्त काल वर्तमान काल पर्याय में से अतीत काल की सज्ञा में परिवर्तित हो चुका है और अनागत काल का आने वाला प्रत्येक समय क्रमश· वर्तमान काल की पर्याय को स्पर्श करता हुआ अतीत की स्मृति मे विलीन हो रहा है। ससार में अनन्त-अनन्त काल से ऐसा होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। क्योकि अतीत और अनागत काल अनन्त है और अनन्त का कभी अन्त नहीं आता। अत· अनन्त भवों के अनन्त काल का भी ससार मे परिभ्रमणशील आत्मा से सबन्ध रहा है। जैसे शरीर की बदलती हुई बाल, यौवन एवं वृद्ध अवस्थाओ मे आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। उसी तरह अनेक योनियों में परिवर्तित विभिन्न शरीरपर्यायो में भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

वर्तमान की स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त काल मे किये हुए अनन्त भवो मे आत्मा का अस्तित्व रहा है। इससे अनन्त-अनन्त काल के साथ एक धारा-प्रवाह के रूप मे एकरूपता स्पष्ट प्रतीत होती है। हम यह देखते है कि वर्तमान भव मे आत्मा का शरीर के साथ सबन्ध जुडा हुआ है। इस से हम यह भली-भांति जान सकते हैं कि इस भव के पूर्व भी आत्मा का किसी अन्य शरीर के साथ सबन्ध था और भविष्य मे भी जब तक यह आत्मा ससार में परिभ्रमण करती रहेगी, तब तक किसी-न-किसी योनि के शरीर के साथ इसका सबन्ध रहेगा ही। इससे त्रिकालवर्ती अनन्त काल एव अनन्त भवो के धारा-प्रवाहिक संबन्ध तथा विभिन्न काल एव भवों मे परिवर्तित अवस्थाओ में भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्पष्टत· सिद्ध हो जाता है। इस तरह सूत्रकार ने त्रिकालवर्ती क्रियाओ और आत्मा के घनिष्ठ सबन्ध को स्पष्ट करने की दृष्टि से क्रियावाद के द्वारा आत्मवाद की स्थापना की है।

प्रस्तुत सूत्र मे क्रिया के 27 भेदों का विवेचन किया गया है। ये क्रियाए इतनी ही है, न इनसे कम है और न अधिक है और ये क्रियाए कर्म-बन्धन का कारण भी है। अत इस बात को सम्यक्तया जान कर इनसे बचना चाहिए या इनका परित्याग करना चाहिए। इसी बात का निर्देश सूत्रकार ने आगे के सूत्र में इस प्रकार किया है—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवन्ति॥8॥

छाया—एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भा परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ—एयावंती सव्वावन्ती—इतने ही सब। **लोगंसि**—लोक मे। **कम्मसमारंभ**—कर्म बन्धन की हेतु-भूत क्रियाएं। **परिजाणियव्वा भवन्ति**—जाननी चाहिए।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रियाएँ इतनी ही जाननी-समझनी चाहिए, इनसे न्यूनाधिक नही।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि तीनो काल में कृत, कारित एव अनुमोदित की अपेक्षा से क्रिया के नव भेद बनते हैं और इन सब का मन, वचन और काया—शरीर के साथ संबन्ध जुडा हुआ होने से, इनके 27 भेद होते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि सारे लोक में 27 तरह की क्रियाएं हैं, इस से अधिक या कम नहीं हैं और ये क्रियाए कर्म-बन्धन के लिए कारणभूत हैं। क्योंकि जब आत्मा मे क्रियाओं के रूप मे परिणति होती है तो उसके आस-पास मे स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का आत्मा मे सग्रह होता है। इस तरह ये क्रियाएँ कर्म-बन्ध का कारण-भूत मानी जाती है। इनके अभाव मे आत्मा कर्मो से सर्वथा अलिप्त रहती है। क्योंकि कृत, कारित आदि क्रियाओ के कारण आत्मा में गति होती है और आत्म-परिणामो की परिणति के अनुरूप आस-पास के क्षेत्र मे स्थित कर्म-वर्गणा के पुद्गलो में गति होती है और उनका आत्म-प्रदेशो के साथ सबन्ध होता है। अत जब तक आत्मा मे क्रियाओं का प्रवाह प्रवहमान है, तब तक कर्म का आगमन भी होता रहता है। हां, यह बात अवश्य समझने की है कि क्रिया से कर्मो का संग्रह होता है, कर्मो के स्वभाव के अनुसार आत्म-प्रदेशों के साथ उनका सबन्ध होता है, परन्तु जब तक क्रिया के साथ राग-द्वेष एव कषाय की परिणति नहीं होती, तब तक उनका आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध नही होता, या यों कहना चाहिए कि क्रिया से प्रकृति और प्रदेश बन्ध, अर्थात् कर्मो का संग्रह मात्र होता है और राग-द्वेष एव काषायिक परिणति से अनुभाग—रस

बन्ध और स्थिति बन्ध होता है और यही बन्ध आत्मा को संसार मे परिभ्रमण करने की स्थिति में ले आता है।

क्रिया या योगो की प्रवृत्ति से कर्म का सग्रह होता है और वह कर्म-बन्ध के कारणभूत है। परंतु राग-द्वेष रहित योग-प्रवृत्ति कर्म-सग्रह अवश्य करती है, परंतु बन्ध का कारण नही बनती। जैसे तेरहवे गुणस्थान में क्रियाओं एव योगो की प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्ति से कर्म-प्रवाह का आगमन भी होता है, परन्तु राग-द्वेष की परिणति के अभाव में कर्म का बन्ध नहीं होता। वे कर्म-पुद्‌गल आते हैं, और तुरन्त झड जाते है, आत्मा के साथ बन्ध नहीं पाते। अस्तु, हम यों कह सकते हैं कि राग-द्वेष की परिणति से युक्त क्रियाए कर्म-बन्ध की कारणभूत है और वे 27 ही हैं, इस बात को भली-भाति जान-समझ लेना चाहिए।

यह सत्य है कि क्रियाओ से शुभ एव अशुभ दोनो तरह के कर्म-पुद्‌गलो का आगमन होता है। शुभ कर्म पुद्‌गल आत्म-विकास मे सहायक होते हैं, फिर भी है तो त्याज्य ही। क्योकि उनका सहयोग विकास-अवस्था में या यों कहिए कि साधना-काल मे उपयोगी होने से साधक-अवस्था मे आदरणीय भी है, परन्तु सिद्ध-अवस्था में उनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अत इस अवस्था मे क्रिया-मात्र ही त्याज्य है। इस निश्चयनय की दृष्टि से शुभ क्रिया भी कर्म-बन्ध का एवं संसार में—भले ही स्वर्ग में ही ले जाए; फिर भी है तो ससार ही, बधन ही—परिभ्रमण कराने का कारण होने से निश्चय दृष्टि से सदोष एव त्याज्य है।

निश्चय दृष्टि से क्रिया सदोष है, फिर भी आत्म-विकास के लिए उस का ज्ञान करना आवश्यक है। दोष को दोष कहकर उस की सर्वथा उपेक्षा कर देना या उसके स्वरूप को समझना ही नही, यह जैन धर्म को मान्य नहीं है। वह दोषो का परिज्ञान करने की बात भी कहता है। क्योंकि जब तक दोषों का एव उन के कार्य का परिज्ञान नही होगा, तब तक साधक उससे बच नही सकता। इसलिए कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप एव उनसे होने वाले ससार-परिभ्रमण के चक्र को समझना-जानना भी जरूरी है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे बताई है कि मुमुक्षु को इनके स्वरूप को जानना चाहिए। क्योंकि जीवन में ज्ञान का विशेष महत्त्व है, उसके बिना जीवन का विकास होना कठिन ही नहीं असभव है। ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए

भगवान महावीर ने यह कहकर ज्ञान की उपयोगिता एव महत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ज्ञान-सम्पन्न आत्मा जीवादि नव तत्त्वो को जान लेता है और वह चार गति रूप संसार मे विनाश को प्राप्त नही होता[1]। वस्तुत· ज्ञान के बिना हेय-उपादेय का बोध नही होता। इसलिए सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता है, उसके बाद अन्य साधना या क्रियाओ की[2]। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कर्म-बन्ध की हेतुभूत क्रियाओ की जानकारी कराई है।

जब तक साधक को क्रिया-संबन्धी जानकारी नही हो जाती, तब तक वह साधना के क्षेत्र मे विकास नही कर सकता, मुक्ति के पथ पर आगे नही बढ सकता। संसार-सागर को पार करने के लिए क्रिया की हेयोपादेयता का परिज्ञान करना जरूरी है; क्योकि क्रियाएं भी सभी समान नही है। हिंसा करना, झूठ बोलना, छल-कपट करना आदि भी क्रिया है और दया करना, मरते हुए प्राणी को बचाना, सत्य बोलना आदि भी क्रिया है। किन्तु दोनो मे परिणामगत अन्तर है और उसी अन्तर के कारण एक हेय है, तो दूसरी उपादेय है और उसकी उपादेयता भी संसार-सागर से पार होने तक है, उसके बाद वह भी उपादेय नही है। ऐसे कहना चाहिए कि शुभ परिणामो से की जाने वाली शुभ क्रिया साधक अवस्था तक उपादेय है और सिद्ध अवस्था को पहुचने पर वह भी हेय है। क्योकि उसकी आवश्यकता साध्य की सिद्धि के लिए है, अत· साध्य के सिद्ध हो जाने पर फिर उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। अत· इस हेयोपादेयता को समझने के लिए क्रिया-सबन्धी ज्ञान की आवश्यकता है। और इसी कारण ज्ञान का जीवन मे विशेष महत्व माना गया है।

इससे तीन बाते स्पष्ट होती है—1- ज्ञान के द्वारा वस्तु-तत्त्व का यथार्थ बोध हो जाता है, आत्मा क्रिया के हेय-उपादेय के स्वरूप को भली-भांति समझ लेती है, 2- साध्य-सिद्धि मे सहायक क्रियाओ का अनुष्ठान करता है और 3- ज्ञान एवं क्रिया दोनों की सम्यक् साधना-आराधना करके आत्मा एक दिन सिद्धि को प्राप्त कर लेती है, अर्थात् समस्त क्रियाओं से मुक्त हो जाती है, जन्म, जरा और मृत्यु से सदा

---

1 नाणसपन्नयाए ण जीवे सव्वभावाहिगम जणयइ।
नाणसपन्ने णं जीवे चाउरन्ते ससार-कन्तारे न विणस्सइ॥ —उत्तराध्ययन, 29/59.

2 पढम नाणं तओ दया। —दशवैकालिक, 4

के लिए छुटकारा पा जाती है। अतः मुमुक्षु के लिए क्रियाओं का परिज्ञान करना आवश्यक है।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-बन्धन की हेतुभूत क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता का वर्णन किया गया है और साथ मे यह प्रेरणा भी दी गई कि साधक को क्रिया के स्वरूप का बोध करना चाहिए और उसे क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योकि इनसे निवृत्त होकर ही साधक कर्म-बन्धन एव संसार-परिभ्रमण के दुःखों से छुटकारा पा सकता है। जो व्यक्ति कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं से विरत नही होता है, उसे जिस फल की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन सूत्रकार इस प्रकर करते है—

मूलम्—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ साहेति। अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ॥9॥

छाया—अपरिज्ञातकर्मा खल्वयं पुरुषो य इमा दिशा, अनुदिशा अनुसंचरति, सर्वा दिशाः, सर्वा अनुदिशाः सेहेति। अनेकरूपा योनीः सन्धयति, विरूपरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति।

पदार्थ—जो पुरिसे—जो पुरुष। **अपरिण्णायकम्मा**—अपरिज्ञात-कर्मा होता है। **खलु**—निश्चय से। **अयं**—यह पुरुष। **इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ**—इन दिशा-विदिशाओ मे। **अणुसचरइ**—परिभ्रमण करता है। **सव्वाओ दिसाओ**—सब दिशाओ मे। **सव्वाओ अणु दिसाओ साहेति**—सब विदिशाओ मे जाता है। **अणेगरूवाओ जोणीओ**—नाना प्रकार की योनियो को। **सन्धेइ**—प्राप्त करता है। **विरूवरूवे फासे**—अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु खो का। **पडिसंवेदेइ**—संवेदन करता है, अनुभव करता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओ के यथार्थ स्वरूप को भलीभाति नहीं जानता है और उनका परित्याग नहीं करता है, वह इन दिशा-विदिशाओ मे परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदिशाओ मे कर्मो के साथ जाता है।

विभिन्न योनियो के साथ सम्बन्धित होता है और अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का संवेदन एवं उपभोग करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ससार-परिभ्रमण एवं दु ख-प्राप्ति की कारणभूत सामग्री का उल्लेख करके सुखाभिलाषी मुमुक्षु को उससे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

"अपरिण्णायकम्मा" का अर्थ है—अपरिज्ञात-कर्मा। जो प्राणी कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओं के स्वरूप से तथा उसकी हेय-उपादेयता से अपरिचित है, उसे अपरिज्ञात-कर्मा कहा है। क्योकि उसमे ज्ञान का अभाव होता है, उसे कर्म और क्रिया के स्वरूप का सम्यग् बोध नही होता है और सम्यग् बोध नही होने के कारण वह अज्ञानी व्यक्ति न हेय क्रिया का परित्याग कर सकता है और न उपादेय को स्वीकार कर सकता है। क्योंकि हेय और उपादेय क्रिया का त्याग एव स्वीकार वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान में जानना और त्यागना दोनो का समावेश हो जाता है। इसी कारण ज्ञान को परिज्ञा कहा है और परिज्ञा के ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, ये दो भेद करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान का महत्त्व हेय वस्तु का या आत्मविकास में बाधक पदार्थो का त्याग करने में है।

जो व्यक्ति कर्म एव क्रिया के यथार्थ ज्ञान से रहित है, अपरिचित है वह स्वकृत कर्म के अनुरूप द्रव्य और भाव दिशाओं मे परिभ्रमण करता है। जब तक आत्मा कर्मो से सबद्ध है, तब तक वह ससार के प्रवाह मे प्रवहमान रहेगा। एक गति से दूसरी गति मे या एक योनि से दूसरी योनि मे भटकता फिरेगा। इस भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए कर्म एव क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना तथा उसके अनुरूप आचरण बनाना मुमुक्षु प्राणी के लिए आवश्यक है। इसलिए आगमों मे सम्यग् ज्ञान पूर्वक सम्यग् क्रिया करने का आदेश दिया गया है।

"अय पुरिसे जे. .... " प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'पुरिसे' यह पद 'पुरुष' इस अर्थ का बोधक है। पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलाक ने लिखा है—

"पुरि शयनात्पूर्णः सुख-दुःखाना व पुरुषो जन्तुर्मनुष्यो वा"

वृत्तिकार ने पुरुष शब्द के दो अर्थ किए है—1-सामान्य जीव और 2-मनुष्य। इसकी निरुक्ति भी दो प्रकार की है। जब पुरुष शब्द की 'पुरिशयनादिति पुरुषः' यह निरुक्ति की जाती है तो इसका अर्थ होता है—शरीर मे शयन करने से यह जीव पुरुष कहा जाता है। किन्तु जब इसकी यह निरुक्ति होती है कि "सुख-दुःखाना पूर्ण· इति पुरुषः" तब इसका अर्थ होता है—"जो सुखो और दुखो से व्याप्त रहता है, वह पुरुष है"। इस तरह पुरुष शब्द से जीव एव मनुष्य दोनो का बोध होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे "इमाओ दिसाओ" ऐसा कह कर पुन· जो "सव्वाओ दिसाओ" का उल्लेख किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम पाठ में पठित दिशा शब्द सामान्य रूप से पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओ का परिबोधक है तथा दूसरे पाठ मे व्यवहृत दिशा शब्द, द्रव्य दिशा और भाव दिशा रूप इन सभी दिशाओं का परिचायक है।

"अणेगरूवाओ जोणीओ" इस पाठ मे प्रयुक्त "जोणीओ" पद योनि का बोधक है। टीकाकार ने 'योनि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

"यौति मिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणापुद्गलैरसुमान् यासु ता योनय· प्राणिनामुत्पत्तिस्थानानि।"

अर्थात्—यह जीव औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर-वर्गणा के पुद्गलो को लेकर जिसमे मिश्रित होता है, सबन्ध करता है, उस स्थान को 'योनि' कहते हैं। दूसरे शब्दों मे, योनि उत्पत्ति-स्थान का नाम है। प्रज्ञापना सूत्र के योनिपद मे नव प्रकार की योनि बताई गई है—1-शीत, 2-ऊष्ण, 3-शीतोष्ण, 4-सचित्त, 5-अचित्त, 6-सचित्ताचित्त, 7-संवृत्त, 8-विवृत्त और 9-सवृत्तविवृत्त।

इन की अर्थ-विचारणा इस प्रकार है—

1-शीत योनि—जिस उत्पत्ति स्थान मे शीत स्पर्श पाया जाए, उसे शीत योनि कहते है।

2-उष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श उष्ण हो, उसे उष्ण योनि कहा है।

3-शीतोष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श कुछ शीत और कुछ उष्ण है, उसे शीतोष्ण योनि कहा है।

4-सचित्त योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव-प्रदेशो से अधिष्ठित है, सयुक्त है, उसे सचित्त योनि कहते है।

5-अचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव प्रदेशो से युक्त नहीं है, उसे अचित्त योनि कहा है।

6-सचित्ताचित्त योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग आत्म-प्रदेशो से युक्त हो और कुछ भाग आत्म-प्रदे ।। से रहित हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते है।

7-सवृत्तयोनि—जो उत्पत्ति स्थान प्रच्छन्न हो, अप्रकट हो, आखो द्वारा दिखाई नहीं देता हो, उसे संवृत्त योनि कहते है।

8-विवृत्त योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृ हो, खुला हो उसे विवृत्त योनि कहते है।

9-संवृत्तविवृत्तयोनि—जिस उत्पत्ति स्थान का कुछ भाग प्रच्छन्न हो, आवृत हो और कुछ भाग अनावृत हो, उसे संवृत-विवृत योनि कहते है।

गर्भज मनुष्य, तिर्यञ्च और देवो की शीतष्ण योनि होती है। तेजस्कायिक—अग्नि के जीवो की योनि उष्ण है, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की तथा गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छिम मनुष्य और नरक के जीवो की शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीनों तरह की योनिया होती है।

देव और नारक जीवों की योनि अचित्त होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यो की योनि सचित्ताचित्त होती है। पाच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य, इन सब जीवो की सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त तीनो तरह की योनिया होती है।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवो की योनि सवृत होती है। गर्भज तिर्यञ्च और मनुष्यो की योनि सवृत-विवृत होती है। तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च और सम्मूर्च्छिम मनुष्य आदि जीवो की योनि विवृत होती है।

इस तरह योनियो के नव भेद होते है। इनका उल्लेख प्रज्ञापना सूत्र मे मिलता है। इसके अतिरिक्त योनि के और भी अनेक भेद मिलते है। उनकी सख्या 84 लाख बताई गई है। वह इस प्रकार है—

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय इन मे से प्रत्येक काय की सात-सात लाख योनियां होती है। प्रत्येक वनस्पति काय की दस लाख योनिया है, साधारण वनस्पति (अनन्त काय) की चौदह लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) मे से प्रत्येक की दो-दो लाख; नारक, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की चार-चार लाख और मनुष्य की 14 लाख योनिया होती है। इस प्रकार ससार के समस्त जीवो की 7 + 7 + 7 + 7 + 10 + 14 + 2 + 2 + 2 + 4 + 4 + 4 + 14 = 84 लाख योनियां बनती है[1]। इन सब योनियो मे ससारी जीव जन्म-मरण करते है और जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहने के कारण ही जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक सक्लेश एव दुःखो का सवेदन एव सामना करना पडता है।

'विरूवरूवे फासे पडिसवेदेइ' प्रस्तुत वाक्य में व्यवहृत 'विरूपरूप' 'स्पर्श' शब्द का विशेषण है। 'विरूपरूप' शब्द 'विरूप रूप' इन दो शब्दो के सयोग से बना है। विरूप बीभत्स और अमनोज्ञ को कहते हैं और रूप शब्द से स्वरूप का बोध होता है। अतः 'विरूपरूप' शब्द का अर्थ हुआ—बीभत्स और अमनोज्ञ स्वरूप वाला। 'स्पर्श' शब्द स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दु.खों का परिबोधक है, स्पर्श को उपलक्ष्य मान लेने पर वह शारीरिक एव मानसिक दोनो दुःखो का परिचायक बन जाता है।

यहा यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि सूत्रकार ने 'फासे' शब्द का उल्लेख करके केवल स्पर्शनेन्द्रिय आश्रित दु खो की ओर सकेत किया है, किन्तु हम यह देखते है कि घ्राण, रसना आदि अन्य इन्द्रियो के आश्रित दुःख का सवेदन होता है, पर सूत्रकार ने उन का उल्लेख नही किया, इसका क्या कारण है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श-इन्द्रिय आश्रित दु.ख का उल्लेख करके सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियो द्वारा सवेदित दु खों को स्पर्श-इन्द्रिय द्वारा संवेदित दुःखो में ही समाविष्ट कर दिया है। अन्य इन्द्रियो के नाम का उल्लेख न करके स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख करने का यह कारण रहा है कि स्पर्श-इन्द्रिय ससार के सभी प्राणियों को

---

1 पुढवी-जल-जलण-मारुय-एक्केक्के सत्त-सत्त लक्खाओ।
वणपत्ते य अणते दस चोद्दस जोणि लक्खाओ॥
विगलिन्दिएसु दो-दो चउरो-चउरो य णारयसुरेसु।
तिरिएसु हुति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु॥

होती है। अन्य इन्द्रियॉ कुछ ही प्राणियो को होती है। जैसे—नारक तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के श्रोत्र इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय और स्पर्श इन्द्रियॉ होती हैं। परन्तु चतुरिन्द्रिय जीवो के श्रोत्र इन्द्रिय नहीं होती, त्रीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय नहीं होती, द्वीन्द्रिय जीवों के श्रोत्र, चक्षु और घ्राण इन्द्रिय नहीं होती, और एकेन्द्रिय जीवो के केवल स्पर्श इन्द्रिय ही होती है। अन्य इन्द्रियॉ नही होती। इससे स्पष्ट हो गया कि अन्य इन्द्रियॉ कई जीवो में होती हैं और कई जीवो में नही भी पाई जाती, परन्तु स्पर्श इन्द्रिय ससार के सभी जीवो को प्राप्त है और अन्य इन्द्रियाँ स्पर्श के आश्रित है इसलिए स्पर्श इन्द्रिय के आश्रित दु खो एवं सक्लेशों के सवेदन का उल्लेख किया गया और इससे सभी इन्द्रियों के द्वारा सवेदित दु.ख को समझ लेना चाहिए।

'सधेइ' इस पाठ के स्थान पर कई प्रतियो मे 'सधावइ' (संधावति) पाठ भी उपलब्ध होता है। 'संधेइ' का अर्थ है—प्राप्त करता है और 'सधावइ' का अर्थ होता है—बार-बार गमन करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात का उल्लेख किया गया है कि अपरिज्ञातकर्मा पुरुष (आत्मा) अनेक योनियो में परिभ्रमण करता है अनेक और विविध दु.खो का संवेदन करता हे। योनि-भ्रमण और दु·खों से छुटकारा पाने के लिए जिस विवेक एव साधना की आवश्यकता होती है, उसी का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया॥10॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता।

पदार्थ—तत्थ—इन कर्म समारम्भो के विषय मे। **खलु**—निश्चय ही। **भगवता**—भगवान ने। **परिण्णा**—परिज्ञा, विवेक का। **पवेइया**—उपदेश दिया है।

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओ के संबन्ध मे भगवान महावीर ने परिज्ञा-विवेक का उपदेश दिया है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले बता चुके है कि जीवन में ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योकि ज्ञान प्रकाश है, आलोक है। उसके उज्ज्वल, समुज्ज्वल एवं महोज्ज्वल प्रकाश मे

मनुष्य वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता को भली-भाति समझ सकता है। साधक को हेय और उपादेय वस्तुओ का तथा उन्हें त्यागने एव स्वीकार करने का बोध भी सम्यग् ज्ञान से ही होता है। अत ज्ञान का उपयोग एव महत्त्व ज्ञानी पुरुष ही जान सकता है, अन्य नही।

एक अबोध बालक ज्ञान के सही एव वास्तविक मूल्य को नही समझता। उसे इस बात का पता ही नहीं है कि ज्ञान जीवन के कण-कण को प्रकाश से जगमगा देता है, उज्ज्वल आलोक से भर देता है। वह यह नहीं जानता कि ज्ञान मनुष्य का अन्तर्चक्षु है, जिसके अभाव मे बाह्य चक्षु होते हुए भी वह अंधा समझा जाता है और बिना शृंग-पूंछ का पशु माना जाता है। ज्ञान के इस महत्त्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही वह दिन भर खेलता-कूदता एव आमोद-प्रमोद करता रहता है। परन्तु ज्ञान का महत्त्व समझने के बाद उसका जीवन बदल जाता है। खेल-कूद का स्थान शिक्षा ले लेती है। वह दिन-रात ज्ञान की साधना मे सलग्न रहने लगता है। यही स्थिति अज्ञ एव ज्ञानी पुरुष की है। अज्ञ व्यक्ति जहां दिन-रात विषय-वासना मे निमज्जित रहता है, भौतिक सुखो के पीछे निरन्तर दौड़ता फिरता है, वहा ज्ञानी पुरुष दिन-रात, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते ज्ञान की साधना मे सलग्न रहता है। प्रत्येक समय प्रत्येक क्रिया मे विवेक एव ज्ञान के प्रकाश को सामने रखकर गति करता है। वह जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ की बातो मे नही खोता। क्योंकि वह ज्ञान के, विवेक के मूल्य को जानता है और वह यह भी जानता है कि ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश मे गति करके ही आत्मा अपने लक्ष्य पर पहुच सकता है, अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

वस्तुतः ज्ञान से जीवन ज्योतिर्मय बनता है। आत्मा ज्ञान के प्रकाश मे ही अपने ससार-परिभ्रमण एव उससे मुक्त होने के कारण को जान सकती है। ससार मे परिभ्रमण करने का कारण कर्म हे। कर्म से आबद्ध आत्मा ही विभिन्न क्रियाओ मे प्रवृत्त होती है और क्रिया से फिर कर्म का सग्रह होता है। इस तरह जब तक कर्म का अस्तित्व रहता है, तब तक संसार का प्रवाह प्रवहमान रहता है। इसलिए सूत्रकार ने पिछले सूत्र में कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओ का परिज्ञान कराया है। क्योंकि उन क्रियाओ एवं उनके परिणामो का सम्यक्तया बोध होने पर साधक उनका परित्याग कर सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि

संसार-परिभ्रमण के दु.खो से बचने के लिए साधक को कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओ के सबन्ध में परिज्ञा—विवेक रखना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र मे विवेक का तात्पर्य है—सर्व प्रथम कर्म-बन्धन की हेतुभूतक्रियाओं के स्वरूप को समझना और तदनन्तर उनका परित्याग करना।

'तत्थ' इस पद की व्याख्या करते हुए आचार्य शीलाक कहते है—

"तत्र कर्मणि व्यापारे अकार्षमह, करोमि करिष्यामित्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्कायव्यापाररूपे।"

अर्थात्—'तत्र' शब्द—मैने किया, मैं कर रहा हूँ और मै करूंगा, इस प्रकार की आत्म-परिणति के स्वभाव से होने वाले मन, वचन और काया के व्यापार का बोधक है। सामान्यतया यह व्यापार त्रिविध होता है, किन्तु यह कृत, कारित और अनुमोदित से सबद्ध होने के कारण नव प्रकार का बन जाता है और उक्त भेदो को भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनो कालो से सबन्धित कर लेने पर इनकी सख्या 27 हो जाती है। इन सब भेदो का वणन पिछले सूत्र मे किया जा चुका है। अस्तु 'तत्र' शब्द को क्रिया के 27 भेदो का परिचायक समझना चाहिए। और मुमुक्षु को इन सभी व्यापारो में विवेक रखना चाहिए।

'भगवता परिण्णा पवेइया' प्रस्तुत वाक्य मे प्रयुक्त 'परिण्णा' शब्द परिज्ञा का परिबोधक है। परिष्कृत और प्रशस्त ज्ञान का नाम परिज्ञा है। यह 'ज्ञ परिज्ञा' और 'प्रत्याख्यान परिज्ञा' के भेद से दो प्रकार की है। ज्ञ परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया का बोध होता है और प्रत्याख्यान परिज्ञा से आत्मा क्रिया का परित्याग करता है।

ज्ञ परिज्ञा ज्ञान प्रधान है और प्रत्याख्यान परिज्ञा त्याग प्रधान है। इस तरह परिज्ञा से कर्मबन्ध की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप को जान समझ कर एव त्यागकर साधक ससार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। इस पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब व्यक्ति परिज्ञा द्वारा ससार-परिभ्रमण के कारणभूत क्रियाओ के स्वरूप को जान लेता है तब फिर वह कर्मास्रव की कारण रूप क्रियाओ के व्यापार में क्यो प्रवृत्त होता है? पाप एवं दुष्कृत्य करने को क्यो तत्पर होता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं॥11॥

छाया—अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय जातिमरण-मोचनाय दुःखप्रतिधातहेतुम् ।

पदार्थ—इमस्स चेव जीवियस्स—इस जीवन के लिए। **परिवंदण-माणण-पूयणाए**—परिवन्दन—प्रशसा, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा के लिए। **जाइ-मरण-मोयणाए**—जन्म, मरण और मुक्ति लेने के लिए। **दुक्ख-पडिघायहेउं**—दुःखों से छुटकारा पाने के लिए कुछ जीव पाप क्रियाओ मे प्रवृत्त होते हैं।

मूलार्थ—अनेक ससारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने के लिए, अर्थात् बहुत वर्षो तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण और मुक्ति के हेतु, दु.खों से छुटकारा पाने की आकांक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यो में प्रवृत्त होते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, मरना कोई नही चाहता। सब प्राणियो को जीवन प्रिय है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बनाये रखने का यथासंभव प्रयत्न करता है। अपने आपको लम्बे समय तक जीवित रखने के लिए वह उचित एवं अनुचित कार्य का तथा पाप-पुण्य का जरा भी ध्यान नहीं करता। इस तरह जीवन को स्थायी बनाए रखने की झूठी लालसा या मृगतृष्णा के पीछे वह अनेक पाप कार्यो मे प्रवृत्त होता है। और इसका मुख्य कारण है—नश्वर जीवन के प्रति प्राणी की मोहजन्य आसक्ति, ममता एव मूर्च्छा।

प्रस्तुत सूत्र मे पाप-प्रवृत्ति मे प्रवृत्त होने के आठ कारण बताए है—1-जीवन, 2-परिवन्दन, प्रशसा, 3-मान-सत्कार, 4-पूजा-प्रतिष्ठा, 5-जन्म, 6-मरण, 7-मुक्ति और 8-दु खो का प्रतिकार।

1 **जीवन**—ससार मे प्रत्येक प्राणी को एक-दूसरे का सहारा-सहयोग अपेक्षित है। बिना सहयोग के अकेला प्राणी निर्बाध गति से जीवन यात्रा नहीं कर सकता है। इसलिए जीव का कार्य रूप से लक्षण बताते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा—"एक-दूसरे

का उपकारी होना यह जीव का लक्षण है[1]।" इस दृष्टि से जीवन-यात्रा को चलाने के लिए यदि एक-दूसरे का सहयोग लिया जाता है, तो वह व्यवहार दृष्टि से बुरा नहीं है। यह सत्य है कि इस क्रिया मे भी हिसा होती है, परन्तु क्रिया के कर्त्ता की भावना शुद्ध एवं सात्त्विक होने के कारण तथा इससे सर्वथा निवृत्त होने की असमर्थता के कारण उसे विवश होकर करनी पडती है, इस अपेक्षा से वह अशुभ कर्म बन्ध से बच जाता है या स्वल्प मात्रा में ही बन्ध हो पाता है।

परन्तु कुछ व्यक्ति यह मानकर चलते हैं कि "जीव ही जीव का भोजन है[2]।" जीव को मारे बिना जीवन चल ही नहीं सकता। अतः जीवन-निर्वाह के लिए दूसरे प्राणियो को त्रास देते हुए वे ज़रा भी नही हिचकिचाते। अपने शरीर को परिपुष्ट बनाने एव स्वास्थ्य बनाने के लिए अनेक पशु एवं पक्षियो के मास का, खून का, चर्बी का तथा मद्य एव आसवो (द्राक्षासवादि) का सेवन करते है। इस तरह वे विषय-भोगो को भोगने के लिए अनेक प्रकार के पाप-कार्यो को करते हुए शर्म एव लज्जा का अनुभव नहीं करते और यह भी नही सोचते-विचारते कि जिस जीवन के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने एव बलिष्ठ और शक्तिशाली बनाने के लिए हम दुष्कर्म कर रहे है, वह जीवन या शरीर एक दिन नष्ट होने वाला है, यह जीवन सदा रहने वाला नहीं है। इस तरह क्षणिक आनन्द के लिए वे ससारी प्राणी विविध पाप-कार्यो में संलग्न होकर अशुभ कर्मो के बोझ से भारी बनते है, पाप कर्मो का संग्रह करके संसार मे परिभ्रमण करते हैं।

2. **परिवन्दन**—परिवन्दन प्रशंसा का नाम है। दुनिया में प्रशसा पाने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दुष्कर्म का आसेवन करता है। हम देखते है कि कई पहलवान दुनिया मे प्रशसा पाने के हेतु मास-मछली एव अडे आदि अभक्ष्य पदार्थ खाकर अपनी शारीरिक शक्ति बढाते है और फिर उसका प्रदर्शन करके लोगो से प्रशसा पाते है। आज भी कुछ लोग प्रतिवर्ष यूरोप मे इगलिश चैनल नदी को पार करते है। वह एक भयंकर नदी है, नदी क्या छोटा-सा समुद्र ही है। उसे पार करने की पीछे एक ही कामना रही हुई है और वह यह कि संसार में प्रशंसा पाना समाचार-पत्रो के मुख-पृष्ठ

1 परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ सूत्र

2 जीवो जीवस्य भोजनम्। —मनुस्मृति।

पर तथा लोगो की ज़बान पर अपना नाम देखना या सुनना। कुछ लोग प्रशसा पाने के लिए गरमी की ऋतु मे भी अग्नि या पचाग्नि तपते हैं। इस तरह प्रशसा पाने के लिए मनुष्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति, अग्नि पशु-पक्षी आदि अनेक जीवो की हिंसा करता है और उससे पाप कर्म का सग्रह करता है।

3. मान—मान का अर्थ है—आदर-सत्कार। मनुष्य मान-सम्मान या आदर-सत्कार पाने के लिए अनेक तरह के दुष्कृत्य करता है। अपना सम्मान बनाए रखने के लिए मनुष्य छल-कपट करता है, अपने से कमजोर व्यक्तियो को आतकित करता है, डराता है धमकाता है। इस तरह मान-सम्मान की चाह के वशीभूत हुआ मनुष्य मनुष्यो का शोषण करता है, निरपराध प्राणियो पर प्रहार करता है और यदि शक्तिशाली हुआ तो युद्ध का दावानल सुलगा देता है। किसी ने ज़रा-सा अपमान किया वा आदेश नही माना कि उसका दिमाग गरम हो जाता है और वह उसका बदला खून की नदी बहाकर ही लेता है। चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने केवल अपना आदेश न मानने के कारण अपने छोटे भाई बाहुबली पर आक्रमण किया था। आज भी मनुष्य अपना मान-सम्मान बढाने के लिए दूसरों को कुचलते हुए ज़रा भी नही हिचकिचाता। इसके अतिरिक्त वह और भी दुष्कर्म करता है—अधिकारियो को रिश्वत देता है; उन्हे सामिष भोजन खिलाता है, मदिरा पिलाता है, वेश्यालय की सैर कराता है। इस प्रकार मान-सम्मान के लिए मनुष्य अनेक दुष्कृत्यो मे प्रवृत्त होकर पाप-कर्म का उपार्जन करता है और परिणाम स्वरूप चारगति मे परिभ्रमण करता है।

4. पूजन—अन्न-वस्त्र, जल, पुष्प-फल आदि से या पशु-पक्षी का बलिदान करके देवी-देवताओ को प्रसन्न करना पूजन कहलाता है। अज्ञानी लोक पूजा के नाम पर अनेक मूक प्राणियों की तथा पुष्प, फल, जल आदि एकेंद्रिय जीवो की व्यर्थ हिसा करके कर्मो का सग्रह करते है।

5. जाति-जन्म—जाति का अर्थ है—जन्म। पुत्र आदि के जन्म पर तथा जन्म-दिन की याद में मनुष्य अनेक तरह के आरभ-समारभ के कार्य करता है। इसके अतिरिक्त परलोक मे अच्छा जन्म मिलेगा,, इस लोभ से कई अज्ञ व्यक्ति जल-प्रवाह में प्रवाहित होते है, गंगा की तेज धारा मे जल-समाधि लगाते है, स्त्री को मृतपति के साथ जला देते हैं। पति के साथ पत्नी के जलने की परम्परा को सतीप्रथा कहते है। कुछ लोगो

का विश्वास है कि मृतपति के साथ जलने से अगले जन्म में उसे वही पति मिलेगा। इस तरह जन्म को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य आत्महत्या-जैसा जघन्य कार्य एव अन्य हिसक कार्य करके कर्मो का सग्रह करता है।

6. मरण—मरण अर्थात् मृत्यु के लिए मनुष्य अनेक दुष्कर्म करता है। वर्तमान के दु:खमय जीवन से घबराकर कष्ट से बचने के लिए मनुष्य विष खाकर, गले मे रस्सी का फंदा डालकर, मकान की छत आदि से गिरकर या अन्य किसी साधन से आत्महत्या करता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु से बचने के लिए मास-मदिरा युक्त औषधियो का सेवन करता है, देवी-देवताओं के सामने पशुओ का बलिदान करता है। इस तरह मृत्यु के निमित भी मनुष्य अनेक पापजन्य कार्य करता है।

7. मोक्ष—मोक्ष—मुक्ति को कहा गया है। मुक्ति पाने के लिए भी बाल-अज्ञानी जीव हिसा एव पापो का आसेवन करते हैं। कई लोग मुक्ति पाने के लिए पञ्चाग्नि तपते है, वृक्ष से पैर बांध कर उल्टे लटक जाते हैं और नीचे आग जला देते है, सर्दी की ऋतु में घटो पानी में खडे रहते है, केवल कन्द-मूल या शैवाल का भोजन करते है। इस तरह मुक्ति पाने के हेतु अनेक पाप कार्य करके अज्ञानी जीव कर्मो का सग्रह करके ससार मे ही परिभ्रमण करते है।

'जाइमरण-मोयणाए' का यदि 'जातिश्च, मरण च, मोचन च, जातिमरणमोचन' यह विग्रह न मानकर 'जातिश्च मरण च जातिमरणे तयो मोचनाय' ऐसा विग्रह किया जाए तो उसका *अर्थ होगा कि जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए*, हम देखते है कि कई व्यक्ति जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए अनेक तरह की सावद्य क्रियाए करते है, बाल तप करते है, पञ्चाग्नि तपते है। इस प्रकार मुक्ति के लिए सावद्य अनुष्ठान करके कई अज्ञ प्राणी कर्मो का सग्रह करते हैं।

8. दुःख-प्रतिघात—दु:ख-प्रतिघात का अर्थ है—दुःखों से सर्वथा छुटकारा पाना। प्रत्येक व्यक्ति दुःखो से मुक्त-उन्मुक्त होना चाहता है। पर उसे सन्मार्ग का ज्ञान नही होने से अनेक अज्ञ प्राणी दुष्प्रवृत्तियों का सेवन करते है। संसार मे अमीर-गरीब, ऊच-नीच, शोषक-शोषित आदि वर्गो एवं जातियो का चल रहा सघर्ष दु ख से छुटकारा पाने का ही प्रतीक है। दु:खों से मुक्त होने के लिए मनुष्य उचित-अनुचित साधनो से दिन-रात धन बटोरने एवं परिवार बढ़ाने मे लगा रहता है। धन और जन की अभिवृद्धि

के लोभ में आकर वह अनेक दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होकर पापकर्मो का संग्रह करता है।

इस तरह मनुष्य का जीवन सासारिक कामनाओ से आवेष्टित है और वह उनकी पूर्ति के निमित्त रात-दिन विभिन्न कर्मो मे सलग्न रहता है। इस संबध में संस्कृत के एक विद्वान आचार्य ने बहुत ही सुदर शब्दो मे कहा है—

"आदौ प्रतिष्ठाधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृहिण- सुतेषु।
कर्तु पुनस्तेषु गुण प्रकर्ष, चेष्टा तदुच्चै पदलंघनाय।"

अर्थात्—गृहस्थो का सर्वप्रथम प्रयास येन-केन-प्रकारेण ससार मे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का रहता है। दूसरे, स्त्री को पाने एव तीसरे में पुण्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते है। तदनन्तर वे अपने पुत्रो को सुखी बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते है। इस तरह घडी की सुई की तरह उनका प्रयास-प्रवाह निरन्तर प्रवहमान रहता है। उनकी अतृप्त कामनाओ का प्रवाह जीवन के अन्तिम क्षण तक चलता रहता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्राणी अपनी अन्तर कामनाओ या अभिलाषाओ के वशीभूत होकर पाप-कार्यो मे प्रवृत्त होता है। जब उसे क्रिया के हेय-उपादेयता के स्वरूप का सम्यक्तया बोध हो जाता है और वह परिज्ञा—विवेक युक्त होकर साधना मे प्रवृत्त होता है तो फिर वह ससार में अनन्त काल तक परिभ्रमण कराने वाले पापकर्मो से सहज ही बच जाता है। क्योंकि जब तक क्रिया मे विवेक जागृत नही होता, तभी तक पाप-कर्म का बन्ध होता है। विवेक जागृत होने के बाद साधक द्वारा की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नही होता[1]। और जब साधक ज्ञान के द्वारा क्रिया के वास्तविक स्वरूप को समझकर त्यागपथ पर गतिशील होता है, फिर शनै-शनै क्रियाओ का परित्याग करता हुआ एक दिन ससार मे रोक रखने वाली क्रिया-मात्र से मुक्त हो जाता है। साधना की चरम सीमा को लांघकर साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले क्रिया-सबन्धी उचित जानकारी प्राप्त करे और फिर उनमे विवेकपूर्वक गति करे। इससे साधक ससार-सागर को पार करके एक दिन कर्मबन्धन की कारणभूत क्रियाओ से भली प्रकार छुटकारा पा लेगा।

---

1. "जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जय सए,
जय भुजतो-भासतो, पाव कम्म न बधइ।" —दशवैकालिक सूत्र, 4/9

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार क्रियाओं की इयत्ता—परिमितता बताते हुए कहते है—

मूलम्—एयावंती सव्वावंती लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति॥12॥

छाया—एतावन्तः सर्वेलोके कर्म समारम्भाः परिज्ञातव्या भवन्ति।

पदार्थ—लोगंसि—लोक मे। **एयावंती**—इतने ही। **सव्वावंती**—सर्व। **कम्म-समारम्भा**—कर्म-सम्भारम्भ-क्रिया-विशेष। **परिजाणियव्वा**—परिज्ञातव्य-जानने योग्य। **भवंति**—होते है।

मूलार्थ—समस्त लोक मे कर्म-बन्धन की हेतुभूत इतनी ही क्रियाए होती है—जितनी पूर्व सूत्र मे बताई गई है (27 क्रियाए)। न इस से अधिक होती है और न कम, ऐसा समझना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

क्रिया के स्वरूप एव भेदो का वर्णन पहले किया जा चुका है। प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि कर्मबन्धन की हेतुभूत जितनी क्रियाए बताई गई हैं, संसार मे उससे न्यूनाधिक क्रियाए नहीं हैं। प्रस्तुत सूत्र मे दृढता के साथ पूर्व सूत्रो मे वर्णित विषय का समर्थन किया गया है और साधक को प्रेरित किया गया है कि वह क्रियाओं के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसमें विवेकपूर्वक गति करे, अर्थात् पहले हेय-उपादेय का भेद करके हेय को सर्वथा त्यागकर साधना मे तेजस्विता लाने वाली, साध्य के निकट पहुचाने वाली उपादेय क्रियाओ को स्वीकार करे और यथासमय उनका भी यथाशक्य त्याग करता हुआ एक दिन क्रिया-मात्र का परित्याग करने, अशुभ का ही नहीं, सपूर्ण शुभ प्रवृत्तियों से भी निवृत्त बने। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे बताया है कि कर्म-बन्ध की हेतुभूत इतनी ही क्रियाए है। साधक को इनका परिज्ञान होना चाहिए। क्योकि ज्ञान होने पर ही साधक उनसे विरत हो सकेगा, अत. उनके स्वरूप आदि का वर्णन करके सूत्रकार उन क्रियाओं से विरत होने का प्रतिपादन करते हुए कहते है—

मूलम्—जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे॥13॥ त्ति बेमि।

छाया—यस्य एते लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवंति सः खलु मुनिः परिज्ञात-कर्मा। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जस्स—जिम मुमुक्षु के। **एते**—ये (पूर्वोक्त)। **कम्मसभारम्भा**—कर्म सम्मारम्भ—क्रिया-विशेष। **परिण्णाया**—परिज्ञात। **भवंति**—होते है। **से**—वह। **मुणी**—मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञातकर्मा होता है। **त्ति बेमि**—ऐसा मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जिस मुमुक्षु को पूर्वोक्त कर्म-समारंभ परिज्ञात है, वह मुनि परिज्ञातकर्मा—कर्म और क्रिया के स्वरूप को भली-भाति जानने और जान-समझ कर त्याग करने वाला तथा विवेक-युक्त सयम-साधना मे प्रवृत्त होता है।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मो के बन्ध की कारण क्रिया विशेष हैं, उन्ही को कर्म-समारभ कहते है। उनका भली-भाति ज्ञाता, अर्थात् कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओ को सम्यक्तया जानने तथा तदनुसार उनका परित्याग करने वाला, जो मुनि है, वह परिज्ञात-कर्मा कहलाता है। परिज्ञात-कर्मा का तात्पर्य है—वह मुनि जो ज्ञ-परिज्ञा से उसके वास्तविक स्वरूप को जानता, समझता है और प्रत्याख्यान-परिज्ञा के द्वारा उसका परित्याग करता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि वह ज्ञानपूर्वक आचरण में प्रवृत्त होता है। उसका ज्ञान आचरण से समन्वित है और आचरण ज्ञान के प्रकाश से ज्योतिर्मय है। उसके जीवन मे ज्ञान और क्रिया का या यो कहिए कि विचार और आचार का विरोध नही, समन्वय है और इन दोनो का समन्वय ही मोक्ष-मार्ग है, आत्मा को क्रिया से सर्वथा निवृत्त करने वाला है। किसी भी गन्तव्य स्थान पर पहुचने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वित प्रयत्न की आवश्यकता होती है। जिस स्थान पर पहुचना है, पहले उस स्थान का एव उसके रास्ते का ज्ञान होना ज़रूरी है और फिर तदनुरूप क्रिया की आवश्यकता है। ज्ञान और क्रिया के सुमेल से ही प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है—चाहे वह गन्तव्य स्थान लौकिक हो या लोकोत्तर।

मुनि शब्द की व्याख्या करते हुए आगम मे कहा गया है कि "वन मे निवास

करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, अपितु ज्ञान से मुनि होता है[1]।" जिस साधु के जीवन मे ज्ञान का प्रकाश है, आलोक है वह मुनि है, भले ही वह जगल मे रहे, पर्वतो की गुफाओ मे रहे या गाव एवं शहर में रहे। स्थान से उसके जीवन में कोई अन्तर नही पडता, यदि उसके जीवन में ज्ञान है। टीकाकार आचार्य शीलाक ने मुनि शब्द की यही परिभाषा की है। उन्होंने लिखा है कि "जो मननशील है या लोक की, जगत की त्रिकालवर्ती अवस्था को जानने वाला है, वह मुनि है[2]।" इससे यह स्पष्ट हो गया कि जिस साधक को क्रिया की हेय-उपादेयता का सम्यक्तया परिबोध है और जो परिज्ञा—विवेक के साथ सयमसाधना मे प्रवृत्त है, वह मुनि है और वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है।

क्रिया-सबन्धी सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष यह है कि साधक कर्म-बन्धन की हेतुभूत क्रिया के स्वरूप का सम्यक्तया बोध करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे। क्योकि प्रत्येक साधक का मुख्य उद्देश्य क्रिया-मात्र से सर्वथा निवृत्त होना है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करना है या सीधी-सी भाषा में कहें तो निर्वाण पद को प्राप्त करना है। इसलिए साधक की साधना मे तेजस्विता एव गति पाने के लिए प्रस्तुत प्रकरण मे संसार मे परिभ्रमण कराने की कारणभूत क्रिया के स्वरूप को जान-समझ कर त्यागने की प्रेरणा दी गई है।

'इति ब्रवीमि' का अर्थ है—इस प्रकार मै तुमसे कहता हूँ। इसका तात्पर्य स्पष्ट रूप से यह है कि आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कह रहे है कि—हे जम्बू! मैने जो कुछ तुम्हे कहा है, वह जैसा भगवान महावीर के मुख से सुना है, वैसा ही कहा है, मै अपनी तरफ से कुछ नही कह रहा हूँ। 'इति ब्रवीमि' के अन्तर में यही रहस्य अन्तर्निहित है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि आगम के अर्थ रूप से उपदेष्टा तीर्थकर ही होते है, गणधर केवल उनके उपदेश को सूत्र रूप में ग्रथित करते हैं। यही बात सूत्रकार ने 'त्ति बेमि' शब्द से अभिव्यक्त की है।

॥शस्त्रपरिज्ञा प्रथम उद्देशक समाप्त॥

1 उत्तराध्ययन, 25/31-32

2. "मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनि·" —आचाराग टीका 1/1/1/13

अध्यात्मसार : ।

आचार्य-प्रवर श्री शिवमुनि जी म को आचाराग सूत्र का स्वाध्याय करते हुए जिनशासन के आशीर्वाद से जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे विशेष रूप से इसके साथ प्रस्तुत कर रहे है। पाठक इसका मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय करें।

मूलसूत्र—तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि॥3॥

मूलार्थ—जैसे मै पूर्व दिशा से आया हूँ, या दक्षिण दिशा से आया हूँ, या पश्चिम एव उत्तर दिशा से या ऊर्ध्व एव अधोदिशा से या किसी एक दिशा-विदिशा से इस ससार में प्रविष्ट हुआ हूँ—आया हूँ।

संसार का मूल कारण

सभी लोग सामान्यत यही बताते है कि ससार का मूल है—कर्म और कर्मो का कारण है राग-द्वेष, अत. राग-द्वेष को दूर करो। लेकिन कहना ऐसे चाहिए—भव भ्रमण का मूल है चित्त-भ्रमण, अतः चित्त को शुभ आलम्बन मे एकाग्र करना चाहिए।

चारित्र का मूल है गुप्ति। गुप्ति के सधते ही भव-भ्रमण रुक जाता है। आखिर राग-द्वेष भी क्यो होते है, क्योकि चित्त भ्रमित है। जब चित्त किसी शुभ आलम्बन में लीन हो जाए तो राग-द्वेष स्वत रुक जाते है। इस लीनता से मूलत सवर और निर्जरा होती है। लेकिन साथ मे पुण्यबन्ध भी होता है और लीनता बढते-बढ़ते जैसे नमक मे पानी की डली विलीन हो जाती है, वैसे ही चित्त आत्मा मे विलीन हो जाए, आत्मा के शुद्ध उपयोग मे डूब जाए, तभी सवर-निर्जरा की ओर गति होती है और उच्चता की ओर बढते हुए अपूर्व करण की शुरूआत होती है। यह धारा यदि क्षय की

अधिक और उपशम की कम रही तो तेरहवें गुणस्थान और यदि उपशम की अधिक है तो ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर पुन. लौटती है।

हेय-उपादेय

राग-द्वेष को रोकना चाहिए, यह कहना हेय का प्रतिपादन है और चित्त को शुभ आलम्बन मे लगाना चाहिए, यह बताना उपादेय का प्रतिपादन है। हेय की अपेक्षा उपादेय पर अधिक जोर देना है। फिर भी हेय का वर्णन भी अवश्य करना चाहिए। जो राग-द्वेष को उत्पन्न करे, ऐसा वाचन नही करना। ऐसे लोगो के पास भी अधिक नही बैठना, जो विकथा करते है या राग-द्वेष का प्रोत्साहन करते हैं इत्यादि। लेकिन ये सभी चित्त को शुभ आलम्बन मे लगाने रूप, उपादेय मे लगाने रूप, सहयोगी हैं। यदि यह सभव नही है तो केवल हेय का आचरण करने मात्र से लाभ तो हो सकेगा, लेकिन आभ्यंतर साधना नही हो सकती।

दिशा का ज्ञान कि मै पूर्व जन्म मे क्या था, मै किस दिशा से आया हूँ और आगे मै किस दिशा में जाऊँगा? इसका बोध जब क्षयोपशम के आधार पर होता है, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय के आधार पर होता है, तब वह स्वरूप-रमण और वैराग्य का कारण बनता है। यदि केवल देव या अतिशय ज्ञानी के निमित्त यह ज्ञान हो, तब वह आत्मबोध का कारण बन भी सकता है और नही भी बन सकता।

यदि किसी विशेष परिस्थिति या चित्त की विशेष अवस्था मे जीव को उसके पूर्व भव का ज्ञान, अतिशय ज्ञानी के द्वारा बताया जाए, तब वह आत्मबोध मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण अवश्य बनता है, जैसे—भगवान महावीर ने मेघ कुमार के पूर्व भव का वर्णन सुनाया तो उसको स्वय ही जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होकर आत्मबोध हो गया था।

मूलम्—से जं पुण जाणेजा सह संमइयाए, परवागरणेणं अण्णेसिं अन्तिए वा सोच्चा। तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, जाव-अण्णयरीओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिशाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं॥5॥

मूलार्थ—वह ज्ञाता स्वमति या सन्मति से, तीर्थकर के उपदेश से अथवा किसी अन्य अतिशय ज्ञानी से सुनकर यह जान लेता है कि मै पूर्व दिशा से आया हूँ यावत् किसी भी दिशा-विदिशा से आया हूँ और वह यह भी परिज्ञात कर लेता है कि मेरी आत्मा औपपातिक है। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी भली-भांति समझ लेता है कि अमुक दिशा-विदिशाओ मे भ्रमणशील जो आत्मा है, वह मैं ही हूँ।

सोऽहं—'सोऽह' का एक अर्थ, स -सिद्ध भगवान अहं—मै अर्थात् मै वही हूँ। मेरे और सिद्ध भगवान के मूल स्वरूप मे कोई अन्तर नहीं है। दूसरा अर्थ—जितनी भी आत्माए हैं, वे सभी मेरे ही समान है, मुझसे अलग कोई नहीं है, सभी मे मै ही हूँ और मुझमे सभी है। जिस दिन व्यक्ति को स्वरूप का 'स्वयं का' बोध होता है, उस दिन उसे यह भी बोध होता है कि सभी मे मेरे समान ही अस्तित्व है। देह और योनि कर्म आवरण के कारण अलग-अलग होने के बावजूद भी मूल रूप से सभी मे मेरे समान ही अस्तित्व है।

आत्मवत् सर्व भूतेषुः

यह ज्ञान होने पर स्वभावत. मैत्री-भाव का जन्म होता है। स्वरूप के बोध से मंगलमैत्री का जन्म होता है और मंगल मैत्री में चित्त को भावित करने से स्वरूपबोध की साधना मे सहयोग मिलता है, क्योंकि जब सभी मे अपना स्वरूप दिखाई देता है, तब सभी के प्रति निकटता और मैत्री का अनुभव स्वयमेव होता है। उसी मैत्री के आधार पर अहिसा-सत्य आदि आचार का जन्म होता है। फिर भेद मिटकर अभेद का बोध होता है। इसीलिए पहले सम्यक् दर्शन, फिर व्रत जो निश्चय सम्यक्दर्शन—आत्मबोध-सोऽहं। व्यवहार सम्यक् दर्शन देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्था जैसे ही स्वरूप का बोध होता है—जीव और अजीव का बोध होता है।

सम्यक् दर्शन क्या है? जीव और अजीव का बोध होना। जैसे श्री अन्तकृतदशांग-सूत्र मे सुदर्शन सेठ का वर्णन करते हुए कहा गया कि वे जीव और अजीव के ज्ञाता थे। यही निश्चय वास्तविक सम्यक् दर्शन है।

व्यवहार सम्यक् दर्शन—इसकी प्राप्ति हेतु साधना रूप सहयोगी है। इस प्रकार स्वरूप का बोध होने के बाद में व्रत आते हैं। अनेक जीवात्माए व्यवहार से व्रत

स्वीकार नही करते, लेकिन निश्चय से आत्मबोध के पश्चात् (अपने निश्चय से आत्मबोध के पश्चात्) अपने आप गुण श्रेणी चढ़ते हुए व्रत आ जाते हैं। जैसे माता मरुदेवी, भरत चक्रवर्ती इत्यादि वाहर से प्रत्याख्यान धारण करना निश्चय से प्रत्याख्यान आने में साधना रूप एवं सहयोगी है और यही राजमार्ग है।

व्यवहार से साधुपद को हम छठे गुणस्थान मे कहते है, लेकिन निश्चय से कई मुनिराज पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पॉचवे और छठे गुणस्थान में भी हो सकते हैं। ऐसे तो जीव कौन से गुण स्थान मे है, यह निश्चय से केवलीगम्य और व्यवहार से जीव की वृत्तियॉ उसके विचार और भाव के अनुसार हम अनुमान लगा सकते हैं कि जीव किस गुणस्थान मे है।

चित्त को शान्त करने के लिए—जब श्वासोच्छ्वास के साथ मे हम नाभि पर ध्यान देते है, तब केवल उसके साथ रहने से चित्त अपने आप शान्त हो जाता है। यह प्रयोग रात को सोते समय कर सकते है। विचार त्वरा से शात हो जाएगे।

सोऽहं—सोऽह का ध्यान कुछ भी करो, करते रहो, उपयोग पूर्वक चलना, उठना, बैठना इत्यादि यतनापूर्वक करते हुए, अजपा जाप की तरह 'सोऽहं' भी अपने आप होगा। इस प्रकार ध्यान से नाभि केन्द्र का विकास होता है और दिशाबोध अपने आप होता है। जीव के परिणाम उच्च हो और यदि उत्कृष्ट परिणामो से वह तीव्र गति से साधना करे तो 6 महीने मे ही यह बोध हो सकता है। यह बात साधना की अपेक्षा से है। वास्तव मे जब काल परिपक्व होता है, योग्य समय आता है और काल-लब्धि पकती है, तभी ज्ञान अपने आप होता है। अतः निष्ठा एव यतनापूर्वक साधना करते रहना तथा धैर्य बनाए रखना, अधैर्य नही करना।

मूलम्—से आयावादी, कम्मावादी, किरियावादी॥6॥

मूलार्थ—जिस साधक ने आत्मा के स्वरूप को समझ लिया है, वही आत्मवादी बन सकता है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर सकता है। जो आत्मा के स्वरूप का विवेचन कर सकता है, वही आत्मा लोक के स्वरूप को स्पष्टतः समझ एव समझा सकता है। जो लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त कर सकता है, वही कर्म के स्वरूप को बता सकता है। जो कर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है, वही वास्तव में क्रिया—आचरण के स्वरूप का वास्तविक वर्णन कर सकता है।

आत्मा के स्वरूप को जाने बिना व्यक्ति लोक के, कर्म के और क्रिया के स्वरूप को नही जान सकता। इसलिए पहले आत्मा के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जो आत्म-स्वरूप के बोध से युक्त है, वही आत्मस्वरूप के बोध का प्रतिपादन कर सकता है। अत वही आत्मवादी है और जो आत्मवादी है, वही लोकवादी है। लोक के स्वरूप का प्रतिपादक ही कर्मवादी एव क्रियावादी बन सकता है। इन चार बातो में भगवान की समस्त वाणी समाविष्ट हो गई है।

प्रवचन कौन करें? इस भगवद्वाणी का प्रवचन करने का अधिकार किसे हैं?

1—**निश्चय से** तो 'आयावादी'—आत्मज्ञानी को ही भगवद्वाणी के प्रवचन का अधिकार है। आत्म-बोध के अभाव मे उत्सूत्र की प्ररूपणा हो सकती है, जिससे स्वय वक्ता एव श्रोता उभय आत्मा की हानि हो सकती है। धर्म-कथा करने वाले के जो मूल गुण है, उसमे सर्वप्रथम है—आत्मबोध से युक्त होना।

2—**व्यवहार से**—श्री दशवैकालिक सूत्र, श्री उत्तराध्ययन सूत्र, श्री आचाराग सूत्र, श्री ठाणाग सूत्र, श्री ज्ञाताधर्म कथाग सूत्र। इस द्रव्यश्रुत एव भावश्रुत से युक्त मुनि।

मूल बात यह है कि उसे आचार का, विधि और निषेध का, हेय-ज्ञेय और उपादेय का परिपूर्ण बोध होना आवश्यक है। जो प्रतिदिन स्वाध्याय करने वाला हो तथा स्वय के बाह्याचार एव आभ्यतर साधना मे सुस्थिर हो, ऐसे सुसयत व्यक्ति को ही धर्म कथा करने का अधिकार है। इन गुणो से रहित मुनिजन या अन्य आत्माएँ जब धर्म-कथा करते है, तब विपरीत प्ररूपणा होनी सभव है, जिससे ज्ञान का ह्रास होता है और आत्मा स्वय अपने अज्ञान के अधकार को घनीभूत रहती है, जिससे मुनिजनो मे ज्ञान का विकास नही होता है।

धर्म कथा—स्वाध्याय का एक उच्चतम पचम अग है। वाचना, पृच्छना परियट्टना अनुप्रेक्षा और फिर धर्म कथा।

साधु धर्म कथा क्यो करता है? जिनवाणी की प्रभावना के लिए यह व्यवहार रूप से है। निश्चय नय से तो आत्मज्ञानी ही धर्म का प्रतिबोधक है। लेकिन इस काल मे पहले व्यवहार है, फिर निश्चय।

मूलम्—अकरिस्सं चऽहं, कारवेसु, चऽहं, करओ आवि समणुन्ने भविस्सामि॥7॥

मूलार्थ—मैंने किया था, मैं कराता हूॅ और करने वाले अन्य व्यक्तियों का मैं अनुमोदन-समर्थन करूगा।

यह ध्यान का सूत्र है—क्रियाएं भिन्न-भिन्न है। समय-सापेक्ष हैं। लेकिन कर्ता एक ही है और वह समय-निरपेक्ष है। जो कर्ता है, वह वही है, केवल क्रियाए बदलती रहती है और जैसा कर्ता होगा, वैसी ही क्रियाए होगी। अत. केवल क्रियाओं को बदलने से कर्ता नहीं बदलता। क्र्ता का जो भ्रम है, कर्ता के दृष्टिकोण में जो मिथ्याभाव है, वह जब तक नही हटेगा, तब तक क्रियाएॅ नहीं बदलतीं। इसी अपेक्षा से आत्मबोध की प्रमुखता है। यह ध्यान का सूत्र है। यह जो कर्ताभाव है कि मैंने किया था, मैं कर रहा हूॅ, मैं अनुमोदन कर रहा हूॅ, यह बन्धन का कारण है।

जब आत्मभाव का जन्म होता है, तब वैदेही अवस्था का बोध होता है। तब पता चलता है कि मेरी आत्मा कुछ भी करने वाली नहीं है। आत्मा का मूल गुण ज्ञान ओर दर्शन है। इसको हम स्वरूपबोध में भी ले सकते है कि जिसको स्वरूप का बोध होता है, उसे यह समझ मे आ जाता है कि मेरा स्वभाव कुछ करने का या कर्ताभाव का नही, अपितु केवल ज्ञायक भाव है।

कई विचारक ऐसा भी सोचते है कि मैं तो कुछ करने वाला नही हूॅ और सब कुछ करते हुए भी मै ज्ञाता—द्रष्टा भाव में हूॅ। अत मुझे कोई बधन नही है, परन्तु यह भी एक बन्धन ही है। वह ज्ञाता द्रष्टा भाव नही है, वह भी कर्ताभाव ही है कि मै ज्ञाता हूॅ।

यह बोध ज्ञाता-द्रष्टा भाव तब तक जागृत नही होता, जब तक आत्म-बोध नहीं होता और इस आत्मबोध के लिए ही बाह्याचार एव आन्तरिक साधना आवश्यक है। आत्मबोध के पश्चात् ही ज्ञाता-भाव जागृत होता है।

मूलम्—अपरिण्णायकम्मा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ, अणुदिसाओ अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ, सव्वाओ अणुदिसाओ सहिति। अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेह॥9॥

मूलार्थ—जो व्यक्ति कर्मबन्ध की कारणभूत क्रियाओं के यथार्थ स्वरूप को भलीभाति नहीं जानता है और उनका परित्याग नही करता है, वह इन दिशा-विदिशाओं में परिभ्रमण करता है और सभी दिशा-विदिशाओं मे कर्मो के साथ जाता है। विभिन्न योनियों के साथ सम्बन्धित होता है और अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु:खो का सवेदन एवं उपभोग करता है।

अपरिज्ञात-कर्मा का अर्थ है निश्चय नय से जिसको आत्मबोध नहीं है, जो ज्ञायक भाव से रहित है, क्योंकि जो आयावादी नही वह लोयावादी भी नहीं, जो लोयावादी नही, वह कम्मावादी और क्रियावादी भी नही। यह सूत्र आत्मबोध की महत्ता को बताता है कि उसके बिना जीव भटकता है। इस प्रकार हमने अनेक जन्मों मे बाह्याचार किया, उससे पुण्य-बन्ध हुआ, लेकिन निर्जरा नहीं हुई।

परिज्ञात कर्मा मुनि वही है जो कर्मबन्धन के कारण को जानता है तथा कर्म मुक्ति का उपाय क्या है, यह भी जानता है। साथ ही तदनुसार यथा-शक्ति सम्यक् आचरण भी करता है। परिज्ञात कर्मा के अन्तर्गत कर्म-बन्धन के कारण एव मुक्ति के उपायों को जानना मात्र ही नहीं है, अपितु तदनुसार सम्यक् आचरण भी समाविष्ट है।

प्रत्याख्यान परिज्ञा—केवल त्याग प्रधान नही है, अपितु जो उपादेय है, उसका आचरण भी साथ है। साधारणतः हम प्रत्याख्यान का अर्थ छोडना लेते हैं, परन्तु वस्तुत उसका अर्थ जो हेय है उसको छोड़ना मात्र ही नही, अपितु जो उपादेय है, उसे ग्रहण करना भी है। अत. मुनिजन या श्रावक जन महाव्रत या अणुव्रत ग्रहण करते है, तब केवल यही नही समझना चाहिए कि तुम्हे क्या छोड़ना चाहिए, साथ में यह भी बताना चाहिए कि क्या उपादेय है। जैसे श्री उत्तराध्ययन-सूत्र मे मुनिजनो के लिए दस प्रकार की समाचारी का वर्णन है।

मूलम्—तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइया॥10॥

मूलार्थ—कर्म-बन्धन की कारणभूत क्रियाओ के सबध मे भगवान महावीर ने परिज्ञा—विवेक का उपदेश दिया है।

संसार का कारण—जब तक कर्म है, तब तब ससार है। संसार में परिभ्रमण

करने का कारण कर्म है। यहॉ पर साधारणतः कर्म का अर्थ आत्मा पर लगी कर्म रज या कर्म संसार की अपेक्षा से ही किया जाता है। लेकिन वस्तुतः संसार-परिभ्रमण के कारण की अपेक्षा से यदि हम देखें तो योगो जो की चचलता है, वही कर्म है। अक्सर व्यक्ति कहते है, ससार में क्यों पड़े हैं। उसका उत्तर है, क्योकि कर्मो का उदय है। यह केवल कर्माश्रित जीवन हुआ। धर्माश्रित जीवन तब बनता है, जब व्यक्ति यह समझता है कि योगों की चचलता एव कषाय के कारण ही संसार है, परिभ्रमण है तथा योग-स्थिरता एव चित्त की उपशान्तता से ही मुक्ति मिलती है।

अधिकाश व्यक्ति तत्त्वज्ञान पाकर भी कर्माश्रित जीवन ही जीते हैं, क्योंकि उन्हे कर्म का प्रथम अर्थ आत्मा पर कर्मरज है, यही समझ में आता है। दूसरा अर्थ वस्तुत· योगों की चचलता एव कषाय की तीव्रता जब तक रहेगी, तब तक आत्मा इस संसार मे भटकेगी, यह उनके समझ मे परिलक्षित नही होता।

जब वह समझ जागृत होती है, तब जीवन में योग की स्थिरता एव चित्त की उपशान्ति का आगमन होता है, तब जीव कर्माश्रित से धर्माश्रित होता है।

अकर्मण्येव मोक्ष—अकर्म ही मोक्ष है, अकर्म यानी आत्मा का शुद्ध स्वभाव में रमण। यह बहुत कम लोग समझ पाते है। शुद्ध स्वभाव मे रमण तभी हो सकता है, जब पहले आत्म-बोध हो जाए। केवल शरीर और चित्त को शान्त कर लेना मात्र अकर्मण्येव मोक्ष नही है, वह ध्यान के लिए तैयारी मात्र है।

जिनवाणी की पठन-विधि

जिनवाणी का अर्थ तभी प्रकट होता है, जब किसी चारित्रवान व्यक्ति के समक्ष वह वाणी आती है और वह उपयोगपूर्वक उसका पठन-श्रवण या चिन्तन करता है। बिना चारित्र के जिनवाणी का पठन नही किया जा सकता। जिनवाणी की प्रभावना के लिए कम-से-कम व्यक्ति को श्रमणोपासक बनना आवश्यक है और ऐसा श्रमणोपासक जो अपना बाह्याचार एव आन्तरिक साधना में स्थिर हो। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा नही दी जा सकती, पहले उसके कर्मो का क्षयोपशम भी देखना आवश्यक है।

मुनि का स्वरूप

जिसने अपने मन का गोपन कर लिया है अथवा जिसने मन को गुपित कर लिया है, वह मुनि है और जिसने अभी तक मनोगुप्ति को नहीं साधा, वह मुनि नही है। इसी एक परीक्षा से बाकी सारी परीक्षाएँ हो जाती है।

वर्तमान मे केवल-ज्ञानी विद्यमान नही है कि हम कैसे जाने, किसका मन गुपित है। अत· वर्तमान मे दोनो बाते होनी आवश्यक है, अर्थात् आगमो के अनुसार बाह्याचार और आन्तरिक साधना के माध्यम से जो मन का गोपन करता है, वही मुनि है।

मूलम्—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण माणण पूयणाए जाइमरण मोयणाए दुक्खपडिघायहेउं।

मूलार्थ—अनेक ससारी प्राणी जीवन को चिरकाल तक बनाए रखने, अर्थात् बहुत वर्षो तक जीवित रहने के लिए, यश-ख्याति पाने की इच्छा से, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण से मुक्ति के हेतु और दु·खों से छुटकारा पाने की आकाक्षा से हिंसा आदि दुष्कृत्यों मे प्रवृत्त होते है।

1. **जीवन के लिए**—व्यक्ति की जीने की आकाक्षा कि मै जीवित रहूँ, इस आकाक्षा के वश वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। फिर भले ही उसे कितना भी बडा झूठ बोलना पडे, किसी के शील का भग करना पडे या हिसा करनी पडे। क्योकि उसके मन मे सबसे बडी और गहरी से गहरी यह तृष्णा है कि मै कैसे जीवित रहूँ। जीवित रहने के लिए वह मासाहार करने के लिए भी तैयार हो जाता है, जीने के लिए अपने सबधियो को छोडना भी पडे तो तैयार रहता है। कितना बडा मोह है, उसे इस जीवन के लिए; क्योकि उसे पता नही है कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है। वास्तव मे तो प्रत्येक आत्मा अजर और अमर है, परन्तु देहाध्यास के कारण जीवन के प्रति प्रगाढ आसक्ति है।

सथारा क्या है—इस गहरी से गहरी आसक्ति से उपर उठना है, क्योकि मैं कैसे जिन्दा रहूँ, यह आसक्ति कर्मबन्ध का मूल है। मिथ्यात्व के कारण देहाध्यास है या यो कहें कि देहाध्यास ही मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व क्या है—असत् को सत् मानना और सत् को असत् मानना। शरीर को अपना जीवन मानना। शरीर के संयोग को जन्म तथा उसके वियोग को मृत्यु मानना।

अपने एवं अपने परिवार के जीवन को बचाने के लिए जीव कहाँ नही जाता? अनेक मिथ्यादेवो की शरण भी लेता है, जिससे किसी प्रकार जीवन को बचा लिया जाए। जो जीवाशंसा, अर्थात् जीवन की आसक्ति पर विजय प्राप्त करता है, वही स्वरूप-बोध-समाधि को प्राप्त कर सकता है। जो भी अपने स्वरूप की साधना करता है, उसे ऐसा उपसर्ग या परीषह आता है कि इस जीवन का हरण हो जाएगा। जो इस परीषह को जीत जाएगा, वही आत्मबोध को प्राप्त होता है। साधना के दरम्यान कभी न कभी ऐसा परीषह या उपसर्ग आता है। प्रमुखत. अन्त में आता है। उस समय अपने धर्म पर, समकित में एव आचार मे दृढ रहना है, तभी आत्म-बोध प्राप्त होता है। इसीलिए कहते है धर्म के लिए अपने जीवन का भी उत्सर्ग करना पडे तो कर देना, वही धर्म की परीक्षा है।

2. परिवन्दन—कैसे ही मुझे कोई वदन करे, मेरी पूजा एव सत्कार करे और मेरी कोई प्रशंसा करे, यह परिवन्दन एव मान में अन्तर है। वन्दन कोई कब करेगा, गुणो को देखकर वदन तो समकिति करता है। लेकिन मिथ्यात्वी तभी वदन करता है, जब उसे लगता है कि मेरे से अधिक कोई शक्तिशाली है। वह शक्ति को, सत्ता को वदन करता है। जैसे सेवक को लगता है कि स्वामी मुझसे अधिक शक्तिशाली है, तब वह स्वामी के समक्ष झुकता है।

किसी पर अपना अधिकार जमाने के लिए, किसी को अपना सेवक बनाने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार के कर्म करता है। येन-केन-प्रकारेण वह चाहता है कि कोई मेरी पूजा करे, वदन करे, मेरे अधिकार में रहे, मेरी आज्ञा में रहे, इसके लिए वह जो भी कर्म करता है, वे सारे दुष्कर्म है। युद्ध क्यो होता है? अधिकार जमाने के लिए या कोई अधिकार छीन रहा है तो उसे बचाने के लिए। इसलिए मुनि किसी की वदना प्राप्त करने के लिए किसी की हिंसा न करे कि मैं किसी को झुका दूँ। किसी पर विजय प्राप्त कर लूं। इस भावना से नही, अपितु जो भी करे, वह शासन प्रभावना के लिए शुद्ध भावना से करे।

3. मान—परिवंदन की तरह मान में स्वामी-सेवक की भावना, किसी पर अधिकार जमाने की भावना और किसी को अपनी आज्ञा में रखने की भावना कम है। मान मे मूल भावना यह है कि कोई मेरी प्रशंसा करे। कोई मेरे सम्बन्ध मे कुछ अच्छे बोल बोले। इस मान के कारण और इस मान को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनेक दुष्कर्म करता है। दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि कोई मेरी पूजा कर रहा है तो उसका पूजनीय भाव बनाए रखने के लिए मुझे किसी भी प्रकार की अनाचरणीय हिसा, असत्य इत्यादि करने पडे तो कर दूँ। इस प्रकार मान के लिए कई मुनिराज मंत्र-तंत्र इत्यादि का अनुष्ठान करते है। यदि शासन प्रभावना के लिए करते है, तब ठीक है। लेकिन कोई मेरी पूजा करे, मेरी मान-प्रतिष्ठा बढ़े, इस भावना से करे, तब मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

सामाजिक प्रवृत्ति के दरम्यान मुनि का लक्ष्य केवल आत्मार्थ और शासन प्रभावना का ही होना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से भी यदि किसी की मदद करनी पड़े, तब यह देखना चाहिए कि क्या यह शासनप्रभावना में मदद करेगा, क्या इस व्यक्ति के निमित्त से आगे शासनप्रभावना होने वाली है। **परिवंदन** : अधिकाधिक गहरा भाव है। **मान** : उसी का स्थूल रूप है। जैसे—

एक मित्र दूसरे मित्र की प्रशंसा करता है, तब यह मान के अन्तर्गत आता है। मान मे भी कोई प्रशसा तभी करेगा, जब कोई तुमसे प्रभावित होगा। तो किसी को प्रभावित करने की इच्छा भी स्थूल रूप से किसी पर अधिकार जमाने की भावना ही है। यह मुनि को देखना चाहिए कि क्या उसकी क्रिया प्रशसा-पूजा या प्रतिष्ठा प्राप्त करने की है तो वह कर्म बन्धनकारक है।

1. पुण्यानुबंधी पुण्य—यों तो प्रत्येक क्रिया कर्म-बन्धन को लाती है। लेकिन जो क्रिया शासनप्रभावना की शुद्ध भावना से आगमानुसार की जाती है, उससे पुण्यानुबधी पुण्य का बन्ध होता है।

जो क्रिया केवल करुणा के वश या किसी शुभ भावना के वश की जाती है, फिर भी यदि वह आगम अनुसार नही है, तो वह पुण्यबन्धन का कारण बनती है। पुण्यानुबधी पुण्य से सवर और निर्जरा के लिए साधना की प्राप्ति होती है। साधना करने हेतु निमित्त साधन मिलते है। केवल पुण्य बधन साता प्रदान करता है।

पापानुबंधी पाप—जो क्रिया दुर्भावना-वश की जाती है, साथ ही जो आगम के अनुसार नही है, पूर्ण कालिमा से भरी हुई वह क्रिया, जिससे कि अनेकों के सम्यक्त्व में भी दूषण लगता है, वह पापानुबंधी पाप है। वह इतना गहरा पाप है कि वह जब उदय मे आता है, तब व्यक्ति साधना से स्खलित हो जाता है। इस प्रकार का कर्म जब उदय मे आता है, तब वह दुःख तो लाता ही है, साथ ही दु.ख के वश उसकी मति भ्रमित हो जाती है और उस समय वह जो भी करता है, वह अपने दु.ख को और अधिक बढ़ाता है।

पाप—केवल अशुभ भावना के वश जो क्रिया होती है, परन्तु जिससे किसी के सम्यक्तव और चारित्र मे दूषण नही लगता, ऐसी अशुभ भावना के वश हुई क्रिया से पाप-कर्म का बन्ध होता है और उसके उदय में आने पर व्यक्ति असाता का अनुभव करता है। इस पापोदय के वश व्यक्ति अपनी साधना से गिर भी सकता है और नही भी गिर सकता।

पापानुबंधी पुण्य—किसी को साता पहुचाई, सहयोग दिया, शुभ भावना से दिया, लेकिन किसी को साता और सहयोग पहुँचाते हुए बाद में स्वार्थ, लोभ अपने मान और प्रतिष्ठा की भावना जब होती है, तब पापानुबधी पुण्य का बन्धन होता है। किसी को साता भी पहुंचाई, पुण्य भी किया लेकिन बाद में स्वार्थ की भावना आ गई, शुभ भावनावश नही, मान, स्वार्थ व प्रतिष्ठा की भावना से किया, जब यह पुण्य उदय मे आएगा, तब वह सुख के निमित्त, सुख के साधन प्रदान करेगा। लेकिन व्यक्ति की मति इस प्रकार होगी कि वह उन साधनों का उपयोग कर्म-बंधन हेतु दुःख एव पाप की वृद्धि हेतु करेगा।

पाप एवं पश्चात्ताप—किसी को असाता पहुचाई, दु ख पहुचाया, लेकिन मन के भीतर, पश्चात्ताप की भावना आई, भीतर ग्लानि व लज्जा की भावना आई तो पाप किया, लेकिन रस पूर्वक नही किया, अत- जब वह कर्म उदय मे आएगा, तब वह असाता तो लाएगा, पर वह असाता भी इतनी तीव्र नही होगी, साथ ही असाता दु'ख के आते ही उससे बाहर निकलने का रास्ता मिलेगा, यहां कोई न कोई व्यक्ति ऐसा आएगा, जो उसे दु.ख से बाहर निकालेगा या बाहर निकलने का रास्ता बताएगा।

व्यावहारिक तत्त्व ज्ञान का उपयोग भी यही काम आता है। पास मे रहा हुआ

व्यावहारिक तत्त्व ज्ञान कभी-न-कभी व्यक्ति को जगाता है। ऐसा व्यक्ति कम-से-कम पापानुबन्धी पाप तो नहीं करेगा। उसके हाथ से कोई गलती, अशुभ क्रिया या पाप भी होगा तो भीतर का ज्ञान उसे चोट करेगा। भीतर से उसे ग्लानि और लज्जा का अनुभव होगा। जैसे खानदानी व्यक्ति के हाथ से गलत कार्य हो जाने पर भीतर से वह लज्जा अनुभव करता है और नीच व्यक्ति गलत कार्य करे तो भी उसे मान की आकांक्षा रहती है। उसे लज्जा का अनुभव तो नहीं होता, अपितु वह मान चाहता है।

उच्च खानदान—जिसका खान-पान शुद्ध है, सात्त्विक है, अच्छी आजीविका से आता है, जिसके परिवार मे शुद्ध दान देने की वृत्ति है, अर्थात् सात्त्विक, निर्दोष, सुपात्र दान देने की वृत्ति है, उसका खानदान उच्च है।

नीच खानदान—जिसका खान-पान अशुद्ध है, असात्त्विक है, आजीविका अच्छी नही है, कभी दान नही देता, अति परिग्रही है। हिसा, झूठ इत्यादि से आजीविका आती है। उसका खानदान नीच है—खाना भी नीचा व दान भी नीचा।

आचार्य—अत आचार्य बनाते समय कुल एवं जाति को देखकर आचार्य पद दिया जाता है। माता-पिता का असर कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अवश्य आता है। यद्यपि कभी-कभी उच्च कुल मे जन्म लेकर भी व्यक्ति गिर सकता है और चाण्डाल कुल मे जन्म लेकर भी उच्च बन सकता है; फिर भी माता-पिता, जाति एव कुल का महत्त्व अवश्य है। यह उच्च कुल का संबध कुल के परपरागत संस्कारो से है। खान-पान और दान की वृत्ति में है। जैसे तीर्थकर का जन्म नीच कुल में नही होता, वैसे ही उच्च आत्माए भी उच्च कुल मे ही जन्म लेती है। जो बचपन से ही जिनेश्वर देव के मार्ग मे जुड़े है, उनका जिन-साधना मे जुड़ना आसान हो जाता है।

1 पुण्यानुबन्धी पुण्य—सवर निर्जरा।

2. पापानुबन्धी पुण्य—अपेक्षा-भोग में लिप्त।

3 पुण्यानुबन्धी पाप—पश्चात्ताप की भावना से गिरते को बचाने वाला मिलेगा।

4 पापानुबन्धी पाप—उदय मे आने पर व्यक्ति साधना से गिरता है।

जैसे बौद्ध शासन मे भी कहा है जैसे कोई व्यक्ति—प्रकाश से प्रकाश की ओर जाता है।

प्रकाश से अधकार।

अधकार से प्रकाश की ओर।

अधकार से अंधकार की ओर जाता है।

आसव—जो आसव इत्यादि होते हैं जैसे द्राक्षासव उन्हें ग्रहण न करना हितकर है। क्योंकि उसमे अनेक प्रकार की समुच्छिम जीवो की उत्पत्ति बहुत अधिक होती है, अत. वे हिसाकारी है।

सत्य परमोधर्म—अहिंसा परमोधर्म की जगह सत्य परमोधर्म लिखना, सत्य बहुत महत्त्वपूर्ण है. उसी मे सारी ताकत है।

परिज्ञातकर्मा मुनि कौन होता है?

जो उन सभी क्रिया स्थानों को जानता है जिससे कर्मो का आस्रव होता है। व्यवहार रूप से जितने भी स्थान आगमो मे बताए है, जैसे जीवन के लिए, परिवन्दन के लिए इत्यादि को जो जानता है, वाचना, पृच्छना परियट्टना, अनुप्रेक्षा और धर्म कथा के माध्यम से उन स्थानो का अपने जीवन संबध विश्लेषण एव विवेचन के द्वारा तथा आत्मनिरीक्षण एवं परीक्षण के द्वारा तथा जो उन सभी के प्रति सावधान है, वह परिज्ञातकर्मा मुनि है।

जो यह देखता है कि मेरे जीवन मे वह स्थान कहा-कहा काम करते है और वहा वहा उनसे निवृत्त होकर संयम मे प्रवृत्त होता है।

4. पूजा—वीतरागी साधु केवल भाव पूजा करते है, द्रव्य पूजा नहीं करते।

यहां पर पूजन को निम्न अर्थो मे लिया गया है—

1—मिथ्यात्वी देवो की पूजा।

2—अपनी मनोकामनाओ को पूरा करने के लिए पूजा करना। उसके लिए तरह-तरह के आरम्भ-समारम्भ करना, मनौती मनाना इत्यादि।

3—अयतना पूर्वक, रुचित वस्तु का प्रयोग करते हुए करना (अनुचिता)।

जन्म—जन्म के निमित्त कर्मो का आस्रव। अपने जन्म के निमित्त जैसे कोई अपना जन्मदिन मनाता है, आरंभ-समारंभ करता है। महा पुरुषों के जन्म जयति के

उपलक्ष में भी उनका स्मरण करना ठीक है, लेकिन अन्य आरंभ-समारभ नहीं करने चाहिए। तप इत्यादि के अनुष्ठान द्वारा धर्मप्रभावना हो सकती है।

जन्म के निमित्त से किसी भी प्रकार की क्रिया करना स्व या स्व के परिवार के लिए जैसे संतान प्राप्ति हेतु तथा संतान नहीं है, उस हेतु अनुष्ठान इत्यादि करना।

मरण—मरण के निमित्त से कर्म का आस्रव करना, किसी को मारने की इच्छा या स्वयं मरने की इच्छा, मरणानुशंसा, मुझे मरण कब आए इस प्रकार दुःखी चित्त से आर्त और रौद्र ध्यान करना या किसी की मृत्यु हो जाती है तो उसके वियोग में शोक करना। अपनी मृत्यु से डरना या किसी प्रियजन का वियोग न हो जाए, इस प्रकार चिन्तित रहना।

ससार का कितना विचित्र स्वरूप है, जहॉ जन्म और मरण के बीच केवल तीन समय का अन्तर है, फिर भी हम मरण का शोक एव जन्म पर हर्ष मानते हैं। किसी के मरण पर खेद या दुःख को प्रकट करना भी कर्मास्रव है।

उस अवसर पर उन्हें 'श्रद्धांजलि देना' उनमे रहे गुणो की अनुमोदना करना, वे जहॉ भी हो, उन्हे शांति मिले, उनका हमारे प्रति सदा ही स्नेह और सद्भाव बना रहे। कोई महापुरुष हो तो उनकी आशीष हम पर बनी रहे। 'कर्मो की गति विचित्र है, धर्म ध्यान करो, यही एक मात्र शाति का उपाय है।' दु:ख की बात है, ऐसा नहीं कहना।

मोक्ष—जिन-शासन को छोडकर जितने भी अन्य मुक्ति के मार्ग है, उनमे संवर निर्जरा कम बधन अधिक है। केवल तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही शुद्ध सवर और निर्जरा का है। लेकिन अज्ञान के वश व्यक्ति मोक्ष के लिए भी ऐसी क्रियाए करता है, जो उसे संसार परिभ्रमण करवाती हैं।

दुःख-प्रतिघात

दु:ख किसी को भी प्रिय नहीं है। व्यक्ति अपने दु ख को दूर करने के लिए दूसरों को दुःख देता है, जैसे गरमी लग रही है तो वायुकाय की हिसा करता है। इस प्रकार दु.ख का प्रतिघात करने पर क्षण भर के लिए दु ख दूर होता हुआ दिखाई भर देता है, परन्तु वास्तव में दु:ख और बढता ही है।

दु·ख का प्रतिघात एक ही सूत्र में है 'योग की स्थिरता चित्त की उपशांति'; फिर भी जीव समझता नहीं और दु.ख प्रतिघात के लिए तरह-तरह के दु.ष्कर्म करता है। जैसे रोग को दूर करने की आशा से परिवार का संवर्धन एवं पोषण करना। दु·ख को दूर करने के लिए एव सुख बटोरने के लिए सुख-सुविधा तथा धन का सचय करना। पद, प्रतिष्ठा पाने हेतु क्रोध, मान, ईर्ष्या करना, ऐसे तो अनेको उदाहरण हैं; परन्तु मूल बात है दुःख का प्रतिघात करने से दुःख दूर नहीं होता, दुःख के मूल कारण को जानकर उपाय करना, दु·ख के मूल पर ध्यान देना, लेकिन हम फल पर ध्यान देते हैं।

दुःख का मूल है—योग की चंचलता और कषाय। उसका निवारण होते ही दुःख मिट जाता है। उसी के लिए है अरिहत एव सद्गुरु की शरण है।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे सामान्य रूप से आत्मा के अस्तित्व का तथा आत्मा का लोक, कर्म और क्रिया के साथ किस तरह का सबन्ध है और यह आत्मा ससार मे क्यों परिभ्रमण करती है, इस बात को समझाया गया है। कर्मबन्धन की कारणभूत क्रिया एवं उससे प्राप्त होने वाले दु खो का वर्णन करके सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जो साधक परिज्ञातकर्मा होता है, अर्थात् ज्ञ परिज्ञा (ज्ञान) के द्वारा कर्म-बन्ध एव ससार-परिभ्रमण के कारण को जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा (आचरण) के द्वारा उनका परित्याग करता है, वही मुनि है। क्योकि मुनि पद को वही पा सकता है, जो ससार-परिभ्रमण एव कर्म-बन्ध की कारणभूत क्रियाओं से विरक्त हो जाता है और इस विरक्ति के लिए पहले ज्ञान का होना जरूरी है। अत- ज्ञान और आचार से युक्त साधक ही मुनि होता है। जो व्यक्ति क्रियाओं के स्वरूप का बोध भी नहीं करता है और न उन्हें त्यागने का प्रयत्न करता है, वह मुनि नहीं बन सकता और न कर्म-बन्ध से मुक्त ही हो सकता है। क्रिया मे आसक्त व्यक्ति ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का बन्ध करता रहता है और परिणामस्वरूप पृथ्व्यादि छहकाय रूप योनियो मे परिभ्रमण करता फिरता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पृथ्व्यादि योनियो के स्वरूप को भी समझ लिया जाए, जिससे साधक उनकी हिसा एवं पाप-कर्म के बन्ध से सहज ही बच सके। इस उद्देश्य से कि जीव-अजीव एव आरभ-समारभ के ज्ञान से शून्य अज्ञ जीव पृथ्व्यादि के जीवों को किस प्रकार सताते हैं, परिताप देते है; इस बात को बताते हुए सूत्रकार दूसरे उद्देशक को प्रारभ करते हुए कहते है—

मूलम्—अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए। अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति[1] ॥14॥

---

1 'आतुरा तथा परितावेन्ति' ये पद 'लोक' के विशेषण होने से एक वचनात होने →

छाया—आर्तः लोकः परिद्यूनः (परिजीर्णः) दुस्संबोधः अविज्ञायकः अस्मिन् लोके प्रव्यथिते तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति।

पदार्थ—अट्टे—आर्त—पीड़ित। **परिजुण्णे**—प्रशस्त ज्ञानादि से हीन। **दुस्संबोहे**—कठिनता से बोध प्राप्त करने वाले। **अविजाणए**—विशिष्ट बोध-रहित। **पव्वहिए**—विशेष पीडित। **अस्सि लोए**—इस पृथ्वीकाय लोक मे। **तत्थ-तत्थ**—खनन आदि उन-उन। **पुढो**—भिन्न-भिन्न कारणों के उत्पन्न होने पर। **परितावेंति**—पृथ्वीकाय के जीवो को परिताप देते है। **पास**—हे शिष्य! तू देख।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे जम्बू! विषय-कषायादि क्लेशो से पीड़ित, ज्ञान-विवेक से रहित दुर्लभ-बोधि प्राणी इन व्यथित, पीडित एव दु खित पृथ्वीकायिक जीवो को खान खोदने आदि अनेक तरह के कार्यो के लिए परिताप देते हैं, उन्हे विशेष रूप से संतप्त करते हैं, दु.ख एव सक्लेश पहुंचाते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र का पिछले सूत्र के साथ क्या संबन्ध है, यह हम द्वितीय उद्देशक की भूमिका मे स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु इस सूत्र का पिछले उद्देशक के साथ परंपरागत सबन्ध भी है। वह इस प्रकार है—आचारांग सूत्र के आरभ मे कहा गया है कि इस ससार मे किन्ही जीवो को संज्ञा—ज्ञान या सम्यग् बोध नहीं होता। क्यों नही होता, इसका समाधान प्रस्तुत सूत्र मे दिया गया है। "अट्टे लोए. " इत्यादि पदो का तात्पर्य यह है—

आर्त—आर्त शब्द का सामान्य अर्थ पीडित होता है या बाह्य दुःखो एवं आपत्तियो से अवेष्टित व्यक्ति को भी आर्त कहते है। परन्तु यहा राग-द्वेष एवं कषायों से आवृत, विषय-वासना के दलदल में फसे हुए व्यक्ति को, प्राणी को आर्त कहा है। क्योंकि विषय-कषाय एवं राग-द्वेष के वशीभूत हुआ आत्मा अपने हिताहित को भूल जाता है और नानाविध पाप कार्यो में प्रवृत्त होकर कर्मो का बन्ध करता है और

→ चाहिए, परन्तु सिद्धांत-शैली के कारण यहां एक वचन के स्थान पर बहुवचन दोषावह नही है।

परिणाम-स्वरूप जन्म-जरा और मरण के प्रवाह मे प्रवहमान होता हुआ दु:ख एवं पीडा का सवेदन करता है। इसलिए क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार तथा दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म से युक्त समस्त ससारी जीव 'आर्त' कहे जाते है। क्योंकि वे इन दुष्कर्मो से युक्त होकर ससार में परिभ्रमण करते रहते हैं, रात-दिन जन्म-मरण के जाल मे उलझे रहते है।

लोक—लोक क्या है? एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त गतियो एव योनियो के जीवो के समूह को लोक कहते है।

परिद्यून—जो जीव औपशमिक आदि प्रशस्त परिणामों से रहित है और मोक्ष-मार्ग मे सहायक साधनो से दूर है, उन अज्ञानी जीवों को 'परिजुण्णे-परिद्यून' शब्द से अभिव्यक्त किया है। परिद्यून के भी द्रव्य और भाव दो भेद किए गए हैं। द्रव्य परिद्यून के सचित्त और अचित्त के भेद से दो प्रकार है। जीर्ण-शीर्ण शरीर या परिजीर्ण वृक्ष को सचित्त परिद्यून और पुराने वस्त्र आदि को अचित्त परिद्यून कहा है और औदयिक भाव से युक्त प्राणी में जो प्रशस्त ज्ञान या सम्यग्ज्ञान के अभाव को भाव परिद्यून कहा है।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि आत्मा उपयोग लक्षण वाला है। उसमे ज्ञान का कभी भी सर्वथा लोप नही होता। अतः प्रस्तुत प्रकरण मे जो ज्ञान का अभाव कहा गया है, वह प्रशस्त सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से समझना चाहिए, न कि ज्ञान-मात्र की अपेक्षा से। क्योकि एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियो मे ज्ञान का अस्तित्व रहता ही है। यह बात अलग है कि कुछ जीवों में उसका अपकर्ष दिखाई देता है, तो कुछ में उत्कर्ष। क्योकि ज्ञान का विकास क्षयोपशम पर आधारित है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना अधिक क्षयोपशम होगा आत्मा में उतना ही ज्ञान का उत्कर्ष दिखाई देगा और ज्ञानावरणीय कर्म जितना अधिक उदयभाव में होगा, उतना ही अधिक ज्ञान का अपकर्ष परिलक्षित होगा। इसलिए भाव परिद्यून शब्द के अर्थ में जो प्रशस्त ज्ञान का अभाव बताया गया है, वह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए।

ज्ञान का सब से अधिक उत्कर्ष मनुष्य-जीवन मे परिलक्षित होता है और अधिक अपकर्ष एकेन्द्रिय जीवो मे और उनमे भी सूक्ष्म निगोद के जीवो में दिखाई देता है।

यों कहना चाहिए कि यही से ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। जब आत्मा सूक्ष्म से बादर एकेन्द्रिय में आता है, तो उसके ज्ञान में कुछ उत्कर्ष होने लगता है। इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे और पञ्चेन्द्रिय मे भी सज्ञी-असंज्ञी, पशु-पक्षी आदि की अनेक योनियो मे परिभ्रमण करता हुआ आत्मा जब मनुष्य जीवन में पहुचता है, तो उसके ज्ञान का अच्छा विकास हो जाता है। मनुष्य-जीवन विकास का केन्द्रबिन्दु है। अन्य योनियो में विकास का क्रम रहा हुआ है, परन्तु पूर्ण विकास का अवसर मनुष्य के अतिरिक्त किसी अन्य योनि मे नहीं है; यहा तक कि पूर्ण विकास करने मे देव भी सर्वथा असमर्थ है। मनुष्य ज्ञान के चरम उत्कर्ष को भी छू सकता है और अपकर्ष की चरम सीमा पर भी जा पहुचता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के मध्य में खड़ा है। उसके एक ओर उदयाचल है, तो दूसरी ओर अस्ताचल। जब मानव उत्कर्ष की ओर गतिशील होता है तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बनकर सिद्धत्व को पा लेता है और जब पतन की ओर लुढकने लगता है, तो ठेठ निगोद मे और उसमे भी सूक्ष्म निगोद मे जा पहुचता है और अनन्त काल तक अज्ञान अधकार मे भटकता-फिरता है, विकास, उत्कर्ष के अमूल्य अवसर को हाथ से खो देता है। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त परिदूयून शब्द औदयिक भाव की अधिकता की अपेक्षा से व्यवहृत हुआ है।

'दुस्सबोध' यह पद विषय-कषाय एवं मोह से युक्त तथा प्रशस्त ज्ञान से शून्य व्यक्तियो की अवस्था का परिसूचक है। 'दुस्सबोध' शब्द का सीधा-सा अर्थ है—जिस व्यक्ति को धर्म मार्ग में या सत्कार्य में लगाना दुष्कर है अथवा जिसे प्रतिबोधित न किया जा सके। प्रश्न किया जा सकता है कि आर्त को दुस्सबोध कहने का क्या अभिप्राय है और वह सरलता से क्यों नही समझता। इसका समाधान करने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे 'अवियाणए—अविज्ञातकः' पद का प्रयोग किया है। 'अवियाणए' का अर्थ है—विशिष्ट बोध या ज्ञान से रहित और यह हम प्रत्यक्ष में देखते है कि व्यावहारिक बोध से रहित मूर्ख किसी भी बात को जल्दी नहीं समझता। इसलिए विशिष्ट विचारकों ने ठीक ही कहा है कि मूर्खो को समझाने के लिए समय का दुरुपयोग नही करना चाहिए। क्योकि जिसमे बोध नही है, विवेक नहीं है, वह अपने हठ को छोडकर जल्दी से सन्मार्ग पर नहीं आ सकता। टेढे लोहे को आग मे तपाकर सीधा-सरल बनाया जा सकता है, क्योकि उसमे लचक है, नम्रता है। परन्तु टेढ़े-मेढ़े ठूंठ-लकड़ी के खम्भे को

सीधा बनाना दुष्कर ही नही, अति दुष्कर है। यही स्थिति विशिष्ट बोध-ज्ञान एव विवेक-विकल जीवो की है, इसलिए उन्हें दुर्बोधि जीव कहा है।

इस तरह संसार में परिभ्रमणशील जीव आरंभ-समारभ का आश्रयीभूत होने से सत्रस्त है, व्यथित है, आर्त है। जिसमें मनुष्य विषय-कषाय एवं स्वार्थ के वशीभूत होकर कृषि, कूप, गृहनिर्माण एव खान आदि के लिए पृथ्वीकाय जीवो को सताप एव पीड़ा पहुचाते है तथा उनकी हिसा करते है। यो कहना चाहिए कि कर्मजन्य आवरण की विभिन्नता के कारण ससार मे अनेक प्रकार के जीव होते है—कुछ विषय-कषाय से पीड़ित होते है, कुछ शरीर से जीर्ण होते हैं, कुछ प्रशस्त ज्ञान से रहित या विवेक-विकल होते हैं, दुर्बोधि या विशिष्ट बोध से रहित होते है, और ये सब तरह के प्राणी अपने भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अनेक साधनों तथा अनेक तरह से पृथ्वीकायिक जीवो का सहार करते है। इसलिए आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू से कहते हैं कि—"हे शिष्य! तू इनकी स्वार्थ-परायणता को देख-समझ।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन आर्त एवं अज्ञ जीवों की विवेक-विकलता एवं दूसरे प्राणियों को सताप देने की बुरी भावना एव कार्य-पद्धति को देख-समझ कर उससे बचकर गतिशील हो, अर्थात् उनकी तरह अपने स्वार्थ को साधने के लिए पृथ्वीकाय के जीवो का सहार मत कर।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया कि आर्त एव दुर्बुद्धि युक्त जीव अपने स्वार्थ के लिए पृथ्वीकायिक जीवो की हिसा करते है। इससे मन मे यह प्रश्न सहज ही उठता है कि पृथ्वीकाय मे कितने जीव है, अर्थात् एक या अनेक। इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—संति पाणा पुढोसिया लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ[1] ॥15॥

छाया—सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिता लज्जमानाः पृथक् पश्य अणगारा स्मः

1 'विहिसइ' क्रिया का कर्ता 'एगे' पद वहुवचनात है, इसलिए क्रिया भी बहुवचनात होनी चाहिए। परन्तु आर्ष होने के कारण बहुवचन के स्थान मे एकवचन का आश्रयण है।

इति एके प्रवदमानाः यत् इदम् विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवी कर्म—समारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति।

पदार्थ—**पाणा**—प्राणी। **पुढो**—पृथक्-पृथक् रूप से। **सिया**—पृथ्वी के आश्रित है। **लज्जमाणा**—सयमानुष्ठान-परायण पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा से विरत। **पुढो**—प्रत्यक्ष-ज्ञानी—अवधि, मन.पर्यव या केवल ज्ञान से युक्त तथा परोक्ष ज्ञानी—मति और श्रुत ज्ञान से युक्त। **पास**—तू देख। **एगे**—कोई एक। **अणगारा मो त्ति**—हम अणगार है, इस प्रकार। **पवयमाणा**—बोलते हुए। **जमिणं**—इस पृथ्वीकाय को। **विरूवरूवेहिं**—अनेक तरह के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो के द्वारा। **पुढवि-कम्म-समारंभेणं**—पृथ्वीकाय-सम्बन्धी आरम्भ-समारम्भ करने से। **पुढविसत्थं**—पृथ्वी काय के शस्त्र का। **समारम्भेमाणा**—प्रयोग करते हुए। **अण्णे-अणेग रूवे**—उस पृथ्वीकाय के आश्रित अन्य अनेक तरह के जीवो के। **पाणे**—प्राणों की। **विहिंसइ**—हिंसा करता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से सबन्धित है। इसलिए हिसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवो के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से मुक्त होकर पृथ्वीकायिक जीवो की रक्षा करता हुआ विचरण करता है। इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अणगार, त्यागी एवं जीवो के सरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रो से पृथ्वीकाय का आरम्भ-समारम्भ करके जीवो की हिंसा करते है, आरम्भ-समारम्भ एव पृथ्वी के शस्त्र से वे पृथ्वीकाय के जीवों का ही नही, अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवों की भी घात करते है। इस बात को तू देख, समझ!

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय प्रत्येकशरीरी है[1]। इसमें असंख्यात

---

1. तिलो की पपडी मे जैसे अनेको तिल होते है, वैसे ही पृथ्वीकाय मे स्थित जीव भिन्न-भिन्न शरीर मे रहते है। साधारण वनस्पति की तरह इनके एक शरीर मे अनन्त जीव नहीं रहते। इसके एक शरीर मे एक ही जीव रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को प्रत्येक शरीरी कहते है।

जीव है और उनका शरीर अगुल के असंख्यातवें भाग जितना बड़ा है। वे सब जीव पृथ्वीकाय के आश्रित हैं। कुछ लोग पृथ्वी को एक देवता के रूप में मानते है[1]। परन्तु जैनदर्शन को यह बात मान्य नहीं है। क्योंकि समस्त पृथ्वी मे एक नहीं, अनेक जीवों की प्रतीति स्पष्ट होती है, इसलिए उसे एक देवता के रूप में मानना युक्तिसगत नही है। वह एक जीव के आश्रित नहीं, अपितु असख्यात जीवों का पिण्ड है। इससे पृथ्वीकाय की चेतनता और असख्य जीव युक्तता दोनो बातें सिद्ध हो जाती हैं।

इसलिए प्रत्यक्ष और परोक्ष[2] ज्ञान से युक्त सयमशील अनगार—मुनिजन पृथ्वीकायिक जीवों के आरंभ-समारंभ से निवृत्त होकर उनकी रक्षा में सलग्न होकर संयम का परिपालन करते हैं। परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे व्यक्ति भी है, जो अपने आप को अनगार-साधु, मुनि कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रो से पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा करते है और उसके साथ-साथ पृथ्वी के आश्रित रहे हुए वनस्पति आदि अन्य जीवो का घात करते हैं। इस तरह सूत्रकार ने कुशल और अकुशल या निर्दोष और सदोष अनुष्ठान का प्रतिपादन किया है। जिन साधकों के जीवन मे सद्ज्ञान है और क्रिया में विवेक एव यतना है, उनकी साधना कुशल है, स्वय के लिए तथा जगत के समस्त प्राणियो के लिए हितकर है, सुखकर है। परन्तु अविवेकपूर्वक की जाने वाली क्रिया अकुशल अनुष्ठान है; भले ही उससे कर्त्ता को क्षणिक सुख एवं आनन्द की अनुभूति हो जाए, पर वास्तव में वह सावद्य अनुष्ठान स्वयं के जीवन के लिए तथा प्राणी जगत् के लिए भयावह है।

प्रस्तुत सूत्र के आधार पर मानव-जीवन को दो भागों में बांटा जा सकता है—1-त्याग-प्रधान—निवृत्तिमय जीवन और 2-भोगप्रधान—प्रवृत्तिमय जीवन। साधारणत प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे निवृत्ति-प्रवृत्ति दोनों ही कुछ अशो में पाई जाती हैं। त्याग-प्रधान जीवन में मनुष्य दुष्कर्मों से निवृत्त होता है तो सत्कर्म मे प्रवृत्त भी होता है। यो कहना चाहिए कि असयम से निवृत्त होकर संयम-मार्ग मे प्रवृत्ति करता है, और जीवन मे भोग-विलास को प्रधानता देने वाला व्यक्ति रात-दिन वासना मे निमज्जित

---

1 एक देवतावस्थिता पृथ्वी।

2 अवधि, मन पर्यव और केवल ज्ञान को प्रत्यक्ष और मति एव श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान माना है।

रहता है, पाप-कार्यो एवं दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रहता है और सत्कार्यो से निवृत्त भी होता है। तो प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय दोनो प्रकार के जीवन मे परिलक्षित होता है और यह भी स्पष्ट है कि त्यागप्रधान—निवृत्तिमय जीवन भी प्रवृत्ति के बिना गतिशील नहीं रह सकता, जब तक आत्मा के साथ मन-वचन और काय—शरीर के योगों का सम्बन्ध जुडा हुआ है, तब तक सर्वथा प्रवृत्ति छूट भी नहीं सकती। फिर भी त्याग-निष्ठ और भोगासक्त जीवन मे बहुत अन्तर है। दोनो की निवृत्ति-प्रवृत्ति मे एकरूपता नही है।

निवृत्तिपरक जीवन मे निवृत्ति और त्याग की ही प्रधानता है—सावद्य प्रवृत्ति को तो उसमे ज़रा भी अवकाश नही है। जो योगो की अनिवार्य प्रवृत्ति होती है, उसमे विवेकचक्षु सदा खुले रहते है, उनकी प्रत्येक क्रिया सयम को परिपुष्ट करने तथा निर्वाण के निकट पहुचने के लिए होती है। अत· उनकी प्रवृत्ति में प्रत्येक प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की सुरक्षा का पूरा-पूरा ध्यान रहता है। वे महापुरुष त्रिकरण और त्रियोग से किसी भी जीव को पीड़ा एव कष्ट पहुंचाना नही चाहते। दूसरी बात यह हे कि उनकी हार्दिक भावना समस्त क्रियाओ से निवृत्त होने की रहती है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ एव साध्य को सिद्ध करने के लिए उन्हे प्रवृत्ति करनी पड़ती है। इसलिए वे सदा-सर्वदा इस बात का खयाल रखते है कि बिना आवश्यकता के कोई क्रिया या हरकत न की जाए। अत उनका खाना-पीना, चलना-फिरना, बेठना-उठना, बोलना आदि सब कार्य विवेक, यतना एव मर्यादा के साथ होते हैं। इस से यह स्पष्ट हो गया कि साधक के जीवन मे प्रवृत्ति होती है, परन्तु जीवन मे उसका गौण स्थान माना गया है; आवश्यक कार्य मे ही प्रवृत्ति करने का आदेश है और वह भी विवेक एव यतना के साथ करने की आज्ञा है और अन्तत· उसका सर्वथा त्याग करने की बात कही है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निश्चय दृष्टि से प्रवृत्ति को त्याज्य माना है। इसलिए साधक-अवस्था मे अनिवार्यता के कारण संयम-मार्ग मे निर्दोष प्रवृत्ति को स्थान होते हुए भी उसके त्याग का लक्ष्य होने के कारण त्याग-प्रधान जीवन को निवृत्तिपरक जीवन ही कहा जाता है। क्योकि जैन दर्शन का मूल लक्ष्य समस्त कर्मो एव क्रियाओ से निवृत्त होना है। अतः निवृत्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सहायकभूत निर्दोष प्रवृत्ति करने वाला साधक ही वास्तव में अनगार है, मुनि

है और पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा से पूरी तरह बचकर रहने का प्रयत्न करता है।

भोग-प्रधान जीवन में निवृत्ति को विशेष स्थान नहीं है। क्योकि वहां जीवन का मूल्य भोग-विलास मान लिया गया है। और मूल्य-निर्धारण के अनुरूप ही जीवन को ढाला गया है या ढाला जा रहा है। यों कहना चाहिए कि जीवन में भोग-विलास एव ऐश्वर्य को प्रधानता देने वाले व्यक्ति रात-दिन विषय-वासना एवं ऐशोराम मे निमग्न रहते है। उनका प्रत्येक क्षण भौतिक साधनों को संगृहीत करने तथा अपने स्वार्थो को साधने के लिए नई-नई स्कीमे—योजनाए बनाने मे बीतता है और येन-केन-प्रकारेण वे भोग-सामग्री को, भौतिक सुख-साधनों को बटोरने मे संलग्न रहते है। उसके लिए छल-कपट, शोषण, हिसा आदि सभी दुष्कर्म करने मे वे ज़रा भी संकोच नही करते। इस तरह रात-दिन सावद्य कार्यो में प्रवृत्त रहते है। इस कारण पृथ्वीकाय ही क्या, अन्य एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय ही नही, पञ्चेन्द्रिय तक के प्राणी उनके स्वार्थ की आग में स्वाहा हो जाते है। इस तरह वे दुष्कर्मो मे प्रवृत्त हो कर स्वयं तथा प्राणिजगत के लिए भयावह बन जाते है।

कुछ व्यक्ति ऐसे है, जो अपने आपको अनगार, मुनि कहते है और सर्व प्राणि-जगत की रक्षा करना अपना मुख्य कर्तव्य बताते है। परन्तु उनका जीवन उनके कथन की विपरीत दिशा मे गतिमान होता है। वे भी गृहस्थो की तरह खनन आदि कार्यो में सक्रिय रूप से भाग ले कर पृथ्वीकाय तथा उसके आश्रित अन्य अनेक जीवो की हिंसा करते है। अत· उन्हे भी प्रवृत्ति में प्रवहमान बताया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि त्यागप्रधान—निवृत्तिमय जीवन मोक्ष का प्रतीक है, उस से किसी भी प्राणी का अहित नहीं होता है और भोग-प्रधान या प्रवृत्तिमय जीवन ससार-परिभ्रमण का कारण है। क्योकि सावद्य प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियो की हिंसा होती है, उस से पाप कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप वह आत्मा संसार-प्रवाह मे प्रवहमान रहती है। निवृत्ति और प्रवृत्ति प्रधान जीवन मे रहे हुए अन्तर को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'पश्य' शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए मुमुक्षु को दोनो तरह के जीवन के स्वरूप को भली-भाति देख-समझ कर पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिसा से बचना चाहिए, विरत होना चाहिए।

'लज्जमाणा—लज्जमाना·' शब्द का अर्थ है—लज्जा का अनुभव करना या लज्जित

होना। हम देखते हैं कि कई व्यक्ति लोक-लज्जा के कारण कई बार दुष्कर्मो से बच जाते है। महात्मा गांधी ने अपनी 'आत्मकथा' पुस्तक मे एक जगह लिखा है कि मैं वेश्या के मकान पर जाकर भी अपनी स्वाभाविक लज्जा के स्वभाव के कारण दुष्कर्म से बच गया। अस्तु, लज्जा भी जीवन का एक विशेष गुण है। इसके कारण मनुष्य दुर्भावना के प्रवाह मे बहकर भी पापकार्य से बच जाता है। भारतीय सस्कृति के एक गायक ने ठीक ही कहा है कि लज्जा मानवोचित गुणों की जननी है—

"लज्जागुणौघ जननी।"

शास्त्रों मे लौकिक और लोकोत्तर की अपेक्षा से लज्जा के दो भेद किए हैं। नववधु का श्वसुर आदि के सामने सकुचाना तथा शूरवीर योद्धा का रणक्षेत्र से भागते हुए शर्माना लौकिक लज्जा के उदाहरण है। इसी तरह अनगार—मुनि भी पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा करते हुए तथा संयम-मार्ग की कठिनाइयो से डरकर साधनापथ से भागने मे सकोच करता है, अर्थात् लज्जा के कारण वह सयम-मार्ग मे प्रवृत्त रहता है, दृढता के साथ साधना मे सलग्न रहता है। अत· सत्तरह प्रकार का जो सयम बताया गया है, उसकी गणना लोकोत्तर लज्जा मे की गई है[1]।

'अनगार' शब्द का अर्थ है—मुनि, साधु। आगार घर को कहते है, अत· जिसके पास अपना घर नहीं है अथवा जिसका अपना कोई नियत निवास-स्थान नहीं है, उसे अनगार कहते है। या यों भी कह सकते है कि साधु का कोई नियत स्थान या घर नही होता, इसलिए वह अनगार कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकाय मे असख्यात जीव है और पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा में प्रवृत्तमान अन्य धर्म के साधुओ मे साधुत्व का अभाव है। फिर भी कुछ लोग भौतिक सुख की अभिलाषा से मन-वचन-काय से सावद्य-प्रवृत्ति करते, कराते और करने वाले का समर्थन करते है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपड़िघाय-हेउं

---

1 लज्जा-दया-सजम-बंभचेरं. .. इत्यादि। दशवैकालिक, 9/1

से सयमेब पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा पुढविसत्थं सभारंभंते समणुजाणइ ॥16॥

छाया—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव पृथिवीशस्त्र समारम्भते, अन्यैश्च पृथिवी-शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा पृथिवीशस्त्र समारम्भमाणान् समनुजानीते।

पदार्थ—खुल—यह शब्द वाक्यालंकारार्थ में है। **तत्थ**—पृथ्वीकाय के समारम्भ में। **भगवया**—भगवान ने। **परिण्णा**-परिज्ञा का। **पवेइया**—उपदेश दिया है। **चेव**—निश्चय ही। **इमस्स**—इस। **जीवियस्स**—जीवन के लिए। **परिवंदण**—प्रशसा के लिए। **माणण**—मान के लिए। **पूयणाए**—पूजन के लिए। **जाइ-मरण-मोयणाए**—जन्म-मरण के दु खों से छुटकारा पाने के लिए और। **दुक्खपडिघायहेउं**—दुःखों के नाश के लिए। **से**—वह, सुख की इच्छा करने वाला। **सयमेव**—स्वयं ही। **पुढविसत्थं**—पृथ्वीकाय की घात करने वाले शस्त्र का। **समारम्भई**—समारम्भ करता है। **वा**—अथवा। **अण्णेहिं**—अन्य के द्वारा। **पुढविसत्थं**—पृथ्वी की हिसा करने वाले शस्त्र से। **समारभेइ**—समारभ कराता है। **वा**—अथवा। **अण्णे**—अन्य। **पुढविसत्थं**—पृथ्वी का समारम्भ करने वाले शस्त्र से। **समारंभंते**—समारम्भ या प्रयोग करने वाले को **समणुजाणइ**—अच्छा जानता है, उसका समर्थन करता है।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के समारभ में भगवान ने परिज्ञा करने का उपदेश दिया है। क्योकि कुछ लोग इस जीवन के लिए, प्रशसा पाने के हेतु, मान-सम्मान पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा से, जन्म-मरण से छुटकारा पाने तथा दु खो का उन्मूलन करने की अभिलाषा रखते हुए पृथ्वीकाय के जीवो की घात करने वाले शस्त्र का स्वय प्रयोग करते है, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और शस्त्र का प्रयोग करने वाले का अनुमोदन-समर्थन करते है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य भौतिक जीवन को सुखमय-आनन्दमय बनाने के लिए कई प्रकार के अपकार्य करते हुए नही हिचकिचाता। वह अपने जीवन को सुखद एव ऐश्वर्य-सम्पन्न

बनाने के लिए पृथ्वीकाय आदि छह काय के जीवो की या यो कहिए, सभी जाति के जीवो की हिसा करता है। अपने स्वार्थ के लिए वह दूसरे प्राणियो का शोषण करता है, उन्हें पीड़ित-उत्पीड़ित करता है, उनके जीवन के साथ खिलवाड़ करता है। स्वयं उनकी हिसा करता है, दूसरे व्यक्ति को आदेश देकर उक्त जीवो की हिंसा कराता है और उक्त जीवो की हिसा करने वाले हिसक का अनुमोदन-समर्थन करता है[1]।

इसलिए भगवान महावीर ने पृथ्वीकाय के समारभ में परिज्ञा या विवेक-यतना करने का उपदेश दिया है। साधक को यह बताया गया है कि वह ज्ञ परिज्ञा से पृथ्वीकाय के स्वरूप को भली-भाति समझे। उसमे भी मेरे जैसी असख्यात-प्रदेशी ज्ञानमय आत्मा है, उसे भी मेरी तरह सुख-दुख का सवेदन होता है, आदि बातो का बोध करे और उसके चेतनामय स्वरूप को जानकर उसकी हिसा करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग करे। मन-वचन-काय के योगो से पृथ्वीकाय की हिंसा न करे, अर्थात् विवेक के साथ सयम-साधना मे प्रवृत्ति करे। इस साधना से जो लब्धि—शक्ति प्राप्त हो, उसका उपयोग भौतिक सुख-साधनो को प्राप्त करने मे न करे। यदि वह ऐहिक सुखो एव भोगो को प्राप्त करने मे उस शक्ति—लब्धि का प्रयोग करता है, तो वह साधना-मार्ग से च्युत होकर ससार मे परिभ्रमण करता है। अत· साधक को साधना से प्राप्त लब्धि का उपयोग भौतिक सुखो को प्राप्त करने मे नही लगाना चाहिए।

पृथ्वीकाय के आरभ-समारंभ मे व्यस्त रहने वाले जीवों को किस फल की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—तं से अहिआए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणियं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारंभेणं, पुढविसत्थं समारंभ माणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ,

---

1 प्रस्तुत सूत्र मे पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा करने के जो कारण बताए गए है, उनका विवेचन पीछे कर चुके है। देखें सूत्र 11 की व्याख्या, पृष्ठ. 72।

से बेमि, अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे 2, अप्पेगे उरुमब्भे 2 अप्पेगे कडिमब्भे 2, अप्पेगे णाभिमब्भे 2, अप्पेगे उदरमब्भे 2, अप्पेगे पासमब्भे 2, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे 2, अप्पेगे उरुमब्भे 2, अप्पेगे हियमब्भे 2, अप्पेगे थणमब्भे 2, अप्पेगे खंधमब्भे 2, अप्पेगे बाहुमब्भे 2, अप्पेगे हत्थमब्भे 2, अप्पेगे अंगुलीमब्भे 2, अप्पेगे णहमब्भे 2, अप्पेगे गीवमब्भे 2, अप्पेगे हणुमब्भे2, अप्पेगे होट्ठमब्भे 2, अप्पेगे दंतमब्भे 2, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे गलमब्भे 2, अप्पेगे गंडमब्भे 2, अप्पेगे कण्णमब्भे 2, अप्पेगे णासमब्भे 2, अप्पेगे अछिमब्भे 2, अप्पेगे भमुहमब्भे 2, अप्पेगे ललाडमब्भे 2, अप्पेगे सीसमब्भे 2, अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिणाता भवंति ॥17॥

छाया—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये सः त संबुध्यमानः आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा खलु भगवतोऽनगाराणं इह एकेषां ज्ञातं भवित—एष खलु ग्रन्थः, एषः खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्येवमर्थम् गृद्ध· लोक यदिम विरूप-रूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्म-समारंभेण, पृथिवीशस्त्रं समारंभमानः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति' अथ ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्द्यात्, अप्येकः अन्धमाछिन्द्यात्, अप्येकः पादमाभिन्द्यात्, अप्येक· पादमाछिन्द्यात्, अप्येकः गुल्फमाभिन्द्यात्, अप्येकः गुल्फमाछिन्द्यात्, अप्येकः जघामाभिन्द्यात्, अप्येक· जंघामाछिन्द्यात्, अप्येकः जानुमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः उरुमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः कटिमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः नाभिमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः उदरमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः पार्श्वमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः पृष्ठमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः उर आभिन्द्यात् 2, अप्येकः हृदयमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः स्तनमाभिन्द्यात् 2, अप्येक स्कन्धमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः बाहुमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः हस्तमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः अंगुलिमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः नखमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः ग्रीवामाभिन्द्यात्

2, अप्येकः हनुमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः ओष्ठमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः दन्तमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः जिह्वामाभिन्द्यात् 2, अप्येकः तालुमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः गलमाभिंद्यात् 2, अप्येकः गलमोभिंद्यात् 2, अप्येकः गंडमाभिंद्यात् 2, अप्येकः कर्णमाभिंद्यात् 2, अप्येकः नासिकामाभिंद्यात् 2, अप्येकः अक्षिमाभिंद्यात् 2, अप्येकः भ्रुवमाभिंद्यात् 2, अप्येकः ललाटमाभिंद्यात् 2, अप्येकः शिरसमाभिन्द्यात् 2, अप्येकः संप्रमारयेत्, अप्येकः अपद्रापयेत् 2 इत्थं शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाताः भवंति।

पदार्थ—**तं**—वह पृथ्वीकाय का समारंभ। **से**—उस को—आगामी काल मे। **अहिआए**—अहितकर होता है। **तं**—वह पृथ्वीकाय का समारभ। **से**—उसको। **अबोहिए**—अबोधिलाभ के लिए होता है। **से**—पृथ्वीकाय के समारभ को पाप-रूप मानने वाला। **तं**—उस पृथ्वीकाय के आरभ-समारभ को। **संबुज्झमाणे**—अहितकर समझता हुआ। **आयाणीयं**—ग्रहण करने योग्य-सम्यग्-दर्शन और चारित्र में। **समुठ्ठाय**—सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। **सोच्चा**—सुनकर। **खलु**—निश्चय से। **भगवओ**—भगवान के समीप या। **अणगाराणा**—अणगारों के समीप। **इह**—इस मनुष्य जन्म मे। **एगेसिं**—किन्हीं एक प्रबुद्ध साधुओ को। **णातं भवति**—ज्ञात होता है कि—**खलु**—निश्चय से। **एस**—यही—पृथ्वीकाय का समारंभ। **गंथे**—अष्ट कर्म-बन्ध का कारण है। **एस खलु मोहे**—यह मोह का कारण है। **एस खलु मारे**—यह मृत्यु का कारण है। **एस खलु णरए**—यह नरक का कारण है। **इच्छत्थं**—आहार, आभूषण या प्रशंसा आदि के लिए। **गड्ढिए**—मूर्च्छित। **लोए**—लोक-प्राणी इस पृथ्वीकाय के जीवो की हिसा करते है। **जं**—जिससे। **इम**—इस पृथ्वीकाय को। **विरूवरूवेहिं**—नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **पुढवीकाय संमारम्भेण**—पृथ्वी-सबधी क्रिया का आरम्भ करने से। **पुढविसत्थं**—पृथ्वी शस्त्र का। **समारम्भमाणे**—प्रयोग करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक तरह के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसइ**—हिसा करता है।

प्रश्न—एकेन्द्रिय जीव हिंसाजनित वेदना का अनुभव किस प्रकार करते हैं?

उत्तर—सेबेमि—हे शिष्य! इसे मै बताता हूं। अप्पेगे—जैसे कोई पुरुष।

अन्धं[1]—जन्मांध, मूक, बधिर, पंगु पुरुष को। **अब्भे**—कून्तादि से भेदन करे। **अप्पेगे**—कोई व्यक्ति। **अन्धमच्छे**—अंध, बधिर, मूक और पगु व्यक्ति का शस्त्र द्वारा छेदन करे।

जन्माद्य, बधिर और मूक व्यक्ति की अव्यक्त वेदना के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकाय जीवो की वेदना समझाकर अब सूत्रकार एक व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति के उदाहरण द्वारा पृथ्वीकायिक जीव की वेदना से तुलना करते है। जैसे किसी व्यक्ति का, **अप्पेगे**[2]—कोई पुरुष। **पायमब्भे**—पाव का भेदन करे। **पायमच्छे**—पांव का छेदन करे। **गुप्फमब्भे**—गिट्टों का भेदन करे। **गुप्फमच्छे**—गिट्टों का छेदन करे। **जंघमब्भे** 2—जंघाओं का छेदन-भेदन करे। **जानुमब्भे** 2—जानुओ का छेदन-भेदन करे। **उरुमब्भे** 2—उरुओ का छेदन-भेदन करे। **कडिमब्भे** 2—कटि—कमर का छेदन-भेदन करे। **णाभिमब्भे** 2—नाभि का छेदन-भेदन करे। **उदरमब्भे** 2—उदर-पेट का छेदन-भेदन करे। **पासमब्भे** 2—पार्श्व का छेदन-भेदन करे। **पिट्ठिमब्भे** 2—पृष्ठ भाग—पीठ का छेदन-भेदन करे। **उरुमब्भे 2**—छाती का छेदन-भेदन करे। **हियमब्भे** 2—हृदय का छेदन-भेदन करे। **थणमब्भे** 2—स्तनों का छेदन-भेदन करे। **खंधमब्भे**—स्कंध का छेदन-भेदन करे। **बाहुमब्भे** 2—भुजाओं का छेदन-भेदन करे। **हत्थमब्भे** 2—हाथो का छेदन-भेदन करे। **अंगुलिमब्भे** 2—अगुलियों का छेदन-भेदन करे। **णहमब्भे** 2—नखो का छेदन-भेदन करे। **गीवमब्भे** 2—ग्रीवा—गर्दन का छेदन-भेदन करे। **हणुमब्भे** 2—ठोड़ी का छेदन-भेदन करे। **ओठमब्भे** 2—ओष्ठों का छेदन-भेदन करे। **दंतमब्भे** 2—दातो का छेदन-भेदन करे। **जिब्भमब्भे** 2—जिह्वा का छेदन-भेदन करे। **तालुमब्भे** 2—तालु का छेदन-भेदन करे। **गलमब्भे** 2—गले का छेदन-भेदन करे। **गंडमब्भे** 2—गंडस्थल-कपोल का छेदन-भेदन करे। **कण्णमब्भे** 2—कान का छेदन-भेदन करे। **णासमब्भे** 2—नासिका का छेदन-भेदन करे। **अच्छिमब्भे** 2—आखो का छेदन-भेदन

---

1 'अन्ध' पद केवल जन्माध का बोधक है, परन्तु उपलक्षण से बधिर आदि का भी ससूचक है।

2. 'अप्पेगे' शब्द का सब जगह कोई पुरुष अर्थ समझना चाहिए और सबके साथ यथास्थान जोडना चाहिए।

करे। **भमुहमब्भे** 2—भृकुटियों का छेदन-भेदन करे। **ललाडमब्भे** 2—ललाट का छेदन-भेदन करे। **सीसमब्भे** 2—मस्तिष्क का छेदन-भेदन करे।

जैसे इस व्यक्त चेतना वाले व्यक्ति को इन कारणो से स्पष्ट वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को भी वेदना होती है, परन्तु वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

पृथ्वीकाय के जीवों को जो वेदना होती है, उसे और स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार अब तीसरा उदाहरण देते है—**अप्पेगे**—कोई पुरुष किसी व्यक्ति को इतना मारे कि। **संपमारए**—मूर्च्छित कर दे। **अप्पेगे**—कोई व्यक्ति किसी को मार-मार कर। **उद्दवए**—उसे—प्राणों से पृथक् कर दे।

जैसे इन प्राणियो को मूर्च्छित होने एव मरने के पूर्व जो अव्यक्त वेदना होती है, वैसी ही अव्यक्त वेदना पृथ्वीकाय के जीवो को होती है। परन्तु अज्ञानी जीव इस रहस्य को नही जानते, इसलिए वे रात-दिन हिसा में प्रवृत्ति करते है। इसी बात को सूत्रकार अपनी भाषा में कहते है—**इत्थं**—इस पृथ्वीकाय मे। **सत्थं सभारम्भ-माणस्स**—शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को। **इच्चेते**—इस प्रकार के। **आरम्भा**—आरंभ खनन-कृषि आदि सावद्य व्यापार मे। **अपरिण्णाता**—अपरिज्ञात। **भवंति**—होते है।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के आरंभ-समारंभ में लगे हुए व्यक्ति को यह सावद्य प्रवृत्ति अनागत काल मे अहितकर तथा बोध की अवरोधक होती है। परंतु जो भव्य जीव—पृथ्वीकाय का आरभ करना पाप है, ऐसा भगवान या अणगारो से सुन कर, सम्यग्ज्ञान, दर्शन आदि के द्वारा भली-भाति जान लेता है, उसको यह ज्ञान हो जाता है कि पृथ्वीकाय का आरभ भविष्य मे अहित और अबोधि के लाभ का कारण है। अत· ऐसे किन्ही ज्ञानी पुरुषों को यह परिज्ञात हो जाता है कि यह पृथ्वीकाय का समारभ ग्रंथि है, अर्थात् अष्ट कर्मो की गाठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है और उन्हें इस बात का भी परिबोध होता है कि कुछ लोग जो सासारिक विषय-भोगो मे अधिक आसक्त रहते हैं, वे आहार, भूषण और अन्य उपकरणो के लिए तथा प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अनेक प्रकार के शस्त्रो से पृथ्वीकायिक जीवों का विनाश करते हैं और उसके आश्रय मे रहे हुए अनेक प्रकार के त्रस प्राणियों की भी हिंसा करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव न देखते हैं, न सुनते हैं, न सूघ सकते हैं, न चल सकते है, तो फिर वे किस तरह वेदना अनुभव करते हैं? सूत्रकार कुछ उदाहरण देकर इस प्रश्न का समाधान करते है। जैसे—कोई व्यक्ति जन्म से अंधा, बहरा, गूँगा और पगु है, ऐसे व्यक्ति को कोई निर्दय पुरुष कुन्त के अग्रभाग से भेदन करता है, कोई अन्य शस्त्रों से उसका छेदन कराता है। वह व्यक्ति छेदन-भेदन के कार्य को न देख सकता है, न सुन सकता है और न आक्रन्दन ही कर सकता है और उस दु:ख से बचने के लिए न वह कहीं भाग ही सकता है, तो क्या इससे यह समझ लिया जाए कि उसे वेदना की अनुभूति नही होती? नहीं, ऐसा नही होता, उसे वेदना का संवेदन तो होता है, परन्तु उसे वह अभिव्यक्त नही कर सकता। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीवों को छेदन-भेदन की वेदना होती है, परन्तु उसे वे व्यक्त नही कर सकते, क्योंकि अपनी अनुभूति को व्यक्त करने का साधन उनके पास नहीं है। या यों कहिए कि उनकी चेतना अभी अव्यक्त या अविकसित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहां चेतना है, वहा वेदना अवश्य होती है। अन्तर इतना ही है कि जिन प्राणियों मे व्यक्त चेतना है उनकी वेदना व्यक्त दिखाई देती है और जिनमें चेतना अव्यक्त है उन की वेदना भी अव्यक्त रहती है। जैसे स्पष्ट दिखाई देने वाले प्राणियो मे से यदि कोई व्यक्ति किसी प्राणी के पैर, गुल्फ, जानु, उरु, कमर, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कधा, भुजा, हाथ, अगुली, नख, ग्रीवा, ठोड़ी, ओष्ट, दात, जिह्वा, तालु, गाल, गण्ड, कर्ण, नासिका, आख, भ्रू, ललाट, शिर आदि का छेदन-भेदन करे या किसी प्राणी को मार-पीट कर मूर्च्छित एव प्राणो से रहित करे, तो उस प्राणी की वेदना प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। क्योकि वह उसे दूसरो के सामने व्यक्त कर देता है। परन्तु उत्कट मोह और अज्ञान के कारण जिन्हे अव्यक्त चेतना मिली है, वे अपनी वेदना को अव्यक्त रूप से भोगते है। पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना भी अव्यक्त है, इसलिए उनकी वेदना की अनुभूति भी अव्यक्त ही होती है।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक प्रकार के शस्त्रो का प्रयोग करने से पृथ्वीकाय के जीवो को अव्यक्त रूप से वेदना होती है। अत पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से आरभ होता है, वह आरभ 27 प्रकार से किया जाता है और वह कर्मबन्ध का कारण है, इस सत्य से अज्ञानी जीव अपरिज्ञात रहते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा में अनुरक्त रहता है, संलग्न रहता है, उसे अनागत काल में हित और सम्यग्बोध का लाभ प्राप्त नहीं होता। अर्थात् वह हिंसा भविष्य में उसके लिए अहितकर होती है और वह बोध को प्राप्त नही कर पाता, इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिसा से सदा विरत रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वीकायिक आदि जीवो मे चेतनता है और वे भी सुख-दु:ख का सवेदन करते है।

आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है। उसको सजीवता की अनुभूति भी होती है। हम देखते हैं पहाड़ एव खान मे रहा हुआ पत्थर बढता रहता है और खान से निकालने एव बाह्य शस्त्रों तथा वर्षा और सूर्य की धूप आदि के शस्त्र से निर्जीव हुआ पत्थर बढ़ता नही है। खान एवं पहाड़ो पर चट्टानों से सबद्ध पत्थर मे होने वाली अभिवृद्धि से उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योकि सजीव अवस्था में ही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के शरीर में अभिवृद्धि होती है। पृथ्वी के शरीर में अभिवृद्धि होती है, उसके आकार-प्रकार एवं बनावट मे अन्तर आता रहता है। इसलिए पृथ्वीकाय को सजीव मानना चाहिए।

जो प्राणी सजीव होते है, वे सुख-दु:ख का संवेदन भी करते है। पृथ्वी सजीव है। इसलिए उसमे स्थित जीव सुख-दु.ख का संवेदन करते है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे तीन उदाहरण देकर समझाया है। जैसे—किसी जन्म से अंधे, बहिरे, गूगे और पंगु व्यक्ति का कोई व्यक्ति किसी शस्त्र से छेदन-भेदन करता है, तो उक्त व्यक्ति उस वेदना को व्यक्त नही कर सकता। परन्तु उसका संवेदन अवश्य करता है। इसी तरह पृथ्वीकाय के जीव भी शस्त्र प्रयोग से होने वाली वेदना को अव्यक्त रूप से सवेदन करते है। दूसरा उदाहरण यह दिया गया है, जैसे—किसी व्यक्ति के हाथ-पैर आदि किसी भी अंगोपांग का छेदन-भेदन करने पर तथा किसी व्यक्ति को मार-पीट कर मूर्च्छित एवं प्राणरहित करते समय जिस तरह उसे वेदना होती है, उसी तरह पृथ्वीकाय पर शस्त्र का प्रयोग करने से उसमें स्थित जीवो को वेदना एव पीडा की अनुभूति होती है। पृथ्वीकायिक जीवो को किस तरह की वेदना

होती है? गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि हे गौतम! एक हृष्ट-पुष्ट युवक किसी जर्जरित शरीर वाले वृद्ध पुरुष के मस्तिष्क पर मुष्ठि का प्रहार करे, तो उस वृद्ध पुरुष को वेदना होती है? हां भगवन! उसे महावेदना होती है। उसी तरह पृथ्वीकाय का स्पर्श करने पर उसे भी वेदना होती है। जिस तरह पृथ्वीकाय के जीवों को वेदना की अनुभूति होती है, उसी तरह अप्काय तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के संबंध में भी जानना चाहिए[1]।

एकेंद्रिय जीव असन्नी है, उनके मन होता नहीं। फिर वे सुख-दुःख का सवेदन कैसे करते है? अत- यह कहना कहा तक उचित है कि पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करने पर पृथ्वीकायिक जीवो को वेदना होती है? इसका समाधान यह है कि मन के दो भेद माने गए हैं—1- द्रव्य मन और 2- भाव मन। असन्नी प्राणियो में द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन उन में भी होता है। इसलिए अनेक तरह के शस्त्रों से जब पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन किया जाता है, तो उन्हें दु खानुभूति होती हे। उनकी चेतना अव्यक्त होने के कारण वे अपनी सवेदना को अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

पृथवीकाय की हिसा से अष्ट कर्म का बन्ध कैसे होता है? इस का समाधान यह है कि हिसक प्राणी मे ज्ञानादि का क्षयोपशम भाव से जो थोडा विकास है, स्वार्थ के कारण वह भी मन्द पड़ जाता है। इसी तरह अन्य कर्मो के संबन्ध में भी समझ लेना चाहिए। इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि पृथ्वीकाय का आरंभ-समारंभ आठ कर्मो की ग्रथि रूप है, मोहरूप है, मृत्यु रूप है, नरक का कारण है।

---

1 पुढ़विकाइए ण भते। अक्कते समाणे केरिसिय वेयण पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? गोयमा! से जहानामए—केइ पुरिसे बलव जाव निउणसिप्पोवगए एग पुरिस जुण्ण जराजज्जरियदेह जाव दुब्बल किलत जमल पाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणिज्जा, से ण गोयमा! पुरिसे तेण पुरिसेण जमल पाणिणा मुद्धाणसि अभिहए समाणे केरिरिसिय वेयण पच्चणुब्भवमाणे विहरइ? अणिट्ठ समणाउसो। तस्सण गोयमा! पुरिसस्स वेयणाहितो पुढविकाइए अक्कते समाणे एतो अणिट्ठतरियं चेव अकततरिय चेव जाव अमणामतरियं चेव वेयण पच्चणु-भवमाणे विहरइ। आउएणं भते? सघट्टिए समाणे केरिसिय वेयण पच्चणुभवमाणे विहरइ? गोयमा! जहा पुढविकाइए एव आउकाइएवि, एव तेउकाइएवि, एव वाउकाइएवि, एवं वणस्सइकाइएवि जावविहरइ। —भगवती सूत्र, शतक 18 उद्देशक 3

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पृथ्वीकाय सजीव है और अनेक तरह के शस्त्रों के प्रयोग से उसे वेदना होती है और उसकी हिंसा करने से आत्मा को भविष्य मे अहित का लाभ होता है तथा बोध की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए मुमुक्षु को पृथ्वीकाय की हिंसा से विरत रहना चाहिए। इस बात को समझाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा णेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा णेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि ॥18॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं पृथिवीशस्त्रं समारम्भेत्, नैव अन्यैः पृथिवीशस्त्रं समारम्भयेत्, नैव अन्यान् पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीयात्, यस्यैते पृथिवीकर्मसमारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—पृथ्वीकाय में। **सत्थं**—शस्त्र से जो। **असमारंभमाणस्स**—समारम्भ नही करते उन को। **इच्चेते**—ये खनन, कृषि आदि। **आरम्भा**—आरम्भ-समारम्भ। **परिण्णाता**—परिज्ञात होते है। **तं परिणाय**—उस पृथ्वीकाय के समारम्भ को कर्म-बन्ध का कारण जानकर। **मेहावी**—प्रबुद्ध पुरुष—बुद्धिमान। **नेव**—न तो। **सयं**—स्वय ही। **पुढविसत्थं—समारंभेज्जा**—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ-समारम्भ करे। **णेवण्णेहिं**—न दूसरे व्यक्तियो से। **पुढविसत्थं समारंभावेज्जा**—पृथ्वीकाय का शस्त्र द्वारा आरम्भ करावे। **णेवण्णे**—न अन्य का जो। **पुढविसत्थं समारंभंते**—पृथ्वीकाय का शस्त्र से आरम्भ कर रहा हो। **समणुजाणेज्जा**—अनुमोदन-समर्थन करे। **जस्सेते**—जिसको ये। **पुढविकम्मसमारंभा**—पृथ्वीकायिक जीवो के हिंसाजनक व्यापार। **परिण्णाया**—परिज्ञात। **भवंति**—होते हैं। **से हु**—वही। **मुणी**—मुनि। **परिणायकम्मा**—परिज्ञातकर्मा होता है। **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—पृथ्वीकाय के जीवो पर द्रव्य और भाव रूप से शस्त्र का प्रयोग न करने वाले पुरुषो को पृथ्वीकाय के आरम्भ का परिज्ञान होता है। इसलिए वे प्रबुद्धज्ञान पुरुष पृथ्वीकायिक जीवो पर न तो स्वयं शस्त्र का प्रयोग करते है, न दूसरे व्यक्ति से शस्त्र का प्रयोग कराते है और न शस्त्र का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन-समर्थन ही करते है। क्योंकि जो व्यक्ति शस्त्र-प्रयोग से पृथ्वीकाय के जीवो को होने वाली वेदना को जानता है, वही व्यक्ति उस समारंभ से होने वाले कर्म-बन्ध को भली-भाति समझ सकता है और उस स्वरूप को सम्यक्तया जानने वाले मुनि को ही परिज्ञातकर्मा कहा है ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य और भाव दोनो तरह के शस्त्रो को लिया गया है। स्वकाय—अपना शरीर, परकाय—दूसरे का शरीर और उभयरूप—स्व-पर काय, इन तीनो को द्रव्य शस्त्र मे लिया गया है और असयम एव मन, वचन और शरीर के योगों की दुष्परिणति को भाव शस्त्र माना गया है।

सूत्रकार ने इस सूत्र में इस बात को अभिव्यक्त किया है कि मुमुक्षु पृथ्वीकायिक जीवो पर किए जाने वाले शस्त्र-प्रयोग से जो उन्हें वेदना होती है तथा उससे आरंभ-समारंभ करने वाले व्यक्ति को जो कर्मबन्ध होता है, उसे समझे और उस सावद्य क्रिया का परित्याग करे।

प्रस्तुत सूत्र पूरे उद्देशक का सार रूप है। क्योंकि जब तक साधक को पृथ्वीकाय की सजीवता एवं पृथ्वीकायिक जीवो का आरंभ-समारंभ करने से होने वाले कर्म का परिज्ञान नही हो जाता, तब तक वह उसका परित्याग नही कर सकता। इसलिए हिंसा से विरत होने का उपदेश देने से पहले विस्तार से पृथ्वीकाय की चेतना एव आरभ-समारभ से उसे होने वाली वेदना का स्वरूप बताया गया और फिर यह बताया गया कि जो प्रबुद्ध पुरुष उसकी हिसा का, आरभ-समारभ का त्याग करता है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है। इस बात को हम पहले ही बता चुके है कि ज्ञान का महत्त्व त्याग के साथ है। अतः पहले पृथ्वीकाय के स्वरूप को एवं हिंसा से होने वाले कर्म-बन्ध को भली-भाति जाने और जानने के बाद आरभ-समारभ का त्याग करे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति पृथ्वीकाय के आरभ-समारभ में प्रवृत्तमान

हैं, वे अपरिज्ञातकर्मा है। अर्थात् न तो उन्हें पृथ्वीकाय के स्वरूप का ही सम्यक् बोध है और न आरभ-समारंभ का ही त्याग है। इसलिए वे अनेक तरह के शस्त्रो से पृथ्वीकाय का छेदन-भेदन करके उसे दु.ख, कष्ट एवं पीड़ा पहुचाते है और पाप कर्मो का बन्ध करके ससार में परिभ्रमण करते हैं। क्योकि जब वे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करते है, तो उसके साथ उसके आश्रित अन्य त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा होती है। ऐसा जानकर प्रबुद्ध पुरुष या मुनि पृथ्वीकाय की न स्वय हिंसा करे, न दूसरे व्यक्ति से हिसा करावे, न हिंसा करने वाले व्यक्ति को अच्छा ही समझे। यह प्रस्तुत सूत्र का सार है। यों भी कह सकते है कि त्रिकरण और त्रियोग से आरभ-समारंभ का त्याग करना ही जीवन का, साधना का, संयम का सार है। ऐसा मै कहता हूँ[1]।

॥शस्त्रपरिज्ञा, द्वितीय उद्देशक समाप्त॥

1 'त्तिबेमि' का विवेचन प्रथम उद्देशक के अन्त में की गई व्याख्या के समान समझे।

अध्यात्मसार : 2

मूलम्—संति पाणा पुढो सिया लज्जामाणा पुढो पास अणगारामो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसई॥1/2/15॥

मूलार्थ—हे शिष्य! पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीर वाले और एक दूसरे से संबंधित हैं, इसलिए हिसा से निवृत्त होने वाला साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से इन जीवो के स्वरूप को जानकर तथा लोकोत्तर लज्जा से मुक्त होकर पृथ्वीकायिक जीवो की रक्षा करता हुआ विचरण करता है। इसके विपरीत कुछ विचारक अपने आपको अनगार, त्यागी एव जीवों के सरक्षक होने का दावा करते हुए भी अनेक तरह के शस्त्रास्त्रो से पृथ्वीकाय जीवो का आरभ-समारभ करके उनकी हिसा करते है। आरभ-समारभ एव पृथ्वी के **शस्त्र** से वे पृथ्वीकाय के जीवो का ही नही, अपितु इसके आश्रय से रहे हुए पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय आदि जीवो की भी घात करते है। इस बात को तू देख, समझ।

पृथ्वीकाय के जीव प्रत्येक शरीरी हैं। कुछ लोग समस्त पृथ्वी को एक देवता के रूप मे मानते है, पर यह एक मिथ्या धारणा है। धरती माॅ है, यह देवस्वरूप है, यह उपमा है। उपमा रूप में मानो तो ठीक है। लेकिन वास्तविक मान गये, तब यह धारणा मिथ्या है। पृथ्वी देव-अधिष्ठित हो सकती है, क्योंकि प्रत्येक देवों का अपना-अपना क्षेत्र है, अपना-अपना स्थान है। लेकिन वास्तविक रूप से पृथ्वी तिर्यच योनि का जीव है। जैसे किन्ही जीवो का हम पर उपकार है, उस उपकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना ठीक है। लेकिन पृथ्वी को देव मानना मिथ्या है।

नमन—ऐसे तो पंचपरमेष्ठी में सभी का समावेश हो जाता है। अरिहत सर्वोत्तम है, उनकी सेवा मे 64 इन्द्र है। जो अरिहत को नमन करता है, उस अरिहत को नमन करने मे सबको नमन हो जाता है। जो अरिहत की भक्ति करता

है, संयम एवं धर्मरक्षा हेतु प्रार्थना करता है, तब प्रभु स्वयं तो नहीं आते, लेकिन रक्षक देव उसे सहयोग देते है।

जैसे लोगस्स को पढ़ने से सम्यक्तव में स्थिरता आती है तो वह इस प्रकार आती है—1. जब कोई लोगस्स पढ़ता है तब उसके शरीर और मन से ऐसी तरंगे उठती हैं जो उसे देव, गुरु एवं धर्म में अधिष्ठित करती है चाहे वह व्यक्ति लोगस्स का अर्थ भी न जानता हो फिर भी शुद्ध उच्चारण मात्र से यह बात घटित होती है, 2 साथ में जो अधिष्ठित रक्षक देव हैं, वे उस व्यक्ति के अध्यवसायों पर प्रभाव डालकर उसे सम्यक्त्व में दृढ़ करते है।

जिस क्षेत्र मे अरिहत देव विचरते है, वहॉ का वातावरण कैसे शुद्ध हो जाता है?

अरिहंत देव के शुद्ध पुद्‌गलो द्वारा, अरिहत देव की सेवा मे रहे देव उस क्षेत्र मे रहे हुए अशुभ पुद्‌गलो का हरण करके शुभ पुद्‌गलों का प्रक्षेपण करते हैं।

निश्चय मे अरिहंत-देव की सेवा भक्ति करने से सभी की सेवा भक्ति हो जाती है और व्यवहार से जिसका सहयोग लेना हो, आह्वान करना हो, अरिहत-देव के साथ-साथ उन्हें भी याद करना उनकी भी सेवा-भक्ति करनी चाहिए।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

तृतीय उद्देशक

प्रथम अध्ययन के दूसरे उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में बताया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय के संबन्ध मे वर्णन किया गया है—जैसे दूसरे उद्देशक मे पृथ्वीकाय सजीव है, उसमें स्थित जीवों को शस्त्र-प्रयोग से वेदना की अनुभूति होती है और उसका आरंभ-समारंभ करने से कर्मबन्ध होता है और वह भविष्य में अहितकर और अबोध का कारण बनता है, उससे संसार बढ़ता है, इसलिए मुमुक्षु को उस आरंभ-समारभ से दूर रहना चाहिए, आदि बातो को विस्तार से समझाया गया है। उसी तरह प्रस्तुत उद्देशक में अप्काय मे भी चेतनता है और उसे भी शस्त्र आदि के सस्पर्श एव प्रयोग से पीडा एव वेदना की अनुभूति होती है आदि बातो का वर्णन किया जायगा। अप्काय के सबन्ध मे कुछ बताने के पूर्व सूत्रकार भूमिका रूप से अप्कायिक जीवों का संरक्षण करने वाले अनगार—मुनि की योग्यता बताते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि जहा अणगारे उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥19॥

छाया—तद् ब्रवीमि स यथा अणगारः ऋजुकृतः नियागप्रतिपन्नः अमायां कुर्वाणः व्याख्यातः।

पदार्थ—से अणगारे—वह अणगार। **जहा**—जैसा होता है। **सेबेमि**—वह मै कहता हूँ। **उज्जुकडे**—सयम का परिपालक। **नियायपडिवण्णे**—जिस ने मोक्ष मार्ग को प्राप्त कर लिया है। **अमायं कुव्वाणे**—माया—छल-कपट नही करने काला। **वियाहिए**—कहा गया है।

मूलार्थ—हे शिष्य। अणगार-मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मै कहता हूं। जो प्रबुद्ध पुरुष संयम का परिपालक है, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील है और

माया—छल-कपट आदि कषायों का त्यागी है या निश्छल एव निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है, वही अनगार—मुनि कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

साधु, मुनि या अनगार जीवन क्या है? यह प्रश्न आज का नही, शताब्दियों एव सहस्राब्दियों पहले का है। भगवान महावीर के युग में, महावीर के ही युग मे नहीं, उससे भी पहले यह प्रश्न विचारको के सामने चक्कर काटता रहा है, क्योकि अनेको व्यक्ति अपने आपको मुनि, त्यागी कहते रहे हैं। अत. त्यागी किसे समझा जाए, उसकी पहचान क्या है? उसका जीवन कैसा होना चाहिए? आदि प्रश्नो का उठना सहज-स्वभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र में इन्ही प्रश्नो का गहन भाषा मे समाधान किया गया है। अणगार की योग्यता को बताते हुए सूत्रकार ने तीन विशेषणो का प्रयोग किया है—1-सयम का परिपालक हो, 2-मोक्ष-मार्ग पर गतिशील हो और 3-माया रहित अर्थात् निश्छल एव निष्कपट हृदय वाला हो। इन विशेषणों से युक्त साधक ही अनगार कहा जा सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि यहा साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले मुनि, यति, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि शब्दों का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि साधना के पथ पर गतिशील होने वाले साधक के लिए सब से पहले घर का त्याग करना अनिवार्य है। घर-गृहस्थ मे रहते हुए वह सम्यक्तया साधुत्व की साधना-आराधना एव परिपालना नही कर सकता। क्योकि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व से आबद्ध होने के कारण उसे न चाहते हुए भी आरभ-समारभ के कार्य में प्रवृत्त होना पडता है। आरभ-समारभ मे प्रवृत्ति किए बिना गृहस्थ कार्य चल ही नही सकता और साधु-जीवन मे आरभ-समारभ की क्रिया को ज़रा भी अवकाश नही है। अत· साधुत्व का परिपालन करने के लिए गृहस्थ जीवन का परित्याग करना अनिवार्य है। इसलिए सूत्रकार ने साधु के लिए प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्दो का प्रयोग न करके अनगार शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि साधक साधु जीवन में प्रविष्ट होने के पूर्व घर एवं गृहस्थ-संबन्धी सावद्य कार्य पूर्णतया त्याग करे।

अनगार शब्द का शाब्दिक अर्थ है—घर-रहित। परन्तु घर का परित्याग करने मात्र से ही साधुत्व नहीं आ जाता है। उसके लिए जीवन को माजने एवं परिष्कृत करने की आवश्यकता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने अनगार शब्द के साथ तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। पहला विशेषण है—उज्जुकडे—(ऋजुकृत.) इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है—

"ऋजु·-अकुटिलः सयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्काय-निरोध सर्वसत्वसरक्षण-प्रवृत्तत्वादयैकरूप·।"

अर्थात् सरल, कुटिलता से रहित, सयम मार्ग मे प्रवृत्त, दुष्कार्य में प्रवृत्त मन, वचन और काय का निरोधक, समस्त प्राण, भूत, जीव, सत्व के सरक्षण मे प्रवृत्तमान साधक को ऋजु कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि संयम मार्ग मे प्रवृत्तमान साधक को अनगार कहा है। क्योकि कुछ व्यक्ति घर का परित्याग करके अपने आप को अनगार या साधु कहने लगते है। परतु घर का परित्याग करने के साथ वे कुटिलता एवं सावद्य कार्यो का परित्याग नही करते, मन, वचन और काय का दुष्कार्यो से निरोध नही करते। इसलिए वे वास्तव मे अनगार नही है। इसी बात को सूत्रकार ने 'ऋजुकृत ' विशेषण से **स्पष्ट किया** है। अनगार वही है, जो अपनी इन्द्रियो, मन एव योगो को नियन्त्रण मे रखता है, सब प्राणियो की दया एव रक्षा करता है।

कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधने के लिए, यश-ख्याति पाने के लिए या भौतिक सुख एवं स्वर्ग आदि पाने की अभिलाषा से इन्द्रिय एव मन पर भी नियन्त्रण कर लेते है। फिर भी वे वास्तव मे अनगार नही कहे जा सकते, जब तक उनकी प्रवृत्ति मोक्ष-मार्ग मे नही है। इस बात को सूत्रकार ने 'नियाय पडिवण्णे' विशेषण से स्पष्ट किया। इसकी परिभाषा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि

"नियाग—सम्यगृदर्शनज्ञान—चारित्रात्मक मोक्षमार्ग-प्रतिपन्नो नियागप्रतिपन्न·।"

अर्थात् सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक ही नियागप्रतिपन्न कहा गया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस साधक की साधना, इद्रियो एव योगों पर नियन्त्रण एवं तपस्या आदि अनुष्ठान बिना किसी भौतिक आकाक्षा-अभिलाषा के होता है अर्थात् यो कहिए कि जो केवल कर्मो की

निर्जरा करके शुद्ध आत्म-स्वरूप प्रकट करने या निर्वाण-मोक्ष पद पाने हेतु, साधना करता है, वही साधक संयम-सम्पन्न है, अनगार है। दशवैकालिक सूत्र मे स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि साधक इस लोक मे भौतिक सुख पाने के लिए तपस्या न करे, परलोक मे स्वर्ग एव ऐश्वर्य पाने की आकाक्षा से तप न करे, यश-कीर्ति पाने हेतु तपस्या न करे। किन्तु एकान्त निर्जरा के लिए तपश्चर्या करे[1]। जैसे तप के लिए कहा गया है, उसी तरह समस्त धार्मिक क्रियाओ के लिए कहा है। बिना किसी भौतिक इच्छा-आकाक्षा या निदान के, साधना या संयम पर गतिशील होना यही मोक्षमार्ग है और इस मार्ग पर आरूढ़ साधक ही सच्चा एवं वास्तव में अनगार है।

अनगार का तीसरा विशेषण है 'अमाय' अर्थात् छल-कपट नहीं करने वाला। माया को भी जीवन का बहुत बड़ा दोष माना गया है। आगम मे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "माई मिच्छादिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी" अर्थात्—माया एव छल-कपट-युक्त व्यक्ति मिथ्यादृष्टि कहा गया है। ससार के कार्यो में ही नही, धर्म-प्रवृत्ति मे भी छल-कपट करना दोष माना गया है। 19वें तीर्थकर मल्लिनाथ ने अपने साधु के पूर्वभव मे माया-पूर्वक तप किया था। सक्षेप मे कथा इस प्रकार है—उनके छह साथी सन्त थे। सब एक साथ तप शुरू करते, मल्लिनाथ का जीव सन्त यह सोचता कि मैं इन से अधिक तप करू, पर करू कैसे? यदि इन्हे कह दूगा कि मुझे आज पारणा नही, तपस्या करनी है, तो यह भी तप कर लेगे। इस तरह तप मे मै इनसे आगे नही रह सकूगा। अत उन्होने साथी सन्तों से कपट करना शुरू किया। उन्हे पारणा के लिए कह देते और स्वय तप कर लेते। इस तरह मायायुक्त तप का परिणाम यह रहा कि उन्होंने स्त्री वेद का बन्ध किया। इस से यह स्पष्ट हो गया कि उत्कृष्ट से उत्कष्ट क्रिया में भी माया करना बुरा है। इसीलिए सूत्रकार ने माया-रहित, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील, सयम-सपन्न व्यक्ति को ही अनगार कहा है। क्योकि ऐसा व्यक्ति ही सर्व प्राणियो की रक्षा कर सकता है।

अणगार के यथार्थ स्वरूप को बताने के बाद, साधना या त्याग मार्ग पर प्रविष्ट

---

1. चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तजहा—1-नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, 2-नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, 3-नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, 4-नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, चउत्थं पयं भवइ। —दशवैकालिक सूत्र 9/4/4

होने वाले साधक के कर्तव्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं ॥20॥

छाया–यया श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेव अनुपालयेत्, विहाय विस्रोतसिकां।

पदार्थ–जाए–जिस। **सद्धाए**–श्रद्धा से। **निक्खंतो**–घर से निकला है–दीक्षित हुआ है। **विसोतियं**–शका को। **वियहित्ता**–छोड़ कर। **तमेव**–उसी श्रद्धा का जीवन-पर्यन्त। **अणुपालिज्जा**–परिपालन करे।

मूलार्थ–जिस श्रद्धा एव त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है, उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शकाओ से रहित होकर जीवन-पर्यन्त सयम का परिपालन करे।

हिन्दी-विवेचन

आगम में दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत सूत्र मे दर्शनाचार का विवेचन किया गया है। वस्तु-तत्त्व को जानने की अभिरुचि या तत्त्वो पर श्रद्धा करने का नाम दर्शन है। दर्शनाचार को पाचों मे पहला स्थान दिया गया है। इसका कारण यह है कि तत्त्वो को जानने की अभिरुचि होने पर ही साधक ज्ञान की साधना मे सलग्न हो सकता है। इसलिए ज्ञान से पहले दर्शन-श्रद्धा का होना ज़रूरी है। इसी तरह चारित्र-संयम, तप एव वीर्याचार पर श्रद्धा-विश्वास होने पर ही वह उनको स्वीकार कर सकता है, अन्यथा नही। यही कारण है कि श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है। आगम मे भी मनुष्य जन्म, शास्त्र-श्रवण, सयम मार्ग में प्रवृत्त होने आदि को दुर्लभ बताया गया है, परन्तु श्रद्धा के लिए कहा गया है कि वह दुर्लभ ही नहीं, परम दुर्लभ है–

"सद्धा परम दुल्लहा"

इसलिए सूत्रकार ने मुमुक्षु को विशेष रूप से सावधान एव जागृत करते हुए कहा है कि हे साधक! तू जिस श्रद्धा-विश्वास के साथ साधना-पथ पर गतिशील हुआ है, उस श्रद्धा में शिथिलता एव विपरीतता को मत आने देना। अपने हृदय मे किसी

भी तरह शंका-कुशका को प्रविष्ट न होने देना। अपनी आंतरिक भावना के विश्वास को दूषित मत करना।

यह अनुभूत सत्य है कि संसारी जीवो की भावना सदा एक सी नहीं रहती। आत्मा के परिणामो की धारा में परिवर्तन होता रहता है। विचारों में कभी मन्दता आती है, तो कभी तीव्रता। साधक के मन मे भी दीक्षा के समय जो उत्साह एवं उल्लास होता है, उसमे मन्दता एव वेग (तीव्रता) दोनों के आने को अवकाश रहता है। उसकी श्रद्धा में दृढता एव निर्बलता दोनों के आने के निमित्त एवं साधन मिलते हैं। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि श्रद्धा को कमजोर बनाने वाले साधनो से बचकर दृढ विश्वास के साथ सयम-मार्ग पर गति करे।

श्रद्धा को क्षीण बनाने या विपरीत दिशा मे मोड़ देनेवाला संशय है। जब मन मे, विचारो मे सन्देह होने लगता है, तो साधक का विश्वास डगमगा जाता है, उसकी साधना लड़खडाने लगती है। अत साधक को इस बात के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि उसके मन मे सदेह प्रविष्ट न हो सके। संशय को पनपने देना साधना के मार्ग से गिरना है।

सशय भी दो प्रकार का होता है—1-सर्व संशय और देश सशय। पूरे सिद्धान्त पर सदेह होना या मन मे यह सोचना कि यह सिद्धात वीतराग द्वारा प्रणीत है और वीतराग की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने से आत्मा समस्त कर्मो से मुक्त हो जायगी—इसे किसने देखा है? अत इस पर कैसे विश्वास किया जाए? यह सर्व शंका है और सिद्धान्त के किसी एक तत्त्व या पहलू पर सन्देह करना देश शंका है। जैसे—मुक्ति है या नहीं? यह देश शंका का उदाहरण है। दोनो तरह की शंकाएं आत्मा की श्रद्धा को शिथिल कर देने वाली हैं, अत. साधक को अपने हृदय में शका को उद्भूत नहीं होने देना चाहिए।

साधनापथ नया नही है। अनन्त काल से अनेको साधक इस पथ पर गतिशील होकर अपने साध्य को सिद्ध कर चुके हैं। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पणया वीरा महावीहिं ॥21॥

छाया—प्रणताः वीरा महावीथिम्।

पदार्थ–**वीरा**–वीर पुरुष–परिषह–उपसर्ग और कषायादि पर विजय प्राप्त करने वाले। **महावीहिं**–प्रधान मोक्ष-मार्ग में। **पणया**–पुरुषार्थ कर चुके है।

मूलार्थ–यह सयम-मार्ग परिषह–उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर-महावीर पुरुषों द्वारा आसेवित है।

हिन्दी-विवेचन

हम यह प्रथम ही बता चुके है कि जीवन में श्रद्धा की ज्योति का प्रदीप्त रहना आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है। हम सदा देखते हैं कि श्रद्धा के बिना लौकिक या लोकोत्तर कोई भी कार्य सफल नही होता। साधना को सफल बनाने के लिए दृढ़ एवं शुद्ध श्रद्धा होनी चाहिए। इसी बात को सूत्रकार ने पिछले सूत्र मे बताया है कि साधक को अपने हृदय मे सशय को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र मे श्रद्धा को दृढ बनाए रखने के लिए सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि यह साधना का मार्ग आज से नही, अपितु अनादि काल से चालू है, अनेक वीर पुरुषों ने इस मार्ग पर गतिशील होकर निर्वाण पद को प्राप्त किया है।

'वीर' शब्द का सीधा सा अर्थ शक्तिशाली है। परन्तु प्रस्तुत सूत्र मे इसका संबन्ध शारीरिक एव भौतिक बल एवं शक्ति नही, अपितु आध्यात्मिक शक्ति से है। वीर या बलवान वह है, जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को परास्त करने की शक्ति रखता है, मनोज्ञ एव अमनोज्ञ पदार्थो को देख कर मन में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष को उभरने नहीं देता है। क्योकि दुनिया मे राग-द्वेष एवं कषाय सब से शक्तिशाली माने गए है। बड़े-बड़े शक्तिशाली योद्धा एव चक्रवर्ती सम्राट् तक उनके कृतदास बन जाते है, कषायों एवं राग-द्वेष के प्रवाह मे प्रवहमान होने लगते हैं। अत सच्चा विजेता और वास्तविक शक्तिशाली व्यक्ति वही माना जाता है, जो इन बलवान योद्धाओ को पछाड देता है। प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि गजसुकुमार जैसे वीर पुरुषो ने राग-द्वेष, कषाय एवं परीषहों पर विजय प्राप्त करके सिद्धत्व को प्राप्त किया है। श्रेष्ठ एव महान् पुरुषो द्वारा आचरित होने से यह प्रशस्त है, अत॰ मुमुक्षु को उत्साह के साथ साधना-पथ पर बढ़ते रहना चाहिए।

पिछले सूत्रो एव प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने अप्कायिक जीवो के संरक्षक अणगार

की योग्यता एव उस के स्वरूप का वर्णन किया है। अब अगले सूत्र में सूत्रकार अप्कायिक जीवो के सबन्ध मे वर्णन करेंगे। किन्तु अप्कायिक जीवो का विस्तार से विवेचन करने के पूर्व सूत्रकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधक को इस बात पर विश्वास एवं श्रद्धा रखनी चाहिए कि अप्काय मे जीव है, उस का आरभ-समारभ करने से पाप कर्म का बन्ध होता है। यदि कभी अपनी बुद्धि काम नही करती है, तब भी तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित एव महापुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर श्रद्धा रखकर वीतराग की आज्ञा के अनुसार आचरण करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओभयं ॥22॥

छाया—लोक च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतो भयम्।

पदार्थ—लोग—अप्काय रूप लोक को। **च**—और, अन्य पदार्थो को। **आणाय**—तीर्थकर भगवान की आज्ञा से। **अभिसमेच्चा**—जानकर। **अकुओभयं**—सयम का परिपालन करे।

मूलार्थ—तीर्थकर भगवान के वचनों से अप्काय के स्वरूप को जानकर संयम का परिपालन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह स्पष्ट कर दिया है कि वीतराग की वाणी पर पूर्ण विश्वास रखकर तदनुसार ही आचरण करना चाहिए। क्योकि जब तक साधक छद्मस्थ है, तब तक उसके ज्ञान मे अपूर्णता होने के कारण वह वस्तु के स्वरूप को भली-भांति नहीं भी देख पाता। कई बातों के लिए उसके मन में सदेह उठना स्वाभाविक है। परन्तु वीतराग के वचनों में संशय करने को अवकाश ही नही है। क्योंकि वे सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होने से प्रत्येक द्रव्य के त्रैकालिक स्वरूप को जानते-देखते हैं। इसलिए उनके वचनो के आधार पर साधक प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को सम्यक्तया जान सकता है और उनके वचनानुसार गति करके एक दिन सिद्धत्व को पा सकता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'लोक' शब्द का विषय के अनुरूप अप्काय लोक अर्थ होता है और 'अकुओभयं' सयम का परिबोधक है और अप्काय का विशेषण भी है। सयम अर्थ मे इसकी परिभाषा इस प्रकार है—"न विद्यते कुतश्चिद्धेतोःकेनापि प्रकारेण जन्तूनां भय यस्मात् सोऽय अकुतोभय· सयम· तमनुपालयेदिति सम्बन्ध· ।"

अर्थात्—जिस साधना या क्रिया से जीवों को किसी भी प्रकार का या किसी भी प्रकार से भय न हो, उसे 'अकुतोभय' कहते हैं, वह साधना का प्राणभूत सयम ही है।

जब उक्त शब्द का अप्काय के विशेषण के रूप मे प्रयोग करते है, तो उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बनेगी—"अकुतो भयः अप्कायलोकः यतोऽसौ न कुतश्चिद्-भयमिच्छति मरणभीरूत्वात्।" अर्थात्—मरणभीरु होने के कारण अप्काय के जीव किसी से भी भयभीत होने के इच्छुक नही हैं, अत· इसे 'अकुतोभय' कहते है।

'अभिसमेच्चा-अभिसमेत्य' शब्द अभि + सम् + इत्वा के सयोग से बना है। अभि का अर्थ है—सब प्रकार से, सम् का अभिप्राय है—अच्छी तरह से, सम्यक् प्रकार से और इत्वा का तात्पर्य है—जान कर। अस्तु 'अभिसमेच्चा' का अर्थ हुआ—सम्यक् प्रकार से जानकर।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने भगवान की वाणी से अप्काय के जीवो के स्वरूप को जानकर, भगवान की आज्ञा के अनुसार उनकी यतना करे। अब सूत्रकार अप्काय मे जो चैतन्य—सजीवता है, उसका अपलाप न करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं—

मूलम्—से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥23॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकं प्रत्याचक्षीत् (अभ्याख्यायेत्) नैव आत्मानं प्रत्याचक्षीत, यो लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति, यः आत्मानम् अभ्याख्याति सः लोकं अभ्याख्याति।

पदार्थ से—वह (मैं) तुम्हारे प्रति। **बेमि**—कहता हूँ कि। **णेव**—नहीं। **सयं**—अपनी

आत्मा से। **लोयं**—अप्काय रूप लोक का। **अब्भाइक्खिज्जा**—अभ्याख्यान—अपलाप। **अत्ताणं**—आत्मा का। **अब्भाइक्खिज्जा-णेव**—निषेध नही करना चाहिए। **जे**—जो व्यक्ति। **लोयं**—अप्काय रूप लोक का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है। **से**—वह। **अत्ताणं**—आत्मा का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है। **जे**—जो। **अत्ताणं**—आत्मा का निषेध करता है। **से**—वह। **लोयं अब्भाइक्खइ**—अप्काय रूप लोक का निषेध करता है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! मैं तुम्हे कहता हू कि मुमुक्षु को स्वयं अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलाप-निषेध नहीं करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करना चाहिए, क्योकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है, वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अप्काय के सबन्ध मे उसी भाषा का प्रयोग करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अपनी आत्मा एव अप्कायिक जीवो की आत्मा के साथ तुलना करके अप्काय मे चेतना है, इस बात को सिद्ध किया है। यह हम पहले देख चुके है कि आत्मस्वरूप की दृष्टि से ससार की समस्त आत्माएं एक समान हैं। अप्काय मे स्थित आत्मा मे एव मनुष्य शरीर में परिलक्षित होने वाली आत्मा मे स्वरूप की दृष्टि से कोई अतर नही है। यहा तक कि सर्व कर्मो से मुक्त सिद्धो की शुद्ध आत्मा का स्वरूप भी वैसा ही है। आत्मस्वरूप की दृष्टि से किसी आत्मा में अन्तर नही है, अन्तर केवल चेतना के विकास का है। अप्कायिक जीवो की अपेक्षा मनुष्य की चेतना अधिक विकसित है और सिद्धो मे आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, वहा आत्मा की शुद्ध ज्योति पूर्ण रूप से प्रकाशमान है, आवरण की कालिमा को जरा भी अवकाश नहीं है। इस तरह स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएं समान है, भेद केवल विकास की अपेक्षा से है।

जैसे जवाहरात की दृष्टि से सभी हीरे समान गुण वाले है—भले ही वे खान में मिट्टी से लिपटे हो, जौहरी की दुकान पर पडे हो या स्वर्ण आभूषण मे जडे हों, स्वरूप की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। जौहरी की दृष्टि से सभी हीरे मूल्यवान हैं। भेद

है बाहरी विकास को देखने-परखने वाली दृष्टि का। उस दृष्टि मे खान से निकले हुए हीरे की अपेक्षा जौहरी की दुकान पर पड़े सुघड़ हीरे का अधिक मूल्य है और उससे भी अधिक मूल्यवान है आभूषण मे जड़ा हुआ हीरा। तो यह सारा भेद बाहरी दृष्टि का है। अन्तर्दृष्टि से हीरा हर दशा मे मूल्यवान है, कीमती है और जौहरी की अन्तर दृष्टि उसे पत्थर के रूप मे भी पहचान लेती है। यही स्थिति आत्मा के संबन्ध में है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माए समान है। हम भले ही बाहरी दृष्टि से कुछ अल्प विकसित आत्माओ की चेतना को स्पष्ट रूप से न देख सकें, परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषो की आत्मदृष्टि उसे स्पष्टतया अवलोकन करती है, इसलिए हमे उसके अस्तित्व का अपलाप नही करना चाहिए। क्योकि आत्म-स्वरूप की दृष्टि से उसकी और हमारी आत्मा में कोई अन्तर नही है। अत अप्कायिक जीवों की आत्मा का अपलाप करने का अर्थ है, अपने अस्तित्व का अपलाप करना और अपने अस्तित्व का अपलाप या निषेध करने का तात्पर्य है कि अप्कायिक जीवो की सत्ता का निषेध करना। इस तरह सूत्रकार ने सभी आत्माओं का स्वरूप की अपेक्षा से आत्मैक्य सिद्ध कर के इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी एक के आत्मअस्तित्व को मानने से इनकार करने का अर्थ है, समस्त जीवों की आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना और यह आगम, तर्क एव अनुभव से विपरीत है। इसलिए मुमुक्षु को अप्कायिक जीवो का एव अपनी आत्मा का अपलाप नही करना चाहिए।

'अभ्याख्यान' शब्द का अर्थ है—असदभियोग अर्थात् झूठा आरोप लगाना जैसे—जो व्यक्ति चोर नही है, उसे चोर कहना और जो चोर है उसे अचोर कहना या साहूकार बताना अभ्याख्यान है[1]। इसी तरह अप्कायिक जीवो मे चेतनता होते हुए भी उन्हें निश्चेतन या निर्जीव कहना, उनकी सजीवता पर मिथ्या आरोपण है, इसलिए इसे अभ्याख्यान कहा गया है।

यह सत्य है कि अप्काय मे चेतना का अल्प विकास है। परन्तु इससे हम उसकी सत्ता का निषेध नही कर सकते। क्योंकि उसकी चेतना अनुभव-सिद्ध है। वह उपयोगी है और घी-तेल की तरह द्रवित है। इससे हम उसे निर्जीव नहीं कह सकते। क्योकि सभी उपयोगी एवं तरल पदार्थ निर्जीव नही होते। जैसे—घोड़ा, गाय-भैंस आदि पशु

---

1 अभ्याख्यान नाम—असदभियोग, यथाऽचौरं चौरमित्याह।

उपयोगी होने पर भी सजीव हैं और हस्तिनी के गर्भ मे उत्पन्न होने वाला जीव तथा सभी पक्षियों के अंडे रूप में जन्म लेने वाला प्राणी कई दिनों तक तरल रहता है। फिर भी उसे सजीव मानते हैं। यदि उसकी तरल अवस्था में सजीवता नहीं मानोगे तो उससे बनने वाले अंगोपाग युक्त हाथी एवं पक्षियों में सजीवता प्रतीत नही होगी। इसलिए हस्तिनी के गर्भ मे एव अडे में तरल अवस्था में स्थित अव्यक्त चेतना स्वीकार की गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पानी में चेतना का अस्तित्व है[1] द्रवित होने मात्र से उसे निर्जीव कहना सर्वथा अनुचित है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे यह स्पष्ट बताया गया है कि जैसे अपनी आत्मा के अस्तित्व को इनकार करना अपलाप कहा जाता है, उसी तरह अनुभव-सिद्ध अप्काय की सजीवता का निषेध करना भी अभ्याख्यान या अपलाप कहलाता है। जो अप्काय के अस्तित्व का अपलाप करते है, वे उसके आरम्भ-समारम्भ से नहीं बच सकते और उसके आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त न होने के कारण फिर ससार में परिभ्रमण करते है और जो उसकी सजीवता को जानते है, वे उसका अपलाप भी नही करते और उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करके ससार-सागर से पार हो जाते है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लज्जमाणा पुढोपास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदय कम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाइ-मरण मोयणाए दुक्खपडिघाय हेउं से संयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदय-सत्थं समारंभावेति, अण्णे उदय-सत्थं समारंभंते समणुजाणति। तं से अहियाए, तं से अबोहिए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु

1 सचेतना आप., शस्त्रानुपहतत्त्वे सति द्रवत्वात्—हस्तिशरीरोपादान—भूत कललवत्।...
....तथा सात्मकं तोयम् अनुपहत-द्रवत्वाद् अण्डकमध्यस्थितकललवत्, इत्यादि।

णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्म-समारंभेण उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। से बेमि सन्ति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगे ॥24॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य! अनगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण उदकशस्त्रं समारम्भमाणाः अनेक रूपान् प्राणान् विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता। अस्य चैव जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय दुःखप्रतिघात-हेतुं स· स्वयमेव उदकशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा उदकशस्त्रं समारंभयति अन्यान् उदकशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते। तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः एतत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणाम् अन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति-एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोह· एष खलु मारः, एस खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धः लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रै· उदक-कर्म समारम्भेण उदकशस्त्रं समारम्भमाणोऽन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहि-नस्ति अथ ब्रवीमि संति प्राणाः उदक निश्रिताः जीवाः अनेके।

पदार्थ—हे शिष्य! पास—तू देख। **पुढो लज्जमाणा**—अप्काय की हिसा से लज्जा करते हुए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को। **एगे**—कोई-कोई अन्य मतावलम्बी। **अणगारामो त्ति**—हम अणगार है, इस प्रकार। **पवयमाणा**—कहते हुए। **जमिणं**—जो यह। **विरूवरूवेहिं**—अनेक प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रों से। **उदयकम्मसमारम्भेण**—अप्काय संबन्धी आरम्भ करने से। **उदयसत्थं**—अप्कायिक शस्त्र का। **समारम्भमाणे**—प्रयोग करते हुए। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—जीवो की। **विहिसइ**—हिसा करते है। **तत्थ**—वहा। **खलु**—निश्चय से। **भगवता**—भगवान ने। **परिण्णा**—परिज्ञा—विवेक। **पवेदिता**—बताया है। **चेव इमस्स**—इसी। **जीवियस्स**—जीवन के वास्ते। **परिवंदण**—प्रशसा। **माणण**—सम्मान और। **पूयणाय**—पूजा के वास्ते। **जाइ**—मरण। **मोयणाए**—जन्म-मरण से छूटने के लिये और **दुक्ख पडिघाय हेउ**—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का नाश करने के लिये। **से**—वह। **सयमेव**—स्वय भी। **उदय-सत्थं**—अप्कायिक शस्त्र का। **समारम्भति**—समारभ करता है। **वा**—अथवा। **अण्णेहिं**—अन्य व्यक्ति से। **उदय-सत्थं**—अप्कायिक

शस्त्र का। **समारम्भवेति**—समारम्भ कराता है। तथा—**उदय-सत्थं**—अप्कायिक शस्त्र का। **समारंभते**—समारम्भ करते हुए। **अण्णे**—अन्य व्यक्तियों का। **समणुजाणति**—अनुमोदन-समर्थन करता है। **तं**—वह अप्कायिक समारम्भ। **से**—उस को। **अहियाए**—अहितकर होता है। **तं**—वह। **से**—उसको। **अबोहिए**—अबोध का कारण होता है। **से**—वह। **तं**—इस विषय में। **संबुज्झमाणे**—सबुद्ध हुआ प्राणी। **आयाणीयं**—उपादेय ज्ञान-दर्शनादि से। **समुट्ठाय**—सम्यक्तया उठ कर या सावधान होकर। **सोच्चा**—सुनकर। **भगवतो**—भगवान से या। **अणगाराणं**—अणगारों के। **अन्तिए**—समीप से। **इह**—इस ससार में। **एगेसिं**—किसी-किसी व्यक्ति को। **णायं**—ज्ञात। **भवति**—होता है। **खलु**—निश्चय ही। **एव**—यह अप्कायिक समारम्भ। **गंथ**—अष्टविध कर्मो की गांठ है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मोहे**—मोह का कारण है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मारे**—मृत्यु का कारण है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **णरए**—नरक का कारण होने से नरक रूप है। **इत्थ**—इस प्रकार विषयो में। **गड्ढिए लोए**—मूर्च्छित लोक। **जमिणं**—इस अप्काय का। **विरूविरूवेहिं**—अनेक तरह के। **सत्थेहिं**—शस्त्रों से। **उदयकम्मसमारम्भेण**—अप्कायिक कर्म के समारंभ से। **उदयसत्थं**—अप्कायशस्त्र का। **समारम्भमाणे**—समारभ-प्रयोग करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक तरह के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसई**—विविध प्रकार से हिसा करता है। **से**—अब। **बेमि**—कहता हूँ। **पाणा**—प्राणी। **उदयनिस्सिया**—अप्काय के आश्रित। **अणेगे**—अनेक। **जीवा**—जीव। **संति**—विद्यमान है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! अप्काय की हिसा से लज्जा करने वाले प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञानी साधुओं को तू देख! और उनको भी देख, जो अपने आप को अनगार कहते या मानते हुए अप्कायिक जीवों का अनेक तरह से आरम्भ-समारम्भ करते है और अप्काय रूप शस्त्र का आरंभ-समारभ करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिसा करते है। इसलिए भगवान ने अप्काय का आरंभ करने के संबन्ध में परिज्ञा का उपदेश दिया है, अर्थात् ज्ञ परिज्ञा से अप्काय के स्वरूप को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से अप्कायिक आरंभ-समारंभ का त्याग करने की बात कही है।

प्रमादी एवं अज्ञानी जीव इस जीवन के निमित्त, प्रशंसा, मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा

पाने के लिए तथा जन्म-मरण के दुःख से उन्मुक्त होने के लिए अप्कायिक जीवो का स्वय आरम्भ-समारम्भ करते हैं और दूसरे व्यक्तियों से कराते हैं तथा आरम्भ करने वाले प्राणियों की प्रशसा करते हैं। परन्तु यह अप्कायिक जीवो का आरंभ-समारंभ उनके लिए अहितकर एवं अबोध का कारण बनता है।

कुछ व्यक्ति अप्काय आदि के वास्तविक स्वरूप को जानकर सम्यग् ज्ञान एवं दर्शन को प्राप्त कर लेते है। और भगवान या अणगार—मुनियो के पास से अप्कायिक समारम्भ के सबन्ध मे सुनकर वे इस बात को भली-भांति जान-समझ लेते है कि यह अप्काय का आरम्भ-समारम्भ अष्टविध कर्मो की ग्रन्थि—गांठ है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का हेतु है। इस में आसक्त बने हुए प्राणी ही अप्कायिक शस्त्र का समारम्भ करते हुए, उसका एव उसके आश्रित स्थित अन्य स्थावर एव त्रस जीवो की हिसा करते है। यह मै तुम्हे बताता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार और वीर्याचार, इस तरह चारो आचारों का वर्णन कर दिया है। अप्कायिक जीवो की सजीवता का सम्यक्बोध प्राप्त करना ज्ञानाचार है, उनकी सजीवता पर दृढ विश्वास एव श्रद्धा रखना दर्शनाचार है, उनकी हिंसा का परित्याग करना चारित्राचार है और उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। इस तरह एक सूत्र में चारो आचारो का समन्वय कर दिया है। ये चारो आचार ही संयम के आधार है। इनसे संयुक्त जीवन ही मुनि-जीवन है।

कुछ लोग अप्कायिक जीवो के आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होकर भी अपने आप को अणगार कहते है। वे भले ही अपने आपको कुछ भी क्यों न कहे, परन्तु वास्तव मे वे अणगार नहीं हैं। क्योंकि अभी तक उन्हे न तो अप्काय मे जीवत्व का बोध है और न वे उसके आरम्भ-समारम्भ के त्यागी है। अतः वे सभी अणगारत्व से बहुत दूर है।

'से बेमि' मे प्रयुक्त हुआ 'से' शब्द आत्मा (अपने आप) का बोधक है। इसलिए 'से बेमि' का तात्पर्य हुआ कि 'मैं कहता हूॅ।'

अप्काय भी पृथ्वीकाय की तरह, प्रत्येक शरीरी, असंख्यात जीवों का पिण्डरूप

एवं अंगुल के असख्यातवे भाग की अवगाहना वाली है। इसलिए उसके स्वरूप को भली-भाति जानकर मुमुक्षु को सदा उसकी हिसा से बचना चाहिए। अप्कायिक आरम्भ-समारम्भ के कार्यो से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए, जिससे उसका सयम भी शुद्ध रहेगा और उनसे आध्यात्मिक शान्ति भी प्राप्त होगी[1]।

अन्य दार्शनिक जल के आश्रित रहे हुए जीवों को तो मानते हैं, परन्तु जल को सजीव नहीं मानते। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–इहं च खलु भो। अणगाराणं उदय जीवा वियाहिया ॥25॥

छाया–इह च खलु भो! अणगाराणां उदक जीवाः व्याख्याताः।

पदार्थ–खलु–अवधारण अर्थ में। **इह**–इस-तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित आगम मे। **भो**-अरे! **अणगाराणं**–अनगारों को। **उदय जीवा**–अप्पकाय स्वयं सजीव है, यह। **वियाहिया**–संबोधन अर्थ में कहा गया है। **च**–चकार से अप्कायिक जीवो के अतिरिक्त उसके आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रिय आदि अन्य जीवों का ग्रहण किया गया है।

मूलार्थ–हे जम्बू! जिनेन्द्र भगवान द्वारा दिए गए प्रवचन में ही अप्काय मे ही अप्काय को जीवो का पिण्ड माना है और अप्काय–जल को सजीव मानने के साथ यह भी कहा है कि उसके आश्रित द्वीन्द्रिय आदि जीव भी रहते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि अप्काय–जल सजीव है, सचेतन है। और इस बात को केवल जैन दर्शन ही मानता है। अन्य दर्शनों ने जल मे दृश्यमान एव अदृश्यमान अन्य जीवो के अस्तित्व को तो स्वीकारा है। परन्तु जल स्वय सजीव है, इस बात को जैनो के अतिरिक्त किसी भी विचारक या दार्शनिक ने नही माना। वस्तुत पृथ्वी, जल आदि स्थावर जीवों की सजीवता को प्रमाणित करके जैन दर्शन ने अध्यात्म-विचारणा मे एक नया अध्याय जोड दिया और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागम सर्वज्ञ-प्रणीत हैं।

---

1 प्रस्तुत सूत्र का वर्णन पृथ्वीकाय के प्रकरण में सूत्र 17 की व्याख्या के समान समझे।

प्रश्न—यदि अप्काय—जल सजीव है, असंख्यात जीवों का पिण्ड है, तो फिर उसका उपयोग करने पर उसकी हिंसा होगी ही। और जल का उपयोग दुनिया के सभी मनुष्य करते है, साधु भी उसका उपयोग करते ही है। ऐसी स्थिति मे वे अप्कायिक जीवो की हिसा से कैसे बच सकते है?

उत्तर—जैनागमों मे इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। पानी तीन प्रकार का बताया गया है—1- सचित्त—जीव-युक्त, 2- अचित्त—निर्जीव और 3-मिश्र, सजीव और निर्जीव का मिश्रण। इस में सचित्त और मिश्र यह दो तरह का पानी साधु के लिए अग्राह्य है। किन्तु अचित्त जल, जिसे प्रासुक पानी भी कहते हैं, साधु के लिए ग्राह्य बताया गया है। क्योकि उसमें सजीवता नही होने से वह निर्दोष है। आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करने मे साधु को हिसा नही होती। क्योकि उसकी प्रत्येक क्रिया यत्ना एव विवेकपूर्वक होती है। वह अनावश्यक कोई क्रिया नही करता। इसलिए उसे पापकर्म का बन्ध नही होता है।

यहा इस बात को भी समझ लेना चाहिए कि बाह्य शस्त्र के प्रयोग से परिणामान्तर को प्राप्त जल अचित्त—निर्जीव होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—सत्थं चेत्थं अणुवीइ पास, पुढो सत्थं पवेइयं ॥26॥

छाया—शस्त्रं अनुविचिन्त्य पश्य पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम्।

पदार्थ—**च**—अवधारण अर्थ मे है। **सत्थं**—शस्त्र। **एत्थं**—इस अप्काय में। **अणुवीइ**—विचार कर। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **सत्थं**—शस्त्र। **पवेइयं**—कहे है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू सोच-विचार कर देख! इस अप्काय मे पृथक्-पृथक् शस्त्र बतलाए है, जिन के द्वारा यह अप्काय—जल निर्जीव हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि शस्त्रो के प्रयोग से अप्काय अचित्त हो जाती हैं। वे शस्त्र—जिनके द्वारा अप्काय निर्जीव होती हैं, दो प्रकार के बताए गए है—1- स्वकाय-रूप और 2-परकाय-रूप, अर्थात् अप्काय का शरीर भी अप्काय के

लिए शस्त्र हो जाता है और दूसरे तीक्ष्ण निमित्त या साधनो से अप्काय—जल निर्जीव हो जाता है।

जैनागमो ने जीवो का आयुष्य दो प्रकार का माना है—1-निरुपक्रमी और 2-सोपक्रमी। जिन प्राणियो का आयुष्य जितने समय का बधा है, उतने समय के बाद ही वे अपने प्राणो का त्याग करते है और उसके पहले उनकी मृत्यु नही होती, उन्हे निरूपक्रमी आयुष्य वाला कहते है, अर्थात् किसी उपक्रम या आघात के लगने पर उनका आयुष्य टूटता नहीं और जो सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव होते है, उनका आयुष्य शस्त्र आदि का निमित्त मिलने पर जल्दी भी समाप्त हो सकता है। इसका यह अर्थ नही है कि वे अपने बाधे हुए आयुकर्म को पूरा नही भोगते। आयुकर्म को तो वे पूरा ही भोगते है, यह बात अलग है कि बहुत देर तक भोगने वाले आयुष्य को वे किसी निमित्त कारण से शीघ्र ही भोग लेते है। जैसे तेल से भरा हुआ दीपक रात्रि-पर्यन्त जलता रहता है, परन्तु यदि उसमें एक वर्तिका के स्थान में दो, तीन या दस-बीस वर्तिका लगा दी जाए तो वह जल्दी ही बुझ जाएगा। रात्रि-पर्यन्त चलने वाला तेल अधिक वर्तिकाओ का निमित्त मिलने से जल्दी ही समाप्त हो जाता है। इसी तरह कुछ निमित्त या शस्त्रप्रयोग से सोपक्रमी आयुष्य वाले जीव भी अपने आयुकर्म को जल्दी ही भोग लेते हैं। अप्काय के जीव प्राय सोपक्रमी आयुष्य वाले होते है, अत· शस्त्र का निमित्त मिलने से वे निर्जीव हो जाते हैं। और उस निर्जीव पानी का उपयोग करने मे साधु को हिसा नही लगती।

कुछ प्रतियों में "पुढो सत्थ पवेइयं" के स्थान में "पुढोऽपासं पवेइयं" पाठ भी मिलता है। उक्त पाठान्तर मे 'शस्त्र' के स्थान मे 'अपाश' शब्द का प्रयोग किया है। अपाश का अभिप्राय है—अबन्धन अर्थात् जिससे कर्म का बन्धन न हो उसे अपाश कहते है। इस दृष्टि से पूरे वाक्य का अर्थ होता है—विभिन्न प्रकार के शस्त्र-प्रयोग से निर्जीव बना हुआ जल अपाश होता है, अर्थात् उसका आसेवन करने से पापकर्म का बन्ध नही होता, इस प्रकार भगवान ने कहा है[1]।

---

1 "पुढोऽपास पवेइयं"—एब पृथक् विभिन्न-लक्षणेन शस्त्रेण परिणामितमुद-कग्रहणमापाश प्रवेदित—आख्यात भगवता अपाश —अबन्धंन शस्त्र परिणामितोदकग्रहणम-बन्धनमाख्यातमितियावत्। —आचाराग सूत्र, 25, टीका

प्रश्न—जब शस्त्र-प्रयोग से अप्काय—पानी अचित्त हो जाता है, और जब जंगल आदि स्थलो में स्थित पानी धूप-ताप आदि के संस्पर्श से अचित्त हो जाता है, तो क्या साधु उस पानी को ग्रहण कर सकता है?

उत्तर—नही, साधु उस पानी को स्वीकार नहीं करता। एक तो ज्ञान की अपूर्णता के कारण साधु इस बात को भली-भांति जान नहीं सकता कि वह अचित्त हो गया है। और दूसरे, व्यवहार भी ठीक नही लगता। इसी दृष्टि से वृत्तिकार ने लिखा है—

"यतोऽनुश्रूयते भगवता किल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमल-सलिल-समुल्लसत्तरगः शैवल-पटल- त्रसादिरहितो महाह्रदो व्यपगताशेष-जल-जन्तुकोऽ-चित्त-वारि-परिपूर्ण स्वशिष्याणां तृड्बाधितानामपि पानाय नानुजज्ञे ।"

अर्थात् सुना है—कि भगवान महावीर वर्द्धमान स्वामी ने अपने शिष्यो को—जो तृषा से व्याकुल हो रहे थे, अचित्त होने पर भी तालाव का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी। इसका कारण व्यवहार-शुद्धि रखने का ही है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि साधु को सचित्त जल का उपयोग नही करना चाहिए। इसमे केवल अप्कायिक जीवों की हिसा रूप प्राणातिपात पाप ही नही, अपितु अदत्तादान—चोरी का पाप भी लगता है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार अगले सूत्र मे कहते है—

मूलम्—अदुवा अदिन्नादाणं॥27॥

छाया—अथवा अदत्तादानम्।

पदार्थ—अदुवा—अथवा। **अदिन्नादाणं**—अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणतिपात दोष के साथ अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

हिन्दी-विवेचन

जैनागमो मे साधु के लिए हिसा एव आरभ-समारभ का सर्वथा त्याग करने की

बात कही है और हिंसा की तरह झूठ, चोरी आदि दोषों से भी सर्वथा दूर रहने का आदेश दिया है। साधु सचित्त या अचित्त, छोटी या बडी कोई भी चीज़ बिना आज्ञा के स्वीकार नहीं करता। वह चौर्य कर्म का सर्वथा त्यागी है।

सचित्त जल को ग्रहण करने में जीवों की हिसा भी होती है और चोरी भी लगती है। क्योकि अप्काय के शरीर पर उन जीवो का अधिकार है। और प्रत्येक प्राणी को अपना शरीर, अपना जीवन प्रिय होता है, वह उससे अपनी इच्छा से छोड़ना नहीं चाहता। जैसे हमे अपना शरीर प्रिय है, हम उसमें ज़रा सा अग भी किसी को काट कर नही देना चाहते है। वैसे ही अप्कायिक जीव भी स्वेच्छा से अपना शरीर किसी को भी उपयोग के लिए नही देते। अतः उनकी बिना आज्ञा से सचित्त जल का उपयोग करना चोरी भी है।

तर्क दिया जा सकता है कि जल आदि की उत्पत्ति हमारे उपयोग के लिए हुई है। अत· उसका उपयोग करने मे चोरी एव दोष जैसी क्या बात है? यह केवल तर्क मात्र है। क्योकि संसार मे विष, आदि अन्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए है। फिर उनका भी उपयोग करना चाहिए, क्योकि सभी पदार्थ उपयोग के लिए उत्पन्न हुए है। परन्तु विष का उपयोग कोई भी समझदार व्यक्ति नही करता। दूसरी बात यह है कि जैसे मनुष्य यह तर्क देता है, उसी तरह हिसक जन्तु भी तर्क देने लगे कि मनुष्य के शरीर का निर्माण हमारे खाने के लिए हुआ है, तो मनुष्य को कोई आपत्ति तो नही होगी? परन्तु मनुष्य अपने लिए यह नही चाहता। फिर अप्काय के लिए यह तर्क देना केवल स्वार्थीपन है।

यदि कोई साधु कुएं के मालिक की आज्ञा लेकर पानी का उपयोग कर ले तो इसमें तो उसे चोरी का दोष नही लगेगा? हमे ऊपर से मालूम होता है कि हम ने आज्ञा ले ली, परन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति में भी चोरी है। क्योंकि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अप्काय के शरीर पर उसी का अधिकार है। कुए के मालिक ने तो जबरदस्ती अपना अधिकार जमा रखा है। उन्होंने अपना जीवन स्वेच्छा से उसे नही सौंप दिया है। अत· कुए के मालिक से पूछ कर भी अचित्त पानी का उपयोग करना चोरी है।

अप्काय के जीवो की आज्ञा नही है और साथ मे तीर्थकर भगवान की भी सचित्त पानी का उपयोग करने की आज्ञा नही है। यहां तक कि प्राण भी चले जाएं, तब भी साधु सचित्त जल पीने का विचार तक न करे[1]। अतः सचित्त जल का उपयोग करना जिन-आज्ञा का उल्लंघन करना है, इसलिए इसे भगवान की आज्ञा की चोरी भी माना गया है।

यह सारा आदेश साधु के लिए है, गृहस्थ के लिए नही क्योंकि साधु एवं गृहस्थ की अहिंसा मे अन्तर है। साधु हिसा का सर्वथा त्यागी होता है और गृहस्थ उसका एक देश से त्याग करता है। वह एकेन्द्रिय-हिसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता और त्रस जीवो की हिंसा मे भी वह निरपराधी प्राणियो की निरपेक्ष बुद्धि से हिंसा करने का त्याग करता है। उसके विरोधी हिसा का त्याग नही होता। अपने परिवार एव देश पर आक्रमण करने वाले शत्रु के आक्रमण का मुकाबला—सामना करने का उसके त्याग नही होता। साधु का एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के सभी प्राणियो की हिसा का त्याग होता है। जैसे साधु और गृहस्थ के जीवन में अहिसा की साधना में अंतर रहा हुआ है, उसी तरह अचौर्य ब्रत में भी अन्तर है। साधु के सचित्त जल का त्याग है, इसलिए उसका उपयोग करने में हिसा के साथ चोरी भी लगती है। परन्तु गृहस्थ ने अभी ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग नही किया है।

अत प्रस्तुत सूत्र मे साधु के लिए यह निर्देश किया है कि वह सचित्त जल का उपभोग न करे। उसका आरंभ-समारंभ करने मे हिसा होती है और साथ मे चोरी का भी दोष लगता है। अन्य साप्रदायिक विचारको का इस विषय में क्या मन्तव्य है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए॥28॥

छाया—कल्पते नः कल्पते नः पातुं अथवा विभूषायै।

पदार्थ—कप्पाइ—कल्पता है। **णे**—हम को। **कप्पइ**—कल्पता है। **पाउ**—पीने के लिए। **अदुवा**—अथवा। **विभूसाए**—विभूषा के लिए।

---

1. तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुच्छी लज्जसजए।
   सीओदग न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे॥ —उत्तराध्ययन सूत्र, 2/4

मूलार्थ—कुछ विचारक कहते हैं कि हमें पीने के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है और कुछ कहते हैं कि हमें विभूषा अर्थात् स्नान करने एव वस्त्र-प्रक्षालन आदि कार्यो के लिए सचित्त जल का उपयोग करना कल्पता है।

हिन्दी-विवेचन

जैनेतर परम्परा में सचित जल के सम्बन्ध मे क्या व्यवस्था है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है। यह तो स्पष्ट है कि पानी की सजीवता को जैनो के अतिरिक्त किसी ने माना ही नही। इसलिए जैनेतर शास्त्रो में उसकी सजीवता एव उसके निषेध का वर्णन नहीं मिलता। इस कारण जैनेतर परम्परा मे प्रवृत्तमान साधु-सन्यासी सचित्त जल का उपभोग करते हुए सकुचाते नही, क्योकि उन्हें इस बात का बोध ही नही कि यह भी जीव है, चेतन है। इसलिए वे उसकी हिंसा से बचने का प्रयत्न न करके, सदा उसके आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहते है।

सचित्त जल का उपयोग करने वाले विचारकों मे भी मतैक्य नही है। आजीविका एव भस्मस्नायी परम्परा के अनुयायी कहते है कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार सचित्त जल पीने मे कोई दोष नही है और न उसका निषेध ही किया है, परन्तु शारीरिक विभूषा के लिए उसका उपयोग करना अकल्पनीय है। पर, शाक्य और परिव्राजक संन्यासी स्नान एवं पीने दोनों कार्यो के लिए सचित्त जल को कल्पनीय मानते हैं।

यह ठीक है कि जैनेतर परम्परा के विचारको मे पानी का उपयोग करने में एकरूपता नही है। कुछ सचित्त जल का केवल पीने के लिए उपयोग करते हैं, तो कुछ पीने एव स्नान करने के लिए। जो भी कुछ हो, इतना अवश्य है कि उन्हे उनकी सजीवता का बोध नही है और न उन जीवों के प्रति उनके मन मे रक्षा की भावना ही है। अतः उनका कथन युक्ति-संगत नहीं है। और जिस आगम के आधार से वे सचित्त का उपभोग करते है, वह आगम भी आप्त-सर्वज्ञ-प्रणीत न होने से प्रमाणिक नहीं माना जा सकता। और अनुमानादि प्रमाणो से हम इस बात को स्पष्ट देख चुके हैं कि जल में सजीवता है। इसलिए सचित्त जल के आसेवन को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। सूत्रकार भी इसी विषय मे कहते है—

मूलम्—पुढो सत्थेहिं विउट्टन्ति॥29॥

छाया—पृथक् शस्त्रैः व्यार्वयन्ति।

पदार्थ—पुढो—पृथक्। **सत्थेहि**—शस्त्रो से। **विउट्टंति**—अप्काय के जीवो का नाश करते हैं।

मूलार्थ—वे नाना प्रकार के शस्त्रो से अप्काय के जीवो का विनाश करते है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले देख चुके हैं कि ज्ञान और आचार का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हुआ है। ज्ञान के अभाव में आचार मे तेजस्विता नही आ पाती। वह अधे की तरह इधर-उधर ठोकरें खाता फिरता है। यही बात सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताई है कि जिन व्यक्तियों को पानी की सजीवता का परिज्ञान नहीं है, वे अनेक तरह के शस्त्रों से अप्काय—पानी के जीवो का नाश करते है।

शस्त्र दो प्रकार के माने गए है—1. स्वकाय और 2 परकाय। मधुर पानी के लिए क्षार जल तथा शीतल के लिए उष्ण पानी स्वकाय-शस्त्र है और राख-भस्म, मिट्टी, आग आदि परकाय-शस्त्र कहलाते है। इन दो प्रकार के शस्त्रो से लोग अप्कायिक जीवों की हिंसा करके कर्मो का बन्ध करते है। आश्चर्य तो उन प्राणियो पर होता है, जो अपने आपको साधु कहते हैं और समस्त प्राणियों की रक्षा करने का दावा करते हुए भी उक्त उभय शस्त्रो से अप्काय का विध्वस करते है और उसके साथ अन्य स्थावर एव त्रस जीवों की हिंसा करते है। अत· उनका मार्ग निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

उनके मार्ग की सदोषता बताकर, अब सूत्रकार उनके आगमों की अप्रामाणिकता का उल्लेख करते है—

मूलम्—एत्थवि तेसिं नो निकरणाए॥30॥

छाया—अत्रापि तेषां नो निकरणायै।

पदार्थ—एत्थऽवि—यहां पर भी। **तेसिं**—उनके द्वारा मान्य। **सिद्धान्त**—शास्त्र। **नो निकरणाए**—निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।

मूलार्थ—अप्काय की सजीवता के सम्बन्ध में भी उनके द्वारा मान्य सिद्धान्त या शास्त्र किसी प्रकार का निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं।

हिन्दी-विवेचन

तत्त्व का निर्णय करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह के ज्ञान प्रमाण माने गए है। अनुमान आदि प्रमाणों के साथ आगम प्रमाण भी मान्य किया गया है। परतु आगम वही मान्य है, जो आप्त-पुरुष द्वारा कहा गया हो। क्योंकि उसमे विपरीतता नही रहती। इस कसौटी पर कसकर जब हम आजीविक आदि परम्पराओं के आगमो को परखते है, तो वे सर्वज्ञ-कथित प्रतीत नहीं होते।

यथार्थ वक्ता को आप्त कहते है। क्योकि उसमे रागद्वेष नही होता, अपने-पराये का भेद नही होता, कषायो का सर्वथा अभाव होता है और उसके ज्ञान में पूर्णता होती है। और उसका प्रवचन प्राणिजगत के हित के लिए होता है[1]। परन्तु जो आप्त नही होते हैं, उनके विचारो में एकरूपता, स्पष्टता, सत्यता एवं सर्व जीवो के प्रति क्षेमकरी भावना नही होती।

इस दृष्टि से जब हम जैनेतर आगमो का अवलोकन करते है, तो वे प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध जीवो की सजीवता के विषय में सही निर्णय नही कर पाते। इससे परिलक्षित होता है कि उनमे सर्वज्ञता का अभाव है। क्योकि प्रथम तो एन्हे अप्कायिक जीवो के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही है। और दूसरे उनमे राग-द्वेष का सद्भाव है। इसी कारण वे अप्काय के जीवो का आरम्भ-समारम्भ करने का उपदेश देते हैं। इस तरह उनके द्वारा प्ररूपित आगम आप्त-वचन नही होने से प्रामाणिक नही है और इसी कारण किसी निर्णय पर पहुचने में असमर्थ है।

विभूषा—स्नान आदि के लिए सचित्त जल का उपयोग करना किसी भी तरह उचित नही है। स्नान भी एक तरह का शृगार है और साधु के लिए शृगार करने का निषेध किया गया है। क्योंकि द्रव्य स्नान से केवल चमड़ी साफ होती है, आत्मा की शुद्धि नहीं होती। आत्मा की शुद्धि के लिए अहिंसा, दया, सत्य, संयम और सन्तोष रूपी भाव स्नान आवश्यक है। इसलिए साधु को सचित्त या अचित्त किसी भी जल के

---

1 सव्व-जग-जीव-रक्खण-दयट्ठाए भगवया पावयण कहिय —प्रश्नव्याकरण सूत्र

द्रव्य स्नान में प्रवृत्त न होकर, भाव स्नान में संलग्न रहना चाहिए। वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी ब्रह्मचारी के लिए स्नान आदि शारीरिक शृंगार का निषेध किया गया है। रही प्रतिदिन आवश्यक शुद्धि की बात। उसे साधु अचित्त पानी से विवेक पूर्वक कर सकता है। स्नान नही करने का यह अर्थ नहीं है कि वह अशुचि से भी लिपटा रहे। उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपना सारा समय केवल शरीर को शृंगारने में ही न लगाए। परन्तु यदि कहीं शरीर एवं वस्त्र पर अशुचि लगी है तो उसे अचित्त जल से विवेक पूर्वक साफ कर ले।

इस तरह अप्काय में विवेक रखने वाला ही अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से बच सकता है, पानी के जीवो की रक्षा कर सकता है। इसलिए वही वास्तव में अनगार है, मुनि है, त्यागी साधु है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारं भमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं उदय-सत्थं समारंभावेज्जा, उदय-सत्थं समारंभंतेऽवि अण्णे ण समुणजाणेज्जा, जस्सेते उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे, त्ति बेमि॥31॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाता भवन्ति, अस्य शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारंभेत्, नैव अन्यैः उदक-शस्त्रं समारम्भयेत्, उदकशस्त्र समारंभमाणान् अन्यान् न समुनजानीयात्, यस्य एते उदकशस्त्र समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**एत्थ**—इस अप्काय मे। **सत्थं**—द्रव्य और भाव रूप शस्त्र का। **समारम्भ-माणस्स**—आरभ करने वाले को। **इच्चेए**—ये सब। **आरम्भा**— आरभ-समारम्भ। **अपरिण्णाया**—अपरिज्ञात-कर्म रूप बन्धन के ज्ञान और परित्याग से रहित। **भवंति**—होते है। **एत्थ**—इस अप्काय में। **सत्थं**—द्रव्य और भाव शस्त्र का। **असमारम्भमाणस्स**—समारम्भ न करने वाले को। **इच्चेते**—ये सब। **आरम्भा**—आरंभ-

समारंभ। **परिण्णाया**—परिज्ञात। **भवंति**—होते हैं। **तं-परिण्णय**—इस आरभ-जन्य कर्म-बन्धन को जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान पुरुष। **नेव**—न तो। **सयं**—स्वय। **उदयसत्थं**—उदक-शस्त्र का। **समारभेज्जा**—समारंभ करे। **णेवण्णेहिं**—और न अन्य से। **उदय-सत्थं-समारंभावेज्जा**—अप्काय के शस्त्र का समारंभ करावे। **उदय-सत्थं**—अप्काय के शस्त्र का। **समारंभंतेवि**—समारम्भ करते हुए। **अण्णे**—दूसरो का। **णसमणुजाणेज्जा**—अनुमोदन-सर्मथन भी न करे। **जस्सेते**—जिस व्यक्ति को ये सब। **उदय-सत्थ-समारंभा**—अप्काय के शस्त्र-समारम्भ। **परिण्णाया भवंति**—परिज्ञात होते है। **से हु मुणी**—वही मुनि वास्तव मे। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञात कर्मा होता है। **त्ति बेमि**—ऐसा मै कहता हूं।

मूलार्थ—अप्कायिक जीवो का शस्त्र से आरभ-समारभ करने वाले व्यक्ति को यह परिज्ञात नही होता कि यह आरभ-समारभ कर्मबन्ध का कारण हैं जो अप्काय का आरभ-समारभ नही करते, उनको यह सब आरंभ एवं उस का परिणाम परिज्ञात होता है। अत· बुद्धिमान पुरुष अप्काय के आरभ-समारम्भ को कर्मबन्ध का कारण जानकर न तो स्वय उसका शस्त्र से आरम्भ करे न दूसरे व्यक्ति से आरंभ करावे और न किसी आरभ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करे। जो अप्कायिक जीवो के आरम्भ को भली-भाति जानता एव त्याग देता है, वही मुनि वास्तव मे परिज्ञातकर्मा है।

हिन्दी-विवेचन

जो व्यक्ति अप्काय के आरम्भ-समारम्भ मे आसक्त रहता है, वह उसके वास्तविक स्वरूप को नही जानता है और न उसके कटु फल से ही परिचित है। यदि उसको इसका परिज्ञान होता तो वह आरम्भ-समारम्भ से बचने का प्रयत्न करता। इसलिए जिस व्यक्ति को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ एव उसके परिणाम-स्वरूप मिलने वाले कटु फल का परिज्ञान है, वह उसमें प्रवृत्ति नही करता है। इसी बात को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में बताया है। और अप्काय के आरम्भ-समारम्भ मे आसक्त व्यक्ति को अपरिज्ञातकर्मा कहा है और उसके त्यागी को परिज्ञातकर्मा कहा है।

वास्तव में यह सत्य है कि जिसे अप्काय-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं है, वह उसके आरम्भ से बच नहीं सकता। उसकी प्रवृत्ति हिसाजन्य ही होती है। और जिसे ज्ञान

है वह उसके आरम्भ से दूर रहता है। न तो वह स्वय अप्काय की हिंसा करता है, न दूसरे व्यक्ति को हिसा के लिए प्रेरित करता है और न किसी हिसा करने वाले व्यक्ति का ही समर्थन करता है। वह त्रिकरण-त्रियोग से अप्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी होता है। वह अपने मन-वचन-काय के योगो को अप्काय के आरम्भ-समारम्भ से निरोध कर संवर एव निर्जरा को प्राप्त करता है, अर्थात् कर्मआगमन के द्वार को रोकता है, जिससे नए कर्म नही आते और पुरातन कर्मो को एक देश से क्षय करता है। ऐसे साधक को परिज्ञातकर्मा कहा है।

अपरिज्ञात और परिज्ञात-कर्मा व्यक्तियों की क्रिया में बहुत अन्तर रहा हुआ है। एक की क्रिया अविवेक एवं अज्ञान-पूर्वक होने से कर्मबन्ध का कारण बनती है, तो दूसरे की क्रिया विवेक-युक्त होने से निर्जरा का कारण बनती है। इसलिए मुनि को चाहिए कि वह अप्काय के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उसकी हिसा का सर्वथा त्याग करे। अप्कायिक जीवों के आरम्भ का त्याग करने वाला ही वास्तव मे मुनि कहलाता है[1]।

'त्ति बेमि' का अर्थ प्रथम उद्देशक की तरह समझना चाहिए।

॥शस्त्रपरिज्ञा तृतीय उद्देशक समाप्त॥

1 इस सूत्र का वर्णन द्वितीय उद्देशक के अन्तिम सूत्र की तरह समझना चाहिए।

अध्यात्मसार : 3

मूलम्—से बेमि जहा अणगारं उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अकमायं कुव्वमाणे वियाहिए॥1/3/19

मूलार्थ—हे शिष्य। अनगार—मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मैं कहता हूँ। जो प्रबुद्ध पुरुषार्थ संयम का परिपालक है, मोक्षमार्ग पर गतिशील है और माया—छल-कपट आदि कषायो का त्यागी है या निश्छल एवं निष्कपट (शुद्ध) हृदय वाला है, वही अनगार—मुनि कहा जाता है।

1. **उज्जुकडे**—ऋजुकृत हृदय की अपेक्षा भाव।

2. **अमायं**—आचरण की अपेक्षा क्रिया धर्म का प्रथम लक्षण है और प्रथम आवश्यक चरण है—ऋजुता, सरलता।

नियाय पडिवण्णे—मोक्ष-मार्ग पर गतिशील तीर्थंकरो द्वारा बाह्यचार एवं आभ्यंतर साधना को करने वाला। **अणगार**—जो अपने घर से रहित या फिर सभी घर उसके हैं। घर के दो अर्थ—एक बाहर का घर दूसरा शरीर, अर्थात् जो सभी के भीतर अपना स्वरूप देखता है। इन गुणों से युक्त है, वह मुनि है।

मूलम्—जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं॥1/3/20

मूलार्थ—जिस श्रद्धा एवं त्याग-वैराग्य भाव से घर का परित्याग किया है, उसी श्रद्धा के साथ सब तरह की शकाओ से रहित होकर जीवन-पर्यन्त सयम का परिपालन करे।

1. श्रद्धा तत्त्व को जानने की अभिरुचि।

2. तत्त्व को जानने के लिए वीतरागियो ने जो मार्ग बताया है, उस मार्ग पर पूरी श्रद्धा एव निश्शक विश्वास। जैसे—तत्व को जानने की अभिरुचि अर्थात् मूल सत्य

क्या है। सत्य का अन्वेषण, सत्य की खोज, उस खोज के लिए प्रभु ने जो पथ बताया है, उस पर निश्शंक विश्वास।

यह श्रद्धा कब आएगी?

1 सत्य को जानने की अभिरुचि।

2 तत्त्व की पहचान करने की जिज्ञासा।

3 उस तत्त्व तक पहुँचने का सही रास्ता कौन-सा है, यह बताने वाला निमित्त, जिनप्रणीत आगम अथवा सुसाधु या स्वयं अरिहत देव।

जब इन दोनो का मिलन होता है, तब श्रद्धा मे दृढता आती है।

इसमें साधक की परीक्षा कब होती है, जब निमित्त का अभाव होता है। निमित्त के द्वारा दिया गया उपाय करने पर भी समाधान न मिलने पर शका जागती है कि इतना किया पर फल नही मिला, वही पर साधक की परीक्षा है। उस समय साधक को समझना चाहिए कि मुझसे निमित्त को समझने मे कही गलती हुई है और पुन आत्म-निरीक्षण, सत्यान्वेषण करते हुए साधना में लग जाना चाहिए।

श्रद्धा के 5 दूषण—1. शंका, 2. काक्षा, 3 वितिगच्छा, 4 परपाखण्ड सस्तवं, 5. पर पाखण्ड प्रशसा। निश्चय मे श्रद्धा पक्की तब होती है, जब किसी आत्मज्ञानी सद्गुरु के चरणो में निवास हो जाए।

साधना मे अनेक बार ऐसा भी होता है कि बहुत पराक्रम करने के बाद भी कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैसे कुछ भी नहीं हुआ। उस समय श्रद्धा की आवश्यक होती है। उस समय सद्गुरु की आवश्यकता है, क्योकि गुरु जो उसके वर्तमान को ही नही, वरन उसके भविष्य को भी देखता है। अत उसके भविष्य को देखकर जैसे एक माँ बेटे को समझाती है कि थोड़ा और चलो तुम ठीक रास्ते पर हो, अभी घर आने वाला है, क्योकि मुझे इस रास्ते का पता है और मैंने घर देखा है।

सद्गुरु कौन होता है? आत्मज्ञानी सुसाधु।

मूलम्—पणया वीरा महावीहिं॥1/3/21

मूलार्थ—यह संयम-मार्ग परिषह-उपसर्ग और कषायादि पर विजय पाने वाले धीर—महावीर पुरुषों द्वारा आसेवित है।

जब शिष्य के भीतर साधना के प्रति सशय का जन्म होता है तब इस सूत्र मे सद्गुरु शिष्य से कहते हैं कि देखो भाई अनेक वीर पुरुष इस प्रधान राजमार्ग पर पुरुषार्थ और पराक्रम कर चुके है। लेकिन यह कहने से पहले स्वयं उस पथ पर चलते हुए तत्त्व का अनुभव कर लेना आवश्यक है। उसके बाद ही आप वस्तुत किसी को स्थिर कर सकते है।

स्थिर वही कर सकता है जो स्थविर हो गया है। स्थविर अर्थात् जो अपने में स्थिर हो गया, जिसने अपने भीतर रहे हुए शाश्वत स्थिर धर्म, स्वभाव का अनुभव कर लिया।

स्थविर 3 प्रकार के—1 वय स्थविर, 2. दीक्षा स्थविर और 3. ज्ञान स्थविर। इन तीनो मे उत्तम ज्ञान स्थविर है।

कषाय को शान्त करने का सरल उपाय

जब भी मन मे कषाय भाव आ जाए, तब सर्वोत्तम है मौन हो जाना। जितनी साधना बढेगी, उतनी जागरूकता बढेगी। सभी वीर इसी राजमार्ग पर चलते है; क्योकि अन्य मार्ग लम्बे और अडचनो से युक्त है। यह जिन-शासन का मार्ग अन्य मार्गो की अपेक्षा, अत्यन्त ही सरल और शीघ्रगामी है। अतः सभी प्रज्ञावान वीर पुरुष इसी मार्ग पर आगे बढते है।

'सोऽहं—जिसने जीव के अस्तित्व को जान लिया वह आत्मवादी हो गया। जिस समय हम जीव के अस्तित्व को जान लेते है, उस समय हम अजीव के अस्तित्व को भी जान लेते है। और यही राजमार्ग है। दूसरे भी अनेक मार्ग है। यह सारा लोक-समस्त तत्त्व जीव और अजीव में समाविष्ट हो जाता है। अन्य सभी जीव और के सम्बन्ध से निष्पन्न होते है। जीव और अजीव के बीच में कर्म का सम्बन्ध है अथवा ऐसा कहो जीव और अजीव के बीच में स्थापित सम्बन्ध को कर्म कहते हैं। मूल रूप में जीव शुद्ध है।

कर्म—वस्तुतः पुद्गल कर्म ही पुद्गल को, कर्म को, आकर्षित करता है जिसमें जीव के परिणाम निमित्त बनते है।

मिथ्यात्व—जो चीज जैसी है, वैसी नहीं दिखाई देती, यह विपरीतता पूर्णत. भी हो सकती है और आंशिक भी। आत्म अज्ञान निश्चय मिथ्यात्व।

समयक्त्व—आत्म-ज्ञान, वस्तु के वास्तविक स्वरूप का पता लगना, जीव और अजीव के सत्य स्वरूप का बोध होना।

क्रियावादी—कर्मों के आगमन की दशा को जो जान लेता है, वह क्रियावादी है।

उत्पत्तिशील का अर्थ है—उत्पत्ति एव विनाश-युक्त होना। पर्याय से उत्पत्तिशील और द्रव्य से नहीं। पर्याय से जीव उत्पत्तिशील है। शरीर की अपेक्षा, कर्मों की अपेक्षा, परिणामो की अपेक्षा लेकिन द्रव्य से उत्पत्तिशील नहीं है।

लज्जमाणा—जो अपने प्राणों की मर्यादा मे रहता है और दूसरे प्राणी के प्राणों की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता। इस प्रकार मर्यादा युक्त जीव को लज्जमाणा कहकर सम्बोधित किया है।

मूलम्—लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुओ भयं॥1/3/22

मूलार्थ—तीर्थकर भगवान के वचनो से अप्काय के स्वरूप को जानकर संयम का परिपालन करें।

लोक के स्वरूप को जानकर जीव और अजीव के स्वरूप को जानकर, साधना से 'सोऽहं' का स्वरूप जानकर।

आणाए—भगवान की आज्ञा को जानकर, भगवान की आज्ञा अर्थात् आचाराग सूत्र मे जो कहा गया है।

लोक का स्वरूप व्यवहार-दृष्टि से सक्षेप में जानना हो तो, तत्त्वार्थ-सूत्र सम्पूर्ण अथवा श्री उत्तराध्ययन सूत्र का अन्तिम अध्ययन।

लोक और आज्ञा—भगवान ही आज्ञा क्यो फरमाते है, क्योंकि आज्ञा वही दे सकता है, जो समर्थ है जिसके पास परिपूर्ण ज्ञान है, जो राग-द्वेष से रहित है। जो राग-द्वेष से रहित नहीं, पूर्ण ज्ञानी नही, वह आज्ञा भी देगा तो उसकी आज्ञा मे कही

न कहीं दोष होगा। आत्मज्ञानी व्यक्ति भी एक देशीय आज्ञा दे सकता है, सर्वदेशीय नही; वह भी भगवान की आज्ञा को द्रव्य, क्षेत्र, काल अनुसार स्पष्ट करके बताएगा, सर्वदेशीय आज्ञा तो भगवान ही दे सकते है।

इस प्रकार लोक एव भगवान की आज्ञा को जानकर साधक चलता रहे, तब यह परिणाम आता है, **'अकुओभयं'** अर्थात् जो न स्वय किसी से भयभीत होता है और न किसी जीव को ही उससे भय लगता है। इसे अभयदान भी कह सकते हैं, अर्थात् जो स्वयं अभय मे जीता है और जिसकी उपस्थिति किसी भी प्राणी के लिए भय का कारण नही बनती है। अभयदान परिणाम है। लोक के स्वरूप और तीर्थकर देव की आज्ञा को जानकर जो उसके अनुसार चलता है, वह अन्तत· इस प्रकार स्वरूपबोध को उपलब्ध होता है। इस स्वरूपबोध के आधार पर वह सभी मे स्व का ही रूप देखता है। अत· उसे किसी से भी भय नहीं लगता और स्वरूपबोध से जो मैत्री भाव जागता है। उस परिपूर्ण मैत्री भाव से किसी भी जीव को उससे भय नहीं लगता है।

आगे जीव लोक का स्वरूप छह काय का स्वरूप बताया जाएगा। यह लोक का (जीव लोक का) स्वरूप ज्ञान है और उसके आगे जो साधु का आचार बताया जाएगा, वह भगवान की आज्ञा है। इन दोनों को जानकर उपयोगपूर्वक आचरण करना लोक का स्वरूप ज्ञेय है। भगवान की आज्ञा उपादेय है, आचरणीय है।

मूलम्—से बेमि-णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥1/3/23

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रिय शिष्य जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! मैं तुम्हे कहता हूँ कि मुमुक्षु को स्वय अप्काय रूप लोक का कभी भी अपलापन—निषेध नही करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इनकार नही करना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति अप्काय का अपलाप करता है, वह आत्मा का भी अपलाप करता है और जो व्यक्ति आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अप्काय के संबंध मे उसी भाषा का प्रयोग करता है।

यह सूत्र अनेक दृष्टिकोण से है। जो लोक का निषेध करता है, वह अपनी

आत्मा का निषेध करता है। जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह लोक का निषेध करता है, क्योंकि लोक का ज्ञान कहाँ से आया? आत्मा से।

अतः जो इस लोक का निषेध करेगा या इस लोक के ज्ञान का निषेध करेगा, वह अपनी आत्मा के ज्ञान गुण का निषेध करेगा। गुण एव गुणी की अभिन्नता के आधार पर ज्ञान का निषेध करते हुए अपनी आत्मा का निषेध स्वत. हो जाएगा।

दूसरे दृष्टिकोण से लोक का जो ज्ञान है, वह ज्ञान और वह स्वरूप किसने बताया है? केवली भगवान ने। अत: जो इस ज्ञान का निषेध करता है वह आशिक रूप से केवली भगवान का निषेध करता है। इस प्रकार वह अपने स्वभाव का भी निषेध करता है। चूकि केवल-ज्ञान उसका स्वभाव है, इसलिए जो इस ज्ञान का निषेध करता है वह अपने स्वरूप तक नही पहुँच सकता; क्योकि लोक के ज्ञान का यदि निषेध करेगे तो इस लोक के ज्ञान के आधार पर अरिहत भगवान ने जो आचार बताया है, उसका पालन कैसे होगा? उस बाह्याचार का भी निषेध हो जाएगा और बिना आचार के स्वरूपबोध किस प्रकार हो सकता है? मुख्यत. जीव रूप में लोक का वर्णन हे, क्योकि यतना मूलतः जीव की करनी है। अजीव की भी यतना करनी है, लेकिन मूल मे जीव है।

जो अपने स्वरूप का निषेध करता है, वह लोक का भी निषेध करता है; क्योंकि जो कहता है देह से आगे कुछ भी नही, मै तो पच-तत्व का बना हूँ, उसे लोक का ज्ञान कैसे होगा? नही होगा।

ज्ञान–'जैसे लोगस्स उज्जोयगरे'–जो उद्योत करने वाला है, उसका निषेध करने पर लोक मे होने वाले उद्योत (प्रकाश) का निषेध स्वयमेव हो जाता है। अतः जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह उसी आत्मा से आए हुए लोक के ज्ञान का भी निषेध कर देता है।

इस प्रकार यहाँ पर लोक के ज्ञान एव आत्मा के बीच मे अभिन्नता बतायी गयी है और साथ ही यहाँ पर अप्काय का विषय चल रहा है। अप्काय के जीव तथा स्वय के जीव के स्वरूप में एक्य दर्शाया है। (सोऽहं) मै वही हूँ अत: उनके अस्तित्व का निषेध करने पर अपना निषेध हो जाता है और अपना निषेध करने पर उनके अस्तित्व का निषेध स्वयमेव हो जाता है।

लोक का अर्थ

लोक का एक अर्थ अपना शरीर भी कर सकते है। यहॉ पर निषेध का अर्थ उसके अस्तित्व का निषेध नही है। यहॉ पर अर्थ है कि जो व्यक्ति शरीर को नही साध सकता है, वह अपनी आत्मा को भी नहीं साध सकता। शरीर का हमारी आध्यात्मिक साधना के साथ संबध है। इसीलिए मोक्षगामी जीव का शरीर वज्रऋषभ-नाराच सघयन का होता है। शरीर तो यही रहने वाला है, फिर भी कहा गया कि मनुष्य देह मिलना महत्त्वपूर्ण है और इसमे भी वज्रऋषभ नाराच सघयन, क्योंकि मोक्ष इसी से जाया जा सकता है।

शरीर को साधने का अर्थ—शरीर शुद्धि, शख प्रक्षालन, कुजल इत्यादि शरीर शुद्धि की क्रियाए, आसन, प्राणायाम इत्यादि।

1. आहार-शुद्धि—आहार से ही शरीर का निर्माण होता है। अत· सात्त्विक आहार का प्रयोग।

2. आसन-सिद्धि—जब किसी भी एक आसन मे आप न्यूनतम साढे तीन घण्टे सुखपूर्वक बिना किसी हलचल के बैठ सकें, तब समझना चाहिए आसन सिद्ध हो गया।

आसन-सिद्धि से लाभ—1 शरीर एवं चित्त की उपशान्ति उपयोगी है, 2 साथ ही आहार शुद्धि से शरीर को निरोगी रखना भी आवश्यक है। अन्तत· सबसे प्रमुख है ध्यान—जितना मन ध्यान में लग जाएगा आसन अपने आप सध जाएगा। आसन के सधने से ध्यान मे सिद्धि आती है और ध्यान के सधने से आसन सिद्धि मिलती है, दोनों ही एक दूसरे के परिपूरक हैं। शरीर की स्थिरता से मन·स्थिति और मन·स्थिरता से शरीर की स्थिरता सधती है।

जो शरीर का निषेध करेगा, वह मन का भी निषेध करेगा। यह व्यवहार मार्ग है, राजमार्ग है। कहीं अपवाद में बिना शरीर को साधे भी आत्म-सिद्धि उपलब्ध होती है। जैसे भक्ति मार्ग में आसन स्थिरता की चर्चा नही आती, परन्तु वहॉ पर भी जब भावों की उत्कर्षता आती है, तब शरीर अपने आप स्थिर हो जाता है।

अतः शरीर का भी निषेध नहीं करना। शरीर नश्वर है, किन्तु साधना के लिए बहुत उपयोगी है। अतः साधन मानकर सयम व साधना के लिए शरीर रक्षा आवश्यक

है। ऐसे तो शरीर की रक्षा इस विश्व में प्रत्येक जीव करता है, परन्तु उद्देश्य भिन्न-भिन्न है। जो संयम साधना के लिए शरीर की रक्षा करता है, वही संवर-निर्जरा का कारण है। बाकी बन्धन है। शरीर रक्षा करते हुए यह खयाल रखना कि कहीं आत्मा पर मैल न लग जाए। अत. जहाँ तक हो सके, निर्वद्य चिकित्सा करनी है।

शरीर को ठीक करने के लिए शवासन भी उपयोगी है। शवासन, अर्थात् शरीर को भूल जाना। शरीर विस्मृति—देहभान के जाने पर, शरीर अपने आप शांत हो जाता है। शरीर की जितनी चिन्ता करोगे, उतना ही रोग बढ़ेगा। शरीर की चिन्ता नही करनी चाहिए। शरीर के प्रति जागरूक रहना। समता और जागरूकता बनाए रखना।

कभी आवश्यक लगे तो कठोर कपड़े से शरीर को रगड़ने पर, रक्त संचार तेज होता है; त्वचारन्ध्र, रोम खुलते है। आसन-स्थिरता मे सहयोग मिलता है। नींद, आलस्य, तन्द्रा महसूस होती हो तो वह दूर होती है। गीले कपडे से अच्छी तरह रगड़ कर पौछना।

इससे आगे जो अपनी आत्मा का निषेध करता है, वह शरीर का भी निषेध करता है, अर्थात् जो अपनी आत्म शान्ति, कषाय की उपशान्तता स्वभाव का निषेध करेगा, उसका शरीर भी शात एव स्वस्थ नही हो पाएगा। इसलिए लोग शरीर शांति के लिए भी अध्यात्म की ओर बढ़ते है। शरीर स्वास्थ्य भी आत्म साधना से प्रभावित होता है। जैसे हम कहते हैं कि अमुक जप करने से शरीर का यह रोग ठीक हो जाएगा, क्योंकि जप करने से आत्मा के परिणाम ही नही बदलते, अपितु शरीर के पुद्गल भी बदलते है और रोग शान्त हो जाता है। आत्मशांति, शरीरशांति को लाती है और शरीरशाति आत्मशाति हेतु सहयोग देती है। अतः हमे दोनो तरह से प्रयत्न करना चाहिए।

शरीर के साथ उपलक्षण से वस्त्र, स्थान आसपास का वातावरण भी आ जाता है। इसीलिए शरीर के साथ-साथ वस्त्र, स्थान एवं वातावरण का शुद्धिकरण भी आवश्यक है। इन सभी की पवित्रता और पावनता से आत्मपरिणामो पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

ज्ञानी जनो को, प्रज्ञावान को न तो शरीर का निषेध करना चाहिए और न ही

आत्मा का दोनों ही एक दूसरे के उपकारी हैं। पुन. इस बात का ध्यान रखना कि शरीर केवल उपकरण मात्र है, आत्मसिद्धि के लिए। आत्मसिद्धि प्राप्त होते ही देहभाव छूट जाता है।

यहाँ पर इस सूत्र में हमने लोक का अर्थ शरीर किया है। लेकिन प्रत्येक सूत्र मे लोक का अर्थ शरीर नहीं होता। ऐसे तो प्रत्येक शब्द अनत अर्थ को लिए हुए है, लेकिन हमें तो वही अर्थ ग्रहण करना है जो जिनशासन सम्मत है, जो जिनेश्वर भगवान ने बताया। जैसे—धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं—राजधर्म, समाज धर्म, देशधर्म, स्त्रीधर्म आदि लेकिन भगवान ने धर्म का अर्थ बताया है—अहिसा, संजमो, तवो।

मूलम्—अदुआ अदिन्नादाणं ।1/3/27

मूलार्थ—सचित्त जल का उपयोग करने वाले साधु को प्राणातिपात दोष के साथ अदत्तादान—चोरी का भी दोष लगता है।

अग्निकाय में यदि हिसा है तो फिर जैसे कई लोग कहते है कि फिर आप पानी को क्यों गरम करते है, सब्जी इत्यादि पकाकर क्यों खाते है? कच्चा ही क्यों नहीं खा सकते है?

पानी अचित्त क्यों—पानी को अचित्त इसीलिए बनाना जरूरी है कि एक बार जब पानी को गरम करेगे तो हिसा अवश्य होगी, लेकिन अचित्त पानी मे जिस प्रकार अप्काय के जीवों का पुन.-पुनः जन्म-मरण होता है उस महा हिसा से बचा जा सकता है। 2. मुनिजन अपने लिए न ही गरम पानी बनाते है न ही बनवाते हैं। वे तो गृहस्थ के द्वारा बनाए हुए पानी में से कुछ हिस्सा अपने लिए ले लेते हैं। इस प्रकार मुनिजन तो अग्निकाय का आरम्भ करते ही नहीं।

श्रावक क्यो? श्रावक भी पुन.-पुन. होने वाली जन्म-मरण रूप हिसा से बचने के लिए पानी को अचित करने हेतु गरम करता है।

आहार—आहार भी मुनिजन अपने लिए नहीं बनाते, गृहस्थ ने जो अपने लिए बनाया हुआ आहार है, उसमें से बना हुआ, अचित्त आहार गोचरी के रूप में लेते हैं।

गृहस्थ खुद ही कच्ची सब्जी को काटता है और खुद ही उसे अग्नि में पकाता है, फिर अग्नि में पकाकर हिसा करने के बजाय वह कच्चा ही क्यो नहीं खाता?

अहिसा की दृष्टि से देखे तो यह बात उचित है। लेकिन यहॉ पर केवल अहिसा ही नही, अपितु अध्यात्म-साधना मे साधन रूप शरीर को स्वस्थ रखने का भी सवाल है।

कच्ची साग-सब्जी ऐसे ही तथा सब्जियो के रस के रूप में भी चिकित्सा हेतु औषध के रूप मे ठीक है, लेकिन आहार के रूप मे कच्ची सब्जी शरीर के लिए उपयोगी नही है। कच्चे साग का रस विकृति पैदा करता है। इसलिए उसे अग्निकाय के द्वारा विधि सहित पकाना जरूरी है। विधि सहित, अर्थात् मिट्टी के बर्तन में पकाना अथवा उत्तम धातु का उपयोग करना उत्तम है। विशेष रूप से शरीर के लिए हानिकारक मिर्ची हिग इत्यादि मसालो का उपयोग नहीं करना।

कच्ची सब्जी शरीर को गुणकारी नही होती, क्योकि फिर जठराग्नि को उसे पकाना पडता है। दवाई के रूप मे लेना हो तो रस के रूप मे ले सकते हैं। अधिक घी, तेल, मिर्च, मसाले खाने से शरीर मे उत्तेजना उत्पन्न होती है और मैदा-शक्कर से आंते बिगडती है।

वर्तमान मे मनुष्य के जीवन में इन चीजो की अधिकता के कारण अनेकानेक रोग प्रवेश हो गये है। अत· कच्चा आहार लेने पर उत्तेजना शान्त हो जाती है। आंतों को व्यायाम मिलता है। इस प्रकार उनके स्वास्थ्य मे भी सुधार होता है। अनेक साधु मुनिराज, जो अधिक दवाई खाते है, उनके लिए उन अशुद्ध एव प्रचुर हिंसा से युक्त दवाइयो को खाने की अपेक्षा अल्प हिसा युक्त, परन्तु शुद्ध कच्चा आहार औषध के रूप मे लेना ठीक है। यह शरीर का विज्ञान है। यह अध्यात्म नही है। यह अध्यात्म साधना नही है। अत· जहॉ तक हो सके, इनसे बचना, जब जरूरी हो तब लेना।

ऐसे तो साग-सब्जी का रस आहार के रूप में गुणकारी नही है, लेकिन सही विधि से पकाया जाए, तब उपयोगी है। यदि कच्चा खाना हो तो फल कच्चे गुणकारी है। पहले ऋषि-मुनि जो कच्चा आहार खाते थे, उनमे विशेष रूप से फल एव दूध होता था। ऐसे तो फल भी सचित्त आहार है, लेकिन इस पचमकाल के सघयन की अपेक्षा औषध के रूप मे फल ले सकते है। स्वास्थ्य की अपेक्षा 75 प्रतिशत फर्क तो शिविर मे जो भोजन नही करने को कहा जाता है उसी से पड़ जाता है।

शरीर व चित्त की उपशान्ति के लिए—केवल फलाहार करना उपयोगी है, किन्तु साथ मे दूध नही लेना चाहिए, क्योंकि आजकल जो दूध आता है वह भी

अनेक प्रकार की अशुद्धियो से युक्त होता है। साथ ही दूध एक रस-प्रणीत आहार है। जैसे कल्पसूत्र के अन्तर्गत बताया गया है कि चातुर्मास के अन्तर्गत पुष्ट शरीर से युक्त साधु को यदि रस-प्रणीत आहार करना हो तो गुरु की आज्ञा लेकर करना चाहिए। ब्रह्मचर्य की 9 वाडो मे रस-प्रणीत आहार न करना यह भी एक वाड है। शक्कर मिठाई अधिक खाने से विकार आता है।

किसी का मन अधिक संतप्त हो, विकार-युक्त हो, ऐसे तो उनके लिए तप करने का विधान है। लेकिन यदि व्यक्ति तप नही कर सकता, तब केवल फलाहार करना चाहिए। शिविरों में भी यदि कोई व्यक्ति ऐसे हो जो अधिक सतप्त है, रोगयुक्त है, तब उनके लिए फलाहार अति उपयोगी है। लेकिन यह सब कुछ 'रोग की अपेक्षा' तत्सबंधी पूर्ण जानकारी पढकर करना। किस रोग मे कौन-सा फल चलता है, कौन-सा नही, यह जानकारी होना आवश्यक है। लेकिन साधारण-रूप से शरीर व मन शान्त होता है। यह फलाहार केवल चिकित्सा के रूप मे है। अध्यात्मिक दृष्टि से तो सूखा धान्य ही उपयोगी है।

भक्ति—जितने लोग भक्ति-मार्ग में आसानी से जाते है, उतनी आसानी से वे ध्यान नही कर पाते, क्योंकि वहॉ तुरन्त समर्पण आता है। अन्तत ध्यान ही उपयोगी है। भक्ति भी ध्यान की ओर ले जाती है, लेकिन बाल-जीवो के लिए पहले भक्ति उपयोगी है। अतः इस भक्ति मार्ग का विकास करना आवश्यक है।

त्याग—त्याग हो या न हो, दोष तो गृहस्थ को भी लगता है। तो व्रत लेने के बाद आत्मोन्नति न हो सकेगी, क्योंकि अव्रती की अपेक्षा व्रती को दोष अधिक लगता है, लेकिन ऐसा नही है। एक अपेक्षा से साधु को दोष अधिक लग सकता है, यदि वह जान बूझकर सकल्पपूर्वक अप्काय की हिसा करता है, तब प्राणों की अहिसा प्राणों की चोरी के साथ-साथ शासन की चोरी का भी दोष लगता है। जो व्यक्ति जितने अंशों मे आरभ-समारभ करेगा, उतना आस्रव होगा एव जितने अंशो में आरंभ-समारंभ नही करेगा, उतना संवर होगा।

योग का अस्थैर्य और कषाय के कारण कर्मो का बन्धन होता है।

योग की चंचलता—योग की चचलला से प्रकृति एवं प्रदेश बंध।

कषाय से–स्थिति एव रस बन्ध (अनुभाग बन्ध) कषाय के कारण कर्म की स्थिति कितनी होगी और तीव्रता कितनी होगी, यह निश्चित होता है।

व्रत इसलिए कि तुम जितना कर सको उतना करो, जितने अंशों में आरभ-समारंभ का त्याग करोगे, उतना ही संवर होगा। व्रत लेने पर जागरूकता आती है। यहॉ पर जो गृहस्थ एव साधु की चोरी में अन्तर है, वैसा नही है। मूलत· कर्म बन्धन योगों की चचलता एव कषाय से होते हैं। बाहर से जो व्रत लिए जाते हैं, वे इन दोनो को कम करने के लिए हैं। इस प्रकार व्रत का मूल अर्थ हुआ किस प्रकार योग स्थिरता एव कषाय उपशान्ति हो।

गृहस्थ के व्रत–जैसे गृहस्थ भी उत्कृष्टता से तीन करण, तीन योग से त्याग कर सकता है, जिस प्रकार चौथे व्रत मे चाहे पूर्णत कुशील का त्याग करे, चाहे पत्नी का आगार रखे लेकिन पत्नी के साथ भी जो अब्रह्म का सेवन होगा, उससे भी कर्मो का आस्रव तो अवश्य होगा, लेकिन फिर भी कुछ भी न करने की अपेक्षा, इतना करना अच्छा है। 'आज के परिप्रेक्ष्य मे अणुव्रत मूलतः महाव्रत की तैयारी है।' अणुव्रत लेने पर यह समझ मे आता है कि व्रत का पालन कैसे हो सकता है और व्रती का जीवन कैसा हो।

जीवन–जीवन-निर्वाह हेतु निरवद्य क्रिया करने पर भी क्या दोष लगता है?

कर्मास्रव का मूल बीज है आकांक्षा और इसका भी मूल है जीवाकाक्षा। अत· जीवित रहने हेतु जीवन की अभिलाषा हेतु कुछ भी करोगे बन्धन होगा।

तो फिर किस प्रकार क्रिया करनी?

संयम-पालन हेतु, आत्मबोध के उद्देश्य से जो भी जरूरी है करना। 'निरवद्य क्रिया' करना उससे सवर और निर्जरा होती है। केवल जीवित रहने के उद्देश्य से की गई क्रिया आस्रव और बन्ध लाती है। संयम और साधना हेतु की गई क्रिया सवर और निर्जरा लाती है, क्योंकि शरीर सयम पालन में सहयोगी है, इसलिए शरीर की रक्षा और उसका ध्यान रखना भी आवश्यक है। साधु के लिए मूल उद्देश्य है, आत्म-बोध। कोई भी मुनि कब बनता है, जब सारी अभिलाषाए छूट जाएं। मूंल बात है आकांक्षा, उद्देश्य, क्रिया के पीछे रही हुई भावना–जैसे–धर्म कथा यदि धर्म प्रभावना के उद्देश्य

से की जाए, तब सवर और निर्जरा यदि आत्म प्रशंसा एवं अह तुष्टि के लिए की जाए, तब आस्रव और बन्ध होता है।

संयम से क्या?—संयम से देवगति एव मनुष्य-गति एवं मोक्ष। संयम का पालन यदि राग-भाव सहित, यहाँ राग का अर्थ है, संयम के निमित्त सहयोगी बनने वाले व्यक्ति, वस्तु एवं परिस्थिति-जन्य राग किया जाए, तब इस प्रकार के सराग संयम से देवगति की प्राप्ति होती है।

सयम का पालन यदि शुद्ध भावना, आत्मबोध के अनुभव सहित क्षायिक भाव, क्षायिक सम्यक्तव के साथ किया जाए, तब मनुष्य गति एवं तदुपरान्त मोक्ष की प्राप्ति।

शुभ भाव—मैत्री, करुणा, प्रमोद और वात्सल्य आदि।

क्षायिक भाव : शुद्ध भाव—संकल्प-विकल्प रहित आत्म-रमण। शुभ भाव से देवगति, अशुभ भाव से नीच गति, शुद्ध भाव से मोक्ष गति।

गोचरी—साधु के द्वारा गृहस्थ को यह पूछना कि यह पदार्थ किसके निमित्त बनाया गया है, यह एक प्रकार की मूढ़ता है। प्रसंगवश कभी यह पूछना अलग बात है किन्तु साधु को स्वयं ही इतना उपयोग लगाना चाहिए कि गृहस्थ ने यह पदार्थ किसके लिए बनाया हुआ है, स्वय के लिए या श्रमण के लिए। जो भी आपके पूर्व स्नेही जन आपके लिए यदि कुछ लेकर आए, तब उन्हें आप समझा सकते है तो उन्हें जरूर समझाएं। यह उपयोग साधु को स्वयं लगाना चाहिए। यदि वह न समझ सके, तब उदाहरण के रूप मे पॉच मे से आधी या एक रोटी ले सकते हैं। इसमे भी दोष तो लग सकता है, परन्तु इससे आगे उन्हें समझाना आसान हो जाएगा, अन्यथा उनके मन मे किसी भी प्रकार की शंका या संदेह हो सकता है कि अब तक तो लेते थे, अचानक अब क्या हो गया।

तब उन्हें समझाना है कि साधुजन अपने लिए बनाया हुआ आहार क्यों नहीं लेते, क्योंकि इससे नैमित्तिक दोष के रूप में हिसा तो लगती ही है, लेकिन साथ ही समझने की बात यह है कि प्रत्येक आहार के साथ संस्कार जुड़े हुए है। अपने लिए अपने निमित्त बनाए हुए आहार को लेने से वे जुड़े हुए सस्कार भी आ जाते हैं।

यदि नियमानुसार 42 दोष टाल कर आहार-पानी लिया जाए तो आहार से जुड़े

हुए संस्कार असर नही करते।

किस प्रकार के संस्कार? 1. वह आहार किस प्रकार की आजीविका के द्वारा खरीदा हुआ है? जिस प्रकार का धन होगा नीति या अनीति का, उसी प्रकार के संस्कार साथ मे आएगे, 2 वह आहार किसने एवं किस प्रकार की भावना से बनाया है, 3 बनाने वाले ने किस-किस प्रकार के आरम्भ-समारंभ द्वारा बनाया है, 4. इसके साथ कुछ अन्य संस्कार भी आहार के साथ आ सकते हैं। अत अपने निमित्त से बनाया हुआ आहार ग्रहण न करना।

कृतकारित—यदि आहार साधु के निमित्त से खरीदा हुआ है, तब भी संस्कार दोष लगता है।

गोचरी लाने के बाद आहार किस भाव से करना यह भी ध्यान देने योग्य बात है—जिस भावना से आहार किया जाएगा, तदनुसार उसका परिणमन होगा। अत अनासक्त भाव से आहार करना।

आहार के साथ आए हुए सस्कार हमारे मन के विचारो के माध्यम से साधना में बाधा उत्पन्न करते है।

उपाय

1. आहार कैसा है—सात्त्विक, राजसिक या तामसिक?
2 किस प्रकार की भावना से एव किस प्रकार की आजीविका से आया है?
3. गोचरी लाने वाला किस प्रकार की भावना से गोचरी लाया है?
4. किस प्रकार की भावना से आहार किया जाता है?

1. सात्त्विक आहार करना।
2 नियमपूर्वक आहार करना जिससे सस्कार दोष से बचा जाए।
3. गोचरी लाने वाला मन मे भाव रखे कि 'जीवो मंगलम्' सभी जीव मगलकारी हैं और सभी की संयम साधना मे वृद्धि हो उसमें मेरा लाया हुआ आहार निमित्त बने। इस प्रकार जैसे प्रभु की भक्ति करते है वैसे ही गोचरी लाने वाला भक्ति-भाव पूर्वक एवं विनम्रतापूर्वक आहार लाये। इस प्रकार से की गई सेवा से—(1) स्वास्थ्य लाभ होता है, (2) पुण्य-बधन तथा संवर-निर्जरा

का लाभ होता है, (3) अल्प साधना मे अधिक प्रगति होती है, (4) आहार करते समय अनासक्त भाव एवं शुभ भाव के लिए आहार करने से पूर्वभाव पूर्वक मन को लगाते हुए, नमस्कार सूत्र को पढ़ना, इससे मन-शुद्धि एव आहार-शुद्धि होती है।

आहार संविभाग—आहार बॉटने वाले को इस प्रकार आहार बॉटना जैसे मॉ बच्चो को आहार बॉटती है। किसके लिए क्या आवश्यक है, सूक्ष्म मेधापूर्वक यह जानते एवं देखते हुए आहार बांटना।

आहार मुख्य बात है—परन्तु वस्त्र इत्यादि के साथ भी संस्कारों का आगमन हो सकता है। इसीलिए बताया कि जिनसे ग्रहण करें, उन्हे कुछ न कुछ योग्यतानुसार प्रत्याख्यान अवश्य देना, जिससे उनसे लिए हुए दान मे अशुद्धि हो तो वह दूर हो जाती है।

यह सब साधना की बाह्य, स्थूल तथा छोटी-छोटी बाते हैं। लेकिन साथ में आभ्यतर साधना की बहुत आवश्यकता है। ये बाते छोटी होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। इनका महत्त्व, पूर्णतः तो आभ्यन्तर साधना के साथ मे ही है। जो इस प्रकार के बाह्याचार का पालन नही करते, वे भी साधना तो कर सकते है, लेकिन उन्हे बहुत अड़चने आती हैं। समय अधिक लगता है। जो भी संस्कार का दोषपूर्वक आगमन हो गया है, उन्हें भी पार करना पड़ता है। बिना बाह्याचार के जो साधना 12 वर्ष मे हो सकती है, वह आचार के साथ आठ वर्ष में हो सकती है। ऐसे देखा जाए तो गोचरी भी अपने आपमे एक बहुत बड़ी साधना है, लेकिन साथ में आभ्यन्तर साधना भी आवश्यक है।

कार्य कैसे करना—जो भी कार्य करो पूर्ण भावपूर्वक करो तब बहुत लाभ देगा। सयम के किसी भी कार्य को छोटा मत समझो। कौन जाने किस निमित्त से आत्मबोध हो जाए। किसी को रस्सी पर नाचते हुए, किसी को आहार करते हुए, किसी को श्मशान मे। अत· जो भी करो, बहुत भाव से कार्य करने से अत्यधिक निर्जरा होती है। लेकिन साथ में ध्यान भी अत्यन्त जरूरी है, उसको नहीं छोड़ना। विहार में भी ध्यान को प्रमुखता देना; क्योंकि ध्यान की धारा एक बार टूट गयी तो पुनः जोड़ना मुश्किल है।

समाचारी–हमारी समाचारी तो वही है जो श्री आचारांग-सूत्र मे बतायी गयी है। अन्य जो समाचारी बनाई जाती हैं वह व्यवस्था रूप है।

'काले कालं समायरे'–का अर्थ है दिवस या रात्रि के जिस काल में जो करना जरूरी है, उसका सम्यक् प्रकार से आचरण करना। जैसे–प्रथम एवं चतुर्थ पहर मे स्वाध्याय, दूसरे पहर मे ध्यान इत्यादि। हमारी समाचारी तो वही है जो पहले थी। यदि हम उसका पालन नहीं कर पाते है तो वह हमारी कमजोरी है, लेकिन उसके लिए समाचारी बदलना आवश्यक नहीं है। इससे भगवान की अवज्ञा होती है।

'काले काल समायरे' का एक अर्थ यह भी होता है कि मुनि कालज्ञ होता है। अपने मूल उद्देश्य को सामने रखते हुए उसे सिद्ध करने हेतु आचरण करता है।

श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों में ब्रह्मचर्य-मर्यादा

श्वेताम्बर और दिगम्बरो मे ब्रह्मचर्य की मर्यादा के सबध मे एक भिन्नता है। दिगम्बरों में कार्य विशेष पर स्त्री का स्पर्श होता है। श्वेताम्बरों मे वह भी निषेध है। ऐसे तो ब्रह्मचर्य की मर्यादा है कि स्पर्श नही होना चाहिए, क्योंकि स्पर्श के द्वारा भीतर की प्राण ऊर्जा का सक्रमण होता है। जैसे दूर से आशीर्वाद देने एव स्पर्शपूर्वक आशीर्वाद देने में फर्क होता है। लेकिन इस मर्यादा की अति इस प्रकार हो गयी कि बहुत लम्बा कपड़ा बिछाया हुआ और दूर किसी स्त्री का स्पर्श हो और साधुजी उस वस्त्र पर विराजमान हों या स्पर्श हो रहा हो तो इतने लम्बे वस्त्र से भी साधुजी स्त्री का सघट्टा मानते हैं। इस प्रकार हमने मर्यादा को बहुत खींच लिया, इससे हमारे मन में इस प्रकार की विक्षिप्तता आ गयी कि हमारा ध्यान उसी ओर रहता है।

प्रत्येक मर्यादा की अपनी उपयोगिता होती है। जैसे दृष्टि मिलाकर बात करने से रसचलित होता है, जैसे–स्पर्श करने पर, ऊर्जा का सक्रमण एव रसचलित दोनो होता है। इस प्रकार मर्यादा के रूप में इस बात को देखें तो एक ही वस्त्र पर या ऐसे ही साढ़े तीन हाथ की दूरी पर हा तो स्त्री के स्पर्श का दोष नहीं लगता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का साढ़े तीन हाथ का अपना क्षेत्र होता है जिसे 'अवग्रह' भी कहते है। दो व्यक्तियों के क्षेत्र मिलने पर पारस्परिक भावना एवं विचारो का प्रभाव एक दूसरे पर पडता है। यह भी खास करके जब अनेक स्त्रियाँ एक साथ बैठी हो, तब

उनके और आपके बीच साढे तीन हाथ का अन्तर होना चाहिए।

समाज हर समय बदलता है, रीति एवं व्यवहार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढग से जीते है, परन्तु वास्तविक यह है।

जैन एवं हिन्दू संन्यास—हिन्दू संन्यास में भी ब्रह्मचर्य के नियम है। कई जगह अति तीव्र है, कई जगह नहीं क्योकि वहाँ पर अनेक विभिन्न परम्पराएँ है। अधिकांश ऋषि विवाह करते है। अधिकांश लोग प्रौढ़ अवस्था में संन्यास लेते हैं, क्योकि उनके यहॉ यह रिवाज है; परन्तु जिनशासन में ब्रह्मचर्य की अनेक सूक्ष्म मर्यादाए दी हैं; क्योकि यहॉ पर साधना हेतु बाल्य एव युवावस्था पर अधिक जोर दिया गया है। 1 जब शारीरिक एव मानसिक ऊर्जा तीव्र होती है, 2. जिनशासन की साधना की गति भी तीव्र है, तब कर्मो की उदीरणा भी तीव्र होगी और जितनी भी साधना तीव्र हो, उतनी अधिक सुरक्षा आवश्यक है। जितना हीरा मूल्यवान हो, उतनी ही सम्भाल जरूरी। जितनी दवाई प्रभावकारी हो, उतना ही परहेज भी जरूरी है। साधारण दवाई के साथ कोई परहेज आवश्यक नहीं है। इस साधना मे जितनी ऊँचाई भी है, यदि गिर पडे तो उतनी बड़ी खाई भी है, जैसे दस हजार का हीरा हो यदि वह खो जाए तब नुकसान भी दस हजार का ही होगा और यदि दस लाख का हीरा हो तब पास मे सम्पत्ति दस लाख की है और यदि खो जाए तो नुकसान भी दस लाख का है। अत वीर पुरुष ही इस मार्ग पर चलते है। इस प्रकार इतने नियम उपनियम आवश्यक है। साधना की इतनी तीव्रता के कारण उसे सभालना भी जरूरी है। जब कर्मो का तीव्र उदय होता है और उस उदय वश कोई न कोई निमित्त ऐसा आता है जो साधक को साधना से डिगाता है। इसलिए इतने नियम-उपनियम आवश्यक है। इसमें भी विशिष्ट साधना हेतु जिन-कल्प का आचार है।

लेकिन हुआ यह कि हम नियम उपनियम मे ही उलझ गये, साधना इतनी नहीं रही। इसी कारण वर्तमान मे अनेक लोग प्रश्न करते हैं कि क्या इतने नियम-उपनियम आवश्यक है, क्योकि जो नियम-उपनियम का पालन करते है, और नही करते है, उन दोनो की मनोदशा में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। आभ्यतर साधना के अभाव के कारण, वही राग-द्वेष ईर्ष्या नजर आती है। यदि साधक मे कोई विलक्षण उपशान्तता हो, तब नियमों पर यह प्रश्न नहीं आते, लेकिन ऐसे साधक बहुत कम है।

कल्प-नियम—जितना व्यक्ति ऊपर उठता है, क्या नियमों की आवश्यकता उतनी कम होती है?

बात सत्य है चेतना का जितना ऊर्ध्वारोहण होता है, उतनी नियमो की आवश्यकता कम होती है। जैसे आचार्य, स्थविर, कल्पातीत होते है। आवश्यकतानुसार अपनी जागृत प्रज्ञा के आधार पर वे कार्य करते हैं। उन्हें कल्प की आवश्कता न होते हुए भी वे रहते तो नियमो मे ही है, क्योंकि वे जानते है कि उनके पीछे जो शिष्य है, वे उनकी प्रज्ञा और चेतना को नहीं, अपितु क्रिया को ही देखते है।

जैसे एक कार में जाना दूसरा हवाई जहाज मे जाना। हवाई जहाज में जाते हुए अधिक सुरक्षा एवं सावधानी की आवश्यकता है। जितनी गति तीव्र होती है, उतनी ही सुरक्षा एवं सावधानी की आवश्यकता है। जिनशासन की जो व्यवस्था है, वह राजमार्ग है बहुत तीव्र है। कभी-कभी व्यक्ति की अवस्था ऐसी भी हो जाती है कि तेजस शरीर का विकास होने पर संतप्तता आ जाती है। जैसे आतापना, अनशन, आयबिल आदि से। सात्त्विक आहार एव ध्यान के माध्यम से उपशाति होती है।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे साधुत्व का परिपालन करने के लिए अप्काय—पानी के जीवों की रक्षा करने का आदेश दिया गया है। और उसके स्वरूप का सम्यक्तया बोध कराया गया है। चतुर्थ उद्देशक में तेजस्काय के आरम्भ-समारम्भ का त्याग करने का विधान किया गया है। और यह बताया गया है कि अप्काय की तरह तेजस्काय भी सजीव है। उसके आरम्भ-समारभ से कर्मो का बन्ध होता है, इत्यादि बातो का चतुर्थ उद्देशक में वर्णन किया है। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि णेव संय लोगं अब्भाइक्खेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ॥32॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि नैव स्वयं लोकम् अभ्याख्यायेत्, नैवात्मान मभ्याख्यायेत् यः लोकं अभ्याख्याति सः आत्मानम् अभ्याख्याति यः आत्मानमभ्याख्याति सः लोकमभ्याख्याति।

पदार्थ—से—वह, जिसने सामान्य रूप से आत्म-तत्त्व, पृथ्वीकाय और अप्काय के जीवों का वर्णन किया है, वही मैं। **बेमि**—कहता हू। **सयं**—अपनी आत्मा के द्वारा। **लोगं**—अग्निकाय रूप लोक का। **णेव अब्भाक्खेज्जा**—अपलाप न करे। **अत्ताणं**—आत्मा का। **णेव अब्भाइक्खेज्जा**—निषेध या अपलाप न करे। **जे**—जो व्यक्ति। **लोयं**—अग्निकाय रूप लोक का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है। **से**—वह। **अत्ताण**—आत्मा का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है। **जे**—जो। **अत्ताणं**—आत्मा का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है। **से**—वह। **लोयं**—अग्निकाय रूप लोक का। **अब्भाइक्खइ**—निषेध करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू। जिसने पहले तीन उद्देशकों में सामान्य रूप से आत्मा,

पृथ्वीकाय, अप्काय का वर्णन किया है, वह मैं तुम से कहता हूँ—मुमुक्षु पुरुष अपनी आत्मा से अग्निकाय रूपलोक का निषेध—अपलाप न करे और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप न करे। जो व्यक्ति अग्निकाय लोक का अपलाप करता है, वह आत्मा का अपलाप करता है और जो आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय का निषेध करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे पृथ्वी और पानी की तरह अग्नि को भी सचित्त-सजीव बताया है। अग्निकाय के जीव भी पृथ्वी-पानी की तरह प्रत्येक शरीरी, असंख्यात् जीवों का पिण्ड रूप और अंगुल के असंख्यातवे भाग अवगाहना वाले हैं। उनकी चेतना भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। क्योंकि उसमे प्रकाश और गरमी है और ये दोनो गुण चेतनता के प्रतीक है। जैसे जुगनू मे जीवित अवस्था मे प्रकाश पाया जाता है, परन्तु मृत अवस्था में उसके शरीर मे प्रकाश का अस्तित्व नहीं रहता। अत- प्रकाश जिस प्रकार जुगनू के प्राणवान होने का प्रतीक है, उसी प्रकार अग्नि की सजीवता का भी ससूचक है।

हम सदा देखते हैं कि जीवित अवस्था में हमारा शरीर गरम रहता है। मृत्यु के बाद शरीर मे उष्णता नहीं रहती। और ज्वर के समय जो शरीर का ताप बढता है, वह भी जीवित व्यक्ति का बढता है। अस्तु, शरीर में परिलक्षित होने वाली उष्णता सजीवता की परिसूचक है। इसी तरह अग्नि में प्रतिभासित होने वाली उष्णता भी उसकी सजीवता को स्पष्ट प्रदर्शित करती है।

उष्णता और प्रकाश ये दोनों गुण अग्नि की सजीवता के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त अग्नि वायु के बिना जीवित नही रह सकती। जिस प्रकार हमे यदि एक क्षण के लिए हवा न मिले तो हमारे प्राण-पखेरू उड जाते है, उसी तरह अग्नि भी वायु के अभाव मे अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेती है। आप देखते है कि यदि प्रज्वलित दीपक या अगारो को किसी बर्तन से ढक दिया जाए और बाहर से हवा को अदर प्रवेश न करने दिया जाए, तो वे तुरन्त बुझ जाएंगे। किसी व्यक्ति के पहने हुए वस्त्र आदि मे आग लगने पर डाक्टर पानी डालने के स्थान में उस शरीर को मोटे कपडे या कम्बल से ढक देने की सलाह देते है। क्योकि शरीर के कम्बल से आवृत होते ही, आग को बाहर की वायु नहीं मिलेगी और वह तुरन्त बुझ जाएगी। इससे

उसकी सजीवता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि निर्जीव पदार्थो को वायु की अपेक्षा नही रहती। काग़ज़ के टुकड़े को कुछ क्षणो के लिए ही नहीं, बल्कि कई दिन एव वर्षो तक भी वायु न मिले तो भी उसका अस्तित्व बना रहेगा। परन्तु वायु के अभाव में अग्नि एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती है[1]। यदि वह निर्जीव होती तो अन्य निर्जीव पदार्थो की तरह वह भी वायु के अभाव में अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाती। परन्तु ऐसा होता नही है। अत' अग्नि को सजीव मानना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय सजीव है। इसलिए मुमुक्षु को अग्निकाय की सजीवता का निषेध नही करना चाहिए और अपनी आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों मे समान रूप से आत्म-सत्ता है। अतः जो व्यक्ति अग्निकाय का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व से भी इनकार करता है। और जो अपनी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, वह अग्निकाय की सजीवता का भी निषेध करता है। इस तरह आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से हमारी आत्मा एवं अग्निकायिक जीवो की आत्मा की समानता को बताया है।

आचार्य शीलाक ने 'से बेमि' का अर्थ इस प्रकार किया है—"जिसने पृथ्वी और जलकाय की सजीवता को भली-भांति जानकर उसका प्रतिपादन किया है, वही मै अनवरत पूर्ण ज्ञान-प्रकाश से प्रकाशमान भगवान महावीर से तेजस्काय के वास्तविक स्वरूप को सुनकर तुम्हे बताता हूँ[2]।

प्रस्तुत सूत्र मे तेजस्काय की सजीवता को प्रमाणित करके, अब सूत्रकार उसके आरम्भ से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मूलम्—जे दीहलोग-सत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे जे असत्थस्स खेयण्णे से दीह-लोक-सत्थस्स खेयण्णे॥33॥

---

1. न विणा वाउयाएण अगणिकाए उज्जलइ। —भगवती सूत्र, शतक 16, उद्देशक 1
2 येन मया सामान्यात्मपदार्थ-पृथिव्यप्कायजीव-प्रविभागव्यावर्णनमकारि स एवाहम् अव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजोजीवस्वरूपोपलम्भसमुपजनितजिनवचनसम्पदो ब्रवीम।
—आचारांग टीका, 31

छाया—यो दीर्घलोकशस्त्रस्य खेदज्ञः सोऽशस्त्रस्य खेदज्ञः योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः से दीर्घलोक-शस्त्रस्य खेदज्ञः।

पदार्थ—जे—जो। **दीहलोग-सत्थस्स**—दीर्घ-लोक-वनस्पति के शस्त्र-अग्नि का। **खेयण्णे**—ज्ञाता होता है। **से**—वह। **असत्थस्स**—अशस्त्र-सयम का। **खेयण्णे**—ज्ञाता होता है। **जे**—जो। **असत्थस्स**—सयम का। **खेयण्णे**—ज्ञाता होता है। **से**—वह। **दीहलोग-सत्थस्स**—अग्नि का। **खेयण्णे**—ज्ञाता होता है।

मूलार्थ—जो वनस्पतिकाय के शस्त्र अग्नि-स्वरूप के परिज्ञाता है, वे सयम को भली-भांति जानने वाले हैं और जिन्हें सयम के स्वरूप का परिज्ञान है, उन्हें अग्नि के स्वरूप का भी बोध है।

हिन्दी-विवेचन

दुनिया में अनेक तरह के शस्त्र है। परन्तु अग्नि का शस्त्र अन्य शस्त्रो से अधिक तीक्ष्ण एव भयावह है। जितनी व्यापक हानि यह करता है, उतनी अन्य किसी शस्त्र से नही होती। ज़रा-सी असावधानी से कहीं आग की चिनगारी गिर पड़े, तो सब स्वाहा कर देती है। इसकी लपेट मे आने वाला सजीव-निर्जीव कोई भी पदार्थ सुरक्षित नहीं रहता। जब यह भीषण रूप धारण कर लेती है, तो वृक्ष मकान, कीडे-मकोडे, पशु-पक्षी; मनुष्य जो भी इसकी लपेट मे आ जाता है, वह जल कर राख हो जाता है। अग्नि किसी को भी नही छोडती, गीले-सूखे, सजीव-निर्जीव सब इसकी लपटो मे भस्म हो जाते हैं। अत· आग को सर्वभक्षी कहने की लोक-परम्परा बिलकुल सत्य है। और इसी कारण इसे सबसे तीक्ष्ण एवं प्रधान माना गया है। आगम मे भी कहा गया है कि अग्नि के समान अन्य शस्त्र नही है[1]। यह पृथ्वी एव अप्कायिक जीवो के शस्त्र के साथ वनस्पति के जीवो का भी शस्त्र है। और वनस्पति के लिए इसका उपयोग अधिक किया जाता है। घरो में शाक-भाजी बनाने एव खाना पकाने के लिए इसी का उपयोग किया जाता है और बास एवं चन्दन के बीहड़ वनों में उनकी पारस्परिक रगड़ एव टक्कर से प्राय आग का प्रकोप होता रहता है। इसलिए इसे वनस्पतिकाय का

1 विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणि-विणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइ न दीवए॥ —उत्तराध्ययन सूत्र 35/12

शस्त्र रूप विशेषण से अभिव्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में अग्नि शब्द का प्रयोग न करके 'दीर्घलोक-शस्त्रं' इतने लम्बे वाक्य का जो प्रयोग किया है, उसके पीछे एक विशेषता रही हुई है। वह यह है कि अग्नि 6 काय का शस्त्र है। जब यह प्रज्वलित होती है, तो अपनी लपेट में आने वाले किसी भी प्राणी को सुरक्षित नहीं रहने देती। और जब यह जंगल मे लगती है, तो बड़े-बडे वृक्षो को जलाकर भस्म कर देती है। और वृक्ष के आश्रय में रहने वाले सभी स्थावर एव त्रस जीवो को भस्म कर देती है। वृक्ष पर कृमि, पिपीलिका, भ्रमर आदि त्रस जीव पाए जाते है, उसकी कोटर एवं जड़ों में पृथ्वीकायिक और ओस के रूप मे अप्कायिक तथा उसके पत्तो को हिलाते हुए वायुकायिक जीव भी वहा पाए जाते हैं। इस तरह एक वृक्ष को विध्वंस करने के साथ 6 काय के जीवो का नाश हो जाता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने 'अग्नि' शब्द का प्रयोग न करके 'दीर्घ-लोक-शस्त्र' शब्द का प्रयोग किया है।

वनस्पति को 'दीर्घलोक' कहने का तात्पर्य यह है—स्थावर-एकेन्द्रिय जीवों मे वनस्पतिकायिक जीवो की अवगाहना ही सबसे बडी है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय के शरीर की अवगाहना अगुल के असख्यातवे भाग है, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना विभिन्न प्रकार की है। कुछ वनस्पतिकायिक जीवो की अवगाहना एक हज़ार योजन से भी कुछ अधिक है। आगम मे वनस्पतिकाय के सबध मे विस्तृत विवेचन मिलता है; कई जगह उसे 'दीर्घलोक' भी कहा है। एक बार गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा कि हे भगवन्। वनस्पतिकाय मे गया हुआ वनस्पतिकाय मे ही रहे तो कितने काल तक रहता है? हे गौतम। यदि वनस्पति में गया हुआ जीव वनस्पतिकाय मे ही जन्म-मरण करता रहे तो उत्कृष्ट अनन्त जन्म-मरण करता है और काल की अपेक्षा से अनन्त काल तक उसी मे परिभ्रमण करता रहता है। इतना ही नही, असख्यात पुद्गल-परावर्तन[1] उसी काय

1 'पुद्गल-परावर्तन' काल का एक माप है। जैनागम की दृष्टि से एक कालचक्र मे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दो काल होते हैं, दोनो कालो के छह-छह आरे होते है और एक काल 10 कोड़ा-कोडी सागरोपम का होता है, अत पूरा कालचक्र 20 कोड़ा-कोडी सागरोपम का होता है और एक पुद्गल परावर्तन में अनन्त कालचक्र बीत जाते हैं।

में पूरे कर देता है[1]। अवगाहना के संबन्ध मे पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम! वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हज़ार योजन[2] से भी कुछ ऊपर है[3] इसलिए वनस्पतिकाय को आगम में 'दीर्घलोक' कहा है।

इस 'दीर्घ-लोक-वनस्पतिकाय' का विनाशक शस्त्र अग्नि है। इसलिए जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, वह 6 काय का विनाश करता है और जो इसके आरम्भ से निवृत्त है वह 17 प्रकार के संयम का आराधक है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र मे इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया है कि जो व्यक्ति अग्निकाय का ज्ञाता है, अर्थात् उससे होने वाले आरम्भ एवं विनाश तथा उससे बंधने वाले कर्म के स्वरूप को भली-भाति जानता है, वह संयम का भी परिज्ञाता है और जो सयम का परिज्ञान रखता है, वह अग्निकाय के आरम्भ से भी निवृत्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त "खेयण्णे" शब्द के सस्कृत में दो रूप बनते है—1 क्षेत्रज्ञः और 2 खेदज्ञ'। उभय शब्दों का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—

"क्षेत्रज्ञो निपुण· अग्निकाय वर्णादितो जानातीत्यर्थ·। खेदज्ञो वा खेदः तद् व्यापार' सर्वसत्वानां दहनात्मक पाकाद्यनेक-शक्ति-कलापो-पचित प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्नि-व्यपदेशो यतीनामनारम्भणीय तमेवविध खेद अग्निव्यापार जानातीति खेदज्ञ·।"

---

1 वणस्सइकाइएण भते। वणस्सइकाइएति कालओ केवच्चिर होइ? गोयमा। अणत काल अणताओ उस्सप्पिणि-अवसप्पणिओ कालओ। खेत्तओ अणता लोया, असखेज्ज पोग्गल-परियट्टा तेण पुग्गल परियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद 18

2. लवण समुद्र की गहराई एक हजार योजन की मानी गई है। और उसमें कमल पैदा होता है, उसकी जड समुद्र के धरातल मे गडी होती है और कमल का ऊपरी भाग पानी से ऊपर रहता है। इस अपेक्षा से वनस्पतिकाय के शरीर की ऊचाई एक हजार योजन से ऊपर मानी गई है।

3 वणस्सइकाइयाण भते! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णता? गोयमा! साइरेगं जोयण-सहस्स सरीरोगाहणा?

—प्रज्ञापना सूत्र, अवगहणा पद

अर्थात्—अग्नि को वर्णादि रूप से जानने वाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहते है और अग्नि के दहनादि रूप व्यापार का नाम खेद है और उसका परिज्ञाता 'खेदज्ञ' कहलाता है।

अशस्त्र शब्द का अर्थ है—संयम। क्योंकि शस्त्र से जीवों का नाश होता है, उन्हें वेदना-पीडा होती है, परन्तु संयम से किसी भी जीव को वेदना, पीड़ा एवं प्राण-हानि नहीं होती। इसलिए सयम को अशस्त्र कहा है। अस्तु, जो अग्नि के स्वरूप का ज्ञाता होता है, वही सयम का आराधक होता है। और जो सयम के स्वरूप को भली-भांति जानता है, वही अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त होता है। इस तरह सयम एव अग्निकायिक आरम्भ-निवृत्ति का घनिष्ठ सबंध स्पष्ट किया है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हैं कि यह तत्त्व महापुरुषो के द्वारा जाना एव कहा गया है—

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं॥34॥

छाया—वीरै· एतत् अभिभूय दृष्टं संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः।

पदार्थ—संजएहिं—सयत पुरुष। **सया**—सदा। **जत्तेहिं**—यत्न-शील। **सया**—सदा। **अप्पमत्तेहिं**—प्रमाद रहित, रह कर। **वीरेहिं**—वीर पुरुषो ने। **अभिभूय**—परीषहो को जीत कर तथा पूर्णज्ञान को प्राप्त कर। **एय**—इस अग्निकाय रूप शस्त्र को। **दिट्ठ**—देखा है।

मूलार्थ—महाव्रतों के परिपालक, सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषो ने परीषह तथा कर्मो को अभिभूत करके प्राप्त केवल ज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और संयमरूप अशस्त्र को देखा है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि पूर्व सूत्र में अग्निकाय रूप शस्त्र एवं अशस्त्र रूप सयम के स्वरूप को जानकर अग्निकाय के आरम्भ से निवृत्त हो कर संयम में प्रवृत होने की जो बात कही गई वह नितांत सत्य है, क्योंकि वीर पुरुषो ने

अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वदशी पुरुषों ने उसे देखा है। अतः अग्निकाय के आरंभ-समारभ से निवृत्त होने रूप संयम-मार्ग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित होने से वास्तविक पथ है; इसमें सशय को जरा भी अवकाश नहीं है।

इस तरह सूत्रकार ने मुमुक्षु के मन में ज़रा भी सशय पैदा न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र के द्वारा मुमुक्षु के मन का पूरा समाधान करने का प्रयत्न किया है। हम सदा देखते है कि जब किसी बात पर किसी प्रामाणिक व्यक्ति की सम्मति मिल जाती है, तो व्यक्ति को उस बात पर पूरा विश्वास हो जाता है। अत सूत्रकार ने इस बात को परिपुष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग वीतराग एव सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित है। उन्होने अग्निकाय को शस्त्र-रूप में और संयम को अशस्त्र-रूप में देखा है। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र पूर्व सूत्र का परिपोषक है, साधक के मन मे जगे हुए विश्वास को दृढ करने वाला है और आचार मे तेजस्विता लाने वाला है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'वीर' शब्द तीर्थकर एवं सामान्य केवलज्ञानी पुरुषो का परिबोधक है। क्योंकि वे राग-द्वेष एव कषाय रूप प्रबल योद्धाओं को परास्त कर चुके है, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर पड़े हुए आवरण सर्वथा अनावृत करके पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य शक्ति को प्रकट कर चुके हैं, अत. वस्तुत˙ वे ही वीर कहलाने योग्य है और सर्वज्ञ होने के कारण वस्तु का वास्तविक स्वरूप बताने मे भी वे ही समर्थ हैं। इसलिए सूत्रकार ने वीर शब्द का तीर्थकर एव सामान्य केवल ज्ञानी के लिए प्रयोग करके इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी पुरुषो द्वारा अवलोकित है। केवल अवलोकित ही नही, आचरित भी है। यो कहना चाहिए कि पूर्व सूत्र में कथित मार्ग पर गतिशील होकर ही उन्होंने सर्वज्ञता को प्राप्त किया है।

शुद्ध चारित्र-परिपालन करने के लिए परीषहों पर विजय पाना जरूरी है। जो साधक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों में आकुल-व्याकुल नही होता, सयम-मार्ग से विचलित नही होता, उसका चारित्र शुद्ध एव निर्मल बना रहता है और उस विशुद्ध भावना से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिक कर्मो का सर्वथा नाश हो जाता है, या यो कहना चाहिए कि अनन्त ज्ञान, दर्शन,

आत्मसुख एव वीर्य की ज्योति अनावृत हो जाती है। साधक की दृष्टि में पूर्णता आ जाती है, उससे दुनिया की कोई भी वस्तु प्रच्छन्न नहीं रहती। और यह पूर्ण दृष्टि संयम-मार्ग पर प्रगति करके ही प्राप्त की गई है और अभी भी की जा रही है तथा भविष्य में भी प्राप्त की जा सकेगी। इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि पूर्व सूत्र मे कथित मार्ग सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा अवलोकित एवं आचरित है। इसलिए साधक को निश्शक भाव से उस पथ पर गतिशील होना चाहिए।

संयत, सदायत और अप्रमत्त ये तीनो 'वीर' शब्द के विशेषण हैं। संयत का अर्थ है—विषय-विकार एवं सावद्य कार्यो में प्रवृत्तमान योगो का सम्यक् प्रकार से निरोध करने वाला और सदा विवेक के साथ प्रवृत्ति करने वाले को सदायत कहते हैं। अप्रमत्त का अर्थ है—मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा आदि प्रमाद का परित्याग करने वाला। उक्त गुणो से युक्त पुरुष वीर कहलाता है और ऐसे वीर पुरुष ने इस सयम-मार्ग को देखा एव बताया है।

योगानुसारी प्रस्तुत सूत्र का अर्थ है—अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ से मन-वचन और काय योग का निरोध करना और उससे जो लब्धि प्राप्त हो, उसका आत्मिक अभ्युदय के लिए उपयोग करना।

इससे स्पष्ट हो गया कि अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ अनर्थ का कारण है। फिर भी कई विषयासक्त एव प्रमादी जीव विषय-वासना एव प्रमाद के वश होकर अग्निकाय का आरम्भ-समारम्भ करते है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ॥35॥

छाया—यः प्रमत्तः गुणार्थिकः सः खलु दण्ड इति प्रोच्यते।

पदार्थ—**जे**—जो व्यक्ति। **पमत्ते**—प्रमादी। **गुणट्ठीए**—गुणार्थी है। **से**—वह। **हु**—निश्चय ही। **दंडे त्ति**—दण्ड रूप। **पवुच्चइ**—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो जीव प्रमादी और गुणार्थी हैं, वे जीव प्राणियो के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हें दण्ड रूप कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि जो व्यक्ति प्रमत्त[1] और गुणार्थि[2] है, वह दण्ड रूप है। क्योंकि प्रमाद एव गुणार्थि इन दो कारणों से ही व्यक्ति अग्नि के आरम्भ में प्रवृत्त होता है। और विषय-कषाय से युक्त होकर रधन, पाचन, आताप-प्रकाश आदि के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है, इसलिए उसकी इस प्रवृत्ति को अकुशल प्रवृत्ति कहा है। और इस प्रवृत्ति से प्राणियो को दण्डित करने का कारण वह है, इसलिए उसे दण्ड रूप भी कहा है। ऐसा देखा गया है कि वस्तु के गुण-दोष या प्रवृत्ति के अनुसार वस्तु का नाम रख दिया जाता है, गुणानुसारी नाम-करण की पद्धति पुरातन काल से चली आ रही है। जैसे घृत आयुवर्द्धक है, इसलिए उसका आयु रूप से निर्देश किया जाता है—"आयुर्वै घृतम्" इसी तरह प्रमादी एवं गुणार्थी जीव अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर अग्निकायिक एव उनके आश्रय मे रहे हुए अन्य त्रस-स्थावर जीवो को दडित करते है, इसलिए उन्हें दण्ड रूप कहा गया है।

प्रमादी और गुणार्थि को दण्ड रूप कहा गया है। दण्ड से दु:खो की उत्पत्ति होती है, इसलिए सूत्रकार उसके परित्याग की प्रेरणा देते हुए कहते है—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं॥36॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यदहं पूर्वमकार्ष प्रमादेन।

पदार्थ—तं—इस अग्निकाय के आरम्भ को। **परिण्णाय**—जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान यह निश्चय करे। जं—जिस आरम्भ को। **पमाएणं**—प्रमाद से। **अहं**—मैने। **पुव्वं**—प्रथम। **अकासी**—किया था, उसको। **इयाणिं**—इस समय। **णो**—नही करूगा।

मूलार्थ—अग्निकाय के आरंभ से होने वाले अनर्थ को जान कर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरंभ को करता रहा हू, इस समय उसका परित्याग करता हूं।

---

1 मद्य, विषय, कषायादि का सेवन करने वाला।

2 अग्नि-रन्धन, पाचन आदि गुणो का आकाक्षी—चाह रखने वाला।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रबुद्ध पुरुष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया गया है। इस बात को हम पहले ही बता चुके हैं कि जब तक जीवन मे ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित नहीं होती, तब तक क्रिया में आचरण में तेजस्विता नहीं आ पाती। इसलिए अग्निकाय के आरम्भ से कितना अनर्थ एव अहित होता है, इस बात का परिज्ञान होने के बाद मुमुक्षु उस कार्य में प्रवृत्त नही होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के बाद ही प्रत्याख्यान की अभिरुचि होती है, आचरण की ओर कदम उठता है और ज्ञानपूर्वक किया गया त्याग ही वास्तविक आत्मविकास मे सहायक होता है।

भगवती सूत्र मे बताया गया है कि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—हे भगवन्' कोई जीव यह कहता है कि मैने प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा का त्याग कर दिया है, उसका प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है? भगवान महावीर ने कहा—हे गौतम' उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान भी है और दुष्प्रत्याख्यान भी, भगवान के हकार-नकार युक्त उत्तर को स्पष्ट समझने की अभिलाषा से गौतम स्वामी ने पुन पूछा—भगवन्' किस कारण से आप ऐसा कहते हैं? भगवान ने कहा—हे गौतम' जो जीव, जीव-अजीव आदि तत्त्वों को भली-भाति नहीं जानता है, त्रस-स्थावर के स्वरूप को नहीं पहचानता है, वह व्यक्ति यदि कहता है कि मैने प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो की हिसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य नही, अपितु झूठ बोलता है, तीन करण-तीन योग से असयती है, अव्रती है। पाप कर्म का त्यागी नही है। क्रिया-युक्त है, असवृत है, एकान्त दण्ड रूप है; एकान्त बाल-अज्ञानी है, इसलिए उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। और जो जीवाजीव एवं त्रस-स्थावर आदि तत्त्वो का ज्ञाता है और वह कहता है कि मैने प्राण, भूत आदि की हिंसा का त्याग कर दिया है, तो वह सत्य बोलता है, तीन करण-तीन योग से सयती है, व्रती है; पाप कर्म का त्यागी है, क्रिया-रहित है, संवृत है, एकान्त पंडित—ज्ञानी है, इसलिए उस का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है[1]। अस्तु, इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान-पूर्वक किया गया त्याग ही कर्म-बन्धन को तोड़ने मे सहायक होता है, निर्जरा का कारण बनता है।

---

1 भगवती सूत्र, शतक 7, उद्देशक 2।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया कि मुमुक्षु अग्निकाय के आरम्भ-समारम्भ को जानने के पश्चात् उनमें प्रवृत्त नही होता। जब तक वह उसके स्वरूप को भली-भांति नही जानता, तब तक प्रमाद के कारण अग्नि का आरम्भ करता है। परन्तु उसका सम्यक्तया ज्ञान होने के बाद वह उसका सर्वथा परित्याग कर देता है, अर्थात् पूर्व समय जो आरम्भ किया है, उसका पश्चात्ताप करता है और भविष्य के लिए उसका त्याग कर के विवेकपूर्वक सयम में प्रवृत्त होता है।

अग्निकाय के सबध मे जैनेतर संप्रदाय का जो अभिमत है, उसे बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति। तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहियाए, से तं संबुज्झमाणे अयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ॥37॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य! अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म-समारंभेण अग्निशस्त्रं समारभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-विमोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारभते अन्यैर्वा अग्निशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानाति, तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधये, सः तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः

अणगाराणामंतिके इह एकेषां ज्ञातं भवति–एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः, इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः अग्निकर्म समारम्भेण, अग्निशस्त्रं समारंभमाणे अन्यान् अनेकरूपान् प्राणान् विहिनस्ति।

पदार्थ–लज्जमाणा–स्वागमविहित अनुष्ठान करते हुए अथवा सावद्यानुष्ठान के कारण लज्जा का अनुभव करते हुए। **पुढो**–विभिन्न मतवालों को। **पास**–हे शिष्य! तू देख। **अणगारा मोत्ति**–हम अनगार हैं, इस प्रकार। **एगे**–कई एक वादी। **पवदमाणा**–बोलते हुए। **जमिणं**–जो यह प्रत्यक्ष। **विरूवरूवेहिं**–नाना प्रकार के। **सत्थेंहिं**–शस्त्रो से। **अगणिकम्मसमारंभेण**–अग्नि कर्म समारम्भ से। **अगणि सत्थं समारम्भमाणे**–अग्नि शस्त्र का समारम्भ प्रयोग करते हुए। **अणेगरूवे**–अनेक रूप वाले। **अण्णे**–अन्य। **पाणे**–प्राणियो की। **विहिंसंति**–हिंसा करते है। **तत्थ**–अग्निकाय के आरम्भ-विषयक। **खलु**–निश्चय ही। **भगवता**–भगवान ने। **परिण्णा**–परिज्ञा। **पवेइया**–प्रतिपादन की है। **इमस्स चेव**–इसी। **जीवियस्स**–जीवन के लिए। **परिवंदण-माणण-पूयणाए**–प्रशंसा, मान-सम्मान और पूजा के लिए। **जाई-मरण-मोयणाए**–जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए। **दुक्खपडिघायहेउ**–दुःखो का नाश करने के लिए। **से**–वह। **सयमेव**–स्वयमेव। **अगणि-सत्थं समारंभइ**–अग्निकाय का शस्त्र से समारम्भ करता है। **वा**–अथवा। **अण्णेहिं**–दूसरो से। **अगणि-सत्थं**–अग्नि शस्त्र से। **समारंभावेइ**–समारम्भ कराता है। **वा**–तथा। **अगणि-सत्थं**–अग्नि-शस्त्र का। **समारंभमाणे**–समारम्भ करने वाले। **अण्णे**–अन्य व्यक्ति का। **समणुजाणइ**–समर्थन करता है। **तं**–वह आरम्भ। **से**–उसको। **अहियाए**–अहितकर होता है। **तं**–वह आरम्भ। **से**–उसको। **अबोहियाए**–अबोध के लिए होता है। **से तं**–जिसको यह असदाचरण बता दिया गया है, वह शिष्य। **संबुज्झमाणे**–अग्नि के आरंभ को पाप रूप जानता हुआ। **आयाणीयं**–आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि को प्राप्त कर। **भगवओ**–भगवान के समीप। **वा**–अथवा। **अणगाराणां**–अणगारों के समीप। **सोच्चा**–सुनकर। **इहं**–इस लोक में। **एगेसिं**–किसी-किसी व्यक्ति को। **णाय**–ज्ञात हो जाता है। **एस खलु**–यह अग्निकाय का समारम्भ-निश्चय ही। **मोहे**–मोह का कारण है। **एस**–यह। **खलु**–निश्चय ही। **गंथं**–अष्ट कर्म की गांठ है। **एस खलु**–यह निश्चय ही। **मारए**–मृत्यु

का कारण है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **णरए**—नरक का कारण है। **इच्चत्थं**—इस अर्थ के लिए। **गड्ढिए**—मूर्छित। **लोए**—लोक हैं। **जमिणं**—जो यह प्रत्यक्ष। **विरूवरूवेहिं**—नाना प्रकार के। **सत्थेहि**—शस्त्रो से। **अगणि- कम्मसमारंभमाणे**—अग्नि का समारम्भ करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **पाणे**—प्राणियों की भी। **विहिंसइ**—हिंसा करते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू इन विभिन्न धर्मानुयायियो को देख, जो स्वागमानुसार साधु-क्रिया करके लज्जित होते हुए भी अपने आप को अनगार कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न शस्त्रों से, अग्निकर्म-समारभ से अग्निकायिक जीवो एवं अन्य अनेक तरह के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करते है। अतः भगवान ने परिज्ञा-विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि प्रमादी जीव इस क्षणिक जीवन के लिए, प्रशंसा-मान-सम्मान एवं पूजा पाने के हेतु, जन्म-मरण से छुटकारा पाने की अभिलाषा से तथा शारीरिक एवं मानसिक दु:खो के विनाशार्थ स्वय अग्नि का आरंभ करते है, दूसरे व्यक्ति से कराते हैं और करने वाले को अच्छा समझते हैं। परन्तु यह समारम्भ उनके लिए अहितकर है, अबोध का कारण है। इस प्रकार भगवान से या अनागारो से सुन कर सम्यक्बोध को प्राप्त हुए किसी-किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि यह अग्नि-समारंभ अष्ट कर्मो की गाठ है, यह मोह का कारण है, यह मृत्यु का कारण है और यह नरक का भी कारण है। फिर भी विषय-भोगों मे मूर्च्छित—आसक्त व्यक्ति अग्निकाय के समारम्भ से निवृत्त नहीं होता। वह प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न शस्त्रों के द्वारा अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता हुआ अनेक जीवो की भी हिंसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र पृथ्वीकाय और अप्काय के प्रकरण मे सूत्र 16, 17 और 24 के सूत्र की तरह ही है। केवल इतना ही अन्तर है कि वहा पृथ्वी एवं अप्काय का वर्णन है और यहां तेजस्काय समझना चाहिए। शेष व्याख्या उसी प्रकार होने से यहा पिष्टपेषण करना उचित नही जचता।

अब सूत्रकार अग्निकाय समारम्भ से अन्य जीवो की जो हिंसा होती है, उसका उल्लेख करते हैं।

मूलम्—से बेमि—संति पाणा पुढविनिस्सिया, तणणिस्सिया, पत्तणिस्सिया, कट्ठनिस्सिया, गोमयणिस्सिया, कयवरणिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति; अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति; ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति॥38॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि सन्ति प्राणाः पृथिवीनिश्रिताः, तृणनिश्रिताः, पत्रनिश्रिताः, काष्ठनिश्रिताः गोमयनिश्रिताः, कचवरनिश्रिताः, सन्ति सम्पातिमाः प्राणाः आहत्य सम्पतन्ति, अग्नि (अग्नि) च खलु स्पृष्टाः एके संघातमाद्यन्ते ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावनित।

पदार्थ—से बेमि—वह मै कहता हूॅ। **संति**—विद्यमान हैं। **पाणा**—प्राणी। **पुढविनिस्सिया**—पृथ्वीकाय के आश्रय में। **तणणिस्सिया**—तृणो के आश्रित। **पत्तणिस्सिया**—पत्तों के आश्रित। **गोमयनिसिस्या**—गोबर के आश्रित। **कयवरणिस्सिया**—कूड़े-कर्कट के आश्रित। **संति**—विद्यमान है। **संपातिमा**—उड़ने वाले। **पाणा**—प्राणी। **आहच्च**—कदाचित्। **संपयंति**—अग्नि मे गिर पड़ते है। **च**—फिर। **अगणिं**—अग्नि को। **पुट्ठा**—स्पष्ट होते है। **खलु**—निश्चय ही। **एगे**—कोई। **संघायमावज्जंति**—शरीर-सकोच को प्राप्त होते हैं। **जे तत्थ संघायमावज्जंति**—जो वहा शरीर-सकोच को प्राप्त होते है। **ते**—वे जीव। **तत्थ**—वहा पर। **परियावज्जंति**—मूर्छित होते है। जे जो जीव। **तत्थ**—वहां पर। **परियावज्जंति**—मूर्च्छित होते है। **ते**—वे जीव। **तत्थ**—वहा पर। **उद्दायंति**—प्राणो को छोड़ देते है, अर्थात् निर्जीव हो जाते हैं।

मूलार्थ—हे जम्बू! अग्निकाय के आरम्भ मे विभिन्न जीवों की जो हिंसा होती है, वह मै तुमसे कहता हू। पृथ्वी के आश्रय मे तथा तृण, काष्ठ, गोबर, कूड़े-कर्कट के आश्रय में निवसित विभिन्न तरह के अनेक, जीव और इसके अतिरिक्त आकाश में उड़ने वाले जीव-जन्तु, कीट-पतगे एवं पक्षी आदि जीव भी कभी प्रज्वलित आग मे आ गिरते हैं और उसके (आग के) सस्पर्श से उनका शरीर संकुचित हो जाता है और वे मुर्च्छित होकर अपने प्राणो को त्याग देते है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि अग्नि सबसे तीक्ष्ण शस्त्र है। इसकी प्रज्वलित ज्वाला की लपेट मे आने वाला सजीव या निर्जीव कोई भी पदार्थ अपने रूप मे सुरक्षित नहीं रह सकता। वह पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवो का विनाश करने के साथ उनके आश्रय में निवसित त्रस जीवो को भी जलाकर भस्म कर देती है। उसकी लपेट मे आने वाले जीवो के कुछ नाम गिनाते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि पृथ्वी, तृण, पत्ते, काष्ठ, गोबर एव कूड़े-करकट में स्थित जीवो के तथा आकाश मे उड़ने वाले जीव-जन्तु कभी आग में गिर पड़े तो वह उनके प्राणों का नाश कर देती है।

यह तो स्पष्ट है कि आग पृथ्वी पर प्रज्वलित होती है और पृथ्वी के आश्रय मे अनेक जीव निवसित है। कृमि, पिपीलिका, कीड़े-मकोड़े, बिच्छू, सर्प, मेंढक तथा वृक्ष, लता, बेल आदि के जीव पृथ्वी के आधार पर ही स्थित हैं। अत जब आग लगती है तो इनमे से अनेक जीवों की हिसा होना सभव है।

आग को प्रज्वलित करने मे तृण, काष्ठ और गोबर का प्रयोग किया जाता है तथा घर के या गलियों के कूडे-कर्कट को एकत्रित करके उसमे आग लगा दी जाती है। उसे दूर जगल में ले जाकर फेकने के बजाय उसमे आग लगा कर समय एवं श्रम को बचा लिया जाता है। परन्तु इससे अनेक जीवों की हिंसा हो जाती है। क्योंकि तृण, काष्ठ एव गोबर के आश्रय में पतंगे, भ्रमर, लट, घुण, कुथुवे आदि अनेक जीव-जन्तु रहते है और कूड़े-कर्कट मे तो विभिन्न त्रस जीव रहते है—कीड़े-मकोड़े, पिपीलिका आदि का पाया जाना तो साधारण-सी बात है। अस्तु, इनको जलाने मे अनेक जीवो की हिसा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जब आग जलती है, तो आकाश मे उडने वाले मक्खी, मच्छर, भ्रमर एव अन्य पक्षी गण कभी-कभी उसमें आ गिरते है और उसका जाज्वल्यमान उष्ण सस्पर्श पाकर उनका शरीर सिकुड जाता है, वे तुरन्त मूर्च्छित होकर प्राण त्याग देते है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि अग्नि का समारम्भ सबसे भयानक है। इसमे छ· काय के जीवों की हिंसा होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को उसका

परित्याग करना चाहिए। इसी बात की प्रेरणा देते हुए अगले सूत्र मे कहा है—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, ऩेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे ण समणुजाणेज्जा जस्सेते अगणिकम्म समारंभा परिणणाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे—त्तिबेमि॥39॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारम्मणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवंति, अत्र शस्त्रमसमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवंति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारभेत् नैवान्यैः अग्निशस्त्रं समीरम्भयेत्, अग्नि शस्त्रं समारंभमाणान् अन्यान् न समनुजानीयात् यस्यैते अग्निकर्म समारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—अग्निकाय के विषय में। **सत्थं**—स्वकाय और परकाय रूप शस्त्र का। **समारंभमाणस्स**—समारम्भ करने वाले को। **इच्चेते**—ये। **आरंभा**—आरभ। **अपरिण्णाया भवंति**—अपरिज्ञात होते है। **एत्थ सत्थं असमारभ माणस्स**—अग्निकाय का समारम्भ न करने वाले को ये समारम्भ। **इच्चेते**—ये। **आरंभा**—आरंभ। **परिण्णाया- भवंति**—कर्मबन्ध के हेतु परिज्ञात होते है। **तं**—उस अग्नि-समारंभ को। **परिण्णाय**— परिज्ञात करके। **मेहावी**—बुद्धिमान। **णेव**—नही। **सयं**—स्वयमेव। **अगणिसत्थं**— अग्नि-शस्त्र का। **समारंभेज्जा**—समारभ करे। **णेवऽण्णेहिं**—न अन्य से। **अगणिसत्थं**—अग्नि-शस्त्र का। **समारंभावेज्जा**—समारभ करावे। **अगणिसत्थं**—अग्नि-शस्त्र का। **समारंभमाणे**—समारभ करने वाले। **अण्णे**—अन्य व्यक्ति का। **न समणुजाणेज्जा**—अनुमोदन भी न करे। **जस्सेते**—जिसके ये। **अगणि कम्म-समारंभा**—अग्नि-कर्म-समारभ। **परिण्णाया**—परिज्ञात। **भवंति**—होते है। **से हु मुणी**—निश्चय पूर्वक वही मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञातकर्मा है। **त्तिबेमि**—ऐसा मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति स्वकाय एव परकाय रूप शस्त्र से अग्निकायिक जीवों का आरम्भ करता है, वह इस बात से अपरिज्ञात होता है कि वह आरम्भ कर्मबन्ध का कारणभूत है। जो व्यक्ति अग्नि का आरम्भ नही करता, वह उस कर्मबन्ध के कारण से परिचित होता है। अतः अग्नि के आरम्भ को कर्मबन्धन का कारण जानकर बुद्धिमान पुरुष को न स्वयं अग्नि का आरम्भ करना चाहिए, न दूसरे व्यक्ति से आरम्भ कराना चाहिए और न आरभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। जिस मुमुक्षु पुरुष को ऐसा बोध है कि यह समारंभ कर्मबन्ध का कारण है, वास्तव मे वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

जो व्यक्ति ज्ञ परिज्ञा द्वारा अग्निकाय के स्वरूप का परिज्ञान करके, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा अग्नि के आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करता है, वही वास्तव मे मुनि है, परिज्ञातकर्मा है। इस सम्बन्ध मे दूसरे और तीसरे उद्देशक के अन्तिम सूत्र की व्याख्या में विस्तार से लिख चुके हैं, अत· उस प्रकरण मे देख लेना चाहिए। 'त्ति बेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥शस्त्रपरिज्ञा चतुर्थ उद्देशक समाप्त॥

अध्यात्मसार : 4

काय-क्लेश तप का स्वरूप

जब तक मन की समता रहे, तब तक काय-क्लेश तप करे। मन यदि अत्यधिक तनाव एव व्याकुलता से भर जाए तब काय-क्लेश तप सवर एव निर्जरा की जननी, चित्त की उपशांतता की अपेक्षा क्रोध एव चिडचिड़ेपन को लाता है। हठयोग की भॉति हठी नही हो जाना, शरीर को जबरदस्ती नही सताना। ध्यान में आसनस्थिरता हेतु संकल्प एवं हठ का आलम्बन लेना पड़े, वह ठीक है। उससे फायदा ही होगा, क्योकि वहॉ पर बाह्य तप काय-क्लेश के साथ ध्यान भी जुडा हुआ है, लेकिन यह भी विवेकपूर्वक करना। खाली बाह्य तप यदि (अनशन इत्यादि) जबरदस्ती या हठ-पूर्वक करेगे तो नुकसान भी हो सकता है। इसलिए पुन -पुनः कहते है कि बाह्याचार एवं तप के साथ आभ्यतर साधना नितान्त आवश्यक है। बाह्य एव आभ्यतर तप दोनो ही एक दूसरे के परिपूरक है, लेकिन मूल है आभ्यतर तप। ध्यान ही धर्म का सार है।

दीर्घ-ध्यान व तप

यदि कोई बाह्य तप के साथ ध्यान की विशिष्ट साधना करना चाहे, तब दिन मे एक ही बार भोजन करे, हो सके तो एकलठाणा या एकाशन भोजन में 10 या 15 द्रव्य लगाएं। भोजन दूसरे पहर मे या तीसरे के शुरूआत मे करे, ताकि सूर्यास्त से पहले भोजन हजम हो जाए। इससे पेट भी हल्का रहता है एवं जागरूकता रहती है। फलितार्थ ध्यान भी सधता है।

मूलम्—वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजएहिं सया तत्तेहिं सया अप्पमतेहिं॥1/4/34॥

मूलार्थ—महाव्रतो के परिपालक सदा यत्नशील और अप्रमत्त रहने वाले वीर पुरुषों ने परीषह तथा कर्मो को अभिभूत करके प्राप्त केवलज्ञान के द्वारा अग्निकाय रूप शस्त्र और संयमरूप अशस्त्र को देखा है।

यह सूत्र वीर के सबध मे परिचय देता है। वीर कौन है? जो संयत, यतनाशील एव अप्रमत्त है।

संयत अर्थात्—सावद्य योग से निवृत्ति।

संयत—यत्नशील विवेक की जागृति।

विवेक—अर्थात् जड एवं चेतन का बोध, जीव एवं अजीव का बोध, सत्य-असत्य का बोध, नित्य-अनित्य का बोध।

विवेक शब्द का मूल अर्थ होता है—सम्यक् ज्ञान। ऐसा ज्ञान, ऐसी प्रज्ञा—जिससे आप सत्य-असत्य में फर्क कर सके। जैसे हंस अपनी चोच से दूध और पानी को अलग कर देता है, वैसे ही विवेकवान साधक यह समझ लेता है कि सार क्या है और असार क्या है। इसी परम उत्कृष्ट विवेक को प्रज्ञा भी कहते हैं।

जो संयम और विवेक दोनो के साथ गति करेगा, उसे अप्रमत्तता की उपलब्धि होती है। सयम और यतना के मेल से अप्रमत्तता रूप परिणाम आता है।

अप्रमत्तता क्रिया नहीं है, अपितु हमारे अन्त करण की अवस्था है। अतः जो व्यक्ति सयत है एव यतनाशील है, वह स्वयमेव अप्रमत्तता को उपलब्ध हो जाएगा।

यतना दो प्रकार से है—1. आगम ज्ञान आश्रित, 2 स्वज्ञान आश्रित।

स्व-ज्ञान—अर्थात् जो हमारा ज्ञान गुण है, उसका जितना विकास होगा, उतना ही विवेक जागता है। सम्यक् ज्ञान को विवेक कहते है, मिथ्याज्ञान को नही।

विवेक का मूल—सम्यक् दर्शन, क्योकि श्रद्धा अगर सम्यक् हुई तो ज्ञान भी सम्यक् होगा।

उपयोग का अर्थ—विवेक नही होता, यतनापूर्वक यानी विवेकपूर्वक। उपयोग दो प्रकार से है—ज्ञान एव दर्शन उपयोग। अत. जहॉ यह कहा है कि यतनापूर्वक करे, वहाँ अर्थ होगा—विवेकपूर्वक कार्य करो।

उपयोग-रहित तो कोई भी जीव नही है। निगोद के जीवन मे भी उपयोग है,

क्योंकि 'उवओगो जीव लक्खण' लेकिन उनमे विवेक नहीं है। जब यह कहा जाय कि उपयोगपूर्वक कार्य करना, अर्थात् मन को साथ लगाते हुए कार्य करना, चैतन्य की धारा उसीमें प्रवाहित करना। आत्मा के ज्ञान-दर्शन रूपी परिणामों को उसी कार्य मे समाहित करना।

संयम का यहॉ पर हम जो अर्थ करते है, वह है बाह्याचार। जो व्रत-नियम इत्यादि बताए गए है, वह ऐसे देखा जाए तो प्रत्येक शब्द में सब कुछ समा गया है। फिर भी हमने प्रत्येक शब्द को एक विशेष अर्थ प्रदान किया है।

संयम—अपने सम्पूर्ण योगो को सम रखना, विचलित डोलायमान, कषाय एव उत्तेजना युक्त नही होने देना। व्यवहार में कहने के लिए कहा जाता है कि इसने सयम ग्रहण किया और वह सयम से गिरा। वस्तुत· सयम का अभिप्राय योग-समत्व मे निष्ठा, योग-समत्व का ज्ञान और तदनुसार आचरण करने से है। संकल्प सयम मे सम्यक् उत्थान है और उस सकल्प को छोड़ना संयम से गिर जाना है। इस प्रकार वस्तुत· जब हम योग को सम रखते है, तभी हम सयम मे है।

सयम से ही विवेक जागता है। जब तुम योगों को सम रखोगे, तब सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का विकास होगा। यहॉ पर दर्शन का अर्थ दर्शनावरणीय का दर्शन, जैसे सिद्धो मे दो उपयोग है—ज्ञान और दर्शन। योगो को सम रखने से उन्हीं का विकास होता है और उनके विकास से सयम की परिपुष्टि होती है। इस प्रकार सयम और विवेक दोनो के मेल से अप्रमत्तता आती है। जिस दिन सयम सध जाता है, उस दिन विवेक पूर्णतः जागृत हो जाता है और परिणामस्वरूप व्यक्ति सम्पूर्णत· अप्रमत्त हो जाता है। यह तेरहवे गुणस्थान की अवस्था है। सातवे गुणस्थान को भी अप्रमत्त गुणस्थान कहा गया है, लेकिन वह स्थायी नही है। स्थायी रूप से अप्रमत्तता और पूर्णतः अप्रमत्तता तेरहवें गुणस्थान में आती है। इस प्रकार सयम और विवेक का परिणाम ही अप्रमत्तता है।

सयम से विवेक जागृति, विवेक जागने से अप्रमत्तता और वह अप्रमत्तता पुन· संयम को पुष्ट करती है। अत· सयम, विवेक और अप्रमत्तता तीनों को एक दूसरे का परिपूरक कह सकते हैं।

इस प्रकार तीनो ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, लेकिन प्रारभ होता है संयम से। यही साधना की धारा है। सयम से विवेक, फिर अप्रमत्तता।

संयम चारित्र का नाम है, अर्थात् चयन किए हुए कर्मो को रिक्त करने के लिए की जाने वाली क्रिया। विवेक-ज्ञान का बोधक है—आत्मज्ञान।

अप्रमत्तता—मोहनीय कर्म के क्षय होने का बोधक है। मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से पहले संयम आता है। सयम से विवेक आता है। विवेक-पूर्वक संयम का पालन करते रहने पर मोहनीय कर्म का विशेष रूप से क्षयोपशम होने से अप्रमत्तता आती है।

जैसे कोई कहता है कि सयम का क्या करना है, केवल जागरूक होना पर्याप्त है। लेकिन जागरूकता बिना सयम के आएगी कैसे? योग जब सम होगे। **सम-यम-योग** चचलता को छोड़कर जब हम सम होगे, तभी जागरूकता आएगी।

जागरूकता—अप्रमत्तता। अत. पहले सयम को साधें, उससे विवेक जागेगा। कई लोग विवेक का अर्थ केवल बुद्धि करते है, लेकिन वह तो विवेक का साधन रूप अश मात्र है, विवेक नहीं।

विवेक—विवेक अर्थात् योग-स्थिरता के द्वारा प्राप्त किया गया सम्यक् ज्ञान। जब तक पूर्णत. विवेक का जागरण नहीं होता है (पूर्णत· अर्थात् स्वज्ञान आश्रित विवेक-यतना), तब तक जैसा आगमो मे सम्यक् ज्ञान आचरण का वर्णन है, उस प्रकार चलना। यह है आगम-आश्रित विवेक-यतना। जब तक पूर्णत· स्व-ज्ञान का जागरण न हो जाए, तब तक भटकने की सभावना रहती है। उस समय आगम ज्ञान सम्बल देता है। इस प्रकार आगम ज्ञान भी उतना ही उपयोगी है, जितना स्व-ज्ञान। इस प्रकार दोनो ही एक दूसरे के परिपूरक है। इस प्रकार जो जितने अशो मे सयम और विवेक के द्वारा अप्रमत्तता को उपलब्ध हुआ है, वह उतना ही वीर है। **सम-यम-योग** स्थिरता को उपलब्ध होना ही वीरता है। कहा भी है, जिसने मन को जीत लिया उसने सब कुछ जीत लिया, बाकी तो क्या वीर क्या कायर। वह तो केवल शक्ति का टकराव है अहम् का टकराव है, हिंसा का मार्ग है।

मूलम्—जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडेत्ति पवुच्चई॥1/4/35

मूलार्थ—जो जीव प्रमादी और गुणार्थि है, वे जीव प्राणियों के लिए दण्ड का कारण होने से उन्हे दण्ड रूप कहा जाता है।

यह सूत्र पूर्व सूत्र से जुडा हुआ है। जो प्रमादी है और गुणार्थि है, वह निश्चय ही दण्ड रूप कहा जाता है। व्यक्ति प्रमादी कब होता है? पहले तो वह असयमी होगा, असयम से विवेक सो जाता है, तब प्रमाद आता है। जैसे सयम और विवेक का परिणाम है अप्रमत्तता, वैसे ही असयम और अयतना 'मिथ्याज्ञान' का परिणाम है, प्रमाद। उस प्रमाद के वशवर्ती गुणों के प्रति आकर्षण बढता चला जाता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं के लिए भी दण्ड रूप है एवं दूसरों के लिए भी। वह स्वय की आत्मा को भी दु:खी करता है और दूसरे जीवो को भी इनसे दु ख मिलता है। असंयम से विवेक सो जाएगा। विवेक के सोने से प्रमाद आता है। प्रमाद से व्यक्ति गुणार्थि बनता है। गुणार्थीपन—गुणों के प्रति आकर्षण से दु ख का आगमन, दु:ख का उपार्जन, स्व एव पर दोनो के लिए।

दु ख का आगमन वर्तमान सम्बन्धी, दु ख का उपार्जन भाविष्य सबधी। पर के लिए प्रमुख रूप से केवल दु ख का आगमन। दु:ख का उपार्जन हो भी सकता है और नही भी हो सकता।

परोपकार—दूसरो पर उपकार कब होगा? इस दुनिया मे सयम सर्वश्रेष्ठ उपकार है। क्योकि सयम से विवेक, विवेक से अप्रमत्तता, अप्रमत्तता से सुख का आगमन एव उपार्जन स्व एवं पर दोनो के लिए। सुख का आगमन पर के लिए प्रमुख रूप से, उपार्जन हो भी सकता है और नही भी हो सकता। इसीलिए जो सयम धारण करता है, वह सभी के उपकारों को चुका देता है। संयम धारण करने से वह सभी ऋणो से उऋण हो जाता है। वह स्वयं के लिए और दूसरों के लिए कल्याणरूप और मंगलरूप है।

जितना-जितना वह संयम मे बढेगा, उतना-उतना ऋण कम होता जाएगा। सयम लेने से संसार के सारे सम्बन्धो से वह मुक्त हो जाता है। फिर एक ही ऋण

बचेगा और वह है गुरु का एवं शासन का। इससे भी उऋण हो सकता है, जितना-जितना सयम का पालन करेगा, गुरु एव शासक के ऋण से मुक्त होता जाएगा। पूर्ण संयम सध जाने पर सारे ऋणो से उऋण हो जाता है। गुरुजनो से उऋण होने के लिए उन्हें संयम मे सहयोग करे या संयम मे स्थिर करे।

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं॥1/4/36

मूलार्थ—अग्निकाय के आरंभ से होने वाले अनर्थ को जानकर बुद्धिमान पुरुष इस बात का निश्चय करे कि प्रमाद के कारण मैं पहले अग्निकाय के आरभ को करता रहा हूँ, इस समय उसका परित्याग करता हूँ।

जिस आरभ को प्रमादवश मैने किया था, उसको अब नहीं करूँगा। प्रमाद की शुरूआत असंयम से होती है। योगो की चंचलता और कषाय-वश मैंने जो हिंसा की थी, कराई थी और अनुमोदना की थी, वह मन-वचन-काया से आगे न करूगा, न कराऊगा और न अनुमोदना करूगा (मुनिजनों की अपेक्षा) यह मूलत· व्रत लेने के पूर्व की भावना है। व्रत लेने से पूर्व व्यक्ति ऐसा सोचता है। या तो यो कहो इस भावना से युक्त होने पर ही व्रतों का आगमन होता है। जब उसे इस असयम के परिणाम का पता लगता है, अहसास होता है, तब व्यक्ति प्रतिक्रमित होता है, **प्रायश्चित्त** करता है, **निंदामि गरिहामी** करता है। तब उसके अन्तःकरण मे यह भावना आती है। यह आलोचना की भावना है। अतः यहॉ पर इस बात का संकेत भी है, प्रथम आलोचना की भावना और आलोचना, फिर व्रत ग्रहण एव संयम-पालन।

आलोचना तभी प्रभावकारी होती है, जब वह इस प्रकार ज्ञानपूर्वक आए, पश्चात्ताप-पूर्वक आए। इसके आगे का फल फिर सयम। अतः संयम-पालन में उत्सुक और सावधान व्यक्ति की ही वास्तविक आलोचना है। जो आलोचना केवल डरपूर्वक की जाती है, वह आलोचना नहीं है। अन्तत· संयम का अर्थ है, योगों को उपशान्त करना, स्थिर करना। ध्यान भी मनःसयम का एक रूप है।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे अग्निकायिक जीवों का वर्णन किया गया है और उसके आरम्भ-समारम्भ का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। इसी क्रम से प्रस्तुत उद्देशक मे वायुकाय का वर्णन करना चाहिए था। परन्तु यहां पर सूत्रकार ने वायुकाय के स्थान मे वनस्पतिकाय का विवेचन किया है। इस क्रम-उल्लघन का कारण यह है कि पांच स्थावरों मे वायुकाय चाक्षुष–चक्षुग्राह्य न होने से शिष्य की समझ मे जल्दी नहीं आ सकता। इसलिए पहले चारो स्थावरों एव त्रस का वर्णन करके, फिर वायुकाय का वर्णन करेगे। इससे यह लाभ होगा कि चार स्थावर एव त्रस जीवों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् वायु के स्वरूप को समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह शिष्य के हित को सामने रख कर प्रस्तुत उद्देशक मे वायुकाय के स्थान मे वनस्पति-कायिक जीवों का वर्णन किया गया है। उसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है–

मूलम्–तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं, विदित्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चई॥40॥

छाया–तत् नो करिष्यामि समुत्थाय मत्वा मतिमन्! अभयं विदित्वा, तं यो नो कुर्यात्, एष उपरतः, अत्रोपरतः एष अनगार इति प्रोच्यते।

पदार्थ–तं–उस वनस्पतिकाय का आरम्भ। **णो करिस्सामि**–नही करूंगा। **समुट्ठाए**–सम्यक् प्रव्रजित होकर। **मत्ता**–जीवादि पदार्थो को जानकर। **मइमं**–हे मतिमान् शिष्य! **अभयं**–सयम को। **विदित्ता**–जानकर। **तं**–उस वनस्पतिकाय के आरभ–हिसा को। **जे**–जो। **णो करए**–नही करता है। **एसोवरए**–वही उपरत-निवृत्त है। **एत्थोवरए**–जिन मार्ग में ही ऐसा त्यागी मिलता है, अन्यत्र नहीं। **एस**–यही त्यागी। **अणगारेत्ति**–अनगार। **पवुच्चई**–कहा जाता है।

मूलार्थ–हे शिष्य! जो व्यक्ति सर्वज्ञोपदिष्ट मुनिधर्म को स्वीकार करके तथा

जीवाजीव आदि पदार्थो को भली-भाति जान कर और सयम-साधना का सम्यक् परिबोध करके, यह निश्चय करता है कि मै वनस्पतिकाय का आरम्भ-समारभ नहीं करूंगा, वही व्यक्ति वनस्पतिकायिक जीवो के आरम्भ से उपरत–निवृत कहा जाता है और ऐसे त्यागनिष्ठ एव निवृत्ति-प्रधान जीवन की साधना जिन मार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती। ऐसे त्यागी साधक को ही अनगार कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्राणी अनन्त काल से मोह एवं वासना के घोर अन्धकार मे भटकता रहा है। अनेक तरह से विषयेच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करने पर भी उसकी इच्छा की तृप्ति नही हो पाती। तृष्णा की भूख नही बुझती। यो कहना चाहिए कि उसकी तृष्णा, आकाक्षा एव वासना की क्षुधा तृप्त होने के स्थान मे प्रतिपल बढती है और वह भोगेच्छा के वश होकर अनेक तरह से वनस्पतिकायिक जीवों की हिसा करता है। अपने विलास एव सुख के लिए रात-दिन विभिन्न प्रकार की हरितकाय–शाक-सब्ज़ी एव फल-फूलो के आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहता है। इस तरह प्रमाद एव मोह के वश में हुआ प्राणी वनस्पतिकाय की हिसा करके कर्मो का बन्ध करता है और फलस्वरूप दु ख एव जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है।

वनस्पतिकाय का आरम्भ दु ख की परम्परा में अभिवृद्धि करने वाला है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो बुद्धिमान पुरुष वनस्पतिकाय के आरभ-समारभ को तथा जीवाजीव आदि तत्त्वो का परिज्ञान कर के, सयम-मार्ग पर गति करता है, वही वनस्पतिकाय के आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होता हे और वही व्यक्ति दु ख-परम्परा का या यो कहिए कर्म-बीज का सर्वथा उन्मूलन कर देता है।

प्रस्तुत सूत्र ज्ञान और चारित्राचार के समन्वय का आदर्श लिए हुए है। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि चारित्र का मूल्य ज्ञान के साथ है। सम्यग् ज्ञान के अभाव मे की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप का आध्यात्मिक विकास या मोक्ष मार्ग की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है और यही कारण है कि प्रशसा एव भौतिक सुख पाने की इच्छा-आकाक्षा से अज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया एवं जप-तप बिना आकाक्षा के सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचरित त्याग-तप के सोलहवे अश के बराबर भी

नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने **'तं णे करिस्सामि'** के साथ **'मत्ता'** पद का उल्लेख किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार मे ज्ञान के साथ ही तेजस्विता आती है, चमक बढती है। अस्तु, ज्ञान और क्रिया या आचार और विचार का समन्वय ही मोक्ष-मार्ग है, अपवर्ग की राह है[1]।

ज्ञानपूर्वक किए जाने वाले त्याग को ही त्याग कहने के पीछे एक मात्र यही उद्देश्य रहा हुआ हे कि जब तक व्यक्ति वस्तु के हेय-उपादेय स्वरूप को भली-भांति नही जान लेता है, तब तक वह उसका परित्याग या स्वीकार नहीं कर पाता और कभी भावावेश या किसी प्रलोभन मे आकर त्याग कर भी देता है, तो उसका सम्यक्तया परिपालन नही कर पाता, क्योंकि उसके गुण-दोष एव स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है, भटक जाता है[2]। अस्तु त्याग के पूर्व जीवाजीव का ज्ञान होना जरूरी है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वनस्पति जीवो के आरम्भ-समारम्भ मे सर्वथा निवृत्त एव पूर्ण त्यागी मुनि जिन मार्ग मे ही उपलब्ध होते है, यह बात **"तत्थोवरए-एतस्मिन्नुपरतः"** पद से अभिव्यक्त की है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करत हुए लिखा है—**"एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र"** इसका तात्पर्य यह नही है कि जैनेतर सप्रदाय के साधु-मुनि त्यागी होते ही नही। हम इस बात को मानते हैं कि धन-वैभव एव गृहस्थ के त्यागी सन्त जैनेतर सप्रदायो में भी मिलते है और प्राय. सभी सप्रदायो के धर्म-ग्रन्थो में त्याग-प्रधान मुनि जीवन का विधान भी मिलता है। परन्तु आरम्भ-समारम्भ के कार्यो से जितनी निवृत्ति एव त्याग जिन मार्ग पर गतिशील मुनियो में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नही मिलता। यह हम पहले भी बता चुके हैं कि पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय जीवो की रक्षा मे सावधानी एव विवेक जैनेतर सप्रदाय के साधुओ में नही पाया जाता। अत. उत्कट त्यागवृत्ति को जीवन मे साकार रूप देने वाले तथा सावद्य कार्यो से सर्वथा निवृत्त साधुओ को

---

1 नाण किरियारहिय किरिया मेत्त च दोऽवि एगतो।
न समत्था दाउ जे जम्ममरण-दुक्ख-दाहाइ॥

2 इस बात को हम अग्निकाय के प्रकरण मे भगवती सूत्र का उदाहरण देकर स्पष्ट कर चुके है।

विशिष्ट त्यागी एव वास्तविक अनगार कहा जाए तो इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है और न किसी सम्प्रदाय के साधु की अवहेलना करने का ही भाव है।

"एस अणगारो त्ति पवुच्चई" का अर्थ है—जो साधक वनस्पतिकाय की हिसा से निवृत्त है, किसी भी प्राणी को भय नहीं देता है, वही अनगार कहा गया है।

अनगार के स्वरूप का वर्णन करके अब सूत्रकार ससार एवं ससार-परिभ्रमण के कारण के सम्बन्ध मे कहते है—

मूलम्—जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे॥41॥

छाया—यो गुणः स आवर्त्तः, य आवर्त्त. स गुणः।

पदार्थ—**जे**—जो। **गुणे**—शब्दादि गुण है। **से**—वही। **आवट्टे**—आवर्त्त—ससार है। **जे**—जो। **आवट्टे**—संसार है। **से**—वही। **गुणे**—गुण है।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण है, वास्तव में वही ससार है और जो संसार है, वास्तव में वही गुण है।

हिन्दी-विवेचन

यह ससार क्या है? इसके सबन्ध मे दार्शनिको एव विचारको के मन मे प्रश्न उठता रहा, तर्क-वितर्क होता रहा है। परन्तु ससार के वास्तविक स्वरूप को जानने मे सफलता नही मिली। प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने इसका वास्तविक समाधान किया है। सूत्रकार के शब्दो मे हम देख चुके है कि शब्दादि गुण ही ससार है और संसार ही गुण है। इस तरह ससार और गुण का पारस्पारिक कार्यकारण भाव है।

जो श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन पाचो इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श ये पाच विषय हैं, उन्हें गुण कहते है और आवर्त्त संसार का परिबोधक है—**आवर्त्तन्ते—परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्त.—संसारः'** अर्थात् जिसमें प्राणियो का आवर्त्त—परिभ्रमण होता रहे उसे आवर्त्त—ससार कहते है।

शब्दादि विषय ससार-परिभ्रमण के कारण है, क्योंकि इनसे कर्म का बन्ध होता है और कर्म-बन्ध के कारण आत्मा ससार मे परिभ्रमण करती है। इस तरह ये विषय या गुण ससार का कारण है और शब्दादि गुणो से कर्म बधते हैं, कर्म से आत्मा मे

गुणो की परिणति होती है। इस दृष्टि से गुणों को ससार कहा गया है और दोनो जगह कारण मे कार्य का आरोप होने से गुणो को ससार एव ससार को गुण कहा गया है।

वस्तुत· देखा जाए तो राग-द्वेष युक्त भावो से गुणों मे या विषयो में प्रवृत्ति करने का नाम ही ससार है। क्योकि ससार मे परिलक्षित होने वाली विभिन्न गतियां एव योनिया राग-द्वेष एव गुणो—विषयो की आसक्ति पर ही आधारित हैं। राग-द्वेष से कर्म बधते हैं, कर्म-बन्ध से जन्म-मरण का प्रवाह चालू रहता है और जन्म-मरण ही वास्तविक दु.ख है। इससे स्पष्ट हो गया कि ससार का मूल राग-द्वेष है, गुण है, विषय-विकार है।

'गुण' शब्द मे एक वचन का प्रयोग किया है। इससे गुण शब्द व्यक्ति से भी सवन्धित है। जब इसका सबन्ध व्यक्ति के साथ जोडते है, तो प्रस्तुत सूत्र का अर्थ होगा—जो व्यक्ति शब्दादि गुणो मे प्रवृत्त है, वह ससार में परिभ्रमणशील है और जो व्यक्ति ससार मे गतिमान है, वह गुणो मे प्रवृत्तमान है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि जो व्यक्ति गुणो मे प्रवृत्त है, वह ससार मे वर्तता है, यह कथन तो ठीक है, परन्तु जो ससार मे वर्तता है, वह गुणो में वर्तता है, यह कथन युक्ति-सगत प्रतीत नही होता, क्योकि सयमशील साधु ससार मे रहते हे परन्तु गुणो मे प्रवृत्ति नही करते। अत ससारवर्ती को नियम से गुणो में प्रवृत्तमान मानना उचित प्रतीत नही होता।

यह ठीक है कि यहा गुणो का अर्थ राग-द्वेष युक्त गुणो में प्रवृत्ति करने से लिया गया हे, क्योंकि गुणो मे प्रवृत्ति होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता, कर्म का बन्ध राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से होता है। यह सत्य हे कि सयम से बन्ध नही, कर्मो की निर्जरा होती है। परन्तु छठे गुणस्थान सयम के साथ जो सरागता है, उससे भी मे कर्म का बन्ध होता है। यह नितात सत्य है कि सावद्य कार्य मे प्रवृत्ति न होने के कारण पापकर्म का बन्ध नही होता, परन्तु धर्म, गुरु एव सत्य, अहिसा आदि सिद्धान्त पर सराग भाव होने से पुण्य का बन्ध होता है और इसी कारण छठे गुणस्थान मे देवलोक का आयु कर्म बधता है। देव-आयुष्य के बन्ध के चार कारणो मे सराग सयम को भी एक कारण बताया गया है और देवलोक भी ससार ही है। यह ठीक है कि छठे

गुणस्थान में प्रवृत्तमान साधु ससार को अधिक लम्बा नही बढ़ाता, परन्तु जब तक सरागता है, तब तक शुभ कर्म का अनुबन्ध तो करता ही है। इस अपेक्षा से वह ससार मे भी वर्तता हुआ गुणो मे भी प्रवृत्ति करता है।

यह सत्य है कि वीतराग, सयम मे प्रवृत्तमान साधु या सर्वज्ञ ससार मे प्रवर्तते हुए भी कर्म को नही बाधते और न स्वर्ग का द्वार ही खटखटाते है, क्योकि उन्होने राग-द्वेष का समूलत· उन्मूलन कर दिया है। राग-द्वेष कर्म-वृक्ष का बीज है, मूल है और जब बीज एव मूल ही नष्ट हो गया तब फिर कर्म की शाखा-प्रशाखा का पल्लवित, पुष्पित एव फलित होना तो असभव ही है। इस दृष्टि से उनके कर्मो का बन्ध नही होता। उनमे राग-द्वेष का अभाव होने के कारण उस रूप मे गुणो मे प्रवृत्ति नही होती। परन्तु जब तक योग का व्यापार चालू है, तब तक सामान्य रूप से तो गुणो में प्रवृत्ति होती है। बस, अन्तर इतना ही है कि राग-द्वेष युक्त जीवों के कर्म का बन्ध होता है और वीतराग पुरुषो के कर्म का बन्ध नही होता। या यो कहिए, उनकी प्रवृत्ति ऐसे गुणो मे नही होती जो कर्म-बन्ध के कारण है। अत· इस अपेक्षा से जो ससार मे प्रवर्तते है, वे गुणो मे प्रवृत्तमान है, ऐसा कहना अनुचित एव आपत्ति-जनक प्रतीत नही होता।

प्रस्तुत उद्देशक वनस्पतिकाय से सम्बन्धित है। अत इसमे वनस्पतिकायिक जीवो सम्बन्धी वर्णन होना चाहिए। फिर इसमे शब्दादि विषयो का अप्रासंगिक वर्णन क्यो किया गया?

प्रस्तुत उद्देशक मे शब्दादि गुणो का वर्णन ऊपर से अप्रासगिक प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक मे अप्रासगिक है नहीं। क्योकि शब्दादि गुणों की उत्पत्ति का मूल स्थान प्राय वनस्पतिकाय है, अर्थात् समस्त विषयों की पूर्ति वनस्पति से ही होती है। व्यवहार इस सत्य को स्पष्टतया प्रमाणित कर रहा है। जैसे अपनी मधुर ध्वनि से श्रोत्र इन्द्रिय को तृप्त करने वाली वीणा आदि विभिन्न वाद्यो का निर्माण वनस्पति से होता है। भव्य भवनो के निर्माण मे वनस्पतिकाय का प्रयोग होता ही है और उसके आधार स्तभो पर चित्रित मनोहर चित्र एव फर्नीचर से सुसज्जित कमरो को देखते हुए आखे थकती नही। घ्राण इन्द्रिय को तृप्त करने वाले केसर, चन्दन तथा विभिन्न रग-विरगे सुवासित फूल वनस्पति के ही अनेक रूप है। जिह्वा के स्वाद की तृप्ति

करने वाले विविध व्यजन एव पकवान वनस्पति से ही बनते है। और स्पर्श इन्द्रिय को सुख पहुचाने वाले तथा शीत-ताप से बचाने एव सुशोभित करने वाले विभिन्न रंग एव आकार के सूत के बने वस्त्र वनस्पति की ही देन है। इस प्रकार जब हम गहराई से सोचते-विचारते है, तो स्पष्ट हो जाता है कि शब्दादि विषयो का वनस्पति के साथ सीधा सबन्ध है। अत वनस्पति के प्रकरण मे उसका वर्णन उचित एव प्रासगिक ही है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ससार-परिभ्रमण के कारणभूत ये शब्दादि विषय किसी एक नियत दिशा मे उत्पन्न होते है या सभी दिशाओ मे उत्पन्न होते है? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—उड्ढं, अहं[1] तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि॥42॥

छाया—उर्ध्वमधस्तिर्यक् प्राचीन पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति, ऊर्ध्वमधः प्राचीन मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि।

पदार्थ—उड्ढं—ऊची दिशा। अहं—नीची दिशा। **तिरियं**—तिर्यक् दिशा चारो दिशा-विदिशाए इनमे तथा। **पाईणं**—पूर्वादि दिशाओ में। **पासमाणे**—देखता हुआ। **रूवाइं**—रूपों को। **पासति**—देखता है, और। **सुणमाणे**—सुनता हुआ। **सद्दाइं**—शब्दो को। **सुणेति**—सुनता है, तथा। उड्ढं—ऊंची दिशा। **अहं**—नीची दिशा मे। **पाईणं**—पूर्वादि दिशाओ मे। **मुच्छमाणे**—मूर्छित होता हुआ। **रूवेसु**—रूपो मे। **मुच्छति**—मूर्छित होता है। **च**—और। **सद्देसु**—शब्दों मे मूर्छित होता है। **आवि**—संभावना या समुच्चयार्थ मे है, इससे गन्ध, रस, स्पर्श आदि विषयो को ग्रहण किया जाता है।

मूलार्थ—ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् एव पूर्वादि दिशाओ में रूप को देखता हुआ देखता है तथा शब्दो को सुनता हुआ श्रवण करता है, तथा इन ऊर्ध्व आदि दिशाओं मे मूर्च्छित होकर रूप एव शब्दो मे आसक्त एव मूर्च्छित होता है और इसी तरह गध, रस एव स्पर्श मे भी मूर्च्छित होता है।

1 'अव' इति पाठान्तरम्।

हिन्दी-विवेचन

शब्द आदि विषय किसी एक दिशा मे उत्पन्न नही होते, ऊर्ध्व-अधो और पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशा-विदिशा मे उत्पन्न होते है और जीव ऊपर-नीचे, दाए, बाए चारों ओर रूप-सौन्दर्य का अवलोकन करता है, शब्दो को सुनता है, गन्ध को सूघता है, रसो का आस्वादन करता है तथा विभिन्न पदार्थो का स्पर्श करता है और इन्हे देख-सुन कर या सूघ-चख कर या स्पर्श कर अनेक जीव उन विषयो मे आसक्त हो जाते है, मूर्च्छित होने लगते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे दो बाते बताई गई है। एक तो विषयो का अवलोकन करना उन्हे ग्रहण करना और दूसरे मे उन अवलोकित विषयो मे आसक्त होना, राग-द्वेष करना। इन दोनो क्रियाओं मे बडा अतर है। जहां तक अवलोकन का या ग्रहण करने का प्रश्न है, वहा तक ये विषय आत्मा के लिए दु ख रूप नही बनते, कर्म-बन्ध का कारण नही बनते। यदि मात्र देखने एव ग्रहण करने से ही कर्म-बन्ध माना जाएगा तब तो फिर कोई भी जीव कर्म-बन्ध से अछूता नही रह सकता। ससार मे स्थित सर्वज्ञो की बात छोडिए, सिद्ध भगवान भी विषयो का अवलोकन करते है, क्योकि उनका निरावरण ज्ञान लोकालोक के सभी पदार्थो को देखता-जानता है और सिद्ध भी विषयों को ग्रहण करते (जानते) हैं। अत यदि विषयो को ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध होता हो, तो फिर वहा भी कर्म-बन्ध मानना पडेगा ओर वहा कर्म का बन्ध होता नही। सिद्ध अवस्था मे तो क्या तेरहवे गुणास्थान मे भी कर्म-बन्ध नही होता। इससे स्पष्ट है कि विषयो को देखने एव ग्रहण करने मात्र से कर्म का बन्ध नही होता और न देखने मात्र से ससार-परिभ्रमण का प्रवाह ही बढता है।

कर्म-बन्ध का कारण उन विषयो को ग्रहण करना मात्र नही, अपितु उनमे आसक्त होना है, अर्थात् उनमे राग-द्वेप करना है। हम पहले देख चुके है कि कर्म-बन्ध का मूल राग-द्वेप एव आसक्ति है। इसी वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्मो के साथ आबद्ध होकर ससार मे परिभ्रमण करती है और विभिन्न विषयो मे आसक्त होकर शुभाशुभ कर्मो का उपार्जन करके स्वर्ग-नरक आदि गतियों का चक्कर काटती है। इसी बात को सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र मे **"मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति"** वाक्य के द्वारा

अभिव्यक्त किया है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्म-बन्ध का कारण विषयो का अवलोकन एव ग्रहण मात्र नही, प्रत्युत उसमे रही हुई आसक्ति है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए॥43॥

छाया—एष लोकः व्याख्यातः अत्र अगुप्तः अनाज्ञायाम्।

पदार्थ—एस—यह पाच विषय रूप। **लोए**—लोक। **वियाहिए**—कहा गया है। **एत्थ**—इसमे जो। **अगुत्ते**—अगुप्त है अथवा शब्दादि विषयों मे आसक्त हो रहा है, वह। **अणाणाए**—आज्ञा मे नही है।

मूलार्थ—शब्दादि पाच विषयरूप लोक कहा गया है। जो जीव मन-वचन और काय को विषयो से गोप कर नही रखता है, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयो मे अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मे नही है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में शब्दादि पांच विषयो को लोक कहा है। जो व्यक्ति मन-वचन और शरीर से विषयो मे आसक्त है, उसे अगुप्त कहा है। मन से विषयो का चिन्तन करना, वाणी से उन्हे प्राप्त करने की प्रार्थना करना और शरीर से उन्हे पाने का प्रयत्न करना, यह त्रियोग की अगुप्तता है। जिस व्यक्ति के तीनो योग विषयो में ही लगे रहते है, उसे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा में नही कहा है।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीतराग भगवान की आज्ञा विषयो मे आसक्त होने की नही है, अथवा त्रियोग को विषयो से गुप्त—गोपन करके रखने की है। कारण यह है कि विषयो मे आसक्त व्यक्ति रात-दिन ससार मे ही उलझा रहता है और इस कारण वह सयम की सम्यक् साधना-आराधना नही कर सकता। जिनेश्वर भगवान की आज्ञा सयम—साधना की है, न कि ससार बढाने की। इस अपेक्षा से शब्दो मे आसक्त व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह जिनेश्वर भगवान की आज्ञा मे नही है।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे॥44॥

छाया—पुनः पुनः गुणास्वादः वक्रसमाचारः।

पदार्थ—पुणो-पुणो—बार-बार। **गुणासाए**—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने से वह। **वंक समायारे**—असयम का सेवन करने वाला हो जाता है।

मूलार्थ—बार-बार शब्दादि गुणो का आस्वादन करने से व्यक्ति असंयम मे प्रवृत्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम ऊपर देख चुके है कि जो शब्दादि विषयो मे आसक्त रहता है, वह संयम से दूर ही रहता है, क्योकि उसके त्रियोग की प्रवृत्ति विषयों मे होने से वह रात-दिन रूप-रस का आस्वादन करने मे ही सलग्न रहता है। उसका मन सदा विषयो के चिन्तन-मनन मे लगा रहता है और वचन की प्रवृत्ति भी विषय-सुख की ओर लगी रहती है और शरीर मे भी विषयो का आनन्द लेने मे अनुरक्त होने के कारण उसका आचार सम्यक् नही रहता। इसी कारण सूत्रकार ने विषयो मे आसक्त व्यक्ति को **"वक समायारे"** वक्र अर्थात् कुटिल आचारयुक्त कहा है। **'वंक समायारे'** शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने कहा है—

"वक्र—असयम· कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरण समाचार·-अनुष्ठानं, वक्र समाचारो यस्यासौ वक्रसमाचार असयमानुष्ठायीत्यर्थः"

अर्थात्—नरकादि गति के हेतुभूत असमय का ही दूसरा नाम वक्रसमाचार है।

इससे स्पष्ट हुआ कि शब्दादि विषयो मे आसक्त व्यक्ति असयम मे प्रवृत्त होता है। असयम मे प्रवृत्त होने से उसका परिणाम क्या होता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—पमत्तेऽगारमावसे॥45॥

छाया—प्रमत्तोऽगारमावसति।

पदार्थ—पमत्ते—प्रमादी—विषयों मे आसक्त व्यक्ति। **आगारमावसे**—घर मे जा बसता है।

मूलार्थ—विषयो में आसक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर में निवास करने लगता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे विषयो मे आसक्त रहने वाले साधु की क्या स्थिति होती है, इस बात का स्पष्ट निरूपण किया गया है। जो साधक त्रियोग का गोपन नहीं करके, विषयो मे प्रवृत्त रहता है, वह सयम से पराङ्मुख होकर घर-गृहस्थ मे फिर से जा फसता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य वेश का परित्याग न करने पर भी उसे भाव साधुत्व के अभाव मे गृहस्थ कहा है। क्योकि उसकी भावना सयम से, साधुता से विमुख हो चुकी है, इसलिए सूत्रकार ने उसके लिए 'आगारमावसे, शब्द का प्रयोग किया है।

जव हम आध्यात्मिक दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र पर विचार करते है, तो गृहवास का अर्थ होता है—क्रोध, मान, माया, लोभ एव राग-द्वेष रूप अध्यात्म दोषों में निवास करना और प्रमत्त व्यक्ति या शब्दादि विपयों मे आसक्त व्यक्ति की प्रवृत्ति सदा गग-द्वेप एव कषायो मे होती है। अत· वह द्रव्य से घर नहीं रखते हुए भी सदा घर मे ही निवास करता है। उसका कषाय-युक्त घर सदा उसके साथ रहता है।

इसलिए साधक को विपयो मे आमक्त नही रहना चाहिए। विषयों मे आसक्त नही रहने का स्पष्ट अर्थ हे कि वनस्पतिकायिक जीवो के आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त नही होना चाहिए। जो विपयो मे आसक्त रहता है, वह वनस्पति के आरभ में भी सलग्न रहता है और इस कारण उसे साधु न कहकर गृहस्थ कहा है। परन्तु जैनेतर सप्रदायो मे इसके विपरीत कहा गया है, उनकी मान्यता क्या है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणण पूयणाए जाइ-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं

समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोच्चा भगवओ अणगाराणं व अतिए इहमेगेसिं णायं भवति-एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गड्डिए लोए, जमिणं, विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइ कम्म-समारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥46॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः यदिदं विरूपरूपै· शस्त्रै· वनस्पतिकर्मसमारंभेण वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणोऽन्यान नेकरूपान् प्राणिन· विहिंसन्ति। तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनार्थ, जाति-मरण-मोचनार्थ, दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा वनस्पति-शस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते तत् तस्याहिताय, तत् तस्याबोधये। स तत् संबुध्यमान· आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषा ज्ञातं भवति, एष खलु ग्रन्थ·, एष खलु मोहः, एष खलु मार·, एष खलु नरक·। इत्येवार्थ गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारम्भेण, वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणाः अन्याननेकरूपान् प्राणिन· विहिसति।

पदार्थ—**लज्जमाणा**—लज्जा करते हुए। **पुढो**—विभिन्न वादियों को। **पास**—तू देख। **एगे**—कुछ एक व्यक्ति। **अणगारामोत्ति**—हम अनगार है, इस प्रकार। **पवदमाणा**—बोलते हुए। **जमिणं**—जो ये। **विरूवरूवेहिं**—अनेक तरह के। **सत्थेहिं**—शस्त्रों से। **वणस्सइ-कम्मसमारम्भेण**—वनस्पति-कर्म-समारभ से। **वणस्सइ-सत्थं**—वनस्पति-शस्त्र का। **समारंभमाणा**—समारम्भ करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसंति**—हिंसा करते हैं। **तत्थ**—वहां वनस्पति के विषय मे। **भगवया**—भगवान ने। **परिण्णा पवेदिता**—परिज्ञा विशिष्ट ज्ञान प्रतिपादन किया है। **चेव**—समुच्चय और अवधारण अर्थ मे है। **इमस्स**—इस। **जीवियस्स**—जीवन के लिए। **परिवंदण-माणण- पूयणाए**—प्रशसा, मान एव पूजा

की अभिलाषा से। **जाई-मरण-मोयणाए**—जन्म-मरण से मुक्त होने की आकाक्षा से। **दुक्खपडिघायहेउं**—दुःख से छुटकारा पाने हेतु। **से**—वह। **सयमेव**—स्वयमेव। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति के शस्त्र से। **समारंभइ**— वनस्पतिकाय का समारभ करता है। **वा**—अथवा। **अण्णेहिं**—अन्य से। **वणस्सइ-सत्थ**—वनस्पति शस्त्र से। **समारम्भावेइ**—समारभ करता है। **वा**—अथवा। **वणस्सइ सत्थं**—वनस्पति शस्त्र से। **समारभमाणे**—आरम्भ करने वाले। **अण्णे**—अन्य व्यक्ति को। **समणुजाणइ**—अच्छा जानता है। **तं**—यह वनस्पतिकाय का आरभ। **से**—उसको। **अहियाए**—अहितकर है। **तं**—यह। **से**—उसको। **अबोहीए**—अबोध का कारण है। **से**—वह। **तं**—उस आरम्भ के स्वरूप को। **संबुज्झमाणे**—भली-भाति समझकर। **आयाणीय**—सम्यग् दर्शन-ज्ञान और चारित्र को। **समुट्ठाय**—स्वीकार करके। **भगवओ**—भगवान। **वा**—अथवा। **अणगाराण**—अनगारो के। **अन्तिए**—समीप में। **सोच्चा**—सुनकर। **इह**—इस लोक मे। **एगेसि**—किसी-किसी व्यक्ति को। **णायं भवति**—ज्ञात हो जाता है कि। **एस**—यह आरभ। **खलु**—निश्चय रूप से। **गंथे**—अष्ट कर्मो की गाठ है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मोहे**—मोहे रूप है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **मारे**—मृत्यु का कारण है। **एस खलु**—यह निश्चय ही। **णरए**—नरक का कारण है। **इच्चत्थ**—इस प्रकार अर्थ-विषय-वासना मे। **गड्ढिए**—आसक्त वना हुआ। **लोए**—लोक-प्राणी समूह। **जमिणं**—जिससे कि यह। **विरूवरूवेहि**—विभिन्न प्रकार के। **सत्थेहि**—शस्त्रों से **वणस्सइ-कम्मसमारंभेण**—वनस्पति-कर्म समारभ से। **वणस्सइ-सत्थं**—वनस्पति शस्त्र से। **समारंभमाणे**—आरम्भ करता हुआ। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियों की। **विहिंसति**—हिसा करता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! तू सावद्य-अनुष्ठान से लज्जावान विभिन्न मत वाले व्यक्तियो को देख। जो अपने आपको अनगार कहते हुए भी विभिन्न शस्त्रो से तथा वनस्पति-कर्म-समारभ से वनस्पतिकायिक जीवो की तथा वनस्पति के आश्रय में रहे हुए अन्य द्वीन्द्रियादि प्राणियों की हिसा करते हैं। भगवान ने अपने विशिष्ट ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है कि वे नाशवान जीवन के लिए, प्रशंसा-मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से, जन्म-मरण से मुक्त होने की आकाक्षा से तथा मानसिक एवं शारीरिक दुःखों से छुटकारा पाने हेतु स्वयं वनस्पतिकाय का आरंभ

करते है, दूसरो से कराते है तथा आरभ करते हुए व्यक्ति का समर्थन करते हैं। उनके लिए यह आरभ अहित और अबोध का कारण होता है, इस प्रकार स्वय भगवान या अनगारो के पास से वनस्पतिकायिक आरभ के अनिष्ट फल को सुनकर सम्यक् श्रद्धा के बोध को प्राप्त हुआ व्यक्ति यह जान लेता है कि यह वनस्पतिकाय का आरभ अष्ट कर्मो की गाठ रूप है, मोह रूप है, मृत्यु का कारण है और नरक का कारण है।

फिर भी विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति विभिन्न शस्त्रो के द्वारा और वनस्पति कर्म से वनस्पतिकायिक जीवो का तथा उसके आश्रय मे स्थित अन्य त्रस एव स्थावर अनेक जीवो की हिसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

इस विषय का वर्णन पृथ्वीकाय एव अप्काय के प्रकरण मे विस्तार से कर चुके है, उसीके अनुसार यहा भी समझना चाहिए, अन्तर इतना है कि पृथ्वी एव अप् की जगह वनस्पति समझना चाहिए।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वनस्पति सजीव है। फिर भी कुछ लोगो की समझ मे नही आता। इसलिए सूत्रकार कुछ हेतु देकर वनस्पति की सजीवता प्रमाणित करते हुए कहते है—

मूलम्—से बेमि इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं, इमंपि वुड्ढिधम्मय, एयंपि वुड्ढिधम्मयं, इमंपि चित्तमतयं, एयंपि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं मिलाइ, एयंपि छिण्णं मिलाइ, इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं, इमंपि अणिच्चय एयंपि अणिच्चयं, इमंपि असासयं एयंपि असासयं, इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं, इमंपि विपरिणाम-धम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं॥47॥

छाया—सः [अह] ब्रवीमि इदमपि जातिधर्मकम्, एतदपि जातिधर्मकम्, इदमपि वृद्धिधर्मकम्, एतदपि वृद्धिधर्मकम्, इदमपि चितवत्, एतदपि चितवत्, इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्न म्लायति, इदमप्याहारकम्, एतदप्याहारकम्, इदमप्यनित्यम्, एतदप्यनित्यम्, इदमप्याशाश्वतम्, एतदप्याशाश्वतम्, इदम-

पिचयापचयिकम्, एतदपिचयापचयिकम्, इदमपि विपरिणामधर्मकम्, एतदपि विपरिणामधर्मकम्।

पदार्थ—से—तत्त्व का परिज्ञाता। **बेमि**—मैं कहता हूँ। **इमंपि जाइधम्मयं**—यह मनुष्य शरीर जैसे जाति-जन्म धर्म वाला है, ठीक उसी तरह। **एयंपि जाइधम्मयं**—यह वनस्पतिकायिक शरीर भी जन्म धर्म वाला[1]। **इमंपि वुड्ढिधम्मयं**—जैसे मनुष्य शरीर वृद्धि धर्म वाला है, वैसे ही। **एयंपि वुड्ढिधम्मयं**—वनस्पति का शरीर भी वृद्धि धर्म वाला है। **इमंपि चित्तमंतयं**—जैसे मनुष्य शरीर चेतना युक्त है, वैसे ही। **एयंपि चित्तमंतय**—वनस्पति का शरीर भी चेतना सयुक्त है। **इमंपि छिण्णं मिलाइ**—जैसे मनुष्य का छेदन किया हुआ—काटा हुआ शरीर मुर्झा जाता है, वैसे ही। **एयंपि छिण्णं मिलाइ**—वनस्पति का छेदन किया हुआ शरीर मुर्झा जाता है। **इमंपि आहारगं**—जैसे मनुष्य आहार करता है, वैसे ही। **एयंपि आहारगं**—वनस्पतिया भी आहार करती है। **इमंपि अणिच्चय**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अनित्य है, उसी तरह। **एयपि अणिच्चय**—वनस्पति का शरीर भी अनित्य है। **इमंपि असासयं**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर अशाश्वत है, उसी तरह। **एयंपि असासय**—वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है। **इमपि चओवचइयं**—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर चय और उपचय वाला है, उसी तरह। **एयंपि चओवचइय**—वनस्पति का शरीर भी चय-उपचय युक्त है। **इमंपि विपरिणाम धम्मयं**—जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणाम धर्म वाला-अनेक तरह के परिवर्तनो से युक्त है, वैसे ही। **एयंपि विपरिणामधम्मय**—वनस्पति का शरीर भी परिणमनशील है, अर्थात् विभिन्न प्रकार से बदलने वाला है।

मूलार्थ—हे जम्बू! वनस्पतिकाय मे प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाली चेतना के विषय मे अब मै तुम से कहता हूं—जिस प्रकार मनुष्य का शरीर जन्म धारण करने वाला है, बढता है, चेतना युक्त है, छेदने या काटने पर मुर्झा जाता है, आहार करता है, अनित्य और अशाश्वत है, चय-उपचय वाला है, परिवर्तनशील है, ठीक उसी तरह वनस्पतिकाय का शरीर भी उक्त सभी धर्मो से युक्त है।

---

1 प्रस्तुत प्रकरण मे प्रथम 'अपि' शब्द यथा के अर्थ मे और दूसरा 'अपि' शब्द समुच्चय अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में वनस्पति की सजीवता को सिद्ध करने के लिए उसकी मनुष्य शरीर के साथ तुलना की गई है और यह स्पष्ट कर दिया है कि जो धर्म या गुण मनुष्य के शरीर मे पाए जाते है, वे ही धर्म वनस्पति के शरीर मे भी परिलक्षित होते है।

मनुष्य शरीर की चेतना प्राय सभी विचारको को मान्य है। अत उसमे उपलब्ध समस्त लक्षण वनस्पति मे भी स्पष्ट दिखाई देते है और ये लक्षण उन्ही मे पाए जाते है, जो सजीव है। निर्जीव पदार्थो मे ये गुण नही पाए जाते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन गुणो का चेतना के साथ अविनाभाव सबन्ध है। क्योंकि जिस शरीर में चेतना होती है, वहा उक्त लक्षणो का सद्भाव होता है और जहा चेतना नही होती है, वहा उनका भी अभाव होता है। यथा—जहा धूम होता है वहा अग्नि अवश्य होती है। इसी न्याय से पर्वत या दूरस्थ स्थान पर स्थित अग्नि न दिखाई देने पर भी धूम को देख कर अनुमान-प्रमाण से यह निश्चय कर लेते है कि उस स्थान पर अग्नि है। क्योकि धूम और अग्नि का साहचर्य है, अविनाभाव सबन्ध है, अर्थात् यो कहिए कि धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना नही होता। इसी तरह उक्त लक्षणो एव सजीवता का अविभाज्य सम्बन्ध है। जहॉ उक्त लक्षण होंगे, वहॉ सजीवता अवश्य होगी। इसी न्याय से वनस्पति की सजीवता को हम भली-भाति जान एव समझ सकेंगे।

हम देखते है कि मनुष्य माता के गर्भ से जन्म धारण करता है और जन्म के पश्चात् प्रतिक्षण अभिवृद्धि करता हुआ बाल, युवा एव वृद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। उसी तरह वनस्पति भी योग्य मिट्टी, पानी वायु एव आतप का सयोग मिलने पर बीज मे से अकुरित होती है और क्रमशः बढ़ती हुई बाल्य, यौवन एवं वृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। पेड-पौधो एव लताओ में यह क्रम स्पष्ट दिखाई देता है।

मनुष्य और वनस्पति दोनो के शरीर मे चेतना भी समान रूप से है। चेतना का लक्षण या गुण ज्ञान है और ज्ञान का अस्तित्व दोनो मे पाया जाता है। कुछ पौधो की क्रियाओ के सम्बन्ध मे देखते-पढते है, तो उससे उनमें भी ज्ञान के अस्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। जैसे धात्री और प्रपुन्नाट आदि वृक्ष सोते भी है और जागृत भी

होते हैं। वे अपनी जड़ो मे गाडे हुए धन को सुरक्षित रखने के लिए अपनी शाखा-प्रशाखाओ को फैलाकर उस स्थान को आवृत्त कर देते हैं। और वर्षा-काल मे मेघ की गर्जना सुनकर तथा शिशिर ऋतु में शीतल वायु का संस्पर्श पाकर अकुरित हो उठते हैं। बास का पौधा भी मेघ की गर्जना सुनकर अकुरित होता है। और मद-विकृत कामिनी के पैर का सस्पर्श पाकर अशोक वृक्ष हर्षातिरेक से पल्लवित एव पुष्पित होता है, पुरुष के हाथ का सस्पर्श पाते ही लाजवन्ती का सुकोमल पौधा अपने आप को सकोच लेता है, उसके पत्ते सिकुड़ जाते है। इस बात को भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र वोस ने वैज्ञानिक साधनो के द्वारा प्रत्यक्ष मे दिखा दिया था कि कुछ पोधे अपनी प्रशसा से आकर्षित होकर प्रफुल्लित हो उठते है और निन्दा-तिरस्कार के शब्दो से प्रभावित होकर मुर्झा जाते है। ये सब क्रियाए वनस्पति मे भी ज्ञान के अस्तित्व को सिद्ध करती है, क्योंकि ज्ञान के अभाव मे ऐसा हो नही सकता। इससे वनस्पति में भी ज्ञान हे, ऐसा मानना चाहिए।

मनुष्य के हाथ-पैर आदि किसी भी अग-उपाग को काट देते है, तो वह अग मुर्झा जाता है। उसी तरह वनस्पति का काटा हुआ हिस्सा भी कुम्हला जाता है, म्लान हो जाता है। इस तरह छेदन क्रिया से भी दोनों के अगो की समान स्थिति होती है।

आहार की अपेक्षा से भी दोनों मे समानता है। जैसे मनुष्य को समय पर पौष्टिक एव अच्छा आहार मिलता रहे तो स्वस्थ एव बलवान रहता है, उसी प्रकार वनस्पति को भी अनुकूल हवा, पानी, प्रकाश, मिट्टी एव खाद मिलती रहे तो वह भी पल्लवित-पुष्पित एव विकसित होती रहती है। प्रतिकूल आहार मिलने पर उसे भी रोग हो जाता है और उस रोग को औषध के द्वारा मिटाया भी जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि मनुष्य तो आहार करता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है, परन्तु वनस्पति स्पष्ट रूप से आहार करती हुई नही दीखती। फिर वह आहार कैसे करती है?

इसका समाधान करते हुए आगम मे बताया गया है कि वनस्पति का मूल पृथ्वी से सबद्ध है, अत वह पृथ्वी से आहार लेकर उसे अपने शरीर के रूप मे परिणमन करती है। मूल से स्कन्ध सबद्ध है, इसलिए वह मूल से आहार ग्रहण करके उसे अपने शरीर के रूप में परिणत करती है। इसी तरह शाखा, प्रशाखा, पत्ते, फूल, फल एव

बीज अपने अपने पूर्व से सबद्ध हैं, और वे उनसे आहार लेकर अपने शरीर रूप में परिणत करते है। इस तरह वनस्पतिकाय क्रम-पूर्वक आहार करती है। जैसे मनुष्य थाली मे से भोजन का एक ग्रास हाथ मे उठाकर मुंह मे रखता है, फिर दात चर्वण करते है, जिह्वा आदि अवयव उसे गले मे पहुचाते है, वहा से नीचे उतर कर पेट मे पहुचता है और वहा उसका रस, खून, वीर्य आदि पदार्थ बनकर शरीर मे यथास्थान पर पहुच जाते है, उसी तरह वनस्पतिकाय के जीव भी मूल के द्वारा पृथ्वी से आहार ग्रहण करते है, फिर मूल से स्कध और स्कध से शाखा-प्रशाखा, पत्र पुष्प, फल और अपने-अपने पूर्व से ग्रहण कर लेते है। इस तरह वनस्पतिकायिक जीव भी आहार करते है ओर उसी के आधार पर अपने शरीर का निर्माण करते है[1]।

मनुष्य ओर वनस्पतिकाय दोनों का शरीर अनित्य एव अशाश्वत—अस्थिर है। दोनो के शरीर मे चय-उपचय होता रहता है। प्रतिकूल एव अनुकूल आहार एव वातावरण से दोनो के शरीर मे ह्रास एव परिपुष्टता देखी जाती है। दोनो के शरीर में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी होते रहते है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति मे भी चेतना है। आज के वैज्ञानिक युग मे तो किसी प्रकार के सदेह को अवकाश ही नही रहा। भारतीय प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक साधनो से जनता एव वैज्ञानिको को वनस्पति की सजीवता को प्रत्यक्ष दिखा दिया था। इससे जैनागम की मान्यता परिपुष्ट होती है और साथ मे यह भी प्रमाणित होता है कि जैनागम सर्वज्ञ के उपदिष्ट है। डॉ बोस ने भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट बात को वैज्ञानिक साधनो से प्रत्यक्ष दिखाकर विश्व के वैज्ञानिको को वनस्पति मे चेतनता मानने के लिए बाध्य कर दिया, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र है।

---

1 से नूण भन्ते! मूला मूल जीव फुडा, कदा कद जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा? हता गोयमा! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा। जइण भते! मूला मूल जीव फुडा जाव बीया बीय जीव फुडा कम्हा ण भते! वणस्सइ काइया आहारेति कम्हा परिणामेति? गोयमा मूला मूल जीव फुडा पुढवि जीव पडिबद्धा तम्हा आहारेति, तम्हा परिणामेति। एव जाव बीया बीय जीव फुडा फल जीव पडिबद्धा तम्हा आहारेति, तम्हा परिणामेति।

भगवती सूत्र, शतक 7, उद्देशक 3

इस तरह यह स्पष्ट हो गया कि वनस्पति सजीव है। अत उसका आरम्भ करने से पाप-कर्म का बन्ध होगा और ससार-परिभ्रमण बढेगा, इसलिए साधु को उसके आरम्भ-समारम्भ का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वणस्सतिसत्थ-समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे, त्ति बेमि॥48॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भाः अपरिज्ञाताः भवन्ति। अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पति शस्त्र समारभेत्, नैवान्यैर्वनस्पति शस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते वनस्पतिशस्त्र-समारम्भा· परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**एत्थ**—इस वनस्पनिकाय के विषय मे। **सत्थं**—शस्त्र का। **समारंभ-माणस्स**—समारभ करने वाले को। **इच्चेते**—ये सब। **आरंभा**—आरभ-समारभ। **अपरिण्णाया**—अपरिज्ञात। **भवंति**—होते है। **एत्थ**—इन वनस्पतिकाय के विषय मे। **सत्थं**—शस्त्र का। **असमारम्भमाणस्स**—समारम्भ नही करने वाले को। **इच्चेते आरम्भा**—ये सब आरम्भ। **परिण्णाया-भवन्ति**—परिज्ञात होते है। **तं परिण्णाय**—उस आरम्भ का परिज्ञान करके। **मेहावी**—यह बुद्धिमान पुरुष। **णेव सयं**—न तो स्वयं। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारंभेज्जा**—आरम्भ करे। **णेवण्णेहिं**—न अन्य से। **वणस्सइसत्थं**—वनस्पति शस्त्र का। **समारंभावेज्जा**—समारम्भ करावे। **णेवण्णे**—और न अन्य व्यक्ति का, जो। **वणस्सइ सत्थ समारंभंते**—वनस्पति शस्त्र का आरम्भ कर रहा है। **समणुजाणेज्जा**—समर्थन ही करे। **जस्सेते**—जिसको ये। **वणस्सइसत्थंसमारंभा**—वनस्पति शस्त्र समारम्भ। **परिण्णाया भवंति**—परिज्ञात

होते है। **से हु मुणी**—वही मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञाताकर्मा है। **त्तिबेमि**—ऐसा मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति द्रव्य और भाव शस्त्र से वनस्पतिकाय का आरभ करते है, वे इन आरभो से अपरिज्ञात होते है और जो वनस्पति का आरम्भ नही करते, वे इन आरभो से परिज्ञात होते है। अत वे बुद्धिमान पुरुष न तो स्वय वनस्पतिकायिक जीवो का आरम्भ करते है, न अन्य व्यक्ति से आरम्भ कराते है और न आरंभ करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन ही करते है। जिस मुमुक्षु ने इन आरम्भ-समारम्भ के कार्यो को भली-भाति जान कर त्याग दिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, ऐसा मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या पृथ्वीकाय, अप्काय के अध्ययन के अतिम सूत्र की व्याख्या मे विस्तार से कर चुके हैं। अत. यहा चर्वित-चर्वण करना उपयुक्त न समझ कर विशेष विवेचन नही कर रहे है। पाठक यथास्थान देख ले।

ति बेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥शस्त्रपरिज्ञा पंचम उद्देशक समाप्त॥

अध्यात्मसार : 5

मूलम्—एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए॥1/5/43

मूलार्थ—शब्दादि पॉच विषय-रूप को लोक कहा गया है। जो जीव मन-वचन और काय को विषयो से गोप कर नही रखता है, अर्थात् जो व्यक्ति शब्दादि विषयो मे अनुरक्त रहता है, वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मे नही है।

जो जीव मन-वचन एवं काया को गोपन करके नही रखता, वह भगवान की आज्ञा मे नही है। जब भी किसी के चारित्र की पडिवाई होती है, तब वह इन-इन अवस्थाओ से गुजरता है। ये तीन सूत्र इसी संबध में है।

जो साधु अपनी इन्द्रियो को वश मे नही करता, वह भगवान की आज्ञा मे नहीं है। निम्न तीन दृष्टिकोण से यह तीन प्रकार है—

1 मन-वचन-काया को वश मे करना जिसका लक्ष्य ही नहीं है। जिसको मनोगुप्ति मे रस ही नही है, जो केवल मन-वचन-काया को विषयों मे संलग्न रखना चाहता है, जिसका उद्देश्य ही विषयो का विस्तार है, जिसकी विषयेच्छा प्रबल है, वह प्रथम कोटि का निम्न स्तरीय साधु है।

2 मन का गोपन तो करना चाहता है, विषयो से बाहर निकलना भी चाहता है, इन्द्रियो को वश मे करना जिसका लक्ष्य भी है, परन्तु उसके पास ऐसा कोई उपाय नही है, जिससे कि गुप्ति की साधना की जा सके, वह मध्यम है, पहले से अच्छा है, क्योकि इच्छा है तो उपाय भी ढूँढेगा और उपाय मिलेगा भी।

3 जो उपाय को जानता है। मन-वचन-काया के गोपन की विधि भी जिसके पास है, महापुरुषो की सगत में रहकर सीखा है, परन्तु वैसा आचरण नही करता (अपेक्षा से) मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण प्रमाद करता है और प्रमादवश इन्द्रियो के वशवर्ती होकर चलता है। यह तीसरे प्रकार का साधु है।

ये तीनो ही प्रकार के साधु भगवान की आज्ञा मे नही है। ऐसे तो श्रावक भी तभी श्रावक है, जब वह मन को गुपित करना जानता है और करता है। श्रावक मन का गोपन आंशिक रूप से करता है, साधु पूर्णत. करता है। इस प्रकार जिन भगवान का आराधक वही है, जो त्रिगुप्ति की साधना करता है।

कम से कम त्रिगुप्ति की साधना मे विश्वास तो होना चाहिए कि सच्चे सुख एव सत्य का मार्ग तो यही है पर मै नही कर सकता। जैसे त्रिदण्डी के भव मे भगवान महावीर का जीव कहता है सत्य मार्ग तो भगवान का है परन्तु मैं आचरण नही कर सकता। यह है दर्शन। त्रिगुप्ति की साधना मे आस्था।

विषयों के विस्तार मे जिसकी आस्था है वह मिथ्यादृष्टि है। विषयो के विस्तार सम्बन्धी जो ज्ञान है, वह मिथ्या ज्ञान है (व्यवहार नय से) और विषयो का विस्तार करते जाना दुश्चरित्र है। शुरूआत आस्था से होती है, क्योंकि आस्था से ही रुचि होती है। जहॉ आस्था होगी, वहीं रुचि आएगी। जिसके पास केवल आस्था है, वह भी जैन है। यह जघन्यतम अवस्था है। जो आस्था के साथ गुप्ति की विधि भी जानता है परन्तु आचरण नही करता, वह मध्यम है और विधि के साथ जो तदनुसार आचरण भी करता है वह उत्कृष्ट है।

साधु कौन है? जिसके पास दर्शन ज्ञान चारित्र तीनो है, जिसे त्रिगुप्ति की साधना पर आस्था है और त्रिगुप्ति की साधना का ज्ञान भी है तथा तदनुसार साधना भी करता है। साधु अर्थात् जो त्रिगुप्ति को पूर्णत साधता है। यदि इस अपेक्षा से देखा जाए तो रत्नत्रय के धारक मुनिजन बहुत ही थोड़े हैं, क्योकि मनोगुप्ति का अगर पता नही हे तो किस प्रकार की दीक्षा? किस प्रकार का संयम? मन इधर-उधर अटकेगा और यदि विधि का भी पता है, लेकिन पुरुषार्थ नही किया जाए, तब भी मन जाएगा, इसलिए पुरुषार्थ करना भी जरूरी है।

मूलम्– पुणो-पुणो गुणासाए वंक समायारे॥1/5/44॥
पमत्तेऽगारमावसे॥1/5/45॥

मूलार्थ—बार-बार शब्दादि गुणो का आस्वादन करने से व्यक्ति असयम मे प्रवृत्त हो जाता है। विषयों मे आसक्त प्रमादी व्यक्ति फिर से घर में निवास करने लगता है।

इस प्रकार तीन मे से किसी प्रकार का व्यक्ति (साधु) पुन:-पुन: गुणो का सेवन कर वक्र समाचारी हो जाएगा। साधु समाचारी का पालन नही करेगा, करेगा तो भी माया, कपट, झूठ के साथ वक्रतापूर्वक करेगा। सबके समक्ष कुछ करेगा, अन्दर कुछ करेगा। सबके सामने साधु है, इस लज्जावश नही करेगा परन्तु भीतर करेगा। यह सूत्र भी तीन प्रकार से हैं।

1 पहले प्रकार के साधु जो समाचारी का लज्जा के वश सबके समक्ष पालन करते है, लेकिन जहॉ पर लज्जा का कोई निमित्त न हो, ऐसे भीतर से समाचारी का पालन नही करते।

2 दूसरे ऐसे साधु जो कि निर्लज्ज है, न तो अकेले मे समाचारी का पालन करते है, न बाहर ही सबके समक्ष समाचारी का पालन करते हैं। सभी के समक्ष निर्लज्ज बनकर कुछ भी करेगे।

3 ऐसे साधु भी समाचारी का पालन नही करते, परन्तु स्वार्थ-वश, अपने अहकार को बनाये रखने के लिए, स्वय को उत्कृष्ट प्रदर्शित करने के लिए कि हम सच्चे साधु है, बाहर से समाचारी का पालन करते है। यह बहुत बड़ी माया है। इससे मोहनीय कर्म का प्रगाढ बन्ध होता है।

इस प्रकार मनोगुप्ति की साधना के अभाव मे अनेक साधु-जन पुन:-पुन विषयो का सेवन करते है निर्लज्ज बनकर या फिर लज्जा सहित बाहर से जिसे हम व्यवहार कहते है ऐसा आचरण करते हैं। तीसरे अति मायावी, ऐसे व्यक्ति प्रमादी हो जाते है, सयम एव यतना से अप्रमत्तता, वैसे ही पुन -पुन गुणो के सेवन से प्रमाद और इस प्रमाद के वश वे अनगार से गृहस्थ बन जाते है, सुख एव सुविधाओ के दास बन जाते है। फिर जहॉ पर उन्हे सुख-सुविधा एव विषयो का विस्तार मिलता है, उसी ओर उनके मन-वचन-काया गति करते है। यदि काया कभी जा भी न पाये तो भी मन तो चला ही जाता है।

'जितना-जितना, मन का, विषयो का, इन्द्रियो का दासत्व उतना-उतना गृहस्थ, जितना-जितना स्वामित्व उतना-उतना साधुत्व।'

इस प्रकार कैसे व्यक्ति की पडिवाई होती है यह इन तीन सूत्रो में बताया गया है।

लज्जमाणा—लज्जा—मर्यादा, यहॉ पर लज्जावान का अर्थ है जो अपने प्राणो की मर्यादा मे रहता है और दूसरे के प्राणो की मर्यादा का अतिक्रमण नही करता है।

समुट्ठाए—सम्यक् प्रकार से उत्थित होकर।

असुत्ता मुनि-सुत्ता अमुनि—मुनि वही जो सम्यक् प्रकार से उत्थित है, जागरूक है, अप्रमत्त है। इससे विरोधी शब्द है मूच्छमाणे—अर्थात् तो मूर्च्छावान है। औदायिक भाव मे परिणति मूर्च्छा है। क्षयोपशमिक भाव की जागृति उत्थान है। क्षायोपशमिक भाव से प्रशम भाव शाति आती है। औदयिक भाव से आसक्ति बढती है।

अणगार—सब मे अपना स्वरूप देखना।

संसार—औदयिक भावों की पर्यायों का परिवर्तन ही संसार है। क्षायोपशमिक भाव मुक्ति की ओर ले जाते हैं और सिद्धो की पर्याय क्षायिक है।

रसिया—रस मे उत्पन्न होने वाले जीव (त्रस जीव) जैसे—दही—रात्रि का दही प्रथम प्रहर में ले सकते हैं। उसके बाद नही और सुबह का दही दही रूप मे जम जाने पर अगले दो पहर तक ले सकते हैं, उसके आगे नहीं। रात के भिगोये हुए खटाई लाए हुए व्यजन भी विकृत रस युक्त हो जाते है।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

षष्ठ उद्देशक

पांचवे उद्देशक में वनस्पतिकाय का विवेचन किया गया। अब छठे उद्देशक मे सूत्रकार त्रस जीवो का वर्णन करते है। त्रस जीवो के गति-त्रस और लब्धि-त्रस ये दो भेद है। द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव गति-त्रस है तथा तेजस्काय एवं वायुकाय तक के जीव लब्धि-त्रस है। तेजस्काय और वायुकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से स्थावर ही है। अन्य एकेन्द्रिय जीवों की तरह इनके भी एक स्पर्श इन्द्रिय होने से इन्हे भी स्थावर माना गया है, परन्तु इनमे भी एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की गति देखी जाती है। इस लब्धि-शक्ति की अपेक्षा से इन्हे लब्धि-त्रस भी माना गया है। यो तो पानी भी गतिशील देखा जाता है, परन्तु उसकी गति स्वभाविक नही है, जिस ओर नीची जमीन होती है, वह उधर ही बहता है, अन्यत्र नहीं। वह अग्नि और वायु की तरह दशो दिशाओ मे स्वतन्त्रतया गति नहीं कर सकता। इस अपेक्षा से तेजस्काय और वायुकाय को ही लब्धि-त्रस माना गया है।

उक्त लब्धि-त्रस मे तेजस्काय का वर्णन चौथे उद्देशक में कर चुके हैं तथा वायुकाय का वर्णन सातवे उद्देशक मे किया जाएगा। अत· प्रस्तुत उद्देशक मे द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के गति-त्रसो का ही वर्णन किया जाएगा; प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्नोक्त है–

मूलम्–से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा-अंडया, पोयया, जराउआ, रसया, संसेयया, संमुच्छिमा उब्भिया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुच्चई॥49॥

छाया–सः (अहं) ब्रवीमि सन्तिमे त्रसाः प्राणिनः, तद्यथा-अंडजा, पोत-जाः, जरायुजाः, रसजाः, संस्वेदजाः, समूर्छनजाः, उद्भिजाः, औपपातिक एष संसार इति प्रोच्यते।

पदार्थ—**से**—वह-मैं। **बेमि**—कहता हूँ। **इमे**—ये। **तसा**—त्रस। **पाणा**—प्राणी। **संति**—है। **तंजहा**—जैसे कि। **अण्डया**—अण्डे से उत्पन्न होने वाले कपोत आदि पक्षी। **पोयया**—पोतज रूप से जन्म ने वाले हाथी आदि। **जराउआ**—जरायु से वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय, भैस, बकरी, भेड और मनुष्य आदि प्राणी। **रसया**—विकृत रस से अत्यधिक खट्टी छाछ आदि मे उत्पन्न होने वाले जीव। **संसेयया**—स्वेद पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, लीख आदि जीव। **समुच्छिमा**—सम्मूर्च्छिम उत्पन्न होने वाले—चीटी, मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि जीव। **उब्भियया**—उद्भिज-उद्भेद से उत्पन्न होने वाले पतंगे, वीर-बहूटी आदि। **उववाइया**—उपपात से उत्पन्न होने वाले देव और नारक जीव। **एस**—ये अष्ट प्रकार के त्रस जीव ही। **संसारेत्ति**—ससार है, अर्थात् इन त्रस जीवो को ससार। **पवुच्चई**—कहा जाता है।

मूलार्थ—हे जम्बू! त्रसकाय के सम्बन्ध मे मै तुमसे कहता हू कि ये प्रत्यक्ष परिलक्षित होने वाले त्रस प्राणी अण्डे, पोत, जरायु, चलितरस, स्वेद—पसीने, सम्मूर्च्छन, उद्भेद और उपपात से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले त्रस जीवो को ससार कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

आगमो मे जीव के दो भेद किए गए है—1 सिद्ध और 2 ससार। ससारी जीव भी दो प्रकार के है—1 स्थावर और 2. त्रस। स्थावर जीवो के पांच भेद किए गए है—1 पृथ्वीकाय, 2 अप्काय, 3. तेजस्काय, 4 वायुकाय, और 5 वनस्पतिकाय। इनमे तेजस्काय और वायुकाय को लब्धि-त्रस भी माना है, परन्तु इनकी योनि स्थावर नाम-कर्म के उदय से प्राप्त होती है तथा इनके एक स्पर्श इन्द्रिय ही होती है, इसलिए इन्हे स्थावर माना गया है। त्रस जीवों के मुख्य चार भेद किए गए है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। इनके अनेक भेद-उपभेद है—जिनका आगमो में विस्तार मे वर्णन किया गया है।

त्रस का अर्थ है—"त्रस्यन्तीति त्रसः—त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः जीवनात्—प्राणाधारणात् जीवाः त्रसा एव जीवाः त्रस जीवाः।" अर्थात् जो प्राणी त्रास पाकर उससे बचने के लिए चेष्टा करते हो, एक स्थान से दूसरे स्थान को आ-जा

सकते हों, उन्हें त्रस जीव कहते हैं। या हम यों भी कह सकते हैं कि जिनकी चेतना स्पष्ट परिलक्षित होती है, जो अपनी शारीरिक हरकत एवं चेष्टाओं के द्वारा सुख-दु खानुभूति करते हुए स्पष्ट देखे जाते है, वे त्रस जीव कहलाते है। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी होते हैं और वे असंख्यात है। पर उनके उत्पत्ति-स्थान आठ माने गए है और प्रस्तुत सूत्र मे उन्ही का उल्लेख किया गया है। वे इस प्रकार हैं–

1. **अंडज**—अडे से उत्पन्न होने वाले—कबूतर, हस, मयूर, कोयल आदि पक्षी।
2. **पोतज**—पोत—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले—हाथी, वल्गूली, चर्म-जलूक आदि पशु।
3. **जरायुज**—जेर से आवेष्टित उत्पन्न होने वाले—गाय, भैस, मनुष्य इत्यादि पशु एव मानव।
4. **रसज**—खाद्य पदार्थो मे रस के विकृत होने-बिगडने से उसमे उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रियादि जीव—अधिक दिन की खट्टी छाछ, कांजी आदि मे नन्ही-नन्ही कृमियॉ उत्पन्न हो जाती हैं।
5. **संस्वेदज**—पसीने से उत्पन्न होने वाली—जू, लीख आदि।
6. **समूर्च्छन**—स्त्री-पुरुष के सयोग बिना उत्पन्न होने वाले—चीटी, मच्छर, भ्रमर आदि जीव-जन्तु।
7. **उद्भिज**—भूमि का भेदन करके उत्पन्न होने वाले—टीड, पतगे इत्यादि जन्तु।
8. **औपपातिक**—उपपात—देव-शय्या एव कुंभी मे उत्पन्न होने वाले देव एव नारकी जीव।

ससार मे जितने भी त्रस जीव हैं, वे सब आठ प्रकार से उत्पन्न होते है[1] इस तरह समस्त त्रस जीवो का इन आठ भेदों में समावेश हो जाता है। इनके समन्वित रूप को ही ससार कहते है, अर्थात् जहा इन सब जीवो का आवागमन होता रहता है,एक गति से दूसरी गति मे ससरण होता है, उसे ही ससार कहते है। क्योकि जीवो के एक गति से दूसरी गति मे परिभ्रमण करने के आधार पर ही ससार का

1 दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4 में भी उक्त आठ प्रकार के उत्पत्तिस्थानों का उल्लेख मिलता है।

अस्तित्व रहा हुआ है। इसी कारण इन उत्पत्तिशील या भ्रमणशील जीवो को ससार कहा गया है।

त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान के संबन्ध मे एक और मान्यता भी है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान तीन मानते है—सम्मूर्च्छन, गर्भज और औपपातिक[1]। इन दोनो विचारधाओं मे केवल संख्या का भेद दृष्टिगोचर होता है। परतु वास्तव मे दोनों मे सैद्धातिक अंतर नहीं है। दोनो विचार एक-दूसरे से विरोध नही रखते। क्योंकि-रसज, संस्वेदज और उद्भिज ये तीनों सम्मूर्च्छन जीवो के ही भेद है, अंडज, पोतज और जरायुज ये तीनो गर्भज जीवो के भेद है और देव एव नारको का उपपात से जन्म होने के कारण वे औपपातिक कहलाते है। अत तीन और आठ भेदो में कोई अतर नही है। यो कह सकते है कि त्रस जीवो के मूल उत्पत्ति स्थान तीन प्रकार के है और आठ प्रकार के उत्पत्ति स्थान उन्ही के विशेष भेद है, जिससे साधारण व्यक्ति भी सुगमता से उनके स्वरूप को समझ सके

इससे स्पष्ट हो गया कि उत्पत्ति स्थान के तीन या आठ भेदों मे कोई सैद्धातिक भेद नही है। ये सभी उत्पत्ति स्थान जीवो के कर्मो की विभिन्नता के प्रतीक है। प्रत्येक ससारी प्राणी अपने कृत कर्म के अनुसार विभिन्न योनियो मे जन्म ग्रहण करते है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से सब आत्माओ मे समानता होने पर भी कर्म वधन की विभिन्नता के कारण कोई आत्मा विकास के शिखर पर आ पहुचती है, तो कोई पतन के गड्ढे में जा गिरती है। आगम मे भी कहा है कि अपने कृत कर्म के कारण कोई देवशय्या पर जन्म ग्रहण करता है, तो कोई कुभी (नरक) मे जा उपजता है। कोई एक असुरकाय मे उत्पन्न होते है, तो कोई मनुष्य शरीर मे भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चडाल-बुक्कस आदि कुलो मे जन्म लेते है और कोई प्राणी पशु-पक्षी, टीड-पतग, मक्खी, मच्छर, चीटी आदि जतुओ की योनि मे जन्म लेते है। इस तरह विभिन्न कर्मो मे प्रवृत्तमान प्राणी ससार मे विभिन्न योनियों मे जन्म ग्रहण करते रहते है[2]।

योनि और जन्म ये दो शब्द है और दोनो का अपना स्वतंत्र अर्थ है। यह आत्मा अपने पूर्व स्थान के आयुष्य कर्म को भोगकर अपने बाधे हुए कर्म के अनुसार जिस

1 सम्मूर्छनगर्भोपपाता। —तत्त्वार्थ सूत्र 2/32

2 उत्तराध्ययन, 3/3-4।

स्थान में आकर उत्पन्न होता है, उसे योनि कहते हैं और उस योनि मे आकर अपने औदारिक या वैक्रिय शरीर को बनाने के लिए आत्मा औदारिक या वैक्रिय पुद्गलो का जो प्राथमिक ग्रहण करता है, उसे जन्म कहते है। इस तरह योनि और जन्म का आधेय-आधार सबध है। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

जैनदर्शन में शरीर के पाच भेद बताए गए है—1 औदारिक, 2. वैक्रिय, 3. आहारक, 4 तैजस और 5 कार्मण। इनमे आहारक शरीर विशिष्ट लब्धियुक्त मुनि को ही प्राप्त होता है और वैक्रिय शरीर देव और नारकी तथा लब्धिधारी मनुष्य तिर्यचो को प्राप्त होता है। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यच गति मे सभी जीवो को प्राप्त होता है। तैजस और कार्मण शरीर संसार के सभी जीवो मे पाया जाता है। औदारिक या वैक्रिय शरीर का कुछ समय के लिए अभाव भी पाया जाता है, परन्तु तैजस और कार्मण शरीर का ससार अवस्था मे कभी भी अभाव नही होता। जब आत्मा एक योनि के आयुष्य कर्म को भोग लेता है, तो उसका उस योनि मे प्राप्त औदारिक या वैक्रिय शरीर वहीं छूट जाता है। उस समय केवल तैजस और कार्मण शरीर ही उसके साथ रहते है, जो उसके किए हुए स्वकर्म के अनुसार उसे (आत्मा को) उस योनि तक पहुचा देते है। वहा आत्मा जन्म धारण करता है और कार्मण शरीर के द्वारा वहा पर स्थित पुद्गलो का आहार ग्रहण करके उसे औदारिक या वैक्रिय शरीर के रूप मे परिणत करता है। इस प्रकार उसका उत्पन्न होना जन्म है और जिस स्थान मे उत्पन्न होता है, वह स्थान योनि कहलाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में उत्पत्ति स्थान तीन माने गए है—2. सम्मूर्च्छन, 2 गर्भाशय और 3 औपपातिक। स्त्री-पुरुष के सयोग के विना ही योनि-उत्पत्ति स्थान मे स्थित औदारिक पुद्गलो को सर्वप्रथम ग्रहण करके औदारिक शरीर रूप मे परिणत करना सम्मूर्च्छन जन्म है।

स्त्री-पुरुष के सयोग से उत्पत्ति स्थान—गर्भाशय मे स्थित रज-शुक्र (वीर्य) या शोणित के पुद्गलो को पहले-पहल शरीर बनाने के हेतु ग्रहण करने का नाम गर्भज जन्म है।

देव शय्या या नरक कुंभी मे स्थित वैक्रिय पुद्गलो को प्रथम समय मे वैक्रिय शरीर का निर्माण करने के लिए ग्रहण करने का नाम उपपात जन्म है। देव शय्या के

ऊपर का भाग दिव्य वस्त्र से प्रच्छन्न रहता है, उस प्रच्छन्न भाग में देवो का जन्म होता है और कुम्भी वज्रमय भीत का गवाक्ष नारको का उपपात क्षेत्र है। इन उभय स्थानों मे स्थित वैक्रिय पुद्गलो को देव और नारक ग्रहण करते है।

इन उत्पत्ति स्थानो मे कौन जीव जन्म लेता है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—मंदस्सावियाणओ॥50॥

छाया—मंदस्याविजानतः।

पदार्थ—मंदस्स—मंद व्यक्ति का। **अवियाणओ**—जो तत्त्व से अनभिज्ञ है, उसका ससार मे भ्रमण होता है।

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव ही संसार मे परिभ्रमण करता है।

हिन्दी-विवेचन

उक्त उत्पत्ति स्थानों मे कौन व्यक्ति जन्म लेता है, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार ने 'मदस्स' शब्द प्रयोग किया है। अर्थात् जो मद बुद्धिवाला है, वह संसार मे परिभ्रमण करता है। भेद के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए **'अवियाणओ'** शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् मद बुद्धिवाला वह है, जो जीव-अजीव आदि तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है। इन्हे आगमिक भाषा मे बाल भी कहते है। क्योकि प्राय· बालक का ज्ञान अधिक विकसित न होने से वह अपने जीवन की समस्याओ को हल करने मे तथा अपना हिताहित सोचने मे असमर्थ रहता है। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति भी तत्त्व ज्ञान से रहित होने के कारण अपनी आत्मा का हिताहित नही समझ पाता और इसी कारण विषय-वासना मे आसक्त हो कर ससार बढाता है। इसी अपेक्षा से अज्ञानी व्यक्ति को बाल कहा गया है। बालक के जीवन मे व्यावहारिक ज्ञान की कमी है, तो इसमे आध्यात्मिक ज्ञान का विकास नहीं हो पाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सम्यग् ज्ञान रहित है, वही ससार मे परिभ्रमण करता है।

कुछ व्यक्तियो का कथन है कि हम देखते हैं कि जो व्यक्ति तत्त्व ज्ञान से युक्त है, वे भी उक्त उत्पत्ति स्थानो मे किसी एक उत्पत्ति स्थान मे जन्म ग्रहण करते है।

अनेक साधु संयम का परिपालन करते हुए भी देवगति का आयुष्य बाधते है और मनुष्य का आयुष्य भोग कर उपपात योनि मे जन्मते हैं और स्वर्ग का आयुष्य पूरा करके फिर से गर्भज योनि में जन्मते हैं। इससे यह कहना कहा तक उचित है कि मद बुद्धिवाला अतत्त्वज्ञ व्यक्ति ही इन उत्पत्ति स्थानो मे जन्म लेता है?

प्रस्तुत सूत्र मे जो कहा गया है, वह एक अपेक्षा-विशेष से कहा गया है और वह अपेक्षा है—ससार-परिभ्रमण की। यह ठीक है कि सम्यग् दृष्टि, श्रावक एवं साधु भी उपपात, गर्भज जन्मो को ग्रहण करते है। परन्तु जब से उन्हे तत्त्व ज्ञान हो जाता है तब से वे ससार-परिभ्रमण को बढाते नही है। यह सत्य है कि तत्त्वज्ञ जन्म लेते भी है। परन्तु तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ के जन्म लेने मे अंतर इतना ही है कि एक का ससार परिमित हे और दूसरे का अपरिमित। जब से आत्मा ने सम्यक्त्व का सस्पर्श कर लिया, तव से उसे परिमित संसारी कहा है, ससार का छोर-किनारा उसके सामने आ गया है। यह ठीक है कि उसे पार करके अपने लक्ष्य स्थान तक पहुचने मे उसे कुछ समय लग सकता है और इसके लिए वह अनेक उत्पत्ति स्थानो में जन्म भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु उसका जन्म ग्रहण करना ससार वृद्धि का नही, परन्तु ससार को घटाने का, कम करने का ही कारण है।

इसके विपरीत अतत्त्वज्ञ व्यक्ति का ससार अपरिमित है। उसके सामने अभी तक कोई स्पष्ट मार्ग नही है, जिस पर गति करके वह किनारे को पा सके। अभी तक उसे अपने लक्ष्य स्थान एव किनारे का भी ज्ञान नही है। इसलिए उसका प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कदम एव प्रत्येक जन्म ससार को बढाने वाला है, जन्म-मरण के प्रवाह को प्रवहमान रखने वाला है। तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ मे रहे हुए इसी अतर को सामने रख कर प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि जो मद है, अतत्त्वज्ञ है, वही ससार-परिभ्रमण को बढाता है, बार-बार इन उत्पत्ति स्थानो मे जन्म-मरण करता है।

इस परिभ्रमण से बचने के लिए क्या करना चाहिए, इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं

महब्भयं दुक्खंत्ति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥51॥

छाया—निध्यार्य—प्रतिलेख्य प्रत्येकं परिनिर्वाणं सर्वेषां प्राणिनाम्, सर्वेषां भूताना, सर्वेषां जीवाना, सर्वेषां सत्त्वानाम्, असातम्, अपरिनिर्वाण महाभयं दु·खमिति ब्रवीमि—त्रस्यन्ति प्राणिनः प्रदिशः दिशासु च।

पदार्थ—निज्झाइत्ता—चिन्तन करके। **पडिलेहित्ता**—देखकर। **पत्तेयं**—प्रत्येक जीव। **परिनिव्वाणं**—सुख के इच्छुक हैं। **सव्वेसिं**—सर्व। **पाणाणं**—प्राणियो को। **सव्वेसिं भूयाणं**—सर्व भूतो की। **सव्वेसिं जीवाणं**—सर्व जीवो को। **सव्वेसिं सत्ताणं**—सर्व सत्त्वो को। **अस्सायं**—असाता। **अपरिनिव्वाण**—अशांति। **महब्भयं**—महाभय है। **दुक्खं**—दु·ख रूप है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं। **दिसासु**—दिशाओं में। **य**—और। **पदिसो**—विदिशाओ मे। **पाणा**—ये प्राणी। **तसति**—त्रास को प्राप्त होते है।

मूलार्थ—हे शिष्य! त्रसकाय के सम्बन्ध मे सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मैं तुम्हे कहता हू कि प्रत्येक जीव सुख का इच्छुक है। अत· समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु है और सब को असाता-अशान्ति रूप महाभयकर दु·ख से भय है और दिशा-विदिशाओ मे स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दु खों से सत्रस्त हो रहे है।

हिन्दी-विवेचन

ससार मे प्रत्येक प्राणी सुखाभिलाषी है, दु ख से बचना चाहता है। फिर भी अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दु.ख का स्वय उपभोक्ता है। दुनिया मे कोई प्राणी ऐसा नही है, जो एक के सुख-दु ख को भोग सके। सभी प्राणी अपने कृत कर्म के अनुरूप ही सुख-दु ख का संवेदन करते है। परन्तु अतर इतना ही है कि सुख-सवेदन की अभिलाषा सबको रहती है। सुख सब प्राणियों को प्रिय लगता है, आनन्द देने वाला प्रतीत होता है, परन्तु दु·ख कटु प्रतीत होता है। इसलिए दुनिया का कोई भी प्राणी दु.ख नही चाहता, वह दु·ख से घबराता है, भयभीत होता है। फिर भी प्राणी दु ख से सतप्त एव सत्रस्त होते है। सभी दिशा-विदिशाओं मे ऐसा कोई स्थान नही, जहा उन्हे दु ख का सवेदन न होता हो।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व सामान्यत जीव के ससूचक हैं[1]। निरन्तर प्राण के धारक होने के कारण प्राण, तीनों काल में रहने के कारण भूत, तीनों काल में जीवन युक्त होने से जीव और पर्यायो का परिवर्तन होने पर भी त्रिकाल मे आत्मद्रव्य की सत्ता में अतर नही आता, इस दृष्टि से सत्त्व कहलाता है, इस अपेक्षा से सभी शब्द जीव के ही परिचायक है। इस तरह समभिरूढनय की अपेक्षा से इनमे भेद परिलक्षित होता है[2]।

इन सब मे थोड़ा भेद भी है, वह यह है—प्राण से तीन विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी लिए हैं, भूत से वनस्पतिकायिक जीवो को लिया जाता है, जीव से पंचेन्द्रिय तिर्यच एव मनुष्यों का ग्रहण किया जाता है और सत्त्व से पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को लिया जाता है[3]।

"परिनिर्वाण" शब्द का अर्थ सुख है, इस दृष्टि से अपरिनिर्वाण का अर्थ दु ख होता है और दिशा-विदिशा से द्रव्य और भाव-उभय दिशाओं को ग्रहण करना चाहिए।

इससे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दु ख नही चाहता। फिर भी विभिन्न दु खो का सवेदन करता है। इसका कारण यह है कि वह विविध आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होकर कर्म-बन्धन से आबद्ध होकर दु खों का सवेदन करता है। परन्तु जीव आरम्भ-समारम्भ—हिंसा के कार्य मे क्यो प्रवृत्त होता है? इसका कारण बताते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 गोयमा! जम्हा आणापाण तम्हा पाणेति वत्तव्व सिया, जम्हाभूते भवति भविस्सति य तम्हा भूएतिवत्तव्व सिया, जम्हा जीवे जीवइ जीवत्त आउथ च कम्म उवजीवइ तम्हा जीवेत्ति वत्तव्व सिया, जम्हा सत्ते सुहासुहेहि कम्मेहि तम्हा सत्तेति वत्तव्व सिया, जम्हा तित्तकडुयकसायअ बिलमहुरे रसे जाणइ तम्हा विन्नुत्ति वत्तव्व सिया, वेदेइ य सुह-दुक्ख तम्हा वेदेति वत्तव्व सिया। —भगवती सूत्र, श 2, उ 1

2 यदि वा शब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्य तद्यथा सततप्राणधारणात् प्राणाः, कालत्रयभवनात् भूता', त्रिकालजीवनात् जीवा सदास्तित्त्वात् सत्त्वा इति।

3 प्राण द्वित्रिचतु प्रोक्ता भूतास्तु तरव' स्मृता ।
जीवा' पचेन्द्रिया प्रोक्ता', शेषा. सत्त्वा. उदीरिता ॥ —आचाराग सूत्र, टीका-50

मूलम्—तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति, संति पाणा पुढो सिया ॥52॥

छाया—तत्र-तत्र पृथक् पश्य आतुराः परितापयन्ति सन्ति प्राणिनः पृथक् श्रिताः।

पदार्थ—तत्थ-तत्थ—उन-उन कारणो में। **पुढो**—विभिन्न प्रयोजनो के लिए। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **आतुरा**—विषयों में आतुर-अस्वस्थ मन वाले जीव। **परितावेंति**—अन्य जीवो को परिताप देते है—दु:खो से पीडित करते है, किन्तु। **पाणा**—प्राणी। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **सिया**—पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित। **संति**—विद्यमान है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीड़ित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एव अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियो को परिताप, कष्ट एवं वेदना पहुचाते हैं। ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है।

हिन्दी-विवेचन

भारतीय चिन्तनधारा के प्राय सभी चिन्तको और विचारको ने हिसा को पाप माना है, त्याज्य कहा है। फिर भी हम देखते है कि अनेक व्यक्ति त्रस जीवो की हिसा मे प्रवृत्त होते है। इसी कारण यह प्रश्न उठता है कि जब हिंसा दोषयुक्त है, तो फिर अनेक जीव उसमे प्रवृत्त क्यो होते है? प्रस्तुत सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि विषय-वासना मे आतुर बना व्यक्ति हिंसा के कार्य मे प्रवृत्त होता है।

हिसा मे प्रवृत्ति के लिए सूत्रकार ने **"आतुर"** शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत आतुरता—अधीरता जीवन का बहुत वडा दोष है। जीवन-व्यवहार मे भी हम देखते है कि आतुरता के कारण अनेको काम बिगड़ जाते हैं, क्योकि जब जीवन मे किसी कार्य के लिए आतुरता, अधीरता या विवशता होती है, तो वह व्यक्ति उस समय अपने हिताहित को भूल जाता है। परिणाम-स्वरूप बाद मे काम बिगड़ जाता है और केवल पश्चात्ताप करना ही अवशेष रह जाता है। इसलिए महापुरुषो का यह कथन

बिलकुल सत्य है कि कार्य करने के पूर्व खूब गहराई से सोच-विचार लेना चाहिए और धीरता के साथ काम करना चाहिए। जैसे व्यावहारिक कार्य के लिए धीरता आवश्यक है, उसी तरह आध्यात्मिक साधना के लिए भी धीरता आवश्यक है।

इससे स्पष्ट हो गया कि आतुरता जीवन का बहुत बडा दोष है। आतुर व्यक्ति जीवन का एवं प्राणियों का हिताहित नही देखता। वह तो अपना स्वार्थ या प्रयोजन पूरा करने की चिन्ता में रहता है। भले ही, उसमे अनेक जीवों का नाश हो या उन्हे परिताप हो वह यह नहीं देखता, क्योकि आतुरता मे उसकी दृष्टि धुधली हो जाती है। अपने स्वार्थ एव विषय-वासना के अतिरिक्त उसके सामने कुछ रहता ही नही। इसी अपेक्षा से कहा गया कि विषय-वासना मे आतुर व्यक्ति त्रस जीवो की हिंसा मे प्रवृत्त होते है और पृथ्वी, पानी, वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए विभिन्न जीवों को विभिन्न प्रकार से परिताप देते है। अत हिसा मे प्रवृत्त होने का कारण आतुरता एव स्वार्थी मनोभावना ही है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि आतुरता हिंसा का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को आतुरता का त्याग करके हिसा से दूर रहना चाहिए। उसे प्रत्येक कार्य धीरता के साथ विवेक एव यत्ना पूर्वक करना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे अन्य मत के विचारों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारभइ अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे-एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं

तसकाय समारंभेण तसकाय सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥53॥

छाया—लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्मः इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवंदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं सः स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारभते, अन्यैर्वा त्रसकायशस्त्रं समारम्भयति अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां ज्ञातं भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः इत्यर्थं गृद्धो लोकः यदिमं विरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकाय-समारम्भेण त्रसकाय शस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेक रूपान् प्राणिनः विहिनस्ति।

पदार्थ—लज्जमाणा—लज्जा पाते हुए। **पुढो**—पृथक्-पृथक् वादियो को। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **अणगारामो त्ति**—हम अनगार है। **एगे**—कोई-कोई वादी। **पवयमाणा**—कहते हुए। **जमिणं**—जो यह प्रत्यक्ष। **विरूवरूवेहिं**—नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **तसकायसमारंभेण**—त्रसकाय के समारंभ—हिसा के निमित्त। **तसकाय सत्थ**—त्रसकाय शस्त्र का। **समारंभमाणा**—समारम्भ का प्रयोग करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसंति**—हिसा करते हैं। **तत्थ खलु**—वहां निश्चय ही। **भगवया**—भगवान ने। **परिण्णा पवेइया**—परिज्ञा-ज्ञान से यह प्रतिपादन किया है। **इमस्स चेव जीवियस्स**—इस जीवन के निमित्त। **परिवदण**—प्रशसा के लिए। **माणण**—सम्मान के लिए। **पूयणाए**—पूजा के लिए। **जाइ-मरण-मोयणाए**—जन्म-मरण से छूटने के लिए। **दुक्खपडिघायहेउ**—दुःख-प्रतिघात के लिए। **से**—वह। **सयमेव**—स्वयं। **तसकायसत्थं**—त्रस काय शस्त्र का। **समारभइ**—समारभ-हिसा करता है। **वा**—अथवा। **अण्णेहिं**—दूसरो से। **तसकायसत्थ**—त्रसकाय शस्त्र का। **समारंभावेइ**—समारम्भ कराता है। **वा**—अथवा। **अण्णे**—अन्य। **तसकायसत्थं**—त्रसकाय शस्त्र द्वारा। **समारंभमाणे**—

समारम्भ करने वालों की। **समणुजाणइ**—अनुमोदन करता है। **त**—वह-त्रसकाय का आरम्भ। **से**—उसको। **अहियाए**—अहित के लिए है। **तं**—वह-आरम्भ। **से**—उसको। **अबोहियाए**—अबोध के लिए है। **से**—वह। **त**—उस आरम्भ के फल के। **संबुज्झमाणे**—सबोध को प्राप्त होता हुआ। **आयाणीय**—आचरणीय—सम्यग् दर्शनादि विषय मे। **समुट्ठाय**—सावधान होकर। **सोच्चा**—सुनकर। **भगवओ**—भगवान वा। **अणगाराणं**—अनगारो के। **अंतिए**—समीप। इह—इस ससार मे। **एगेसिं**—किसी-किसी जीव को। **णाय**—विदित। **भवति**—होता है। **एस खलु**—निश्चय ही यह आरंभ। **गंथे**—आठ कर्मो की ग्रन्थि रूप है। **एस खलु**—यह आरंभ। **मोहे**—मोह अज्ञान रूप है। **एस खलु**—यह आरभ। **मारे**—मृत्यु रूप है। **एस खलु**—यह आरंभ। **णरए**—नरक रूप है। **इच्चत्थं**—इस प्रकार अर्थादि मे। **गड्ढिए**—मूर्च्छित है। **लोए**—लोक-प्राणि-समुदाय। **जमिण**—जिस कारण से। **विरूवरूवेहिं**—नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **तसकाय-समारंभेणं**—त्रसकाय के समारभ के निमित्त। **तसकाय-सत्थं**—त्रसकाय-शस्त्र का। **समारंभमाणे**—समारंभ करता हुआ। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियों की। **विहिंसति**—विविध प्रकार से हिसा करता है।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं, हे शिष्य! तू सावद्यानुष्ठान से लज्जित हुए इन अन्यमत वालों को देख। जोकि हम अनगार है इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा त्रसकाय के समारभ के निमित्त त्रसकाय का विनाश करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणियो की भी हिसा करते है। इस त्रसकाय-समारभ के विषय मे भगवान ने अपने प्रकृप्ट ज्ञान से प्रतिपादन किया है कि जो यह प्रमादी जीव इस क्षण-भगुर जीवन के निमित्त प्रशसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए तथा अन्य कायिक-वाचिक और मानसिक दु:खो की निवृति के लिए त्रसकाय का स्वयं आरंभ करता है, दूसरो से कराता है ओर जो आरभ कर रहे है, उनकी प्रशसा करता है वह आरभ उसके अहित और अबोधि लाभ के लिए है। इस प्रकार स्वयं भगवान अथवा उनके सम्भावित साधुओ से त्रसकाय के समारम्भ के अनिष्ट फल को सुन कर पूर्ण श्रद्धा और सम्यक् बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि यह त्रसकाय का समारम्भ अष्ट कर्मो की ग्रन्थि रूप है, मोह का कारण होने से मोह रूप है तथा मृत्यु

का कारण होने से मृत्यु रूप है और नरक का हेतु होने से नरक रूप है। फिर भी विषय-भोगो मे अधिक मूर्च्छित हुआ आसक्त हुआ यह लोक प्राणिसमूह इससे निवृत्त नही होता। जोकि यह प्रत्यक्ष रूप से नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा त्रसकाय के समारम्भ से त्रसकाय के विनाश के साथ साथ अन्य भी अनेक प्रकार के प्राणियो की हिसा करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र को व्याख्या पृथ्वी और अप्काय के प्रकरण में विस्तार से कर चुके है। यहा इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत सूत्र मे अध्यात्म योग साधना की ओर भी एक सकेत है। साधक को आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मशक्ति को विकसित करना चाहिए। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है–योगो को स्थिर करना या सावद्य कार्यो से हटाकर साधना में स्थिर होना। इसका स्पष्ट अर्थ है–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एव त्रस आदि समस्त प्राणिजगत के साथ समता एव मैत्री भाव स्थापित करके, सर्व जीवो की हिसा से त्रिकरण एव त्रियोग से निवृत्त होना, इसी को आध्यात्म योग कहा है[1]।

प्रस्तुत सूत्र मे **"तसपाणे–त्रस प्राण"** वाक्य का प्रयोग किया गया है। प्राण नाम श्वासोच्छवास का है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्राण संत्रस्त है–विषम चल रहे है, उन्हे निरोध कर के सम करना, जिससे मन और आत्मा मे समता का प्रादुर्भाव हो सके। इस तरह प्रस्तुत सूत्र मे आध्यात्मिक चिन्तन एव आत्म-विकास की ओर बढने का भी सकेत मिलता है।

यह पहले स्पष्ट कर चुके है कि प्रमादी जीव आतुरता के वश तथा अपना स्वार्थ साधने के लिए या अपने जीवन को सुखमय बनाने आदि के लिए हिसा मे प्रवृत्त होते है। इसके अतिरिक्त हिंसा मे प्रवृत्त होने के और भी कई कारण है। उन्हे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–से बेमि, अप्पेगे अच्चाए हणंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हियाए, पित्ताए,

---

1 आत्मामनोरूपतत्त्व समतायोगलक्षणो ह्यध्यात्मयोग। –नीतिवा. समु. 6, सूत्र 1

वसाए, पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिंगाए, विसाणाए, दंताए, दाढाए, णहाए, ण्हारुणीए, अट्ठीए, अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति॥54॥

छाया—सः (अह) ब्रवीमि, अप्येके अर्चायै घ्नवन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति, अप्येके मांसाय घ्नन्ति, अप्येके शोणिताय घ्नन्ति एवं-हृदयाय, पित्ताय, वसायै, पिच्छाय, पुच्छाय, वालाय, शृंगाय, विषाणाय, दन्ताय, दष्ट्रायै, नखाय, स्नायवे, अस्थने, अस्थिमज्जायै, अर्थाय-अनर्थाय, अप्येके हिंसितवन्तः मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसंति मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसिष्यंति मे इति वा घ्नन्ति।

पदार्थ—से—मै वह। **बेमि**—कहता हूँ। **अप्पेगे**—कोई एक। **अच्चाए**—अर्चना-देवी-देवता की पूजा के लिए। **हणंति**—जीवो की हिंसा करते है। **अप्पेगे**—कोई एक। **अजिणाए**—चर्म के लिए। **वहंति**—जीवो का वध करते है। **अप्पेगे**—कोई एक। **मंसाए वहंति**—मास के लिए प्राणियो को मारते है। **अप्पेगे**—कोई एक। **सोणियाए वहंति**—खून के लिए वध करते है। **एवं**—इसी प्रकार, कोई। **हिययाए**—हृदय के लिए। **पित्ताए**—पित्त के लिए। **वसाए**—चर्बी के लिए। **पिच्छाए**—पिच्छ—पख के लिए। **पुच्छाए**--पूँछ के लिए। **बालाए**—केशो के लिए। **सिगाए**—शृग—सीगों के लिए। **विसाणाए**—विषाण के लिए। **दंताए**—दातो के लिए। **दाढाए**—दाढो के लिए। **णहाए**—नाखूनो के लिए। **ण्हारूणीए**—स्नायु के लिए। **अट्ठिए**—अस्थिओ के लिए। **अट्ठिमिंज्जाए**—अस्थि और मज्जा के लिए। **अट्ठाए**—किसी प्रयोजन के लिए। **अणट्ठाए**—निष्प्रयोजन ही। **अप्पेगे**—कोई एक। **हिंसिसु मे त्ति वा**—इसने मेरे स्वजन-स्नेहियो की हिसा की है, ऐसा मानकर। **वहंति**—सिंह, सर्प आदि जन्तुओ की हिसा करते है। **अप्पेगे**—कोई एक। **हिसति मेत्ति वा वहंति**—ये मुझे मारते हे, ऐसा सोच कर सिह-सर्प आदि का वध करते हैं। **अप्पेगे**—कोई एक। **हिंसिस्सत्ति मेत्ति वा वहति**—ये भविष्य मे मुझे मारेंगे, ऐसा विचार कर के सिह-सर्प आदि प्राणियो के प्राणों का नाश करते है।

मूलार्थ—हे शिष्य! मैं तुमसे कहता हू कि इस ससार मे अनेक जीव देवी-देवता

की पूजा के लिए, कई चर्म के लिए या मांस, खून, हृदय, पित्त; चरबी, पंख, पूछ, केश, शृग—सीग, विषाण, दन्त, दाढ़, नाखून, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, आदि पदार्थों के लिए, प्रयोजन या निष्प्रयोजन से अनेक प्राणियो का वध करते है। कुछ एक व्यक्ति इस दृष्टि से भी सिह, सर्प आदि जन्तुओ का वध करते है कि उन्होने मेरे स्वजन-स्नेहियों को मारा है, यह मुझे मारता है तथा भविष्य मे मारेगा।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य जब स्वार्थ के वश मे होता है तो वह अपना स्वार्थ साधने के लिए विभिन्न जीवो की अनेक तरह से हिसा करता है। अपने स्वार्थ के सामने उसे दूसरे प्राणियो के प्राणो की कोई चिन्ता एव परवाह नहीं होती। अपनी प्रसन्नता, वैभवशालीता व्यक्त करने के लिए, मनोरजन, ऐवश्र्य एवं स्वाद के लिए स्वार्थी व्यक्ति हजारो-लाखों प्राणियो का वध करते हुए जरा भी नही हिचकिचाता। कुछ व्यक्ति धन कमाने के लिए पशुओ का वध करते है, तो कुछ व्यक्ति अपने शरीर की शोभा बढाने के लिए अनेक प्राणियो के वध मे सम्मिलित होते है। परन्तु कुछ व्यक्ति स्वाद के लिए अपने पेट को अनेक पशुओ का कब्रिस्तान ही बना डालते है। इस प्रकार स्वार्थी लोगो के हिसा करने के अनेक कारणो का वर्णन प्रस्तुत सूत्र मे किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कुछ लोग अर्चा के लिए प्राणियों का वध करते है। अर्चा के पूजा और शरीर ये दो अर्थ होते है। विद्या-मन्त्र आदि साधने हेतु या देवी-देवता को प्रसन्न करने के बहाने 32 लक्षणों से युक्त पुरुष या पशु का वध करते है तथा शरीर को शृगारने के लिए अनेक जीवों को मारते है। इस प्रकार वे पूजा एव शरीर-शृगार दोनो के लिए अनेक प्रकार के पशुओ की हिसा करते है।

इसके अतिरिक्त चमड़े के लिए अनेक प्राणियों का वध किया जाता है और उस मृग-चर्म एव सिह के चर्म का कई सन्यासी भी उपयोग करते है। परन्तु आजकल क्रूम, काफलेदर आदि चमडे के बूट, हैंड बैग एव घडियो कि फीते रखने का फैशन-सा हो गया है और इनके लिए अनेक गायो, गाय के बछडो एव भैसो की हिसा होती है। इसी तरह मांस एव खून के लिए बकरे, मृग, शूकर आदि का, पित्त एवं पख आदि के लिए मयूर, शतरमुर्ग आदि पक्षियों का, चर्बी के लिए व्याघ्र, शूकर, मछली आदि का, पूछ के लिए चमरी गाय का, शृग के लिए मृग, बारहसिगा आदि का, विषाण के

लिए सूअर का[1] या दांत के लिए हाथी का, दाढ के लिए वराह आदि का, स्नायु के लिए गो-महिषी आदि का, अस्थि के लिए शख, सीप आदि का, अस्थि-मज्जा के लिए सूअर आदि का वध करते है। अनेक लोग प्रयोजन से पशु-पक्षियो का वध करते है और कुछ एक व्यक्ति निष्प्रयोजन ही अर्थात् केवल कुतूहल के लिए, मनोरंजन के लिए अनेक प्राणियो की जान ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति सिंह-सर्प आदि को इसलिए मार देते है कि इन्होने मेरे स्वजन-स्नेहियो को मारा था। कुछ लोग उन्हें इसलिए मार देते है कि ये विषाक्त जन्तु मुझे मारते है और कुछ व्यक्ति इस संदेह से ही उनका प्राण ले लेते हैं कि ये जन्तु भविष्य मे मुझे मारेगे। इस प्रकार अनेक सकल्प-विकल्प एव स्वार्थो के वश व्यक्ति त्रस जीवो की हिंसा मे प्रवृत्त होते है और उससे प्रगाढ कर्म-बन्ध करके ससार में परिभ्रमण करते है। इसलिए विवेकशील पुरुष को इन हिसा-जन्य कार्यो से दूर रहना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेवसयं, तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं तसकायसत्थं समारभावेज्जा, णेवण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते तसकाय सत्थ समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय कम्मे, त्तिबेमि॥55॥

छाया—अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारम्भमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति। तत्परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं त्रसकाय-शस्त्रं समारभेत, नैवान्यैः त्रसकाय-शस्त्र समारम्भयेत्, नैवन्यान् त्रसकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात्। यस्यैते त्रसकाय समारम्भाः परिज्ञाता भवन्ति स· एव मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—एत्थ—इस त्रस काय के विषय मे। **सत्थं**—शस्त्र का। **समारंभमाणस्स**—समारभ करने वाले को। **इच्चेते**—ये सब। **आरभा**—समारभ। **अपरिण्णाया**

---

1 हाथी और सूअर के दात को विषाण कहते है। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण मे विषाण शब्द सूअर के दांत के लिए प्रयुक्त हुआ है।

भवंति—अपरिज्ञात होते है। **एत्थ**—इस त्रसकाय के विषय में। **सत्थं**—शस्त्र का। **असमारंभमाणस्स**—समारम्भ नही करने वाले को। **इच्चेते**—ये सब। **आरंभा**—आरम्भ। **परिण्णाया भवन्ति**—परिज्ञात होते है। **तं परिण्णाय**—उस आरम्भ को परिज्ञात करके। **मेहावी**—बुद्धिमान। **णेव सयं**—न स्वयं। **तसकाय-सत्थं**—त्रसकाय-शस्त्र का। **समारंभेज्जा**—समारम्भ करे। **णेवण्णेहि**—न अन्य से। **तसकाय-सत्थं**—त्रसकाय-शस्त्र का। **समारंभावेज्जा**—समारभ करावे, तथा। **तसकाय सत्थं**—त्रसकाय शस्त्र का। **समारंभंते**—समारंभ करने वाले। **अण्णे**—अन्य व्यक्ति का। **णेव**—नही। **समणुजाणेज्जा**—समर्थन करे। **जस्सेते**—जिसको ये। **तसकाय-समारंभा**—त्रसकाय-समारम्भ। **परिण्णाया भवति**—परिज्ञात होते है। **से हु मुणी**—वही मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञातकर्मा है। **त्ति बेमि**—ऐसा मै कहता हूं।

मूलार्थ—जो व्यक्ति त्रसकाय के आरभ का त्यागी नही है, वह इन आरभो से अपरिज्ञात है। और जो त्रसकाय के आरम्भ का त्यागी है, उसे ये आरम्भ परिज्ञात है। और ज्ञपरिज्ञा से इन आरभो को जानने तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से इन आरम्भो का त्याग करने वाला बुद्धिमान व्यक्ति न स्वय त्रसकाय की हिसा करता है, न दूसरो से कराता है और न हिसा करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करता है। जिस व्यक्ति को ये आरम्भ परिज्ञात है, वही मुनि परिज्ञात-कर्मा है। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या दूसरे-तीसरे आदि उद्देशको के अन्तिम सूत्रवत् ही समझनी चाहिए। **'त्ति बेमि'** की व्याख्या भी पूर्ववत् ही समझे

॥शस्त्रपरिज्ञा षष्ठ उद्देशक समाप्त॥

अध्यात्मसार : 6

मूलम्—मंदस्साविियाणओ॥1/6/50॥

मूलार्थ—तत्त्व से अनभिज्ञ जीव ही संसार मे परिभ्रमण करता है।

ससार-परिभ्रमण का मूल क्या है?

जो मद है, अविज्ञात है, वह इस संसार में परिभ्रमण करता है।

मद किसे कहते है? व्यवहार में जो बुद्धिमान नहीं है, उसे मद कहते हैं, परन्तु यहाँ पर जो जीव-अजीव के बोध से तत्त्वबोध से रहित, आत्मबोध से रहित है वह मंद है। तत्त्व—तत् अर्थात् वह तत्त्व अर्थात् मूल। दुनिया की दृष्टि मे वह बहुत बुद्धिमान है, वडा विद्वान है, प्रखर पडित भी हो सकता है, लेकिन आत्म-दृष्टि की अपेक्षा वह मन्द है, क्योंकि तत्त्व बोध से रहित है। हो सकता है वह दुनिया की अनेक विद्याओ का जानने वाला हो, मत्र-तत्र का ज्ञाता हो, ऋद्धि सिद्धिधारी हो, फिर भी आत्मबोध के अभाव मे वह मद ही कहलाएगा।

अविज्ञात किसे कहते है? ऐसा जो मद है, जो अविज्ञ होगा, जब तत्त्वबोध होता है तब वह विज्ञ-सुज्ञ बन जाता है।

सुज्ञ—सुन्दर सम्यक् ज्ञान से युक्त।

विज्ञ—विशेष ज्ञान से युक्त—जो ज्ञान सभी के पास मे नही है। सम्यक् ज्ञान को विशेष ज्ञान कहा है, क्योकि वह विशेष फल को देने वाला है। जो हरेक को नही मिलता वह विशेष फल है। निर्वाण—इस प्रकार जो ज्ञान हरेक के पास नही है। जो ज्ञान निर्वाण रूपी विशेष फल को देने वाला है उस ज्ञान से युक्त व्यक्ति को विज्ञ कहते है।

यह विज्ञता और अविज्ञता भी तत्त्वबोध पर आधारित है। ऐसे तो ज्ञान ज्ञान ही है, लेकिन दर्शन की अपेक्षा से वही ज्ञान अज्ञान कहलाता है। दर्शन सम्यक् होने पर ज्ञान, अन्यथा अज्ञान। इस प्रकार जो आत्मबोध से रहित मंद है, वह अविज्ञात है।

इस प्रकार जो मद है, अविज्ञात है वह ससार-परिभ्रमण करता है। यह व्याख्या तत्त्वबोध की अपेक्षा से है।

2 दूसरी अपेक्षा से, जो मद है अर्थात् जो समुट्ठाए सम्यक् रूप से उत्थित नही हुआ है, जो पुरुषार्थ नही कर रहा है या जो सम्यक् दिशा में पुरुषार्थ नही कर रहा है, ऐसा व्यक्ति मद है, वह मद ही रहेगा। आत्म-बोध के लिए, तत्त्वज्ञान के लिए सम्यक् रूप से उत्थित होगा, पुरुषार्थ करेगा तभी वह अविज्ञात् से विज्ञात होगा और ससार-परिभ्रमण से मुक्त होगा। वह पुरुषार्थ की अपेक्षा से।

मूलम्—निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिब्बाणं सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसि सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खंत्ति बेमि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य॥1/6/51

मूलार्थ—हे शिष्य! त्रसकाय के सबंध में सम्यक् चिन्तन-मनन एवं पर्यावलोकन करके मै तुम्हे कहता हूँ कि प्रत्येक जीव सुख का इच्छुक है। अतः समस्त प्राणी, भूतजीव और सत्त्व सुखेच्छु हैं और सबको असाता—अशातिरूप महाभयंकर दु:ख से भय है और दिशा-विदिशाओ मे स्थित ये प्राणी इन प्राप्त होने वाले दु:खो से सत्रस्त हो रहे है।

निज्झाइत्ता—निदिध्यासन, जो पुन:-पुन: दोहराने से स्वय स्मरण मे रहे वह निदिध्यासन है।

पडिलेहित्ता—प्रतिलेखन करना, जैसे हम स्थान का प्रतिलेखन करते हैं, वैसे ही काया का, वाणी का एव मन का प्रतिलेखन करना। समता एव जागरूकता पूर्वक देखना।

परिनिव्वाण—निर्वाण-वाण रहित होना—वाण जिससे आपके भीतर पीडा दु:ख अशान्ति का अनुभव हो।

साधु—जो किसी को दु:ख नही देता और परम सुख का मार्ग बताता है।

अविज्ञ होना ससार का मूल कारण है।

ऐसे तो प्रत्येक व्यक्ति सुख खोजता है। सुख चाहता है, फिर भी उसे दु:ख मिलता है, क्योंकि उसे सुख-प्राप्ति का मार्ग पता नही है। जिस मार्ग से वह सुख

प्राप्त करना चाहता है, वह दु:ख का मार्ग है। जैसे चूने को यदि पानी में मिला दे तब वह दूध न होते हुए भी दूर से सफेद पानी दूध जैसा लगता है। वैसे ही सुख तो नहीं मिलता, केवल सुखाभास होता है।

निर्बाध सुख : वांछित सुख

जो सदा ही बढ़ता रहे और जो सदा ही बना रहे, ऐसा सुख चाहिए। लेकिन हम जिस रास्ते से सुख पाना चाहते है, वह रास्ता ठीक नही है। जिन-शासन का मार्ग सुख प्राप्ति का सच्चा मार्ग है। कहते भी है सच्चा सुख पाना हो तो धर्म करो, लेकिन वस्तुत: सुख सच्चा और गलत नही होता, सुख पाने का रास्ता सही या गलत होता है। गलत रास्ते से क्या कभी कोई सही ठिकाने पर पहुँच सकता है? नही। वैसे ही क्या गलत रास्ते से निर्बाध सुख मिल सकता है?

सुख का स्वरूप

जिसमे दु:ख न हो या दु:ख की कमी हो। वह सुख, दु:ख के विरोध मे है। दु:ख के पार नही, जैसे नरक की अग्नि तप्त लोहे से भी अधिक गरम है, वहाँ पर रहे हुए किसी जीव को यहाँ सूर्य की गरमी से तप्त सडक पर रखे तो उसे सुख का अनुभव होता है। वस्तुत: यह सुख, दु:ख की कमी का दूसरा नाम है। उसी प्रकार कमरे मे बैठे हुए व्यक्ति को अगर गरमी लग सकती है, लेकिन उसी कमरे मे यदि गरम सडक पर घूमता हुआ कोई व्यक्ति आ जाए, तब उसे सुख का अनुभव होगा। यह भी सुख नही, अपितु दु:ख की कमी का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार हमारे सभी सुख किसी अपेक्षा से है। यह सुखानुभूति अखण्ड निर्बाध और निरपेक्ष नही है। जैसे एक तरफ से किसी ने सुई चुभाई तो वह दु:ख रूप है दूसरी तरफ से किसी ने कटार चुभाई तो उस कटार की चुभन की अपेक्षा सूई की चुभन सुख रूप है।

परिनिर्वाण—ऐसा सुख जो निरपेक्ष, निर्बाध और अखण्ड है। दु:ख से पार है।

हम सुखाभास को ही सुख मानते है, सुख तो व्यक्ति को प्रत्येक क्षण चाहिए। जब तक उसे दु:ख के पार रहे सुख का अहसास नही होता, तब तक वह पुन:-पुन सुखाभास में डूबने को आतुर रहता है, क्योंकि अभी तक व्यक्ति को परिनिर्वाण के सुख का स्वाद नहीं है। अत: वह दु:ख रूप अथवा दु:ख की कमी रूप सुख को ही

सुख मान लेता है। जैसे किसी कुत्ते को भूख लगी है और रोटी के अभाव मे वह सूखी हड्डी को चबाये तो उसकी भूख तो मिटती नही, लेकिन अपने ही खून के स्वाद से उसके मन में यह आशा एव अपेक्षा जगती है कि इससे मेरी भूख अवश्य मिटेगी। वस्तुत सूखी हड्डी को चबाना दु ख है, लेकिन किसी उपयुक्त एव यथार्थ भोजन के अभाव में उसे वह सूखी हड्डी ही सुख रूप पेट भरने का साधन लगती है।

सुख का अनुभव मुख्य रूप से किसी स्थान विशेष में होता है और साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर मे सभी आत्म-प्रदेशो मे एक साथ होता है। जैसे ऑख पर किसी रूप का आघात हुआ तब मुख्य रूप से ऑख पर असर होगा। साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर पर असर होगा। इस असर को इन्द्रियो के विषय को, पूरे शरीर मे फैल जाने को हम सवेदना कहते है। सवेदना मुख्य रूप से किसी स्थान विशेष मे और साधारण रूप से सम्पूर्ण शरीर मे एक साथ अनुभव मे आती है।

पात्र एव बर्तन—साधुजनों के लिए—भगवान महावीर ने तीन प्रकार के पात्र बताए—1 लकडी का, 2 मिट्टी का, 3 तुम्बे का।

प्लास्टिक अशुद्ध वस्तु है, उससे कॉच ठीक है। पहले लोग वार्निश के बजाए पात्र को सरसो के तेल में भिगोकर रखते थे। आठ-दस दिन, तेल पी हुई लकडी को सुखाते थे, फिर पानी या वस्त्र से साफ करके प्रयोग मे लेते थे।

गृहस्थ के लिए—सबसे उत्तम सुवर्ण, फिर रजत, फिर कास्य, फिर ताबा एव पीतल, फिर लोहा। पर लोहे के बजाय मिट्टी अच्छी है। मिट्टी सुवर्ण के समान ही उत्तम है। किसी अपेक्षा से सुवर्ण से भी मिट्टी अधिक श्रेष्ठ है, क्योकि मिट्टी सत्त्व के अधिक नजदीक है। भगवान ने कहा था कि लोग लोहे के पात्र मे खाऐंगे और इस प्रकार से आहार करने से लोग राजसिक होंगे।

प्राणी—विकलेन्द्रिय जीवो को प्राणी कहा जाता है, क्योकि वह प्राणों के धारक है, परन्तु वह हमारे शरीर को प्रत्यक्ष रूप से सत्त्व प्रदान नही करते है।

भूत—वनस्पतिकाय को भूत कहते हैं, क्योंकि वह सभी जीवों के लिए आधार-रूप है। वह सभी जीवों का भूत-काल है और सभी मे दीर्घलोक है।

जीव—पचेन्द्रिय तिर्यच या मनुष्य मे जीव का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है, अत पचेन्द्रिय तिर्यच एव मनुष्य को जीव कहा जाता है।

सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुकाय को सत्त्व कहा जाता है, क्योंकि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु से हमारे शरीर को सत्त्व मिलता है। जितने ही वे चारो शुद्ध होगे, उतना ही वे हमें सात्त्विकता का अनुभव कराते है। उतना ही शरीर सत्त्व से भरपूर रहता है।

सत्त्व अर्थात् अस्तित्व जो हमारे अस्तित्व को टिकाने मे सहयोगी बनते है, वे सत्त्व है।

शुद्ध सत्त्व—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु के जितने नजदीक रहोगे, उतना ही शरीर शुद्ध होगा। इसी सत्त्व के आधार पर जिस चिकित्सा पद्धति का विकास हुआ है, उसे प्राकृतिक चिकित्सा कहते हैं—शरीर एव चित्त शान्ति के लिए।

मुनिजनो को इसका खयाल रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके, शुद्ध सत्त्व में निवास करे। उससे शरीर एव चित्त शान्त रहता है।

मूलम्—तत्थ-तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया॥1/6/52

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख कि ये विषय-कषायादि से पीडित अस्वस्थ मन वाले जीव विभिन्न प्रयोजन एव अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिए अनेक त्रस प्राणियों का परिताप, कष्ट एव वेदना पहुँचाते है। ये त्रस जीव पृथ्वी, पानी वायु आदि के आश्रय मे रहे हुए यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान है।

आतुर—आतुर का एक अर्थ है धैर्य का अभाव।

मन को गति कौन देता है? मन को विषय गति देते है। सकल्प और विकल्प गति देते है—जितने सकल्प-विकल्प अधिक होगे, विषयो मे विलास होगा, मन उतना ही आतुर होगा।

चित्त की उपशान्ति से धैर्य का विकास होता है। आतुरता का अर्थ है, कुछ-न-कुछ करने की वृत्ति, कर्ताभाव, ऐसे कर्ता-भाव से परिताप का अनुभव होता है। परिताप का आगमन होता है। यह परिताप स्वसंबधी एव परसबधी दोनो रूप से है। आतुरता को मिटाने के लिए दीक्षा लेने के पश्चात् सामायिक से लेकर ग्यारह अग तक का अभ्यास कराया जाता था।

सामायिक किसे कहते है? प्रथम श्री आचारांग-सूत्र को सामायिक कहते है। इसमें भी बाह्याचार एव आभ्यन्तर साधना का ज्ञान एव अनुष्ठान दोनों साथ-साथ चलते है जिससे आतुरता अपने आप उपशान्त होती है। जो ध्यान आप अभी करा रहे है, वह दीक्षा के प्रथम दिन से कराना आवश्यक है। इससे भी अच्छा तो यह है कि दीक्षित होने के पहले श्रावक अवस्था मे ही ध्यान की शिक्षा एवं दीक्षा होनी जरूरी है और इस ध्यान अवस्था मे यहाँ तक पहुँचना आवश्यक है जिसे हम आसन सिद्धि कहते है। आसन सिद्धि करीब साढे तीन घण्टे तक एक ही आसन मे सुखपूर्वक अचल, अडिग, अकप होकर स्थिर रहना। कायोत्सर्ग भाव से स्थिर रहना। उसके पश्चात् जब व्यक्ति दीक्षित होगा, तब आगे का मार्ग अपने आप खुलेगा। किसी विशेष कारण से अपवाद हो सकता है।

प्रथम अध्ययन : शस्त्रपरिज्ञा

सप्तम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक मे, छह काय में अवशिष्ट वायुकाय का वर्णन किया गया है। जैसे पृथ्वी, पानी आदि अन्य स्थावरकाय सजीव है, उसी प्रकार वायुकाय भी सजीव है; सचेतन हैं। इसलिए उनका आरम्भ-समारम्भ भी कर्म-बन्ध का कारण है, ससार-परिभ्रमण एव दु ख-परंपरा को बढाने वाला है। अत वायुकायिक जीवो के आरम्भ से निवृत्त होने वाला ही मुनि है। प्रस्तुत उद्देशक में इन्हीं बातों का विवेचन किया गया है। उसका आदि सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—पहू एजस्स दुगुंछणाए॥56॥

छाया—प्रभुः एजस्य जुगुप्सायाम्।

पदार्थ—एजस्स—वक्ष्यमाण गुणो वाला व्यक्ति वायुकाय के। **दुगुंछणाए**—आरम्भ का त्याग करने में। **पहू**—समर्थ होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! वक्ष्यमाण गुणो वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने मे समर्थ होता है।

हिन्दी-विवेचन

वायुकायिक जीवो की हिसा कर्म-बन्ध का कारण है। अत कर्म-बन्ध से वही व्यक्ति बच सकता है, जो वायुकाय की हिसा से निवृत्त होता है। इस पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वायुकायिक जीवों की हिसा से कौन निवृत्त होता है? इस प्रश्न का समाधान आगे के सूत्र मे करेगे। प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने संकेत मात्र किया है कि अगले सूत्र मे जिस व्यक्ति के गुणो का निर्देश किया जाने वाला है, उन गुणो से सपन्न व्यक्ति ही वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने मे समर्थ है।

'एज' शब्द वायुकाय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका प्रयोग वायुकाय की गति की अपेक्षा से हुआ है। क्योकि 'एज' शब्द **'एजृ कम्पने'** धातु से बना है।

इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—**"एजतीत्येजी वायुः कम्पनशीलत्वात्"**। अर्थात् कम्पनशील होने के कारण वायु को **'एज'** कहते है और जुगुप्सा का अर्थ निवृत्ति है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त होने मे वह व्यक्ति समर्थ है, जो सूत्रकार की भाषा मे निम्नोक्त गुणो से युक्त होता है—

मूलम्—आयंकदंसी अहियंति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं॥57॥

छाया—आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा, योऽध्यात्मं जानाति स बहिर्जानाति यो बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं जानाति एतां तुलामन्वेषयेत्।

पदार्थ—अहियं ति—वायुकायिक जीवो की रक्षा वही कर सकता है, जो आरभ को अहितकर। **णच्चा**—जानकर। **आयंकदसी**—आतकदर्शी—दु खो का ज्ञाता है, द्रष्टा है। **जे**—जो। **अज्झत्थं**—आत्मस्थित-अपने सुख-दु ख को। **जाणइ**—जानता है। **से**—वह। बहिआ—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख आदि को जानता है। **जे**—जो। **बहिया**—अन्य प्राणियो के सुख-दु ख को। **जाणइ**—जानता है। **से**—वह। **अज्झत्थं जाणइ**—अपने सुख-दु ख को जानता है। **एव**—इन दोनो को। **तुलं**—तुल्य। **अन्नेसि**—गवेषण करे, अर्थात् जगत के अन्य जीवो को अपने समान जानकर उनकी रक्षा करे।

मूलार्थ—वायुकायिक जीवो की हिसा को दु खोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने मे समर्थ होता है और जो अपने सुख-दु ख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियों के सुख-दु ख आदि को भी जानता है, और जो प्राणि-जगत के सुख-दु ख को जानता है, वह अपने सुख-दुःख को भी जानता है। इस तरह मुनि अपने एवं प्राणिजगत के, अर्थात समस्त प्राणियों के सुख-दु ख को समान समझ कर सब की रक्षा करे।

हिन्दी-विवेचन

ससार में दो प्रकार का आतक होता है—1. द्रव्य-आतक और 2 भाव-आतंक।

विष आदि ज़हरीले पदार्थों से मिश्रित भोजन द्रव्य आतक है और नरक, तिर्यच आदि गतियो मे भोगे जाने वाले दु ख भाव आतक कहलाते है। इन उभय आतकों के स्वरूप को भली-भाति जानने वाला आतंकदर्शी कहलाता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आरम्भ-समारम्भ एव पाप-कार्य से डरने वाला व्यक्ति ही आतकदर्शी होता है क्योंकि आरम्भ-समारम्भ से पापकर्म का बन्ध होता है और पापकर्म के बन्धन से जीव नरक आदि गतियों में उत्पन्न होता है और वहा विविध दु खो का सवेदन करता है। अस्तु, उन दु:खो से डरने वाला, अर्थात् नरक आदि गति मे महावेदना का सवेदन न करना पडे, ऐसी भावना रखने वाला आतकदर्शी व्यक्ति सदा आरम्भ-समारम्भ से बचकर रहता है, वह हिसा से निवृत्त रहता है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक कार्य करता है, फलस्वरूप वह पापकर्म का बन्ध नही करता और न नरक-तिर्यच के दु खों का सवेदन ही करता है।

इसमे यह स्पष्ट हो गया कि जो आतंकदर्शी है, वही व्यक्ति हिंसा को अहितकर एव दु खजनक समझकर उससे निवृत्त होने मे समर्थ है। वस्तुस्थिति भी यही है कि हिसा को अहितकर समझने वाला ही उसका परित्याग कर सकता है। जो व्यक्ति हिसा के भयावने परिणाम से अनभिज्ञ है तथा हिसा को अहितकर एव बुरा नहीं समझता है, उससे हिंसा से निवृत्त होने की आशा भी कैसे रखी जा सकती है? अत. आतकदर्शी ही हिसा से निवृत्त हो सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'जे अज्झत्थं जाणइ.. ...'** आदि पद भी बडे महत्त्वपूर्ण है। इन पदो के द्वारा सूत्रकार ने आत्म-विकास की ओर गतिशील आत्मा का वर्णन किया है। वास्तव मे वही व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास कर सकता है, जो अपने सुख-दु:ख के समान ही अन्य प्राणियो के सुख-दुःख को देखता है तथा दूसरो के सुख-दु ख के समान ही अपने सुख-दु.ख को समझता है या यो कहिए जो अपनी आत्मा के तुल्य ही समस्त प्राणियो की आत्मा को देखता है, वही विकासगामी है या मोक्षमार्ग का पथिक है।

जब दृष्टि मे समानता आ जाती है, तो फिर व्यक्ति किसी भी प्राणी को पीडा पहुंचाने का प्रयत्न नही करता। वह अपने सुख या स्वार्थ के लिए दूसरे के सुख, स्वार्थ एवं हित पर आघात—चोट नहीं करता। दूसरे को दुःख, कष्ट पहुंचाकर भी

अपने सुख एव स्वार्थ को साधने की भावना तभी तक बनी रहती है, जब तक दृष्टि मे विषमता है, अपने और पराये सुख का भेद है। अत. समानता की भावना जागृत होने के बाद आत्मा की विचारधारा मे और विचार के ही अनुरूप आचार मे परिवर्तन हो जाता है। फिर तो मनुष्य आत्मा (अपनी) तुला से प्राणिमात्र के सुख-दु:ख को तौलता हुआ सदा प्राणिमात्र के सरक्षण मे सलग्न रहता है। यही उसकी आत्मा का विकास-मार्ग है, मोक्षमार्ग है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि आतंकदर्शी अपनी आत्मतुला से प्राणी जगत के सुख-दु ख को तोलकर हिसा से निवृत्त होता है, अर्थात् समस्त प्राणियो की रक्षा मे प्रवृत्त होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वह आतकदर्शी साधक स्थावर जीवो की या वायुकायिक जीवो की रक्षा मे किस प्रकार प्रवृत्त होता है? इसी बात का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं ॥58॥

छाया—इह शान्तिगताः द्रविका· नावकाङ्क्षन्ति जीवितुम्।

पदार्थ—इह—इस जिन-शासन मे। **संतिगया**—शांति को प्राप्त हुए। **दविया**—राग-द्वेष से रहित सयमी मुनि वायुकाय की हिसा से। **जीविउं**—अपने जीवन को रखना। **णावकंखंति**—नही चाहते।

मूलार्थ—इस जिनशासन मे शान्ति को प्राप्त हुए मोक्षमार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवो की हिसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नही करते।

हिन्दी-विवेचन

यह हम सदा देखते है कि प्रत्येक व्यक्ति को—प्रत्येक प्राणी को, जीवन प्रिय है और प्रत्येक व्यक्ति जीवन को अधिक-से-अधिक समय तक बनाए रखने की इच्छा रखता है और इसके लिए वह हर प्रकार का कार्य कर गुजरता है। आज दुनिया मे चलने वाले छल-कपट, झूठ, फरेब, हिसा, चोरी आदि पापकार्य इस क्षणिक जीवन के लिए ही तो किए जाते है। इसके लिए प्रमादी व्यक्ति बड़े-से-बडा पाप एव जघन्य कार्य करते हुए नही हिचकिचाता है।

एक ओर जीवन का यह पहलू है, तो दूसरी ओर जिनके जीवन मे ज्ञान का प्रकाश जगमगा रहा है—दया का, अहिसा का शीतल झरना बह रहा है, वहां जीवन का दूसरा चित्र भी है। या यों कहना चाहिए कि एक ओर जहा अपने जीवन के लिए, अपने स्वार्थ के लिए दूसरे प्राणियो की रक्षा के लिए तत्पर रहता है और यहा तक कि उनकी रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे देता है, परन्तु अपने जीवन के लिए वायुकाय आदि किसी भी प्राणी की हिसा नही करता।

दया, रक्षा एव अहिंसा की यह पराकाष्ठा जैन शासन मे ही है, अन्यत्र नही। 'इह' शब्द दया एव अहिसा-प्रधान जैनधर्म का परिबोधक है। **'संतिगया'** शब्द—1 प्रशम, 2 सवेग, 3 निर्वेद, 4 अनुकम्पा और 5 आस्तिक्य को अभिव्यक्त करने वाले सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के रूप मे प्रयुक्त हुआ है और सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष रूप पूर्ण आनन्द या शान्ति का मूल कारण है, इसलिए इस आध्यात्मिक त्रिवेणी सगम को शान्ति कहा है। ऐसे शात या मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधको को **'संतिगया—शांतिगताः'** कहा है।

'दविया-द्रविका' का अर्थ—**'द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ताः'**, अर्थात् राग-द्वेष से उन्मुक्त भव्य आत्मा को द्रविक कहते हैं। 17 प्रकार के संयम का नाम द्रव है क्योंकि, सयम-साधना से कर्म की कठोरता को द्रवीभूत कर दिया जाता है। इसलिए सयम को द्रव कहा गया है और उक्त सयम को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु पुरुष को द्रविक कहते हे।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र का अर्थ हुआ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना से परम शाति को प्राप्त महापुरुष वायुकायिक जीवो की हिंसा करके अपने जीवन को टिकाए रखने की आकाक्षा नहीं रखते। तात्पर्य यह निकला कि उन्हे अपने जीवन की अपेक्षा दूसरे के जीवन का अधिक ध्यान रहता है। इसलिए वे अपने सुख के लिए, अपने स्वार्थ के हेतु या अपने जीवन को बनाए रखने की अभिलाषा से दूसरे प्राणियो के सुख, हित, स्वार्थ एव जीवन पर हाथ साफ नहीं करते। क्योंकि, अपनी आत्मा के समान ही जगत के अन्य जीवों की आत्मा है। अत अपने स्वार्थ के लिए वे दूसरो की हिसा की आकाक्षा नहीं रखते हुए, प्राणिजगत पर दया, उनकी रक्षा एव उन पर

अनुकम्पा करते है। अत· अहिसा का इतना सूक्ष्म एव श्रेष्ठ स्वरूप जेन शासन के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म में नही मिलता[1]।

अस्तु, हम यह कह सकते है कि जैन साधु ही त्रस एव स्थावर जीवो के सरक्षक हो सकते है। वे हिसा के सर्वथा त्यागी होते है। अत· सूत्रकार अन्य मत वालो के सबन्ध में कहते है–

मूलम्–लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अणे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहि वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेण वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥59॥

छाया–लज्जमानान् पृथक् पश्य, अनगाराः स्म इत्येके प्रवदमानाः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रै· वायुकर्मसमारभेण वायुशस्त्र समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिन· विहिसन्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, अस्य चैव जीवितस्य परिवदन-मानन-पूजनाय जाति-मरण विमोचनाय दुःखप्रतिघातहेतुं स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारंभते, अन्यैश्च वायुशस्त्रं समारम्भयति अन्यान् वा वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते तत् तस्य अहिताय तत् तस्य अबोधये, स तत् सबुध्यमानः आदानीय समुत्थाय श्रुत्वा भगवतः अनगाराणामन्तिके इह एकेषां

---

1 इहैव जैन प्रवचने य सयमस्तद्व्यवस्थिता एवोन्मूलितातितुङ्गरागद्वेषद्रुमा परभूतोपमर्द-निष्पन्नसुखजीविकानिरभिलाषा साधव, नान्यत्र, एवविधक्रियावबोधाभावादिति।
–आचाराग सूत्र 58, टीका

ज्ञात भवति एष खलु ग्रन्थः, एष खलु मोहः, एष खलु मारः, एष खलु नरकः इत्यर्थ गृद्धो लोकः यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्म-समारम्भेण वायुशस्त्रं समारंभमाणाः अन्यान् अनेकरूपान् प्राणिनः विहिनस्ति।

पदार्थ—**लज्जमाणा**—लज्जा पाते हुए। **पुढो**—पृथक्-पृथक् वादियों को। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **अणगारामो त्ति**—हम अनगार है। **एगे**—कई एक। **पवयमाणा**—कहते हुए। **जमिणं**—जिससे वे। **विरूवरूवेहि**—नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **वाउकम्मसमारंभेणं**—वायु कर्म समारभ से। **वाउसत्थं**—वायुकाय शस्त्र के द्वारा। **समारभमाणा**—समारम्भ करते हुए। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिसंति**—हिसा करते है। **तत्थ**—उस आरम्भ के विषय मे। **खलु**—निश्चय ही। **भगवया**—भगवान ने। **परिण्णा**—परिज्ञा का। **पवेइया**—प्रतिपादन किया है। **इमस्स चेव**—इस असार जीवन के लिए। **परिवदणमाणणपूयणाए**—प्रशसा, मान और पूजा के लिए। **जाइ-मरण-मोयणाए**—जन्म-मरण से छूटने के लिए। **दुक्खपडिघायहेउं**—अन्य दु खो के विनाशार्थ। **से**—वह। **सयमेव**—स्वय ही। **वाउसत्थ**—वायुकाय शस्त्र का। **समारभति**—समारम्भ करता है। **वा**—अथवा। **अण्णेहि**—दूसरो से। **वाउसत्थ**—वायु-शस्त्र का। **समारंभावेइ**—समारम्भ कराता है। **अण्णे**—अन्य। **वाउसत्थं**—वायु-शस्त्र का। **समारंभमाणे**—समारम्भ करने वालो की। **समणुजाणइ**—अनुमोदन करता है। **त**—वह-वायुकाय का आरम्भ। **से**—उसको। **अहियाए**—अहित के लिए है। **त**—वह-आरम्भ। **से**—उसको। **अबोहीए**—अबोधि के लिए है। **से**—वह। **त**—उस आरम्भ के फल को। **संबुज्झमाणे**—जानता हुआ। **आयाणीय**—आचरणीय-सम्यग् दर्शनादि का। **समुट्ठाय**—ग्रहणकर। **सोच्चा**—सुनकर। **भगवओ**—भगवान या। **अणगाराण**—अनगारो के। **अंतिए**—समीप। **इह**—इस जिन शासन मे। **एगेसि**—किसी-किसी प्राणी को। **णायं भवति**—यह ज्ञात होता है कि। **एस खलु**—निश्चय ही यह आरभ। **गथे**—आठ कर्मो की ग्रन्थि रूप है। **एस खलु**—यह आरभ। **मोहे**—मोहरूप है। **एस खलु**—निश्चय ही यह आरभ। **मारे**—मृत्यु रूप है। **एस खलु**—निश्चय ही यह आरम्भ। **णरए**—नरक का कारण होने से नरक रूप है। **इच्चत्थं**—इस प्रकार अर्थ में। **गड्ढिए**—मूर्च्छित है। **लोए**—लोक-प्राणि-समुदाय। **जमिणं**—जिससे। **विरूवरूवेहिं**—नाना प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **वाउकम्मसमारंभेणं**—वायु कर्म समारंभ से। **वाउसत्थं**—वायु-शस्त्र का।

समारंभमाणे—समारभ करता हुआ। **अण्णे**—अन्य। **अणेगरूवे**—अनेक प्रकार के। **पाणे**—प्राणियो की। **विहिंसति**—विविध प्रकार से हिसा करता है।

मूलार्थ—हिसा से लज्जित हुए दूसरे वादियो को हे शिष्य' तू देख। ये लोग, 'हम अनगार है' इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रो से वायु कर्म-समारभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारम्भ-प्रयोग करते हुए साथ मे अन्य प्रकार के भी अनेक प्राणियो की हिसा करते है। इस विषय मे भगवान ने परिज्ञा—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। ये प्रमादी जीव इस निसार जीवन के निमित्त प्रशसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दु खो के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रो द्वारा स्वय वायुकाय की विराधना करते है, दूसरो से कराते है तथा अन्य करने वालो की प्रशसा करते है, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अबोध के लिए है। इस प्रकार वायुकाय समारभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके सभावित साधुओ से सुनकर सम्यक् श्रद्धा-युक्त बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस ससार मे किसी-किसी व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्ट कर्मो की ग्रन्थि रूप हे, मोह, मृत्यु और नरक रूप है। ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकाक्षी लोक-प्राणिसमूह इससे पराड्मुख नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रो द्वारा वायुकाय-समारम्भ से वायुकाय के जीवो की विराधना के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियो का भी विनाश करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे उसी बात का दोहराया गया है, जिसका वर्णन पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के प्रकरण मे कर चुके है। अन्तर इतना ही है कि वहा पृथ्वी आदि का उल्लेख किया गया है, तो यहा वायुकाय का प्रकरण होने से वायुकाय का नामोल्लेख किया गया है।

योग-पद्धति से प्रस्तुत सूत्र का विवेचन करते है, तो वह सूत्र साधना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वायु से आरोग्य लाभ के साथ-साथ आत्मा मे अनेक शक्तियो एव लब्धियो या सिद्धियो का प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि, मन एव प्राणवायु का एक ही स्थान है। एक का निरोध करने पर दूसरे का सहज ही निरोध हो जाता है। इस

अपेक्षा से वायु को व्यवस्थित करने से मन मे एकाग्रता आती है। इससे चिन्तन में गहराई एव सूक्ष्मता आती है। फलस्वरूप ज्ञान का विकास होता है और आत्मा धीरे-धीरे विकास की सीढ़ियो को पार करते-करते एक दिन शरीर, वचन और मन योग के निरोध के साथ-साथ प्राणवायु का भी सर्वथा निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। चौदहवें गुणस्थान मे पहुच कर आत्मा त्रियोग के साथ 'आण-पाण निरोहिइत्ता' अर्थात् श्वासोच्छ्वास का भी सर्वथा निरोध कर लेता है। श्वासोच्छ्वास का संबन्ध योग के साथ है, क्योकि शरीर मे ही सास का आवागमन होता है और वाणी एव मन का भी शरीर के साथ ही सबन्ध है। त्रियोग मे शरीर सबसे स्थूल है, वाणी उससे सूक्ष्म है, और मन सबसे सूक्ष्म है। इसी कारण चौदहवे गुणस्थान को स्पर्श करते ही आत्मा सर्वप्रथम मन का निरोध करता है, उसके बाद वाणी का और फिर शरीर का निरोध करके समस्त कर्म-बन्धनो एव कर्म-जन्य साधनो से मुक्त होकर शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करता है। अस्तु चौदहवे गुणस्थान को स्पर्श करके सिद्धत्व को पाना ही साधना का एकमात्र उद्देश्य है और इसके लिए वायु का व्यवस्थित रूप से निरोध करना लक्ष्य तक पहुचने में सहायक होता है। इसकी साधना मे साधक को अनेक लब्धियां प्राप्त होती है। स्वरोदय शास्त्र का आविष्कार इसी वायु-तत्त्व के आधार पर हुआ है। परन्तु इन सब शक्तियो का उपयोग आध्यात्मिक साधना को विकसित करने के लिए करना चाहिए, न कि ऐहिक सुखो के लिए। क्योंकि भौतिक सुख क्षणिक हैं और उनके पीछे दु खो का अनन्त सागर ठाठे मार रहा है। अत साधक को भौतिक सुखो की मृगतृष्णा को त्याग कर अपनी शक्ति को आत्मा को कर्मो से सर्वथा निरावरण करने मे ही लगाना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र का यही तात्पर्य है।

अब सूत्रकार इस बात को बताते हे कि जो व्यक्ति त्रस और स्थावर जीवो की हिसा मे आसक्त रहता है, उसे उसका कटु फल भोगना पडता है। अत· मुनि को हिसा से सर्वथा दूर रहना चाहिए। इसी बात को स्पप्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से बेमि संति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघाय मावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ

सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा णेवऽण्णे वाउसत्थं समारम्भंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते वाउसत्थं समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि॥60॥

छाया—सः (अहं) ब्रवीमि, सन्ति सम्पातिमाः प्राणिनः आहत्य संपतन्ति च स्पर्श च खलु स्पृष्टा एके संघातमापद्यन्ते, ये तत्र सघातमापद्यन्ते ते तत्र पर्यापद्यन्ते, ये तत्र पर्यापद्यन्ते ते तत्र अपद्रावन्ति, अत्र शस्त्रं समारभमाणस्य इत्येते आरभा अपरिज्ञाता भवन्ति, अत्र शस्त्रमसमारभमाणस्य इत्येते आरंभा परिज्ञाता भवन्ति, तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वय वायुशस्त्रं समारंभेत, नैवान्यैश्च वायु शस्त्रं समारम्भयेत् नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् यस्येते वायु शस्त्र समारंभाः परिज्ञाता भवन्ति, सः खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। **बेमि**—मै कहता हू। **संपाइमा**—सपातिम-उडने वाले। **पाणा**—प्राणी जो। **सति**—है वे। **आहच्च**—कदाचित्। **संपयंति**—वायुकाय के चक्र मे आ पडते है। **य**—फिर वे। **फरिसं**—वायुकाय के स्पर्श को। **पुट्ठा**—स्पर्शित होते है। **च, खलु**—दोनो समुच्चयार्थक है। **एगे**—कोई एक जीव। **संघायमावज्जंति**—शरीर-संकोच को प्राप्त हो जाते है। **जे**—जो। **तत्थ**—वहां पर। **सघायमावज्जति**—शरीर-सकोच को प्राप्त होते है। **ते**—वे जीव। **तत्थ**—वहा पर। **परियावज्जंति**—मूर्च्छा को प्राप्त हो जाते है। **जे**—जो जीव। **तत्थ**—वहा पर। **परियावज्जति**—मूर्च्छा को प्राप्त करते है। **ते**—वे जीव। **ततयं**—वहा पर। **उद्दायंति**—मृत्यु को प्राप्त करते है—मर जाते है। **एत्थ**—इस वायुकाय मे। **सत्थं**—शस्त्र का। **समारंभमाणस्स**—समारभ करने वाले को। **इच्चेते**—ये सब। **आरंभा**—आरभ। **अपरिण्णाया भवंति**— अपरिज्ञात—ज्ञात और प्रत्याख्यात नही होते है। **एत्थ**—इस वायुकाय में। **सत्थं**—शस्त्र का। **असमारंभ-माणस्स**—समारम्भ न करने वाले के। **इच्चेते**—ये सब। **आरंभा**—आरभ। **परिण्णाया भवति**—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है। **तं**—उस आरभ के। **परिण्णाय**—द्विविध

परिज्ञा से जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान। **णेव संय**—न तो स्वय। **वायु-सत्थं**—वायु शस्त्र द्वारा। **समारंभेज्जा**—समारभ करे और। **णेवण्णेहि**—न दूसरो से। **वाउसत्थं**—वायु शस्त्र द्वारा। **समारंभावेज्जा**—समारंभ करावे और। **णेवण्णेहिं**—न दूसरो से। **वाउसत्थं**—वायु शस्त्र द्वारा **समारंभावेज्जा**—समारंभ करावे और। **णेवण्णे**—न दूसरो से। **वाउसत्थं**—वायु-शस्त्र द्वारा। **समारंभावेज्जा**—समारम्भ करावे और। **णेवण्णे**—न दूसरो की जो। **वाउसत्थं समारंभंते**—वायु शस्त्र द्वारा समारभ कर रहे है, उनकी। **समणुजाणेज्जा**—अनुमोदना-प्रशसा करे। **जस्सेते**—जिसके ये। **वाउसत्थ समारंभा**— वायु शस्त्र समारंभ। **परिण्णाया भवति**—परिज्ञात-ज्ञात और प्रत्याख्यात होते है। **से हु मुणी**—वही निश्चय से मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञातकर्मा कहलाता है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—मै कहता हू कि हे जम्बू! उडनेवाले जीव वायु के चक्कर में आ पडते है। फिर वायु का स्पर्श लगने से शरीर को सकुचित कर लेते है और मूर्च्छित हो जाते हे। ओर मूर्च्छित दशा मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। वायु के आरभ से जो निवृत्त नही हुए, वे अपरिज्ञात होते है, तथा जो वायु शस्त्र समारम्भ से निवृत्त हो गए हे, वे परिज्ञात होते है। जिस आत्मा ने वायु शस्त्र द्वारा समारम्भ छोड दिया है वही बुद्धिमान है तथा जो स्वय वायु शस्त्र के द्वारा समारभ न करता, दूसरो से समारम्भ नही कराता, तथा जो समारभ करता है, उसकी प्रशसा भी नही करता एवं जिस व्यक्ति के आरभ परिज्ञात और प्रत्याख्यात होता है, वही मुनि वास्तव मे परिज्ञातकर्मा कहलाता है।

हिन्दी-विवेचन

वायु के प्रवाह मे बहुत-से छोटे-मोटे जीव मूर्च्छित होकर अपने प्राण खो देते हैं और यह भी स्पष्ट है कि वायु के साथ अन्य अनेक त्रस जीव रहे हुए है। अत· वायु का आरम्भ करने से उनकी भी हिसा हो जाती है। जैसे पखा चलाने से वायु के साथ अन्य त्रस जीवों की हिसा हो जाती है। इसी प्रकार ढोल, मृदंग एव अन्य वाद्ययन्त्रो का उपयोग करने से वायु के साथ अनेक प्राणियों की हिसा होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को वायु के समारम्भ से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

जो व्यक्ति वायुकाय का समारम्भ करता है, वह उसके स्वरूप को भलीभाति नही जानता है। इसी कारण वह उसकी हिसा मे प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस व्यक्ति को वायु के आरम्भ का स्वरूप परिज्ञात है, वह उसके आरम्भ मे प्रवृत्त नही होता। इसलिए वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहा गया है। यह प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य है। **'त्ति बेमि'** का अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिए।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देशको मे सामान्य रूप से आत्मा और कर्म के सबन्ध का तथा छह उद्देशको मे पृथक्-पृथक् रूप से षट्काय का वर्णन करके अब उपसहार के रूप मे सूत्रकार षट्काय के स्वरूप का एव उसकी हिसा से निवृत्त होने का उपदेश देते हुए कहते है–

मूलम्–एत्थंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरभमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरम्भसत्ता पकरंति संगं॥61॥

छाया–एतस्मिन्नपि जानीहि उपादीयमानान् ये आचारे न रमन्ते, आरंभमाणा विनयं वदन्ति, छन्दसा उपनीताः अध्युपपन्ना· आरंभसक्ता· प्रकुर्वन्ति संगम्।

पदार्थ–एत्थपि–वायुकाय एवं अन्य पृथ्वी आदि छह काय का जो आरभ करते है, वे। **उवादीयमाणा**–कर्मो से आबद्ध होते है। **जाणे**–हे शिष्य तू! इस बात को देख कि आरभ कौन करते है? **जे आयारे ण रमति**–जो आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार मे रमण नही करते, और। **आरभमाणा**–आरभ करते हुए। **विणय**–हम सयम मे स्थित है, इस प्रकार। **वयंति**–बोलते है। **छदोवणीया**–वे अपने विचारानुसार स्वेच्छा से विचरण करने वाले। **अज्झोववण्णा**–विषयो में आसक्त हो रहे है, तथा। **आरभासत्ता**–आरभ में आसक्त है, ऐसे प्राणी। **पकरंति संगं**–आत्मा के साथ अष्टकर्मो का संग करते है अर्थात् अष्टकर्मो से आवद्ध होकर ससार मे परिभ्रमण करते है।

मूलार्थ–हे शिष्य! तू इस बात को भली-भांति जान ले कि जो जीव छह काय का आरभ करते है, वे कर्मो से आबद्ध होकर संसार मे परिभ्रमण करते है। और वे ही जीव हिसा मे प्रवृत्त होते है, जो पचाचार में रमण नही करते है, वे स्वेच्छाचारी

अपने आपको सयमी कहते हुए भी विषय-वासना एव आरभ मे आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मो का संग करते है।

हिन्दी-विवेचन

पीछे के उद्देशको मे इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी आदि जीवो की हिसा कर्मबन्ध का कारण है। इस सूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि एक काय की हिंसा करने वाला छह काय के जीवो की हिसा करता है। जैसे जो व्यक्ति पृथ्वी की हिंसा करता है, उससे पृथ्वीकायिक जीवो के आश्रय में रहे हुए अन्य अप्कायिक तेजस्कायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रस जीवो की हिसा भी होती है। इसी प्रकार अन्य जीवो की हिसा के सबन्ध मे भी जानना चाहिए। इस प्रकार छहकाय का आरम्भ-समारम्भ करने मे कर्मो का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप ससार-परिभ्रमण एव दु ख-परम्परा का प्रवाह बढता है।

कुछ व्यक्ति अपने आपको साधु कहते हुए भी हिसा मे प्रवृत्त होते है। इसका कारण यह है कि वे शब्दो से अपने आप को साधु कहते है, परन्तु आचार की दृष्टि से वे अभी साधुत्व से बहुत दूर है, क्योकि वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे रमण नही करते है और जब तक आचार को, सम्यक् चारित्र को क्रियात्मक रूप से स्वीकार नही करते, तव तक उनकी प्रवृत्ति साधुत्व में नही होती। इसी कारण वे आचार-रहित व्यक्ति विषय-वासना मे आसक्त होकर विभिन्न प्रकार से अनेक जीवो की हिंसा करते है। इसलिए उनका सावद्य अनुष्ठान कर्मबन्ध का कारण है और परिणामस्वरूप वे ससार में परिभ्रमण करते है।

इसलिए मुमुक्षु को षट्कायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए। कौन व्यक्ति जीवो की हिसा से निवृत्त हो सकता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पाव कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवनिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेते छज्जीवनिकायसत्थं समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे, त्ति बेमि॥62॥

छाया—स वसुमान् सर्व-समन्वागतप्रज्ञानेनात्मना अकरणीयं पापं कर्म नान्वेषयेत् तत् परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्र समारंभेत, नौवन्यैः षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकाय शस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीयात् यस्यैते षड्जीवनिकायशस्त्र-समारंभा परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह छह काय के आरभ से निवृत्त हुआ मुनि। **वसुम**—चारित्र रूप धन-ऐश्वर्य-सपन्न। **सव्वसमण्णागयपण्णाणेण**—सर्व प्रकार से बोध एवं ज्ञान-युक्त। **अप्पाणेणं**—अपनी आत्मा से। **अकरणिज्जं**—अकरणीय-अनाचरणीय है, जो। **पाव कम्म**—18 पाप कर्म, उनके। **णे अण्णेसिं**—उपार्जन का प्रयत्न न करे। **त**—उस पाप कर्म को। **परिण्णाय**—जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान साधु। **णेव सयं**—न स्वय। **छज्जीवनिकायसत्थ**—छह काय के शस्त्र का। **समारंभेज्जा**—समारंभ करे। **णेवण्णेहि**—न अन्य से। **छज्जीवनिकाय-सत्थ**—छहकाय के शस्त्र का। **समारभावेज्जा**—समारभ करावे तथा। **छज्जीवनिकायसत्थ**—छहकाय के शस्त्र का। **समारभते**—समारंभ करने वाले। **अण्णे**—अन्य व्यक्ति को। **णेव समणुजाणेज्जा**—न अच्छा समझे या उसका समर्थन भी न करे। **जस्सेते**—जिसके ये। **छज्जीवनि-कायसत्थं समारभा**—छहकाय के शस्त्र के समारभ। **परिण्णाया भवति**—परिज्ञात है। **से हु मुणी**—वही मुनि। **परिण्णायकम्मे**—परिज्ञातकर्मा है। **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—वह संयम रूप ऐश्वर्य-सपन्न साधु सर्व प्रकार से वोध एव ज्ञान-युक्त होने से वह आत्मा से अकरणीय 18 पाप कर्मो को जानकर और छह काय की हिसा से पापकर्म का बन्ध होता है, ऐसा समझ कर, न तो स्वय छह काय की हिसा करता है, न अन्य से कराता है और न हिसा करने वाले का समर्थन ही करता है। यह आरभ-समारभ जिसे परिज्ञात हे, वही मुनि परिज्ञातकर्मा कहलाता है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

जीवन मे धन-ऐश्वर्य का भी महत्व है। ऐश्वर्य एकान्तत· त्याज्य नही है। क्योकि धन-ऐश्वर्य भी दो प्रकार का है—1 द्रव्य धन और 2 भाव धन। स्वर्ण,

चादी, रत्न, सिक्का, धन्य आदि भौतिक पदार्थ द्रव्य धन है। इससे जीवन मे आसक्ति बढ़ती है, इस कारण इसे त्याज्य माना है। क्योंकि यह राग-द्वेष जन्य है तथा राग-द्वेष को बढाने वाला है।

सम्यग् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र भाव धन-ऐश्वर्य है और यह आत्मा की स्वाभाविक निधि है। इस ऐश्वर्य का जितना विकास होता है, उतना ही राग-द्वेष का ह्रास होता है। अस्तु, उक्त ऐवश्र्य से सम्पन्न मुनि को धनवान कहा गया है। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से युक्त मुनि अनाचरणीय पाप कर्म का सेवन नही करता। वह 18 प्रकार के सभी पापों से दूर रहता है[1]। इन पापों के आसेवन से आत्मा का अध पतन होता है, इसलिए इन्हे पाप कर्म कहा गया है।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छह काय की हिंसा से पाप कर्म का बन्ध होता है और उससे आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है। अत इस बात को भली-भाति जानने एव हिसा का त्याग करने वाला साधु न स्वय छह काय की हिसा करे, न दूसरे को हिंसा करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसक के हिसा-कार्य का समर्थन ही करे।

'अप्पाणेण' पद से आत्मा के कर्तृत्त्व और भोक्तृत्व को सिद्ध किया गया है, अर्थात् यह बताया गया है कि आत्मा स्वय कर्म का कर्त्ता है और वही स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता भी है। ओर **'परिण्णायकम्मे'** शब्द से सयम-सपन्न मुनि के लिए बताया गया है कि ज्ञ परिज्ञा से हिसा के स्वरूप को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका परित्याग करे। अर्थात् उक्त शब्द से ज्ञान और क्रिया युक्त मार्ग को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत विषय पर हम पिछले उद्देशको मे विस्तार से विचार कर चुके है। इस लिए यहा फिर से पिष्ट-पेषण करना नही चाहते। **'त्ति बेमि'** का अर्थ भी पूर्ववत् है।

सप्तम उद्देशक समाप्त

॥शस्त्रपरिज्ञा प्रथम अध्ययन समाप्त॥

---

1 प्राणातिपात, 2 मृषावाद, 3 अदत्तादान, 4 मैथुन, 5 परिग्रह, 6 क्रोध, 7 मान, 8 माया, 9 लोभ, 10 राग, 11 द्वेष, 12 कलह, 13 अभ्याख्यान-कलक, 14 पैशुन्य, 15 परपरिवाद, 16 रति-अरति, 17 माया-मृषा और 18 मिथ्यादर्शनशल्य। ये 18 प्रकार के पाप कहे गए है।

अध्यात्मसार : 7

मूलम्—पहू एजस्स दुगुंछणाए॥1/7/56

मूलार्थ—हे शिष्य! वक्ष्यमाण गुणों वाला व्यक्ति वायुकायिक जीवों के आरम्भ से निवृत्त होने मे समर्थ होता है।

पहू—अर्थात्—प्रभु या समर्थ, यह दो प्रकार से होता है—1 बाह्य—शारीरिक रूप से समर्थ, 2 आभ्यतर—दर्शनमोह एव चारित्र मोहनीय कर्मो का क्षयोपशम। इन दोनो के योग से श्रमणत्व आता है। इसमे भी आवश्यक है आन्तरिक सामर्थ्य।

संसार—ससार का अर्थ बाह्य शक्ति का संवर्धन एव विकास।

मोक्ष—मोक्ष का अर्थ आन्तरिक शक्ति का सवर्धन एव विकास।

समर्थ कौन होता है? इन वक्ष्यमान गुणों से युक्त व्यक्ति ही समर्थ होता है, क्योकि इन गुणों के कारण उसमे दुगुछणाए—जीवो के आरभ-समारभ से निवृत्ति, सर्वजीवो के प्रति मैत्री, इन्द्रियो के विषयो से विरक्ति एव देह-भाव से उपरति, स्वभाव मे सदा ही प्रवृत्ति रूप स्वाभाविक गुण होता है, ऐसा व्यक्ति 'पहू' प्रभु या समर्थ है। जैसे—शूकर की स्वभाविक वृत्ति है विष्ठा खाने की। इसी प्रकार देहाध्यास के रहते, मोहनीय कर्म के दर्शन-मोह तथा चारित्र मोह के उदय मे आरभ-समारंभ की, विपय-विलास की स्वाभाविक वृत्ति होती है। मोहनीय कर्म के क्षय से आत्म-तत्त्व का बोध होने पर आरभ-समारंभ से निवृत्ति-रूप स्वरूप-रमण की स्वाभाविक वृत्ति जागरूक होती है।

कोई शूकर को जाति-स्मरण ज्ञान होने पर यदि विष्ठा का त्याग करे, तब अन्य शूकर उसके बारे में क्या कहेगे? वह बडा त्यागी है। वस्तुत ज्ञान के प्रकाश में उसे पता लग गया कि सार क्या है और असार क्या है।

ससारी किसे कहते है? जो निस्सार को सार मानता है। जैसे जिस शूकर को ज्ञान हो जाए तो वह स्वय विष्ठा का त्याग कर अन्य को भी विष्ठा का त्याग करने

की प्रेरणा करेगा और यदि अन्य शूकर उसकी बात को प्रमाणरूप मानकर उसका अनुसरण करें, तब उन अन्य शूकरो को लाभ होगा या हानि? निश्चित ही लाभ होगा। प्रत्येक व्यक्ति के पास बोध नही होता। लेकिन जिनके पास बोध है, उनकी वाणी को स्वीकार कर आचरण करने से अवश्य ही लाभ होता है। इसलिए हमें भी तीर्थकर भगवान की वाणी को यथातथ्य स्वीकार करना चाहिए। लेकिन कई लोग सबूत मागते है कि हमे बताओ कि विष्ठा क्यो ठीक नही है। ज्ञान का क्या प्रमाण है? ज्ञान तो स्वयं ही स्वयं का प्रमाण है।

ऐसे प्रमाण मागने वाले ही भटक जाते हैं। वे चमत्कार को प्रमाण मानते है। किसी विशेष असाधारण व्यक्ति के दर्शन एव प्रदर्शन मे विश्वास करते हैं। वे फिर संसार मे, मिथ्यात्व मे भटक जाते हैं, क्योकि ऐसी शक्तियॉ तो मिथ्यात्वी के पास भी होती है।

धर्म और अधर्म का प्रमाण

अधर्म से—उद्वेग और उपाधि वृद्धिगत होती है।

धर्म से—चित्त में सवेग और समाधि की वृद्धि होती है।

समाधि—समाधि अर्थात् कषायो की उपशांति, सकल्प एव विकल्पों का जागरूकतापूर्ण उपशमन।

धर्म चमत्कार मे नही है। धर्म तो सवेग और समाधि मे है।

कहा भी है—'जे स्वरूप समज्या बिना पाम्यो दु ख अनत' अर्थात् स्वरूप का बोध होना मुनित्व की शुरूआत है, अत नही। श्रीमद् राजचन्द्र जी कहते है कि चमत्कार के वश जब भी कोई धर्म करता है, तब वह साधारण रूप से क्षणिक होता है। अपवाद रूप से कभी-कभी चमत्कार भी धर्म-साधना का निमित्त बन जाता है। जब धर्म कर्मो के क्षयोपशम स्वरूपबोध, साधना एव सवेग के द्वारा आता है, तब वह टिकता है। अतः चमत्कारो मे नही पडना।

मूलम्—आयंकदंसी अहियंति, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से णच्चा अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसि॥1/7//57

मूलार्थ—वायुकायिक जीवो की हिसा को दुःखोत्पादक होने से जो व्यक्ति उसे अहितकर जानता है, वह उनकी रक्षा करने में समर्थ होता है और जो अपने सुख-दु ख आदि को जानता है, वह अन्य प्राणियो के सुख-दुःख को भी जानता है और जो प्राणी जगत के सुख-दु ख को जानता है, वह अपने सुख-दु.ख को भी जानता है। इस तरह मुनि अपने एवं प्राणिजगत, अर्थात् समस्त प्राणियो के सुख-दु ख को समान समझकर सबकी रक्षा करे।

1 **आयंकदसी**—आतंकदर्शी, आतंक क्या है, जो अपने लिए तथा दूसरों के लिए, उस आतक को, भय के स्थान को, भय के मूल कारण को सत्य स्वरूप में देख लेता है, वह आतकदर्शी है।

भय के मूल कारण—यदि आरभ, राग-द्वेष, इसको जो अपने अनुभव से जान लेता है, वह आतंकदर्शी है।

अहियंतिणच्या—अहितकर का बोध हो जाना। मेरे लिए एव अन्य जीवो के लिए अहितकर क्या है? अहित का कारण एव मूल क्या है? जो यह जान लेता है, वह अहियतिणच्या है।

तुलमन्नेसि—जो अपने अन्त करण को जानता है, वह दूसरो के अन्त करण को भी जानता है। जो अन्य के अन्त करण को जानता है, वह अपने अन्त करण को भी जानता है। एक अपेक्षा से जो अन्त करण मे होने वाले सुख-दु ख को जानता है, ऐसा व्यक्ति तुल्यमना बन जाता है। उसके मन मे साम्य-भाव जागृत होता है। इस प्रकार जो आरभ-समारभ मे आतक को देखता है, इस ससार मे आतक का मूल कारण क्या है, यह जानता है, ऐसा आतकदर्शी तथा जिसे अहितकर का बोध है एव जो तुल्यमना है, ऐसे व्यक्ति के चित्त में दुगछणाए—कषाय एवं विषयो से निवृत्ति-रूप, स्वरूप-रमण मे प्रवृत्ति रूप स्वाभाविक वृत्ति जागृत होती है, जिससे वह 'पहू' प्रभु या समर्थ बनता है।

मूलम्—इह संतिगया दविया णावकंखंति जीविउं॥1/7/58

मूलार्थ—इस जिनशासन में शान्ति को प्राप्त हुए मोक्षमार्ग पर गतिशील मुनि वायुकायिक जीवो को हिसा करके अपने जीवन को जीवित रखने की इच्छा नही करते।

संतिगया—जो शातिकर हो गया, परम शांति को प्राप्त हो गया, अर्थात् जिन्हे स्वरूप का बोध हो गया।

अशाति के दो प्रकार हैं—1 योग की चंचलता, 2 कषाय।

शक्ति किसमे है? शान्ति में समस्त शक्तियो का मूल है। चित्त की उपशान्ति जिससे आत्म शक्ति का विकास होता है। जितने-जितने अशो मे चित्त की उपशान्ति होगी, उतने-उतने अशो मे शक्ति मिलेगी। जिस दिन हम पूर्ण शान्त हो जाते है, उस दिन पूर्ण शक्ति एवं सामर्थ्य उपलब्ध होती है। जैसे केवली भगवान।

दविया—एक अपेक्षा से द्रव्य का बोध हो जाना। द्रव्य—अर्थात् मूलस्वरूप, सत्ता, मूलगुण, जो यथावत् सदा सर्वदा रहते है। पर्याय बदलती है। वह भिन्न-भिन्न रूप ले सकती है, लेकिन द्रव्य नही बदलता। जब व्यक्ति का, द्रव्य का आत्मगत शुद्ध स्वरूप का, मूल सत्ता का बोध हो जाता है, तब उसे लोक मे रहे हुए, सभी जीव और अजीव की सत्ता का बोध होता है। इस द्रव्यबोध के होने पर जीवैषणा, जीवाकांक्षा, जो अनेक आकाक्षाओं का मूल है, उसका विच्छेद हो जाता है।

णाव कखंति जीविउं—क्योकि उसे यह बोध हो जाता है कि मुझे कोई मार नही सकता, मेरी कोई मृत्यु नही है, न मुझे अग्नि जला सकती है, न मुझे शस्त्र छेदन कर सकता है। न पवन उडा सकता है। न मुझे पानी डुबा सकता है। मेरा अस्तित्व अजर-अमर है। तब फिर जीने की आकाक्षा कैसे रहेगी?

जीवाकाक्षा तब तक है, जब तक मरण का भय रहता है। लेकिन जब यह बोध हो जाता है कि मैं अमर हूँ, अमृत मेरा स्वरूप है, तब जीने की आकाक्षा अपने आप चली जाती है।

आरभ-समारभ मे साधक निवृत्त हो जाता है, क्योकि जब उसे ज्ञात होता है कि मेरे जीवन के लिए अन्य जीवो का आरभ-सभारभ आवश्यक नही है। जीवैषणा जो आरभ का मूल है, अनेकानेक कामनाओ की जननी है, उससे रहित होने पर अपने आप आरभ-समारभ से निवृत्ति आती है।

स्वरूपबोध होने पर जब देहाध्यास से व्यक्ति निवृत्त होता है, तब मान इत्यादि कषाय न्यूनतम, अर्थात् बहुत ही कम हो जाते है। पूर्ण कषाय क्षय तो आगे जाकर होता है, लेकिन जो सज्वलन के रूप मे रहते है, वे कभी-कभी वृद्धिगत भी हो जाते

है, परन्तु मुख्यत· न्यून ही रहते है। स्वरूपबोध होने पर कर्मबन्धन के जो आठ मूल स्थान है, जीवन, परिवन्दन इत्यादि उनमें से कुछेक का तो विच्छेद ही हो जाता है और अन्य न्यूनतम अवस्था में रहते है। अभी भी कषाय है, अतः कर्म बन्धन होता है। लेकिन जीवाकाक्षा न रहने पर वह जान जाता है कि मेरा जीवन किसी पर आधारित नही है।

इस प्रकार एक स्वरूपबोध के होने पर अनत-अनत जीवों को अभयदान मिलता है और एक आत्मज्योति जगने पर वह अनेकानेक आत्मज्योति के जागरण हेतु निमित्त बन सकती है। जीवाकाक्षा से व्यक्ति किस प्रकार मुक्त होता है? चितन-मनन एव स्वाध्याय से कुछ फर्क पडता है, परन्तु मूल है—1. सद्गुरु का सत्सग, जिन्हे स्वरूप बोध हो गया है, ऐसे आत्म ज्ञानी गुरु का सग। 2 प्रमुख कारण है आभ्यंतर साधना।

सद्गुरु की कसौटी क्या है? ऐसे तो कोई भी कसौटी काम नही आती, फिर भी व्यक्ति की मुमुक्षा ही आत्मज्ञानी की पहचान कर लेती है। आत्मज्ञानी व्यक्ति के गुणो मे मुख्य है—साम्य भाव, देहाध्यास से निवृत्ति, देहाध्यास से क्या पूर्ण निवृत्ति होती है? जहा पर हम खडे हैं, उस अपेक्षा से पूर्ण, लेकिन केवलज्ञानी भगवान की अपेक्षा से अपूर्ण। जिसे हम विदेही अवस्था कहते हैं।

'देह छता जेनी दशा वर्ते देहातीत।'

इस प्रकार अन्य लक्षण भी श्रीमद् राजचन्द ने आत्म सिद्धि में बताए है, वहा पर आप देख सकते है।

कायोत्सर्ग—द्रव्य...ठाणेण मोणेण, झाणेण अप्पाणं वोसिरामि।

भाव—स्वरूप मे रमण। आत्मस्थित हो जाना।

श्रावक को क्या पढ़ना-पढ़ाना—साधुजन सामायिक से लेकर ग्यारह अग तक अध्ययन करते थे, लेकिन श्रावक-जन नही कर सकते, क्योकि उनमे वह योग्यता नहीं है। श्रावक को यदि अध्ययन करना हो तो उसे साधु की तरह रहना चाहिए। जीवन भर के लिए पूर्णत· शीलव्रत अथवा महीने के पॉच दिन छोडकर। फिर भी यह जो ज्ञान है वह मूलत साधुजनो के लिए है। श्रावको के लिए मुख्यत उपासक-दशाग सूत्र, अतकृत दशाग सूत्र, ज्ञाता धर्म कथाग सूत्र, महापुरुषों के चरित। साधु का आचार पढकर वे क्या करेगे? हॉ, इतना अवश्य बताना जरूरी है कि साधु का मुख्य

रूप से आचार कैसा होता है। वह भी साधुजन स्वय समझाए। इसमें भी मुख्यत· गोचरी सबधी आचार—अन्न-पान-वस्त्र एव शयन सबध की गवेषणा की विधि बताना जरूरी है। इसके अतिरिक्त पॉच महाव्रत, पॉच समिति, तीन गुप्ति, साधु के सत्ताइस गुण, पचपरमेष्ठी के गुण। समाचारी को प्रकट नही करना चाहिए, क्योकि जो साधु नही है, वे समझ नही पाते। इससे अयोग्य हाथो में सत्ता चली जाती है।

गोचरी के नियमो से सुपात्र दान के नियमो से अवगत कराना जरूरी है, क्योंकि वह श्रावक का बारहवां व्रत है। बाकी अन्य बाते जहॉ-जहॉ प्रसग-वश जो-जो योग्य है, उन्हे बताना।

मुनि की साधना—मुनि वह है, जो बाह्याचार एव आभ्यतर साधना से सकल्प-विकल्प से रहित समय मे स्थित रहने की साधना करता है।

बाह्याचार से निमित्त शुद्धि, आभ्यतर साधना से उपादान शुद्धि। बाह्याचार—आगमानुसार।

आभ्यंतर साधना—ज्ञान, ध्यान, कायोत्सर्ग, प्रभु-भक्ति आदि।

निदा—कोई किसी व्यक्ति की निदा कर रहा हो तब उसे प्रोत्साहन न देना, अपितु सहज-भाव से निषेध करना। यदि वह न माने तब तटस्थता बनाए रखना, क्योंकि अशुभ बातों की चर्चा करने से पाप कर्म का बन्ध होता है, ऐसे ही शुभ सत्य और सद्गुणों की चर्चा करने से पुण्य बन्धन होता है।

प्रज्ञा—परम उत्कृष्ट रूप से, इन्द्रियो के माध्यम से किसी को जानना प्रज्ञा कहलाता है। केवलज्ञान इन्द्रियातीत है। इन्द्रियों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसमे तथा श्रुतज्ञान का सर्वोत्कृष्ट सार प्रज्ञा कहलाती है। प्रज्ञा का एक अर्थ सम्यक् ज्ञान भी होता है। शका, विभ्रम इत्यादि दोषों से रहित शुद्ध श्रुत-ज्ञान प्रज्ञा है।

प्रज्ञा कैसे जागृत होती है? दो प्रकार से, ऐसे तो प्रज्ञा जागरण के अनेको उपाय है किन्तु इनमे ये दो मनोनिरोध के, मनःविलय के सहज सरल उपाय हैं।

1. बाह्य कुम्भक—शून्य मे ठहरना, **2. सहज**—स्वाभाविक श्वास के साथ रहना। श्वास के आवागमन से स्वाभाविक रूप से होने वाली 'सोऽहं' ध्वनि के प्रति जागरूक रहना।

कई लोग केवल श्वास को देखने की बाते ही करते है। अनेक लोग साथ में सोऽह जोडने को भी कहते है। प्रथम है पैदल चलना, द्वितीय है आकाश में चलने जैसा। कुम्भकपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक भी प्राणायाम हो सकता है, किन्तु यहॉ प्राणायाम का सहज रूप है। इसमे प्राणायाम होते-होते स्वयमेव धारणा ध्यान और समाधि की ओर गति होती है। महत्त्वपूर्ण है जो भी करे, दृढ़ श्रद्धापूर्वक करे, तब अधिक लाभ होता है।

प्रज्ञा से मन की एकाग्रता, आलस्य से दूरी एवं रोगमुक्ति

मन की एकाग्रता हेतु जैसे किसी का मन लग ही न रहा हो तब प्रयत्नपूर्वक जितना गहरा लम्बा धीरे-से श्वास ले सके, लेना। श्वास को भीतर लेते समय 'सो' कहना अथवा श्वास लेने पर स्वाभाविक रूप से होने वाली 'सो' ध्वनि के प्रति जागरूक रहना। फिर जितनी देर हो सके श्वास रोककर रखना, इससे मन एकाग्र हो जाएगा। जब श्वास भीतर रोककर रखते है, उस समय कुछ भी नही करना। विचार आएगे और अपने आप चले जाएगे। मन मे किसी भी प्रकार की गिनती नही करना। तत्पश्चात् धीरे-से गहराई से श्वास छोडना और छोडते हुए 'ह' कहना अथवा श्वास छोडने पर होने वाली स्वाभाविक ध्वनि 'ह' के प्रति जागरूक रहना। उसके बाद जितना समय हो सके, शून्य बनाए रखना। कुम्भक के अनुसार शून्य मे भी कुछ नहीं करना।

इस प्रकार 10 से 15 बार करने पर मन स्वयमेव शात हो जाता है।

स्वास्थ्य-लाभ—किसी भी प्रकार की बीमारी हो, सभी के लिए यह एक अच्छा उपाय है। मन में यह धारणा करनी कि श्वास के माध्यम से श्वास के साथ वह रोग, अस्वस्थता बाहर जा रही है। ऐसा सोचते हुए, मन में धारण करते हुए श्वास छोडते हुए 'ह' कहना या स्वाभाविक ध्वनि 'ह' के प्रति जागरूक रहना। तत्पश्चात् जितनी देर हो सके शून्य बनाए रखना। उसके बाद गहरा लम्बा श्वास लेना एव श्वास लेते हुए मन मे यह धारणा करनी कि समस्त विश्व की प्राणशक्ति श्वास के साथ मेरे भीतर आ रही है। स्वास्थ्य मेरे भीतर आ रहा है। इस धारणा को मन मे बनाए रखते

हुए, श्वास लेते हुए मन मे 'सो' कहना अथवा श्वास लेने पर होने वाली ध्वनि 'सो' के प्रति जागरूक रहना। उसके बाद अन्तर कुम्भक करना व अन्तर कुम्भक करते हुए मन में यह धारणा बनानी कि भीतर आई हुई प्राणशक्ति समस्त अंग एव उपागों मे फैल रही है। इसी प्रकार जितना कर सके, करते रहना।

आलस्य-निवारण—अत्यधिक शारीरिक शैथिल्य आलस्य, तन्द्रा से उपरत होने के लिए सर्वप्रथम श्वास बाहर छोडते हुए 'ह' कहना अथवा श्वास छोड़ने पर स्वाभाविक रूप से होने वाली ध्वनि 'ह' के प्रति जागरूक रहना। श्वास छोडते हुए मन मे यह धारणा करनी कि एक अन्धकार के रूप मे आलस्य भी बाहर जा रहा है, तत्पश्चात् जहॉ तक हो सके बाह्य कुम्भक। बाह्य कुम्भक करते हुए कुछ भी नहीं सोचना। फिर गहराई से लम्बा और धीमा श्वास लेते हुए 'सो' अथवा श्वास लेने पर होने वाली स्वाभाविक ध्वनि 'सो' के प्रति जागृत रहना तथा मन मे यह धारणा करनी कि भीतर आते हुए श्वास के साथ स्फूर्ति, ताजगी और चैतन्य एक प्रकाश के रूप मे भीतर आ रहा है। तत्पश्चात् अन्तर कुम्भक करना और मन में यह धारण करनी कि वह प्रकाश स्फूर्ति और चैतन्य शरीर के कण-कण मे फैल रहा है। सफेद जगमगाता हुआ प्रकाश और अधकार गहरा काला।

हम जिस प्रकार की धारणा करते है, उसी प्रकार की मानसिक धारणा का प्रभाव शरीर पर अत्यधिक रूप से पडता है। मन और विचार भी पुद्गल है एवं शरीर भी पुद्गल है। अत' पुद्गल पुद्गल को गति देता है। सारा ध्यान मन की धारणा, सोऽहं के प्रति बनाए रखना। जितना आराम से हो सके, उतना करना।

मूलम्—लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहि सत्थेहि वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारम्भमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए-जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहि वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णेवाउसत्थं समारंभंते समणुजाणति, तं से अहियाए, तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं अंतिए इहमेगेसि णायं भवति, एस खलु गंथे,

एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहि सत्थेहि वाउकम्मसमारंभेण वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति॥1/7/59

मूलार्थ—हिसा से लज्जित हुए दूसरे वादियों को हे शिष्य। तू देख। ये लोग, हम अनगार हैं, इस प्रकार कहते हुए भी नाना प्रकार के शस्त्रो से वायु कर्म समारभ के द्वारा वायुकाय शस्त्र का समारम्भ—प्रयोग करते हुए साथ मे अन्य प्रकार के भी अनेक प्राणियों की हिसा करते है। इस विषय मे भगवान ने परिज्ञा—ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा का प्रतिपादन किया है। ये प्रमादी जीव इस निस्सार जीवन के निमित्त प्रशसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए और अन्य शारीरिक-मानसिक दु खो के विनाशार्थ नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा स्वय वायुकाय की विराधना करते है, दूसरों से कराते है तथा अन्य करने वालो की प्रशसा करते है, परन्तु यह उनके अहित के लिए और अबोध के लिए है। इस प्रकार वायुकाय समारभ के इस अनिष्ट फल को भगवान अथवा उनके सभावित साधुओ से सुनकर सम्यक् श्रद्धा युक्त बोध को प्राप्त हुआ शिष्य यह जानने लगता है कि इस ससार मे किसी-किसी व्यक्ति को ही यह ज्ञात होता है कि यह आरम्भ अष्टकर्मो की ग्रन्थि रूप है, मोह, मृत्यु और नरक रूप है, ऐसा जान लेने पर भी अर्थाभिकाक्षी लोक—प्राणिसमूह इससे पराड्मुख नहीं होता, अपितु अनेक प्रकार के शस्त्रो द्वारा वायुकाय समारंभ से वायुकाय के जीवो की विराधना के साथ-साथ अन्य अनेक प्रकार के प्राणियो का भी विनाश करता है।

अंतिए—अन्तेवासी अर्थात् जो अन्तिम होने को तैयार है। जो विनीत होकर विनय करता है।

विनय दो प्रकार से होता है—1 अविनीन का विनय—जिसके प्रति मोह है उस मोहवश विनय करना, कोई स्वार्थ है उस स्वार्थवश, स्वार्थ की पूर्ति हेतु विनय करना। किसी से भय है, भय के वश विनय करना, ईर्ष्या के वश विनय करना। 2. विनीत का विनय—कर्मो के क्षयोपशम के कारण, अहकार के गल जाने से मोहनीय कर्म क्षीण एवं मद हो जाने पर जो विनय होती है, वह विनीत का विनय है; क्योकि वह विनय किसी प्रकार के मोह, स्वार्थ, भय या ईर्ष्या वश न होकर स्वभावगत होती है।

विनम्रता उसका आन्तरिक गुण है। ऐसे सत्य निश्चल विनय से, व्यक्ति परिज्ञात-कर्मा हो जाता है। मुनि की साधना, साधक की साधना में पुरुषार्थ के साथ विनम्रता होनी चाहिए। अत मुनि दो प्रकार से पुरुपार्थ करता है—1 भगवान की आज्ञा में, 2. गुरु की आज्ञा मे।

किसकी विनय करनी—भगवान की, आगम की, शासन की, सुसाधु की।

अरिहंत का अर्थ—मूलत· होता है तीर्थंकर भगवान, केवलज्ञानी भगवत भी, अरिहंत की श्रेणी मे ही है, परन्तु प्रमुख रूप से तीर्थंकर भगवतो को अरिहत कहते है, क्योंकि वे तीर्थ की स्थापना कर धर्म का पुनरुत्थान कहते है। उन्ही का शासन चलता है। फिर भी साधरण रूप से अरिहतो को नमस्कार करते हुए केवलज्ञानियो को भी नमस्कार हो जाता है।

मेहावी—मेधावी—मेधा से युक्त व्यक्ति, मेधा अर्थात् सत्य और असत्य का सार एव असार ग्राह्य एवं अग्राह्य का निर्णय करने की दीर्घ दृष्टि युक्त सूक्ष्म बुद्धि, जो वस्तु जैसी प्रतीत हो रही है, वैसी नही अपितु वास्तव मे जो जैसी है, वैसा जान सकने की बुद्धि ज्ञान दृष्टि। उदयमान बुद्धि के साथ जब दीर्घ दृष्टि एव तत्त्वज्ञान का सयोग होता है, तब उसे मेधा कहते है। तत्त्व-ज्ञान से ही मेधा जागृत होती है, परिष्कृत होती है।

परिज्ञातकर्मा बनने का सरलतम उपाय—जिसे कर्माश्रव या सवर एव निर्जरा का ज्ञान है, ऐसे परिज्ञातकर्मा मुनि बनने का सरल उपाय है 'सोऽहं' ध्यान। बाह्य तप भी इसमे सहयोगी है। अनशन, ऊनोदरी, आयबिल इत्यादि। इसमे भी सर्वश्रेष्ठ है आहार शुद्धि के साथ 'एगभत च भोयण' एक समय भोजन, उससे भी श्रेष्ठ है, एक दिन 'एगभत भोयण' दूसरे दिन उपवास इस प्रकार का क्रम।

साधु को रोग होने के कारण और उपाय

मुनिजनों को शरीर के संबंध मे—स्वावलम्बी रहना चाहिए। जहॉ तक हो सके, स्वावलम्बी रहना, जब सहयोग भी लेना पडे तो सयमी तथा व्रतधारियो से लेना।

रोग का आगमन—कर्म के उदय से भी विपरीत होता है, साथ ही गलत

आहार, अधिक विपरीत अयोग्य, आवश्यकता से न्यून, गलत विहार इत्यादि।

उपाय है—उपयुक्त शुद्ध आहार, हो सके तो दिन मे एक बार अन्यथा दो-बार, तपस्या एवं रोग मे तीन बार।

आसन—प्राणायाम नियमित, छह माह में एक बार शख प्रक्षालन, न्यूनतम हो सके तो 7 दिन मे एक बार कुजल, शुद्ध सत्त्व के संग मे रहना।

गण की व्यवस्था हेतु निर्देश

गण को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए—गणनायक की आज्ञा से प्रत्येक कार्य होना चाहिए। गणनायक को भी निस्स्वार्थ, निरपेक्ष और निष्पक्ष होकर सभी सदस्यो की प्रकृति, स्वभाव, परिस्थिति, उनके सोचने-समझने की शक्ति, उनका सघयन, उनके सस्कार, जाति-कुल इत्यादि बातो को पूर्णत खयाल मे रखते हुए सभी के हित एवं मगल के लिए जो भी उपयुक्त हो, उसके अनुसार आगम आज्ञा में रहते हुए प्रभावना के मंगल उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, आत्मसाधना के शुद्ध लक्ष्य को खयाल मे रखकर, सम्यक् उचित निर्णय लेना चाहिए। उसी से गण एव सदस्यो का विकास होता है। सद्गुणो का प्रोत्साहन और दुर्गुणो की प्रेमपूर्वक निवृत्ति की तरफ सदा लक्ष्य रहना चाहिए।

मूलम्—एत्थंप जाणे उवादीयमाणा, जो आयरे ण रमंति, आरम्भमाणा विणयं, छंदोवणीया अज्झोववण्णा, आरम्भ सत्ता पकरन्ति संगं॥1/7/61

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस बात को भली भांति जान ले कि जो जीव छह काय का आरभ करते हैं, वे कर्मो से आबद्ध होकर संसार मे परिभ्रमण करते हैं और वे ही जीव हिसा मे प्रवृत्त होते है। जो पचाचार मे रमण नहीं करते हैं, वे स्वेच्छाचारी अपने आपको सयमी कहते हुए भी विषय-वासना एव आरभ से आसक्त होकर आत्मा के साथ अष्टकर्मो का सग करते है।

उवादीयमाणा—औदायिक भाव मे रमण करना, कर्मो से आबद्ध होना, ससार मे रमण करना, इच्छाओ के पीछे दौडना, ऐसा कौन करता है? जे आयारे ण रमति।

आचार—आया-आत्मा, आत्मगत परिणामो का अभिव्यक्त रूप आचार है। आत्मगत भावो मे रमण करना अथवा व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मबोध की साधना मे रमण करना। इस प्रकार के आचार मे, साधना मे जो रमण नही करता, वह आरंभ करते हुए—आरंभमाणा।

विणयं—विशेष रूप से जिसका दृष्टिकोण आरभ एव स्वेच्छाचार का हो गया है, वह अपने आपको सयत कहते हुए भी, 'छंदोवणीया'—जो स्वच्छन्द है। छंद अर्थात् औदायिक भावो का चित्त वृत्तियो का प्रवाह। जो उस प्रवाह मे बहता है, किसी की भी नही सुनता है उन वृत्तियो के अनुसार अपने मन में जो बैठ गया, वही करता है, वह स्वच्छन्द है। यह स्वच्छदता बाह्याचार का खयाल न रखने से आती है।

अज्झोववण्णा—विषयो के पुन -पुन· सेवन से मन मे जो आसक्ति का निर्माण होता है उस आसक्ति के आधार पर आर्त एव रौद्र ध्यान से युक्त परिणामों की जो धारा चलती है, उसे कहते हैं 'अज्झोववण्णा'। इस प्रकार के व्यक्ति आरंभ सत्ता आरभ मे स्थित रहते हुए पुन·-पुन विशेष रूप से आरभ मे रुचि रखते हुए 'पकरति सगं' कर्मरुपि पक—कीचड का, विषयासक्ति रूप पक का सग करते हुए उसी मे, उसी से लिप्त रहते है। बाह्य आचार और आभ्यतर साधना का पालन करने पर इन दोनो धाराओ से मुक्त हो सकते है। यह शुरूआत यदि श्रावक अवस्था मे ही हो जाए, अर्थात् बारह व्रतों के साथ साधना तब साधु अवस्था मे प्रवेश करना सुलभ रहता है। बाह्य आचार अथवा आन्तरिक साधना दोनो मे से किसी एक का भी खण्डन होने पर आरभ की शुरूआत होती है।

विरूवरूवेही—विविध प्रकार के उद्देश्यों से एक अर्थ यह भी होता है—विविध प्रकार के सकल्प-विकल्पो के कारण।

जे आयारे ण रमति—व्यक्ति का मन किस प्रकार आत्मगत परिणामों मे रमण कर सके।

गुरु कौन? गुरु वही होता है, जो जानता है कि किस प्रकार, किस उपाय से शिष्य का मन आत्मा मे रमण करता रहे। मूल बात यही है कि कैसे उसे साधना में प्रसन्नता का अनुभव हो सके, प्रसन्नतापूर्वक आत्मगत भावो मे रमण कर सके और यह बात वही सुसाधु, गुरु, देख सकता है जो स्वय आत्मगत भावो मे रमण करता है,

अन्यथा सभव नहीं है। ससार में सबसे कठिन कार्य यदि कोई है तो वह है चित्त का निरोध। लेकिन सद्गुरु की शरण में यह सहज हो सकता है। यही सद्गुरु की शरण का महत्त्व है।

गुरु की क्या आवश्यकता है? गुरु उपाय बताता है कि किस समय क्या आवश्यकता है? ध्यान आवश्यक है या प्रार्थना या भक्ति या जाप या तप या कायोत्सर्ग इत्यादि। साधना भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार बदलती है। जैसे औषध तो वही है, परन्तु भिन्न-भिन्न रूप से देनी होती है। मूल बात वही है कि कैसे आत्मगत भावो मे रमण हो सके।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

प्रथम उद्देशक

आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन में सामान्यत. जीव के अस्तित्व का, आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है तथा पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवो की सजीवता को स्पष्ट प्रमाणित करके यह बताया गया है कि षट्काय का आरम्भ-समारम्भ करने से कर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप ससार-परिभ्रमण एवं दु ख-परम्परा का प्रवाह बढता है। इसलिए इस बात पर बल दिया गया है कि मुमुक्षु को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होना चाहिए, क्याकि आरम्भ समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होने पर ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यदि एक शब्द मे कहे तो प्रथम अध्ययन मे साधना के मूलभूत अग अहिंसा का सूक्ष्म, विस्तृत एव यथार्थ विवेचन किया गया है।

आध्यात्मिक साधना मे अहिसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, साधना का मूल केन्द्र है। सभी धार्मिक अनुष्ठान इसी से जीवन पाते है, इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते है। अहिसा के अभाव में कोई भी साधना जीवित नही रह सकती और न सयम मे ही तेजस्विता रहती है। इसलिए जैन सस्कृति के उन्नायको ने इसे साधना में सर्वप्रथम स्थान दिया है। पच महाव्रतो मे पीछे के चारो महाव्रत अहिसा से सबद्ध है। जिस साधक के जीवन मे अहिसा का, दया का, अनुकम्पा का, साम्यभाव का झरना नही बह रहा है, वहा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह का विकास होना भी असभव है। अहिसा के शीतल, सरस एव मधुर जल से अभिसिचित होकर ही साधना का वृक्ष हरा-भरा रह सकता है, पल्लवित-पुष्पित हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अहिसा साधना का प्राण है। सूत्रकार के शब्दो में स्पष्ट ध्वनित होता है कि "जो षट्काय के आरम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा है, अन्य नही"।

अहिसा की साधना के लिए जीवों का परिज्ञान होना ज़रूरी है। इस अपेक्षा से

प्रथम अध्ययन मे विभिन्न योनियो मे परिभ्रमणशील जीवो के अस्तित्व का विवेचन किया गया है। इससे मन मे यह जानने की सहज ही जिज्ञासा होती है कि यह ससार क्या है और इस पर विजय कैसे पाई जा सकती है? इस प्रश्न का समाधान द्वितीय अध्ययन मे किया गया है। इसके 'लोकविजय' नाम से भी इस बात का स्पष्ट परिचय मिल जाता है।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—**'लोकविजय'**। लोक की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। प्रस्तुत अध्ययन मे लोक का अर्थ है—कषाय या राग-द्वेष, जो भाव-लोक कहा जाता है। उसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र आदि भी लोक माने गए हैं, परन्तु प्रमुखता भावलोक की है, क्योकि द्रव्यलोक का अस्तित्व भावलोक पर आधारित है। कारण स्पष्ट है कि राग-द्वेष एव कषाय-युक्त परिणामो से कर्म का बन्धन होता है और परिणामस्वरूप आत्मा एक योनि से दूसरी योनि मे परिभ्रमण करती रहती है। इसी परिभ्रमण का नाम ससार है और इस ससार का मूल बीज राग-द्वेष है[1] और राग-द्वेष भावलोक है। इससे स्पष्ट हो गया कि द्रव्यलोक का मूल भावलोक है। अत. भावलोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर द्रव्यलोक पर विजय सहज ही हो जाती है। मूल का उन्मूलन कर देने पर शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्प आदि का विनाश तो स्वय ही हो जाता है, क्योकि उनको सारा पोषण मूल से मिलता है। मूल के अभाव में उन्हे पोषण नही मिलेगा और खुराक के अभाव मे वे जीवित नही रह सकते। मूल का नाश होते ही उनका भी विनाश हो जाता है। इसलिए साधक को यह प्रेरणा दी गई है कि वह द्रव्यलोक पर विजय पाने की अपेक्षा भावलोक पर विजय पाने का प्रयत्न करे। भावलोक—राग-द्वेष का सर्वथा उन्मूलन करने का प्रयत्न करे। राग-द्वेष का उच्छेद कर दिया, तो फिर द्रव्यलोक का उच्छेद तो स्वत ही हो जाएगा। यह कहावत सोलह आना सत्य है कि 'न रहेगा बास न बजेगी बासुरी'। अत' साधक को अपनी शक्ति, अपनी साधना की शक्ति राग-द्वेष एव कषाय रूप भावलोक पर विजय पाने मे लगानी चाहिए। साधक का एकमात्र ध्येय एव लक्ष्य यही होना चाहिए। इसी बात की प्रबल प्रेरणा देते हुए सूत्रकार प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए कहते है—

मूलम्—जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे। इति से

1 रागो य दोसो वि य कम्मवीय। —उत्तराध्ययन, 32/7

गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो-पुणो वसे पमत्ते-तंजहा-माया मे, पिया में भज्जा मे पुत्ता मे, धूआ मे, ण्हुसा मे, सहिसयणसंगंथसंथुआ मे, विवित्तुवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायणं मे। इच्चत्थं गड्ढिए लोय वसे पमत्ते अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं तंजहा॥63॥

छाया—यः गुण· स मूलस्थानं यत् मूलस्थानं स गुणः। इति स गुणार्थी महता परितापेन पुनः-पुन· वसेत् प्रमत्तः तद्यथा—माता मे, पिता मे, भ्राता मे, भार्या मे, भगिनी मे, पुत्राः मे, दुहिता मे, स्नुषा मे, सखि-स्वजन-संग्रन्थ-संस्तुता मे, बिविक्तोपकरण परिवर्तनभोजनाच्छादनं मे। इत्येवमर्थ गृद्धो लोकः वसेत् प्रमत्तः। अहश्च रात्रिश्च परितप्यमानः काला कालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थालोभी, आलुम्प·, सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः-पुनः अल्प च खलु आयुष्कमिहैकेषां मानवानां तद्यथा—

पदार्थ—**जे**—जो। **गुणे**—शब्दादि गुण है। **से**—वे। **मूलट्ठाणे**—मूल-स्थान-ससार का मूल कारण है। **जे**—जो। **मूलठाणे**—मूलस्थान है। **से**—वे। **गुणे**—गुण है। **इति**—इसलिए। **से**—वह। **गुणट्ठी**—गुणार्थी—विषयों का अभिलाषी। **महयापरिया-वेणं**—महान् परिताप एव दु खो के अनुभव या सवेदन से। **पुणो-पुणो**—वार-बार। **वसे पमत्ते**—प्रमाद मे बसता है। प्रमाद राग-द्वेष रूप होता है, इसलिए सूत्रकार राग की उत्पादक सामग्री का निर्देश कर रहे है। **तंजहा**—जैसे कि। **माया मे**—मेरी माता है। **पिया मे**—मेरा पिता है। **भाया मे**—मेरा भ्राता है। **भइणी मे**—मेरी बहिन है। **भज्जा मे**—मेरी पत्नी है। **पुत्ता मे**—मेरे पुत्र है। **धूआ मे**—मेरी पुत्री है। **ण्हुसा मे**—मेरी पुत्रवधू है। **सहिसयणसंगंथसंथुआ मे**—मेरा सखा, स्वजन-स्नेही, मित्र का मित्र एव बार-बार मिलने वाला है। **विवित्तुवगरणपरिवहण भोयणच्छायणं मे**—मेरे उपकरण, भोजन—खाद्य-सामग्री एव वस्त्र आदि सुन्दर हैं। **इच्चत्थं**—इस प्रकार के अर्थो में। **गड्ढिए लोए**—आसक्त व्यक्ति। **वसे पमत्ते**—प्रमादी बनकर रहते हैं। **अहो**—दिन। **यः**—और। **राओ य**—रात्रि मे। **परितप्पमाणे**—सर्व प्रकार से संतप्त होता हुआ। **कालाकाल समुट्ठाई**—समय और असमय मे सम्यक्तया उठने वाला।

संजोगट्ठी—सयांग का अभिलाषी। **अट्ठालोभी**—धन का लोभी। **आलुंपे**—गलकर्तन, चोरी-डाका आदि दुष्कर्म करता है। **सहसाकारे**—बिना सोचे-विचारे कार्य करने वाला। **विणिविट्ठचित्ते**—विभिन्न विषयो मे जिसका मन संलग्न है। **एत्थ**—इन माता-पिता आदि परिजनों या शब्दादि विषयो में आसक्त बना व्यक्ति। **सत्थे पुणो-पुणो**—बार-बार शस्त्र से षट्काय की हिसा करता है। **च**—और। **खलु**—निश्चय से। **इह**—इस ससार में। **एगेसिं**—कितने एक। **माणवाण**—मनुष्यो का। **अप्पं आउय**—अल्प आयुष्य है। **तंजहा**—जैसे कि।

मूलार्थ—जो शब्दादि गुण हैं, वे मूलस्थान-कषाय रूप ससार का मूल कारण हैं और जो मूल स्थान है वही शब्दादि गुण है। इस तरह गुणार्थी विषयो का अभिलाषी व्यक्ति महान् परिताप एव दु:खो का सवेदन करता हुआ बार-बार प्रमत्त होकर मोहरूप, रागद्वेष-रूप संसार मे निवास करता है और राग-द्वेष मे आसक्त वह कहना है—कि यह मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहिन है, मेरी पत्नी है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्रवधू है, मेरा मित्र स्वजन-स्नेही एव विशिष्ट परिचित है, मेरे सुन्दर हाथी-घोडे, ऐश्वर्य, विपुल खाद्य-सामग्री एव वस्त्राभूषण है, उक्त पदार्थो मे आसक्त बना प्राणी रात-दिन सतप्त रहता है, और काल या अकाल मे अर्थात् प्रतिसमय अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए सावधान रहता है। वह धन का लोभी दूसरे का गला काटने या चोरी-डाका डालने जैसा दुष्कर्म करने एवं बिना सोचे-समझे अविवेक और दुर्विचारपूर्वक कार्य करने मे सकोच नही करने वाला तथा येन-केन-प्रकारेण धन-उपार्जन करना ही जिसका ध्येय बना हुआ है, वह व्यक्ति बार-बार छह काय की हिसा के लिए विभिन्न शस्त्रों का प्रयोग करता है और इस ससार मे कई जीवो का आयुष्य बहुत थोडा होता है। जैसे कि—

हिन्दी-विवेचन

प्रथम अध्ययन मे एक सूत्र आया है '**जे गुणे से आवट्टे.....**' अर्थात् जो गुण है, वही आवर्त्त है। इस सूत्र की प्रस्तुत सूत्र के इस वाक्य से—जो गुण हैं वे मूलस्थान है और जो मूलस्थान है, वे गुण है—तुलना करते हैं; तो गुण को आवर्त्त—संसार कहने का कारण स्पष्टत समझ में आ जाता है। ससार का मूल कषाय है और कषाय के आश्रय ये गुण है, अतएव गुण को संसार कहना उपयुक्त ही है। क्योकि गुणों में

रम्यमान व्यक्ति के मन में राग-द्वेष, कषाय एवं आसक्ति-युक्त भावो से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम-स्वरूप संसार के प्रवाह को प्रवहमान करने के लिए गति-प्रगति मिलती है। इस प्रकार हम देखते है कि गुण भी ससार के कारण है, इसलिए उन्हे आवर्त्त कहा गया है और वास्तव मे कषाय का आधार होने के कारण उन्हे आवर्त्त—ससार कहना उचित ही है।

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि गुणो के कारण आत्मा मे तृष्णा, आसक्ति, कषाय एव राग-द्वेष आदि का उद्भव होता है और आत्मा ऐन्द्रिय राग-रग एव भौतिक सुखो मे सलग्न होता है, काय-भोग मे प्रवृत्त होता है। यों साधारणतः काम-भोग शब्द का प्रयोग विषय-वासना की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है और काम-भोग का एक दूसरे से भिन्न अर्थ न समझ कर उसे एकार्थक ही समझा जाता है। वैषयिक दृष्टि से काम-भोग का इन्द्रियो एव उनके विषय से सीधा सबन्ध होने से काम-भोग शब्दादि विषय रूप होने से एकरूपता के बोधक भी है। परन्तु इन्द्रियों एव उनकी विभिन्नता के कारण काम-भोग भी अपना-अपना भिन्न एव स्वतत्र अर्थ रखते है। कुछ ऐसे विषय है जिनके आकर्षण से इन्द्रियों में स्पन्दन होता है, और आत्मा उनके द्वारा हर्ष एव शोक का सवेदन भी करती है; इस प्रकार उक्त विषय से काम-वासना उद्बुद्ध होती है परन्तु वे इन्द्रियॉ उन विषयो के साथ सीधा उपभोग नही करती और कुछ इन्द्रियॉ अपने विषयो के साथ सीधा भोगोपभोग करके ही वासना में प्रवृत्त होती है। इसी विभिन्नता की अपेक्षा से आगम मे श्रोत्र और चक्षु इन्द्रिय को कामी और शेष इन्द्रियो को भोगी कहा है। चक्षु एव श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने मे इतनी पटु है कि उनका स्पर्श किए बिना ही आत्मा को उनकी अनुभूति करा देती हैं, परन्तु शेष तीनो इन्द्रियॉ अपने-अपने विषयो का अपने साथ सीधा संबन्ध होने पर ही अथवा यो कहिए, उनका भोग-उपभोग करके ही उन्हे ग्रहण करती है। इस अपेक्षा से काम-भोग भिन्न अर्थ-बोधक दो विषय हैं।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि काम-भोग में होने वाली प्रवृत्ति राग-द्वेषजन्य होती है। इस कारण विषय-वासना मे आसक्ति बढती है और उससे ससार-सबन्ध प्रगाढ़ होता है और आत्मा की गति साधनाविमुख हो जाती है और वह सासारिक सुख-साधनो, भोगोपभोगों को बढाने तथा ससार-संबन्धो मे इतनी आसक्त बन जाती

है कि अपने एव प्राणिजगत के हिताहित को भूल कर दुष्कर्म मे प्रवृत्त होते ज़रा भी सकोच नही करती। इतिहास साक्षी है और हम स्वय देखते है कि व्यक्ति जब अपने स्वार्थ में केन्द्रित होता है, तब कितना अनर्थ कर बैठता है। आज राष्ट्र में व्याप्त रिश्वत, चोर-बाजारी एव लूट-खसूट आदि की घटनाएं तथा छल-कपट, धोखा और विश्वासघात करने के षड्यन्त्र स्वार्थी मनोवृत्ति के ही परिणाम है। इसी बात को सूत्रकार ने **"अट्ठालोभी अलुपे, सहसाकारे विणिविट्ठ चित्ते......"** वाक्य से स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य धन के पीछे इतना पागल एवं उन्मत्त बन जाता है कि वह भयकर-से-भयकर पाप को करने के लिए उद्यत हो जाता है। उस समय वह उसके दु खद परिणाम की ओर से आख मून्द कर पाप के प्रज्वलित दावानल मे कूद पडता है।

वह पाप कार्य मे निमज्जित व्यक्ति सदा अपने परिवार मे आसक्त रहता है और अपने व्यक्तिगत एव परिवारगत स्वार्थो को साधने के लिए विभिन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त होता है। वह कहता है कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है तथा इसके साथ मेरा भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू या स्वजन-स्नेही का सबन्ध है। ये मेरे प्रिय है, दु ख-सुख के साथी है, ऐसा समझ कर प्रमादी व्यक्ति विभिन्न शस्त्रों एव विभिन्न उपायो एव षड्यन्त्रो से अनेक प्राणियों को परिताप देता है, कष्ट देता है तथा उनके धन-वैभव एव प्राणो को लूटता है। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वार्थ, धनप्राप्ति तथा परिजनो मे आसक्त होकर पापो मे प्रवृत्त होता है और उसके परिणामस्वरूप भविष्य मे मनुष्य बनकर भी अल्प आयु मे ही मर जाता है। यदि दीर्घ आयु भी प्राप्त कर ले, तो भी उस का जीवन सुख-शाति से व्यतीत नही होता। उसका जीवन अन्य के लिए तो क्या, उसके स्वयं के लिए बोझिल हो जाता है। वह रात-दिन सकटो के झूले मे झूलता रहता है। उसे किस प्रकार के दु.खो का सवेदन करना पडता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं, परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं संपेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयति॥64॥

छाया—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षु परिज्ञानैः परिहीयमानैः घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसनापरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, अभिक्रान्तं च खलु वयः सम्प्रेक्ष्य ततः (सः) तस्य एकदामूढ-भावं जनयति।

पदार्थ—सोयपरिण्णाणेहिं—श्रोत्र परिज्ञान के। **परिहायमाणेहिं**—सर्वत हीन होने पर। **चक्खुपरिण्णाणेहि**—चक्षु परिज्ञान के। **परिहायमाणेहिं**—हीन होने पर। **घाणपरिण्णाणेहिं**—घ्राण परिज्ञान के। **परिहायमाणेहिं**—हीन होने पर। **रसणा-परिण्णाणेहिं**—रस परिज्ञान के। **परिहायमाणेहिं**—हीन होने पर। **फासपरिण्णाणेहिं**—स्पर्श परिज्ञान के। **परिहायमाणेहि**—हीन होने पर। **च**—और। **खलु**—निश्चय ही। **वयं**—यौवन वय। **अभिकंतं**—अभिक्रान्त हो गया—बीत गया है, तब फिर। **सपेहाए**—विचार कर देखा जाए तो। **से**—वह प्राणी। **तओ**—तत्पश्चात्— इन्द्रिय परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवन वय के निकल जाने से। **एगदा**—वृद्धावस्था मे प्रविष्ट होने पर। **मूढ भावं**—मूढ भाव को। **जणयति**—प्राप्त होता है।

मूलार्थ—सदा पाप कार्यो में प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एव वृद्धावस्था मे प्रविष्ट होते ही मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

जीवन जन्म और मृत्यु का समन्वित रूप है। अपने कर्म के अनुसार जब से आत्मा जिस योनि में जन्म ग्रहण करती है, तब से काल उसके पीछे लग जाता है और प्रतिसमय वह मृत्यु के निकट पहुचता है, या यो कहना चाहिए कि उसका भौतिक शरीर प्रतिक्षण पुराना होता रहता है। यह ठीक है कि उसमे होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनो को हम अपनी आखों से स्पष्टत देख नही पाते, कुछ स्थूल परिवर्तनो को ही देख पाते हैं और इसी अपेक्षा से हम जीवन को चार भागो मे बांट कर चलते है—1 बाल्य काल, 2 यौवन काल, 4. प्रौढ अवस्था और 4 वृद्धावस्था।

बाल्य काल जीवन का उदयकाल है। यौवन काल में जीवन में शक्ति का विकास होता है; मनुष्य भला या बुरा जो चाहे सो कर गुजरने की शक्ति रखता है।

प्रौढ अवस्था मे आकर शक्ति का विकासस्रोत रुक जाता है। धीरे-धीरे व्यक्ति इन्द्रियबल से निर्बल होने लगता है। यहीं से वृद्धावस्था का प्रारंभ हो जाता है। यह जीवन का जीर्ण-शीर्ण रूप है, इस काल मे शक्ति का, स्वास्थ्य का, इन्द्रियो का, शरीर का, अर्थात् यों कहिए जीवन के सभी बाह्य अवयवों का ह्रास होने लगता है। कान, आख, नाक, जिह्वा और त्वचा की शक्ति कमजोर हो जाती है। इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयो को ग्रहण करने मे भी कठिनाई होने लगती है। बूढ़े का जीवन-निर्वाह भी कठिन एव बोझिल हो जाता है। वह अपने जीवन से तग होकर दु ख एवं सक्लेश का अनुभव करने लगता है। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने बहुत ही सुंदर कहा है—

> गात्र सकुचितं, गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशंगता ,
> दृष्टिर्भ्रश्यति रूपमेव हसते वक्त्र च लालायते।
> वाक्य नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
> धिक्कष्ट जरयाभिभूतपुरुष पुत्रोप्यवज्ञायते॥

अर्थात्—वृद्धत्व के आते ही शरीर मे झुर्रिया पड जाती है, पैर लडखडाने लगते हैं, दात गिर जाते है, दृष्टि कमजोर पड जाती है या नष्ट हो जाती है, रूप-सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेती है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन-स्नेही उसके आदेश का पालन नही करते, पत्नी सेवा-शुश्रूषा से जी चुराती है, पुत्र भी उसकी अवज्ञा करता है। कवि कहता है कि ओह! इस वृद्धत्व के कष्ट का क्या पार है? धिक्कार है, इस जरा ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को।

प्रस्तुत सूत्र मे सूत्रकार ने वृद्धावस्था के इसी चित्र को उपस्थित किया है। इस अवस्था मे शारीरिक शक्ति एव इन्द्रिय बल इतना क्षीण हो जाता है कि व्यक्ति अपने एवं परिजनों के लिए बोझ रूप बन जाता है। इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति प्राय मूढभाव को प्राप्त हो जाते है अथवा इसके प्रहारो से अत्यधिक प्रताडित होने के कारण उनमे कर्तव्य-अकर्तव्य का भी विवेक नही रह जाता है।

यहा एक प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, फिर इसमे वृद्धावस्था के आने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियो का ज्ञान मन्द क्यो हो जाता है? क्या ज्ञान अवस्था के

अधीन रहता है? यदि ऐसा नहीं है, तो वृद्धावस्था में ज्ञान की बोधकता शिथिल क्यो हो जाती है?

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका--ससारी आत्मा के ज्ञान का अवस्था के साथ नहीं, कर्म के साथ सबन्ध है। हम देखते है कि कुछ बालकों मे ज्ञान का इतना विकास होता है कि युवक एवं प्रौढ व्यक्ति भी उनकी समानता नहीं कर सकते। कुछ वृद्धो में जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहती है और कुछ युवक एवं प्रौढ व्यक्तियो मे भी ज्ञान का विकास बहुत ही स्वल्प दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान का विकास अवस्था के अधीन नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। चाहे बाल्यकाल हो, युवाकाल हो या वृद्धावस्था का अन्तिम चरण हो, जितना ज्ञानावरणीय कर्म का अधिक या कम क्षयोपशम होगा, उसी के अनुरूप आत्मा मे ज्ञान की ज्योति का परिदर्शन होगा। अस्तु, ज्ञान की स्वल्पता या विशेषता मे जो विचित्रता देखी जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता एव अधिकता के आधार पर ही स्थित है।

दूसरा प्रश्न इन्द्रियो से संबद्ध है। इसमे इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रियो का नही। वह सदा आत्मा के साथ रहता है। इन्द्रियो के अभाव मे भी ज्ञान का अस्तित्व बना रहता है। अत· ज्ञान का इन्द्रियो के साथ सीधा सवन्ध नही है। फिर भी इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान होता है, इसका कारण यह है कि ये छद्मस्थ अवस्था मे ज्ञान के साधन है, निमित्त है। क्योकि छद्मस्थ अवस्था मे आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का इतना आवरण छाया रहता है कि वह बिना किसी साधन के किसी पदार्थ का बोध नही कर सकती। वह मति और श्रुतज्ञान के द्वारा ही पदार्थो का ज्ञान करती है और उक्त दोनो ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते है। इसी कारण इन्हे आगम मे परोक्ष ज्ञान कहा गया है, क्योकि ये इन्द्रियो के आधार पर आधारित है। अत छद्मस्थ अवस्था में जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उतना ही आत्मा मे ज्ञान का विकास होता है। जैसे साधारणत· मति और श्रुत ज्ञान मे इन्द्रिय-सहयोग की अपेक्षा रहती है, परन्तु उसकी विशेष अवस्था जाति-स्मृति ज्ञान मे अपने निरन्तर सन्नी पचेन्द्रिय के किए हुए भवो को देखने-जानने मे इन्द्रियो की अपेक्षा नही रहती और अवधि ज्ञान एव मन-पर्यव ज्ञान युक्त व्यक्ति इन्द्रियो की

सहायता के बिना ही मर्यादित क्षेत्र मे स्थित रूपी पदार्थो एवं सन्नी पंचेन्द्रिय के मनोगत भावो को जान-देख लेता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है, तो फिर वह ससार के समस्त पदार्थो को और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायो को अपने आत्मज्ञान से स्पष्ट देखने-जानने लगता है। इन्द्रियो का अस्तित्व रहते हुए भी उसे उनके सहयोग की कोई भी आवश्यकता नही रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि इन्द्रियों का सहयोग मति और श्रुतज्ञान तक ही अपेक्षित है और ये इन्द्रियां जानने के साधन मात्र है।

इन्द्रिया पाच मानी गई है—1 श्रोत, 2. चक्षु, 3 घ्राण, 4 रसना और 5. स्पर्श इन्द्रिय। द्रव्य और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो भेद किए गए है। द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति और उपकरण रूप से है तथा भाव इन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप से है[1]। इन्द्रियो के बाह्य आकार को द्रव्य इन्द्रिय कहते हैं और उसके अन्दर देखने, सुनने, सूघने आदि की जो शक्ति है, उसे भाव इन्द्रिय कहते है, वह लब्धि एव उपयोग रूप मे रहती है। उसके होने पर ही आत्मा इन द्रव्येन्द्रियों से पदार्थो का ज्ञान करती है। भाव इन्द्रिय के अभाव मे द्रव्येन्द्रिय कोई कार्य नही कर सकती। आख और कान का आकार तो बना हुआ है, परन्तु उसके साथ भाव इन्द्रिय नही है या लब्धि एव उपयोग आवृत हो गया है, तो उस आख एव कान के आकार से न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियो की पटुता एव मूढता क्षयोपशम के आधार पर स्थित है।

यह स्पष्ट है कि इन्द्रिया जड है। जड होने के कारण शरीर के साथ-साथ इनमे भी परिवर्तन आता है। वृद्धावस्था मे शरीर के साथ ये भी जीर्ण हो जाती है और चेतना के निकलने के बाद निष्प्राण शरीर की तरह इनका भी कोई मूल्य नही रह जाता है। अत समय के साथ इनमे भी परिवर्तन आता है, इनकी शक्ति भी क्षीण होती है। परन्तु इतना अवश्य है कि यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिक है, तो उसकी इन्द्रिय जीर्ण होने पर भी पदार्थो का बोध करने मे पटु ही रहेगी और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम है तो युवा काल मे भी उनकी ग्रहण शक्ति कमजोर दिखाई देगी। हम देखते है कि बहुत-से वृद्ध व्यक्ति बिना ऐनक लगाए ही

1 पन्नवणा, पद 15, उ. 1-2 और तत्त्वार्थ सूत्र, 2, 16-18

अच्छी तरह देख लेते हैं, उनकी सुनने, सूंघने आदि की शक्ति मे भी कमी दिखाई नहीं देती और कई युवक ऐसे भी देखे जाते है कि वे बिना ऐनक के देख ही नही सकते। अतः द्रव्य इन्द्रियो के शिथिल होने पर भी उनमे अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षयोपशम पर आधारित है।

यह हम पीछे के उद्देशको मे देख चुके हैं कि हिसा एव आरम्भ-समारम्भ मे आसक्त रहने से पाप कर्म का बन्ध होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मो से आत्मा आवृत होती है और फलस्वरूप इन्द्रियो मे ग्रहण करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और वह मूढ भाव को प्राप्त हो जाती है। हम यह स्वय देखते है कि जब मनुष्य की इन्द्रिया ठीक तरह काम नही करती है, मस्तिष्क मे चिन्तन शक्ति कम रह जाती है, तब उसे कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नही रहता है और यह सारी स्थिति कर्मोदय पर आधारित है। अत· जो व्यक्ति विषयो मे आसक्त होकर परिजनो के व्यामोह मे फसता है, उनमें आसक्त होकर अपने एव परिजनो के स्वार्थ के लिए विभिन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त होता है, वह व्यक्ति पापकर्म का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप वृद्धावस्था मे उसकी इन्द्रिया शिथिल हो जाने से वह मूढता को प्राप्त होता है।

ऐसी अवस्था में जिन परिजनो के लिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त हुआ था, वे भी उससे दूर होकर किस तरह उसकी निन्दा करने लगते है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जेहिं वा सद्धिं संवसति तेऽवि णं एगदा णियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते णियए पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा, सरणाए वा, से ण हासाय, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए॥65॥

छाया—यै· वा सार्द्ध सवसति तेऽपि एकदा निजकाः (आत्मीयाः) पूर्व परिवदन्ति सोऽपि तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत्—नाल ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा, स न हास्यय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै।

पदार्थ—वा—यह शब्द पक्षान्तर या भिन्न क्रम का द्योतक है। **जेहि**—जिनके।

सद्धिं—साथ। **संवसति**—रहता है। **तेऽवि**—वे पत्नी-पुत्र आदि। **णं**—वाक्यालकार मे। **एगदा**—वृद्धावस्था आने पर। **णियगा**—स्वजन-स्नेही। **पुव्विं**—जिनका पहले पालन-पोषण किया था वे। **परिवयंति**—उस वृद्ध का तिरस्कार करते हैं, उसके मरने की प्रतीक्षा करते है। **सोऽवि**—वह वृद्ध भी। **ते णियए**—उन सबन्धियो की। **पच्छा**—पीछे से। **परिवएज्जा**—निन्दा करता है, भले ही किसी कारण से स्वजन-सबन्धी तिरस्कार न करे, तब भी। **ते**—से सबन्धी। **तव**—तेरे। **ताणाए**—त्राण के लिए। **वा सरणाए**—अथवा शरण के लिए। **वा**—परस्पर का बोधक है। **णाल**—समर्थ नहीं होते है, और। **तुमंपि**—तू भी। **तेसिं**—उनके। **ताणाए**—त्राण के लिए। **वा सरणाए**—अथवा शरण के लिए। **णालं**—समर्थ नही है। **वा**—पक्षान्तर मे। **से**—वह वृद्ध। **ण हासाय**—न तो हास्य-विनोद करने योग्य रहता है। **ण किड्डाए**—न क्रीड़ा करने योग्य रहता है। **ण रतीए**—न भोग-विलास करने योग्य होता है। **ण विभूसाए**—न विभूषा करने योग्य होता है, वह परिजनो के साथ किसी भी तरह के सासारिक आनन्द लेने योग्य नही रहता है, परिजनों के लिए वह एक तरह से निरर्थक हो जाता है।

मूलार्थ—यह जीव जिन परिजनो के साथ रहता है और जिसने विभन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त होकर परिवार का परिपोषण किया था, वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है, तो परिजन उसकी निदा करने लगते है, तिरस्कार जन्य शब्दो का प्रयोग करते है और उनके कटु वचन एव व्यग्य सुनकर वह वृद्ध भी उनसे घृणा करने लगता है, उनके चले जाने के बाद पीछे से उनकी निदा करता है। भले ही कोई परिजन निदा या तिरस्कार न भी करे, तब भी उस वृद्धत्व के दुःख एव सकट से कोई भी परिजन उसका त्राण करने, उसे शरण देने मे समर्थ नही है और वृद्धावस्था मे व्यक्ति हास्य-विनोद करने, क्रीडा—विभिन्न खेल खेलने, भोग-विलास करने एव शृंगार-विभूषा करने के योग्य भी नही रह जाता है। वह किसी भी तरह के सासारिक सुखोपभोग के योग्य नही रह जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इसमे बताया गया है कि जीवन सदा एक-सा नही रहता है। आयु मे अनेक उतार-चढाव आते

रहते हैं और उसमे विभिन्न तरह के अनुभव एव परिस्थितिया सामने आती है। व्यक्ति जिन पर पूरा विश्वास करता था और जिनके लिए अपना धर्म-कर्म भुलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे किस तरह बदल जाते हैं तथा उनके जीवन-व्यवहार को देखकर तथा अपनी अशक्त अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध के मन मे अपने परिजनो के प्रति जो भाव उद्‌बद्ध होते है, प्रस्तुत सूत्र मे उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेपण किया गया है।

हम प्रत्यक्ष मे देखते है कि मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्राय बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर मे शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते हैं, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते है। यह आदर-सम्मान एव सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नही, अपितु उससे पूरा होने वाले स्वार्थ की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-संपत्ति के ढेर लगते रहते है, सुख-साधनो मे अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणो के गीत गाए जाते रहते है। परन्तु प्राय शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य के वर्तमान मे परिवर्तित हो जाता है। अब उसे यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि "दुनिया मे काम प्रिय है, चाम नहीं" अर्थात् जब तक काम करो, तब तक ही दुनिया का प्यार- स्नेह मिलता है, फिर नही।

इस तरह दुनिया के अधिकाश सबध स्वार्थ की भीति पर आधारित है। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि वृद्धावस्था मे इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए सक्लेश का कारण बन जाते है और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता हे। क्योकि, वृद्धावस्था मे शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एव तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगडने लगता है। खासी से सारे घर के वातावरण को अशात कर देता है, जगह-जगह कफ एव खखार थूक-थूक के कमरे को एव आने-जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। ये सारी स्थितियां लडको एव पुत्र-वधुओ के लिए भयावनी बन जाती है। उनका सारा समय बूढे के द्वारा यत्र-तत्र बिखेरे गए कफ आदि को साफ करने मे ही बीत जाता है। इतने पर भी उसे सन्तोष नही होता। उसकी नित नई मांगों एव आकाक्षाओ से तो

सद्धिं—साथ। **सवसति**—रहता है। **तेऽवि**—वे पत्नी-पुत्र आदि। **णं**—वाक्यालंकार मे। **एगदा**—वृद्धावस्था आने पर। **णियगा**—स्वजन-स्नेही। **पुव्विं**—जिनका पहले पालन-पोषण किया था वे। **परिवयति**—उस वृद्ध का तिरस्कार करते है, उसके मरने की प्रतीक्षा करते है। **सोऽवि**—वह वृद्ध भी। **ते णियए**—उन सबन्धियो की। **पच्छा**—पीछे से। **परिवएज्जा**—निन्दा करता है, भले ही किसी कारण से स्वजन-संबन्धी तिरस्कार न करे, तब भी। **ते**—से सबन्धी। **तव**—तेरे। **ताणाए**—त्राण के लिए। **वा सरणाए**—अथवा शरण के लिए। **वा**—परस्पर का बोधक है। **णालं**—समर्थ नही होते हैं, और। **तुमंपि**—तू भी। **तेसिं**—उनके। **ताणाए**—त्राण के लिए। **वा सरणाए**—अथवा शरण के लिए। **णाल**—समर्थ नही है। **वा**—पक्षान्तर मे। **से**—वह वृद्ध। **ण हासाय**—न तो हास्य-विनोद करने योग्य रहता है। **ण किड्डाए**—न क्रीडा करने योग्य रहता है। **ण रतीए**—न भोग-विलास करने योग्य होता है। **ण विभूसाए**—न विभूषा करने योग्य होता है, वह परिजनो के साथ किसी भी तरह के सासारिक आनन्द लेने योग्य नही रहता है, परिजनो के लिए वह एक तरह से निरर्थक हो जाता है।

मूलार्थ—यह जीव जिन परिजनो के साथ रहता है और जिसने विभन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त होकर परिवार का परिपोषण किया था, वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है, तो परिजन उसकी निदा करने लगते है, तिरस्कार जन्य शब्दो का प्रयोग करते है और उनके कटु वचन एवं व्यग्य सुनकर वह वृद्ध भी उनसे घृणा करने लगता है, उनके चले जाने के वाद पीछे से उनकी निदा करता है। भले ही कोई परिजन निदा या तिरस्कार न भी करे, तव भी उस वृद्धत्व के दु.ख एवं सकट से कोई भी परिजन उसका त्राण करने, उसे शरण देने मे समर्थ नही है और वृद्धावस्था मे व्यक्ति हास्य-विनोद करने, क्रीडा—विभिन्न खेल खेलने, भोग-विलास करने एव शृगार-विभूषा करने के योग्य भी नही रह जाता है। वह किसी भी तरह के सांसारिक सुखोपभोग के योग्य नही रह जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इसमे बताया गया है कि जीवन सदा एक-सा नहीं रहता है। आयु मे अनेक उतार-चढाव आते

रहते हैं और उसमे विभिन्न तरह के अनुभव एव परिस्थितिया सामने आती हैं। व्यक्ति जिन पर पूरा विश्वास करता था और जिनके लिए अपना धर्म-कर्म भुलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे किस तरह बदल जाते है तथा उनके जीवन-व्यवहार को देखकर तथा अपनी अशक्त अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध के मन मे अपने परिजनो के प्रति जो भाव उद्‌बद्ध होते है, प्रस्तुत सूत्र मे उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

हम प्रत्यक्ष में देखते है कि मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्राय बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर मे शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते है, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा मे लगे रहते है। यह आदर-सम्मान एव सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नहीं, अपितु उससे पूरा होने वाले स्वार्थ की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-सपत्ति के ढेर लगते रहते है, सुख-साधनो मे अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणो के गीत गाए जाते रहते है। परन्तु प्राय शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य के वर्तमान मे परिवर्तित हो जाता है। अब उसे यह विचार सत्य प्रतीत होने लगता है कि "दुनिया मे काम प्रिय है, चाम नही" अर्थात् जब तक काम करो, तब तक ही दुनिया का प्यार—स्नेह मिलता है, फिर नही।

इस तरह दुनिया के अधिकाश सबध स्वार्थ की भीति पर आधारित हैं। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि वृद्धावस्था मे इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए सक्लेश का कारण बन जाते है और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता है। क्योकि, वृद्धावस्था मे शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एव तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगडने लगता है। खासी से सारे घर के वातावरण को अशात कर देता है, जगह-जगह कफ एव खखार थूक-थूक के कमरे को एव आने-जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। ये सारी स्थितिया लडको एव पुत्र-वधुओ के लिए भयावनी बन जाती है। उनका सारा समय बूढ़े के द्वारा यत्र-तत्र बिखेरे गए कफ आदि को साफ करने में ही बीत जाता है। इतने पर भी उसे सन्तोष नही होता। उसकी नित नई मागो एव आकाक्षाओ से तो

वे परिजन चितित से हो जाते है। उसकी इन्द्रिया शिथिल पड़ जाती है, शरीर जर्जरित हो जाता है, पर एक वस्तु अब भी क्षीण नही होती, बल्कि उसकी शक्ति अधिक प्रबल हो उठती है, वह है—तृष्णा, आकाक्षा, लालसा। इस अवस्था में भी उसकी अभिलाषा बढती ही रहती है। आचार्य शकर ने भी कहा है—"केश पककर के श्वेत हो गए, शरीर के सारे अग जीर्ण शीर्ण एवं शिथिल हो गए, मुह मे एक भी दात नही रहा और लकडी के सहारे के बिना न खडा रह सकता है और न गति ही कर सकता है, फिर भी उसकी तृष्णा-आशा एवं अभिलाषा अभी भी शात नही हुई, अपितु अपरिमित है। वह अभी भी तृष्णा की ज्वाला में जल रहा है।"[1]

वृद्ध की शारीरिक विकृत्तियो एव आशा-आकांक्षाओ तथा खाने-पीने की नित्य नई मागो से परिजन घबरा जाते है और वे दु खित मन से उसकी मरण-समय की प्रतीक्षा करते है। प्रतीक्षा ही नही, अपितु भगवान से प्रार्थना भी करते है कि इस बूढे को जल्दी उठा ले। इस प्रकार स्वार्थ समाप्त होते ही वह वृद्ध बोझ रूप प्रतीत होने लगता है। घर मे उसका कोई विशेष आदर-सम्मान नही करता और न उसकी बात पर विशेष ध्यान ही दिया जाता है। अपने ही घर मे अपनी यह स्थिति देखकर उसे दु ख एव वेदना होती है। परन्तु परिजनो के सामने कुछ कहने का साहस नही होता और कहे भी तो उससे कुछ बनता नही। इसलिए वह उनके चले जाने के बाद उनकी निन्दा करके अपना दिल हल्का कर लेता है।

इस तरह पाप मे प्रवृत्तमान व्यक्ति वृद्धावस्था के आने पर दु खी हो जाता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान मे सलग्न होकर ससार को और अधिक बढा लेता है। परन्तु उस समय उसका कोई सरक्षक नही होता। न धन उसका सरक्षण कर सकता है और न परिवार ही। कुछ परिजन ऐसे भी मिल सकते है कि वे उसे बोझ रूप समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करते है, उसे आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते है। परन्तु वे भी उसे वृद्धावस्था के दु.खो से बचा नही सकते और न उसे अपनी शरण मे लेकर उन

---

1 अग गलित पलित मुण्डम्, दशनविहीन जात तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुचति आशा पिण्डम्॥
भज गोविन्द, भज गोविन्दम्! भज गोविन्द, मूढमते!! भज गोविन्द॥
—आचार्य शकर रचित स्तोत्र, श्लोक 14

दु·खो से निर्भय ही कर सकते है[1]। यदि उसे कोई शरण देने वाला है, तो केवल एक धर्म है। धर्म की शरण में जाने के बाद फिर जरा और मरण का प्रवाह सूखने लगता है, अर्थात् वह उन दु खो से मुक्त हो जाता है।[2] इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह धन, यौवन, भोग-विलास एव परिवार मे आसक्त नही बने और अपने एव पारिवारिक स्वार्थ को पूरा करने के लिए रात-दिन पाप कार्यो में प्रवृत्त न रहे।

प्रस्तुत सूत्र में अशरण भावना का वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था का चित्र चित्रित करके यह बताया गया है कि ससार मे दु·ख एव विपत्ति के समय कोई किसी को शरण नही देता। इसलिए व्यक्ति को उस समय आर्त्त रौद्र ध्यान में न पड़कर अपने आत्म-चिन्तन में लगना चाहिए और समय पर किसी की शरण में न जाना पड़े, इसके लिए पहले से ही सावधान होकर गति करनी चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि पाप कार्य से सदा दूर रहना चाहिए, विवेक एव सयम के साथ कार्य करना चाहिए। क्योंकि सयम एव धर्म ही सच्चा साथी है, सहायक है एव शरण देने वाला है।

परन्तु उन धर्मयुक्त व्यक्तियो का जीवन कैसा होना चाहिए? इसलिए उनके प्रशस्त आचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं व॥66॥

छाया–इत्येवं समुत्थितः अहो विहाराय, अन्तरं च खलु इद संप्रेक्ष्य धीरः मुहूर्त्तमपि नो प्रमादयेत् वयोऽत्येति यौवन च (अत्येति)।

पदार्थ–**इच्चेवं**–इस प्रकार। **अहोविहाराए**–सयम अनुष्ठान के लिए। **समुट्ठिए**–सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर। **इमं च खलु अंतरं**–और इस अवसर को। **संपेहाए**–भली-भांति सोच-विचार कर। **धीरे**–धैर्यवान व्यक्ति को। **मुहुत्तमवि**–मुहूर्त्त मात्र भी। **णो पमायए**–प्रमाद नही करना चाहिए। **व**–अथवा, प्रमाद

1. दु ख एव आपत्ति से बचाने को त्राण कहते है और अपनी शरण मे लेकर उस दु ख से निर्भय कर देने की स्थिति को शरण कहते है।
2 जरामरणवेगेण, बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गइ सरणमुत्तम॥ –उत्तराध्ययन, 23, 68

इसलिए नहीं करना चाहिए, क्योकि। **वओ**—बाल्य काल। **अच्चेई**—बीत रहा है, और। **जोव्वणं**—यौवन भी बीत रहा है।

मूलार्थ—इस प्रकार त्राण एवं शरण का सम्यक्तया विचार करके मुमुक्षु पुरुष को सयमानुष्ठान के लिए उद्यत होना चाहिए, क्योकि बाल्य एव यौवन काल निरतर बीत रहा है, इसलिए सयम मे मुहूर्त्त मात्र भी, अर्थात् थोडा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

जीवन परिवर्तनशील है, प्रवाहमय है। वह सदा एक-सा नही रहता है। प्राय चिन्ताओ, उलझनो से युक्त, सहज, स्वाभाविक और सुखद बाल्यकाल एव यौवन का सुनहरा प्रवाह बह निकलता है और बुढापे की कालिमा उसे आ घेरती है। अत उस समय कोई भी स्नेही-साथी उसके दुःख को दूर करने या बटाने मे समर्थ नही होता। इस बात को सम्यक्तया जानकर, समझकर विवेकशील व्यक्ति को धर्म एव साधना पथ पर गति करने मे जरा भी प्रमाद नही करना चाहिए।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जीवन मे धर्म ही एक मात्र सहायक है। क्योकि धर्म से पाप कर्मो का नाश होता है और ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की ज्योति प्रज्वलित होती है, चिन्तन-मनन मे स्थिरता आती है, आचार में तेजस्विता आती है। इससे सकल्प-विकल्प का वेग कम होता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान की धारा धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान मे बदल जाती है। इससे आत्मा मे अपूर्व तेज एव शक्ति की अनुभूति होती है और आत्मा सारे दु खो एव वेदनाओ से ऊपर उठकर आत्मसुख के अनन्त आनन्दमय झूले मे झूलने लगती है। दुःख की तपती दुपहरियों मे भी वह आत्मसुख की शीतल, सरस, सघन एवं सुखद कुज मे विहार करती है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य को जीवन की अस्थिरता को भली-भाति जान कर वृद्धावस्था आने से पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और जरा एव मृत्यु के शत्रुओ को परास्त करने के लिए अहिसा, सत्य आदि आध्यात्मिक शस्त्रो को प्रबल एव तीक्ष्ण बनाने के लिए अनवरत जागृत रहना चाहिए अथवा सयम-साधना मे क्षणमात्र के लिए भी प्रमाद नही करना चाहिए[1]।

---

1 समय गोयम! मा पमायए। —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 10

यह हम देख चुके है कि वृद्धावस्था मे शरीर एव इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस समय जीवन सबन्धी अनेक चिन्ताए एव अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियां उसे दबा लेती है, ऐसे समय में उसका मन चिन्तन-मनन एव धर्मसाधना मे लगना कठिन है। उस समय वह जीवन की चिन्ताओ के बोझ से इतना दब जाता है कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। इसलिए सर्वज्ञो ने मानव को सावधान करते हुए कहा है कि उसे धर्म एव साधना करने के लिए समय की प्रतीक्षा नही करनी चाहिए[1]। क्योकि किसे पता है कि कौन सा समय, कौन सा क्षण उसके लिए काल के रूप मे आ उपस्थित हो। अत मनुष्य को आने वाले प्रत्येक समय को काल का, मृत्यु का दूत समझ कर उसे सफल बनाने मे प्रत्यनशील रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे इसी मूल स्थान की ओर निर्देश किया गया है कि उसे पूर्व जन्म के पुण्य एव ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के क्षयोपशम से जो आर्य क्षेत्र, शुद्ध आचारयुक्त कुल एव सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप धर्म साधन उपलब्ध हुए है, आत्म विकास मे उनका उपयोग करने मे उसे प्रमाद नही करना चाहिए। क्योकि यौवन एक तरह से कल्पवृक्ष है, वह सब कामनाओ को पूरी करने मे समर्थ है। इससे अर्थ और काम रूप विष भी प्राप्त किया जा सकता है और धर्म एव मोक्ष रूप अमृत भी और दोनो के परिणाम दुनिया के सामने है। बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो विष की ज्वाला से अपने आपको बचाते हुए धर्म पथ पर गति करता है। यदि कभी वह अर्थ और काम के पथ पर बढता है, तब भी धर्म और मोक्ष की भावना को साथ लेकर गति करता है, यों कहना चाहिए कि उसका भोग त्याग प्रधान होता है। काम की अधेरी गुफा मे भी धर्म एव त्याग का प्रकाश लेकर प्रविष्ट होता है, तो वहा भी मार्ग पा लेता है। अस्तु, इस यौवन के सुनहरे क्षणो को व्यर्थ न खोकर मनुष्य को अप्रमत्तभाव से धर्म मे सलग्न रहना चाहिए।

आत्मज्ञान का प्रकाश मनुष्य को इधर-उधर की ठोकरो से बचाता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य होकर काम-वासना मे सलग्न रहते है, वे विषय-वासना के बीहड़ एव भयावने जंगल मे भटक जाते हैं। वे पथभ्रष्ट व्यक्ति अनेक दुष्प्रवृत्तियों मे

---

1 जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविदिया न हायंति, ताव धम्म समायरे॥ .दशवैकालिक सूत्र, 8/36,

प्रवृत्त होकर जीवन के सुनहरे समय को यो ही बर्बाद कर देते है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा॥67॥

छाया–जीविते इह ये प्रमत्ताः, स हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयित्ता, विलुम्पयित्ता, अपद्रावयित्ता, उत्त्रासयित्ता, अकृतं करिष्यामीति मन्यमान· यैः वा सार्द्ध संवसति ते वा एकदा निजका तं पूर्वमेव पोषयन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् पोषयेत्। नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा, त्वमपि नालं त्राणाय वा शरणाय वा।

पदार्थ–इह–इस संसार मे। **जीविए**–असयम जीवन मे। **जे**–जो। **पमत्ता**–प्रमत्त है। **से**–वह-असंयत व्यक्ति। **हता**–जीवो को मारता है। **छेत्ता-भेत्ता**–जीवो के अगोपाग का छेदन-भेदन करता है। **लुंपिता**–ग्रथि आदि काटता है। **विलुंपित्ता**–पूरे परिवार या गांव आदि की घात–हत्या करता है। **उद्दवित्ता**–विष या किसी शस्त्र से जीवो की हत्या करता है। **उत्तासइत्ता**–पत्थर आदि मारकर प्राणियो को सत्रस्त करता है। **अकडं करिस्सामित्ति**–धन-ऐश्वर्य एवं सुख-साधनो को प्राप्त करने के लिए वह काम मै करूगा जो कार्य अन्य किसी ने न किया हो। **मण्णमाणे वा**–ऐसा मानता हुआ वह उस हिसाजन्य कर्म मे प्रवृत्त होता है। **जेहिं**–जिनके। **सद्धि**–साथ। **संवसइ**–रहता है। **ते वा**–वे व्यक्ति ही। **णं**–वाक्यालकार अर्थ में। **एगया**–धन-सपत्ति के नाश होने पर। **नियगा**–स्वजन-स्नेही। **पुव्वि**–पहले ही। **तं**–उसको। **पोसेंति**–पोषण करते है। **वा**–अथवा। **सो**–वह। **ते**–उन। **नियगे**–परिजनो को। **पच्छा**–पश्चात्। **पोसिज्जा**–पोषण करता है, किन्तु। **ते**–वे। **तव**–तेरे। **ताणाए**–आपत्ति से बचाने के लिए। **वा**–अथवा। **सरणाए**–भय रहित करने के लिए। **नालं**–समर्थ नही है। **वा**–यह परस्पर अपेक्षा का द्योतक है। **तुमंपि**–तू

भी। **तेसिं**–उनके। **ताणाए**–त्राण के लिए। **वा**–अथवा **सरणाए**–शरण के लिए। **नालं**–समर्थ नही है। **वा**–यह शब्द पारस्परिक अपेक्षा का द्योतक है।

मूलार्थ–इस ससार मे जो जीव असयमय जीवन व्यतीत करने वाला है, वह प्रमत्त कहा जाता है। प्रमत्त जीव ही अन्य जीवो को मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियो का नाश करता है, त्रास देता है। आज पर्यन्त जो काम किसी ने नही किया, वह मैं करूंगा, इस प्रकार मानता हुआ अर्थोपार्जन करने के लिए जीवो के हनन आदि मे प्रवृत्त होता है।

जिनके साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते है। तत्पश्चात् रोगादि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा उन अपने सम्बन्धियो का भी पोषण करता है तथा भगवान कहते है कि हे मनुष्य! पोष्य और पोषक व तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से तेरी रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकेगे और न ही तू उनके त्राण और शरण के लिए समर्थ हो सकेगा।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे असयमी, विषयाभिलाषी एव प्रमत्त व्यक्तियो के जीवन का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति अपने भोगोपभोगो के साधनो को जुटाने के लिए अनेक प्राणियों का छेदन-भेदन करते है एव अनेक प्राणियो के धन-वैभव पर हाथ साफ करते है। इस प्रकार वे लूट-खसूट एव छल-कपट आदि विभिन्न उपायो से प्राणियो को त्रास देकर भोग-विलास मे सलग्न रहते हैं। उनके इस कार्य मे परिजन भी सहयोगी बन जाते है। जब वह व्यक्ति वीमार या कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है, तो वे परिजन उसका पोषण करते है। क्योकि उसके सहारे पर ही इनका भोग-विलास चलता है। इसलिए वे उसे स्वस्थ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते है। और वह प्रमादी व्यक्ति भी रात-दिन उनका पोषण करने मे लगा रहता है। इस प्रकार परस्पर सहयोग के द्वारा एक-दूसरे के पाप कार्यो को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु जब मृत्यु सिर पर आकर खडी होती है, उस समय संसार का कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नही कर सकना और न उसे अपनी शरण मे लेकर मृत्यु के भय से मुक्त या निर्भय ही कर सकता है। उस समय में उस प्रमादी व्यक्ति के परिजन उसकी तनिक भी सहायता नही कर पाते हैं

और न ऐसे समय मे वह भी अपने परिजनो का सहयोगी बन सकता है। अत इसका निष्कर्ष यह निकला कि ससार मे कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नही दे सकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रमादी व्यक्तियो के लिए एक वचन का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि प्रमत्त जाति सामान्य की अपेक्षा से सभी प्रमादी व्यक्तियों का एक ही जाति के रूप मे वर्णन किया गया है। व्यवहार में भी हम जाति विशेष के लिए एक वचन का भी प्रयोग करते है।

इससे स्पष्ट हो गया कि काल की कराल चपेट से कोई भी व्यक्ति बचाने में समर्थ नही है। उस समय परिवार भी उससे किनारा कर लेता है। ऐसी स्थिति मे धन-वैभव उसके क्या काम आ सकता है? जब चेतन व्यक्ति भी उसे काल से बचाने मे समर्थ नही है, तो जड द्रव्य उसे क्या सहारा दे सकता है? अथवा कुछ भी सहारा नही दे सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–उवाइयसेसेण वा संनिहिसंनिचयो किज्जई, इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्वि परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा॥68॥

छाया–उपादित शेषेण वा सनिधिसन्निचयः क्रियते इहैकेषामसंयतानां भोजनाय, क्रियते तत· तस्य एकदा रोगसमुत्पादा· समुपपद्यन्ते, यैः वा सार्द्ध संवसति त एकदा निजका· तं पूर्व परिहरन्ति स वा तान्निजकान् पश्चात् परिहरेत्, नाल ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषां नाल त्राणाय वा शरणाय वा।

पदार्थ–उवाइयसेसेण–उपभोग-व्यय करने के पश्चात् जो अवशेष बचा हुआ। **वा**–अथवा उपभोग मे नही आया हुआ जो धन है, उसका। **इहं**–इस ससार में। **एगेसिं**–कई एक। **असंजयाण**–असयत व्यक्तियो के। **भोयणाए**–उपभोग के लिए। **संनिहिं**–सग्रह और। **संनिचयो**–सचय। **किज्जई**–किया जाता है, परन्तु। **तओ**–सग्रह करने के पश्चात्। **से**–उसको। **एगया**–किसी समय। **रोग-समुप्पाया**–

ज्वर, कुष्ठ, तपेदिक आदि साध्य-असाध्य रोग। **समुप्पज्जंति**—उत्पन्न हो जाते है, तब। **जेहिं**—जिनके। **सद्धिं**—साथ में। **संवसइ**—सम्यक्तया निवास करता है। **वा**—परस्पर समुच्चय के लिए। **ते वा**—वे ही। **एगया**—एक दिन रोगोत्पत्ति काल मे। **नियगा**—उसके सबधी। **पुव्विं परिहरन्ति**—पहले ही छोड देते है। **वा**—अथवा। **सो**—वह। **ते नियगे**—उन परिजनो को। **पच्छा परिहरिज्जा**—पीछे छोड देता है। **ते**—वे परिजन। **तव**—तेरे। **ताणाय**—त्राण के लिए। **वा**—अथवा। **सरणाए**—शरण देने के लिए। **नाल**—समर्थ नहीं होते। **वा**—परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। **तुमंपि**—तू भी। **तेसिं**—उनके। **ताणाए**—त्राण के लिए। **वा**—अथवा। **सरणाए**—शरण के लिए। **नालं**—समर्थ नहीं है। **वा**—पूर्ववत्।

मूलार्थ—लोग अपने असयत पुत्र, पौत्र आदि के लिए उपभोगावशिष्ट तथा अनुपभुक्त धन सभाल कर रखते है, किन्तु पुत्र आदि अन्तराय कर्म के उदय के कारण उस धन का उपभोग नही कर पाते।

असातावेदनीय कर्म के उदय से जब जीवों को रोग अक्रान्त कर लेते है, तब उनके साथ वाले साथी साथ नही देते, उन्हे छोडकर अलग हो जाते है। साथियो की इस स्वार्थमयी वृत्ति से खिन्न हुए दूसरे जीव भी अपने स्वार्थी सम्बन्धियो को, साथियो को छोड़ देते हैं, उनसे विरक्त हो जाते हैं।

भगवान कहते हैं कि हे शिष्य! मृत्यु की घडी मे तेरे सबन्धी साथी तेरी रक्षा करने मे तुझे शरण-सहारा देने में असमर्थ है। तू भी मृत्यु वेला मे उनका त्राण नही कर सकता, न उन्हे शरण दे सकता है।

हिन्दी-विवेचन

मोह कर्म के उदय से प्रमादी प्राणी पर-पदार्थो मे आसक्त रहते है। उन्हे अपने सुख का साधन एवं विपत्ति मे सहायक के रूप मे समझते है। इसलिए वे जीवन मे धन-वैभव आदि को महत्त्व देते है और उसके संग्रह में रात-दिन लगे रहते है तथा अनेक प्रकार के पाप कार्य करते हुए भी संकोच नही करते। वे समझते हैं कि यह धन मेरे एवं मेरे पुत्र-पौत्र आदि के भोगोपभोग के काम आएगा, उनके लिए सुख का कारण बनेगा। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि जब एक खून के सबध मे आबद्ध

परिजन भी एक-दूसरे को शरण नही दे सकते, तब यह जड द्रव्य उनका सहायक कैसे होगा?

यही बात प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट रूप से समझाई गई है। सूत्रकार ने बताया है कि धन का प्रभूत सचय किया हुआ है, परन्तु वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोग ने आ घेरा तो उस समय वह धन एव वे भोगोपभोग साधन उसका ज़रा भी दुःख हरने मे समर्थ नहीं हो सकेंगे। धन-वैभव को सनाथता एवं श्रेष्ठता का साधन मानने वाले पूजीपतियो एव सम्राटो की सनाथता को चुनौति देते हुए श्री अनाथी मुनि ने मगधाधिपति श्रेणिक को भी अनाथ बताया था, यह पूजीवाद पर एक सबल व्यग्य था। परन्तु इसमें सच्चाई थी, वास्तविकता थी। अनाथी मुनि ने वैभव की निस्सारता का चित्र उपस्थित करते हुए सम्राट श्रेणिक से कहा था कि हे राजन्! मेरे पिता प्रभूत, धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था। सुशील, विनीत एव लावण्यमयी नवयौवना पत्नी थी परन्तु उस समय मेरे शरीर मे दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। दिन-रात ज्वर की आग मे जलता रहा, मै ही नही मेरा सारा परिवार आकुल-व्याकुल हो गया, पत्नी रात-दिन आसू बहाती रही, पिता ने मेरी वेदना को शात करने के लिए धन को पानी की तरह बहाना आरम्भ कर दिया, फिर भी हे राजन्! वह धन, वह परिवार मेरी वेदना को शात नहीं कर सका, मुझे शरण नहीं दे सका, इसलिए मै उस समय अनाथ था। मैं ही नही, भोगो मे आसक्त सारा संसार ही अनाथ है, क्योंकि ये भोग दुःख एव सकट के समय किसी के रक्षक नहीं बनते हैं[1]।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **"उवाइयसेसेण"** शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—**"अद्‌भक्षणे, इत्येतस्मादुपपूर्व्वानिष्ठा प्रत्ययः, तत्र बहुलं छन्दसी-तीडागमः, उपादि तम्—उपमुक्तं, तस्य शेषमुपभुक्तशेषं, तेन वा, वा शब्दादनुपभुक्तशेषेण वा"** अर्थात्—उप पूर्वक अद् भक्षणे धातु से **'क्त'** प्रत्यय किए जाने पर **'बहुल छन्दसि'** इस सूत्र से इट् का आगम कर देने से **'उपादित-उवाइय'** रूप सिद्ध हो जाता है। और उसका अर्थ होता है—उपभुक्त—उपभोग मे आए हुए धन मे से अवशिष्ट—शेष बचा हुआ जो अब तक भोगने मे नही आया है।

'सनिहिसंनिचयो' पद का अर्थ है—**"सम्यग् निधीयते अवस्थाप्यते उपभोगाय**

---

1 उत्तराध्ययन सूत्र, 20, 19-30

योऽर्थ स सन्निधिस्तस्य सन्निचयः प्राचुर्य्यम् उपभोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः" अर्थात् भोगोपभोग के लिए विभिन्न पदार्थो एव धन-वैभव का अत्यधिक सग्रह करना।

परन्तु यह स्पष्ट है कि रोग के आने पर न तो वह द्रव्य ही उसे असातावेदनीय कर्म या दु·ख की संवेदना से बचा सकता है और न उसका सरक्षक ही उसे असाता वेदनीय कर्म या दु.ख की सवेदना से बचा सकता है और न उसका सरक्षक ही उसे बचा सकता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को धन-वैभव के संग्रह मे आसक्त न होकर समभाव पूर्वक वेदनीयकर्म के उदय से प्राप्त कष्ट को सहन करके, उक्त कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए जिसे यह दु ख एव वेदना प्राप्त हुई है। रोग आदि दु.ख एव वेदना के समय किस तरह समभाव रखना चाहिए, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं॥69॥

छाया—ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम्।

पदार्थ—पत्तेयं—प्रत्येक प्राणी के। **सायं**—सुख और। **दुक्खं**—दुःख को। **जाणित्तु**—जानकर; प्रतिकूल परिस्थितियों में मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए।

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दु·ख को जानकर मनुष्य को अपने ऊपर आए हुए रोगादि कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

सुख और दु·ख दोनो एक ही वृक्ष के फल है। वह वृक्ष है—वेदनीय कर्म। यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही पेड के दो विपरीत गुण वाले फल कैसे हो सकते है? इसमे आश्चर्य जैसी बात नही है। वेदनीय कर्म रूपी वृक्ष की दो शाखाए है—एक शुभ और दूसरी अशुभ और उन दोनो शाखाओं से उभय रूप फल प्राप्त होते है, जबकि दोनो का मूल वेदनीय कर्म एक ही है। हम देखते है कि कई ऐसे वृक्ष है, जिन पर अनेक प्रकार के फल लगते हैं, विभिन्न रंगो के पुष्प खिलते है। आज वैज्ञानिकों ने इस बात को स्पष्ट दिखा दिया है। जापान में एक ही वृक्ष पर 27 प्रकार के फलो की कलमे लगाई गई और यह प्रयोग सफल भी रहा है, अर्थात् उस वृक्ष से 27 प्रकार के

फल प्राप्त हो रहे हैं। रूस मे भी ऐसे प्रयोग किए जा चुके है। वैज्ञानिक और भी प्रयोग करने मे सलग्न है। जब ये ससार के पेड़-पौधे अनेक प्रकार के फलो एव विभिन्न रगो के पुष्पो से पुष्पित एव फलित हो सकते है, तो फिर वेदनीय कर्म के वृक्ष से सुख-दु ख रूप दो प्रकार के फलो का प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नही है।

इस तरह साधक सुख और दुःख रूप उभय फलों को वेदनीय कर्मजन्य जानकर समभाव पूर्वक सवेदन करे। न सुख मे आसक्त बने और न दुःख मे हाहाकार करे। परन्तु अपने किए हुए कर्म के फल समझकर शान्ति के साथ उनका सवेदन करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'जाणित्तु'** और **'पत्तेयं'** शब्द बडे महत्त्वपूर्ण है। **'जाणित्तु'** पद से यह अभिव्यक्त किया है कि प्रत्येक वस्तु को पहले जानना चाहिए। क्योंकि ज्ञान के बिना कोई क्रिया नही हो सकती। अत दुख मे समभाव की साधना भी ज्ञान युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। और **'पत्तेयं'** से यह बताया है कि दुनिया में सर्वत्र व्यापक एक आत्मा नही, अपितु अनेक आत्माए है और उन सब आत्माओ का अपना स्वतत्र अस्तित्व रहा हुआ है।

इसके अतिरिक्त **'दुक्खं'** और **'सायं'** शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्येक ससारी आत्मा को प्राप्त सुख-दु ख उसके कृतकर्म के फल है, न कि किसी शक्ति द्वारा दिए गए वरदान या अभिशाप रूप प्राप्त है। व्यक्ति पापाचरण से अशुभ कर्मो का बन्ध कर के दु खों को प्राप्त करता है और सत्कार्य मे प्रवृत्त होकर शुभ कर्म बन्ध से सुख साधनो को उपलब्ध करता है।

अत साधक को प्राप्त दु.ख एव वेदना में घबराना नही चाहिए, अपितु समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए। और वेदना मे संलग्न मन की, विचार की, चिन्तन की धारा को आत्मचिन्तन की ओर मोड देना चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए॥70॥

छाया—अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य।

पदार्थ—च और **खलु** शब्द क्रमश. अधिक और पुनरर्थ मे प्रयुक्त हुए है।

अणभिक्कंतं वयं—अभी धर्म करने योग्य अवस्था अवशेष है, ऐसा। **संपेहाए**—विचार कर, आत्म-चिन्तन मे सलग्न होना चाहिए।

मूलार्थ—आत्म-साधना का समय अभी शेष है, ऐसा सोच-विचार कर साधक को आत्म-अन्वेषण मे संलग्न होना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि हे साधक! तू ससार की अवस्था को जान-समझकर तथा सम्यक्तया अवलोकन करके आत्म चिन्तन मे सलग्न हो। क्योकि अभी तुम्हारे शरीर पर वार्धिक्य एव रोगो ने आक्रमण नहीं किया है, तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियां भी सशक्त है, ऐसी स्थिति में समय को व्यर्थ मे नष्ट मत कर, क्योकि इस अवस्था के बीत जाने पर इन्द्रियो की शक्ति कमजोर हो जाएगी, अनेक रोग तेरे शरीर पर आक्रमण करके उसे शक्तिहीन बना देगे। फिर तू चाहते हुए भी कुछ नहीं कर सकेगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के लिए स्वस्थ शरीर एव सशक्त इन्द्रियो का होना आवश्यक है। यह सब सापेक्ष साधन है। निश्चय दृष्टि से निर्वाण-प्राप्ति के कारण रूप क्षायिक भाव की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम भाव सहायक है, न कि औदयिक भाव और शरीर आदि की नीरोगता, साता वेदनीय कर्म के उदय से है, फिर यहा जो यौवन वय को साधना मे लगाने को कहा है, उसका कारण यह है कि अभी शरीर क्षायिक भाव प्राप्ति का साधन है और साधना की सिद्धि के लिए साधनो का स्वस्थ एव सशक्त होना जरूरी है। इसी अपेक्षा से एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि 'स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा रह सकती है' क्योंकि रोग के कारण, मन सदा चिन्ताग्रस्त रहेगा और मन की अस्वस्थता के कारण आत्मचिन्तन ठीक तरह हो नही सकता; इसलिए साधना काल मे स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है। इसलिए प्राप्त समय को सफल बनाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए॥71॥

छाया—क्षणं जानीहि पंडित!

पदार्थ—पंडिए—हे पडित! आत्मज्ञानी! **खणं**—समय को। **जाणाहि**—जान-पहचान।

मूलार्थ—हे पडित! तू साधना के समय को जान-पहचान।

हिन्दी-विवेचन

समय की गति बड़ी तेज है। समय प्रकाश, शब्द और विद्युत से भी अधिक तीव्र गति से भागता है। शब्द और विद्युत को आज हम पकड कर भी रख सकते हैं, परन्तु समय हमारी पकड से बाहर है। बीता हुआ समय कभी भी लौटाकर नही लाया जा सकता। इसीलिए आगम में कहा गया है कि द्रुतगति से भागने वाले समय को जानकर साधक को उसे सफल बनाने मे सदा सावधान रहना चाहिए। क्योकि ऐसा सुअवसर बार-बार मिलना कठिन है।

'क्षण' शब्द का अर्थ है—अवसर या समय। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, सशक्त इन्द्रियॉ आदि की प्राप्ति द्रव्य क्षण है। आर्यक्षेत्र, आर्यकुल और आर्यधर्म की प्राप्ति क्षेत्रक्षण है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के वे आरे जिनमें धर्म की साधना की जा सके—जैसे अवसर्पिणी काल का तृतीय, चतुर्थ और पंचम आरा तथा महाविदेह क्षेत्र का सभी काल, कालक्षण है। क्षयोपशम आदि भाव की प्राप्ति भावक्षण है।

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म-साधना मे सहायक साधन क्षण है और ऐसे समय को प्राप्त करके साधक को साधना मे प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि समय को जानने वाला व्यक्ति ही पडित है। अतः साधक को चाहिए कि प्राप्त क्षणो को प्रमाद मे नष्ट न करे। इस बात को उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि। त्ति बेमि॥72॥

छाया—यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि,

घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिह्वा परिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि इत्येतैः विरूपरूपैः प्रज्ञानैः अपरिहानैः आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेत्। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**जाव**—जब तक। **सोयपरिण्णाणा**—श्रोत्र विज्ञान। **अपरिहीणा**—हीन नही हुआ। **नेत्त परिण्णाणा**—नेत्र विज्ञान। **अपरिहीणा**—हीन नही हुआ। **घाणपरिण्णाणा**—नासिका विज्ञान। **अपरिहीणा**—हीन नहीं हुआ। **जीहपरिण्णाणा**—रसना का परिज्ञान। **अपरिहीणा**—हीन नही हुआ। **फरिसपरिण्णाणा**—स्पर्श विज्ञान। **अपरिहीणा**—हीन नही हुआ। **इच्चेएहिं**—ये सब। **विरूवरूवेहिं**—विविध रूप वाले। **पण्णाणेहिं**—प्रकृष्ट ज्ञान। **अपरिहीणेहिं**—हीन नहीं हुआ, अर्थात् इनकी शवित क्षीण नही हुई। **आयट्ठं**—आत्मा के लिए आत्महित के लिए। **सम्मं**—सम्यक्तया। **समणुवासिज्जासि**—प्रयत्न करे। **त्ति बेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—जब तक श्रोत्र विज्ञान हीन नही हुआ, चक्षु विज्ञान हीन नही हुआ, घ्राण विज्ञान हीन नही हुआ, जिह्वा विज्ञान हीन नही हुआ, स्पर्शेन्द्रिय विज्ञान हीन नही हुआ, इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानो का जब तक ह्रास नही हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित मे निवास करना चाहिए, अर्थात् आत्माहित के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा मै कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

हम यह देख चुके है कि व्यक्ति शरीर एव इन्द्रियो की स्वस्थता तथा सशक्त अवस्था में ही साधना कर सकता है। चक्षु आदि इन्द्रियो की शक्ति निर्बल हो जाने के बाद वह भली-भाति साधना मार्ग मे प्रवृत्त नही हो सकता। न वह अपना आत्महित ही साध सकता है और न ठीक तरह से प्राणियों की रक्षा ही कर सकता है। इसलिए शरीर एवं इन्द्रियो की स्वस्थता के रहते ही साधक को आत्मसाधना मे सलग्न हो जाना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

'आयट्ठं' पद का अर्थ आत्मार्थ है। प्रस्तुत प्रकरण में आत्मार्थ से आत्मा की वास्तविक निधि ज्ञान, दर्शन, चारित्र लिए गए है। क्योकि उक्त त्रयरत्न की सम्यग् आराधना से ही मोक्ष रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है और यही साधक का मूल

लक्ष्य है। या यो कह सकते है कि जिस साधना से आत्मा का हित हो उसी का नाम आत्मार्थ है। इस अपेक्षा से भी रत्नत्रय ही आत्मा के लिए हितकर है, क्योंकि इनकी साधना से ही आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त **'आयट्ठं'** का संस्कृत रूप **'आयतार्थ'** भी बनता है। आयत का अर्थ होता है—ऐसा स्वरूप जिसकी कभी समाप्ति न हो। आयत मोक्ष को कहते है, अत मोक्षप्राप्ति के लिए जो साधना की जाए उसे **'आयार्थ'** कहते है। इस अपेक्षा से भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय की साधना को ही स्वीकार किया गया है।

अस्तु, निष्कर्ष यह निकला कि शरीर की स्वस्थता एव इन्द्रियों मे शक्ति रहते हुए साधक को सयम-साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। उसे विषय-वासना, धन एव परिजनो की आसक्ति का त्याग कर आत्मसाधना मे प्रवृत्त होना चाहिए। इसीसे आत्मा लोक पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुख-शान्ति-रूप निर्वाण को पा सकेगा।

'त्तिबेमि' का अर्थ प्रथम अध्ययन की तरह समझना चाहिए।

॥प्रथम उद्देशक समाप्त॥

अध्यात्मसार : ।

मूलम्—सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिक्कंं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति॥2/1/64॥

मूलार्थ—पाप-कार्यो में सदा प्रवृत्तमान जीव श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय जन्य परिज्ञान के हीन हो जाने तथा यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर एव वृद्धावस्था मे प्रविष्ट होते ही मूढभाव को प्राप्त हो जाता है।

वृद्धावस्था मे मनुष्य की जो दशा होती है, यहा उसका वर्णन है। अनेक साधु-साध्वी जिनमे कई विद्वान होते हैं और जिन्हे अनेक आगमो का ज्ञाता कहा जाता है, वृद्धावस्था मे वे भी मूढभाव को प्राप्त होते है। इसका क्या कारण है?

यहाँ जो वर्णन है, वह ऐसे व्यक्ति का है, जो गृहस्थ है और जो घर एवं परिवार के बीच रहता है। और उसे मतिभ्रम एव मूढभाव होता है। लेकिन जिन्होंने घर-परिवार इत्यादि के त्याग का संकल्प लिया है, ऐसे साधु-साध्वीजनों की ऐसी दशा क्यों होती है—इसका मूल कारण है—मनोगुप्ति की साधना का अभाव। जिसने बाह्य चारित्र का पालन तो किया, परन्तु आन्तरिक साधना के अभाव में, समाधिमरण योग्य, चित्त उपशान्ति योग्य कषायो का उपशमन रूप योग्य स्थैर्य उपलब्ध नहीं हुआ। केवल द्रव्यश्रुत इतना सहयोगी नहीं बनता, भावश्रुत का जागरण आवश्यक है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत के जागरण का आधार तो है, पर भावश्रुत का जागरण तभी होता है, जब बाह्य आचार के साथ आभ्यतर साधना भी हो। वस्तुत· मनोगुप्ति ही भावश्रुत को जगाती है, वही मूल है।

इसीलिए भगवान ने कहा—जब तक इन्द्रियॉ क्षीण न हो जाए, व्यक्ति को साधना मे लीन हो जाना चाहिए।

धर्म क्या है? कैसे हम स्वभाव मे स्थिर हो जाऍ, कैसे हम मन को साध ले? धर्म

का मूल है, मनोगुप्ति की साधना। यदि यह साधना इन्द्रियो के बलवान रहते हो गयी तब जाकर बुढ़ापे में यह अवस्था, मूढ़ता, मतिविभ्रम इत्यादि नही आते।

जो मनोगुप्ति की साधना करता है, वही सच्ची संलेखना एवं समाधिमरण को उपलब्ध हो सकता है। यही राजमार्ग है। अपवाद रूप से कभी-कभी प्रबल पुण्य के उदय से अन्तिम समय समाधिमरण की प्राप्ति होकर गति सुधर जाती है। इस प्रकार समाधिमरण का राजमार्ग है, मनोगुप्ति और अपवाद है पुण्योदय। इस प्रकार मूल मे है। आभ्यतर साधना उसी के सहयोग हेतु बाह्य आचार आवश्यक है।

जीवनभर यदि मन को साधा न हो, तब अन्तिम समय उत्तर अवस्था मे यह सब करना मुश्किल है। इसलिए व्यक्ति को जिस मार्ग पर भी चलना हो पूर्णतया समर्पित होकर चलना चाहिए। यदि साधु भी बनें तो उच्चतम और यदि श्रावक भी बने तो उच्चतम। अगर छल-कपट करोगे तो कहीं के भी न रहोगे। इसलिए धर्म रूपी रत्न ऐसे ही किसी को नही दिया जा सकता। फिर व्यक्ति का मन कही भी नही लगता। निश्चित ही साधु-धर्म उत्तम है, लेकिन वैसी योग्यता भी चाहिए, मूल में व्यक्ति की साधना चाहिए, साधना भी बिना काल के परिपक्व नहीं होती। साधना करे तो परिवर्तन भी हो सकता है। सत्य, सत्य होता है। सत्य का सामूहिक होना आवश्यक नही है, वह सामूहिक हो भी सकता है और नहीं भी।

मूढभाव क्यो होता है? क्योकि आत्मबोध होता नही और आत्मबोध के अभाव मे जब इन्द्रियॉ शिथिल होती हैं, तब इन्द्रियो के माध्यम से होने वाला ज्ञान भी विभ्रमयुक्त हो जाता है।

ऐसे विभ्रमयुक्त ज्ञान की अवस्था मे व्यक्ति सोचता कुछ है और करता कुछ है। उसके आचरण मन-वचन एव काया की क्रियाओ में विसंगति एव असबद्धता उत्पन्न हो जाती है। जैसे यह शरीर है, युवावस्था मे बल रहने पर तुम कोई अस्वास्थ्यपूर्ण आचरण या शरीर धर्म के विरुद्ध कोई कार्य भी करो तो शरीर उसे सह लेता है। लेकिन वृद्धावस्था मे शरीर फिर निर्बल होने पर अनेक प्रकार की तकलीफें चालू होती है।

जैसे किसी व्यक्ति के दस मालिक हो, कोई ऊपर की दिशा में, कोई नीचे की तरफ, कोई दाये, कोई बायें और सभी व्यक्ति उसे एक साथ बुलाएं और यदि वह न

जाए, तब दण्ड मिले, तब धीरे-धीरे उसकी हालत कैसी हो जाएगी? तब धीरे-धीरे वह व्यक्ति तनावयुक्त होकर विक्षिप्त-सा हो जाएगा।

इसी प्रकार वृद्धावस्था मे शरीर की क्षमता और इन्द्रियों का बल अति क्षीण हो जाता है, किन्तु जीवनभर के संस्कारों के वश मन की इच्छाएं अधिक प्रबल एव मन की तृप्ति अतृप्त रहती है। तब वह चाहता है इच्छा को पूर्ण करना, मन को तृप्त करना। लेकिन शरीर व इन्द्रियॉ साथ नहीं देतीं, तब उसके चित्त मे एक तनाव उत्पन्न होता है। वह बहुत कुछ करना चाहता है, लेकिन कर कुछ भी नहीं पाता, तब एक प्रकार का चिडचिडापन और व्याकुलता जागती है। अतृप्त इच्छाएं और अधिक प्रबल हो जाती है, जिससे उन्माद जागता है। वह स्वय के जीवन से घृणा करने लग जाता है और आसपास की परिस्थिति एव सम्बन्धियो के प्रति तिरस्कार जागता है। इस प्रकार वह सब पर भार रूप बन जाता है। जो उसकी सेवा करना चाहते हैं और उसके प्रति स्नेहभाव रखते हैं, वे भी उसके चिड़चिडेपन एव तनावयुक्त व्याकुलता के कारण उससे दूर हो जाते है।

इसका निवारण कैसे हो? यदि जीवन मे व्यक्ति ने शरीर-शुद्धि की साधना की हो, आसन-प्राणायाम आदि किये हो, जिसने आसनस्थैर्य के माध्यम से शरीर को साधा है और जो मनोगुप्ति की साधना मे निपुण है, ऐसा व्यक्ति मूढ़भाव को प्राप्त नही होता। वृद्धावस्था आने पर इन्द्रियॉ क्षीण हो जाने पर वह विवेक और धैर्य से काम लेता है। इसके साथ आसपास के सयोग भी काम करते है जैसे मित्र, परिवार, सबधी इत्यादि। प्रतिदिन यदि समाधिमरण की भावना की जाए, इस मनोरथ का उच्चभाव से भव्य चिन्तन हो, तब समाधिमरण की योग्यता एव अवसर मे वृद्धि होती है।

यहॉ पर हमे यह शिक्षा मिलती है कि हमारे दु:ख का कारण कोई व्यक्ति या परिस्थिति नहीं है। साधारणत सुख-दु:ख के लिए जिम्मेदार हम किसी व्यक्ति या परिस्थिति को देखते हैं। लेकिन अगर व्यक्ति थोड़ा तत्त्वज्ञ है, तब वह कर्म को जिम्मेदार ठहराता है कि कर्म के कारण मुझको दु.ख आया। लेकिन व्यक्ति यह देख नहीं पाता कि आधि-व्याधि-उपाधि रूप दुःख कर्मो के कारण नहीं हैं।

दुःख का एक ही कारण : अज्ञान

अज्ञानवश दुःख है। ज्ञान आ जाए तब आनंद है। इसलिए धर्म छोटी-छोटी तकलीफो को दूर करने के लिए नहीं है। धर्म तो है कि अज्ञान का परिहार कैसे हो, बिना ज्ञान मिले आज यदि सुख आ भी गया, तब वह कल पुनः दु·ख रूप हो जाएगा। मूलत· सुख का एक ही कारण है, ज्ञान और दुःख का कारण है, अज्ञान। ससार का कारण है कर्म और कर्म का कारण है कषाय और कषाय का कारण है अज्ञान। ज्ञान होते ही चित्त शात हो जाएगा और वह ज्ञान है, आत्मबोध। उस आत्मबोध हेतु जो मार्ग है, उसीको हम व्यवहारनय से धर्म कहते है। निश्चय में आत्म-रमण करना ही धर्म है।

साधना

कर्म कभी आत्मा को दु·खी नही कर सकते। कर्म तो पुद्गल है और पुद्गल का प्रभाव पुद्गल पर पड़ता है, आत्मा पर नही। जैसे हमारे कर्म है, वैसे ही भगवान् के भी कर्म थे। अज्ञानी के भी कर्म का उदय होता है और ज्ञानी के भी। लेकिन एक व्यक्ति जो व्याकुल होता है, जिसका चित्त चंचल होता है और दूसरा व्यक्ति शान्त, समाधिस्थ, आनदित रहता है। कर्म के उदय से आसपास की परिस्थितियॉ शरीर की अवस्था और मन के विचार बदलते हैं। लेकिन सबके उदय होते हुए भी हम समाधि मे रहे, इन सबसे अप्रभावित रहे, यही साधना है। बाह्याचार इस समाधि अवस्था में रहने हेतु हमें सहयोग देता है, एक वातावरण देता है। आभ्यतर साधना हमारी समाधि को परिपुष्ट और बलवान बनाती है। इस प्रकार मूल बात है किसी भी प्रकार के सयोगो से प्रभावित नहीं होना। लेकिन यदि साधना निरन्तर चलती रही तो स्वयमेव ये लक्षण प्रकट होगे। जैसे सम्यग् दर्शन के ये लक्षण है—सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एव आस्था। यह सब प्रकट कब होगा, सोचने-विचारने से नही, अपितु साधना से होगा, क्योकि साम्यभाव हमारा शुद्ध स्वभाव है—जितना व्यक्ति साम्यभाव मे पुष्ट होगा, उतना ही ज्ञान भी प्रकट होगा। इसी को भगवान ने सामायिक कहा, अर्थात् स्व मे स्थित रहना।

सामायिक—श्रावक के लिए दो घड़ी की सामायिक अभ्यास के लिए है। सामायिक

से यहाँ कई अपेक्षाएँ है। शुद्ध सामायिक तो है अपने स्वभाव में रहना, लेकिन साम्यभाव की भी अनेक अवस्थाएं हैं–

उत्तम है–'सकल्प-विकल्प की विचलितता रहित शुद्ध वीतराग-भाव से 'रमण'। यदि इस प्रकार दो घडी की निरन्तरता रहे, तब केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त साम्यभाव की अनेक अवस्थाए है। सकल्प-विकल्प की विचलितता के आधार पर ये सारे भेद हैं। यह इस प्रकार है जैसे पानी ठहर जाए और शात हो जाए। किसी भी एक आलम्बन पर चित्त की स्थिरता छद्मस्थ अवस्था मे दो घड़ी से अधिक नही रहती। इस प्रकार दो घडी की सामायिक श्रावक के लिए अभ्यास रूप है। साधु के लिए तो प्रतिक्षण की सामायिक है। श्रावक की सामायिक साधुत्व का अभ्यास है। साधु के लिए प्रतिक्षण मनोगुप्ति है और कभी आवश्यक प्रवृत्ति भी करनी हो, तब भी वह समितिपूर्वक करे।

सामायिक में श्रावक की साधना

1 स्वाध्याय–जैनत्व की झाकी, जैन तत्त्व प्रकाश आदि।
2 ध्यान–श्वास को देखना।
3 उँकार का उच्चारण एव ध्यान।
4 प्रभु का नामस्मरण या नमस्कार मत्र का जाप।
5. लोगस्स का काउस्सग।
6. स्तुति–स्तोत्र, प्रार्थना-भजन इत्यादि।

ध्यान और मनोगुप्ति की साधना : स्वाध्याय

सामायिक का अर्थ है–साम्य-भाव मे स्थैर्य अथवा साम्यभाव की साधना। इन सभी आलम्बनो मे भी मुख्य है ध्यान। इससे मन मे जल्दी स्थिरता आती है, इससे मन की गति जल्दी ही अवरुद्ध होती है। कभी-कभी लगता है कि ध्यान मे तो मन स्थिर नहीं रहता, लेकिन प्रार्थना, स्वाध्याय इत्यादि मे मन लग जाता है। इसका कारण यह है कि प्रार्थना-स्वाध्याय आदि मे आलम्बन बदलते रहने से मन में चचलता का बोध नहीं होता, जबकि ध्यान में एक ही आलम्बन का आश्रय होने से मन में चचलता का बोध तुरन्त हो जाता है। ऐसे देखा जाए तो जप भी अच्छा है। इसे हम

पदस्थ ध्यान कहते है, किसी पद का ध्यान करना। इस प्रकार सामायिक की मूल साधना है मनोगुप्ति—स्वाध्याय। यह मनोगुप्ति की साधना कैसे करनी, इसी की विधि बताते है।

मूलम्—जीविए इह जे पमत्ता से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पित्ता, विलुम्पित्ता, उद्दवित्ता, उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा, तुमिंपि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा॥2/1/67

मूलार्थ—इस संसार में जो असयत या असयमी जीवन जीने वाला है, वह प्रमत्त कहा जाता है। प्रमत्त जीव ही अन्य जीवो को मारता है, उनका छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, ग्रामादि का घात करता है, प्राणियो का नाश करता है और उन्हे त्रास देता है। ऐसा प्रमत्त व्यक्ति यह मानता है कि आज तक जो काम किसी ने नही किया, वह मै करूंगा। इस प्रकार मानता हुआ वह अर्थोपार्जन करने के लिए जीवों के हनन इत्यादि मे प्रवृत्त होता है।

जिनके साथ वह निवास करता है, वे सम्बन्धी रोगादि से ग्रस्त हुए उसका पोषण करते है। तत्पश्चात् रोगादि से निवृत्त हुआ वह धनादि के द्वारा अपने उन सबन्धियो का भी पोषण करता है। अत· भगवान कहते है कि हे मनुष्य! पोष्य और पोषक एव तेरे सम्बन्धी भी जरामरणादि से तेरी रक्षा करने में समर्थ नही हो सकेगे और न तू ही उनके त्राण एव शरण के लिए समर्थ हो सकेगा।

समाज-सघटन का सूत्र

यहॉ 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का दर्शन होता है। पहले व्यक्ति परिवार का पोषण करता है, जिससे परिवार की वृद्धि होती है और परिवार के सभी सदस्य यथोचित्त भोगोपभोग को प्राप्त करते है, फिर जब वह पोषणकर्ता रोगग्रस्त हो जाता है तो सभी परिवारी जन उसका सहयोग करते है।

'परस्परोग्रहो जीवानाम्' यह एक निरपेक्ष सूत्र है। परस्पर उपग्रह सहयोग पाप

को बढाने वाला भी हो सकता है और धर्म की वृद्धि करने वाला भी हो सकता है। जैसे श्रावक का, गृहस्थ का परिवार होता है, वैसे ही साधु का गण होता है। गृहस्थ धन-सम्पत्ति एव सुख की वृद्धि में एक दूसरे का सहयोग करता है, भोग-विलास मे एक दूसरे का सहयोग करता है। साधुजन अन्योन्य-परस्पर सयम-साधना एव धर्म की वृद्धि तथा सयम-निर्वाह मे सहयोग देते है।

यह सूत्र एक प्रकार से प्रेम एव मैत्री का भी सूचक है। सामान्य अर्थो मे यह निर्देश करता है कि सभी जीव एक-दूसरे से कही-न-कही जुडे हुए है। एक दूसरे का उन पर उपग्रह है। इस प्रकार यह एक सामाजिक सूत्र है। यह सूत्र आध्यात्मिक रूप से तभी महत्त्वपूर्ण बनता है, जब वह धर्म एवं साधना के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है। जिस क्षेत्र की अपेक्षा से इसका अर्थ करेगे, वैसा ही इसका अर्थ निकलेगा।

भगवान का तीर्थ भी परस्पर सहयोग पर टिका हुआ है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह तीर्थ का सयोजन करने वाला है। श्रमण वर्ग का श्रावक वर्ग को सहयोग है और श्रावक का श्रमणवर्ग को; फिर भी वे एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। वे एक दूसरे का सहयोग तो लेते है, परन्तु आश्रित नही है।

व्यक्ति : आश्रय के कारण

जब मन मे किसी के प्रति आशा और अपेक्षा होती है। यह आशा कि वह मुझे सहयोग देगा ही। यह अपेक्षा कि उससे तो मुझे सहयोग मिलेगा ही। लेकिन साधक का भाव यह होना चाहिए कि सहयोग मिले तो भी ठीक है और न मिले तो भी ठीक है। साधक का अन्त करण निरपेक्ष होता है, क्योकि यदि आशा होगी तो निराशा भी आएगी। फिर राग-द्वेष और सुख-दु ख का जन्म होगा। अतः साधु को किसी से आशा नही रखनी चाहिए। आशा दुःख की जननी है ओर ससार का विस्तार है।

व्यक्ति आशा क्यो रखता है—क्योकि उसके मन मे भ्रम है कि किसी से मुझे कुछ मिल सकता है, कोई मुझे सुख दे सकता है। वह अभी तक यह समझ नही पाया कि मैं स्वय आनंद स्वरूप चिन्मय ज्योति हूँ। कोई मुझे न सुख दे सकता है और न दु ख। जब तक हमे अपने आनद का पता नही है, तभी तक बाहर से सुख की चाह रहती है। निष्कर्ष यह है कि किसी से आशा आत्मअज्ञान के कारण होती है।

आशा अज्ञानस्वरूप है। भ्रम है। जब आशा होगी, तब आसरा या सहारा भी होगा, अर्थात् जो मेरी आशा पूरी करेगा, वही मेरा आसरा है, सहारा है।

तो क्या फिर मोक्ष की भी आशा नहीं रखनी चाहिए ? यह एक अस्वाभाविक प्रश्न है, क्योंकि मुमुक्षा कर्मो के क्षयोपशम से जागने वाला क्षायोपशमिक भाव है और आशा कर्मो के उदय से जागने वाला भाव है। आशा चित्त की चंललता का आगमन है। मुमुक्षा—चित्तस्थैर्य का प्रतीक है। जैसे पहले एक शब्द आया 'दुगछणाए' अर्थात् आरभ-समारभ से स्वाभाविक निवृत्ति। इस प्रकार आत्मस्वरूप के प्रति वीतरागता के प्रति, योग स्थैर्य के प्रति रही हुई स्वाभाविक वृत्ति को मुमुक्षा कहते है। पूर्व मे दिया गया शूकर का दृष्टान्त देखे।

मुमुक्षा केवल बौद्धिक संकल्प-विकल्प या विचार मात्र नही है। बौद्धिक चिन्तन और विचार सहयोगी बन सकते है। लेकिन वह मुमुक्षा का मूल स्वरूप नही है। जैसे सम्यक् दृष्टि बनने पर सम-संवेग इत्यादि लक्षण प्रकट होते है। इसमे जो सवेग है वह मुमुक्षा है। जीव को स्वयमेव जीवन के सम्यक् तत्त्वो मे रुचि आ जाती है। मुमुक्षा भी सभी की एक जैसी नही होती। जितनी-जितनी सम्यक्त्व एव मोहकर्म की विशुद्धि होगी, उतनी ही मुमुक्षा तीव्र होगी। निश्चय मे तो आत्मबोध होने पर व्यक्ति की रुचि जो पौद्गलिक आनद से हटकर आत्मिक आनद मे जुड जाती है, उसे ही मुमुक्षा कहते है। समाधिमरण के मनोरथ से भी मुमुक्षा मे सहयोग मिलता है।

सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु का अर्थ—ऐसे तो इसके अनत अर्थ है। 1 सिद्ध भगवान मुझे भी गपकी तरह सिद्धगति मिले, 2. मुझे सिद्धगति का मार्ग मिले, 3 इस मार्ग पर सदा ही दृढ़तापूर्वक चलता रहूँ।

प्रश्न—जब अरिहत के नाम मे सभी तीर्थकरो का समावेश हो जाता है, तब लोगस्स मे सभी तीर्थकरो के नाम को अलग-अलग क्यो दिया?

ऐसे तो सिद्धो मे सभी आ गये, क्योकि सभी को सिद्ध होना है चाहे वह पचपरमेष्ठी मे से कोई भी हो, फिर भी हम व्यवहार दृष्टि से अलग-अलग वंदन करते है। जैसे आपने किसी पर उपकार किया, तब वह आपके प्रति कृतज्ञता दर्शाता है। स्वरूप दृष्टि से तो सभी एक जैसे ही हैं, फिर भी व्यवहार दृष्टि से हम भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार अरिहत में सभी तीर्थकरो का समावेश हो जाता है, फिर भी व्यवहार

दृष्टि से सभी तीर्थकर भगवतों का अलग-अलग स्मरण करने पर हमारे अंत करण मे भक्ति जागृत होती है। उपादान की शुद्धि होती है, इन पवित्र नामो के स्मरण से आसपास का वातावरण पावन और पवित्र बनता है। हम पुद्गलों मे जी रहे है, अतः यह पुद्गल स्वरूप शब्द पवित्र होने पर हमारे शरीर, वचन और मन को भी पवित्र बनाते हैं। सभी तीर्थकर भगवतों के अधिष्ठाता देवगण होते हैं। अत उनका भावपूर्वक स्मरण करने से वे दिव्य शक्तियॉ हमारे मिथ्यात्व का परिहार कर संयम-समाधि और सम्यक्त्व हेतु सहयोग करती हैं।

मूलम्—जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं॥2/1/69

मूलार्थ—प्रत्येक प्राणी के सुख-दु.ख को जानकर मुनष्य को अपने ऊपर आए हुए रोगादि कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

दु ख मृत्यु स्वरूप हे। दु ख का सयोग और सुख का वियोग, क्योंकि प्रत्येक प्राणी की अभिलापा है कि उसे सुख मिले। जब इस अभिलापा के विपरीत होता है, तब उसे मृत्यु स्वरूप कष्ट प्रतीत होता है।

चैतन्य आनद रूप है। इसलिए चैतन्य शब्द का प्रयोग हम आनंद के लिए, उत्साह के लिए करते है। जब व्यक्ति पूर्णत. निश्चल हो जाता है, तब हम कहते हैं मृत्यु हो गयी। दु:ख आशिक मृत्यु के समान है। आनद चैतन्य स्वरूप है और सदैव मृत्यु स्वरूप है। ऐसे तो मृत्यु का अर्थ होता है प्राणो का वियोग। यहॉ पर त्राण व शरण की वात की है। वह दु.ख की अपेक्षा से न तो वह किसी को दु ख दे सकता हे, न वह किसी का दु.ख हटा सकता है, क्योकि बिना ज्ञान दु.ख जाता नही है। दु:ख अज्ञान आश्रित है, आनद ज्ञान आश्रित है। दोनो ही व्यक्ति एव परिस्थिति आश्रित नही है। फिर भी हमे जहॉ से ज्ञान एव आनद का रास्ता मिलता है, हम उस निमित्त का उपकार मानते हे। इसमे हमारी उपकार एव कृतज्ञता से उपादान शुद्धि होती है और जहॉ प्राप्त किया वह टिका रहता है। जब व्यक्ति आधि-व्याधि एव उपाधि मे ग्रसित होता है, तब उसे यह देखना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी दु.ख एव सुख मे पडा हुआ है। कोई भी एकान्तत: नित्य सुखी नही है। आज सुखी है तो कल दु:खी है। वह सुख भी एक रूप से दु ख रूप ही है। लगता है, सुख लेकिन वह सुख भी हमे

अपने स्वभाव से, आनद से दूर ले जाता है। प्रत्येक प्राणी सुख-दु ख से सतप्त है। यह देख-जानकर व्यक्ति को इन सबसे परे जो आनंद है, उसकी खोज करनी चाहिए। लेकिन लोक एव प्राणी की इस अवस्था को कोई देखता ही नही। सभी ऑख बन्द किए हुए चले जा रहे है। वे यह देख नही पाते कि जब प्रत्येक प्राणी सुख-दु ख मे पड़ा हुआ है तब उस तरह का जीवन जी कर मै कैसे एकान्त नित्य सुखी हो जाऊँगा? हमने दु ख को जीवन का एक अनिवार्य अग मान लिया है। अत. आनद का मार्ग खोजते ही नही है। जब सभी दु खी है तो मै भी दु.खी हूँ, ऐसा सोचकर हम अपने आपको एव दूसरो को सात्वना देते है। यह सात्वना घातक है। इससे व्यक्ति सुख-दु ख मे ही उलझा रहता है। जो सुख सापेक्ष है वह दु ख ही है। सच्चा सुख तो निरपेक्ष होता है। प्रश्न यह नही है कि सुख को कैसे प्राप्त करे और दु ख से कैसे छूटे। प्रश्न यह है कि कैसे दोनो से पार जाएँ, क्योंकि दोनो ही चिन्ता एव जन्म-मरण देने वाले है। दोनो ही उपादेय नही है, केवल ज्ञेय है। यह प्रज्ञा, यह बोध किसी भवितात्मा को जागता है कि समस्त लोक सुख-दु ख के पीछे भाग रहा है और मुझे इन्द्रियो से पार जाना है। इन सुख-दु ख के पीछे नही भागना है।

जब जीवन मे दुःख आए, तब यह देखना कि मै ही नही प्रत्येक प्राणी दु खी है। यह हमारी दृष्टि का भ्रम है कि कोई हमें दु.खी दिखाई देता है तो कोई सुखी। वस्तुतः सुख-दु.ख दोनो वेदना के उदय से होते है। दोनो ही वेदना स्वरूप है पर किसी वेदना को हम सुख मानते है और किसी को दु ख। जो अपने को सुखी मानते हैं, वे भी दुःखी है। इन्द्रियो का सुख ऐसा है जैसे खुजली का रोग होने पर खुलजाने से जो सुख होता है। जीव इसे समझ नही पाता, यह तो वही समझ पाता है जो इन दोनो से परे है। इस ज्ञान के द्वारा इस लोक के, संसार के स्वरूप को जानकर व्यक्ति को जो भी समय शेष बचा है, उसे साधना में लगाना चाहिए। वस्तुत सुख-दु ख दोनो ही एक हैं। उन्हे अलग-अलग मानना ही भ्रान्ति है। मूलत सुख-दु ख का विभाजन करना ही गलत है।

यह कर्मो का विभाजन केवल परिचय के लिए है। साता और असाता इस प्रकार विभाजन ही मत करो। न सुख है, न दु ख है। केवल मन की कल्पना है। सब कुछ वेदनीय के उदय से आ रहा है। केवल एक वेदना अनुभव के रूप मे देखो। परिस्थिति का अर्थ है जो आती है और चली जाती है, चाहे वह सुख की हो, चाहे

दु ख की हो, आज है कल चली जाएगी। इस रूप मे देखेंगे तब राग-द्वेष नहीं होगा और इस विदेह भावना का, इन सबसे अलग होने की भावना का उदय तब होता है, जब कर्मो का क्षयोपशम होता है। कर्मो का क्षयोपशम होता है, साम्य भाव की साधना से, आत्मदर्शन की साधना से।

परिस्थिति का अर्थ है जो आती है-जाती है। आज है कल चली जाएगी, अधिक से अधिक जीवन भर रहेगी। अगर इस रूप मे देखोगे, तब राग-द्वेष नही आएगा और यह विदेह भावना सबसे अलग होने की भावना का उदय होता है, कर्मो के क्षयोपशम द्वारा।

'आयट्ठ' का अर्थ होता है, आत्मा का अर्थ, यानी जो आत्मा का मूल स्वरूप है, उस स्वरूप प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना चाहिए। आत्मस्वरूप को जान लो आपको आगमो मे ऐमा नही मिलेगा। 'आयट्ठ' शब्द इस अर्थ का बोधक है। उस समय 'आयट्ठ' कहने से लोग समझ जाते थे। आज उसे ही स्वरूप बोध कहते हैं।

आयट्ठ—आत्मा के अर्थ को जानना जिससे आत्मा का अर्थ सिद्ध हो जाए, वह करो। एक अपेक्षा से 'आयट्ठ' का अर्थ होता है हेतु क्या है। प्रत्येक आत्मा का हेतु क्या है, वह क्या चाहती है। सभी नित्य सुख और जीवन चाहते है। सुख क्यो चाहते है? क्योकि वह आत्मा की स्वाभाविक रुचि है। उसका मूल हेतु है कि मुझे सुख चाहिए। लेकिन उसे पता नही है कि सच्चा सुख कैसे मिले। वह सुख-दु.ख मे भटकता रहता है। जो क्षणिक सुख अथवा सुखाभास है, उसके मिलने पर उसे लगता है, सच्चा सुख मिलता है। हेतु अभी तक सिद्ध नही हुआ, लेकिन उसे लगता है कि हो गया। वह बाह्य सुख साता की परिस्थिति को आन्तरिक सुख मान लेता है, क्योंकि उसने सच्चे सुख का अनुभव नही किया। जब उसे किसी ऐसे सत का मिलन होता है जो आत्मसुख से भरपूर है, तब उसे पता चलता है कि सच्चा सुख तो कुछ और ही है। यह सूक्ष्म दृष्टि साधना से ही आती है। जब उसे यह पता लगता है कि मेरा हेतु अभी तक सधा नही, फिर वह पुरुषार्थ करता है।

मूलम्—खणं जाणाहि पंडिए॥1/2/71

मूलार्थ—हे पंडित! तू साधना के समय को जान—पहचान।

क्षण, अर्थात् धर्म साधना हेतु प्राप्त हुआ सुयोग्य अवसर। चूँकि यहाँ पर धर्म के क्षेत्र मे इसका प्रयोग हुआ है, अत धर्म साधना हेतु सुयोग्य अवसर जैसे भगवान महावीर गौतम स्वामी से कहते है कि 'समय गोयम मा पमायए' हे गौतम। समय मात्र का प्रमाद मत करो, क्योकि तीर्थकर स्वय उपस्थित है, तीर्थकर के जानने के बाद सद्धर्म को पहचानना मुश्किल हो जाएगा। अत· जब तक सुयोग्य अवसर है, अप्रमत्त होकर साधना करो।

पण्डित—अर्थात् जो पण्डा से युक्त है। पण्डा—अर्थात् प्रज्ञा सम्यक् ज्ञान विवेक से जो युक्त है, उसे पंडित कहते हैं। ऐसे पण्डित को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम अपनी पण्डा के द्वारा क्षण को जानो और एक क्षण मे सम्यक् पूर्वक आत्म-उपयोग मे लगाओ। किसी भी कार्य की सिद्धि पॉच समवाय से होती है। या तो ऐसे भी कह सकते है द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव परिपक्व होने पर कार्य-सिद्धि होती है।

सुयोग्य अवसर का अर्थ—धर्म साधना हेतु काल, स्वभाव, पूर्व कर्म का उदय और नियति अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारो ही परिपक्व है, धर्म साधना हेतु योग्य है, अब जीव के सविशेष उपयोगपूर्वक प्रयत्न की आवश्यकता है। दूसरा अर्थ जैसे अनेक लोग करते है। न भूतकाल की याद करो, न भविष्य की कल्पना, लेकिन वर्तमान मे स्थिर हो जाओ, इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है जो पंडित है वे भूतकाल की यादों में नही खोते और न भविष्य की ही कपोल कल्पनाओ मे खोते है, अपितु वर्तमान में साधना करते है। भूतकाल को भूलने का अर्थ यह नही है कि आलोचना और पश्चात्ताप भी नही करना। आलोचना और प्रायश्चित्त करना जरूरी है, लेकिन भूतकाल को याद कर शोक नही करते। लेकिन भूत एव भविष्य के सबध में राग-द्वेष आर्त एव रौद्र ध्यान नही करना। भविष्य के बारे मे दीर्घ-दृष्टि से सोचना एव योग्य अवसर देखना भी जरूरी है। यहॉ जो अर्थ-गर्भित है, वह है भूत एवं भविष्य मे उलझने से व्यर्थ का ऊहापोह होता है। अत· इसमें उलझने की अपेक्षा जो भी सुयोग्य क्षण तुम्हारे पास मौजूद है, उसका सम्यक् उपयोग कर साधना करो।

मूलम्—जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, नेत्तपरिण्णाणा, अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं

अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि त्तिबेमि॥2/1/72

मूलार्थ—जब एक श्रोत्र विज्ञान हीन नहीं हुआ, चक्षु विज्ञान हीन नहीं हुआ, घ्राण विज्ञान हीन नही हुआ, जिह्वा विज्ञान हीन नही हुआ, स्पर्शेन्द्रिय विज्ञान हीन नहीं हुआ, इस प्रकार ये सब विविध रूप वाले विशिष्ट विज्ञानो का जब तक ह्रास नहीं हुआ है, तब तक साधक को सम्यक्तया आत्मा के हित में निवास करना चाहिए, अर्थात् आत्मा के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा मै कहता हूॅ।

यहॉ बताया गया है कि जब तक सारी इन्द्रियॉ ठीक है, जब तक इन्द्रिय विज्ञान का ह्रास नही हुआ है, जब तक आभ्यन्तर प्रज्ञा, सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म रूप विविध रूप से, प्रज्ञावान का संयोग मिला है, तब तक इन सभी सुयोग्य निमित्तो को लेकर व्यक्ति को आत्मार्थ को साध लेना चाहिए, क्योकि इन सबका एक साथ मिलना कठिन है। कभी स्वस्थ शरीर मिलता है तो धर्म नही मिलता और धर्म मिलता है तो स्वस्थ शरीर नही मिलता।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में पारिवारिक एव भौतिक सुख साधनो तथा धन-ऐश्वर्य आदि के मोह का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है, क्योकि पारिवारिक एव सपत्ति का मोह तथा बन्धन साधना के पथ मे अवरोधक चट्टान है। पारिवारिक व्यामोह एव माता-पिता के सबन्धो की आसक्ति से ऊपर उठे बिना साधक साधना-पथ पर गतिशील नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता सग्राम के समय हम देख चुके है कि देश की स्वतन्त्रता के लिए सत्याग्रहियो को पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना ही होता था, उन्हे घर एव सपत्ति की आसक्ति से भी कुछ सीमा तक निश्चिन्त होना पडता था। इससे हम सहज ही अनुमान लगा सकते है कि आत्मस्वातत्र्य के लिए वासना एव विकारो से अनवरत लडने वाले आध्यात्मिक सेनानियो—साधको के लिए पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना अनिवार्य है, क्योकि व्यामोह का त्याग किए बिना संयम मे स्थिरता नही आ सकती।

चिन्तन-मनन से प्राप्त सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचार मे प्रवृत्त होने का नाम सयम है। इसके लिए सबसे पहले चिन्तन मे सात्त्विकता का आना जरूरी है और वह योगो की एकाग्रता पर आधारित है और जब तक साधक पारिवारिक व्यामोह से आबद्ध है, तब तक उसके योगो मे एकाग्रता आ नही पाती। क्योंकि उसके सामने अनेक समस्याये मुह फाडे खडी रहती है, कभी मन किसी समस्या से उलझा हुआ है तो वचन का प्रयोग किसी और ही पहलू को हल करने मे लग रहा है और शरीर किसी तीसरे कार्य में ही व्यस्त है। इस प्रकार तीनों योगों की विभिन्न दिशाओ में दौड-धूप होती रहने से, उनमें एकाग्रता नही आ पाती। अत· योगों की एकाग्रता के अभाव मे चिन्तन मे सात्त्विकता एव ज्ञान तथा आचार मे तेजस्विता नही आ पाती है। अस्तु सयम की साधना के लिए, साधना के मूल चिन्तन मे सात्त्विकता एव ज्ञान मे निर्धूमता लाने के लिए पारिवारिक व्यामोह का त्याग करना अनिवार्य है। इसी कारण प्रथम

उद्देशक में मोह एवं आसक्ति के परित्याग की बात कही गई है। इससे साधक के मन मे साहस एवं उत्साह का सचार होता है। परन्तु कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितिया सामने आती है कि साधक का मन लडखड़ाने लगता है। उसकी अस्थिरता को दूर करके साधना मे दृढता लाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक मे सूत्रकार सयम-मार्ग में आने वाली अरुचियो का वर्णन करके यह स्पष्ट कर रहे हैं कि साधक को उन पर कैसे विजय पानी चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रारभ करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के॥73॥

छाया—अरतिं आवर्त्तेत (अपवर्त्तेत) स मेधावी क्षणे मुक्तः।

पदार्थ—से—वह। **मेहावी**—बुद्धिमान है, जो। **अरइं**—अरति—चिन्ता को। **आउट्टे**—दूर करता है, वह फिर। **खणंसि**—क्षण मात्र—स्वल्प काल मे। **मुक्के**—अष्ट कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति—चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्तामुक्त व्यक्ति स्वल्प समय मे कर्मबन्धन से भी मुक्त—उन्मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि "साधना का मार्ग फूलों का मार्ग नहीं, कटीली पगडडी है।" अत· उस पर गतिशील साधक को पूरी सावधानी रखने का आदेश दिया गया है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक गति करने को कहा गया है। इतने पर भी परीषहो का कोई-न-कोई काटा चुभ ही जाता है। उस समय निर्बल साधक के मन मे वेदना की अनुभूति का होना भी स्वभाविक है। इसलिए सूत्रकार ने साधक को सावधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया है कि ऐसे विकट समय मे भी अपने मार्ग पर गतिशील रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है और वही कर्मबन्धन की शृखला को तोडकर मुक्त हो सकता है। अतः साधक को थोडे-से परीषह से घबराकर अपने प्रशस्त मार्ग से विचलित नही होना चाहिए और अपनी श्रद्धा एव ज्ञान की ज्योति को धूमिल नही पडने देना चाहिए।

साधना के पथ से विचलित होने का अर्थ है—पतन के गर्त मे गिरना। अत· जरा-से परीषह से परास्त होने वाला व्यक्ति कुडरीक की तरह अपने जीवन को बर्बाद

कर लेता है, अनुपम सुखो को खो देता है और इसके विपरीत उसके लघु भ्राता पुडरीक का अनुकरण करने वाला व्यक्ति निर्बाध गति से मुक्ति की ओर कदम बढाता है। साधना-पथ पर गतिशील साधक के लिए ये दोनों उदाहरण सर्चलाइट की तरह उपयोगी है।

कुडरीक और पुडरीक दोनों सगे भाई थे। कुण्डरीक बडा भाई होने के कारण राज्य का मालिक था। परन्तु मुनि के सदुपदेश से राज्य का त्याग करके वह साधु बन गया और निरन्तर एक हज़ार वर्ष तक साधना करता रहा। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनो मे वह परीषहो एव वासना से परास्त हो गया। अपने लघु भ्राता पुण्डरीक को राज्य का सुख भोगते देखकर उसका मन भी उस ओर लुढक गया। वह अपने को सभाल नही सका। अतः उसने अपनी अभिलाषा पुण्डरीक के सामने व्यक्त कर दी। पुण्डरीक को भाई के विचार सुनकर अति वेदना हुई और उसने धर्म एवं शासन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपने ज्येष्ठ भ्राता को उस का राज्य सौपकर, उसके स्थान मे उन्होने दीक्षा ग्रहणकर ली और तप साधना मे सलग्न हो गए।

कुडरीक प्रकाम भोजन एवं भोगो में आसक्त हो गया और पुंडरीक तप करने लगा तथा रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल गया उसी पर सतोष करके सयम साधना मे सलग्न हो गया। परिणाम यह निकला कि कुण्डरीक की तपस्या से निर्बल बनी हुई आते प्रकाम भोजन को पचा नहीं सकी और दुर्बल शरीर अधिक भोगो की मार को सह नहीं सका, इससे उसे असाध्य रोग हो गया और वह भोगो की आसक्ति मे तडपता हुआ मर गया। उधर पुडरीक को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन नही मिलने से वह भी अस्वस्थ हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति में भी वह अपने पथ से भ्रष्ट नहीं हुआ। समभाव पूर्वक वेदना को सहते हुए अनशन करके पडित मरण को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार संयम त्यागने एव संयम स्वीकार करने के थोडे ही समय बाद दोनों भाइयो ने देह का त्याग कर दिया और दोनो ने उपपात योनि मे जन्म लिया और 33 सागरोपम की स्थिति को प्राप्त किया। योनि और स्थिति समान होते हुए भी दोनों की गति मे वहुत बडा अतर था। पुंडरीक ने अल्पकालीन साधना से सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त किया, तो कुडरीक ने भोगो मे आसक्त होकर सातवीं नरक के अधकार मे जन्म लिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि थोडे-से परीषहों से घबरा कर जो व्यक्ति पथ-भ्रष्ट होता है, वह एकदम पतन के गर्त में गिरता ही जाता है। अतः साधक को परीषहो के उपस्थित होने पर घबराना नही चाहिए। अनुकूल परीषहों मे भी अपने पथ पर दृढता के साथ गतिशील होना चाहिए। जो साधक रति—अनुकूल परीषहो पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कर्मबन्धनो को शिथिल करता हुआ एव तोडता हुआ एक दिन कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतः वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर गतिशील व्यक्ति संसार-सागर से पार हो जाता है और उस पथ पर गति नही करने वाला साधक ससार-सागर में परिभ्रमण करता है, विभिन्न गतियो मे महान दु.खों का सवेदन करता है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अणाणाए पुट्ठावि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए॥74॥

छाया—अनाज्ञया स्पृष्टा अपि एके निवर्त्तन्ते मन्दा मोहेन प्रावृताः अपरिग्रहाः भविष्याम· समुत्थाय, लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते अनाज्ञया, मुनयः प्रत्युपेक्षन्ते, अत्र मोहे पुन· पुनः सन्ना नो अर्वाचे नो पाराय।

पदार्थ—मन्दा—विवेक शून्य। **मोहेण पाउडा**—मोह से प्रावृत्त—घिरे हुए। **एगे**—कई एक प्राणी। **पुट्ठा वि**—परीषहो के आने पर। **अणाणाय**—आज्ञा से विपरीत हो कर। **नियट्टन्ति**—संयम से पतित होते है। **अपरिग्गहा**—परिग्रह रहित। **भविस्सामो**—बनेगे। ऐसे वचन बोलकर। **समुट्ठाय**—दीक्षा लेकर। **लद्धे कामे**—प्राप्त हुए विषय-भोगो को। **अभिग्गाहइ**—सेवन करते है। **अणाणाए**—वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध। **मुणिणो**—मुनि वेष को लजाने वाले। **पडिलेहन्ति**—कामभोगो के उपायो की शोध करते है। **इत्थ मोहे**—इस प्रकार मोह में। **पुणो-पुणो**—बार-बार। **सन्ना**—आसक्त होकर। **नो हव्वाए**—न इस पार के। **नो पाराए**—न उस पार के होते है।

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत्त, विवेक शून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहों के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा के विरुद्ध आचरण करके सयम-मार्ग से च्युत हो जाते है और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम अपरिग्रही बनेंगे, इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगो का सेवन करते हैं एवं मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय-भोगो को प्राप्त करने के उपायो मे सलग्न रहते हैं। वे विषय-भोग मे आसक्त होने से मोह के कीचड़ मे ऐसे फस जाते हैं कि न इधर के रहते है और न उधर के, अर्थात् न तो गृहस्थ रहते है और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि साधना का पथ काटो का पथ है। उसमे त्याग के पुष्पों के साथ-साथ परीषहों के काटे भी बिखरे पडे है। अत साधना-पथ पर गतिशील साधक को परीषहों का प्राप्त होना स्वभाविक है। परन्तु उस समय वह साधक साधना में सलग्न रह सकता है, जिसकी श्रद्धा दृढ़ है एव जिसके पास ज्ञान का प्रखर प्रकाश है। पर, जो साधक निर्बल है, जिसकी ज्ञान ज्योति क्षीण है, वह परीषहों के अधड मे लडखडा जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए बताया है कि विवेकहीन व्यक्ति परीषहो से परास्त होकर पथ भ्रष्ट हो जाते है। वे विभिन्न भोगो मे आसक्त होकर वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे वेशधारी साधको को **"इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः"** कहा गया है। अर्थात् उनकी स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह होती है, वह न घर का रहता है और न घाट का। इसी प्रकार ये वेशधारी मुनि साधना को हृदयगम नही कर सकने के कारण न तो मुनि का धर्म ही सम्यक्तया परिपालन करके उसका लाभ उठा सकते है और वेष-भूषा से गृहस्थ न होने के कारण न स्वतन्त्रतापूर्वक गृहस्थ-जीवन का उपभोग कर सकते हैं। वे न तो इधर के रहते है और न उधर के रहते है, बेचारे त्रिशकु की तरह अधर मे ही लटकते रहते है और भोग मे आसक्त होने के कारण ससार बढाते है। परन्तु इस भवसागर से पार नही हो सकते।

अस्तु, जो वीतराग देव की आज्ञानुसार आचरण करते है, वे ही ससार सागर से पार होते है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ॥75॥

छाया—विमुक्ताः खलु ते जनाः ये जनाः पारगामिनो, लोभमलोभेन जुगुप्समानो लब्धान् कामान् नाभिगाहते।

पदार्थ—विमुत्ता—विभिन्न बन्धनो से मुक्त-उन्मुक्त। **हु**—निश्चय ही। **ते**—वे। **जणा**—जन। **जे जणा पारगामिणो**—पार जाने की इच्छा करते है, वे व्यक्ति। **लोभ**—लोभ को। **अलोभेण**—निर्लोभता से। **दुगुंछमाणे**—तिरस्कृत करते हुए। **लद्धे कामे**—प्राप्त काम-भोगो का भी **नाभिगाहइ**—आसेवन नहीं करते।

मूलार्थ—सासारिक बन्धनो से उन्मुक्त साधक लोभ को अलोभ पराभूत करके प्राप्त काम-भोगो का भी आसेवन नही करता है।

हिन्दी-विवेचन

जैन संस्कृति मे त्याग को महत्त्व दिया गया है, न कि वेष-भूषा को। यह ठीक है कि द्रव्य-वेष का भी महत्त्व है, परन्तु त्याग-वैराग्य युक्त भावना के साथ ही उस का मूल्य है। भाव शून्य वेषधारी साधक को, पथ भ्रष्ट कहा गया है। जो साधक त्याग-वैराग्य की भावना को त्याग कर रात-दिन खाने-पीने, सोने एवं विलास मे व्यस्त रहता है, उसे पापी श्रमण कहा गया है[1]।

प्रस्तुत सूत्र मे त्यागी की परिभाषा बहुत ही सुन्दर की गई है। वह व्यक्ति त्यागी नही माना गया है, जिसके पास वस्तु का अभाव है, क्योंकि उसका मन अभी भी उसमे रम रहा है। जिसे वस्त्र, सुगधित पदार्थ, अलकार, स्त्री, शय्या-घर आदि स्वतन्त्र रूप से प्राप्त नही है, पर उनकी वासना उसके मन मे रही हुई है; तो वह भगवान महावीर की भाषा मे त्यागी नहीं है[2]। त्यागी वही है, जिसे सुन्दर भोग-विलास एव भौतिक सुख-साधन प्राप्त है और जो उनका भोग करने मे भी स्वतन्त्र एव समर्थ है;

---

1 देखे उत्तराध्ययन, अध्ययन 17

2 वत्थ-गधमलकार इत्थिओ सयणाणि य॥
अच्छदा जे न भुज्जति, न से चाई त्ति वुच्चई॥ —दशवैकालिक 2, 2

फिर भी उन्हें ससार मे परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है[1]।

ऐसा त्यागी व्यक्ति लुभावने प्रसग उपस्थित होने पर भी नहीं फिसलता, वह अलोभ के द्वारा तृष्णा के जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है, क्योंकि वह समझता है कि सुहावने से प्रतीत होने वाले सुख-साधनों के पीछे दुःख का अनंत सागर लहरा रहा है। इस आटे की उज्ज्वल गोली के साथ ही प्राणों को हरण करने वाले तीक्ष्ण कांटे की वेदना भी रही हुई है। इसलिए वह प्रबुद्ध साधक उसके क्षणिक लोभ मे प्रवहमान होकर अपने आपको अथाह सागर मे डूबने नही देता, अपितु उस तृष्णा पर विजय प्राप्त करके संसार-सागर से पार हो जाता है।

लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदो—1. क्रोध, 2 मान, 3. माया को भी समझ लेना चाहिए। जैसे अलोभ वृत्ति से लोभ को परास्त करने को कहा गया है, उसी प्रकार क्रोध, मान और माया का प्रसग उपस्थित होने पर, उपशमन से क्रोध को, विनय-नम्रता से मान को एव ऋजुता—सरलता से माया को परास्त करे।

इस प्रकार कषायो पर विजय पाने वाला विजेता ही साधना के पथ पर आगे बढता है और उसका मार्ग ही प्रशस्त मार्ग कहा गया है। कषायो के प्रवाह में प्रवहमान का मार्ग भयावह एवं दु खो से भरा हुआ है। इसी प्रशस्त एवं अप्रशस्त मार्ग को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—विणावि लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारेत्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो-पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं

---

1. जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठी कुव्वई।
   साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति बुच्चई॥ —दशवैकालिक 2, 3, 4

दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए॥76॥

छाया—विनापि लोभं निष्क्रम्य एष अकर्मा जानति पश्यति प्रत्युपेक्षणया नावकांक्षति एष अनगारा· इति प्रोच्यते अहोचरात्रं परितप्यमानः कालाकाल-समुत्थायी संयोगार्थी अर्थाऽऽलोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अत्र शस्त्रे पुनः पुनस्तद् आत्मबलं, तद् ज्ञातिबलं, तत् मित्रबलं, तत् प्रेत्यबलं, तद् देवबलं, तद् राजबलं, तच्चौरबलं, तदतिथिबलं, तत् कृपणबलं, तत् श्रमणबल, इत्येतैः विरूपरूपैः कार्यै· दडसमादानं संप्रेक्ष्य भयात् क्रियते पापमोक्षः इति मन्यमानः अथवा आशंसायै।

पदार्थ—विणावि लोभं—लोभ के बिना। **निक्खम्म**—दीक्षा लेकर। **एस**—यह आत्मा। **अकम्मे**—कर्म-रहित होकर। **जाणइ**—सब कुछ जानता है। **पासइ**—सब कुछ देखता है। **पडिलेहाए**—यह विचार कर। **नावकंखइ**—जो लोभ को नहीं चाहता है। **एस**—वह। **अणगारेत्ति**—अनगार। **पवुच्चई**—कहा जाता है, अज्ञानी जीव। **अहो य राओ**—अहो रात्र-दिन। **परितप्पमाणे**—अनेक प्रकार से सतप्त होता हुआ। **कालाकाल-समुट्ठाई**—काल और अकाल मे उठने वाला अर्थात्—अपने कार्य की सिद्धि के लिए काल और अकाल की उपेक्षा करने वाला। **संजोगट्ठी**—सयोग को चाहने वाला। **अट्ठालोभी**—धन का लोभी। **आलुंपे**—गला काटने वाला। **सहसाक्कारे**—बिना विचारे काम करने वाला। **विणिविट्ठचित्ते**—आरम्भ परिग्रह तथा विषय-कषायो मे दत्तचित्त होता हुआ। **इत्थ**—पृथ्वीकायादि के उपघात करने मे। **सत्थे**—शस्त्र का। **पुणो पुणो**—बारम्बार प्रयोग करता है। **से**—वह। **आयबले**—आत्म बल अपना शारीरिक बल। **से**—वह। **नाइबले**—जातिबल। **से**—वह। **मित्तबले**—मित्र बल। **से**—वह। **पिच्चबले**—परलोक बल। **से**—वह। **देवबले**—देव बल। **से**—वह। **रायबले**—राज बल। **से**—वह। **चोरबले**—चोर बल। **से**—वह। **अतिहिबले**—अतिथि बल। **से**—वह। **किविणबले**—कृपण बल। **से**—वह। **समणबले**—श्रमण बल। **इच्चेएहिं**—इत्यादि। **विरूवरूवेहिं**—विविध प्रकार के। **कज्जेहिं**—कार्यो के लिए। **दडसमायाणं**—हिसा की जाती है। **संपेहाए**—यह विचार कर तथा। **भयाकज्जइ**—भय से पाप कर्म किया जाता है, तथा। **पावमुक्खुत्ति**—मैं पाप से मुक्त हो जाऊगा—पाप

से छूट जाऊगा, इस आशय से पापकर्म किया जाता है। **अदुवा**—अथवा। **आसंसाए**—अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो जाए इस इच्छा से पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है।

मूलार्थ—लोभ बिना दीक्षा लेकर, अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारों ही घाति कर्मो का क्षय करके केवल ज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थो के सामान्य और विशेष धर्मो का बोध प्राप्त करता है, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, कषायो के गुण-दोषो का विचार करके लोभादि की इच्छा नही करता। इस प्रकार वह अनगार कहलाता है और इसके विपरीत जो अज्ञ है और वह दिन-रात सतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल में उठने वाला, सयोग का अर्थी, धन का लोभी, गला काटने वाला, बिना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री मे आसक्ति रखने वाला, षट्काय मे बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करने वाला निम्नलिखित कारणों को मुख्य रखकर हिसादि कर्म मे प्रवृत्त होता है, यथा—मेरी आत्मशक्ति बढ़ेगी, मेरी जाति का बल वढ़ेगा, मेरा मित्रबल बढेगा, मेरा परलोक बल बढेगा, मेरा देवबल वढेगा, मेग राजवल बढेगा, मेरा चोरबल बढेगा, मेरा अतिथिबल बढ़ेगा, मेरा कृपणबल वढेगा और मेरा श्रमणबल बढेगा, इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यो से प्रेरित हुआ वह प्राणियो के वध मे प्रवृत्त होता है एवं जब तक मै ऐसा नही करूगा तब तक मेरा आत्मबल नही वढेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोचकर वह उक्त पाप कर्मो का आचरण करता है कि इस प्रकार क आचरण से मै दु.खो से मुक्त हो जाऊगा, या यो कहिए कि विभिन्न आशाओं के वशीभूत होकर वह पापकर्म करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे जीवन के प्रशस्त और अप्रशस्त उभय स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। जो ससार से विरक्त होकर प्रव्रजित होता है और कषायो पर विजय पाता हुआ सयम मे सदा सलग्न रहता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। ससार के सभी पदार्थो को एव तीनो काल के भावों को भली-भाति जानता-देखता है। उससे कोई भी बात प्रच्छन्न नही रहती है। इस स्थिति को प्राप्त करके सर्व कर्म बंधन मुक्त होना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। राग-द्वेष का क्षय करने पर ही यह स्थिति प्राप्त

हो सकती है, इसलिए राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उक्त साधना मे संलग्न रहने वाले व्यक्ति को अनगार कहते है। वह अनगार एक दिन कर्मबन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कषायो के प्रवाह मे रहते हैं, वे उनके वश में होकर रात-दिन विषय-वासना मे आसक्त रहते है और विभिन्न पाप कार्यो मे प्रवृत्त होते है। अपनी शारीरिक शक्ति बढाने के लिए मास-मत्स्य आदि अभक्ष्य पदार्थो का भक्षण करते है। अपनी जाति के व्यक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए तथा अधिकारी वर्ग से कुछ काम कराने अथवा उससे अपना स्वार्थ साधने के लिए, उनकी इच्छा का पोषण करने के लिए विभिन्न प्राणियो की हिंसा करके उनके लिए भोजन-शराब आदि की व्यवस्था करते है। कई लोग मित्रता निभाने के लिए उसे सामिष भोजन कराते हैं। कुछ यह सोचकर कि सकट के समय इससे काम लिया जा सकता है, इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के भोग-विलास एवं मास-मदिरा युक्त खान-पान मे सहयोग देते है तथा साथ मे स्वयं भी उसका आस्वादन कर लेते है।

कुछ परलोक को सुधारने की अभिलाषा से या इस कामना से कि यज्ञ में बलिदान करने से मुझे स्वर्ग मिलेगा, यज्ञ वेदी पर अनेक मूक पशुओ का बलिदान करते है। कुछ देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए मन्दिर-मस्जिद जैसे पवित्र देव-स्थानो को वधस्थल का रूप दे देते हैं।

इस प्रकार अज्ञान के वश मनुष्य अनेक पापो मे प्रवृत्त होता है। वह धर्म समझ कर यज्ञ आदि हिसाजन्य कार्यो मे प्रवृत्त होता है। परन्तु उसकी यह समझ उतनी ही भूल भरी है जितनी कि कीचड़ या खून से भरे हुए वस्त्र को कीचड या खून से साफ करने की सोचने वाले व्यक्ति की है। इन प्रवृत्तियों से पाप घटता नही, अपितु बढता है और परिणामस्वरूप ससार-परिभ्रमण एव दु:ख-परपरा मे अभिवृद्धि ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र में उपयुक्त "पावमुक्खु" मे पाव + मुक्खु अर्थात् पाप और मोक्ष दो शब्दो का सयोग है। जो क्रिया प्राणी को पतन के गर्त मे गिराती है या जिससे आत्मा कर्म के प्रगाढ़ बन्धन मे आबद्ध होता है, उसे पाप कहते है और जिस साधना से आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होती है, उसका नाम मोक्ष है।

'दण्ड समायाणं'–'दंड समादानं' का अर्थ है–प्राणियो की हिंसा में प्रवृत्त

होना। यह क्रिया आत्मा को कर्म बन्धन मे फंसाने वाली है। इसमे आत्मा का ससार बढता है, वह मोक्ष से दूर होती है। अतः साधक को चाहिए कि वह हिंसा-जन्य कार्यो से एवं विषय-भोग से दूर रहे और चित्त मे अशाति उत्पन्न करने वाली कषायो का त्याग करके सयम मार्ग मे गतिशील बने। यही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है, जिस पर गति करके आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनकर, एक दिन पूर्ण स्वतत्र बन जाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई सावद्य क्रियाए आत्मा के लिए अहितकर होती है, उसे दु खो के अथाह सागर में जा गिराती हैं। इसलिए मुमुक्षु को सावद्य अनुष्ठानो का परित्याग कर देना चाहिए। इसी बात का निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—तं परिण्णाय मेहावी नेव सय एएहि कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नेव अन्नं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिं पिज्जासि, त्ति बेमि॥77॥

छाया—तत् परिज्ञाय मेधावी नैवस्वयं एतैः कार्यैः दण्डं समारभेत, नैवान्यमेतैः कार्यै· दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डं समारभमाणमप्यन्यं न समनुज्ञापयेत् एष मार्गः आर्यैः प्रवेदित·, यथा-अत्र कुशलः नोपलिम्पयेः—इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**तं**—इस पूर्वोक्त संपूर्ण विषय को। **परिण्णाय**—जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान पुरुप। **नेव सय**—न तो स्वय। **एएहिं**—इन। **कज्जेहिं**—कार्यो के उपस्थित होने पर। दड **समारंभिज्जा**—दड समारभ करे और। **नेव एएहिं कज्जेहिं**—न इन कार्यो के उपस्थित होने पर। **अन्नं**—अन्य से। **दंड**—हिसा का। **समारंभाविज्जा**—समारभ करावे, और। **एएहि कज्जेहि**—इन कार्यो के उपस्थित होने पर। **दड**—दड का। **समारंभंतंपि**—समारभ करने वाले। **अन्नं**—अन्य व्यक्ति को। **न समणुजाणिज्जा**—अनुमोदन भी न करे। **एस मग्गे**—यह मार्ग। **आरिएहिं**—आर्यो द्वारा। **पवेइए**—प्ररूपित है। **कुसले**—हे कुशल' **जहेत्थ**—जैसे-पूर्वोक्त दंड समादान मे। **नोवलिंपिज्जासि**—तेरी आत्मा उपलिप्त न हो ऐसा आचरण कर। **त्ति बेमि**—ऐसा मै कहता हूं।

मूलार्थ—वह परिज्ञावान प्रबुद्ध पुरुष विषय-भोग एव क्षणिक सुखों के लिए न स्वय दण्ड का समारंभ करे न अन्य व्यक्ति से करावे और न उस कार्य मे प्रवृत्तमान

व्यक्ति के उस कार्य का समर्थन ही करे। यह मार्ग आर्य पुरुषो ने प्ररूपित किया है। अत कुशल व्यक्ति ऐसे हिसा एव पाप जन्य कार्य के द्वारा अपनी आत्मा को कर्मो से लिप्त न करे, अर्थात् पाप कर्म का उपार्जन न करे। ऐसा मै कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन का मूल लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। इसके लिए बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष को त्रिकरण और त्रियोग के दण्ड-समारम्भ का परित्याग कर देना चाहिए। न स्वय किसी प्राणी का दण्ड-समारम्भ करे, न दूसरे व्यक्ति से करावे, और न ऐसा कार्य करने वाले का ही समर्थन करे। इस प्रकार हिसा जन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहने वाला मनुष्य पाप कर्म से लिप्त नही होता।

यह साधना-पथ अर्थात् त्याग मार्ग आर्य पुरुषो द्वारा प्ररूपित है। आर्य की परिभाषा करते हुए कहा है—

आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः—ससारार्णवतटवर्त्तिनः क्षीणघाति-कर्म्माशाः ससारोदरविवरवर्त्तिभावविद· तीर्थकृतस्तैः 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजायां पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेत्र्या प्रकर्षेण वेदित ...कथित...प्रतिपादित इतियावत्।

अर्थात्—जो आत्मा पाप कर्म से सर्वथा अलिप्त है, जिसने घातिक कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एव दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थकर एव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषो को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्यमार्ग या आर्यधर्म कहते है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जो मार्ग प्राणिमात्र के लिए हितकर, हिंसा आदि दोष से दूषित नहीं है, सबके लिए सुख-शान्तिप्रद है, वह आर्य मार्ग है और उस पर गतिशील साधक पूर्ण आत्मज्योति को प्रकट कर लेता है।

'त्ति बेमि' का अर्थ पूर्व के उद्देशकों की तरह समझना चाहिए।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

अध्यात्मसार : 2

मूलम्—अरहं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के॥2/2/73

मूलार्थ—वह साधक बुद्धिमान है, जो अरति—चिन्ता को दूर हटाता है। वह चिन्तामुक्त व्यक्ति स्वल्प समय में कर्मबन्धन से भी मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

साधना मे गतिशीलता लाने के लिए, घर-परिवार का त्याग आवश्यक है। घर-परिवार किस प्रकार बनता है? सासारिक सम्बन्धो से मुनि को किसी से भी सम्बन्ध नही रखना चाहिए। जहॉ पर भी संबधों मे उलझेंगे तो साधना मे डगमगाहट आ जाएगी।

जैसे-जैसे व्यक्ति साधना में आगे बढता है, वैसे-वैसे आसपास लोग आते चले जाते है। अधिकाश लोग आते हैं, अपने स्वार्थ के लिए, और वे ही धीरे-धीरे साधना मे बाधक बन जाते हैं। अत- सबसे सुन्दर मार्ग है साधना का एकान्त का, जहॉ पर भी योग्य द्रव्य, क्षेत्र-काल हो साधना करते रहो। किसी भी सम्बन्ध परिस्थिति और व्यक्ति में अधिक उलझना नहीं, सबको आशीर्वाद देना और अपना कार्य करते रहना। जहॉ पर भी इन्द्रिय शक्ति आती है, वहीं पर दु ख और विघ्नो को निमंत्रण मिलता है।

अरइ-अरति-रति—प्रियता, प्रिय सयोग से आसक्ति—अरति अर्थात् अप्रियता, अप्रिय सयोग से द्वेष। जो मेहावी, यह समझता है कि प्रिय-अप्रिय मन की कल्पना मात्र है। जो इन दोनो से परे होकर यह देखता है कि दोनो ही वेदना स्वरूप है, ऐसा मेधावी तटस्थ व्यक्ति क्षणभर मे, स्वल्प काल मे मुक्त हो जाता है। यहॉ पर क्षण का अर्थ है स्वल्प समय, इस अनत काल चक्र के सामने सम्पूर्ण जीवन भी क्षण मात्र है। इस प्रकार की तटस्थता असगत्व के लिए आवश्यक है, सम्यक् आलम्बन में एकाग्रता, त्रिगुप्ति की साधना से तटस्थता आती है।

इसके आगे पुण्डरीक-कुंडरीक का उदाहरण इस बात की ओर सकेत करता है कि महत्त्वपूर्ण यह नही है कि तुम कितने समय साधना करते हो, अपितु कितनी

दृढ़ता एव भाव से करते हो। ऐसे अनेक मुनिराज हैं, जिनकी दीक्षा दीर्घकाल की, अर्धशतक की हो गयी, परन्तु वह तटस्थता नही आई और कई मुनिराज ऐसे भी है जो स्वल्पकाल में ही अपने गन्तव्य को साध लेते है। फिर भी किया हुआ कुछ भी व्यर्थ नही जाता, आगे कही न कहीं वह मदद करता है। जैसे वासुदेव श्रीकृष्ण ने जीवनभर अरिहत भगवान की सेवा की, धर्म-प्रभावना का उत्कृष्ट पुण्य बन्धन किया, लेकिन अन्त समय मे तीव्र कषाय आ जाने पर नरक की गति हुई।

जो व्यक्ति साधना करके छोड दे, वह सुखी नही रह सकता, ऐसा कहना और मानना निश्चित रूप से सत्य नही है। हॉ, जब व्यक्ति बहुत लम्बे समय से लगा हुआ हो, साधना के समय मे बहुत लम्बे समय तक स्थिर हुआ हो, तब उसके मन-वचन-काया इस प्रकार ढल जाते है कि वह ससार मे अपने आपको योग्य रूप से ढाल नहीं पाता। फिर भी व्यक्ति अगर सरल है, सत्य के प्रति निष्ठावान है, प्रभु भक्ति करता है, तब वह गिर कर भी उठता है, उसको मार्ग मिलता है। इसलिए कहा है 'सत्य निष्ठा एव सरलता'। मायावी व्यक्ति को कुछ नही मिलता।

दीक्षार्थी के लिए क्या देखना?

जिसको धर्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ना है, उसके लिए यह देखना जरूरी है कि सम्यक् आलम्बन मे उसकी कितनी स्थिरता है, इस योग्यतानुसार धर्मरत्न देना, साधना पथ हेतु चलने की सबसे बडी तैयारी है योगों की सम्यक् आलम्बन मे स्थिरता। वह भी जब साधक की स्वय की रुचि हो। केवल क्षणिक मोह में इस मार्ग मे आ जाने पर बाद में पछतावा आता है। आगे जब कोई साधना हेतु तैयार हो, तब दो बाते देखनी और दो बातों की शिक्षा देनी—1. तत्त्वज्ञान, 2. योगो की सम्यक् आलम्बन मे स्थिरता।

छोटी दीक्षा एव बडी दीक्षा के बीच में छह माह का अन्तर अथवा एक वर्ष का भी अन्तर रख सकते हैं। उस नवदीक्षित मुनि को साथ मे ही रखना जरूरी है। आहार वह अलग से भी ला सकता है अथवा आप भी लाकर दे सकते हैं। कई व्यक्ति दीक्षा लेने से पहले उच्च भावना से आते हैं और सयम लेने के बाद कई बार भावो मे परिवर्तन आता है। इस अन्तराल के मध्य इसका अवसर मिलता है। नवदीक्षित साधु एव गण के सभी सदस्य इस अन्तराल के पूर्ण होने के पहले यदि वह पुन.

लौटना चाहे तब भी व्रत खण्डित नहीं होते हैं। यह बात समस्त सघ को समझानी आवश्यक है।

क्या दीक्षा हेतु मुहूर्त देखना जरूरी है?

ऐसे तो यह एक आध्यात्मिक साधना है, अत मुहूर्त देखना नितान्त आवश्यक नही है। फिर भी अभी काल का असर ऐसा है और कर्मो का उदय भारी है। अत मुहुर्त देखना जरूरी है।

जाप हेतु—श्रद्धा, शुद्धि, एकाग्रता।

शुद्धि—शरीर, वस्त्र एव स्थान अशुचि से रहित।

मूलम्—अणाणाए पुट्ठावि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिहग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो-पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए॥2/2/74

मूलार्थ—अज्ञान से आवृत, विवेकशून्य कितने एक कायर प्राणी परीषहो के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण करके सयम मार्ग से च्युत हो जाते है और कई स्वेच्छाचारी व्यक्ति हम परिग्रही बनेगे, इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगों का सेवन करते हैं। ऐसे मुनि वेश धारी स्वच्छन्द बुद्धि से विषय-भोगो को प्राप्त करने के उपायों मे सलग्न रहते है। वे विषय-भोग मे आसक्त होने से मोह के कीचड मे ऐसे फस जाते हैं कि न इधर के रहते है और न उधर के, अर्थात् न तो गृहस्थ रहते है और न साधु ही। वे उभय जीवन से भ्रष्ट हो जाते है।

एक बार जब व्यक्ति पूरी तैयारी एव सकल्प के साथ मुनि बन जाए तब तो यही देखना चाहिए कि अब साधना कैसे (दीपे) हो सके। तब भूलकर भी भोगो की ओर नही देखना। विचार आ भी जाए, तब भी उसका सवर्धन नही करना। यदि सवर्धन करना होगा, तब वह वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध जाना होगा। कम-से-कम वीतरागवाणी के अनुसार आचार पालन होता रहे तब इतनी भी स्थिरता रहने पर,

धीरे-धीरे दूषित विचार अपने आप चले जायेंगे। क्योंकि साधना के मार्ग पर आने के पश्चात् भोगों की ओर मन का आकृष्ट करना व्यक्ति की साधना को भ्रष्ट करता ही है, साथ ही उसमें माया, डर एव हीन-भावना का जन्म होगा। फिर वह अधिक उच्छृखल हो जाएगा।

दूसरी बात अनेक मत्र साधनाएँ है, तप अनुष्ठान है। जिससे कर्मो की उदीरणा होती है वह भी शक्ति अनुसार करनी चाहिए। वह गुरु को देखना चाहिए कि जितनी शिष्य की शक्ति है, उतनी ही कठिन साधना देनी चाहिए, उससे अधिक नही; अन्यथा अरुचि एव डिगने की संभावना रहती है। जैसे किसी का शरीर मानता नही और आप अत्यधिक लम्बा उग्र विहार कर रहे हैं तब हो सकता है कि शरीर की असातावश कही सयम के प्रति ही अरुचि हो जाए। गुरु को यह देखना चाहिए कि मूल बात है गुप्ति की साधना और संयम। इसीके लिए भगवान की आज्ञा मे रहते हुए शरीर एवं स्वास्थ्य के अनुसार जिस प्रकार से सुखपूर्वक हो सके उस प्रकार करना।

मंत्र के संबंध में—कुछ मंत्र ऐसे है जो तीव्र है जिसके कारण साधक के भीतर प्रकम्पन अधिक हो सकता है, उस समय योग्यता देखकर मत्र देना चाहिए।

मूलम्—विणाविलोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारेत्ति पवुच्चई, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणिविट्ठचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो-पुणो, से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिच्चबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इच्चेएहि विरूवरूवेहि कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्तिमन्नमाणे अदुवा आसंसाए॥2/2/76॥

मूलार्थ—लोभ बिना दीक्षा लेकर, अर्थात् लोभ के सर्वथा दूर हो जाने से दीक्षित हुआ व्यक्ति चारों ही घाति कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान से युक्त होकर सर्व पदार्थो के सामान्य और विशेष धर्मो का बोध प्राप्त करता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है, कषायो के गुण-दोषों का विचार करके लोभादि की इच्छा नही करता। इस प्रकार वह अनगार कहलाता है और इसके विपरीत जो अज्ञ है वह दिन-रात

सतप्त हृदय होता हुआ काल और अकाल में उठने वाला, सयोग का अर्थी, धन का लोभी, गला काटने वाला, बिना विचारे काम करने वाला, धन और स्त्री में आसक्ति रखने वाला, षट्काय में बारम्बार शस्त्र का प्रयोग करने वाला, निम्नलिखित कारणो को मुख्य रखकर हिसादि कर्म मे प्रवृत्त होता है, तथा मेरी आत्म शक्ति बढेगी, मेरी जाति का बल बढ़ेगा, मेरा मित्रबल बढेगा, मेरा परलोक बल बढ़ेगा, मेरा देवबल बढेगा, मेरा राजबल बढेगा, मेरा चोरबल बढ़ेगा, मेरा कृपण बल बढ़ेगा और मेरा श्रमण बल बढ़ेगा। इन पूर्वोक्त विविध प्रकार के कार्यो से प्रेरित हुआ वह प्राणियो के वध में प्रवृत्त होता है एव जब तक मैं ऐसा नही करूंगा, तब तक मेरा आत्मबल नहीं बढ़ेगा, इस प्रकार विचार कर तथा भय के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है या यह सोचकर वह उक्त पाप कर्मो का आचरण करता है कि इस प्रकार के आचरण से मै दु खो से मुक्त हो जाऊंगा या यों कहिए कि विभिन्न आशाओ के वशीभूत होकर वह पाप कर्म करता है।

इस सूत्र मे दीक्षा किस प्रकार ली जाती है और दीक्षा धारण करने वालों की योग्यता क्या है, इस सबंध मे कहा है। 'विणावि लोभ'—जब अनंतानुबधी, अप्रत्याख्यानावरणीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तब प्रत्याख्यान की योग्यता, प्रत्याख्यान के भाव आते है। यहॉ पर लोभ के अन्तर्गत क्रोध, मान, माया इत्यादि का भी समावेश हो गया है। यहॉ से प्रत्याख्यान की शुरूआत होती है और प्रत्याख्यानावरणीय का क्षय होने पर सर्वविरति के भाव आते हैं। चारो कषायो के जो लक्षण दिये गये है, उन्हें खयाल में रखते हुए व्यक्ति की भाव दशा को देखकर हम यह अनुमान लगा सकते है कि व्यक्ति किस गुणस्थान एव दशा मे है। इस प्रकार देशविरति या सर्वविरति के प्रत्याख्यान देने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि उसमे यह योग्यता है या नहीं, क्योकि कषायो के बलवान रहते आचरण कैसे होगा।

अणगार के लिए विशेषण दिया गया है। 'नावकखइ' यहॉ पर काक्षा का अर्थ है सकल्प करना या तो मै ऐसा करूगा या मुझे ऐसा चाहिए ही। एक तो विचार आकर के चला जाता है, लेकिन एक ही विचार पुन -पुनः आकर के मन की धारणा या मन का सकल्प बन जाए, तब उसे काक्षा कहते है।

अणगार—अर्थात् जिसके चित्त मे ऐसी कोई काक्षा नही है। उस स्वाभाविक

आत्म रुचि के आने पर नावकखइ की अवस्था आती है। यह अवस्था भी साधना से या पुरुषार्थ से आती है। मूलतः व्यक्ति अणगार तब बनता है, जब ऐसी अवस्था आती है और ऐसा अणगार शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

दूसरी ओर ऐसा व्यक्ति जो कषायो के और इन्द्रियो के परिताप से युक्त है, वह यह सब कुछ अपना बल बढ़ाने के लिए करता है। प्रथम वह शरीर का बल बढाने हेतु आरभ-समारंभ करता है। खयाल रखे शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है, लेकिन केवल बलवृद्धि के लिए कि मैं दूसरो से अधिक बलवान बनू, अधिक सुन्दर बनू यहा इस ओर सकेत है। इसी प्रकार मित्रबल, जातिबल, देवबल इत्यादि। जैसे देवबल बढ़ाने के लिए हिसा करना, बलि चढ़ाना यह सब अज्ञानवश होता है। कभी-कभी व्यक्ति सत्ता और मोह के वश भी करता है। अनेक साधनाए ऐसी हैं जिनसे सत्ता व शक्ति मिलती है, क्योंकि वे निम्न स्तर की हैं, अत- जल्दी सिद्ध भी हो जाती है। लेकिन आरभ-समारभ से युक्त हैं। मेधावी साधक को 'सपेहाए' सम्यक् प्रकार से इसे जानकर न स्वय करना चाहिए, न करवानी चाहिए और न अनुमोदना ही करनी चाहिए।

'विणाविलोभं'—इस प्रथम पद से सयम की शुरूआत होती है। यह सयम की साधना भी है और यह संयम की सर्वोत्कृष्ट अवस्था भी है। शुरूआत इसलिए कि जब कोई सयम लेता है, तब वह सयम का ग्रहण लोभ वश या आकाक्षा वश नही कर सकता। लोभ का अर्थ है आकाक्षा या तो दु‧ख से दूर जाने की आकाक्षा अथवा सुख पाने की आकाक्षा। इन दो बातो मे सभी प्रकार की आकाक्षाए आ जाती है। जब भी कोई सयम लेता है, तब वह लोभ के वश नही ले सकता। यदि वह लोभ के अधीन होकर ले तो वह सयम मे आगे नही बढ सकता। जब तक आकाक्षा न छूट जाए, तब तक स्थिरता नही आती। जब तक वह आकाक्षा बनी रहती है, तब तक वह संयम मे स्थिर नही हो सकेगा। यदि सयम लेने के बाद भी कोई आकाक्षा जग गई तो अस्थिरता आ जाएगी। किसी भी प्रकार के सुख की आकाक्षा, देवगति का सुख, मान-सम्मान का सुख, मित्र-परिवार का सुख, दु‧ख से दूर जाने की आकाक्षा, शरीर को रोग या कलह से दूर जाने की इच्छा। उससे सयम मे क्लेश उत्पन्न होता है, अस्थिरता आती है। विणाविलोभ यह पद महत्त्वपूर्ण है। इसी से सयम की शुरूआत,

इसी से सयम मे स्थिरता है और यही संयम की उत्कृष्टता है कि जब लोभ पूर्णत· छूट जाता है।

प्रत्येक साधक को यह देखना जरूरी है कि कही कोई आकाक्षा तो नही जग गई, सुख को पाने की या दुःख को दूर करने की।

तब यह प्रश्न हो सकता है कि फिर हम साधना क्यो करे? साधारणत व्यक्ति सुख को पाने के लिए साधना करता है। यदि व्यक्ति केवल इसीलिए साधना करता है कि सुख मिले अथवा दु·ख दूर हो जाए, रोग ठीक हो जाए या धन मिले, तब वह जब तक आकाक्षा पूरी नही होगी, तब तक वह साधना करेगा। आकाक्षा पूरी होने पर उसका साधना के प्रति उत्साह क्षीण भी हो सकता है।

दीक्षा लेने का कारण—न सुख को पाने के लिए, न दु.ख को छोडने के लिए। जब किसी भी आत्मा मे ज्ञान जागृत होता है, तव वह उस जागृत ज्ञान के आधार पर त्याग करता है। जैसे शूकर का दृष्टान्त। या तो जैसे कहते है इन्द्रियों का सुख, ससार का सुख कैसा है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और उसके दातो का खून निकलकर उसे स्वाद देता है, लेकिन जब उसे लगता है कि यह स्वाद हड्डी चबाने से, हड्डी से आ रहा है, यही उसका अज्ञान है और इसी अज्ञान का नाम ससार है। लेकिन उसे जब यह ज्ञान हो जाता है कि खून हड्डी चबाने से हड्डी से नहीं, अपितु अपने ही दातो से आ रहा है, तब वह हड्डी को निस्सार जानकर छोड देता है।

इसी प्रकार इन्द्रियो के भोग-उपभोग मे सुख दिखायी देता है परन्तु जब व्यक्ति आत्म-जागरण के द्वार देख लेता है कि सुख भोगोपभोग मे नही, अपितु स्वयं से स्वय मे है, तव व्यक्ति की भोगोपभोग का सुख त्यागकर स्वय में ही रुचि लेता है। उसे ज्ञान युक्त वैराग्य कहते है। इस प्रकार दीक्षा का अर्थ हुआ ससार की असारता का भान होना। जैसे कुत्ते ने निस्सार सूखी हड्डी को छोड दिया, वैसे ही संसार असार लगा और छोड दिया। सबकी दृष्टि मे यह त्याग है, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि मे यह सार का ग्रहण है, निस्सार को छोड़ दिया। यह है ज्ञानयुक्त वैराग्य।

हमे प्रतिदिन अपनी साधना में देखना है कि कही वह लोभयुक्त तो नही है, क्योकि आकाक्षा अस्थिरता को लाती है। अस्थिरता एव कषाय के मिलन से खेद, दु ख का जन्म होता है। जैसे स्थिरता एव उपशांति के मिलन से आनंद मिलता है।

संघ में शक्तिशाली कौन?

व्यक्ति यह समझता है कि मेरी जाति का बल, धन बल, मित्र बल यही मेरा बल है। वह यह भूल जाता है कि यह वास्तविक बल नही है, वास्तव मे तो आत्मबल ही मेरा बल है, लेकिन अपनी भ्रान्ति के कारण वह उन सारे बलों को बढाने के लिए अनेक पापकर्मो का उपार्जन करता है, अनत अशुभ कर्मवर्गणाओ को एकत्रित करता है, जिससे कि उसका वास्तविक आत्मबल क्षीण होता है। जाति, मित्र, शरीर, धन इन सभी बलो को बढा कर भी वह चिंतित और भयभीत रहता है कि कही मेरा यह बढाया हुआ बल क्षीण न हो जाए। उसका यह डर इस बात का सूचक है कि जिस बल को उसने बढाया है, वह वास्तविक बल नही है।

वास्तविक बल तो अपने साथ अभय लेकर आता है। आत्मबल जितना बढता है, उतना ही अभय का विकास बढ़ता है। बाकी सारे बल भय बढाते हैं। जितना व्यक्ति भयभीत होगा, उतना ही वह सुरक्षा चाहता है। बाहर का बल जितना ही बढता है और उस भय के पीछे सुरक्षा की आवश्यकता भी उसे महसूस होती है। इस प्रकार जितना वह बाह्य रूप से बलवान है, उतना ही भयभीत और उतनी ही सुरक्षा की आवश्यकता। भगवान अभय में जीवन को जिए, उन्होंने आत्मबल की साधना की। वे चाहते तो किसी का सहारा ले सकते थे, लेकिन उन्होने किसी का सहारा, किसी की सुरक्षा नही ली, क्योकि वे जान गए थे, बाह्य बल बढ़ाने से आत्मबल नही बढता और सहारा लेने पर आत्मबल का विकास नही होता तथा बिना आत्मबल के ज्ञान का जागरण नही होता। इसलिए वे सारे सहारे छोड़कर आत्मबल आश्रित आत्मनिर्भर बन गए। जैसे कहा जाता है कि श्रमण स्वावलम्बी होते हैं, अर्थात् वह किसी दूसरे के बल पर, व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के बल पर नही खडा है, अपितु स्वय अपने बल पर खडा हुआ है। जो दूसरे के बल पर खड़ा हुआ है, वह सदैव दूसरो को खुश रखने के लिए प्रयत्नरत रहता है। जिस हेतु पाप कर्म या माया का सेवन भी वह कर लेता है। आत्मबल बढाना हो तो सत्य, अहिसा और साधना का मार्ग। भगवान का मार्ग वीरो का मार्ग है। वीर वह जो अपने आत्मबल पर आश्रित रहता है। यह भ्रान्ति अधिकाश लोगो को है कि बाह्यबल बढने से ही मेरा बल बढेगा। इसलिए अनेक बार साधुजन भी ऐसा कहते है कि मेरा श्रावक बल बढेगा, तो मेरा

बल बढेगा, मेरे प्रति मान-सम्मान एव भक्ति रखने वालो की वृद्धि होगी तो मेरा बल बढेगा। फिर इस हेतु से अनेक प्रपच भी बढेगा। यही अज्ञान है।

वास्तविकता यह है कि बाह्यबल बढाने से उस पर आश्रित रहने से आत्मबल नहीं बढ़ता, अपितु क्षीण होता है। लेकिन आत्मबल का विकास करने से सारे बल अपने आप बढते है।

साधु वही है, जो बाह्यबल का आश्रय छोडकर आत्मबल पर ही आधारित रहता है। अत· आत्मबल का विकास करो, उसके लिए भगवान के मार्ग पर चलो, जितनी चित्त मे स्थिरता और समाधि होगी, उतना ही आत्मबल का विकास होगा और उसी से समाज, श्रावक, इत्यादि बल आपके साथ चलेगे। बिना आत्मबल के दूसरा कोई बल साथ नही देगा।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में परिवार एव धन-वैभव आदि मे रही हुई आसक्ति का परित्याग करने एव सयम मे दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। सयम-साधना मे तेजस्विता लाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ की आधी मे भी अपने पैरो को दृढ जमाए रखना ही साधना का उद्देश्य है। कई बार साधक क्रोध को पी जाता है। क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर वह अपने मन में आवेश को नही आने देता है और न उसे जीवन-व्यवहार मे ही प्रकट होने देता है। परन्तु अनेक बार मानवीय दुर्बलता के कारण साधक भी मान के प्रवाह में बहने लगता है। उसे अपने ज्ञान, तप, साधना या अन्य गुणो पर गर्व होने लगता है और इनके कारण वह अपने आपको अन्य साधको से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट समझने लगता है। यह अभिमान भी पतन का कारण है, क्योकि इससे आत्मा में ऊंच-नीच की भावना उद्‌बुद्ध होती है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझने लगता है। परिणामस्वरूप दूसरे के प्रति उसके मन मे घृणा एव तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। यह भावना पापबन्ध का कारण है। इसके फलस्वरूप आगामी भव मे उसकी शक्ति का सम्यक्तया विकास नही हो पाता है। इसलिए साधक को अभिमान का परित्याग करना चाहिए। उसे निरभिमान रहकर साधना मे सदा संलग्न रहना चाहिए। यही बात बताते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देशक में कहा है—

मूलम्—से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्झा, तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहि जाण पडिलेह सायं॥78॥

छाया—सोऽसकृदुच्चैर्गोत्रे, असकृन्नीचैर्गोत्रे नो हीनः नोप्यतिरिक्तः न स्पृहयेत् (नोपीहेत) इति संख्याय को गोत्रवादी (भवेत्)? को मानवादी (भवेत्)

कस्मिन् वा एकः गृध्येत् तस्मात् पण्डितो न हृष्येन् न कुप्येद् भूतेषु जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातम्।

पदार्थ—से—वह जीव। **असइ**—अनेक बार। **उच्चागोए**—उच्च गोत्र में उत्पन्न हुआ और। **असइं**—अनेक बार। **नीआगोए**—नीच गोत्र में उत्पन्न हुआ, परन्तु। **नो हीणे**—नीच गोत्र मे हीनता नही, और। **नो अइरित्ते**—न उच्च गोत्र में विशेषता-श्रेष्ठता है। **नोऽपीहए**—स्पृहा-अभिलाषा न करे। **इय**—इस प्रकार। **संखाय**—जानकर। **को गोयावाई**—कौन गोत्र का वाद करेगा। **को माणावाई**—कौन गोत्र का मान करेगा। **वा**—अथवा। **कंसि एगे**—किसी भी मान के स्थान मे। **गिज्झे**—कौन आसक्त होगा? **तम्हा**—इसलिए। **पंडिय**—बुद्धिमान पुरुष। **नो हरिसे**—उच्च गोत्र के प्राप्त होने पर न हर्षित होवे और। **नो कुप्पे**—नीच गोत्र की प्राप्ति से कुपित भी न होवे। **भूएहि**—भूतो के विषय। **पडिलेह**—अनुप्रेक्षा करके। **जाण**—यह जानो कि। **सातं**—सब जीवो को सुख प्रिय है।

मूलार्थ—यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र मे जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र मे। इसमे किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नही है, क्योंकि दोनो अवस्थाओं में भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान है। ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता भाव नहीं लाना चाहिए और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाषा भी नही करनी चाहिए। अनेको बार उच्च गोत्र मे जन्म लिया जा चुका है, ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा? कौन अभिमानी बनेगा? और किस बात मे आसक्त होगा?

पडित पुरुष उक्त सत्य को समझता है। इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्षित नही होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नही होने पाता, अर्थात् सदा समभावी रहता है। पडित पुरुष यह भी समझता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है।

हिन्दी-विवेचन

ससार एक झूला है। जीव अपने कृतकर्म के अनुसार उस झूले मे झूलते रहते है। कभी ऊपर और कभी नीचे, इस प्रकार वे विभिन्न योनियों में इधर-उधर घूमते रहते है। उनका ससारप्रवाह चलता रहता है। जब तक कर्म के अस्तित्व को निर्मूल

नहीं कर दिया जाता, तब तक संसार का प्रवाह किसी भी अवस्था में नहीं रुक सकता है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मो मे गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट होता है कि उच्च और नीच जातिगत या जन्मगत नही, अपितु कर्मजन्य है या यो कहिए कि गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च-नीच गोत्र वाला कहा जाता है और ये गोत्र या श्रेणिया केवल मनुष्यो मे हो, ऐसी बात नही है। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव—चारो गतियों मे दोनो गोत्र पाए जाते है। संसार की समस्त योनियो मे दोनों श्रेणियो के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अस्तु, ये उभय श्रेणियां कर्मोदय का फल है, ऐसा कहना चाहिए।

गोत्र कर्म मे उच्चता एव नीचता का बन्ध अभिमान और निरभिमान पर आश्रित हैं। अभिमान या अहंभाव भी एक प्रकार का मद है। इसमें मनुष्य इतना बेभान हो जाता है कि वह अपने समक्ष ससार को कुछ भी नही समझता। एक विचारक ने लिखा है कि "सौ रुपए मे एक बोतल शराब का नशा रहता है।" इसी अपेक्षा से अभिमान को मद भी कहा गया है। आगम मे आठ प्रकार के मद बताए गए है— 1 जातिमद 2. कुलमद 3 बलमद 4 रूपमद 5. विद्यामद 6 तपमद 7. लाभमद और 8 ऐश्वर्यमद। आठ प्रकार के इन भेदो मे प्राय सभी तरह के मदो का समावेश हो जाता है। इन पर या इन में से किसी भी वस्तु (जाति आदि) पर अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव मे प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है। अतर इतना ही है कि अभिमान करने से ये वस्तुए अशुभ, हीन एव विकृत रूप मे प्राप्त होती है और अन्यथा शुभ रूप मे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद कर्म जन्य ही है, इसके कारण आत्मा के स्वभाव मे कोई अन्तर नही आता। न तो केवल उच्च गोत्र की प्राप्ति से आत्मा मे महानता आ पाती है और न नीच गोत्र की प्राप्ति से हीनता ही। क्योकि उभय गोत्र की कर्म प्रकृतियो के समूह समान—तुल्य ही है और प्रत्येक आत्मा इन दोनो गोत्रो का अनन्त बार अनुभव कर चुकी है। आज उच्च गोत्र में दिखाई देने वाली आत्मा भी और तो क्या भगवान महावीर जैसे तीर्थकरों की आत्मा भी अनेक बार नीच गोत्र के कर्दम से संस्पर्शित हो आई है। फिर भी उसकी चेतना में, उसकी अनन्त चतुष्टय की शक्ति

मे कोई न्यूनता आई हो, ऐसा परिलक्षित नही होता। आगम में हरिकेशी मुनि का उदाहरण आता है। उसके अनुशीलन-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अशुभ गोत्रकर्म के उदय से प्राप्त नीच गोत्र आत्मविकास में बाधक नही है, साधना के पथ पर गतिशील साधक के मार्ग को अवरुद्ध करने मे समर्थ नहीं है। अत· साधक को प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

उच्च या नीच गोत्र शीशे पर पडने वाला प्रतिबिम्ब मात्र है। जब शीशे के सामने काले रंग का परदा डाल दिया जाता है, तो वह कालिमा युक्त प्रतीत होने लगता है और लाल, हरे, पीले आदि रग का पदार्थ पड़ने पर वह भी तद्रूप प्रतीत होने लगता है और उक्त आवरण के अनावृत होते ही, वह अपने शुद्ध रूप में परिलक्षित होने लगता है। उसके ऊपर इन विभिन्न रगो का कोई स्थायी प्रभाव नही होता। उनके सान्निध्य से वह अपने स्वरूप को नही खो देता है। इसी प्रकार आत्मा पर भी उच्च और नीच गोत्र का प्रभाव क्षणिक ही रहता है। इससे आत्म द्रव्य मे कोई अंतर नही आता। इसके प्रभाव से आत्मा उच्च और नीच नही बनती।

आत्मा के विकास और पतन या उच्चता और नीचता का आधार गोत्र नही, अपितु उसका आचरण है। अपने आचरण की श्रेष्ठता के बल पर नीच माने जाने वाले चाडाल आदि कुल मे उत्पन्न व्यक्ति भी अपना आत्मविकास कर सकता है, संसारी आत्मा से ऊपर उठकर परमात्मा बन सकता है। अस्तु, गोत्र को लेकर उच्चता एव नीचता पर विवाद करना एव भेद की दीवारे खड़ी करना किसी भी दशा मे उचित एव न्यायसंगत नही कहा जा सकता।

कर्मोदय से गोत्र की उच्चता एव नीचता के झूले मे आत्मा अनेक बार झूल आया है। प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'एगे'** शब्द से सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है कि किसी-किसी प्राणी को एक ही जन्म में उच्च और नीच गोत्र का अनुभव करना पडता है। इसलिए साधक को गोत्र के विषय में न तो अभिमान ही करना चाहिए और न हर्ष एव शोक ही करना चाहिए।

गोत्र शब्द का अर्थ

ससार मे श्रेष्ठता एवं हीनता का विभाजन प्रायः व्यक्ति या जाति के प्रभाव एवं अभ्युदय पर आधारित है। जिस व्यक्ति या जाति का प्रभाव अधिक होता है, लोगों

से सत्कार-सम्मान प्राप्त होता है, उसे उच्च गोत्र या कुल कह देते हैं और जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, उसे नीच गोत्र या कुल में मान लिया जाता है। आचार्य शीलाक ने भी उच्च और नीच गोत्र की इसी प्रकार व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है—

"उच्चैर्गोत्रे मानसत्कारार्हे, नीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते.. ।"

प्रज्ञापना सूत्र के 23 मे पद की वृत्ति में आचार्य मलयगिरि सूरि गोत्र कर्म के विषय मे इस प्रकार लिखते है—

"गूयते-शब्द्यते उच्चावचै. शब्दैर्यत् तद्गोत्रम्-उच्चनीचकुलौत्पत्तिलक्षण पर्याय विशेष· तद्विपाकवेद्य कर्मापि गोत्र, कार्यकारणोपचाराद् यद्धा कर्मणोपादानविवक्षा गूयते-शब्द्यते उच्चावचै शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयात् (तद्) गोत्रम् ।"

'गोत्र' पद मे 'गो+त्र' दो शब्द है। 'गो' का अर्थ वाणी भी होता है और 'त्र' का अर्थ है, त्राण करना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाणी का रक्षण करना गोत्र कहलाता है। वाणी या भाषा उच्च और नीच के भेद से दो प्रकार की है। अत· जो उच्च—श्रेष्ठ वाणी, भाषा या विचार का रक्षण करता है अथवा उसे धारण करता है, वह उच्च गोत्र वाला है और नीच वाणी को प्रश्रय देने वाला नीच गोत्र के नाम से पुकारा जाता है।

हम ऊपर बता आए है कि आठ प्रकार के मदों मे जाति एव कुल का मद या अभिमान करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है और अभिमान को अभिव्यक्त करने के लिए अन्य शारीरिक चेष्टाओ के साथ वाणी के साधन का भी प्रयोग होता है। भगवान महावीर के विषय मे कहा जाता है कि भगवान ऋषभ देव के समवसरण के बाहर त्रिदण्डिक सन्यासी के वेश में साधना करते हुए अपने पिता भरत चक्रवर्ती के मुख से यह सुनकर कि तुम इस अवसर्पिणी काल में माडलिक राजा वासुदेव एव अंतिम—24वे तीर्थकर बनोगे, उस त्रिदण्डिक के मन मे अपने कुल का अभिमान उद्बुद्ध हो गया और वह अभिमान शारीरिक उछल-कूद के साथ वाणी के द्वारा इस प्रकार प्रकट हुआ—"मेरा दादा तीर्थकर है; मेरा पिता चक्रवर्ती है और मै माडलिक राजा, वासुदेव एवं तीर्थकर बनूगा। इस प्रकार मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है।" इसीका परिणाम है कि वे अपने अंतिम जन्म मे ब्राह्मण कुल में 82 दिन तक गर्भ मे रहे।

इससे स्पष्ट होता है कि गोत्र का वाणी के साथ सबन्ध है। अभिमान की भाषा आध्यात्मिक दृष्टि से हेय मानी गई है। अत· कुल एव जाति का अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण माना गया है। अत· नीच भाषा नीच कुल की प्रतीक है, तो उच्च भाषा श्रेष्ठ कुल की संसूचक है।

व्यवहार मे भी हम देखते है कि भाषा जीवन को अभिव्यक्त करने का अच्छा साधन है। इसके आधार से हम मनुष्य-जीवन की गहराई नाप सकते है। भाषा-वैज्ञानिकों एव मनोविज्ञान वेत्ताओ का यह अभिमत है कि भाषा का आचरण के साथ घनिष्ठ सबन्ध है। जीवन मे जितना उच्च आचरण होगा, भाषा भी उसी के आधार पर उच्चता एव श्रेष्ठता लिए हुए होगी और हम स्वय देखते है कि प्रायः आचरणनिष्ठ श्रेष्ठ विचारको की भाषा मे जितनी गभीरता रहती है, उतनी गभीरता साधारण जीवन वाले व्यक्तियों की भाषा में नही पाई जाती। आचरणहीन व्यक्तियो की भाषा मे नितान्त छिछलापन, अश्लीलता एव निम्नस्तर देखा जाता है। इससे भी स्पष्ट होता है कि गोत्र की उच्चता एव नीचता का आधार भाषा ही है और इसके कारण शुभ एव अशुभ कर्म का बन्ध भी होता है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि गोत्र की उच्चता एव नीचता जन्मगत नही, अपितु कर्मजन्य है। मानव अपने श्रेष्ठ आचरण से नीच गोत्र को उच्च गोत्र के रूप मे परिवर्तित भी कर सकता है। नीच कुल मे उत्पन्न होकर श्रेष्ठता की ओर बढ़ सकता है। जन्म और जातिगत उच्चता या नीचता से आत्मविकास के पथ में कोई रुकावट उत्पन्न नही होती। प्रस्तुत सूत्र मे इसी बात को स्पष्ट किया गया है।

कर्मवाद के सबन्ध मे जैन धर्म का अपना मौलिक चिन्तन है और आज के विद्वान एव ऐतिहासिक विचारक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि वैदिक परम्परा मे मान्य कर्म विचारणा का मूल स्रोत (ऑरिजिनल सोर्स) जैन परम्परा मे ही परिलक्षित होता है। वस्तुतः यह सत्य भी है कि कर्मवाद पर जितना गहरा चिन्तन एव विशद विवेचन जैनागम ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है, उतना अन्य दर्शनों मे कही नहीं मिलता। अस्तु, अष्ट कर्मो के साथ गोत्रकर्म पर जितनी विराट् एव उदार दृष्टि से जैनो ने सोचा-विचारा है, उतना अन्य ने नही सोचा। इसलिए जैन एव वैदिक—उभय सस्कृतियो के गोत्र सबन्धी मान्यता मे रात-दिन का अतर दिखाई देता है।

वैदिक परंपरा में गोत्र जन्मगत माना गया है। ब्राह्मणो ने अपने आपको सर्वश्रेष्ठ घोषित करके वर्णभेद की एक दीवार खडी कर दी। साधना के सारे अधिकार उन्होंने अपने पास रखे, यहा तक कि शूद्र कुल मे उत्पन्न व्यक्ति को वेद पढ़ने एव सुनने का भी अधिकार नहीं दिया गया। व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रो में निम्न श्रेणी के व्यक्तियो का शोषण किया गया। उनके अधिकारों का अपहरण करके उन्हें मानवीय हितों से भी वचित कर दिया। उस समय भगवान महावीर ने जन्मगत श्रेष्ठता एवं हीनता की असत्य एव अमानवीय मान्यता का विरोध किया और इसके लिए उन्हे उस युग के एक बहुत बड़ी जातीय शक्ति का सामना भी करना पड़ा। परन्तु यह सत्य है कि उस युग मे महावीर के चिन्तन ने वैदिक परंपरा की नींव को एक प्रकार से हिला दिया और उन्हे भी अपनी रूढ़ मान्यता में कुछ परिवर्तन करना पडा। इतना तो मानना ही होगा कि भगवान महावीर के चिन्तन ने आज के विचारको को काफी प्रभावित किया है और वे इस बात से सहमत हैं कि आत्मविकास के लिए उच्च या नीच कुल बाधक नही है। निम्नकुल में उत्पन्न व्यक्ति भी साधना के पथ पर गतिशील हो सकता है।

पाठभेद

कुछ प्रतियो मे **'पंडिय–पंडितः'** शब्द का उल्लेख मिलता है। और नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–**"एगमेगे खलु जीवे अईअद्धाए असइं उच्चागोए, असइं नीआगोए कंडगट्ठयाए नो हीणो नो अइरित्ते।"** इस प्रकार उक्त पाठभेद से विभिन्न वाचनाओ की सिद्धि होती है, जोकि विद्वानो के अन्वेषण की अपेक्षा रखती है।

प्रस्तुत सूत्र मे जाति एव कुलमद के त्याग का उपदेश दिया गया। परन्तु इसके साथ अन्य 6 मद भी त्यागने योग्य है, इस बात को भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार साधक को अभिमान का पूर्णतः त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होना चाहिए। उसे न नीच गोत्र की प्राप्ति पर चिन्ता करनी चाहिए और न उच्च गोत्र की उपलब्धि पर हर्ष ही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी को अच्छे-बुरे साधन शुभाशुभ कर्म के अनुसार मिलते है। अत साधक को किसी भी प्राणी को दु ख नही देना चाहिए और शुभाशुभ कर्मफल का

विचार करके हर्ष एव शोक का त्याग करके हर परिस्थिति में समभाव की साधना करनी चाहिए। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—समिए एयाणुपस्सी, तंजहा-अन्धत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुण्टत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ ॥79॥

छाया—समितःएतदनुदर्शी तद्यथा—अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्व, कुब्जत्वं, वडभत्वं, श्यामत्वं, शवलत्वं सह प्रमादेन अनेक-रूपाः योनिः, संदधाति विरूपरूपान्, स्पर्शान् परिसंवेदयते।

पदार्थ—**समिए**—समिति से युक्त होकर। **एयाणुपस्सी**—यह देखने वाला हो। **तंजहा**—जैसे कि। **अन्धत्तं**—अन्धापन। **बहिरत्तं**—बहरापन। **मयत्तं**—गूगापन। **काणत्तं**—काणापन। **कुण्टतं**—हाथों की वक्रता। **खुज्जत**—कुब्जत्व—वामनपन। **बडभत्तं**—कुबडापन। **सामत्तं**—श्यामता-कालापन। **सबलत्तं**—चितकबरापन। **सह पमाएणं**—प्रमाद के कारण से होता है, और प्रमादी जीव। **अणेगरूवाओ**—नाना प्रकार की। **जोणीओ**—योनियो में। **संधायइ**—जन्म लेता है, और। **विरूबरूवे**—विभिन्न। **फासे**—स्पर्शो—दु खो का। **परिसवेयइ**—सवेदन करता है।

मूलार्थ—समिति युक्त जीव अर्थात् सयमी पुरुष कर्मविपाक को इस प्रकार देखता है कि ससार मे जीवो को अन्धापन, बहरापन, गूगापन, कानापन, हाथो की वक्रता, वामन रूप, कुबडापन, कालापन एव चितकबरापन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता है और वहा अनेक तरह के स्पर्शजन्य दु.खो का सवेदन करता है।

हिन्दी-विवेचन

संसार विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार युक्त शरीरधारी जीवो से भरा हुआ है। इस विभिन्नता एव विचित्रता का कारण कर्म है। अपने कृतकर्म के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी अच्छे या बुरे साधनो को प्राप्त करता है। इतना स्पष्ट होते हुए भी इस बात को वही जानता है, जो व्यक्ति समिति—सयम से युक्त है, अन्य व्यक्ति इस बात को सम्यक्तया नही जानता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समिए' शब्द महत्वपूर्ण आदर्श की ओर निर्देश करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि किसी विषय को जानने का काम ज्ञान का है, अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक बात को भली-भांति जान-देख लेता है। फिर यहा ज्ञान युक्त व्यक्ति का निर्देश नहीं करके समिति युक्त व्यक्ति का जो निर्देश किया गया है, उसके पीछे गभीर भाव अन्तर्निहित है।

समिति आचरण—चारित्र की प्रतीक है और जैन दर्शन की यह मान्यता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और दर्शन सहभावी है। दोनों एक साथ रहते है, परन्तु चारित्र के सबंध में यह नियम नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र की भजना मानी है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र हो भी सकता और नही भी हो सकता है। परन्तु चारित्र के साथ ज्ञान की नियमा मानी है, अर्थात् जहा सम्यक् चारित्र होगा, वहा सम्यक् दर्शन और ज्ञान अवश्य ही होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समिति शब्द से ज्ञान और दर्शन का भी स्पष्ट बोध हो जाता है। समिति युक्त व्यक्ति ज्ञान युक्त होता ही है।

ज्ञान विषय का अवलोकन मात्र करता है, आचरण नहीं। और यहां सूत्रकार को केवल विषय का बोध करना ही इष्ट नही है, प्रत्युत उस बोध को, ज्ञान को जीवन मे क्रियात्मक रूप देने की प्रेरणा देना है। इसलिए सूत्रकार ने ज्ञान युक्त शब्द के स्थान मे समिति युक्त शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् प्रकार से आचरण मे प्रवृत्तमान व्यक्ति ही कर्मजन्य दोषो का सम्यग् ज्ञान करके उन दोषो से अपने आपको बचा सकता है। वह अपने ज्ञान से इस बात को भली-भाति जान लेता है कि संसार में अंधे, बहिरे मूक, काने, वामन, कुबड़े, विकृत हाथ-पैर वाले, चित्तकबरे, कुष्ट आदि रोगों से पीडित व्यक्ति अपने पूर्वभव मे किए गए प्रमाद युक्त आचरण का फल पा रहे है। अर्थात् प्रमाद के आसेवन से आत्मा विभिन्न योनियो मे जन्म लेता है और उक्त विभिन्न प्रकार की शारीरिक विकृतियो एव स्पर्शजन्य दुःखो का सवेदन करता है। इसलिए संयमी पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए, उसे अपनी साधना मे सदा जागरूक रहना चाहिए।

समिति का अर्थ है—विवेक के साथ सयम मार्ग मे प्रवृत्त होना और वह पांच

प्रकार की है—1. इर्यासमिति, 2. भाषासमिति, 3. एषणासमिति, 4. आदाननिक्षेप समिति, और 5. उत्सर्ग समिति।

1. **इर्यासमिति**—विवेकपूर्वक गमनागमन करना।

2. **भाषासमिति**—विवेकपूर्वक सभाषण करना।

3 **एषणासमिति**—विवेकपूर्वक आहार आदि की गवेषणा करना।

4. **आदाननिक्षेपसमिति**—वस्त्र-पात्र आदि विवेक से रखना एव उठाना।

5 **उत्सर्गसमिति**—मल-मूत्र आदि का विवेकपूर्वक उत्सर्ग करना।

उक्त समिति से युक्त साधक प्रमाद एव तज्जन्य अशुभ कर्मो के फल को भली-भाति देखकर, सदा उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक क्रिया मे सावधानी रखता है और सदा अप्रमत्त भाव से साधना-पथ पर गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

अन्धत्व आदि के दो भेद किए है—1 द्रव्य और 2 भाव। आखो मे देखने की शक्ति का अभाव द्रव्य अन्धत्व है और ज्ञान चक्षु का अनावृत्तना नही भाव अन्धत्व है और उभय दोषो से आत्मा विभिन्न दु खों एवं कष्टों का सवेदन करती है। द्रव्य अन्धत्व से वह पराधीनता के दु ख का अनुभव करती है और भाव अन्धत्व के कारण नरक-तिर्यच आदि विभिन्न योनियों मे अनेक प्रकार के कष्टो का संवेदन करती है। अन्धत्व की तरह अन्य दोषों को भी समझ लेना चाहिए।

अन्धत्वादि दोषो की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद के कारण जीव ससार मे परिभ्रमण करते है। अत- जो जीव प्रमाद के वश हिताहित मे विवेक नही करते, अर्थात् अपने अज्ञान के कारण हित को अहित एव अहित को हित समझते हे, उनकी जो स्थिति होती है, उसका निर्देश करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से अबुज्झमाणे अहओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं, आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ॥80॥

छाया—स अबुध्यमानः हतोपहतो जातिमरणमनुपरिवर्तमानः जीवितं पृथक् प्रियमिहैकेषां मानवानां क्षेत्र वास्तु ममायमानानाम् आरक्तं, विरक्तं, मणिकुण्डलं सह हिरण्येन स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव रक्ताः नात्र तपो वा; दमो वा, नियमो वा दृश्यते सम्पूर्ण बालो जीवितुकामः लालप्यमान· मूढः विपर्यासमुपैति।

पदार्थ—से—वह अहं भाव युक्त। **अबुज्झमाणे**—कर्म स्वरूप को नही जानने वाला प्राणी। **हओवहए**—विभिन्न व्याधियो से पीड़ित होकर एव अपयश को प्राप्त करके। **जाइमरणं**—जन्म-मरण के चक्र में। **अणुपरियट्टमाणे**—परिभ्रमण करता रहता है। **इहं**—इस ससार मे। **खित्तवत्थुममायमाणाणं**—खेत, मकान आदि के ममत्व रखने वाला। **एगेसिं माणवाण**—किन्हीं मनुष्यो को। **पुढो**—पृथक्-पृथक् प्रत्येक को। **जीवियं**—असयम जीवन। **पियं**—प्रिय है। **आरत्तं**—रगे हुए वस्त्रादि। **विरत्तं**—विभिन्न रग वाले वस्त्र आदि। **मणि**—नीलमादि मणि। **कुण्डलं**—कानो के कुण्डल। **सह हिरण्णेण**—स्वर्ण आदि के साथ। **यत्थियाओ**—स्त्रियों को। **परिगिज्झ**—प्राप्त करके। **तत्थेव**—तथा उक्त पदार्थो मे। **रत्ता**—मूर्छित होते हुए, कहते है, कि। **इत्थ**—यहा पर। **तवो**—तप। **वा**—अथवा। **दमो**—दम—इन्द्रिय और मन का दमन। **वा**—अथवा। **नियमो**—अहिंसा आदि। **न दिस्सई**—फलित नही देखे जाते है। **संपुण्णं**—अत्यन्त। **बाले**—अज्ञानी जीव। **जीविउकामे**—असयमित जीवन की कामना वाले। **लालप्पमाणे**—भोगो के लिए अत्यन्त प्रलाप करने वाले। **मूढे**—मूर्ख। **विप्परियासमुवेइ**—विपरीत भाव को प्राप्त होते है।

मूलार्थ—कर्म स्वरूप के बोध से रहित अज्ञानी जीव शारीरिक मानसिक दु खो एव अपयश को प्राप्त करता हुआ, जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण करता रहता है। खेत, मकान आदि में आसक्त मनुष्यो को असयत जीवन ही प्रिय लगता है और रंगे हुए एव भिन्न रग युक्त वस्त्रो, चन्द्रकान्त आदि मणियो, कुण्डल एव स्वण आदि के साथ स्त्रियो को प्राप्त करके, उनमे आसक्त होने वाले मनुष्य यह कहते है कि इस लोक मे तपश्चर्या, इन्द्रिय एव मनोनिग्रह एव अहिंसा आदि नियमो का कोई फल दिखाई नही पडता। अत्यन्त अज्ञानी जीव, असयमित जीवन के इच्छुक विषय-भोगों के लिए अत्यन्त प्रलाप करता हुआ मूढ़ता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है।

हिन्दी-विवेचन

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि सम्यग्-ज्ञान से रहित विषयासक्त प्राणी कर्मजन्य फल को नही जानते है। अत- वे तप, सयम, नियम आदि पर विश्वास नहीं करके, भौतिक सुख-साधनो में आसक्त रहते है। और रात-दिन खेत-मकान, वस्त्र, स्त्री आदि भोगोपभोग साधनो मे ही लिप्त रहते है और उन्ही मे सुख की अनुभूति करते हुए विपरीत बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'हओवहए भवइ' शब्द का अर्थ है—ये विषयासक्त प्राणी विभिन्न शारीरिक एव मानसिक रोगो से, दु खों से हत—पीडित होते है। और दूसरे व्यक्तियों के द्वारा तिरस्कृत एव अपमानित होने से उपहत—विशेष पीडित होते है। या उच्च गोत्र के अभिमान से हत होते हैं और नीच गोत्र मे तिरस्कार का सवेदन करते हुए उपहत होते है। इस प्रकार ये प्रमादी प्राणी विषयों में आसक्त होकर जन्म-मरण प्रवाह मे प्रवहमान रहते है।

विषयो में अत्यधिक ममता-मूर्छा के कारण उसके विचारो मे विपरीतता आ जाती है। इसीलिए कहा गया है कि वह **'विप्परियासमुवेइ'** अर्थात् विपरीतता को प्राप्त होता है। तत्त्व मे अतत्त्व और अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि रखने का नाम विपर्यास है। यही विपरीत-विचारणा आत्मा को ससार मे परिभ्रमण कराती है।

सासारिक भोगो की पूर्ति धन एव स्त्री दोनो की प्राप्ति होने पर होती है। धन की प्राप्ति हो परन्तु स्त्री का अभाव हो तो वैषयिक सुख की पूर्ति नही हो सकती और वैषयिक सुख का साधन स्त्री तो हो, परन्तु धन का अभाव हो तब भी भोगोपभोग का पूरा आनन्द नही आ सकता। क्योकि भोगेच्छा की पूर्ति के साधनों को जुटाने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। अत' विषय-वासना की पूर्ति के लिए दोनों साधन अपेक्षित है। सूत्रकार ने यही बात **'सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ'** शब्द से अभिव्यक्त की है और साथ मे यह भी स्पष्ट कर दिया है कि विषयासक्त प्राणी भोगो के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलाप करते रहते है। अर्थात् भोग भोगते हुए भी उन्हें तृप्ति नही होती और न वास्तविक सुख की ही अनुभूति होती है।

अतः साधक को वासना का परित्याग करके आत्मविकास की ओर बढ़ना चाहिए। अब सूत्रकार आत्मसाधना के पथ पर बढने वाले साधको के विषय मे कहते है—

मूलम्—इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे सकमणे दढे। नत्थि कालस्स णागमो, सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोअणाए। तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ। इय से परस्सऽट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ॥81॥

छाया—इदमेव नावकाक्षन्ति ये जनाः ध्रुवचारिण.। जाति-मरणं परिज्ञाय, चरेत् संक्रमणे दृढः! नास्ति कालस्य नागम., सर्वे प्राणिनः प्रियायुष., सुखास्वादाः, दु.ख प्रतिकूलाः अप्रिय वधा. प्रिय जीविनः, जीवितुकामा. सर्वेषा जीवितं प्रियं तत् परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा स तत्र गृद्धः तिष्ठति भोजनाय ततः तस्यैकदा विविधं परिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति तमपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य अगार दाहेन (गृहदाहेन) वा तस्य दह्यते इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन संमूढ़ः विपर्यासमुपैति मुनिना खलु एतत् प्रवेदितं अनोघन्तराः एते न च ओघ तरितुं, अतीरंगमाः एते न च तीरं गन्तुम्, अपारंगमाः एते, न च पार गन्तुम् आदानीयं चादाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति, वितथं प्राप्याखेदज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति।

पदार्थ—**जे**—जो। **जण**—जन। **धुवचारिणो**—ध्रुवचारी मोक्ष साधक ज्ञान दर्शनादि सम्यग् आचरण करने वाले है वे। **इणमेव**—पूर्वोक्त असंयत जीवन को। **नावकंखंति**—नहीं चाहते। हे शिष्य। तू। **जाइमरणं**—जन्म-मरण के स्वरूप को। **परिन्नाय**—जानकर। **संकमणे**—चारित्र मे। **दढे**—दृढ होकर। **चरे**—चल-विचर, कारण कि। **कालस्स**—काल का। **णागमो**—अनागमन। **नत्थि**—नही है, अर्थात् मृत्यु का समय अनिशिचित है, और। **सव्वे**—सब। **पाणा**—प्राणियों को। **पियाउआ**—अपनी आयु प्रिय है तथा सब जीव। **सुह साया**—सुख चाहने वाले है और। **दुक्ख पडिकूला**—दु ख सब को प्रतिकूल है। **अप्पियवहा**—वध सबको अप्रिय है। **पियजीविणो**—जीवन सब को प्रिय है और वे जीव। **जीविउकामा**—जीवन की इच्छा करने वाले है और। **सव्वेसिं**—सर्व जीवो को। **जीवियं**—असयममय जीवन। **पियं**—प्रिय है। **तं**—उस असयममय जीवन को। **परिगिज्झ**—ग्रहण करके। **दुप्पयं**—द्विपाद-मनुष्यादि नौकर-चाकर। **चउप्पयं**—चतुष्पाद—गो महिषी और अश्व आदि पशुओं को। **अभिजुञ्जिया**—कार्य मे नियुक्त करके तथा। **संसिचया**—धन का सचय करके। **तिविहेण**—तीन करण व तीन योग से। **जाऽवि**—जो कुछ भी। **से**—उसे। **तत्थ**—उसमें। **मत्ता**—माया (धन) आदि पदार्थो की इयता। **भवई**—प्राप्त होती है। **अप्पा वा**—अल्प अथवा। **बहुया वा**—बहुत धन मात्रा के। **से**—वह व्यक्ति। **तत्थ**—धन मात्रा के। **भोयणाए**—उपभोग के लिए। **गड्ढिए चिट्ठइ**—आसक्त बना रहता है। **तओ**—तत्पश्चात्। **से**—उसके पास। **एगया**—किसी समय। **विविहं**—नाना प्रकार का। **परिसिट्ठं**—भोगने से बचा हुआ। **सभूयं**—संभूत पर्याप्त। **महोवगरण**—महा उपकरण-द्रव्य समूह एकत्रित। **भवइ**—हो जाता है। **से**—उसकी। **तंपि**—उस एकत्रित धन राशि का भी। **एगया**—एक समय-भाग्य के क्षय होने पर। **दायाया**—सम्बन्धी जन। **विभयंति**—बाट लेते है। **वा**—अथवा। **अदत्तहारो**—दस्यु-चोर। **से**—उसके धन को। **अवहरत्ति**—चुरा ले जाते है। **वा**—अथवा। **रायाणो**—राजा लोग। **से**—उसके धन को। **विलुम्पति**—लूट लेते है। **वा**—अथवा। **से**—उनका वह धन। **नस्सइ**—व्यापारादि में नष्ट हो जाता है। **वा**—अथवा। **से**—उसका वह धन। **विणस्सइ**—अन्य प्रकार से नष्ट हो जाता है। **वा**—अथवा। **से**—वह उसका धन। **अगारदाहेण**—घर के दग्ध होने से। **डज्झई**—जल जाता है। **इय**—इस प्रकार। **से**—वह धन के सम्पादन करने वाला।

परस्सट्ठाए—दूसरो के लिए। **कूराइं**—क्रूर। **कम्माइं**—कर्म। **पकुव्वमाणे**—करता हुआ। **तेण**—उस। **दुक्खेण**—कर्म विपाक जन्य दुःख से। **संमूढ़े**—विवेक शून्य होता हुआ। **विपरियासमुवेइ**—विपर्यास भाव को प्राप्त होता है विकल बुद्धि वाला हो जाता है। **हु**—निश्चय ही। **एय**—यह विषय। **मुणिणा**—मुनि, तीर्थकर देव ने। **पवेइयं**—सम्यक् प्रकार से प्ररूपित किया है कि। **एए**—ये। अन्यतीर्थी लोग सब ज्ञान और चारित्र से हीन। **अणोहंतरा**—अनोघन्तर है—अर्थात् (इन्हों—ने) ससार सागर को अथवा आठ प्रकार के कर्मो के ओघ को नही तरा है। **नो य**—और ना ही वे। **ओहं**—ससार समुद्र को। **तरित्तए**—तैरने मे समर्थ ही हे। एए—ये सब। **अतीरंगमा**—तीर को प्राप्त नही कर पाए है। **नो य**—और नाहि है। **तीरंगमित्तए**—तीर को प्राप्त करने मे समर्थ ही है। **एए**—ये सब। **अपारंगमा**—पार को प्राप्त नही कर पाए हैं। नो य—और नाहि। **पारंगमित्तए**—पार को प्राप्त करने मे समर्थ ही है। **आयाणिज्जं**— आदानीय श्रुत-ज्ञान को। **आयाय**—ग्रहण करके। **तंमि ठाणे**—उस सयम स्थान मे। **अखेयन्ने**—अज्ञानी जीव। न **चिट्ठइ**—नही ठहरता है अपितु। **वितहुं**—मिथ्या उपदेश को। **पप्प**—प्राप्त करके। **तमि**—उस। **ठाणंमि**—असंयम स्थान मे। **चिट्ठइ**—स्थित रहता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! जो मोक्ष के साधक है, वे इस असयत जीवन की इच्छा नही रखते हैं। अत तुम जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर सयम मार्ग मे दृढ होकर चलो।

काल—मृत्यु के आने का कोई समय नियत नही है। न जाने कब आ जाए। सब प्राणियो को जीवन प्रिय है, सभी सुख की अभिलाषा रखते है, और दुःख सबको प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है, सभी जीवन की कामना करने वाले हैं, सब जीवो को जीवन प्रिय है, असयम जीवन के आश्रित होकर द्विपद—मनुष्य, दास-दासी आदि और चतुष्पद पशु—गोमहिषी और अश्व आदि को उन-उन कार्यो में नियुक्त करके और इस प्रकार धन का सचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने मे प्राणी मन, वचन और काय से आसक्त रहता है। किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत-सा धन भोगने के पश्चात् भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय

अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस सचित धन को उसके सगे-सम्बन्धी आपस में बांट लेते है, चोर चुरा लेते है, राजा लूट लेता है, व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एव घर मे आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरो के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मो को करता हुआ उस दु ख से मूढ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है, तीर्थंकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग ससार समुद्र को न तो तर ही पाए हैं और न तरने मे समर्थ ही हैं। तथा ये सब न तो तीर-को किनारे को प्राप्त हुए है और न प्राप्त करने मे समर्थ ही हैं। अतएव ये सब पार नही पहुचे है और पार होने मे समर्थ भी नही है। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अखेदज्ञ, अकुशल जीव सयम स्थान मे स्थित नही रहता है, अपितु मिथ्या उपदेशो को प्राप्त करके असयम स्थान मे स्थित रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधना के प्रशस्त मार्ग का तथा उसके प्रतिबन्ध कारणो का विवेचन किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है। ध्रुव का अर्थ स्थायी होता है और मोक्ष मे आत्मा सदैव स्थित रहती है। कर्मबन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा फिर से ससार मे नहीं लौटती है। इसलिए मोक्ष को ध्रुव कहा है और इसके विपरीत ससार अध्रुव कहलाता है और इसी कारण सांसारिक वैषयिक सुख भी अस्थिर, क्षणिक एव अध्रुव कहलाते है। अत मोक्षाभिलाषी साधक क्षणिक, विनश्वर और परिणाम मे दु:ख रूप विषय-भोगो की आकांक्षा नही रखते। इतना ही नहीं, अपितु वे तो प्राप्त भोगों का त्याग करके साधना के पथ पर गतिशील होते है। क्योकि वे जानते है कि ये ऊपर से आकर्षक एव सुहावने प्रतीत होने वाले विषय सुख आत्मा को पतन के गर्त मे गिराने वाले है। इसलिए वे उनके प्रलोभन में नही फसते।

प्रथम तो भौतिक सुख-साधन ही अस्थिर हैं। जो धन-वैभव आज दिखाई दे रहा है, वह कल ही नष्ट हो सकता है और परिक्षीण होने पर उसकी समाप्ति के अनेक कारण उपस्थित हो जाते है। कभी परिवार मे विभक्त हो जाने के कारण ऐश्वर्य की

शक्ति कम हो जाती है या चोर लूट ले जाते है, नदी आदि के प्रवाह मे बह जाता है, आग मे जल जाता है या व्यापार मे हानि हो जाती है। इस प्रकार सपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नही है और दूसरे यह जीवन भी अस्थिर है। कोई नही जानता कि काल किस समय आकर सारे बने-बनाए खेल को ही बिगाड़ दे। समस्त वैभव एव परिवार यही पडा रहता है और व्यक्ति अगले लक्ष्य पर चल पडता है। उसकी समस्त अभिलाषाएं, भोगेच्छाए मन मे ही रह जाती है, सब भोग के साधन यही रह जाते है। वह तो केवल कर्मबन्धन का बोझ लेकर चल पडता है। अस्तु सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभाव मे व्यक्ति भोगेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक पापकर्म करता है, विषय-वासना मे आसक्त रहता है और कभी-कभी पापकर्म को बाध कर भी प्राप्त किए गए भोगों को भोग नही सकता। इसलिए साधक को इन भोगो से अलग रहना चाहिए। क्योकि विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता रहता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'ध्रुवचारिणो'** का अर्थ है—**"ध्रुवो मोक्षस्तत्कारण च ज्ञानादि ध्रुव तदाचरितुं शीलं येषां ते"** अर्थात्—ध्रुव नाम मोक्ष का है, अत उसके साधन भूत ज्ञानादि साधन भी ध्रुव कहलाते है। उनका सम्यक्तया आचरण करने वाला ध्रुवचारी कहलाता है। इसके अतिरिक्त **'धूत चारिणो'** पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ हे—**'धुनातीति धूतं—चारित्रं तच्चारिणः'** अर्थात्—कर्म रज को धुनने—झाडने वाले साधन को धूत कहते है। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अत सम्यक्चारित्र को धूत कहा है ओर उसकी आराधना करने वाले मुनि को धूतचारी कहा गया है।

"संकमणे दढे' पद का अर्थ है—**संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणं चारित्रं तत्र दृढ—विश्रोतसिकारहित· परीषहोपसर्गे निष्प्रकम्पः।"** अर्थात्—सक्रमण चारित्र का नाम है। अत परीषह एव उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दृढता पूवर्क चारित्र का परिपालन करने वाले साधक को **'संकमणे दढे'**—चारित्र मे दृढ कहा जाता है। साधक की कसौटी परीषह के समय ही होती है। सकट के समय ही विचलित नही होने वाला मुनि ही आत्मसाधना के पथ पर आगे बढ़ता है।

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया......' आदि पाठ से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि भगवान महावीर के युग मे हिसा का प्राबल्य था। यो तो हर युग मे हिसक

व्यक्ति मिल ही जाते हैं। परन्तु उस युग मे हिसा का प्रचार इतना बढ़ गया था कि धर्मस्थान भी वधस्थान से बन रहे थे। यज्ञ की वेदिया खून से रगी रहती थी। धर्म के नाम पर हजारो-लाखों पशुओ की गर्दनो पर छुरिया चलती थी। यही कारण है कि भगवान महावीर ने हिसक यज्ञो का विरोध किया और लोगो को यह बताया कि ससार का प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दुःख सबको अप्रिय लगता है, सभी प्राणी दुःख की एव मृत्यु की दारुण वेदना से बचना चाहते है, जीवन सबको प्रिय है। इसलिए प्रबुद्ध पुरुष को किसी भी प्राणी की हिसा नही करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में यही कहा है[1]।

कुछ प्रतियों में **"सव्वे पाणा पियायाया"** यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है—सब प्राणियो को अपनी आत्मा प्रिय है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नही चाहता है। अतः साधक को चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को पीडा न पहुचाए।

जो व्यक्ति हिसा, झूठ आदि पापो मे आसक्त है, उन व्यक्तियों को प्रस्तुत सूत्र में अनोघतर कहा है। ओघ दो प्रकार का होता है—1 द्रव्यओघ और 2. भावओघ। नदी के प्रवाह को द्रव्य ओघ कहते है। और अष्टकर्म या ससार को भावओघ कहते है और इस ससार रूपी सागर को पार करने वाले व्यक्ति को ओघतर कहते है। परन्तु वही व्यक्ति इसे तैर कर पार कर सकता है, जो हिंसा आदि दोषों से मुक्त है। उक्त दोषो मे आसक्त एव प्रवृत्त व्यक्ति इसे पार करने मे असमर्थ है। इसलिए सूत्रकार ने उसे अनोघतर, अतीरंगम और अपारगम कहा है। यहां उक्त शब्द भाव ओघ अर्थात् ससार सागर के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। तीर और पार शब्द के अर्थ मे इतना ही अन्तर है—**'तीर'** शब्द मोह कर्म के क्षय को व्यक्त करता है और **'पार'** शब्द शेष अन्य तीन घातिक कर्मो के क्षय का ससूचक है। अथवा **'तीर'** शब्द से चारो घातिक कर्मो का क्षय और **'पार'** शब्द से चारो अघातिक कर्मो का क्षय करने का अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि पापो में प्रवृत्ति करने वाले व्यक्ति अष्ट कर्मो का क्षय करके ससार सागर को पार नहीं कर सकते है।

इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह उपदेश किसके लिए है? प्रबुद्ध

---

1 सव्वे जीवा वि इच्छन्ति।

पुरुष के लिए या मूढ व्यक्ति के लिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि॥82॥

छाया—उद्देशः (उपदेशः) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनस्निहः कामसमनोज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तमनुपरिवर्तते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। **पासगस्स**—तत्वज्ञ-प्रबुद्ध पुरुषों के लिए। **नत्थि**—नहीं है। **बाले पुण**—फिर अज्ञानी व्यक्ति। **निहे**—राग युक्त। **कामसमणुण्णे**—काम भोगो का आसेवन करने वाला। **असमिय दुक्खे**—जिसके अभी तक दु.ख उपशान्त नही हुए है, ऐसा। **दुक्खी**—दु खी प्राणी। **दुक्खाणमेव**—दु.खो के। **आवट्टं**—चक्र मे। **अणुपरियट्टइ**—परिभ्रमण करता रहता है।

मूलार्थ—तत्वज्ञ पुरुष के लिए उपदेश की आवयकता नही होती। अज्ञानी जीव राग-युक्त और विषय-भोगो में आसक्त होता है। अत उसके दु:ख उपशांत नहीं होते है। ऐसा दु खी प्राणी दु:खो के चक्र मे ही परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ या प्रबुद्ध और बाल दो प्रकृतियो का चित्रण किया गया है। इसमे बताया गया है कि जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ है, प्रबुद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नही है। क्योकि वह विषय-वासना से प्राप्त होने वाले कटु फल को भली-भाति जानता है, अत वह उससे निवृत्त हो चुका है और उससे निर्लिप्त रहने के लिए अपनी साधना में सदा सजग रहता है। परिणाम-स्वरूप, वह पापकर्म का बन्ध नही करता है और न दु ख के प्रवाह में प्रवहमान ही होता है।

इसके विपरीत, जो वासना के कटु फल को नही जानता है, ऐसा अज्ञानी व्यक्ति दु:खों का उपशमन करने के लिए विषय-भोगो का आसेवन करता है। जैसे गरमी की ऋतु मे पसीने से भीगा बालक खेलते-कूदते घर मे आता है और सारे वस्त्र उतार कर

पसीना सुखाने के लिए नंगे शरीर धूप में जा खड़ा होता है। वह समझता है कि भीगे हुए वस्त्रो की तरह धूप मेरे पसीने को सुखा देगी। परन्तु परिणाम इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् पसीना सूखने के स्थान मे और अधिक आने लगता है। यही स्थिति भोगो से दु·ख दूर करने वाले अज्ञानी जीवों की होती है। उससे दु ख कम नही होते, अपितु बढ़ते है। क्योकि दु ख का मूल कारण राग-द्वेष आसक्ति एवं मोह है और विषय-भोग एव भौतिक ऐश्वर्य को संप्राप्त करने से उसका प्राबल्य रहता है। अत· उससे दु खो की एवं जन्म-मरण की परम्परा मे अभिवृद्धि होती है। ऐसा समझकर साधक को भोगो से सदा दूर रहना चाहिए। **'त्ति बेमि'** का अर्थ पूर्ववत् ही समझे।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

अध्यात्मसार : 3

मूलम् : से असइं उच्चागोए असउं नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई, को माणावाई कंसि वा एगे गिज्झे तम्हा पंडिए नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहि जाण पडिलेह सायं॥ 2/3/78

मूलार्थ : यह जीव अनेक बार उच्च गोत्र में जन्म ले चुका है और अनेक बार नीच गोत्र मे। इसमे किसी प्रकार की विशेषता या हीनता नहीं है, क्योकि दोनों अवस्थाओ मे भवभ्रमण और कर्मवर्गणा समान है। ऐसा जानकर उच्च गोत्र से अस्मिता और नीच गोत्र से दीनता का भाव नही लाना चाहिए और किसी प्रकार के मद के स्थान की अभिलाषा भी नही करनी चाहिए। अनेको बार उच्च गोत्र मे जन्म लिया जा चुका है, ऐसा जानकर अपने गोत्र का कौन मान करेगा? कौन अभिमानी बनेगा? और किस बात मे आसक्त होगा?

पडित पुरुष उक्त सत्य समझता है, इसलिए वह उच्च गोत्र की प्राप्ति से हर्षित नही होता और नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर कुपित नही होने पाता, अर्थात् सदा समभावी रहता है। पडित पुरुष यह भी समझता है कि प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है।

जीव का अज्ञान

व्यक्ति का अज्ञान क्या है? जो दु:ख सवर्धन का रास्ता है, उसे वह दु खमुक्ति का रास्ता मानता है। जैसे इससे पूर्व आपने देखा जो बल को क्षीण करने वाले कारण है, उन्हे वह बल सवर्धन के उपाय समझता है, ऐसा ही अज्ञान मान के सम्बन्ध मे भी समझना।

आत्मा का मूल स्वभाव

मूलतः आत्मा का स्वभाव क्या है? समत्व आत्मा का स्वभाव है। यह समत्व इस दृष्टि से भी है कि निज रूप मे सभी समान हैं। न कोई हीन है, न कोई उच्च है। फिर

भी सत्ता एवं मूल गुणो के विकास की दृष्टि से हम किसी को वन्दन करते है तो यह हमारी प्रमोद भावना है। ऐसे तो सत्ता रूप से सभी मे शुद्धता है, लेकिन प्रमोद रूपी भावना से धीरे-धीरे यह व्यवहार बन गया कि रत्नाधिक को वन्दन करना, लेकिन इसे ही अन्तिम नहीं मान लेना। किसी के प्रति प्रमोद भावना होना उचित है, लेकिन किसी के प्रति भी हीन भावना नही रखना। यह जो व्यवहार बनाया वह सघ की व्यवस्था के लिए है, लेकिन उसका मूल है प्रमोद भावना।

यह व्यवहार आवश्यक है, व्यवस्था और अनुशासन के लिए, अन्यथा अव्यवस्था हो जाएगी। जैसे समाज मे यह व्यवहार बन गया है कि पुत्र माता-पिता को वन्दन करना। आवश्यक नही है कि माता-पिता उच्च गुणो से युक्त ही हो। कई बार पुत्र अधिक तेजस्वी होता है, फिर भी पुत्र माता-पिता को प्रणाम करता है, यही समाज की व्यवस्था है। ऐसे ही यह सघ की व्यवस्था है कि रत्नाधिक को वन्दन करना। ऐसे तो किसका दर्शन अधिक शुद्ध है, किसका चारित्र अधिक निर्मल है, यह हम नही जान सकते, फिर भी समय की अपेक्षा जो बडा हो, उसे वन्दन करना। लेकिन इसे जड़ता से नहीं लेना। कभी-कभी अपनो से छोटो मे भी गुणो की अधिकता हो सकती है। अत- किसी को भी हीन नही समझना, अपितु वन्दन करे या न करे, लेकिन सभी के प्रति प्रमोदभाव रखना।

दूसरी बात मूल रूप से वन्दना हम सभी को कर सकते है, क्योकि सत्ता रूप से न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। यदि तुमने प्रणाम किया 'अपने से किसी छोटे व्यक्ति को' तो पाप नही लगता। यहाँ तक कि गृहस्थ को भी वन्दन करने से पाप नही लगता, क्योकि वन्दन सभी को कर सकते है, लेकिन इसके लिए आपके पास गुणो की पहचान होनी आवश्यक है, क्योंकि वन्दन एक प्रकार से उस व्यक्ति मे रहे हुए गुणो की अनुमोदना है, जैसे किसी तपस्वी को आप वन्दन करते हैं, प्रमोदभाव से उसके तप को देखकर तब यह वन्दन उसके तपस्वी गुण और उसके पुरुषार्थ की अनुमोदना है। मुझमे भी ऐसा पुरुषार्थ जागे उस गुण का तथारूप विकास हो, लेकिन जब आप सर्व-साधारण जन के समक्ष किसी गृहस्थ को वन्दन करते है, तब साधारण लोग उसे आपका एक आदर्श समझ लेते है। सभी लोग यह नही देख पाते कि आप क्यो झुक रहे है। हो सकता है कि आपको उनमे कोई विशेष गुण दिखाई दिया हो और आपने प्रणाम किया, लेकिन साधारण व्यक्ति वह उस विशेष गुण को देख नहीं

पाता। वह तो यही समझता है कि वह व्यक्ति जैसा भी है पूर्णत अनुमोदनीय है, आचरणीय है।

यदि आप समझपूर्वक शुद्ध भावपूर्वक किसी सद्गुणी को वन्दन कर रहे है तो हम उसकी पात्रता की अनुमोदना कर रहे है। जैसे हम भगवान की मॉ को प्रेमपूर्वक याद कर उन्हे प्रणाम भी करते हैं, तो यह उनकी पात्रता की अनुमोदना है कि तीर्थकर भगवान को जन्म देने की योग्यता उन्होने प्राप्त की। यह सब आध्यात्मिक दृष्टिकोण से है। व्यवहारदृष्टि से रत्नत्रय में जो हमसे बडे है, जिन्होंने पहले दीक्षा ली, उनको वन्दन करना। इसका अर्थ यह नही है कि जो आपके प्रति वन्दन कर रहा है, उसमे कोई सद्गुणो की कमी है, वह किसी प्रकार से हीन है, नही। आदर और प्रमोद भाव तो सभी के प्रति रखना। यदि यह पारस्परिक आदर और प्रमोद भाव नहीं रहता, तब फिर ऊँच-नीच, मान-अपमान की भावना का जन्म होता है।

इस प्रकार मूलत· दो बातें सदा ध्यान में रखनी, 1. ना कोई ऊँच है ना कोई नीच, वरन सभी समान है, 2. सभी के प्रति प्रमोद भावना, जीवो मंगलम् सभी जीव मगल स्वरूप है। भगवत् स्वरूप है, सभी जीव महान हैं।

कहते है अयोग्य को वन्दना करने से पाप कर्म का बन्धन होता है, या फिर चित्र को वन्दन करने से पापकर्म का बन्धन होता है।

शुभ भाव पूर्वक सद्गुणो के प्रति रहे हुए प्रमोदभाव पूर्वक वन्दन करते हैं, तब पापकर्म का बन्धन नही होता है। जब भगवान के चित्र को आप देखते है, तब आपके भीतर भगवान के उन गुणों का स्मरण होता है, अर्थात् आप चित्र में भगवान की स्थापना करते है और चित्र के निमित्त को लेकर आपके आन्तरिक उच्चतम भावो का प्रकर्ष होता है और उसे भावपूर्वक वन्दन करते हैं तो वह कर्म निर्जरा का कारण बनता है।

कहा भी है, 'गुणी जनों को देख, मेरे हृदय मे प्रेम उमड़ आवे' इस प्रकार गुणी जनो के प्रति स्नेह और आदरभाव रखना उचित है।

तो क्या हम किसी की भी शरण मे जा सकते हैं। शरण और वन्दन में अन्तर है। वन्दन प्रमोद भाव पूर्वक सद्गुणों की अनुमोदना है।

शरण अर्थात् आप जिसकी शरण में जाते हैं, उसे आपने पूर्णत· स्वीकार कर

लिया। अपने मन-वचन-काया से आप पूरी तरह समर्पित हो गये। अपने आपको पूरी तरह चढ़ा दिया कि अब मै तुम्हारी शरण में हूँ, मेरा कुछ भी नही है। अतः हम वन्दन भले ही किसी को भी करे, लेकिन शरण तो अरिहतो की ही है।

तो क्या हम किसी भी देव-देवी को वन्दन कर सकते है? यदि आप यह समझकर करते है कि उनमे ये विशेष गुण है, उन गुणों के प्रति अनुमोदना है, तब बात अलग है। लेकिन साधारण मनुष्य वन्दन और शरण के अन्तर को समझ नहीं पाता। वह किसी भी देव या देवी के प्रति झुकता है तो वह उसी को शरण मान लेता है। अतः जरूरी नही है कि हम हर किसी के सामने जाकर सिर झुकाएँ। हॉ, हमे किसी की निन्दा नही करनी है। क्योकि निन्दा योग्य कोई भी नही है। सभी के प्रति अहोभाव और प्रेम रखना, सभी के प्रति मगल का भाव रखना है, लेकिन शरण तो हमारी एक ही है, अरिहन्त की शरण।

मूलम् : समिए एयाणुपस्सी, तंजहा-अन्धत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुणटत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं, सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ॥ 2/3/79

मूलार्थ : समिति युक्त जीव अर्थात् सयमी पुरुष कर्मविपाक को इस प्रकार देखता है कि ससार मे जीवो को अन्धापन, बहरापन, गूंगापन, कानापन, हाथो की वक्रता, वामन रूप, कुबडापन, कालापन एवं चितकबरापन आदि की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमादी जीव ही विभिन्न योनियो मे उत्पन्न होता है और वहॉ अनेक तरह के स्पर्शजन्य दुःखों का सवेदन करता है।

यहॉ पर समिति के अन्तर्गत गुप्ति का भी समावेश अपने आप हो जाता है क्योकि बिना गुप्ति के समिति नहीं हो सकती। समिति कहने से गुप्ति अपने आप आ जाती है, क्योकि गुप्ति होगी तो समिति होगी। मूल साधना है गुप्ति की और जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक है समिति। इस गुप्ति और समिति की समन्वित साधना को साधक एयाणुपस्सी, यह देख लेता है कि ये जो शरीर के रोग है ये जो शरीर के दोष है, वे सारे प्रमाद जन्य कर्मो के कारण है। यह बात वह स्वय के श्रुतज्ञान के विकास से इन्द्रियातीत अवधि ज्ञान से जान लेता है। महत्त्वपूर्ण है

समिति और गुप्ति की साधना। इससे समस्त कर्मो के स्वरूप का बोध हो जाता है। एक बार यह बोध हो जाए, तब फिर हर्ष या शोक नहीं सताता। मूल साधना गुप्ति की है, गुप्ति के साथ है समिति। यहॉ पर जाति और कुल की बात कही गयी है। खानदान सम्बन्धी जो महत्त्व पहले बताया गया, वही महत्त्व गोत्र का भी है।

जब भी कोई साधना के क्षेत्र मे आगे बढता है तो जैसे पूर्व में बताया गया है, उसका जाति और कुल उत्तम होना चाहिए। इसमें अपवाद भी हो सकता है। परन्तु साधारणतः यही नियम है।

जाति एव कुल अर्थात् मातृपक्ष एव पितृपक्ष उच्च होना चाहिए। प्रमाद के पॉच भेद—मद्य, विषय, कषाय, निन्दा और विकथा है।

मूलम् : से अबुज्झमाणे हओवहए जाईमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं, आरत्तं विरत्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ॥ 2/3/80॥

मूलार्थ : कर्मस्वरूप के बोध से रहित अज्ञानी जीव शारीरिक-मानसिक दु खों एव अपयश को प्राप्त करता हुआ, जन्म-मरण के चक्र मे परिभ्रमण करता रहता है। खेत-मकान आदि मे आसक्त मनुष्यो को असयत जीवन ही प्रिय लगता है और रगे हुए एव विभिन्न रग युक्त वस्त्रों, चन्द्रकान्त आदि मणियो, कुण्डल एवं स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियों को प्राप्त करके, उनमें आसक्त होने वाले मनुष्य यह कहते है कि इस लोक मे तपश्चर्या, इन्द्रिय एव मनोनिग्रह एव अहिंसा आदि नियमों का कोई फल दिखाई नहीं पड़ता। अत्यन्त अज्ञानी जीव, असयमी जीवन के इच्छुक विषय-भोगो के लिए अत्यन्त प्रलाप करता हुआ, मूढ़ता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है।

यहॉ पर जो पहले का सूत्र है, इससे विपरीत अवस्था का चित्रण किया गया है। जो समिति-गुप्ति का पालन करता है, उसे कर्मो के स्वरूप का बोध हो जाता है। जो पालन नहीं करता है, वह अज्ञान मे ही रह जाता है और उस अज्ञान से ही यह सब

पैदा होता है। उसे जीने की तीव्र आकांक्षा रहती है। जीने की आकांक्षा किससे आती है? जीने की आकाक्षा का जन्म होता है इस देह के प्रति रही हुई आसक्ति के कारण, क्योकि वह मानता है, अनुभव करता है कि मैं देह हूँ, वह देह के संयोग को जन्म और देह के वियोग को मृत्यु मानता है। जितनी देहासक्ति होगी, उतनी ही समाधिमरण मे जीने की जो काक्षा है, उसका त्याग किया जाता है, जिससे कि देहासक्ति से व्यक्ति दूर हो, जीने की आकांक्षा तथा मरने की काक्षा, दोनों ही देहासक्ति के भिन्न-भिन्न रूप है। देहासक्ति के छूटते ही ये दोनो आकाक्षाएं भी छूट जाती है।

संयम

इन्द्रियनिग्रह के लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह सयम है और विषयो को जुटाने के लिए अथवा 'प्राप्त करने के लिए' जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह असंयम है।

मूल बात तो मन की है। मन में यदि देह के प्रति आसक्ति रही तो नियम, उपनियमों का पालन करते हुए भी वह असयम है, तभी वह दिखावा कर रहा है, क्योंकि देहासक्ति से दबा हुआ उसका मन सदा विषयों के प्रति दौड़ रहा है। अतः बाहर से नियम-उपनियम के द्वारा संयम का पालन करते हुए भी उसका पुरुषार्थ भीतर से इन्द्रियो की पूर्ति के लिए ही है, तब वह असयमी है।

तप की विधि : अनशन का महत्त्व

देहासक्ति की मूल जड क्या है? देहासक्ति की मूल जड है आहार। इसलिए अनशन को महत्त्व दिया। व्यक्ति सब कुछ सहन कर सकता है, लेकिन भूख नही। तुम कितने ही सुन्दर साधन, वस्त्र, मकान कुछ भी दे दो, लेकिन बिना भोजन कुछ भी नही सुहाता, वह व्याकुल ही रहेगा। इस प्रकार देहासक्ति का मूल है आहार। आहार का अर्थ है आहार संज्ञा। वह शरीर की भूख को अपनी भूख मानता है। अनशन को इतना महत्त्व इसलिए दिया कि जिसके माध्यम से तुम यह देख सको कि यह भूख मेरी नहीं देह की है। अनशन वस्तुत· तुम्हारी देहासक्ति की परीक्षा है।

जबर्दस्ती भूखा रहना अलग बात है। कोई बलवान है और भूखा रह रहा है, यह बात अलग है, क्योंकि केवल भूखा रहना ही सब कुछ नही है। देहासक्ति का टूटना

भी जरूरी है और वह होता है अनशन के साथ किये गये आत्मनिरीक्षण से। इसलिए कई जगह आयम्बिल को उपवास से अधिक महत्व दिया गया है। देहासक्ति को तोडने के लिए अनशन, आयम्बिल इत्यादि बहुत ही सहायक है, लेकिन अनशन किस प्रकार करना है, यह देखना भी जरूरी है। अनशन मे यह देखना है कि यह भूख मुझे लगी या देह को लगी। यह निरीक्षण होता है मनोगुप्ति की साधना से, अत अनशन के साथ-साथ समिति व गुप्ति का अभ्यास भी आवश्यक है। मन का गोपन करना हो तब स्वय का स्वय तक आना आवश्यक है। जैसे ध्यान के द्वारा हम मनोगुप्ति को साधते हैं। तब व्यक्ति का मन स्वय मे लीन होता है और उस तल्लीनता से आत्मनिरीक्षण स्वयमेव होता है। इस प्रकार अनशन करते हुए अपने आपको देखने पर देहासक्ति टूटती है। यहॉ पर आहार त्याग से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मनिरीक्षण। केवल आहार त्याग कर दिया, इतना ही नही, साथ-साथ ध्यान और कायोत्सर्ग की साधना भी होनी चाहिए।

मनोगुप्ति की साधना अर्थात् मूलत ध्यान एवं कायोत्सर्ग की साधना। इस प्रकार ध्यान करते हुए देहासक्ति टूटने का अपने आप अनुभव होगा। अनशन से मनोगुप्ति मे प्रगाढता आती है, लेकिन बिना समिति और गुप्ति की साधना के कोई भी अनुष्ठान सफल नही हो सकता। चाहे वह अनशन है, भक्ति और प्रार्थना है, पूजा या प्रभु नाम स्मरण है। कुछ भी हो साथ मे समिति-गुप्ति आवश्यक हैं।

समिति : सम्यक् प्रकार से की गयी प्रवृत्ति ही समिति है। सम्यक् प्रकार से अर्थात् यत्नापूर्वक, विवेकपूर्वक जीवो की रक्षा करते हुए। सबकी समझ मे अच्छी तरह आ सके, इसलिए हमने समस्त प्रवृत्ति को पॉच भागो मे बॉट दिया है। उसे ही सम्यक् प्रकार करने को समिति कहते हैं।

क्या गृहस्थ भी समिति-गुप्ति की साधना कर सकता है?

गृहस्थ भी कर सकता है। जितना गुप्ति को साध सके अच्छा है, साथ मे जो भी करें समितिपूर्वक करे।

गुप्ति—मन-वचन-काया का गोपन करना गुप्ति है। जितना हम मन-वचन और काया को साध सके, उतना ही संयम, बाकी असंयम। गुप्ति-निवृत्ति रूप है—'ठाणेण मोणेण झाणेण।'

संयम का मूल आधार

बाह्य आचार भी महत्त्वपूर्ण है, लेकिन आन्तरिक दृष्टिकोण संयम का मूल आधार है। यदि आन्तरिक दृष्टिकोण देह के सुख की पूर्ति का है, तब बाह्य आचार होते हुए भी असयम है। अगर आन्तरिक दृष्टिकोण देह के पार जाने का है, तब वह सयम के अभिमुख है। यदि दृष्टिकोण देह के पार जाने का है, तब भोग-उपभोग के मध्य रहते हुए भी वह यह सोचता है कि मुझे इनसे मुक्ति कैसे मिले। अत सम्यक् दृष्टि का लक्षण है, रुचि। निश्चय मे—सम्यक् दर्शन मिलने पर संयम मे रुचि जागती है। व्यवहार में—अरिहत, सुसाधु एव सद्धर्म पर श्रद्धा रखने को, उनकी शरण मे जाने को सम्यक् दर्शन कहते हैं। इस व्यवहार सम्यक्त्व से इनकी शरण में जाने से आन्तरिक दृष्टिकोण मे परिवर्तन आता है। यहॉ पर देहासक्ति के अन्तर्गत धन, पद, प्रतिष्ठा, परिवार इन सबके प्रति जो आसक्ति है, ये सब समाविष्ट है। तो जिसे पद-प्रतिष्ठा का मोह है, वह भी असयमी है, क्योकि पद प्रतिष्ठा का मोह भी देहासक्ति का ही एक रूप है, और जिसके भीतर देहासक्ति की पूर्णता का दृष्टिकोण विद्यमान है, उसका पुरुषार्थ भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे एतदर्थ आसक्ति की पूर्ति के साधनों की ओर ही होगा।

देह सुख का अर्थ केवल भोजन एव काम सुख ही नही है, क्योकि धन, पद, प्रतिष्ठा, परिवार सब कुछ इसी से जुडा हुआ है। जब भी कोई आपका नाम लेकर आपको ढूॅढने के लिए आएगा, तब वह किसे ढूॅढेगा? आपकी इस देह को ही ढूॅढेगा, क्योकि यह नाम इत्यादि आपकी देह को दी हुई एक सज्ञा है। इस प्रकार पद-प्रतिष्ठा को पाने की आकाक्षा ही वस्तुत असयम का आधार है। ऐसा व्यक्ति हर समय देखता रहेगा कि मेरी पद-प्रतिष्ठा कैसे बढे। इसलिए साधु के लिए कहा गया, सभी प्रकार की आकांक्षाओ को छोड वीतरागी बने। वीतरागी बनने की आकाक्षा कोई आकाक्षा नही है, वरन् यह इन्द्रियो के पार जाने की एक स्वाभाविक रुचि है। यदि आज रुचि है तो कल पहुॅचेगा ही। यह रुचि वैचारिक नही, अपितु सहज होनी चाहिए। जैसे, भोजन के लिए भूख लगती है। यह भूख लगना स्वाभाविक है। भूख सोच-विचार करके नहीं लगती है। इसी प्रकार जिसमें ऐसी सहज रुचि जागती है, वही साधक है। इस रुचि से आगे है, चारित्र।

यह रुचि जागृत होती है, जब सम्यक् दर्शन जागृत होता है। सम्यक् दर्शन के द्वारा, अर्थात् देव-गुरु-धर्म की शरण में जाने पर अपने आप एक दिन स्वरूप बोध होकर 'निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर' यह रुचि जागती है। कहते है एक बार सम्यक् दर्शन का स्पर्श होने पर व्यक्ति का मोक्ष जाना निश्चित है, क्यो? क्योकि सम्यक् दर्शन होने पर जो स्वाभाविक रुचि जागी, वह रुचि अपने आप रास्ता ढूँढेगी। उपादान तैयार होने पर निमित्त मिलता है। अपनी उस रुचि के कारण कितने ही भोग-बन्धनो मे रहते हुए भी, वह निरन्तर यह खोजता रहेगा कि मै कैसे बन्धन से बाहर आऊँ। उसकी सही खोज उसे चारित्र तक ले जाएगी। यह सब कुछ समिति और गुप्ति की साधना से होता है। समिति-गुप्ति की साधना के अभाव मे व्यक्ति अज्ञान मे ही रहता है और जीता है। इस अज्ञानवश इतना पुरुषार्थ करते हुए भी वह अतृप्त ही रहता है। इन्द्रियो के सुख-दुःख मे जीते हुए, वह सदा परितप्त रहता है।

दूसरा वह अपयश को प्राप्त करता है। अपयश का अर्थ अपमान नहीं है। हो सकता है असयमी व्यक्ति को अधिक सम्मान मिले। अपमान तो साधु का भी हो सकता है और असयमी का भी सम्मान हो सकता है। हो सकता है कि पूर्व अर्जित पुण्य के उदय से, असयमी व्यक्ति के सम्मान मे वृद्धि हो, लेकिन वह यश नहीं है।

यश और कीर्ति

सम्यक् पुरुषार्थ एव पराक्रम के द्वारा व्यक्ति के नाम मे जो संवर्धन होता है, उसे यश कहते है। जैसे—चक्रवर्ती और तीर्थकर मे यह अन्तर है। चक्रवर्ती कीर्ति को प्राप्त करते है, तीर्थकर यश को।

कीर्ति : अपने पुरुषार्थ एवं पूर्व अर्जित पुण्य के माध्यम से पद-प्रतिष्ठा, भोग-उपभोग के साधनो को एकत्र कर परिग्रह के क्षेत्र मे उच्चता, धन के माध्यम से, पद के माध्यम से, अपने नाम मे सवर्धन करना कीर्ति का उपार्जन है।

यश : इन्द्रियो का निग्रह करने हेतु जो पुरुषार्थ किया जाता है और उस पुरुषार्थ से जो आन्तरिक उच्चता प्राप्त होती है, उस आन्तरिक उच्चता के प्रति लोगो की श्रद्धा और उनका सम्मान प्राप्त करना यश है।

'यह सारे सूत्र का मूल है'। जरूरी नही है कि सयमी व्यक्ति को यश मिले ही,

मिल भी सकता है और नही भी मिल सकता। लेकिन असयमी व्यक्ति को कभी भी यश नही मिल सकता। असयमी को केवल कीर्ति ही मिलती है। वह भी पूर्व पुण्य अथवा वर्तमान मे की हुई दान-सेवा इत्यादि से।

इस सारे सूत्र का मूल है देहासक्ति, उससे इन्द्रियासक्ति, अर्थात् देहासक्ति से इन्द्रियासक्ति। इन्द्रियासक्ति से इन्द्रियो के विषयो के प्राप्त होने के साधनो से आसक्ति और उस आसक्ति से व्यक्ति विपरिणाम और मूढता को प्राप्त करता है और फिर इसी मूढता मे मृत्यु को प्राप्त कर नीच गति मे जन्म लेता है। कभी-कभी पूर्व पुण्य के आकस्मिक उदय से उसे मृत्यु से पहले जागरण आ जाता है और मूढता टूटती है तो सद्‌गति भी हो सकती है।

मूलम् : इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो। जाईमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे। नत्थि कालस्स णागमो, सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, त परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचियाणं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोअणाए। तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं सभूयं महोवगरणं भवइ तंपि से एगया दायाया वा विभयंति अदत्तहारो वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुम्पंति, नस्सइ वा से विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ। इय से परस्सट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, नो य पारं गमितए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्पऽखेयन्ने तंमि ठाणंमि चिट्ठइ॥ 2/3/81

मूलार्थ . हे शिष्य! जो मोक्ष के साधक है, वे इस असयमी जीवन की इच्छा नही रखते है। अत तुम जन्म-मरण के स्वरूप को जानकर सयम मार्ग मे दृढ होकर चलो।

काल—मृत्यु के आने का कोई समय नियत नही है। न जाने कब आ जाए। सब प्राणियो को जीवन प्रिय है, सभी सुख की अभिलाषा रखते है, और दुःख सबको प्रतिकूल है, सभी को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है, सभी जीवन की कामना करने वाले है, सब जीवो को जीवन प्रिय है, असयमी जीवन के आश्रित होकर द्विपद—मनुष्य, दास-दासी आदि और चतुष्पद -पशु—गो-महिषी और अश्व आदि को उन-उन कार्यो मे नियुक्त करके और इस प्रकार धन का सचय करके उस एकत्रित धन की अल्प अथवा अधिक मात्रा के उपभोग करने मे प्राणी मन-वचन और काया से आसक्त रहता है। किसी समय लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बहुत-सा धन भोगने के पश्चात् भी उसके पास शेष रह जाता है। किसी समय अन्तराय कर्म के उदय से अथवा भाग्य के क्षय हो जाने पर उस सचित धन को उसके सगे-सम्बन्धी आपस मे बांट लेते है, चोर चुरा लेते है, राजा लूट लेता है, व्यापार अथवा अन्य प्रकार से उसका विनाश हो जाता है एव घर मे आग लगने से वह दग्ध हो जाता है। इस प्रकार वह अज्ञानी जीव दूसरो के लिए अत्यन्त क्रूर कर्मो को करता हुआ उस दु.ख से मूढ होकर विकलता को प्राप्त हो जाता है। तीर्थकर देव ने ही यह प्रतिपादन किया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से रहित ये सब अन्यतीर्थी लोग, संसार समुद्र को न तो तर ही पाये है और न तरने मे समर्थ ही हैं तथा ये सब न तो तीर को—किनारे को प्राप्त हुए है और न प्राप्त करने मे समर्थ ही है। अतएव ये सब पार नही पहुँचे है और पार होने मे समर्थ भी नही है। श्रुतज्ञान को धारण करने पर भी अखेदज्ञ, अकुशल जीव सयम स्थान मे स्थित नही रहता है, अपितु मिथ्या उपदेशो को प्राप्त करके असयम स्थान में स्थित रहता है।

ध्रुवचारिणो—जो ध्रुव मे विश्वास करता है जिसकी श्रद्धा ध्रुव के प्रति है, जो ध्रुव के प्रति गति करता है और जिसकी रुचि ध्रुव मे है।

ध्रुव—स्थिरता, स्थैर्य—समिति एव गुप्ति ध्रुवता की ओर ले जाती है और इन्द्रियो के विषय अध्रुव की ओर ले जाते है।

मुनि की साधना क्या है? कैसे ध्रुवता आये, मुनि स्थैर्य का साधक है।

धर्म—ध्रुव का दूसरा अर्थ होता है धर्म, स्वभाव जो अनादि अनन्त है। यहॉ पर धर्म अर्थात् केवली की वाणी भी है और धर्म अर्थात् स्वभाव भी है। उस पर जो

चलने वाला है, उसमें जो रमने वाला है, उस पर जो आचरण करने वाला है, वह ध्रुवचारी है।

जिसकी आस्था शाश्वत की है और जो पर्याय को नही, शुद्ध द्रव्य को देखता है। शुद्ध द्रव्य जो कल भी था, आज भी है, आगे भी रहेगा। ससार के सारे पदार्थ बदलते है, सभी उत्पाद, व्यय और ध्रुव से युक्त है। पर्याय सदा बदलती है, लेकिन मूल स्वभाव ध्रुव है। ध्रुवचारी उस मूल स्वभाव को देख लेता है। स्वभाव को देखने से उसके जीवन मे जो व्यवहार आता है, आचरण आता है, वह ध्रुवाचार है।

ऐसे तो मोक्ष को भी ध्रुव कहते है। अस्तित्व की अपेक्षा से देखे तो ससार मे सब कुछ शाश्वत है। जैसे मोक्ष शाश्वत है, वैसे ही नरक, स्वर्ग सभी कुछ शाश्वत है। इनमे परिवर्तन हो सकता है, लेकिन ये नष्ट कभी नही होते। इतना अवश्य है कि मोक्ष गति मे जाने के पश्चात् पुन कोई लौटकर आता नही, इस अपेक्षा से मोक्ष को विशेष रूप से ध्रुव कह सकते है।

हमारी साधना—अध्रुव से ध्रुव की ओर जाना, जैसे सारे सम्बन्ध जिसे हम सम्बन्ध कहते है वे अध्रुव है। लेकिन एक सम्बन्ध ध्रुव है वह है मैत्री। वस्तुत मैत्री कोई सम्बन्ध नही है, वरन् सम्बन्धित होने का दृष्टिकोण है। जैसे कोई सम्बन्ध बनता है माता-पिता, भाई-बहिन इत्यादि ये सारे सम्बन्ध शरीर के है।

व्यक्ति को स्वरूप बोध हो जाने पर सभी के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है, जिस सम्बन्ध का निर्माण होता है, वह है मैत्री। स्वरूप बोध से जिस दृष्टिकोण का निर्माण होता है, वह है मैत्री।

यह सम्बन्ध बताया नही गया, अपितु स्वरूप का बोध होने पर स्वयमेव मैत्री जागती है, तुल्यभाव का जागरण होता है, प्रत्येक मे लगता है, वह मेरा ही स्वरूप है।

नावकंखंति ध्रुवचारी व्यक्ति, काक्षा नही करता। 'यह विशेष आकाक्षा की अपेक्षा सामान्य सकल्प-विकल्प हो सकता है,' क्योकि जब स्वभाव और ध्रुव को व्यक्ति जान ले तब काक्षा कैसी? काक्षा शाश्वत की नही होती, अशाश्वत् की होती है। जो था, है और रहेगा, उसकी क्या काक्षा? काक्षा उसकी हो सकती है, जो या तो अभी नहीं है अथवा अभी तो है पर आगे नही रहने वाला है, अर्थात् जो अशाश्वत है। इसलिए मोक्ष की काक्षा नहीं होती, वरन् मोक्ष की रुचि होती है।

जाईमरणं परिन्नाय · वह जन्म और मरण को परिज्ञात कर लेता है, परिपूर्ण रूप से जान लेता है। जो ध्रुव को जान लेता है, वह उत्पाद और व्यय दोनो को जान लेता है। लेकिन जो केवल उत्पाद को देखता है, वह अधिक-से-अधिक व्यय को देखता है। ध्रुव को जान भी सकता है और नही भी जान सकता। इसी प्रकार जो व्यय को देखता है, वह अधिक-से-अधिक उत्पाद को देखता है, पर जो ध्रुव को देखता है, वह उत्पाद-व्यय दोनों को जान लेता है। इसलिए जो स्वभाव को जान लेता है, वह जाई मरण—जन्म-मरण दोनो का परिज्ञान कर लेता है। इस प्रकार दोनों को जान लेता है, वह धर्म पर दृढ़ होकर आचरण कर लेता है, क्योकि हमारा मन, हमारे कर्म सस्कार सदा ही पर्याय मे आसक्त और मग्न रहते हैं। पर्याय देह की, पर्याय सकल्प और विकल्प रूप विचारो की। इसलिए साधक को ध्रुव मे दृढ़ रहना होगा। सकल्प-विकल्पो मे न उलझकर स्वभाव मे स्थिरता रखनी होगी।

नत्थि कालस्स णागमो · बीता हुआ काल पुन लौटकर आने वाला नहीं। यहाँ पर सयम की दुर्लभता बताई है। जितनी ध्रुव की आराधना कर सको, उतनी कर लेनी चाहिए, क्योकि पुन -पुन· ध्रुव मे रमण करने का अवसर नहीं मिलता।

सभी प्राणियो को सुख-साता प्रिय है। इस प्रकार सभी प्राणी मूलत ध्रुव तक पहुँचना चाहते हे, लेकिन वह सुख-साता और जीवन को, अध्रुव मे ही ढूँढते है। वस्तुत सुख-साता और जीवन कहाँ पर है? ध्रुव में है लेकिन हम कहाँ पर ढूँढते है अध्रुव मे। यही हमारा अज्ञान है।

नत्थि कालस्स णागमो · यह काल पुन लौटकर आने वाला नही है। इसीलिए कहा गया है 'खण जाण॰॰ सो पडिए' पंडित व्यक्ति क्षण को—उचित अवसर को जानकर उसका उपयोग कर लेते है, क्योकि साधना योग्य अवसर पुनः-पुन· नही आते है। जब सारे सयोग अनुकूल होते है, तब कही अनन्त जन्मो के पश्चात् साधना का अवसर आता है। इसलिए जब भी ऐसा अवसर आये, उसका उपयोग कर लेना चाहिए। उसके आगे जो स्थिति बतायी गयी है कि जो द्विपद, चतुष्पद इत्यादि प्रकार के परिग्रह को व्यक्ति एकत्रित करता है। जैसे पहले कहा था, देहासक्ति से इन्द्रियासक्ति, इन्द्रियासक्ति से विषयासक्ति को पूर्ण करने वाले, साधनो के प्रति आसक्ति।

अध्रुव क्या है? यह देह। अध्रुव अर्थात्—आज देह का सयोग है कल नहीं भी

रह सकता है। ऐसी अध्रुव देह की आसक्ति से संसार की शुरूआत होती है। इस प्रकार ससारी को अध्रुवाचारी कहते है। जिसका दृष्टिकोण अध्रुव की वृद्धि का है, जिसकी दृष्टि अध्रुव के प्रति आसक्ति की है, वह अध्रुवचारी है, ससारी है। वह अध्रुव कुछ भी हो सकता है। देह, देह से सम्बन्धित भोग-उभोग, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा इत्यादि।

ध्रुव मे चलना सयम है, अध्रुव मे चलना असयम है। या तो यो भी कह सकते है कि संयम ध्रुव है, असंयम अध्रुव है। जो अध्रुव मे आसक्त है वह सदा राग-द्वेष में उलझा रहता है। जिसकी वृत्ति ध्रुव मे रहती है, वह ध्रुव में स्थित हो जाता है। जिसकी दृष्टि ध्रुव के प्रति अभिमुख है, वह विरागी है। जो ध्रुव मे पूरी तरह स्थित हो जाता है, वह वीतरागी है। यहॉ पर जो सारी स्थिति बताई गयी है, वह अध्रुवाचारी की है।

इन्द्रियो के विषयो की पूर्ति के लिए वह साधन एकत्रित करता रहता है। व्यक्ति की यहाँ पर मूढता देखिए कि वह इतने साधन इकट्ठे कर लेता है। साधन एकत्रित करने की प्रवृत्ति इतनी महत्त्वपूर्ण और प्रमुख हो जाती है कि वह शान्ति से इनका उपभोग भी नहीं कर पाता। फिर एक दिन इनमे से कोई-न-कोई बात होती है कि या तो वह धन राजा आदि ले लेता है या चोर चोरी कर लेता है या फिर अग्नि मे दग्ध हो जाता है।

व्यक्ति की आसक्ति इतनी बढ जाती है कि उस आसक्तिवश उसे तब खयाल नहीं रहता और बिना सत्य-असत्य का खयाल रखे वह धन को एकत्रित करना चाहता है। असत्य-पूर्वक जो भी धन, जो भी सामर्थ्य आएगा वह अधिक दिन तक टिक नहीं सकता। वह अपने आप नष्ट हो जाएगा और उसके नष्ट होने पर व्यक्ति परितप्त होगा।

चारों अवस्थाओं में दुःख · भगवान ने ठीक कहा है, धन एकत्रित करने से पहले भी व्यक्ति दु खी होता है। एकत्रित करते हुए भी दु खी और एकत्रित होने पर भी दु खी और एकत्रित हुआ धन नष्ट होने पर भी दु खी होता है।

आगे बताया है, ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान ने कहा है—'अणोहतरा, अतिरगमा अपारगंमा' ये जितने भी विशेषण हैं, ये उस व्यक्ति के लिए है, जो अध्रुवचारी है,

क्योंकि तृष्णा का कोई अन्त नही है। यह तो अनत महासागर है। तब फिर पार कैसे होगा, किनारा कैसे आएगा?

यहॉ पर यह बात अध्रुवाचारी की है, अन्य तीर्थियो की नही। इसे एक रूप से आप अन्य तीर्थ भी कह सकते है।

भगवान ने तीर्थ किसे कहा? साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका जिनकी रुचि ध्रुव मे है, स्थैर्य मे है। जो समिति-गुप्ति की साधना करते हैं या उसमे रुचि है। जिसकी रुचि ध्रुव मे नही है, वह तीर्थ में भी नहीं है। जो ससार की वृद्धि के लिए, कामना की वृद्धि और पूर्ति के लिए, राग-द्वेष की वृद्धि और पूर्ति के लिए साधना भी करते है, वे अन्य तीर्थ है।

यहॉ पर लोग समझ नही पाते, भले ही व्यक्ति जिनेश्वर-देव को मानने वाला हो पर उसकी रुचि अध्रुव मे हे, तो वह अन्य तीर्थ है। परन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति जिसकी रुचि सत्य मे है, ध्रुव मे है, वह तीर्थ मे है। मूल बात रुचि किसमे है। ध्रुव मे है या अध्रुव मे है। ध्रुवाचारी साधक है। अध्रुवाचारी संसार में डूबा हुआ है।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे विषय-भोगो मे आसक्त नही रहने का उपदेश दिया है। और चौथे उद्देशक के प्रारम्भ में भोगासक्त जीवो की जो दुर्दशा होती है, उसका सजीव चित्र चित्रित करके बताया है कि उन जीवो की भोगेच्छा, विषयाभिलाषा एव ऐश्वर्य की तृष्णा तो पूरी होगी या न होगी, अर्थात् उसकी पूर्ति होने मे असदिग्धता नही है। कभी आशिक रूप से हो भी सकती है और कभी नही भी हो सकती है। अत उसकी पूर्ति हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि भोगो की आशा, तृष्णा, आकाक्षा एव अभिलाषा के शल्य की चुभन तो उसे अनवरत पीडित करती ही रहेगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेवा अणुसोयति इहमेगेसिं माणवाण ॥83॥

छाया—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते यै वा सार्द्ध संवसति त एव एकदा निजकाः पूर्व परिवदन्ति स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत् नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा त्वमपि तेषा नाल त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येक सातं भोगानेव अनुशोचन्ति इहैकेषां मानवानाम्।

पदार्थ—तओ—उस काम-भोग के सेवन से। **से**—उस कामी व्यक्ति को। **एगया**—किसी समय असाता वेदनीय कर्म के उदय से। **रोग समुप्पाया**—रोग उत्पन्न हो जाते है। **जेहिं वा सद्धिं**—जिनके साथ। **संवसइ**—रहता है। **ते एव णं**—वे ही। **नियया**—स्वजन ने ही। **पुव्वि**—पहले। **परिवयंति**—उसकी निन्दा करने

लगते है। **वा**—अथवा। **सो**—वह रोगी। **ते नियगे**—उन सम्बन्धियो की। **पच्छा**—पीछे। **परिवइज्जा**—निन्दा करता है। कभी निन्दा न भी करे तब भी। **ते**—वे सम्बन्धी। **तव**—तेरी। **ताणाए**—रक्षा करने में। **वा**—अथवा तुझे। **सरणाए**—शरण देने मे। **नाल**—समर्थ नही है, तथा। **तुमंपि**—तू भी । **तेसिं**—उनकी। **ताणाए**—रक्षा करने मे। **वा**—अथवा। **सरणाए**—शरण देने मे। **नालं**—समर्थ नही है, यह। **जाणित्तुं**—जानकर कि। **दुक्खं**—दुख और। **साय**—सुख को। **पत्तेय**—प्रत्येक प्राणी अपने कृत कर्मानुसार स्वय भोगता है, अत रोगोत्पत्ति के समय मन मे सकल्प-विकल्प एव दुर्भावना नही लानी चाहिए। परन्तु कुछ प्राणी। **भोगामेव**—भोगो का ही । **अणुसोयंति**—चिन्तन करते रहते है। **इहमेगेसिं माणवाण**—इस ससार मे कुछ ही मनुष्यो को भोग विषयक अध्यवसाय होता है।

मूलार्थ—आसक्तिपूर्वक काम-भोगो के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है, वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एव उसकी निन्दा करने लगते है और वह भी पीछे से उनकी निदा करता है। यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आए, तब भी वे सम्बन्धी उसकी रक्षा करने एव उसे शरण देने मे समर्थ नही है, और न ही उनका रक्षण करने एव उन्हे शरण देने मे वह समर्थ है।

यह जान कर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृतकर्म के अनुसार सुख-दुःख का सवेदन करता है। अत रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एव व्याकुल नही होना चाहिए, कुछ प्राणी ऐसे भी है जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगो का चितन करते रहते है, रात-दिन विषय-वासना मे ही सलग्न रहते है।

हिन्दी-विवेचन

ससार मे कुछ व्यक्ति ऐसे भी है कि जो दिन-रात विषय-भोगो मे निमज्जित रहते है। वैषेयिक जीवन को ही सुखमय मानते हैं। अतः अत्यधिक भोगो के कारण या असाता-वेदनीय कर्मोदय से उन्हें रोग उत्पन्न हो जाता है। और उस भयकर व्याधि के समय यथोचित सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था न होने से रोगी एवं परिवार के व्यक्तियों में परस्पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती है। और फलस्वरूप एक-दूसरे को

भला-बुरा भी कहने लगते है। इससे दोनो के जीवन में मनोमालिन्य बढता है और उसकी वेदना मे अभिवृद्धि होती है।

अत साधक को वेदना के समय किसी को दोष न देकर यह सोचना चाहिए कि यह वेदना मेरे अशुभ कर्म के उदय का ही फल है और इसे मुझे ही भोगना है। क्योकि कृत कर्म को भोगे बिना छुटकारा नही होता, मुक्ति नही मिलती[1]। और इस वेदना से मुझे मेरी आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नही बचा सकता है। परिवार के व्यक्ति न तो इससे मेरी रक्षा ही कर सकते हैं और न मुझे शरण ही दे सकते है और मैं भी उनकी रक्षा करने या उन्हे शरण देने में समर्थ नही हूँ। ऐसे समय मे धैर्य, सहिष्णुता एव समभाव ही सच्चे सहायक है। उन्ही के सहयोग से वेदना की अनुभूति कम हो सकती है। ऐसा सोचकर साधक को वेदना के समय भी शाति एव धैर्य रखना चाहिए।

परन्तु जिन व्यक्तियो मे ज्ञान की कमी है, वे उस समय अधीर हो उठते है। वैषयिक सुख को भोगने मे समर्थ न होने पर भी रात-दिन उसके चिन्तन मे ही सलग्न रहते है[2]। और उसे सप्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं।

भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के लिए धन-वैभव की आवश्यकता होती है। उसके बिना साधनो की प्राप्ति नही होती है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति धन को बटोरने मे कृत-अकृत सभी कार्य कर गुजरता है, फिर भी वह धन उसका सहायक नही बनता। उसका सरक्षण नहीं कर पाता। इसी सत्य को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवइअप्पा वा बहुगा वा से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं

---

1 कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन सूत्र

2 भोगा —शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयाऽभिलाषास्तानेवानुशोचयन्ति-कथमस्यामप्यवस्थाया वय भोगान् भुड्क्ष्महे? एवभूता वाऽस्माकदशाऽभूद् येन मनोज्ञा अपि विषया उपनता नोपभोगायेति। ईदृक्षश्चाध्यवसाय केषीचिदेव भवतीत्याह-'इहमेगेसि' 'इह' ससारे एकेषामनवगत्-विषयविपाकाना ब्रह्मदत्तादीना मानवानामेवभूतोऽध्यवसायो भवति, न सर्वेषा, सनत्कुमारादिना व्यभिचारात्।

महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयन्ति, अदत्ताहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुम्पन्ति नस्सइ वा से विणस्सइवा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥84॥

छाया—त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा तस्य तत्र गृद्धस्तिष्ठति भोजनाय ततस्तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्यैकदा दायादा· विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते अतः स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दु·खेन मूढो विपर्यासमुपैति।

पदार्थ—तिविहेणं—तीन करण और तीन योग से एकत्रित की हुई। **जावि**—जो कुछ भी। **से**—उसकी। **तत्थ**—वहा पर। **मत्ता**—अर्थ मात्रा। **भवइ**—होती है। **अप्पा वा बहुगा वा**—अल्प या बहुत। **तत्थ**—उस अर्थ-द्रव्य मे। **भोयणा**—उसका उपभोग करने के लिए। **से**—वह व्यक्ति। **गड्ढिए चिट्ठइ**—आसक्त बना रहता है। **तओ**—तत्पश्चात्। **से**—उसके पास। **एगया**—किसी समय। **विपरिसिट्ठं**—भोग के पश्चात् शेष बचा हुआ। **संभूयं**—प्रचुर मात्रा में। **महोवगरणं**—महान् धन। **भवई**—एकत्रित हो जाता है। **से**—उसके। **तंपि**—उस एकत्रित धन को भी। **एगया**—किसी समय। **दायाया**—सगे सम्बन्धी। **विभयंति**—परस्पर बाट लेते है। **अदत्ताहारो वा**—अथवा चोर। **से हरति**—उस धन को चुरा लेते हैं। **रायाणो वा**—राजा लोग। **से विलुम्पति**—उस धन को विभिन्न करो के रूप मे लूट लेते है। **वा**—अथवा। **से**—उसका धन। **नस्सइ**—नष्ट हो जाता है। **वा से**—या उसका धन। **विणस्सइ**—विनष्ट हो जाता है। **वा**—अथवा। **अगारदाहेण**—घर मे आग लग जाने से। **से**—उसका धन। **इज्झइ**—जल जाता है। **इय**—इस प्रकार से। **से**—वह अज्ञानी जीव। **परस्सअट्ठाए**—दूसरो के लिए। **क्रूराणि कम्माइं**—कूर कर्म। **पकुव्वमाणे**—करता हुआ। **तेण**—उस। **दुक्खेण**—दु:ख से। **मूढे**—मूढ़ बना हुआ। **विप्परियासमुवेइ**—विपरीत भाव को प्राप्त हो जाता है।

मूलार्थ—त्रिकरण और त्रियोग से एकत्रित की हुई संपत्ति की अल्प या बहुत मात्रा के उपभोग मे वह व्यक्ति आसक्त रहता है। और उपभोग करने के बाद अवशिष्ट विशाल धन राशि को जिसे उसने अपने कष्ट के समय या पुत्र आदि के लिए सग्रह करके रखा था, उसके परिजन आपस में बाट लेते हैं या विभिन्न कर लगाकर तथा अन्य किसी बहाने से राजा ले लेता है, चोर चुरा लेता है या व्यापार मे हानि होने से वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है या घर में आग लगने से जल जाती है। इस तरह उस धन का नाश हो जाता है और उसका सग्रह कर्त्ता अज्ञानी जीव दूसरो के लिए क्रूर कर्म कर के उपार्जित धन का नाश होने पर विमूढ या विक्षिप्त होकर विपरीत भाव को प्राप्त होता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य धन के लिए दूसरो का हिताहित नही देखता। वह येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने मे लगा रहता है और दिन-रात उसका सचय करता रहता है। परन्तु वह धन कभी स्थायी नही रहता। कभी परिजन उसे बाट कर खा जाते हैं, तो कभी राजा विभिन्न प्रकार के—कर लगाकर या निर्माण-योजना आदि के बहाने उससे धन ले लेता है। कभी चोर-डाकू उसे लूट ले जाते है, तो कभी व्यापार आदि में घाटा पड जाने से उसका नाश हो जाता है या कभी घर मे आग लग गई तो उसमे जलकर भस्म हो जाता है। इस तरह अनेक प्रकार से उसका ह्रास हो जाता है। परन्तु उससे आत्मा का ज़रा भी हित नही होता। इतना अवश्य है कि उसके लिए किए गए क्रूर कार्य से कर्मबन्धन हो जाता है, जिससे आत्मा ससार मे परिभ्रमण करती है और इतनी कठिनता एव पाप कार्य से प्राप्त धन के यो ही चले जाने से मन मे अत्यधिक वेदना एव सकल्प-विकल्प होता है और कभी-कभी मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है और उस मूढ अवस्था मे विपरीत आचरण करने लगता है।

इस तरह विषय-भोगो के कटु परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुषो को उसमे आसक्त नही बनना चाहिए। तो उसे क्या करना चाहिए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आसं च छंदं च विगिंच धीरे! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु, जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा,

थीभि लोए पव्वहिए, ते भो! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढ़े धम्मं नाभिजाणइ उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं, संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं॥85॥

छाया—आशां च छन्दं च विवेक्ष्व धीर! त्वमेव तच्छल्यमाहृत्य येन स्यात् तेन नो स्यात् इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः महोप्रावृत्ता:, स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः ते भो! वदन्ति एतानि आयातनानि, एतद् दुःखाय, मोहाय, माराय, नरकाय नरकतिरश्चे (नरक तिर्यग् योन्यर्थम्) सतत मूढ़ो धर्म नाभि-जानाति उदाह—वीरः अप्रमादः महामोहे अलं कुशलस्यप्रमादेन शांति मरणं संप्रेक्ष्य भिदुर-धर्म संप्रेक्ष्य नालं पश्य अलं ते (तव) एभिः।

पदार्थ—**धीरे**—हे धीर पुरुष! तू। **आसं च**—भोग आकाक्षा। **छन्दं च**—और भोगो के सकल्प को। **विगिंच**—त्याग दे। **तुमंचेव**—तू ही। **तं सल्लमाहट्टु**—उस भोगेच्छा रूप काटे को स्वीकार करके दु ख पा रहा है। **जेण सिया**—जिस धन-संपत्ति आदि साधन से भोगोपभोग प्राप्त हो सकते है। **तेण नो सिया**—उस धन से वे नहीं भी प्राप्त होते है। **जे जणा**—जो मनुष्य। **मोह पाउड़ा**—मोह से आवृत्त है। **इणमेव**—इस तत्त्व को। **नावबुज्झन्ति**—नही जानते है। **थीभि**—स्त्रियो द्वारा। **लोए**—लोक। **पव्वहिए**—दु:खित है। **ते**—वे कामी पुरुष। **वयंति**—कहते हैं। **भो**—हे मनुष्यो! **एयाइ**—ये स्त्री आदि। **आययणाइं**—भोगोपभोग के स्थान है। **से**—उनका यह कहना। **दुक्खाए**—दु:ख के लिए। **मोहाए**—मोह की अभिवृद्धि करने के लिए। **माराए**—मृत्यु के लिए। **नरगाए**—नरक के लिए। **नरग तिरिक्खाए**—नरक के पश्चात् तिर्यच गति के लिए होता है। **सययं**—निरन्तर। **मूढे**—मूढ बना हुआ जीव। **धम्मं**—धर्म को। **नाभिजाणइ**—नही जानता है। **वीरे**—वीर प्रभु ने। **उदाहु**—दृढता पूर्वक कहा है कि। **अप्पमाओ**—प्रमाद नही करना चाहिए। **महामोहो**—महा मोह की कारणभूत स्त्रियो के साथ (आसक्ति रूप) प्रमाद का सेवन नही करना चाहिए। **अलं कुसलस्स पमाएण**—बुद्धिमान व्यक्ति को प्रमाद से दूर रहना चाहिए। **संति मरणं**—शान्ति—मुक्ति और मरण ससार का। **संपेहाए**—विचार करके, तथा। **भेउरधम्मं**—इस शरीर की विनश्वरता का। **संपेहाए**—विचार करके, प्रमाद का

आसेवन नही करना चाहिए। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **नालं**—इन भोगो से तृप्ति नही हो सकती। **अलं ते एएहिं**—इन भोगो का सेवन नहीं करना चाहिए, अर्थात् इनसे सदा दूर रहना चाहिए।

मूलार्थ—हे धीर पुरुष! तू भोगों की आशा एव सकल्प-विकल्प का परित्याग कर दे। जिस धन से भोगोपभोग साधन प्राप्त किए जा सकते है, अन्तराय कर्म का उदय होने पर उसी धन से वे साधन प्राप्त नही भी हो सकते है। जो व्यक्ति मोह एव अज्ञान से आवृत्त है, वे इस बात को नही समझते है। यह लोक स्त्रियों के मोह से आवृत्त है, पीडित है। अत कामी व्यक्ति ऐसा कहते है कि स्त्रिया भोग का साधन है। परन्तु उनका यह कथन मोह के लिए है, मृत्यु के हेतु है, नरक गति मे तथा वहां से निकल कर तिर्यच गति मे जाने के लिए है।

भगवान महावीर ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि स्त्रियो को महामोह का कारण जानकर उनमें प्रमाद का सेवन न करे। और शरीर की विनश्वरता को समझकर प्रमाद से सदा दूर रहना चाहिए। हे शिष्य! तू इस बात को भली-भाति जान ले कि भोगो से आत्मा की तृप्ति नही हो सकती। अत. साधक इनसे सदा दूर रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे विषय-भोगो के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। भोग-विलास को दुःख का कारण बताया गया है। क्योकि विषय-भोग मे प्रवृत्तमान व्यक्ति की इच्छा, आकाक्षा एव तृष्णा सदा बनी रहती है। वह आकाश की तरह अनन्त है और जीवन सीमित है, इसलिए उसकी पूर्ति होना दुष्कर है। यदि कभी किसी इच्छा-आकाक्षा की कुछ सीमा तक सम्पूर्ति हो भी जाए, तब भी विषयेच्छा, भोगाभिलाषा एव पदार्थो की तृष्णा के शल्य का काटा उसके हृदय मे सदा चुभता ही रहता है। विशाल भोगोपभोग के साधनो मे भी उसे सन्तोष एव सुख की अनुभूति नही होती, अपितु कुछ न कुछ कमी खटकती रहती है, जिसे पूरा करने के लिए वह रात-दिन चिन्तित एव उदास सा रहता है। फिर भी, वे साधन, वे विषय-भोग उसकी चिन्ता को, वेदना को मिटा नही सकते। वे तो वासना की आग को और अधिक प्रज्वलित कर देते है। विषय-भोग एक तरह से प्रज्वलित आग मे मिट्टी के तेल का काम करते है। इससे तृष्णा की ज्वाला सदा बढती रहती है। अत साधक को

भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। बुद्धिमान वही है, जो तृष्णा एव आकाक्षा के शल्य को जीवन से निकाल देता है और वही अपने जीवन मे वास्तविक सुख एव आनन्द की अनुभूति करता है।

परन्तु, जो व्यक्ति अज्ञान एव मोह से आवृत्त हैं, वे ऐसा कहते है कि विषय-भोग एव भोगों के साधन स्त्री आदि सुख से स्थान हैं। पर, ज्ञानी पुरुषो की दृष्टि में ये साधन दु:ख के कारण बनते है। कामेच्छा–भोगाकाक्षा मोह कर्म के उदय से है। अत उसमे आसक्त होने से मोह कर्म का नाश न होकर और उसकी उदीरणा होती है, इससे तृष्णा एव आकाक्षा मे अभिवृद्धि होती है और उससे कर्मबन्धन होता है और परिणामस्वरूप आत्मा अनेक तरह के दु खों का सवेदन करता है। अत भोग के सभी साधन मोह को बढाने वाले है, परन्तु काम-विकार या मैथुन मोह को अधिक उत्तेजित करनेवाला है, इससे भोगेच्छा एव तृष्णा को वेग मिलता है और इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी कारण सूत्रकार ने महामोह शब्द से इसी भाव को अभिव्यक्त किया है। और यह स्पष्ट कर दिया है कि इससे तृष्णा एव वासना का उपशमन नही होता, अपितु उसका अभ्युदय होता है। अतः विषय-वासना की तृष्णा या भोगेच्छा को मोह, मृत्यु, नरक एव तिर्यच गति का कारण कहा है, ससार एव दु:ख की परम्परा को बढाने वाली बताया है। अत उसके भयावह परिणामो को देख जान कर मुमुक्षु पुरुष को सदा-सर्वदा उससे बचकर रहना चाहिए। और साधना में कभी भी प्रमाद नही करना चाहिए, यही भगवान महावीर का आदेश है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'थीभि' को व्याकरण से अनुसार 'हि' का आदेश होना चाहिए था, परन्तु आर्ष वचन होने के कारण यहा 'हि' का आदेश नही हुआ[1]। मैथुन मोह का प्रधान कारण होने के कारण महामोह शब्द से स्त्री अर्थ स्वीकार किया गया है। वृत्तिकार ने भी इसी बात की पुष्टि की है।

---

1 प्राकृत व्याकरण के नियम से 'भिस्' प्रत्यय को 'भिसोहिहिँहि (प्राकृत व्याकरण 8/3/37) इस सूत्र से हि हिँ हि, ये तीन आदेश होते है। यथा–वच्छेभि के स्थान मे वच्छेहि, वच्छेहिँ वच्छेहि तीन रूप बनते है। परन्तु यहा 'थीभि' के स्थान मे हि आदि का प्रयोग नही हुआ, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्ष वाक्य में भिस् का बिना आदेश के भी प्रयोग हो सकता है।

'संतिमरणं' अर्थात् शान्ति और मरण शब्द से मोक्ष एव ससार का अर्थ ग्रहण किया गया है। सपूर्ण कर्मो का क्षय होने पर ही आत्मा को परम शान्ति मिलती है और यह स्थिति मोक्ष मे ही सभव है, इसलिए शान्ति शब्द का तात्पर्य मोक्ष है। जिस स्थान मे प्राणी बार-बार मरण को प्राप्त होते है, उसे ससार कहते हैं। अतः मोक्ष एव ससार दोनो के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान करके साधु को प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

यदि **'संतिमरणं'** इसमें द्वन्द्व समास के स्थान पर तत्पुरुष समास करते है, तो इसका अर्थ यह होगा कि मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उपशम भाव मे प्रवृत्तमान व्यक्ति को जिस महान् फल की प्राप्ति होती है, उसका विचार करते हुए बुद्धिमान पुरुष को प्रमाद से सर्वथा दूर रहना चाहिए[1]।

भोगेच्छा जीवन को दु खमय बना देती है, इस बात को प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एवं पस्स मुणी! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचण, एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं न खिंसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्ति बेमि॥86॥

छाया—एव पश्य मुने! महद्भयं नातिपातयेत् कंचन एष वीर· प्रशंसितः, यो न निविद्यते आदानाय, न मे ददाति न कुप्येत्, स्तोकं लब्ध्वा न निन्देत्, प्रतिषिद्धः परिणमेत्, एतन्मौन समनुवायसेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मुणि—हे मुनि! **एयं पस्स**—ऐसा समझ कि। **महब्भय**—काम-भोग महाभय का कारण हैं अत.। **कंचण**—किसी प्राणी को। **नाइवाइज्जा**—पीडा नही

1 शमन शान्ति —अशेष कर्मापगमोऽतोमोक्ष एव शान्तिरिति, म्रियन्ते प्राणिन पौन पुन्येन यत्र चतुर्गतिके ससारे स मरण —ससार शान्तिश्च मरणच शान्तिमरण, समाहारद्वन्द्वस्तत् 'सप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य प्रमादवत , ससारनुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदय, स वा कुशल प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमाद न विदध्यात्! अथवा शान्त्या उपशमेन मरण-मरणावधि यावत् तिष्ठतो यत्फल भवति तत्पर्यालोच्य प्रमाद न कुर्यादिति। —आचाराग वृत्ति

पहुचानी चाहिए। **एस**—वह। **वीरे**—वीर व्यक्ति। **पसंसिए**—इन्द्रादि द्वारा प्रशसा को प्राप्त करता है। **जे**—जो। **आयाणाए**—सयम का पालन करने में। **न निव्विज्जइ**—खेद का अनुभव नहीं करता। **न मे देइ**—यह गृहस्थ मुझे नहीं देता, यह विचार कर। **न कुप्पिज्जा**—उस पर क्रोध न करे। **थोवं**—अल्प। **लद्धुं**—प्राप्त होने पर। **न खिंसए**—उस गृहस्थ की निन्दा न करे। **पडिसेहिए**—प्रतिषेध-इनकार कर देने पर। **परिणमिज्जा**—उस स्थान से वापस लौट आए। **एयं मोणं**—इस प्रकार मुनित्व-संयम की। **समणुवासिज्जासि**—सम्यक्तया आराधना करनी चाहिए। **त्ति बेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—हे मुनि। तू देख कि काम-भोग महाभय के उत्पादक है। अतः सयमी को किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिए। जो व्यक्ति सयम के परिपालन करने में किसी भी तरह खेदानुभव नहीं करता, उसकी इन्द्रादि भी प्रशसा करते है।

मुनि को कभी कोई गृहस्थ भिक्षा न दे तो उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए। और न अल्प परिमाण मे देने पर देनेवाले की निन्दा करनी चाहिए, और गृहस्थ के निषेध कर देने पर मुनि को उसके घर में खडे नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत वहां से वापस आ जाना चाहिए। इस प्रकार मुनित्व-सयम का सम्यक्तया आराधन करना चाहिए। ऐसा मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

भोग का अर्थ केवल काम-वासना एव मैथुन सेवन ही नहीं है, प्रत्युत भौतिक पदार्थो की आकाक्षा, लालसा मात्र का भोगेच्छा मे समावेश किया गया है। अत इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थो मे आसक्त होना, ममत्व भाव रखना भोग है और यह लोक कहावत प्रसिद्ध है कि **"भोग रोग का घर है।"** यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि काम-भोग महाभय के उत्पादक है। उनसे वर्तमान जीवन मे अनेक रोगो एव दु खो का सवेदन करना पडता है तथा भविष्य मे विभिन्न योनियों में अनेक कष्टों को भोगना पडता है। अस्तु आगमो का यह कथन नितान्त सत्य है—**"खणमित्त सुक्खा बहु काल दुक्खा"** अर्थात् काम-भोग क्षणिक सुख रूप प्रतीत होते है, अत· साधक को भोगो मे आसक्त नही होना चाहिए। यहां तक कि शरीर-निर्वाह के लिए

स्वीकार करने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि साधनो मे भी आसक्त नही रहना चाहिए और न इनके लिए किसी भी प्राणी को मानसिक, शाब्दिक और शारीरिक कष्ट ही पहुचाना चाहिए।

यदि मुनि किसी गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए गया, वहा उसे अपनी विधि के अनुसार आहार आदि उपलब्ध नही हुआ या गृहस्थ ने उसे आहार आदि दिया नही या किसी गृहस्थ ने उसे थोडा सा आहार दिया या किसी ने अपने घर से खाली हाथ ही लौट जाने के लिए कह दिया। इस प्रकार के अनेक विकल्पो के उपस्थित होने पर भी साधु अपने धैर्य एव उपशान्त भावना का परित्याग करके उनके सकल्प-विकल्प के जाल मे उलझ न जाए। चाहे जैसी स्थिति-परिस्थिति क्यो न उत्पन्न हो, पर साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे सदा-सर्वदा समभाव रखना चाहिए। गृहस्थ के न देने पर उस पर क्रोध नही करना चाहिए और थोडा देने पर उसकी निन्दा भी नही करनी चाहिए और उसके इनकार कर देने पर उसके घर मे नहीं ठहरना चाहिए और न दीनता के भाव प्रकट करने चाहिए। क्योकि साधु आहार आदि पदार्थो का उपभोग केवल सयम-साधना के लिए करता है, न कि पदार्थो का स्वाद चखने के लिए। अत उसे समय पर जैसा भी पदार्थ मिल जाए उसमे सन्तोष करना चाहिए और यदि कभी परिस्थिति वश पदार्थो का संयोग न मिले, तो उसे सहज ही तप का सुअवसर समझकर सन्तोष करना चाहिए। परन्तु उन पदार्थो मे आसक्त होकर साधना के विपरीत आचरण नही करना चाहिए। इस प्रकार भोगो की आसक्ति से दूर रहने वाला मुनि इन्द्रादि के द्वारा प्रशसा को प्राप्त होता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'महब्भय'** शब्द आत्मविकास की साधना मे प्रवर्त्तमान व्यक्ति के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द से यह अभिव्यक्त किया गया है कि विषय-भोग मे आसक्त व्यक्ति सदा-सर्वदा भयभीत रहते है। भौतिक शक्ति एव धन-वैभव से सपन्न होने पर भी वे निर्भयता के साथ नही घूम-फिर सकते। जितने भौतिक साधन अधिक होगे उन्हे उतना ही अधिक भय होगा। रूस और अमेरिका का उदाहरण हमारे सामने है, दोनो आज के युग की महान् भौतिक शक्ति अणु आयुधो से सपन्न होने पर एक-दूसरे से अत्यधिक भयभीत है। इससे स्पष्ट होता है कि विषय-भोग भय मे अभिवृद्धि करने वाले है। अत· उनका परित्याग करने वाला

वीर पुरुष ही निर्भय हो सकता है। उसे ससार के किसी भी कोने में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह निर्भयता का देवता स्वयं निर्भय बनकर ससार को निर्भय बनाता हुआ यत्र-तत्र-सर्वत्र शात भाव से विचरण करता है। अत साधक को विषयो की आसक्ति का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे अभिव्यक्त मुनिवृत्ति को 'मोण'—मौन शब्द से व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी मुनि न तो मन मे किसी प्रकार के सकल्प-विकल्प लाता है और न वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है। अतः मुनित्व की साधना को मौन कहा गया है—**'मुनेरिद मौनं—मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम्'** इत्यादि।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्व उद्देशक की तरह ही समझना चाहिए।

॥चतुर्थ उद्देशक समाप्त॥

अध्यात्मसार : 4

मूलम् : तओ से एगया रोग समुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव एणवं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगामेवा अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं॥ 2/4/83

मूलार्थ . आसक्तिपूर्वक काम-भोगो के आसेवन से अथवा असाता वेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। ऐसा रोगी जिनके साथ रहता है, वे सम्बन्धी उसका तिरस्कार एव उसकी निन्दा करने लगते है और वह भी पीछे से उनकी निन्दा करता है। यदि कभी ऐसी स्थिति न भी आये, तब भी वे सम्बन्धी उसकी रक्षा करने एव उसे शरण देने मे समर्थ नही है, और न ही उनका रक्षण करने एव उन्हे शरण देने में वह समर्थ है।

यह जानकर कि प्रत्येक प्राणी अपने शुभाशुभ कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख का सवेदन करता है। अत रोग आदि कष्ट के समय व्यक्ति को अधीर एव व्याकुल नही होना चाहिए। कुछ प्राणी ऐसे भी हैं, जो उस वेदना से बचने के लिए अनवरत भोगो का चिन्तन करते रहते है, रात-दिन विषय-वासना में ही सलग्न रहते है।

हर सूत्र मे पुन -पुन· जिस एक ही वात को दुहराया गया है, वह है अशरणभावना। न तो कोई तेरी रक्षा करने मे समर्थ है और न तू ही किसी की रक्षा कर सकेगा। फिर भी व्यक्ति सुख और सुरक्षा खोजता रहता है। वह समझता है कि सुरक्षा है बच्चो में, धन मे, परिवार मे, मकान इत्यादि परिग्रह एव भोग-उपभोग के साधनों मे। उसे लगता है कि घर-परिवार, धन इत्यादि है तो मै सुरक्षित हूं और यह सब नही होगा तो मेरी रक्षा कौन करेगा। इसीलिए वह धन, मकान, परिग्रह इत्यादि बनाता है। मित्र, सगे-सम्बन्धियो से अच्छे सम्बन्ध बनाता है। यह सब कुछ वह करता है सुख व सुरक्षा के लिए कि किसी भी तरह मेरा सुख बना रहे। लेकिन वह जितने सुरक्षा के

इन उपायो को करता है, उतना ही वह असुरक्षित होता है। पहले तो उसे केवल अपनी ही सुरक्षा का ध्यान था, लेकिन अब धन की सुरक्षा का भी ध्यान रखना होगा। पहले तो उसे केवल अपनी ही रक्षा करनी थी, पर अब परिवार की रक्षा की भी चिन्ता हो गयी। इस प्रकार इन सबकी चिन्ता अपनी चिन्ता बन गयी।

इस प्रकार सुख और सुरक्षा के जितने भी उपाय करते है, वो उपाय उसके दुःख और असुरक्षा की वृद्धि का कारण बनते है।

सुरक्षा के लिए मकान बनाया पर अब मकान की रक्षा कौन करेगा? जितना ही व्यक्ति सुरक्षित होना चाहता है उतना ही असुरक्षा का भाव बढता है। अत बार-बार कहते है कि कोई तेरी शरण नही, कोई तुझे सुरक्षा नही दे सकता। रक्षा और शरण तो केवल धर्म की है।

धर्म क्या है?

व्यावहारिक रूप से चार शरण, निश्चय में स्वभाव की शरण मे आ जाना।

यह सभी की समझ में नही आता और फिर अज्ञानवश वह स्वय भी उलझता है और आसपास के लोगो को भी उलझाता है। उसी उलझन से आधि-व्याधि एवं उपाधि उत्पन्न होती है। मन के रोग, शरीर के रोग तथा परिग्रह के सम्बन्ध में चिन्ता, पीडा जागती है। जब यह ज्ञान हो जाए, यह समझ आ जाए कि कोई शरण देने वाला नही है। धर्म ही शरण है। साधना ही शरण है, तब समाधि की प्राप्ति होती है।

धन, पद-प्रतिष्ठा, घर-परिवार, समाज इत्यादि की शरण मे गये, तब बाह्य शरण मे गये, तब आधि-व्याधि एव उपाधि मिलती है और यदि धर्म की शरण मे गये, तब समाधि की प्राप्ति होती है।

समाधि का अर्थ . आधि-व्याधि-उपाधि का नष्ट हो जाना नही है, अपितु इन सबके बीच मे भी आप भीतर से समाधि मे रहना। क्या इसको हम समता भी कह सकते हैं? यह समता ही है, लेकिन समाधि कहना उपयुक्त है। समाधि अर्थात् समाधान हो गया। अब कोई समस्या नही रही। सारी समस्याए वस्तुत परिस्थितियाँ है, परन्तु ऐसी परिस्थिति जो प्रतिकूल है और वह प्रतिकूल परिस्थिति जब हमें

व्याकुल बना देती है, तब उस व्याकुलता के वश सामान्य परिस्थिति समस्या का रूप धारण कर लेती है।

सारी शरण छोड दे और केवल धर्म की शरण मे आ जाए, यही साधक का लक्षण है। व्यक्ति साधक है या ससारी, यही इसका लक्षण है। एक तो है ससार और दूसरा है साधना का पथ। साधना की शुरूआत कब होती है, संसार से साधना मे छलाग कब लगती है? जब व्यक्ति की समझ मे यह आ जाए कि केवल धर्म ही शरण है। ऐसे कहने को तो सभी कहते है कि हम धर्म की शरण मे है। ऊपर से कहते हैं कि हम शरण मे है परन्तु भीतर से उनको यही लगता है कि अभी धन के बिना नहीं चल सकता, बिना परिवार एव बच्चो के मेरी सेवा कौन करेगा? बिना पद के मुझे कौन पूछेगा?

यहाँ तक कि जो साधु है, वे भी कहते है कि मेरी प्रतिष्ठा नहीं होगी तो मुझे कौन पूछेगा। कभी-कभी ऐसा विचार भी आ जाता है कि मुझे आहार कौन देगा। बिना भक्त के, बिना समाज के, बिना पद के, मै साधना कैसे कर सकता हूँ? इस विचार के कारण आज साधुओं मे इतनी विसगति है। जैसे जिनके भक्त है वैसे ही चल जाता है। उनको साधना पर विश्वास नही है। कहने के लिए वे भी कहते है कि अरिहत देव महान है, धर्म जीवन का अग है। चार ही शरण है। परन्तु उनका जीवन बताता है कि वे अरिहत और धर्म की शरण मे नही हैं। उनका जीवन तो यही दर्शाता है कि मेरा पद, मेरी प्रतिष्ठा, मेरा समाज, मेरे भक्त ही मेरी शरण है, वे ही मेरी रक्षा करेंगे। इस अज्ञानवश ऐसे साधक अनेकानेक आधि-व्याधि एव उपाधि को जन्म देते है। धर्म के नाम विसंगति एवं भ्रान्ति का पोषण करते है और अनेक बार गृहस्थ की कामना-पूर्ति के लिए अपनी साधना को भी दॉव पर लगा देते हैं।

ऐसे साधक धर्म के नाम पर बहुत बडा कलक है। इसीमे धर्म और शासन की हानि है।

व्यक्ति धर्म की शरण मे आ जाए, उसे यह समझ मे आ जाए कि धर्म ही एक मात्र शरण है, इस हेतु क्या उपाय है? सर्वप्रथम व्यक्ति को आत्मनिरीक्षण करते हुए प्रामाणिक होना चाहिए। यदि अरिहन्त देव के प्रति विश्वास नही है, मन भीतर से, धन, पद इत्यादि साधनो की शरण मे है, तब यही कहे कि मुझे विश्वास नही है,

क्योंकि भीतर से मन यही कहता है कि मेरी शरण धर्म की नही, बाह्य पदार्थो की है। तब फिर ऊपर से कहने के लिए कहना कि मै धर्म की शरण मे हूँ यह माया—कपट है।

साधना करते-करते अपने आप आन्तरिक समझ जागती है और उस आन्तरिक समझ से व्यक्ति वास्तव मे धर्म की शरण मे जाता है। बिना साधना के समझ नही आती, बिना समझ के व्यक्ति धर्म की शरण मे नही जाता और धर्म की शरण मे जाए बिना श्रेय या कल्याण की उपलब्धि नही होती। जन्म-जन्म के सस्कारवश अज्ञान बना ही रहता है।

साधना करते-करते स्वयमेव समाधान आएगा, उस समाधान से समझ जागती है। उसी समझ से व्यक्ति शरण मे जाता है। जन्म-जन्म के गहरे सस्कार बिना समझ के नहीं जाते।

समझ भी दो प्रकार से है। एक बाह्य समझ, दूसरी आन्तरिक। बाह्य समझ आने का साधन है—सत्सग, सद्वाचन इत्यादि। आन्तरिक समझ तो साधना से ही जागती है। दोनों ही जरूरी है। बाहर की समझ अकेली परिवर्तन नही ला सकती है।

संसार से छलांग

जब बाह्य शरण 'धन, वैभव, परिवार' छोड कर व्यक्ति धर्म की शरण, अरिहत और सिद्ध और साधु की शरण मे आ जाए, यह समझ उसके भीतर से जाग जाए, यही एक मार्ग है, यही एक सुरक्षा है, यही एक मेरे जीवन का आधार है।

जरा मरण वेगेण बुज्झ, माणाण पाणिण।
धम्मो दीवो पहट्ठाण, गई शरण मुत्तम॥

इस प्रकार शरण मे आने पर व्यक्ति साधक बनता है, अर्थात् श्रावक बने या साधु बने। अणुव्रत लेना भी बाह्य समझ है। वास्तविक समझ तो साधना से आएगी। क्योकि अणुव्रत लेने के बाद भी शरण की भावना न बदली हो, ऊपर से भले ही समझ रहा हो, लेकिन भीतर के मन के सस्कार उसे पुन' बाह्य पदार्थो की ओर खींचकर ले जाते हैं। यह सभी जानते है कि धन शरण नही देता, लेकिन फिर भी धन का मोह नहीं छूटता।

बाहर की समझ एक प्रेरणा बन सकती है। इससे आन्तरिक समझ हेतु भूमिका तैयार होती है।

धर्म ही शरण है, इसका अर्थ यह नही है कि धन, पद-प्रतिष्ठा उपयोगी नहीं हैं। आप धर्म की शरण में आ जाओ, उसके बाद आपके लिए जो भी जरूरी होगा, धर्म वह देगा।

यदि आपके विकास के लिए धन आवश्यक होगा तो धन मिलेगा। पद आवश्यक होगा तो पद भी मिलेगा। आप जो चाहते हैं वह नही, अपितु आपकी साधना और विकास के लिए जो जरूरी है, वह मिलेगा। इस प्रकार शरण तो धर्म की है, उसके पश्चात् जो भी आपके लिए आवश्यक है, वह मिलेगा। फिर वह धन भी हो सकता है और निर्धनता भी, मान भी हो सकता है और अपमान भी, कुछ भी हो सकता है। जो भी साधना के लिए आवश्यक है, अच्छे सयोग भी हो सकते है और कटु सयोग भी।

यदि व्यक्ति को सब कुछ एक जैसा ही मिलता रहे, तब वह भटक जाएगा। कभी ठोकर देना भी जरूरी है। धर्म ऐसे ही है जैसे माँ बच्चे का खयाल रखती है। जो भी जरूरी है, बच्चे के लिए वह करती है। लेकिन अगर बच्चा स्वच्छन्दचारी है, तब माँ कुछ करना भी चाहे तो भी नही कर सकती। वह तभी कुछ कर सकती है, जब बच्चा स्वच्छन्दता को छोड कर माँ की शरण मे आ जाए। लेकिन सभी यह नही समझ पाते। अत सभी को धर्म का मर्म नही समझ आता, क्योकि उन्हे साधना नही, सुख और सुविधा चाहिए। जब तक सुख और सुविधा मिलती है तो धर्म करते है, नहीं तो छोड देते है।

साधक का भाव क्या है? कि मै अब धर्म की शरण मे आ गया हूँ अथवा मै अब धर्म की शरण मे हूँ, तब फिर जो भी उसके जीवन मे उसके साथ रहा है वह उसके विकास के लिए है। इस प्रकार साधक जब समझपूर्वक, समाधानपूर्वक स्वीकार करता है, तब समाधि। यदि असमाधान से स्वीकार करेगा, तब उपाधि जागेगी। साधक की अपनी कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे कहा है—

'नाव कखति'—जब शरण मे आ गया, तब उसकी अपनी कोई अपेक्षा नही है। अपेक्षा का अर्थ है, जो भी मिल रहा है, वह ठीक नही है। जब आप धर्म की शरण

मे है और आपको लगता है कि जो भी मिल रहा है, वह ठीक नही है, तब यह धर्म मे सन्देह हुआ। लेकिन जब यह शरण और समर्पण हो तो जो मुझे मिल रहा है, वही उचित है। फिर जीवन से न कोई मॉग है, न कोई फरियाद। जब तक आपकी कोई-न-कोई शिकायत है, मॉग है, तब तक आप समर्पण से शरण मे नही है। मन की पुरानी आदत है पुनः-पुन सन्देह, पुन.-पुन· शिकायत बस इन्हीं सस्कारो से पार होते जाना, यही साधना है। समर्पण की अपेक्षा शरण अधिक उपयुक्त है। व्यक्ति मोहपूर्वक भी समर्पण कर सकता है। वस्तुत· वह समर्पण नही है। समर्पण अर्थात् सम्यक् अर्पण। अर्पण अर्थात् पूरी तरह दे देना। मोहपूर्वक नही सम्यक् बोध-पूर्वक, अरिहन्त, सुसाधु व सद्धर्म की धारा मे अपने आपको दे देना।

धर्म का किसी से भी विरोध नही है। न धन से, न पद से और न प्रतिष्ठा से। जो भी तुम्हारे विकास के लिए आवश्यक होगा, वह मिलेगा। हो सकता है धर्म की शरण मे आने पर धनवान-निर्धन हो जाए, तब फिर क्या कहेंगे? वह निर्धनता उसके लिए जरूरी थी। इस प्रकार जो भी आवश्यक होगा, वही होगा। वह मान भी हो सकता है और अपमान भी, कुछ भी हो सकता है।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक में भोगेच्छा के परित्याग एव किसी भी प्राणी को कष्ट नही देने का उपदेश दिया गया है। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर साधक अपने जीवन का निर्वाह कैसे करे? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक मे किया गया है।

संयम-साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है। आध्यात्मिक साधना की चरम सीमा तक पहुचने के लिए उसके माध्यम की आवश्यकता है और उसको स्वस्थ एव समाधियुक्त बनाए रखने के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या-सथारा आदि साधन भी आवश्यक है। इनमें आहार सबसे पहली आवश्यकता है। कभी मकान न मिले तो साधक जगल में वृक्ष के नीचे भी अपनी साधना में सलग्न रह सकता है। अन्य आवश्यकता का भी कभी सयोग न मिलने पर भी वह अपनी साधना को गतिमान रख सकता है, परन्तु आहार की आवश्यकता तो जिनकल्पी या स्थिवर कल्पी विशेष अभिग्रहधारी या अनभिग्रहधारी सभी को रहती है और इन सब साधनों की पूर्ति गृहस्थ लोगो से होती है, अत उसे लोक का आश्रय भी लेना पड़ता है, परन्तु आश्रय लेने का यह अर्थ नही है कि वह आहार, वस्त्र-पात्र आदि के लिए अपनी सयम वृत्ति का त्याग करके गृहस्थ की पराधीनता स्वीकार कर ले। आश्रय लेने का यहा यह अभिप्राय है कि साधक बिना स्वार्थ एव आकाक्षा के केवल सयम-साधना को गति देने के लिए गृहस्थों के यहा से निर्दोष आहार आदि की गवेषणा करे। इन साधनो को प्राप्त करते समय सयम को सदा सामने रखे।

प्रस्तुत उद्देशक मे यही बताया गया है कि साधक को किस विधि से आहार ग्रहण करना चाहिए। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तंजहा-अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं नाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए

सामासाए पायरासाए, संनिहि संनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए॥87॥

छाया—यदिदं विरूपरूपै· शस्त्रैः लोकस्य (लोकाय) कर्म समारम्भाः क्रियन्ते तद्यथा आत्मने तस्य पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुषाभ्यः ज्ञातिभ्यः धातृभ्यः राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदेशाय पृथक् प्रहेणकाय श्यामाशाय, प्रातराशाय संनिधिः संनिचयः क्रियते इहैकेषाँ मानवानां भोजनाय।

पदार्थ—विरूवरूवेहिं—विभिन्न प्रकार के। **सत्थेहिं**—शस्त्रो से। **जमिणं कम्भसमारभा**—ये पचन-पाचनादि कर्म समारभ। **लोगस्स कज्जंति**—लोगों के लिए किए जाते है। **तजहा**—जैसे कि। **अप्पणो से**—अपने लिए। **पुत्ताणं**—पुत्रो के लिए। **धूयाणं**—पुत्रियो के लिए। **सुण्हाणं**—पुत्रवधुओ के लिए। **नाईण**—जाति भाइयो के लिए। **धाईणं**—धाय माताओ के लिए। **राईण**—राजाओ के लिए। **दासाणं**—दासो के लिए। **दासीणं**—दासियो के लिए। **कम्मकराणं**—कर्मचारियो के लिए। **कम्मकरीण**—कर्मचारिणियो के लिए। **आएसाए**—अतिथियो—पाहुनो के लिए। **पुढोपहेणाए**—पुत्रादि मे पृथक्-पृथक् बाटने के लिए। **सामासाए**—सायंकालीन भोजन के लिए। **पायरासाए**—प्रातःकालीन भोजन के लिए। **संनिधि**—विनाशशील एव **संनिचय**—चिरस्थायी द्रव्यो का सग्रह। **कज्जइ**—किया जाता है। **इहं**—इस ससार मे। **एगेसिंमाणवाणं**—किन्ही मनुष्यो को। **भोयणाए**—भोजन कराने के लिए। **सनिहि सनिचओ कज्जइ**—द्रव्य का सग्रह किया जाता है।

मूलार्थ—विभिन्न शस्त्रो से पचन-पाचनादि कर्म समारभ किए जाते है। जैसे कि अपने लिए एव पुत्र-पुत्रियो, पुत्रवधुओ, जाति भाइयो, धाय माताओं, राजाओ, दास-दासियों, कर्मचारी कर्मचारिणियो तथा अतिथियो को सायकालीन एव प्रात·कालीन भोजन कराने के लिए या किन्ही मनुष्यो को भोजन कराने के लिए द्रव्य एव घृत, चीनी, अन्न आदि पदार्थो का सग्रह किया जाता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य कर्म समारभ मे क्यो प्रवृत्त होता है? इसके अनेक कारणो को सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी

है। उसका जीवन समाज एवं परिवार के साथ संबद्ध है। वह अकेला नहीं रह सकता। उसे अपने जीवन को गति-प्रगति देने के लिए दूसरों का सहारा–सहयोग भी लेना पडता है और देना भी। यह जीवन का एक साधारण नियम है कि बिना समन्वय के यह चल नहीं सकता। उसे गतिशील रखने के लिए एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। इसी सत्य को ध्यान मे रखकर आचार्य उमास्वाति ने जीव का उपकारी लक्षण बताते हुए कहा है–'परस्पर एक दूसरे का उपकार-सहयोग करना यह जीव का लक्षण है[1]।'

इसलिए अपने पारिवारिक सदस्यो एव जाति के अन्य स्नेही-संबन्धियों के लिए मनुष्य आरम्भ के कार्य मे प्रवृत्त होता है। वह क्षुधा, पिपासा आदि वेदनीय कर्मजन्य दु खो से निवृत्त होकर सुख एव शाति को प्राप्त करने के लिए विभिन्न शस्त्रो से समारम्भ करता है। मनुष्य किन प्राणियो के लिए आरम्भ मे प्रवृत्त होता है, उनका प्रस्तुत सूत्र मे निर्देश किया गया है। उसमें पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू, राजा, दास-दासी कर्मचारी-कर्मचारिणी, स्वजन-स्नेही आदि परिवार, जाति एव समाज के सभी संबन्धित व्यक्तियो का समावेश कर दिया गया है।

'लोगस्स' पद यहां चतुर्थी विभक्ति के अर्थ मे षष्टी का प्रयोग है। **'सामासाए'** और **'पायरासाए'** का अर्थ करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है–'रात्रि के पूर्व सायंकाल मे तथा मध्याह्न के पूर्व प्रात· किए जाने वाले भोजन को **'सामासाए'** और **'पायरासाए'** कहते है[2]। **'संनिधि'** और **'संन्निचय'** शब्द से क्रमशः दूध-दही आदि थोडे समय तक और चीनी, गुड, अन्न आदि अधिक समय तक स्थिर रहने वाले पदार्थो को ग्रहण किया गया है।

किसी भी सावद्य कार्य मे प्रवृत्ति करने के तीन स्तर है–1. सारभ 2. समारभ और 3. आरम्भ। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं अनष्टि पदार्थ सयोग को नष्ट करने के लिए प्राणातिपात–हिसा आदि दोषो की मन मे कल्पना करना, उनका चितन करना सारम्भ कहलाता है। अपने द्वारा चितित विचारो को साकार रूप देने के लिए

1 परस्परोपग्रहो जीवानाम्। तत्त्वार्थ सत्र 5, 21

2 सामासायत्ति श्यामा–रजनी तस्यामशन श्यामाश तदर्थ तथा पायरासाए, त्ति प्रातरशन प्रातराशस्तस्मै, कर्म्म समारम्भा क्रियन्त इति। –आचाराग वृत्ति·

तद्रूप साधनो या शस्त्रो का सग्रह करना समारम्भ है और उक्त विचारों को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए उन शस्त्रो का प्रयोग करने का नाम आरम्भ है।

इस प्रकार विभिन्न कार्यो के लिए आरम्भ-समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्तमान जीवन आठ कर्मो का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप संसार मे परिभ्रमण करता है।

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति मे सयमनिष्ठ साधु को क्या करना चाहिए? उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार लिखते है—

मूलम्—समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपन्ने आरियदंसी अयंसंधित्ति अदक्खु, से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए॥88॥

छाया—समुत्थितः अनगारः आर्यः, आर्यप्रज्ञः, आर्यदर्शी अयंसन्धिः इति अद्राक्षीत् स नाददीत् नादापयेत् (नाद्यात्) न समनुजानाति, सर्वामगन्ध परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत्।

पदार्थ—समुट्ठिए—सयम साधना मे उद्यत-सजग। **अणगारे**—मुनि। **आरिय**—आर्य—चारित्रनिष्ठ। **आरियपन्ने**—आर्य प्रज्ञा सपन्न—सम्यग्ज्ञान से युक्त। **आरियदंशी**—न्याय मार्ग का द्रष्टा। **अयसंधित्ति**—साधु समाचारी—क्रियाओ का यथाकाल परिपालक। **अदक्खु**—समय का द्रष्टा या परिज्ञाता। **से**—वह मुनि। **नाईए**—अकल्पनीय आहार न स्वय ग्रहण करे। **न इयावए**—न दूसरे मुनियों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करे। **न समणुजाणइ**—और न अकल्पनीय आहार ग्रहण करने वाले मुनि का समर्थन ही करे। **सव्वामगंधं**—समस्त आधाकर्म आदि दोष युक्त आहार को। **परिन्नाय**—ज्ञपरिज्ञा से जानकर एव प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। **निरामगंधो**—समस्त दोषो से रहित आहार को ग्रहण करे और। **परिव्वए**—सयम-साधना का सम्यक्तया पालन करे।

मूलार्थ—सयम-साधना में प्रवर्त्तमान अनगार, जो कि आर्य है, आर्य प्रज्ञावान है, आर्यदर्शी—न्याय मार्ग का द्रष्टा है, यथासमय अनुष्ठान संयम का आचरण करने वाला है, वह न स्वय दोषयुक्त आहार ग्रहण करे, न दूसरे मुनि को दोषयुक्त आहार

स्वीकार करने के लिए कहे और न दोष युक्त आहार लेने वाले का समर्थन ही करे। परन्तु सदा-सर्वदा निर्दोष आहार को स्वीकार करके भाव पूर्वक सयम-साधना मे सलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे संयम-मार्ग में प्रवर्त्तमान अनगार को निर्दोष आहार की गवेषणा करने एव संयम-मार्ग की क्रियाओ के परिपालन करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। और साधक को इस बात के लिए सावधान किया गया है कि वह त्रि-करण और त्रि-योग से सदोष आहार का त्याग करके शुद्ध सयम मे प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'समुट्ठिए'** शब्द का अर्थ है—सम्यक्तया उत्थित अर्थात् सम्यक् प्रकार से सयममार्ग मे प्रवृत्ति करने वाला साधक। संयममार्ग मे प्रवर्त्तमान होकर जिस मुनि ने घर-परिवार एव धन-वैभव आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसे अनगार कहते हैं। आर्य वह है—जिसने त्यागने योग्य धर्म—अधर्म का त्याग कर दिया है और श्रुत के अध्ययन से जिसकी बुद्धि शुद्ध एव निर्मल हो गई है, उसे आर्यप्रज्ञ कहते है। सत्य एव न्याय मार्ग के द्रष्टा को आर्यदर्शी कहते है। **'अयसंधिति'** का तात्पर्य है—साधु जीवन की समस्त क्रियाओ को यथाविधि एव यथासमय अर्थात् जिनके लिए आगम में जिस उपाय एव समय का विधान किया है—तद्रूप उसका आचरण करने वाला।[1]

'आमगन्धं' शब्द का अशुद्ध एव आधाकर्म आदि दोष अर्थ किया गया है। **'आम'** शब्द प्राय सभी भारतीय परम्पराओ मे प्रयुक्त हुआ है। वैदिक ग्रथो मे यह शब्द अपक्व अन्न आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है और पालि ग्रथो मे इसका पाप के अर्थ में प्रयोग किया गया है, शारीरिक रोग की भाति पाप भी आध्यात्मिक रोग है। इस अपेक्षा से **'निराम'** का अर्थ होगा—निष्पाप, क्लेश रहित और **'आमगन्धं'** का अर्थ होगा पाप की गन्ध। किन्तु टीकाकार ने प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'आमगन्ध'** का

---

1 अयसधीति—सन्धान—सन्धीयते वाऽसाविति सन्धि , अय सन्धिर्यस्य साधो रसावर्यसन्धि. छान्दसत्वाद्विभक्तरलुगित्य- सन्धि —यथाकालमनुष्ठानविधियी, यो यत्र वर्तमान काल कर्त्तव्यतयोपरिस्थितस्तत्करणतया तमेव सन्धत इति।

—आचाराग वृत्ति।

अर्थ—आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार किया है। अत· समस्त दोषो से रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करके सयम साधना में संलग्न रहना ही साधु का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अदिस्समाणे कयविक्कयेसु, से ण किणे न किण्णावए-किणंतं न समणुजाणइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालाणुट्ठाई अपडिण्णे॥89॥

छाया—अदृश्यमानः क्रयविक्रयौ स न क्रीणीयात् न क्रापयेत् क्रीणन्तमपि न समुनजानीयात् स भिक्षु· कालज्ञः बलज्ञः मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञ· क्षणज्ञः विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञः भावज्ञः परिग्रहममम्मीकुर्बन् (अस्वीकुर्वन्) कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञः।

पदार्थ—कय विक्कयेसु—खरीदने और बेचने मे। **अदिस्समाणे**—अदृश्यमान् अर्थात् न क्रय-विक्रय करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ। **से**—वह भिक्षु। **ण किणे**—धर्मोपकरणादि न खरीदे। **ण किणावए**—न अन्य से मोल मगवाये। **किणंतं**—खरीद रहे व्यक्ति का। **न समणुजाणइ**—अनुमोदन भी न करे। **से भिक्खू**—वह भिक्षु। **कालन्ने**—समय का ज्ञाता। **बालन्ने**—आत्मबल का ज्ञाता। **मायन्ने**—अहारादि के प्रमाण का जानकार। **खेयन्ने**—अभ्यास को जानने वाला या ससार के पर्यटन के श्रम को जानने वाला। **खणयन्ने**—अवसर का जानकार। **विणयन्ने**—विनय के स्वरूप को जानने वाला। **ससमय परसमयन्ने**—स्वमत और परमत के स्वरूप का परिज्ञाता। **भावन्ने**—दाता और श्रोताओ के भाव को जानने वाला। **परिग्गहं**—परिग्रह को। **अममायमाणे**—न स्वीकार करता हुआ। **कालाणुट्ठाई**—यथासमय क्रियानुष्ठान करनेवाला। **अपडिन्ने**—दुष्ट प्रतिज्ञा से रहित, तथा निदानादि कर्म न करने वाला।

मूलार्थ—स्वय क्रय-विक्रय कार्य को नही करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वय वस्तु खरीदे और न दूसरो से मोल मगाये तथा मूल्य

से खरीदने वाले का अनुमोदन भी न करे। वह भिक्षु काल-समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का, ससार मे परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनय का ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का दाता और श्रोताओ के भाव का परिज्ञाता हो और यथासमय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रह का त्यागी एवं दुराग्रह से रहित अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञान करने वाला हो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में साधु-वृत्ति का विवेचन किया गया है। साधु परिग्रह—धन वैभव, मकान, परिवार आदि का सर्वथा त्यागी होता है, अत· वह क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति मे प्रवृत्त नही होता। क्रय-शक्ति की प्रवृत्ति द्रव्य के माध्यम से होती है और मुनि द्रव्य का त्यागी होता है। इसीलिए वह अपने उपयोग मे आने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि किसी भी पदार्थ को न स्वय खरीदता है और न किसी व्यक्ति को खरीदने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए खरीद कर लाई वस्तु को वह स्वीकार भी नही करता है। **'से न किणे....'** इत्यादि पाठ इस बात का ससूचक है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु अपनी सयम-साधना मे आवश्यक उपकरण आदि को न स्वय खरीदे, न अन्य व्यक्ति को खरीदने के लिए उपदेश दे और न खरीदते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन ही करे।

पूर्व सूत्र मे **'निरामगन्धो परिव्वए'** पाठ मे प्रयुक्त **'निराम और गन्ध'** शब्द हनन एव पचन आदि क्रिया से होने वाली हिंसा का त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का उपदेश दिया है और प्रस्तुत सूत्र मे क्रय-विक्रय के द्वारा होने वाले दोष का सर्वथा त्रि-करण और त्रियोग से त्याग करने का निर्देश किया है। जैसे आधाकर्म आदि कार्य मे हिसा होती है, उसी प्रकार क्रय-विक्रय की क्रिया भी हिंसा आदि दोष का कारण है। क्योंकि क्रय-विक्रय मे पैसे की, धन की आवश्यकता रहती है और पैसे की प्राप्ति हिसा आदि दोषो के बिना सभव नही है।

अत हिसा आदि दोषो के सर्वथा त्यागी मुनि के लिए आधाकर्म एव क्रय आदि दोषो से युक्त आहार, वस्त्र, पात्र, मकान आदि ग्रहण करने योग्य नहीं है। साधु को पूर्णतया शुद्ध, एषणीय एव निर्दोष आहार की गवेषणा करनी चाहिए और तद्रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

निर्दोष संयम का परिपालन करने वाला साधु कैसा होता है, इसका वर्णन 'से भिक्खू कालन्ने....' आदि पदो में किया है। वह काल—समय का, आत्म-शक्ति का[1], आहार आदि के परिमाण का परिज्ञाता होता है और **'खेयन्ने'** अर्थात् खेदज्ञ होता हे। खेद अभ्यास को भी कहते है[2]। अत' अभ्यास के द्वारा पदार्थो का ज्ञाता, ससार पर्यटन एव क्षेत्र को भी खेद कहते है। इस दृष्टि से खेदज्ञ का अर्थ होगा—संसार परिभ्रमण के लिए किए जाने वाले श्रम को एवं क्षेत्र के स्वरूप को जानने वाला। **'खणयन्ने'** अर्थात् भिक्षा का एव अन्य सयम क्रियाओं के समय को जानने वाला। प्रत्येक व्यक्ति के आतरिक भावो का परिज्ञाता और स्व-परमत का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिए। जो साधु स्व-परमत का ज्ञाता नही होगा, वह अन्य मतावलम्बी व्यक्तियो द्वारा या किसी भी व्यक्ति द्वारा पूछे गए प्रश्नो का उत्तर भली-भाति नही दे सकेगा।

'अपडिन्ने' का अर्थ है—कषाय के वश किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा न करने वाला। क्योकि कषायों के वेग एव आवेश के समय विवेक दब जाता है, अत ऐसी अविवेक की स्थिति मे की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती हे। जैसे टीका मे उल्लेख आता है कि स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों को यन्त्र मे पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश मे नगर, राजा एव पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग मे बाहुबली ने अपने से पहले दीक्षित हुए लघु भ्राताओ को वन्दन नही करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना, अर्थात् निदानपूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओ से आत्मा स्वय पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अत. सयमनिष्ठ मुनि को कषाय वश कोई प्रतिज्ञा नही करनी चाहिए। उसे विवेकपूर्वक सयम-साधना मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रतिज्ञा का जो निषेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि प्रतिज्ञा मात्र का ही। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 बालन्ने, पद मे छन्द के कारण दीर्घता की गई है।

2 खेद अभ्यासस्तेन जानाति खेदज्ञ ।

मूलम्—दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंच्छणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा॥90॥

छाया—द्विधा छित्त्वा नियाति वस्त्रं, पतद्ग्रहं, कम्बलं पादपुंछनम्, अवग्रहणं च कटासनमेतेषु चैव जानीयात्।

पदार्थ—दुहओ—राग और द्वेष से जो प्रतिज्ञा की हो उसका। **छेत्ता**—छेदन करके। **नियाइ**—जो मोक्ष पथ पर गतिशील है, उन्हे क्या करना चाहिए? **वत्थं**—वस्त्र। **पडिग्गहं**—पात्र। **कम्बलं**—कम्बल। **पायंपुच्छण**—रजोहरण। च—और। **उग्गहणं**—उपाश्रय आदि स्थान। **कडासण**—कटासन—सस्तारक और आसन बिस्तर आदि। च—समुच्चय अर्थ मे। **एव**—अवधारणा अर्थ मे। **एएसु**—जो गृहस्थ साधु के लिए आरम्भ करके इन उपकरणो को देते है, उसे। **जाणिज्जा**—भली-भांति जाने अर्थात् सदोष उपकरणो का त्याग करके निर्दोष उपकरणो को ही स्वीकार करे।

मूलार्थ—राग-द्वेष युक्त की गई प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थो के लिए जो गृहस्थ आरम्भ करते है, उसे भली-भांति जाने और उसमे सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थो को स्वीकार करे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे जो अप्रतिज्ञा अर्थात् प्रतिज्ञा नही करने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रकार ने पूर्व सूत्र मे प्रतिज्ञा मात्र का निपेध नही किया है। उनका अभिप्राय राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का परित्याग करने से है। यह बात प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाती है कि मुनि राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का छेदन करके वस्त्र-पात्र आदि निर्दोष पदार्थो को ग्रहण करे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आहार, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले अभिग्रहो का त्याग करने को नहीं कहा है, परन्तु यह कहा गया है कि राग-द्वेष या निदानपूर्वक कोई अभिग्रह—प्रतिज्ञा न करे। क्योकि राग-द्वेष से परिणामो मे विशुद्धता नही रहती और परिणामो एव विचारों का दूषित प्रवाह उस प्रतिज्ञा को स्पर्श किए बिना नही रहता है। अत दोष युक्त भावो से की गई प्रतिज्ञा मे भी अनेक

दोषों का प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। जैसे मकान के चारो ओर लगी हुई आग की ज्वाला मे अपने मकान का आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहना असम्भव है। उसी प्रकार जिस साधक के मन मे राग-द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित है, उस समय की गई विशुद्ध प्रतिज्ञा भी उस आग से निर्लिप्त नही रह सकती, उस पर उसका प्रभाव पडे बिना नही रहता। अतः साधक को चाहिए कि वह राग-द्वेष की धारा का छेदन करे। यदि कभी राग-द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठी हो तो पहले उसे उपशान्त करे, उसके बाद शान्त मन से प्रतिज्ञा धारण करे।

इससे स्पष्ट हुआ कि साधु राग-द्वेष का परित्याग करके सयम में प्रवृत्ति करे। इससे उसके मन मे चचलता नहीं रहेगी और दृष्टि मे धूधलापन एव विकार नही रहेगा। इससे लाभ यह होगा कि वह अपनी की गई प्रतिज्ञा तथा जीवन में और की जाने वाली प्रतिज्ञाओ का भली-भाति परिपालन कर सकेगा। उस साधु की प्रतिज्ञा है कि वह किसी भी प्रकार के दोष—हिसा आदि का सेवन न करे और न उस के निमित किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ किया जाए। इस प्रतिज्ञा का पालन राग-द्वेष का छेदन कर के ही किया जा सकता है। क्योकि साधना मे सहायकभूत वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है और उनके लिए गृहस्थ अनेक प्रकार के दोष लगाकर भी साधु को दे सकता है। यदि साधु के मन मे राग-द्वेष है, या यों कहिए कि पात्र आदि देने वाले गृहस्थ के प्रति अनुराग है, तो वह अपने साधना पथ से फिसल जाएगा और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर सदोष—निर्दोष की जाच किए बिना ही उन उपकरणो को ले लेगा। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे साधक को यह आदेश देते हुए कहा है कि वह राग-द्वेष का छेदन करके वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण; आसन आदि के दोषो का परिज्ञान करे, यह देखे कि ये साधन गृहस्थ के यहा किस प्रयोजन से आए है। वह अपने उपभोग के लिए इन्हे लाया है या मेरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए, इसका सम्यक्तया परीक्षण करे। परीक्षण के बाद यदि वे साधन सदोष प्रतीत हो तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनो—उपकरणो की गवेषणा करे। इससे आहार-एषणा, वस्त्र-एषणा आदि का भी स्पष्ट निर्देष किया गया है।

'उग्गहणं—अवग्रहणं' शब्द का अर्थ प्रत्येक पदार्थ को आज्ञा से ग्रहण करने का है। उसके 5 भेद किए गए है—

1 देवेन्द्र अवग्रह, 2. राजअवग्रह, 3. गृहपतिअवग्रह, 4 शय्यातर अवग्रह और 5. साधर्मिक अवग्रह। इनमे प्रथम अवग्रह को छोड़कर शेष चारो अवग्रह स्पष्ट है। देवेन्द्र अवग्रह जरा अस्पष्ट है। कुछ लोग सोचते होंगे कि देवेन्द्र की आज्ञा कैसे ली जाती है और वह आज्ञा कैसे देता होगा? भगवती सूत्र शतक 16 उद्देशक 1 में वर्णन आता है कि एक बार शक्रेन्द्र ने भगवान महावीर से कहा था कि मैं आपके साधुओं को पृथ्वी पर पड़े हुए तृण-काष्ठ आदि ग्रहण करने की आज्ञा देता हूँ। देवेन्द्रअवग्रह का यही अभिप्राय है और इस पर से ही यह परम्परा है कि जगल आदि मे जहा कोई व्यक्ति नही होता है; वहा तृण-ककर आदि लेने की आवश्यकता होती है, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा लेते है।

'कडासणं-कटासनं' पद मे प्रयुक्त **'कट'** शब्द से सस्तारक और 'आसन' शब्द से शय्या; मकान आदि ग्रहण किया है। अतः वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, शय्या—सस्तारक आदि की सदोषता-निर्दोषता का भली-भॉति परिज्ञान करे और उसमें सदोष का त्याग करके निर्दोष पदार्थो को स्वीकार करे।

यह सत्य है कि जीवन-निर्वाह के लिए निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने का आदेश दिया गया है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि निर्दोष पदार्थ होने से वह चाहे जितना ग्रहण कर ले। उसमे भी मर्यादा है, परिमाण है। साधु अपने परिमाण से अधिक आहार को ग्रहण नहीं करे। इस वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा, बहुंपि लद्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा॥91॥

छाया—लब्धे आहारे अनगार· मात्रा जानीयात् तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितं, लाभः इति न माद्येत् (मद न विदध्यात्) अलाभः इति न शोचयेत् बहु अपि लब्ध्वा न निहेत् (न संनिधिं कुर्यात्)। परिग्रहात् आत्मानं अपष्वष्केत्।

पदार्थ—लद्धे आहारे—आहार के प्राप्त होने पर। **अणगारो**—अनगार, मुनि। **मायं जाणिज्जा**—मात्रा-परिमाण को जाने। **से भगवया**—उस भगवान ने। **जहेयं**—जैसा कि। **पवेइय**—प्रतिपादन किया है कि। **लाभत्ति**—मुझे आहार आदि का लाभ हुआ

है, ऐसा जानकर। न **मज्जिज्जा**–अभिमान न करे और। **अलाभुत्ति**–मुझे आहार आदि की प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा समझकर। **न सोइज्जा**–शोक या खेद न करे और। **बहुपि लद्धुं**–बहुत मिलने पर। **न निहे**–संग्रह न करे अर्थात्–मर्यादित काल से अधिक समय तक प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक और रात्रि मे सचय करके नही रखे, इस तरह। **परिग्गह**–परिग्रह से। **अप्पाणं**–अपनी आत्मा का। **अवसक्किज्जा**–पीछे हटाय।

मूलार्थ–आहार के प्राप्त होने पर मुनि उसके परिमाण को जाने और भगवान ने जिस प्रकार प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार आचरण करे। अर्थात् आहार की प्राप्ति होने पर गर्व एव अभिमान नही करे और न मिलने पर खेद या शोक न करे। अधिक आहार मिलने पर उसे मर्यादा से अधिक समय तक–प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार-पानी चतुर्थ प्रहर तक नही रखे और दिन मे लाया हुआ आहार रात्रि में सग्रह करके नही रखे। अपने आपको परिग्रह से दूर रखे।

हिन्दी-विवेचन

आहार आदि पदार्थ लेते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नही है, अपितु परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए। क्योकि बिना परिमाण को जाने पात्र भर लेने से सयम के स्थान मे असयम का पोषण हो जाता है। यदि परिमाण से अधिक आहार ले लिया है, तो उस गृहस्थ को अपने एव अपने परिवार के लिए फिर से आरम्भ करना पड़ेगा। दूसरे अर्थ यह है कि अपने आहार की मात्रा का ज्ञाता हो। शरीर-निर्वाह के लिए जितने आहार की आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। जिसे अपना आहार के परिमाण का ज्ञान नही है, तो अधिक आहार आ जाने से, वह खा नही सकेगा। इससे अयतना होगी और यदि कभी खा लिया तो मर्यादा से अधिक आहार करने के कारण उसे आलस्य–प्रमाद आएगा या वह बीमार हो जाएगा, जिसके कारण वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्यक्तया साधना नही कर सकेगा। इसलिए मुनि को गृहस्थ के घर की स्थिति-परिस्थिति एव अपने आहार की आवश्यकता का परिज्ञान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगवान की यह आज्ञा है कि आहार उपलब्ध हो या न हो, दोनो अवस्थाओ मे मुनि को समभाव रखना चाहिए। आहार के मिलने पर मुनि को

गर्व नहीं करना चाहिए और न मिलने पर खेद नही करना चाहिए और अधिक आहार प्राप्त हो जाने पर उसे मर्यादित काल से अर्थात् प्रथम प्रहर मे लाया हुआ चतुर्थ प्रहर तक नही रखना चाहिए और आगामी दिन मे खाने की अभिलाषा से रात को भी सग्रह करके नही रखना चाहिए। इससे लालसा एव तृष्णा की अभिवृद्धि होती है और तृष्णा, आसक्ति या लालसा को ही परिग्रह कहा गया है। अत साधक को परिग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। आहार आदि का सग्रह करके नही रखना चाहिए।

इन वस्त्र आदि पदार्थो पर आसक्ति रखने से परिग्रह का दोष लगता है। इसलिए मुनि को वस्त्र आदि किसी पदार्थ पर मूर्छा या आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसी बात का आदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अन्नहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले नोवलिंपिज्जासि त्तिबेमि॥92॥

छाया—अन्यथा पश्यक· परिहरेत् एष मार्ग आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्रकुशल· नोपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ—ण—वाक्यालकारार्थ मे प्रयुक्त हुआ है। **अन्नहा**—अन्य प्रकार से। **पासए**—देखता हुआ। **परिहरिज्जा**—परिग्रह को दूर करे। **एस**—यह। **मग्गो**—मार्ग। **आयरिएहिं**—आर्य तीर्थकरो द्वारा। **पवेइए**—प्रतिपादित है। **जहित्थ**—जो यहा धर्म सामग्री प्राप्त है, उसमे। **कुसले**—कुशल तत्त्वो का परिज्ञाता। **नोबलिंपिज्जासि**—अपनी आत्मा पापकर्म से लिप्त न करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—साधु धर्मोपकरणो को अन्यथा बुद्धि से देखे, अर्थात् उनको सयम पालन का साधन समझे, किन्तु उनमे ममत्व बुद्धि न रखे, विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त रीति से सयमपालन करे, जिससे उसे पापकर्म बन्ध न हो, प्रत्युत कर्मो की निर्जरा होकर मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति हो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह का स्पष्ट अर्थ व्यक्त किया गया है। यह बताया गया है

कि केवल वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ परिग्रह नही है। उनमे आसक्ति रखना परिग्रह है। अत कुशल साधक को परिग्रह का त्याग करके अपनी आत्मा को पापकर्मो से सर्वथा लिप्त नही होने देना चाहिए।

'अन्नहा पासए परिहरिज्जा' का अर्थ है कि अन्य प्रकार से देखता हुआ परिग्रह का त्याग करे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गृहस्थ, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या आदि साधनो को सुखरूप समझकर उनमे आसक्त रहते है और रात-दिन उनका सग्रह करने मे सलग्न रहते है, परन्तु मुनि की दृष्टि इससे भिन्न होती है। वह साधनो को, उपकरणो को गृहस्थ की तरह सुखमय समझकर नही स्वीकार करता, अपितु सयम साधना को गतिशील बनाने के लिए उन्हे सहायक के रूप मे स्वीकार करता, इसलिए वह उनमे आसक्त नही होता और न इस भाव से वस्त्र आदि को ग्रहण करता है कि ये साधन सुखरूप है। समय पर जैसे भी साधारण वस्त्र-पात्र मिल जाते है, उसी मे संतोष मानता हुआ समभाव से साधना मे सलग्न रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र-पात्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं है। दशवैकालिक सूत्र मे भी कहा है कि वस्त्र आदि उपकरण परिग्रह नही है, अपितु उन पर मुर्छा रखना परिग्रह है, ऐसा भगवान ने कहा है[1]। आचार्य उमास्वाति ने भी मूर्छा—ममत्व रखने की भावना को परिग्रह कहा है[2]।

साधक साधना काल मे उपकरणो का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। उसे संयम मे प्रवृत्त होने के लिए वस्त्र, पात्र, तृण-घास, फलक, मकान आदि की आवश्यकता होती है। इन सब साधनो का सर्वथा त्याग तो 14वे गुणस्थान मे ही सभव हो सकता है, जहा पहुचकर साधक समस्त कर्मो एव कर्मजन्य मन-वचन एव शरीर का भी त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक साधक को भी वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपकरणो का आश्रय लेना पडता है। इसलिए सत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र मे यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्त्र-पात्र आदि रखना

---

1 न सो परिग्गहो वुत्तो, नाय पुत्तेण ताइणा,
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा॥ —दशवैकालिक, 6, 21

2 मूर्छा परिग्रह·। —तत्त्वार्थ सूत्र 7, 17

परिग्रह नहीं है, परिग्रह है—उसमे राग-द्वेष एव ममत्व भाव रखा। अत भगवान की यह आज्ञा है कि साधक उपकरणों में आसक्ति न रखे। इस बात को सूत्रकार ने **'एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए'** इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया है कि उपर्युक्त मार्ग आर्यपुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य का अर्थ तीर्थंकर किया गया है।

अत. विचारशील व्यक्ति को आर्य द्वारा प्ररूपित मार्ग पर निर्द्वद भाव से गतिशील होना चाहिए और अपने आपको समस्त पापकर्मो से सदा अलिप्त रखना चाहिए। यहा उद्देशक के मध्य मे **'त्तिबेमि'** का प्रयोग अधिकार की समाप्ति के लिए हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र मे परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। परिग्रह का त्याग तभी सभव है, जबकि लालसा-वासना एव आकांक्षा का त्याग किया जाएगा। अत सूत्रकार आगामी सूत्र मे काम-वासना के स्वरूप को वताते हुए कहते है—

मूलम्—कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ परितप्पइ॥93॥

छाया—कामाः दुरितक्रमाः जीवित दुष्प्रतिबृंहणीयं कामकामी खलु अयं पुरुषः स शोचते, खिद्यते तेपते परितप्यते।

पदार्थ—**कामा**—काम-भोग। **दुरितकम्मा-दुरितक्रम**—छोडने कठिन है। **जीवियं**—जीवन। **दुप्पडिवूहग**—वृद्धि नहीं पा सकता, इसलिए। **खलु**—निश्चय से। **कामकामी**—काम-भोगो का इच्छुक। **अय पुरिसे**—यह पुरुष अनेक दु खो का सवेदन करता है जैसे। **से**—वह कामी व्यक्ति। **सोयइ**—शोक करता है। **जूरइ**—मन मे खेद मानता है। **तिप्पइ**—रुदन करता है। **परितप्पइ**—परिताप को प्राप्त करता है, अर्थात् सब तरह से पश्चात्ताप करता है।

मूलार्थ—काम-भोगो का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षीण होता है, उसे बढाया नही जा सकता है, अत कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है, खेद करता है, रोता है, और सब प्रकार से पश्चात्ताप करता है।

हिन्दी-विवेचन

जीवन मे अन्य विकारो की अपेक्षा काम को सबसे बलशाली शत्रु माना है। उस पर विजय पाना बहुत ही कठिन है। इसी कारण सूत्रकार ने इसे **'दुरितकम्मा'** कहा है, अर्थात् इसे परास्त करना दुष्कर है। साधारण मनुष्य तो क्या, कभी कभी महान् साधक भी इसके प्रहार से विचलित हो उठते है, उसके सामने नतमस्तक हो जाते है।

काम के दो भेद है—1. इच्छा-वासना रूप काम और 2. मैथुन सेवन रूप काम। दोनो प्रकार के काम का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य, रति आदि से इच्छा आकाक्षा एव वासना उद्बुद्ध होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अत काम-भोग मोहनीय कर्मजन्य है और जब तक मोह कर्म का सद्भाव रहता है, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर सकना कठिन है। इसलिए सूत्रकार ने इसे जीतना दुष्कर कहा है। क्योंकि मोह कर्म को सब कर्मो का राजा माना गया है। इसलिए घातक कर्मो का क्षय करने वाले सर्वज्ञ सबसे पहले मोह कर्म का ही नाश करते है। क्योंकि राजा को परास्त करने पर शेष शत्रु तो स्वय ही पराजित हो जाते है, फिर उनका नाश करने मे देर नही लगती, परन्तु राजा को या मोह कर्म को जीतना आसान काम नही है। यह इतना भयकर है कि बडे-बड़े योद्धाओ के दांत खट्टे कर देता है। इसलिए साधक को इस पर विजय पाने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। अपने मन-वचन एव शरीर को वासना की ओर प्रवृत्त नही होने देना चाहिए।

वासना एक ऐसी भूख है, जो कभी शात नही होती। काम-भोग को आग कहा गया है और आग ईधन डालने पर शात नहीं, अपितु अधिक प्रज्वलित होती है। यही बात विषय-वासना की है। यह पदार्थो के भोगोपभोग से शात नही होती, अपितु अधिक उग्र बनती जाती है। हम सदा देखते है कि एक इच्छा पूरी भी नही हो पाती कि दूसरी इच्छा जाग उठती है। उसके समाप्त होते, न होते तीसरी, चौथी आदि जागती रहती है, उनका कभी भी अन्त नहीं आता। इसलिए मानव को कभी भी सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। यदि कभी भाग्य से इच्छाए पूरी भी हो जाए, तब भी मनुष्य सुख को नही पा सकता। क्योकि आखिर यह जीवन भी तो सीमित है और वासना असीम है, अनन्त है, और उसकी अभिवृद्धि के साथ-साथ जीवन को बढ़ाया

नहीं जा सकता। इसलिए वासना, इच्छा एव आकाक्षा मन मे ही रह जाती है और मानव आगे की यात्रा के लिए चल पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वासना की आग मनुष्य को सदा जलाती रहती है और उसमे प्रज्वलित मनुष्य विषय-वासना की पूर्ति न हो सकने के कारण उसके लिए चिन्ता-शोक करता है, मन मे खेद करता है और रोने लगता है। इस प्रकार वासना के ताप से सदा सन्तप्त रहता है।

इसलिए साधक को प्रमाद का त्याग करके सदा विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। क्योकि जो व्यक्ति काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर विषय-भोगो मे नही फॅसता, वह सदा सुखी रहता है और पूर्ण सुख-शाति को प्राप्त करता है। इसी वात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पससिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइ पंडिए पडिलेहाए॥94॥

छाया—आयतचक्षुः लोकविदर्शी (लोकं विपश्यति) लोकस्याधो भागं जानाति ऊर्ध्व भाग जानाति तिर्यग्भागं जानाति गृद्धो लोकः अनुपरिवर्तमानः सन्धिं विदित्वा इहमर्त्येषु एष वीर· प्रशंसित यो बद्धान् प्रतिमोचयति यथा अन्तस्तथा बहिस्तयथा बहि थान्त·, अन्तेऽन्ते पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत।

पदार्थ—आययचक्खू—दीर्घदर्शी। **लोगविपस्सी**—लोक के स्वरूप को जानने वाला। **लोगस्स**—लोक के। **अहोभाग**—अधो भाग को। **जाणइ**—जानता है। **उड्ढभागं**—ऊर्ध्व भाग को। **जाणइ**—जानता है। **तिरियं भाग**—तिर्यग् भाग को। **जाणइ**—जानता है। **गड्ढिए लोए**—प्रमादी लोग काम भोगो मे मूर्च्छित है। **अणुपरियट्टमाणे**—ससार चक्र मे परिभ्रमण करने वाला। **इह मच्चिएहि**—इस मनुष्य लोक मे। **संधिं विइत्ता**—ज्ञानादि के प्राप्त करने का अवसर जानकर, जो काम-भोगो का परित्याग करता है। **एस वीरे**—वही वीर है। **पसंसिए**—वही प्रशसा के योग्य है।

जो बद्धे—जो बंधे हुओं को। **पडिमोयए**—बन्धनों से मुक्त करता है। **जहा**—जैसे। **अन्तो**—अन्दर से यह शरीर मल-मूत्र से अपवित्र है, उसी प्रकार। **वाहि**—बाहर से भी मलयुक्त है, फिर। **जहा**—जैसे। **बाहिं**—बाहर से मलयुक्त है, उसी प्रकार। **अन्तो**—भीतर से भी है। **अन्तो अन्तो**—शरीर के मध्य-मध्य में। **पूइदेहन्तराणि**—पूति—शरीर के अन्तर्भाग मे पूति व देह की अवस्था को। **पासइ**—देखता है। **पुढोवि**—पृथक्-पृथक् ही। **सवंताइं**—स्रवते है—अर्थात् नवद्वारो से मल का स्राव होता रहता है, अत`। **पंडिए**—पडित पुरुष। **पडिलेहाए**—इनका प्रत्यवेक्षण करे, इनके स्वरूप को देखे।

मूलार्थ—दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है। और वह यह भी जानता है कि काम मे मूर्छित जन ससारचक्र मे परिभ्रमण कर रहा है। इस मनुष्य लोक मे और मनुष्य जन्म मे ज्ञानादि प्राप्त करने के अवसर को जान कर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानों द्वारा प्रशसित है। स्वय बन्धन-मुक्त होने से वही दूसरो को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है। जैसे यह शरीर मल-मूत्रादि के कारण भीतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहर से भी है तथा जिस प्रकार बाहर से है, उसी प्रकार भीतर से है। शरीर के भीतर-देह के विभागो मे दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवो द्वारो मे से वह मल के रूप मे बाहर निकलती रहती है। अत· पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि काम-भोगो से वही व्यक्ति विरक्त हो सकता है, जो दीर्घदर्शी है। अर्थात् जो काम भोगों से प्राप्त होने वाली स्थिति को भी देखता है। इसलिए उसे आयतचक्षु—दीर्घदर्शी के साथ लोकदर्शी भी कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वह सम्यग् ज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेता है। उसे वह स्पष्ट हो जाता है कि लोक का आधार विषय-वासना ही है। यह हम पहले ही देख चुके है कि विषय-वासना मोहनीय कर्म जन्य है और मोह कर्म ही लोक मे परिभ्रमण कराने वाला है। इसके वशीभूत जीव विभिन्न गतियो में शुभाशुभ अनेक

वेदनाओ का सवेदन करता है। इस प्रकार प्रबुद्ध साधक मोहकर्म के विपाक को जानकर वासना का परित्याग करता है, वह भोगो से सदा दूर रहता है।

वह विषय-वासना से निवृत्त होकर अपने कर्म के बन्धन को तोड़ता है और दूसरों के कर्म बन्धन काटने मे भी सहायक बनता है। यह सत्य है कि आत्मा स्वयं ही अपने बन्धनो को तोडती है। कोई भी शक्ति न उसे बन्धनो से बाध सकती है और न मुक्त ही कर सकती है। फिर भी, यहा जो बन्धन तोड़ने मे सहायक शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि विषय-वासना से मुक्त बना जीव किसी भी बद्ध जीव के बन्धन तोडता नही है, प्रत्युत उसे बन्धन तोड़ने का मार्ग दिखा देता है, उपाय बता देता है, इसी कारण उसे निमित्त रूप से सहायक माना है। वन्धन तोडने का प्रयत्न तो आत्मा को ही करना होगा। वह तो केवल पथप्रदर्शक बन सकता है।

उसने जीवन के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है कि वह मल-मूत्र से भरा हुआ है। जैसे शरीर के अन्दर मल-मूत्र है, उसी प्रकार बाहर भी मल लगा हुआ है और जैसे वाहर से मल-युक्त है उसी प्रकार भीतर से भी है। उसके नव द्वारो से सदा मल का प्रस्रवण होता रहता है। इस प्रकार अपवित्रता के भडार को देखकर वह अशुचि भावना भाता है और दूसरो को भी इस भावना को भाने के लिए प्रेरित करता है। उनका ध्यान भी इस अशुचि के पुतले से निवृत्त होने की ओर लगाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे अशुचि भावना का बडा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। साधक अपने अन्दर एव बाहर भरी हुई अपवित्रता को तथा समय-समय पर होने वाले कुष्ठ आदि रोगो से होने वाली शारीरिक विकृति एव घाव आदि से झरने वाले रक्त, पीप आदि को देखकर वह सोचता है कि यह शरीर कितना विकृत है और इसके भोग भी क्या है—मात्र अशौच्य को वढ़ाने वाले' उससे मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक अशुद्धि की ही अभिवृद्धि होती है। अत प्रबुद्ध साधक इस भावना के द्वारा भोगों की निस्सारता को जानकर उनसे निवृत्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **"आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ उड्ढ भाग जाणइ, तिरियं भागं जाणइ"** वाक्य मे 'ॐ' की ध्वनि भी स्पष्ट प्रतिभासित होती है। क्योकि जो महापुरुष तीनो लोक के स्वरूप को

भली-भाति जानता है और सांसारिक विषय-भोगो से सर्वथा निवृत्त होकर अनन्त सुख पा चुका है, वही दीर्घदर्शी है और ऐसा महापुरुष ही संसार मे फसे हुए व्यक्तियों को मुक्त बनने की राह बता सकता है। अस्तु तीन लोक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जानने वाला सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होता है। उसके स्वरूप को 'ॐ' शब्द से भी अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त **'अहोभागं' 'उड्ढभागं'** और **'तिरिय' 'मध्य भागं'** तीनों शब्दो के आदि के एक एक अक्षर को लेकर **'अउम्'** तीनो का संयोग किया जाए, अर्थात् **'आद् गुणः'** सूत्र से **'अउ'** मे गुण किया जाए तो 'ओम् या ॐ' शब्द की सिद्धि हो जाएगी। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द तीन लोक के स्वरूप को भली-भाति जानने वाले सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी का परिबोधक है, योगदर्शन मे इसी भाव का समर्थन किया गया है[1]।

जबकि प्रस्तुत सूत्र उक्त शब्दो को लेकर टीकाकार या वृत्तिकार आदि ने 'ॐ' शब्द की कल्पना नही की है। परन्तु मेरी समझ से प्रस्तुत सूत्र की रचना करते समय सूत्रकार के मन मे यह कल्पना रही होगी। इसका आधार यह है कि उन्होने **'अधो' 'तिर्यक्'** और **'ऊर्ध्व'** के क्रम से तीनो लोक निर्देश न करके आकार आदि क्रम से निर्देश किया। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि सूत्रकार को इन पदों से 'ॐ' को सिद्ध करना ही अभीष्ट रहा है।

इसके अतिरिक्त जैनो का पच परमेष्ठी मन्त्र भी 'ॐ' का प्रतीक माना गया है। **'अरिहन्त' 'अशरीरी' 'सिद्ध'** और **'आयरिय'** उक्त तीन पदो के **'अ+अ+अ'** आदि अक्षरों का **'अकः सवर्णे दीर्घः'** सूत्र से दीर्घ करने पर **'आ'** बनता है। और **'आ'** मे उपाध्याय के 'उ' का सयोग करने पर **'आउ' 'आद्गुणः'** सूत्र से **'ओ'** बन जाता है और उसमे **'मुनि'** पद के **'म्'** का संयोग करने पर **'ओम्**—ॐ' शब्द सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यो ने नमस्कार मन्त्र से 'ॐ' शब्द सिद्ध किया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'ॐ' शब्द के पच पदो से जिन गुणो का बोध होता है, वे समस्त गुण जिसमे पूंजीभूत है अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एव बल-वीर्य से सम्पन्न हो वह सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी आत्मा का ससूचक है।

---

1 तस्य वाचक प्रणव·— पातजल योगदर्शन, 1, 27

यह ठीक है कि 'ॐ' शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा मे होता रहा है। जैन आगमो में इसका साधना के रूप मे प्रयोग नही हुआ। परन्तु जैन परम्परा में आचार्यो ने इसे स्वीकार किया है। और उक्त शब्द को अपनी सस्कृति एव सिद्धात के अनुरूप ढाल लिया। तब से जैन सस्कृति मे भी इसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि जो अपने ज्ञान से या सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित श्रुतज्ञान से तीन लोक के स्वरूप एवं कर्मो के फल तथा काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर भोगो का सर्वथा परित्याग कर देता है, वास्तव मे वह वीर है, प्रशसा के योग्य है और वह सर्व कर्म बन्धन से मुक्त बनता है और दूसरो को भी मुक्ति का पथ बताता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के द्वारा साधक भोगो से निवृत्त होता है। उसके बाद अर्थात् काम-वासना से निवृत्त होने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए? अपनी साधना को किस प्रकार गति-प्रगति देनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से मइमं परिन्नाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिबूहणयाए, अमराय महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ॥95॥

छाया—स मतिमान् परिज्ञान मा च लालां प्रत्याशी मा तेषु तिरश्चीन-मात्मानमापादयेत, अकार्ष करिष्ये खलु अयं पुरुषः बहुमायी कृतेन मूढ़ पुनस्तत् करोति लोभ वैर वर्द्धते आत्मनः यदिदं परिकथ्यते अस्य चैव परिबृंहणार्थ (अमरायमाण·) महाश्रद्धी, आर्तमेत (अमरायमाणं) तु प्रेक्ष्यापरिज्ञाय क्रन्दते।

पदार्थ—से—वह। **मइम**—मतिमान्। **परिण्णाय**—परिज्ञात—जानकर। **य**—समुच्चय अर्थ मे। **ह**—वाक्यालॅकार अर्थ मे है। **लालं**—मुख की लाल को। **मा**—मत। **पच्चासी**—प्रत्याश न करे, अर्थात् छोड़े हुए काम-भोगो को बालक की लारवत् फिर से सेवन न करे। **मा**—मत। **तेसु**—उन अव्रतो मे। **तिरिच्छं**—प्रतिकूल भाव रूप से।

अप्पाणं—अपनी आत्मा को। **आवायए**—स्थापन न करे। अर्थात् ज्ञान आदि के मार्ग से आत्मा को प्रतिकूल न करे और अज्ञान, अविरति, मिथ्यादर्शनादि के अनुकूल न करे, किन्तु। **कासंकासे**—यह कार्य मैने कर लिया है और यह मै करूगा। **खलु**—निश्चय। **अय**—यह। **पुरिसे**—पुरुष शाति का अनुभव नही कर सकता, अपितु वह पुरुष। **बहुमाई**—बहुत माया। **कडेण**—करने से। **मूढे**—मूढ हो जाता है। **पुणो**—फिर। **तं**—वह लोभानुष्ठान। **करेइ**—करता है तथा। **लोह**—लोभ। **करेइ**—करता है और जिससे। **अप्पणो बेर**—आत्मा के साथ वैर भाव। **वड्ढेइ**—बढता है। **जमिणं**—जिससे यह। **परिकहिज्जइ**—कहा जाता है, कि। **च**—और एव-शब्द पूर्ववत् जानने। **इमस्स**—इस शरीर की। **पडिबूहणाए**—वृद्धि के लिए, वह पूर्वोक्त क्रियाये करता है। **य**—और। **अमराए**—देव के समान आचरण करता है। **महासड्ढी**—काम भोगो में अत्यन्त श्रद्धा-अभिलाषा रखने वाला। **एयं**—यह। **तु**—वितर्क अर्थ मे है। **अट्ठं**—काम-भोग आर्त ध्यान का मुख्य कारण हैं, अतः। **पेहाए**—यह देखकर, काम-भोगो से निवृत्त होना चाहिए। किन्तु जो लोग काम-भोगो से निवृत नही होते, अब उनके विषय मे कहते है। **अप्परिण्णाय**—काम-भोगो के विपाक को न जानने से अर्थात् ज्ञ और प्रत्याख्यान परिज्ञा से तद्विषयक सम्यक् बोध को प्राप्त न करने से। **कंदइ**—वह कामी पुरुष अनेक प्रकार से आक्रोश करता है। शोक-सन्ताप को प्राप्त होता है।

मूलार्थ—वह बुद्धिमान् साधु मुख की लार को चाटने वाले बाल की भाति वमन किए—त्यागे हुए काम-भोगो को फिर से भोगने की इच्छा न करे तथा अपने आत्मा को प्रतिकूल मार्ग में न ले जाए, अर्थात् ज्ञान से विपरीत दिशा मे न ले जाए। मैने यह काम कर लिया है और यह काम मै करूगा, इस प्रकार की चिन्ता करने वाला पुरुष कभी भी शान्ति का अनुभव नही कर सकता। वह अत्यन्त मायावी होने से अधिक छल-कपट करने के कारण मूर्ख हो जाता है। फिर लोभ करता है और अपनी आत्मा के साथ वैर को बढाता है, जिससे ऐसा कहा जाता है कि इस शरीर की वृद्धि के लिए आरम्भ करता हुआ अपने आत्मा को देवों के समान मानता है, तथा विषय भोगों मे आसक्त होने के कारण, वह आर्तध्यान के वश होकर अनेक प्रकार की चिन्ताओ से आवृत्त हो जाता है। हे शिष्य! तू इस

स्वरूप को भली-भाति जानकर काम-भोगो की आशा का परित्याग कर? तथा जिन जीवो ने काम-भोगों की वास्तविकता को नही जाना, अर्थात् उनको तुच्छ, निस्सार और अनर्थकारी जानकर त्याग नहीं किया है, वे उनकी अप्राप्ति से तथा प्राप्त होकर नष्ट हो जाने से निरन्तर शोक और सन्ताप का ही अनुभव करते है!

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में अशुचि भावना के द्वारा त्यागपथ पर गति करने का आदेश दिया गया है और प्रस्तुत सूत्र मे उस पथ पर दृढता के साथ आगे बढने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है कि साधक को त्यागे हुए भोगो को फिर से प्राप्त करने की इच्छा नही करनी चाहिए। इसके लिए बालचेष्टा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। जैसे अबोध बालक अपनी गिरती हुई लार को फिर से मुह मे लेकर चूसने लगता है। इस प्रकार प्रबुद्ध साधक त्यागे हुए भोगो की लार को फिर से आस्वादन करने की कामना भी न करे। और ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के पथ पर गतिशील आत्मा को विपरीत दिशा मे न देखने दे, अर्थात् अपने मन को विषय-वासना एव अव्रत आदि की ओर न दौडने दे। क्योंकि इच्छित भोग कभी पूरे नहीं होते और जो प्राप्त हुए हैं, उनका भी वियोग होता रहता है। इस प्रकार आशा की अपूर्ति एव प्राप्त के वियोग से कामी व्यक्ति का मन सदा शोक एव चिन्तना से सन्तप्त रहता है। उसे विषयो की तृष्णा एव आसक्ति से इस जीवन मे विभिन्न दु ख उठाने पडते है और परलोक मे भी आत्मा दु ख के महागर्त मे गिरती है। अत साधक को भोगो मे आसक्त होने वाले प्राणियो की स्थिति को देखकर उनसे सदा दूर रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **"तिरिच्छमप्पाणमावायए—तिरश्चीनमात्मानमापादयेः"** पाठ का तात्पर्य यह है—कि विचारशील पुरुष अविरति, मिथ्यादर्शन आदि दोषो मे अपनी आत्मा को नही लगावे। परन्तु उसे ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की ओर मोड़े और निरन्तर उसी साधना मे सलग्न रहे जिससे शीघ्र ही कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को पा सके।

'अमराए' पद का अर्थ है—**"अमरायतेऽनमरः सन् द्रव्ययौवनप्रभुत्वरूपावसक्तोऽमर इवाचरति अमरायते"** अर्थात् जो व्यक्ति अपने धन, यौवन, अधिकार

और रूप के गर्व में देव न होते हुए भी अपने आपको देव तुल्य मान कर भोगो मे आसक्त रहता है, परिणामस्वरूप विभिन्न वेदनाओं एवं चिन्ताओं का सवेदन करता है। इस बात को **'अट्टमेयं तु पेहाए'** पद से व्यक्त किया गया है। अत भोगों की शारीरिक एव मानसिक पीडाओ को देखकर मुमुक्षु पुरुष को उनमे अपने मन को नही लगाना चाहिए।

अब सूत्रकार प्रस्तुत विषय का उपसहार करते हुए कहते हैं—

मूलम्—से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्य संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिबेमि॥96॥

छाया—तत्तद् जानीत यदह ब्रवीमि चिकित्सां (काम चिकित्सा) पण्डितः प्रवदन् स हन्ता, छेत्ता भेत्ता, लुम्पयिता विलुम्पयिता, अप्रदावयिता अकृतं करिष्ये इति मन्यमानः यस्यापि च यत् करोति अलं बालस्य संगेन या वो एतत् कारयति बालः न एवमनगारस्य जायते इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। त—अत.। ज—तो। अह—मै। **बेमि**—कहता हूँ, उसको। **जाणह**—जानो। **पडिए**—पाडित्याभिमानी जन। **तेइच्छ**—कामचिकित्सा को। **पवयमाणे**—कहता हुआ। **से**—वह फिर। **हंता**—जीवो का हनन करता है। **छित्ता**—छेदन करता है। **भित्ता**—भेदन करता है। **लुपइत्ता**—लुम्पन करता हे। **विलुम्पइत्ता**—विलुम्पन करता है। **उद्दवइत्ता**—प्राणो का नाश करता है। **अकड**—अकृत कार्य। **करिस्सामित्ति**—मै करूगा इस प्रकार। **मन्नमाणे**—मानता हुआ। **जस्सवि**—जिसकी भी। **करेइ**—काम चिकित्सा करता है। **अपि**—अपनी तथा अन्य और दोनो की करता है, ऐसा जानना। **च और ण**—का अर्थ पूर्व की भाति समझना। **अलं बालस्स सगेणं**—बालक के सग से अल पर्याप्त है अर्थात् उसका सग नही करना चाहिए। **वा**—अथवा। **से**—वह। **बाले**—बाल अज्ञानी जन जो। **करेइ**—काम चिकित्सा करवाता है, उससे भी। **अलं**—बस। **एवं**—इस प्रकार की क्रियाओ का अनुशासन करना। **अणगारस्स**—अनगार साधु को। **न**—नहीं। **जायइ**—कल्पता है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार में कहता हूँ।

मूलार्थ—जो मैं कहता हू उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्सा का उपदेशक पाडित्याभिमानी व्यक्ति, जीवो का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणो का विनाश करता है, और मै अकृत जिसे अभी तक किसी ने नहीं किया है, ऐसा काम करूंगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी व पर की अथवा दोनों की चिकित्सा करता है। इस प्रकार कामचिकित्सा वा व्याधिचिकित्सा करने वाले बाल—अज्ञानी जीवो का संग नही करना चाहिए। अत इन क्रियाओं के अनुष्ठान मे अनगार को कभी प्रवृत्त नही होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अनगार—मुनि को उक्त सदोष क्रियाए करनी नही कल्पती है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधु को काम एव रोग चिकित्सा करने का निषेध किया गया है। क्योकि उक्त चिकित्साओ में अनेक जीवो की हिसा होती है, अत· साधक को किसी की चिकित्सा नही करनी चाहिए। काम चिकित्सा का वात्स्यायन सूत्र मे विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमे कामसेवन के विविध आसनो, प्रकाम भोजन एव पौष्टिक औषधियो का उल्लेख किया गया है। इससे काम-वासना उद्दीप्त होती है और मनुष्य भोग की ओर प्रवृत्त होता है। वस्तुत· यह काम की चिकित्सा नही, अपितु उसको बढाने वाली है। चिकित्सा का अर्थ है—औपध आदि प्रयोगो से रोग का उपशमन या नाश करना। काम भी एक रोग है और इसका मूल है मोह कर्म। अत· मोह कर्म का उपशमन करना या क्षय करना वास्तव मे काम चिकित्सा है। परन्तु अक्षरी पाडित्य के अभिमानी भोग प्राप्ति की योग्यता को चिकित्सा का रूप देते है। जो वस्तुत काम के रोग को बढाने वाली है। उससे मोहकर्म की उदीरणा होती हे और मनुष्य की भोगेच्छा मे अभिवृद्धि होती है। मोहकर्म ससार मे परिभ्रमण कराने वाला है। अत साधु को ऐसी चिकित्सा करना नही कल्पता।

इस प्रकार रोग चिकित्सा मे जडी-बूटी आदि से तथा स्वर्ण भस्म आदि रासायिनिक औषधो को बनाने या बनाने की विधि बताने मे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एव त्रस प्राणियो की हिसा होती है और ऐसी प्रवृत्ति में लगे रहने से आध्यात्मिक चिन्तन मे भी विघ्न उपस्थित होता है। क्योकि रोगी रात-दिन उसे घेरे रहेगे, अत

वह अपनी साधना नही कर सकेगा और इसके कारण गृहस्थो से घनिष्ठ परिचय बढने से अन्य दोषो मे प्रवृत्ति होना भी सम्भव है। इसलिए साधक को काम एव व्याधि चिकित्सा मे प्रवृत्त नही होना चाहिए और न ऐसी चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी व्यक्तियो का ससर्ग ही करना चाहिए।

यह प्रश्न हो सकता है कि अपने शरीर मे काम की पीड़ा पीडित करने लगे या रोग उत्पन्न हो जाए उस समय क्या करे? काम की चिकित्सा के लिए वह काम शास्त्र मे प्रयुक्त किसी भी प्रयोग का सेवन न करे। क्योंकि उससे काम व्याधि को उत्तेजना मिलती है, रोग उपशात न होकर अधिक बढता है। उसके लिए आगमो मे बताई गई तप, आतापना, स्वाध्याय, ध्यान एव सेवा-शुश्रूषा की विधि को स्वीकार करके काम-वासना पर विजय प्राप्त करे, अर्थात् काम के मूल मोह को उन्मूलन करने का प्रयत्न करे।

रोग को उपशात करने के लिए साधु अपनी मर्यादा के अनुसार चिकित्सा कर भी सकता है या दूसरे से करवा भी सकता है। उसके लिए सावद्यऔषध के त्याग का विधान है, निर्दोष औषध ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक मे यह बताया गया है कि साधु को सदोष आहार एव वस्त्र-पात्र, स्थानादि को स्वीकार नही करना चाहिए और उक्त निर्दोष वस्तुओ मे परिमाण—मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए, अर्थात् उक्त वस्तुओ को मर्यादा से अधिक न लिया जाए और उनमे आसक्ति एवं ममत्व भाव नहीं रखे। इसके बाद काम-वासना का सर्वथा परित्याग करे। जिनके ससर्ग से काम की वासना एवं हिंसा की प्रवृत्ति के भावो को उत्तेजना मिलने की सभावना हो, उनका संसर्ग भी नही करना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक को आहार, उपधि सम्बन्धी सदोषता आसक्ति एव भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करके निर्विकार एव निर्दोष भाव से सयम-साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझे।

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

अध्यात्मसार : 5

मूलम् : अदिस्समाणे कयविक्कयेसु, से ण किणे न किणाकिणंतं न समणुजाणइ, से भिक्खू कालन्ने बालन्ने मायन्ने खेयन्ने खणयन्ने विणयन्ने ससमयपरसमयन्ने भावन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालाणुट्ठाई अपडिण्णे। 12/5/89

मूलार्थ : स्वय क्रय-विक्रय कार्य को नही करता हुआ और न उसका उपदेश देता हुआ वह भिक्षु, न तो स्वय वस्तु खरीदे और न दूसरों से मोल मगावे तथा मूल्य से खरीदने वाले का अनुमोदन भी न करे। वह भिक्षु काल—समय का, आत्मबल का, आहारादि के प्रमाण का ससार के परिभ्रमण के कष्ट का, अवसर का, विनय का ज्ञाता, स्वमत और परमत के स्वरूप का दाता और श्रोताओ के भाव का परिज्ञाता हो और यथासमय क्रियानुष्ठान करने वाला, परिग्रह का त्यागी एव दुराग्रह से रहित, अर्थात् दुष्ट प्रतिज्ञा न करने वाला हो।

ये आहार विधि किसके लिए है? यहाँ एक विशेषण दिया है 'अणगार'। यह आहार विधि अणगार के लिए है।

अणगार किसे कहते है? इसका मूलभाव क्या है? जो बाह्य सुरक्षा का त्याग करके धर्म की शरण मे आ गया।

धन-परिवार, पद इत्यादि क्यो चाहिए? इनके प्रति आसक्ति क्यो है? क्योकि व्यक्ति की मन की यह समझ है कि यह सब मेरी रक्षा करेगे।

एक पत्नी पति को क्यो चाहती है? वस्तुत पत्नी की यह समझ है कि मेरा पति मेरी सुरक्षा है। उसके सुख और सुरक्षा मे पति निमित्त है। इसलिए वह पति को चाहती है। यह ऐसे ही है जैसे इन्द्रियो के विषयो के प्रति आसक्ति है, इस कारण उन विषयो की पूर्ति जिन साधनो से होती है, उन साधनों के प्रति भी आसक्ति होती है। हम किसी भी साधन को क्यो चाहते है? क्योकि हमारी अब तक की यह समझ है कि मेरी सुख-सुविधा की पूर्ति इस साधन से हो सकती है।

इस प्रकार अणगार का अर्थ हुआ जिसने बाहर की शरण छोड़ कर धर्म की शरण ले ली है। घर का त्याग 'घर के प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग', धन का त्याग अर्थात् सुरक्षा का त्याग। बाहर की जितनी भी सुरक्षाए है, उनका त्याग। या तो यो कह सकते है जिसने मिथ्या सुरक्षा का त्याग करके सम्यक् सुरक्षा स्वीकार कर ली, वह अणगार है।

ऐसे अणगार की यह आहार विधि है। इसमें अधिकाश स्थान पर निषेध-ही-निषेध है तो फिर इसका विधेयात्मक स्वरूप क्या है? विधेयात्मक स्वरूप है, अपनी साधना की रक्षा करते हुए, अपनी साधना के पोषण के लिए, जो भी आहार मिले वह ग्रहण करना। यहाँ महत्त्वपूर्ण है, अपनी साधना की रक्षा करना और यह भी महत्त्वपूर्ण है जिससे अपनी साधना का पोषण होता हो ऐसा आहार लेना। इस प्रकार एक तो हुआ, किस प्रकार आहार लेना। दूसरा कैसा आहार लेना। दोनो ही बातें आवश्यक हे। यहाँ जो भी विधि-विधान बताए गए है, वे किस प्रकार आहार लेना चाहिए उस सम्वन्ध मे है। आहार कैसा लेना चाहिए? इसका वर्णन पहले हो चुका है।

आहार तो इन विधि-विधानो के अनुसार ही लेना है और उनमे चार आगार बताए है—'रोगी, बाल, वृद्ध, तपस्वी'। यह साधक को स्वयं निर्णय करना चाहिए कि किस समय, किस प्रकार उपयोग करना है। यदि वास्तव मे अपवाद मार्ग से आहार लेना आवश्यक है तभी लेना, अन्यथा नही। अब आपको यह देखना है कि मै जीभ के स्वाद के लिए ले रहा हूँ या स्वास्थ्य के लिए। यदि व्यक्ति स्वय के प्रति प्रामाणिक होगा तो स्वयमेव समझ मे आ जाएगा। मूलभाव क्या है? आहार लेते समय यह ध्यान रखना कि जिससे मेरी साधना का पोषण हो। अब इसमे आहार की गुणवत्ता भी आ गयी और आहार लेने का प्रकार भी। दोनो मे से किसी में भी दोष होगा, तब साधना की हानि होगी। सदा ही भीतर देखते रहना की साधना के पोषण और उसके आधार रूप यह देखना कि मै स्वास्थ्य के लिए आहार ले रहा हूँ या इन्द्रियो के पोषण और उसके हेतु रूप जिह्वा के स्वाद के लिए आहार ले रहा हूँ।

जिस प्रकार का आहार साधना के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार का आहार सभी को बताना। इस प्रकार की समझ श्रावकों को देने पर उन्हे भी लाभ होगा और वे श्रमणों की साधना मे भी सहयोगी बन सकेगे।

'कालन्ते खेयन्ने' यह सारे गुण बताए गए है, जो अणगार के विशेषण है। जो इन विशेषणो से युक्त है, उसी व्यक्ति में, आहार, गोचरी लाने की योग्यता है। गोचरी लाने का अर्थ, पात्र को भरकर ही लाना नही है। यह सभी साधारण भिक्षु करते है, लेकिन साधुत्व मे यह विशेषता है कि विधिपूर्वक आहार लाना और इस प्रकार आहार वह ला सकता है जो इन विशेषणो से युक्त है। गोचरी लाने वाले की विशेषता इसी में है कि साधना के लिए किस प्रकार की गुणवत्ता से युक्त आहार की आवश्यकता है। ऐसा आहार किस प्रकार सम्यक् रूप से विधिपूर्वक मिल सकता है, तत्सम्बन्धी काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव का बोध।

जैसे वक्ता की विशेषता क्या है कि श्रोता कहाँ पर खड़ा है यह देखना और फिर उसे धर्म का मर्म कैसे समझाया जा सकता है। तदनुसार उसे उसकी भाषा मे अपना अर्थ समझाना। इसी प्रकार गोचरी लाने वाले भिक्षु की अपनी विचक्षणता होती है। इसी कारण नवदीक्षित को आप गोचरी के लिए नहीं भेजते, अभी वह सामायिक चारित्र मे है। गोचरी कैसे लानी यह उसे पूर्ण रूप से पता नही। यह जितने भी विशेषण दिये है, उन विशेषणो से वह युक्त हो जाए तभी उसे पच महाव्रत दिये जाते है। ये उत्कृष्ट भाव है। इतनी योग्यता आने मे समय लगता है। अत इस योग्यता के साधारण रूप से आने पर आप पच महाव्रत दे सकते है। लेकिन पूरे गण के लिए गोचरी लाने मे तो यह योग्यता आनी आवश्यक है। तद् हेतु वह बुद्धिमत्ता और विचक्षणता होनी चाहिए, जो साधना, श्रुत के अभ्यास और गुरुजनो की सगति से आती है। यदि वह विचक्षण नही है, तब या तो उपयुक्त गोचरी नही मिलेगी या वह नियम तोड कर गोचरी लाएगा।

अपने भीतर निरीक्षण करो कि मेरे भीतर वह योग्यता है कि नही। वह योग्यता क्या है और उसे कैसे अर्जित किया जा सकता है, इस हेतु जिज्ञासा और तत्परता रखे। हर समय जागरूक रहे। आगम हमारे चक्षु हैं। उन चक्षुओ का उपयोग करके स्वय के प्रति जागरूक रहना।

जिस प्रकार की साधना के लिए आहार उपयोगी है, उसी प्रकार की समझ श्रावकजनो को भी देनी। यह भी गोचरी सम्बन्धी एक विचक्षणता है। जैसे आप पीने हेतु गरम पानी का उपयोग करते है तब गरम पानी पीने का महत्त्व और उसका

हमारी साधना से सम्बन्ध सभी कुछ समझाते हुए श्रावकजनो को गरम पानी के उपयोग हेतु प्रेरित करना। इस प्रकार ऐसे श्रावकों के मध्य रहते हुए साधुजनो की साधना अल्प प्रयास से उत्थान प्राप्त करती है।

मूलम् : दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कबलं पायपुंच्छणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा॥ 2/5/90

मूलार्थ : राग-द्वेष युक्त की गयी प्रतिज्ञा का छेदन करने वाला, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, उपाश्रयादि स्थान और आसन आदि पदार्थो के लिए जो गृहस्थ आरभ करते है, उसे भली-भांति जाने और उसमे सदोष का त्याग करके, निर्दोष पदार्थो को स्वीकार करे।

यहाँ पहले दिया था—दुहओ छेत्ता—दोनो का छेदन करने वाला।

नियाइ—निवृत्ति के मार्ग पर चलने वाला। निवृत्ति के मार्ग पर चलने वाला कैसा हो, राग और द्वेष को छेदन करने वाला होगा। ऐसे व्यक्ति को जब ग्रहण करना हो तो 'जाणिज्जा' यह जानकर और देखकर लेना कि प्रथम इस वस्तु की मुझे आवश्यकता है या नही। अनावश्यक वस्तुओ को, आहार को ग्रहण न करे। ऐसा भी नही कि कोई विशेष व्यक्ति दे रहा है तो ले लू, वास्तव में आवश्यक हो तभी लेना।

दूसरा जिस वस्तु को ग्रहण करना है, वह मेरे योग्य है या नही। वह मेरी आवश्यकतानुसार है या नही।

तीसरा किस प्रकार से वस्तु को ग्रहण करना—सम्यक् प्रकार से वस्तु को ग्रहण करना। सम्यक् प्रकार से, अर्थात् जो भी गवेषणा की मर्यादा है, उसके अनुसार।

अपडिन्ने - अर्थात् प्रतिज्ञा से रहित—प्रतिज्ञा से रहित अर्थात् आग्रह से रहित। एकान्त से रहित अनेकान्त। इसलिए साधु के व्रत होते है प्रतिज्ञा नही। इसी प्रकार आहार आदि ग्रहण करने से पूर्व जो सकल्प किया जाता है, उसे अभिग्रह कहते हैं। यह अभिग्रह किसलिए होता है? शरण मे हमारी जो आस्था है, अभिग्रह उसकी परीक्षा है। मै धर्म की शरण मे हूँ तो जो भी आवश्यक होगा, वह मुझे मिलेगा। अभिग्रह अर्थात् इस प्रकार की परिस्थितियॉ हुई तो मैं ग्रहण करूँगा। अभिग्रह करके वह देखता है कि आवश्यक हुआ तो अभिग्रह धारण करने पर भी मिलेगा। ऐसा

करने से उसकी शरण मे दृढता आती है। अभिग्रह करना आवश्यक नही है, यह एक तप है। अभिग्रह मे काल की मर्यादा का प्रश्न नही है कि इस काल तक अभिग्रह हुआ तो ठीक है, अन्यथा ऐसे ही ग्रहण कर लूँगा। इसमे तो कोई परीक्षा ही नहीं हुई। परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर व्यक्ति आगे जाएगा। तब तो परीक्षा का महत्त्व है। यदि आगे जाना निश्चित ही हो, चाहे परीक्षा मे उत्तीर्ण हो या न हो, तब फिर परीक्षा का कोई महत्त्व नही है। यही बात अभिग्रह के सम्बन्ध मे है। भगवान ने अपने साधनाकाल मे अनेक अभिग्रह किये पर किसी मे भी काल की कोई मर्यादा नही थी। वे तो अपने स्वभाव की शरण मे थे। इन अभिग्रहो से उनकी शरण में स्थिरता और दृढता आयी।

ऐसे तो साधु की परीक्षा रोज होती है। फिर भी अभिग्रह अपने आप मे एक विशेष तप है। परीक्षा इन अर्थो मे कि साधु सग्रह करके नही रखता। सुबह को मिला है पता नही शाम को मिले या न मिले। पर वह शरण मे, विश्वास मे जीता है कि आवश्यक हुआ तो अपने आप मिलेगा। उसकी अपनी कोई इच्छा नही है। साधारणत- व्यक्ति व कई साधुगण भी इच्छाओ मे जीते है। वे भविष्य के लिए सग्रह करके रखते है, जबकि साधुजनो के नियम है कि रात को संग्रह करके नही रखना, तब वह नही रखेगा। लेकिन किसी को दे देगा कि आप मेरे लिए सभालकर रखे। यह सब मन की गतिविधियॉ है। जब सग्रह ही नही करना तब न स्वय करना, न ही अपने लिए किसी से करवाना, क्योकि सग्रह करने पर चाहे स्वय करे चाहे किसी से करवाए, साधक का मन उन्ही वस्तुओ मे अटका रहता है। उसे पुन-पुन खयाल आता है कि जो मैने सग्रह करके रखा है, वह सुरक्षित है या नहीं। मन साधना की अपेक्षा साधनो में अटक जाता है। साधक के लिए साधन होते है, न कि साधन के लिए साधक। जैसे तुमने कोई कीमती कलम रखी तो फिर पुन-पुन यही चिन्ता होगी कि कही कोई मेरी कलम उठाकर न ले जाए। तब अच्छा है कलम छोड दो। जिस चीज की भी चिन्ता हो जाए, उसे छोड़ देना ही अच्छा है। अभिग्रह ग्रहण करने योग्य किसी भी वस्तु के सम्बन्ध मे यह कर सकते है।

मूलम् : आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिाए लोए अणुपरियट्टमाणो,

संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए॥ 12/5/94

मूलार्थ : दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानने वाला, लोक के अधोभाग, ऊर्ध्व भाग और तिर्यग्भाग को जानता है। वह यह भी जानता है कि काम मे मूर्च्छित जन ससारचक्र में परिभ्रमण कर रहा है, इस मनुष्य लोक मे और मनुष्य-जन्म मे ज्ञानादि प्राप्त करने के अवसर को जानकर जो काम से निवृत्त हो गया है, वही वीर और विद्वानों द्वारा प्रशंसित है। स्वय बन्धन-मुक्त होने से वही दूसरो को भी बन्धन से मुक्त करा सकता है। जैसे यह शरीर मल-मूत्रादि के कारण भीतर से दुर्गन्ध युक्त है, उसी प्रकार बाहर से भी है। जिस प्रकार बाहर से है, उसी प्रकार भीतर से है। शरीर के भीतर—देह के विभागो मे दुर्गन्ध भरी हुई होती है और शरीर के नवो द्वारों मे से वह मल के रूप में बाहर निकलती रहती है। अत पुरुष इसके यथार्थ स्वरूप का अवश्य ही अवलोकन करे।

1 आयय चक्खू अर्थात् दीर्घद्रष्टा, 1 दीर्घद्रष्टा का साधारण अर्थ होता है दूर तक देखने वाला। 2 दूसरा अर्थ है जो सम्पूर्ण देखता है। यहाँ दोनो ही अर्थ अभिप्रेत है। सम्पूर्ण को अर्थात् जो दृश्य को ही नही, अदृश्य को भी देख लेता है। केवल रूप को ही नही अरूप को भी देखता है। जो सामने प्रतीत हो रहा है वही नही, लेकिन उस प्रतीति के पीछे जो अप्रतीत है, उसे भी देख लेता है। उसके पास ज्ञान की दृष्टि है, गहराई है। अत जो साधारण मनुष्य नहीं देख पाता, दीर्घ द्रष्टा उस सत्य को भी साक्षात् कर लेता है।

साधारण मनुष्य वही देखता है, जो इन्द्रियो की पकड मे है। लेकिन जो दीर्घद्रष्टा होता है, वह जो इन्द्रियो की पकड मे नही है, उसे भी देखता है। यह एक अर्थ हुआ दीर्घद्रष्टा का।

दूसरा अर्थ है—जो कारण और परिणाम दोनों को जानता है जैसे— पहले के सूत्र में आया था, कर्मो के स्वरूप को जानने वाला 'एयाणुपस्सी-79' साधारण व्यक्ति केवल वर्तमान परिस्थिति को देखते हैं। दीर्घद्रष्टा उस परिस्थिति का क्या भूतकाल है और आगे परिणाम क्या आएगा, यह भी देखता है। अभी जो वर्तमान है, उसका भूत

और भविष्य क्या है, इस परिस्थिति का कारण और परिणाम क्या है—दीर्घद्रष्टा दोनों को जान लेता है। जैसे—

आचाराग सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक में कहा गया है कि अनेक जीवो को यह ज्ञान नही होता कि मै कहाँ से आया हूँ और मै कहाँ जाने वाला हूँ। वर्तमान मे मैं जो कर्म कर रहा हूँ, मै जहाँ पर हूँ, उसका कारण क्या है? उसका परिणाम क्या है? जैसे चण्ड कौशिक की तरह कोई व्यक्ति बहुत क्रोध कर रहा है। तब दीर्घ द्रष्टा उसके क्रोध को ही नही देखता, अपितु वह यह भी देखता है कि इसके पीछे उसके पूर्व जन्म के सस्कार क्या है? आगे उसके इस कर्म का क्या परिणाम आने वाला है? इसलिए भगवान महावीर को चण्डकौशिक के क्रोध के प्रति क्रोध नही जागा, अपितु उसके क्रोध के प्रतिदान मे उसे प्रतिबोध दिया।

इसी प्रकार सगम ने भगवान को बहुत परीषह दिये। लेकिन भगवान ने केवल उसके वर्तमान को नही देखा। उसके भूत और भविष्य दोनो को देखा और करुणा जागी। केवल वर्तमान को देखेगे तब क्रोध जाग सकता है। लेकिन इस प्रकार कारण और परिणाम दोनो को जानने पर करुणा ही जागती है। इस प्रकार इस बात को पुन-पुन. समझना आवश्यक है।

दीर्घद्रष्टा—आत्मज्ञानी से लेकर केवलज्ञानी तक कोई भी दीर्घद्रष्टा हो सकता है। इसके अनत अर्थ है। ऐसा दीर्घद्रष्टा साधक से लेकर सिद्ध तक कोई भी हो सकता है। इस प्रकार दीर्घद्रष्टा, अर्थात् जो साधारण मनुष्य से कुछ अधिक देखता हे। साधारण व्यक्ति केवल इन्द्रियो मे जीता है। दीर्घद्रष्टा इन्द्रियो से परे भी देखता है।

गुरु दीर्घद्रष्टा होते है · उनके पास वह दीर्घदृष्टि है जिसके माध्यम से शिष्य जिसे कल जानेगा, गुरु उसे आज ही जान लेते है। शिष्य की वृत्तियों का मूल कारण क्या हे और इसका परिणाम क्या होगा, गुरु यह भी जान लेते है। शिष्य के अन्तर का जो रोग है, जो भूल है, अब इन रोगो मे सभी रोग आ गये। दु.ख, क्लेश, जन्म-मरण इत्यादि सारे रोग। इन सबकी दवा गुरु ही कर सकते है, क्योकि गुरु उस रोग के मूल कारण को जानते है। ऊपर-ऊपर से कारण कुछ दिखाई देते है, लेकिन मूल में कारण कुछ और है। जैसे चिकित्सक मूल कारण जानकर ही चिकित्सा कर

सकता है। इसीलिए ज्ञानीजन कहते है—तुम अपनी बुद्धि से लाख उपाय करो, पर बात नही बनती। लेकिन गुरु की शरण मे जाते ही बात बन जाती है, क्योकि गुरु की शरण मे जाते ही गुरु मूल कारण को पकड़ कर उपाय बता देते है। इसलिए यह भी कहा गया है कि गुरु के प्रति अनन्य अटूट श्रद्धा रहे, जैसे आप चिकित्सक के पास गये तो वह जो भी दवा देते है, आप ले लेते है। आप यह सवाल नहीं करते कि यही दवा क्यो? उसी प्रकार गुरु जो भी उपाय बताए, उसे श्रद्धा-पूर्वक करना। इस प्रकार दीर्घद्रष्टा का दूसरा अर्थ हुआ, कारण और परिणाम को जानने वाला, अर्थात् गुरु।

ऊँकार—एक ध्वनि है। यह तब प्रकट होती है जब व्यक्ति अपने शरीर के पार कुछ अनुभव करने लगता है, उसको हम 'अनाहत् नाद' कहते है। यह ध्वनि उस अनाहत नाद के रूप मे प्रकट होती है तो जरूरी नही है कि वह ॐ के रूप मे ही हों, वह ध्वनि किसी भी रूप मे हो सकती है। लेकिन वस्तुत वह ओम् का ही एक रूप है। सुनने मे सभी ध्वनियां अलग-अलग दिखाई देती है। लेकिन मूल मे उन सभी ध्वनियो की गुणवत्ता एक ही है। ध्वनि की उस विशेष गुणवत्ता का नाम ॐ है।

इस प्रकार ऊॅंकार का अनुभव प्रत्येक साधक को हो सकता है। तत्कालीन आचार्यो ने देखा कि यह बाहर की ऊॅंकार की ध्वनि उस आन्तरिक ध्वनि हेतु भूमिका तैयार करती है। शरीर और मन को सात्त्विक बनाती है। अत उन्होने प्रत्येक मन्त्र के आदि मे ऊॅंकार को जोड दिया है। ऊॅंकार भाषा का कोई अक्षर नही है। ऐसे तो प्रत्येक अक्षर अपने आप मे एक ध्वनि है, लेकिन ऊॅंकार रूप ध्वनि साधक के लिए उपयोगी है, इससे साधना की भूमिका तैयार होती है।

ऊॅंकार ध्यान की विधि ऊॅंकार का अर्थ जानने के पश्चात् ऊॅंकार साधना की विधि क्या है? उसके लिए प्रथम गहरा श्वास लेना, पश्चात् दो अक्षर कहना ओ एव म्, ओ कहते-कहते फिर म् कहना, ओ दो हिस्से मे कहना एवं म् एक हिस्से मे। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कुछ भी न कर सके, तब गहरे श्वास के साथ इसका उच्चारण करे।

कितनी बार उच्चारण करना? जिसकी जैसी आवश्यकता हो, फिर भी कम-से-कम 5 से 10 बार। इस प्रकार गहरा श्वास लेना और उच्चारण करना। उच्चारण करने के बाद शान्त रहकर ऊॅंकार का ध्यान कर सकते है।

ऊँकार का ध्यान उच्चारण करते हुए साथ में अथवा उच्चारण करने के पश्चात् दोनो विधि से कर सकते है अथवा बाद मे भी कर सकते है। आज्ञा-चक्र पर ऊँकार का ध्यान करना आसान है, परन्तु इससे अच्छा यह है कि पहले हृदयचक्र मे शुरूआत करे, वहॉ जब ध्यान सध जाए, तब आज्ञा चक्र पर करना ठीक है। जब आज्ञाचक्र पर भी सध जाए, तब फिर सहस्रार चक्र पर ध्यान करना चाहिए। यहॉ ध्यान सधने का अर्थ है, ऊँकार की स्थापना करना एव उसके साथ रहना। इस प्रकार करते-करते जब व्यक्ति पूरी तरह लीन हो जाए, बाकी सब कुछ भूल जाए, केवल उसी मे लीन हो जाए, तब वहॉ ध्यान सधता है।

आयत् चक्खू जो अर्थ इस सूत्र का आप ध्यान को लेकर करते हैं, वह भी कर सकते है। वहाँ भी अर्थ तो यही होगा दीर्घद्रष्टा। लेकिन जब हम ध्यान के परिप्रेक्ष्य मे दीर्घद्रष्टा कहेगे तब दीर्घद्रष्टा साधना के रूप मे आएगा, अवस्था के रूप मे नही। यहाँ पर दीर्घद्रष्टा, अर्थात् साधना की दृष्टि से शरीर और मन को देखने वाला अर्थ होगा। इस परिप्रेक्ष्य मे दीर्घद्रष्टा का आत्मज्ञानी होना आवश्यक नही है। कोई भी साधारण व्यक्ति 'साधक' भी दीर्घद्रष्टा हो सकता है। ऐसा दीर्घद्रष्टा, शरीर और मन को—विचारो को विशेष रूप से देखता है।

लोगविपस्सी लोक का अर्थ बहुत विस्तृत है। लोक का प्रथम अर्थ है—सारा जगत् तीनो लोक। लोक का दूसरा अर्थ है हम जहॉ पर भी है, हमारे आसपास जो कुछ भी हे, उसे विशेष रूप से देखना। वह सम्पूर्ण लोक तो नही देखता परन्तु जो कुछ भी देखता है, वह विशेष रूप से देखता हे। उसके पास वह ज्ञान दृष्टि है, दृष्टि मे वह गहराई है कि जो कुछ भी देखता है, उसे वह विशेष रूप से देखता है।

लोक का अर्थ है यह शरीर और मन।

इस प्रकार प्रथम अर्थ मे शेप दोनों अर्थ भी समाविष्ट हो जाते है। द्वितीय अर्थ मे तीसरा अर्थ अपने आप आ जाता है। तीसरे मे केवल तीसरा अर्थ है।

प्रथम अवस्था—सम्पूर्ण ज्ञानी, केवलज्ञानी की है। द्वितीय अवस्था आत्मज्ञानी की है और तीसरी अवस्था साधारण साधक की है। साधना करते-करते अवस्था बदलती है। लोक को वह देखता है।

किस प्रकार—विपस्सी—विशेष रूप से। जो देखने वाला है, उसका नाम

है आयत, अर्थात् चक्खू द्रष्टा का नाम आयत् चक्खू और दृष्टि का नाम है विपस्सी।

विपस्सी विशेष रूप से देखना। यहॉ इस दृष्टि की विशेषता क्या है? विपस्सी का अर्थ होता है कि द्रष्टा और दृश्य के बीच में केवलज्ञान का सम्बन्ध है, राग और द्वेष का नही। अन्यथा—पस्सती भी कह सकते थे, विपस्सी क्यो कहा? क्योकि यहॉ पर उन्हे यह कहना है कि साधारणत द्रष्टा और दृश्य के बीच मे ज्ञान के साथ-साथ राग और द्वेष भी जुड़े हुए है। लेकिन यहॉ द्रष्टा और दृश्य के बीच केवलज्ञान का सम्बन्ध है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान : द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि

तीनो एक भी है और अनेक भी है। एक प्रकार से वे अनेक है, क्योंकि द्रष्टा अलग है। द्रष्टा का गुण है दृष्टि और दृश्य अलग है और दूसरे प्रकार से तीनों एक ही है, क्योकि दृष्टि द्रष्टा का ही गुण है। अत गुण गुणी अभेदनय की अपेक्षा दोनो एक ही है और दृश्य द्रष्टा में ही प्रतिफलित होता है, इस अपेक्षा से द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि तीनों एक ही है।

अब यह विपस्सी निम्न तीनो अवस्थाओ पर लागू होती है—

1 केवलज्ञानी भी बिना राग-द्वेष के देखता है।

2. आत्म-ज्ञानी बिना राग-द्वेष के देखे तब वे विपस्सी है, अन्यथा—जब राग-द्वेष आ जाए तब नही।

3 साधारण साधक जब बिना राग-द्वेष के देखता है तब विपस्सी है, अन्यथा नही। क्योकि साधना तभी है, जब बिना राग-द्वेष के देखे।

राग-द्वेष भी दो प्रकार से है—पहला स्थूल रूप से, दूसरा सूक्ष्म रूप से। स्थूल रूप से जो राग-द्वेष है, वे हमारे ध्यान मे आते है और सूक्ष्म रूप से होने वाले राग-द्वेष कर्मो के क्षयोपशम वश वे हमारे ध्यान मे नही आते। केवलज्ञानी मे राग और द्वेष न स्थूल रूप से है और न सूक्ष्म रूप से। आत्मज्ञानी में सूक्ष्म रूप से कभी हो सकता है, कभी नहीं। साधारण साधक मे अधिकाश रूप से सूक्ष्म रूप से होता ही है, कभी-कभी नहीं भी हो सकता।

जितना-जितना व्यक्ति शान्त होता जाता है, उतना ही स्थूल से सूक्ष्म राग-द्वेष का भी पता चलता है।

'अहो भाग जाणई, उड्ढ भाग जाणइ, तिरियं भागं जाणइ।'

अधोलोक, मध्य लोग, ऊर्ध्वलोक।

इसका एक अर्थ है, इस विश्व के तीनो लोक। दूसरा अर्थ है—शरीर का अधोभाग, मध्य भाग और ऊर्ध्व भाग, तीसरा—कारण, परिस्थिति और परिणाम।

कारण—अधोभाग—भूतकाल

परिस्थिति—मध्य भाग—वर्तमान

परिणाम—ऊर्ध्वभाग—भविष्यकाल।

वह इन तीनो लोको को देखता है। प्रथम अर्थ सम्पूर्ण ज्ञानी की अपेक्षा से है। द्वितीय अर्थ—साधारण साधक की अपेक्षा से है। इसमे साधना की अपेक्षा से मन भी आ सकता है। लेकिन तब वह बहुत ही गहरी बात हो जाएगी। वर्तमान वृत्ति के पीछे रहा हुआ पुरातन सस्कार अधोभाग। वर्तमान वृत्ति मध्य भाग और उस वृत्ति का परिणाम ऊर्ध्व भाग। तीसरा अर्थ—आत्मज्ञानी की अपेक्षा से है। वह प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति को अपनी ज्ञानदृष्टि से देखता हुआ कारण और परिणाम सहित सभी को जानता है।

गड्ढिए लोए · जो इस लोक मे मूर्च्छित होता है, वह 'अणु परियट्टमाणे' अर्थात् बार-बार यही पर घूमता रहता है। वह यह भी देखता है कि देखो मेरा मन कितना मूर्च्छित है और मन की परिस्थितियो को देखते हुए यह भी देखता है कि मन की वृत्तियो मे मूर्च्छित रहने के कारण पुन -पुन· उन्हीं वृत्तियों में घूम रहा हू। वह यह भी देखता है कि मूर्च्छित रहने के कारण कितनी बार मैं पुन -पुन घूम चुका हूँ।

सधि विइत्ता सधि का अर्थ होता है, प्रथम ग्रन्थि—अर्थात् गाठ, वह इस ग्रन्थि को जान लेता है। कर्मो की ग्रन्थि, कषायो की ग्रन्थि, जितना-जितना ग्रन्थि को जानता है, उतना-उतना मुक्त होता है। वह देखता है कि देखो मे किस प्रकार ग्रन्थि को बॉध रहा हूँ। वह यह भी देखता है कि इस ग्रन्थि के बधन का कारण क्या है और परिणाम क्या है और वह यह भी देखता है कि इन ग्रन्थियो के कारण ही बन्धन और

परिभ्रमण है। तब वह फिर ग्रन्थि से विरत होता है, ग्रन्थि से पीछे हटता है और गाठो को खोलने की शुरूआत करता है, क्योकि जान-बूझ कर गाठो को कौन बॉधेगा? अज्ञानवश ही हम गांठें बॉध रहे हैं। इन गाठो का ज्ञान होते ही, 'सधि विइत्ता मच्चिएहिं' अर्थात् उनसे मुक्ति होती है।

सन्धि : का दूसरा अर्थ है—क्षण अर्थात् उचित अवसर। दीर्घद्रष्टा इस उचित अवसर को जानकर इसका उपयोग करता है। सस्कारों से मुक्ति का अवसर और बन्धनों से मुक्त होने की सन्धि विशेष रूप से कहॉ प्राप्त होती है? इस मर्त्यलोक मे, मनुष्य लोक मे, जो साधक—दीर्घद्रष्टा है, वह इस अवसर को जान लेता है।

जे बद्ध पडिमोयए बन्धनो से मुक्त होने हेतु, ग्रन्थियों से मुक्त होने के लिए उपयोग करता है वह वीर है। ऐसा वीर जो बन्धनो से मुक्ति की ओर बढ जाता है अथवा जो बन्धनो से मुक्त हो गया है, वह प्रशसनीय है।

एस वीरे पसंसिए : इस प्रकार जो आयत चक्खू दीर्घद्रष्टा है और अपनी दीर्घदृष्टि से 'लोग विपस्सी' इस लोक को विशेष रूप से देखता है, वह वीर है, वह प्रशसनीय है।

जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।

1 प्रथम अर्थ : जैसे मेरे भीतर मेरा स्वरूप है, वैसा ही बाहर मे सभी का स्वरूप है। स्वरूप दृष्टि से सभी एक हैं।

2 दूसरा अर्थ जैसी मेरे अन्तर की दृष्टि है, वैसा ही मेरे बाहर का जगत् है। जैसा मुझे बाहर का जगत् प्रतीत होता है, वैसी मेरी अन्तर की दृष्टि है।

3 तीसरा अर्थ . जैसा मेरा शरीर और मन परिवर्तित हो रहा है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् मे परिवर्तन हो रहा है।

4 चौथा अर्थ जैसा मेरा शरीर नश्वर है, वैसा ही आसपास सभी कुछ नश्वर है। मेरा शरीर पुद्गल का है और पुद्गल जगत् का एक हिस्सा है।

निष्कर्षत व्यक्ति का स्वय के सम्बन्ध मे जो अनुभव होगा, वैसा ही वह बाहर सम्पूर्ण जगत् को देखेगा।

अशुचि भावना का अर्थ : यह देखना नही है कि देखो इस शरीर मे कितनी गन्दगी है। मूल बात देखने योग्य यह है कि इस शरीर मे जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलो

मे आकर्षित होने जैसा कुछ भी नही है। इसका अर्थ उन पुद्गलों से द्वेष करना भी नहीं है, अपितु शरीर के वास्तविक धर्म को आयत-चक्खू बनकर जान लेना है, क्योंकि जैसा हम इस शरीर को जानेगे, वैसा ही इस जगत् के साथ हमारा सम्बन्ध होगा। जो शरीर मे होता है, वही 'ब्रह्माण्ड मे' वैसा ही इस विश्व में। फिर मूल क्या है, इस ससार का—इस देह के प्रति रही हुई आसक्ति। इस देहासक्ति से ही इस विश्व मे नाना प्रकार के आसक्ति के सम्बन्ध बनते है, क्योंकि इस जगत् के साथ मे हम इस देह के द्वारा ही जुडे हुए है।

स्वभाव में लौटना : शरीर को गन्दा, अच्छा या बुरा मानना नही, क्योंकि गन्दा या अच्छा क्या है, यह मन की धारणा है, यह सारा पुद्गलो का परिणमन है। वही विष्ठा और मल कल परिवर्तित होकर मिट्टी बन जाएगा और कल कोई इसी से स्नान करेगा। अशुचि भावना का अर्थ, यह देखना है कि मेरे शरीर मे क्या है, जैसा भीतर है वैसा ही बाहर, तुम्हारे शरीर मे विश्व का सार समाया हुआ है और फिर इस विश्व के साथ भी हम उसी देह से जुडे हुए है। एक अन्य दृष्टि से, शुचि अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य है। अशुचि अर्थात् जो ग्रहण करने योग्य नही है। शुचि अर्थात् जो मेरा स्वभाव है। अशुचि अर्थात् जो मेरा स्वभाव नहीं है। मै इससे अलग हूँ। शरीर के प्रति अशुचि भावना का अर्थ है कि यह मेरा स्वभाव नही है, उसे अपना मानना भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति को देखना और जानना ही अशुचि भावना है। शरीर को देखते-देखते यह समझ मे आ जाएगा कि यह मेरे ग्रहण करने योग्य नही है। शरीर के प्रति जो आकर्षण है, वह इस बोध से विरत होगा। मै और शरीर भिन्न है, भिन्न थे और भिन्न रहेंगे, इस प्रकार से देखने से भ्रान्ति टूटती है और व्यक्ति स्वभाव मे आता है।

पडिए पडिलेहाए यह पद महत्त्वपूर्ण है। जो पडित है वह प्रतिलेखन करता है। प्रतिलेखन अर्थात् विपस्सी, वह विशेष रूप से देखता है। जो पण्डा अर्थात् बोध से युक्त है। प्रतिलेखन मन के विचारो का भी होता है। इस सूत्र की विशेपता यह है कि इसमे तीनो ही अवस्था आ सकती है। साधारण साधक की, आत्म-ज्ञानी की और केवलज्ञानी की।

घृणा · यहॉ पर यह ख्याल रखना कि घृणा करने जैसा कुछ भी नहीं है, क्योकि जो कोई निकृष्ट से निकृष्ट कार्य भी कर रहा है, वह भी अन्तत· आत्मा का ही रूप है।

मूलम् : कामा दुरतिक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ परितप्पइ॥ 2/5/93

मूलार्थ : काम-भोगो का परित्याग करना अति दुष्कर है। जीवन सदा क्षीण होता है, उसे बढाया नहीं जा सकता है, अत· कामेच्छा से युक्त व्यक्ति अपनी वासना की पूर्ति न होने से शोक करता है, खेद करता है, रोता है और सब प्रकार से पश्चात्ताप करता है।

यहॉ पर दिया हुआ है दुरतिकम्मा—काम-भोग का त्याग करना दुष्कर हे।

काम-भोगों के त्याग की दुष्करता—पहले काम-भोग के अर्थ को समझे। इसमे दो शब्द है काम और भोग। काम अर्थात् कामना जागना और भोग, अर्थात् कामना का पूर्ण होना। इस प्रकार काम-भोग शब्द के अन्दर सभी अवस्थाएं आ गयी। अतिक्रम से अनाचार तक।

काम · कामना जागना—अतिक्रम, भोग अर्थात् उस कामना को पूर्ण करना अनाचार—अब यह काम-भोग अतिक्रम से—अनाचार ये चारों ही अवस्थाए तीन प्रकार से त्रियोग—मन से, वचन से, काया से। मन से भी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। वचन से भी अतिक्रम और काया से भी।

यह बात जरा भिन्न है। जैसे अभी तक आपने पढा हुआ है कि मन मे विचार आना, इच्छा जागना, अतिक्रम, पूर्ण सकल्प जागना व्यतिक्रम, कार्य करने हेतु पूरी तरह तैयार हो जाना। अतिचार और उस कार्य को सम्पन्न कर लेना अनाचार। इस प्रकार इसका अर्थ यह हुआ। अतिचार और अनाचार, अधिक-से-अधिक काया से ही हो सकते है, मन से नही। तब फिर त्रिकरण और त्रियोग से प्रत्याख्यान कैसे होगे? यदि मन से अतिचार-अनाचार नही हो सकता तब फिर, मन से करना, कराना एव अनुमोदना के प्रत्याख्यान किस प्रकार? लेकिन क्योकि प्रत्याख्यान त्रिकरण त्रियोग से दिये हुए है। इससे यह सिद्ध होता है कि मन से भी करना, कराना एव अनुमोदना हो सकता है। अत· केवल मन से ही अतिचार और अनाचार भी हो सकता है।

मन से अतिचार और अनाचार किस प्रकार? मन मे साधारण रूप से इच्छा का जागना, जैसे किसी व्यक्ति के प्रति क्रोध आना, अतिक्रम। अनेक विचारो के पश्चात्

अथवा उसी विचार के पुन -पुनः आने पर उस क्रोध, स्वरूप, उसे किसी भी प्रकार से हानि पहुँचाने हेतु संकल्प करना व्यतिक्रम। मन-ही-मन उस कार्य को सम्पन्न करने हेतु सकल्प करना, सामग्री जुटाना अतिचार, मन के द्वारा उस कार्य को सम्पन्न कर लेना, उस व्यक्ति को मन-ही-मन हानि पहुँचा देना अनाचार। इसमे भी सबसे शक्तिशाली है मन, सबसे अधिक कर्म-बन्धन मन के द्वारा होता है। काया और वचन के पीछे भी अन्तत मूल कारण है मन।

मन के इस जाल से बचने के लिए, मन के द्वारा अतिचार और अनाचारो से विमुक्त होने के लिए मन मे जब भी कोई इच्छा जागे, विचार आये तो उसका प्रतिलेखन करना, अर्थात् अवलोकन करना। यह अवलोकन करना कभी-कभी, तीव्र मूर्च्छा और मोह के समय कठिन प्रतीत होता है। उस समय प्रभु के प्रति, शरण एवं प्रार्थना का भाव मै आपकी शरण आया हूँ। मुझे इस मूर्च्छा से बाहर निकालो। इस प्रकार प्रार्थना-स्तुति, सत्सग सभी का धीरे-धीरे असर होता है।

इस प्रकार तीनो योगो मे चारों की अवस्थाए हो सकती है, वह भी तीन रूप से। करना-कराना और अनुमोदना। अनुमोदना का अर्थ—होता है—**समणुजाणाति**, अर्थात् उसको सम्यक् जानना। अच्छा है ऐसा होता रहे। अच्छा है वह ऐसा करता रहे। इस तरह किसी भी कार्य को, बात को सम्यक् जानना मन से, वचन से बोलकर और काया से।

कर्मो का आगमन

जैसे ही किसी भी प्रकार का सकल्प या आत्मपरिणाम जागता है, उस परिणाम से आत्मप्रदेशो मे प्रकम्पन होता है। उस प्रकम्पन से उस आकाश प्रदेश में रही हुई कर्म वर्गणाएँ, आत्म प्रदेशो की ओर आकृष्ट होती है। तदनन्तर परिणाम और इसके अनुसार स्थिति और रस-बन्ध होता है।

अतिक्रम से अनाचार तो किसी भी कर्म बन्धन की चार अवस्थाए है। फिर वह कर्म पाप हो या पुण्य हो, ये चारो ही अवस्थाए होती है। सबसे हल्का कर्म बन्धन न्यूनतम, अतिक्रम सबसे भारी कर्म बन्धन, अधिकतम अनाचार। कर्मो का आगमन और बन्धन तो अतिक्रम से ही चालू हो जाता है। फिर आगे जैसा रस होगा, उस प्रकार कर्म अवस्थाए होती है।

उसमे भी अनेक भग हैं। अनाचार की भी अनेकानेक अवस्थाए है। एक तो पूरी तरह से लीन हो जाना; तीनो ही योगो का उस कार्य के साथ लीन हो जाना, किसी एक योग का लीन होना, अंशत लीन होना इस प्रकार अनेकानेक अवस्थाएं होती है।

अब यह देखना है कि काम-भोग छोड़ना दुष्कर क्यो? क्योकि कामनाए, सदैव जागती रहती हैं और इन कामनाओ का कारण क्या है? इन सारी कामनाओ के पीछे एक मूलभूत आधारभूत कामना है, जीने की कामना, जीवैषणा।

जीवैषणा क्यों? क्योकि उसे अपने स्वभाव का पता नही है कि मै अनादि अनन्त और अजर-अमर हूॅ। उसको लगता है कि मै मर भी सकता हूॅ। उसे मृत्यु का भय है। उसे मृत्यु का भय क्यों है? क्योकि वह अपने आपको देह स्वरूप मानता है, आत्मज्ञान का अभाव है।

काम-भोग छोडना दुष्कर है, क्योकि जैसे पहले ही बताया गया कि कामनाए निरन्तर जगती रहती है। एक पूरी हुई दूसरी और दूसरी के पूरी होने के बाद तीसरी प्रारभ होती है। यहाँ पर भी साधक के लिए कहा गया है कि कामना जग भी जाए पर यदि वह केवल उसका अवलोकन करता रहे, तव वह अपने आप चली जाएगी। यह साधना का रास्ता है, फिर भी कुछ कामनाए इतनी प्रबल होती है, कुछ संस्कार इतने तीव्र और चिकने होते है कि साधक उनके साथ बह जाता है। इस प्रकार जब तक देह के साथ अभेद बुद्धि है, तब तक कामनाए जागती ही रहेगी। देहासक्ति मूल जड है और फिर जन्म से हमे यही पता है कि मैं देह हूॅ। आत्मा और देह का नीर-क्षीर का सम्वन्ध हो गया है। इस सम्बन्ध से परे सत्य को जानने के लिए आत्म-ज्ञान, भेद-ज्ञान और स्वरूपबोध आवश्यक है। इस देहबुद्धि के पीछे अनत जन्मो के सस्कार है। ये सस्कार मुख्यत· चार प्रकार के हैं—आहार, भय, मैथुन, परिग्रहसज्ञा।

साधना करते रहे, अपने आप अनुभव होगा। अभी हम देह से जुडे हुए है। इस देहबुद्धि के कारण आहारशुद्धि स्थानशुद्धि, सद् वाचन, संत-समागम, स्वाध्याय, विधि-निषेध को बताने वाले ये नियम-उपनियम आवश्यक है। इन सारी बातों का प्रभाव मुख्यत देह और मानसिक भावनाओं पर पडता है। हम देह और भावनाओ के

साथ नीर-क्षीरवत् जुडे हैं जिस दिन हम देहबुद्धि से मुक्त हुए, फिर आसपास का वातावरण, आहार इत्यादि असर नहीं करते।

यह प्रत्यक्ष है कि अशुद्ध भोजन करने पर उसका असर देह पर होता है और इन्द्रिया एव मन के माध्यम से आत्मपरिणाम भी विचलित होते है। इस प्रकार देह-बुद्धि रहते हुए, यह सब आवश्यक है। इसी कारण साधु भी दो प्रकार के होते हैं।

1 कल्प में रहने वाले, 2 कल्पातीत। जिसकी देहबुद्धि अभी शेष है उसे कल्प मे रहना आवश्यक है। दूसरी प्रकार के कल्पातीत साधु के लिए कल्प मे रहना यद्यपि आवश्यक नहीं है, फिर भी अधिकांशत· वह उसका पालन करेगा, क्योंकि एक तो उसके लिए वे सारे नियम-उपनियम स्वाभाविक हो जाएंगे। और दूसरे लोग सदा ही बड़ो का अनुकरण करते है। इस कारण छोटो को अनुकरण/मार्गदर्शन देने के लिए कल्पातीत साधु नियमो का पालन करते है। यदि वे नियमो का पालन न भी करे, तब भी उनका चारित्र सम्यक् चारित्र ही है।

हम कभी इस देहबुद्धि मे डूब न जाएं, इसलिए सारे कल्प की व्यवस्था है। अधिकतर हम देखते है कि बिना नियमो के देहबुद्धि रहते हुए, जागरूकता नही रह पाती। भीतर से जितनी शुद्धि कम होगी, उतनी ही साधक को नियमो की आवश्यकता है। इस कारण पचमकाल मे समस्त सघ के लिए इतने नियम-उपनियमो को बनाया गया चूंकि इस काल मे मोहनीय कर्म की प्रबलता है, इसलिए निमित्तो से बचना आवश्यक है।

नियमो के बिना साधना का मार्ग जोखिम का मार्ग है। हम तो देखते है कि यह बाह्य साधना, नियम-उपनियम और आन्तरिक साधना रूप समन्वित मार्ग बहुत आसान है। यही जिन-शासन की महिमा है। ऐसे तो सभी मार्ग अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक है। अनेकान्तवाद के आधार पर देखे, तब सभी मे कहीं-न-कही कोई सत्य समाया हुआ है। परन्तु उन सव मे जिन-शासन का मार्ग राजमार्ग है। कोई स्वीकार करे या न करे, चलकर देखने पर स्वय पता चल जाएगा।

आचार्य, उपाध्याय पद की योग्यता

जैसा कि कहा जाता है, आचार्य, उपाध्याय और स्थविर कल्पातीत होते है।

इसका अर्थ यह है जो साधक कल्पातीत अवस्था को प्राप्त हुए हो, वे ही आचार्य, उपाध्याय पद के लिए योग्य है।

स्थविर तीन प्रकार के—1 दीक्षा स्थविर, 2. वय स्थविर एव 3 श्रुत स्थविर।

दीक्षा स्थविर दीक्षा स्थविर का अर्थ है जिसकी दीक्षा बीस वर्ष या उससे अधिक। इसके पीछे यह अर्थ है कि यदि कोई साधक किसी सुयोग्य आत्म-ज्ञानी गुरु की नेश्राय में सुचारु रूप से साधना करता है तो 20 वर्ष के अन्तर्गत वह कल्पातीत हो ही जाएगा। बीस वर्ष भी बहुत अधिक हैं। वस्तुत आत्म-ज्ञानी गुरु के सान्निध्य मे तो साधक बहुत ही जल्दी पहुँच सकता है।

श्रुत स्थविर इसी प्रकार सद्गुरु की सन्निधि मे श्रुत-मार्ग पर बढ़ते हुए व्यक्ति कल्पातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है और इतना श्रुत-अध्ययन करते हुए उसे 15 से 20 वर्ष अपने आप लग जाएगे।

वय स्थविर वय स्थविर के सम्बन्ध मे वर्तमानकालीन अवस्थाओं मे कोई विशेष योग्यताएं आवश्यक नही है। केवल वय के आधार पर ही वे कल्पातीत हो जाते है, क्योकि 60 वर्ष की उम्र के पश्चात् शरीरबल क्षीण होकर इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है। इस कारण स्थविर सम्बन्धी विशेष योग्यताए न होते हुए भी, संयम मार्ग पर आगे बढने के लिए वे विशेष परिस्थितियो मे अपवाद मार्ग ग्रहण कर सकते है। इस प्रकार वे वय के आधार पर कल्पातीत है।

मूलम् : से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुम्पइत्ता विलुम्पइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ, त्तिबेमि॥ 1/2/5/96

मूलार्थ : जो मै कहता हूँ उसको जानो तथा धारण करो, कामचिकित्सा का उपदेशक पांडित्याभिमानी व्यक्ति, जीवो का हनन करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लूटता है, गला काटता है और प्राणों का विनाश करता है, और मै अकृत जिसे अभी तक किसी ने नही किया है, ऐसा काम करूँगा, इस प्रकार मानता हुआ अपनी या पर की अथवा दोनो की चिकित्सा करता है। इस प्रकार काम-चिकित्सा

या व्याधि-चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी जीवो का सग नही करना चाहिए। अत. इन क्रियाओं के अनुष्ठान मे अणगार को कभी प्रवृत्त नही होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अणगार—मुनि को उक्त सदोष क्रियाए करनी नही कल्पती है।

जैनाचार्यो के पास अनेक विधि विधान थे और अनेक प्रकार की विधाओं का ज्ञान था। लेकिन वह आगे नही आया। उसके दो कारण है। एक तो यह कि उसको सँभालने की शक्ति किसी के पास नही थी। जितनी महान विद्या होगी, उतनी ही अधिक शक्ति चाहिए। दूसरा कारण उतनी शुद्धता नही थी। मोह कर्म का प्राबल्य था। जैसे कि आज वर्तमानकाल मे है, क्योकि शक्ति होने पर साधना तो कर लेंगे, लेकिन शुद्धता नही हुई तो साधना को कैसे सँभालेगे?

इस प्रकार शक्ति और शुद्धता की न्यूनता के कारण साधना, अनेक विद्याए, आगे नही बढ़ सकी। फिर भी कुछ ऐसे लोग होते है जो इन्हे साधते भी है और सँभालते भी हैं। लेकिन प्रकट नही करते, क्योकि इससे धर्म प्रभावना होने के बदले अनेक बार कई स्वार्थी और लोभी लोग आसपास इकट्ठे हो जाते है, इसलिए महापुरुष इन्हे विशेष रूप से प्रकट नही करते।

यहाँ पर आपने पिछले दो सूत्रो मे देखा कि एक महत्त्वपूर्ण भाव की बात की गयी। वह है, कर्ता। मैने किया था, मै कर रहा हूँ अथवा मै करूंगा, आज तक किसी ने नही किया ऐसा मै करूँगा। इस कर्ताभाव की चिकित्सा क्या है? इसकी चिकित्सा है—शरणभावना, समर्पणभावना। तब फिर कर्ताभाव नहीं रहेगा। यह कर्ता-भाव बहुत ही सूक्ष्म परन्तु बहुत ही प्रभावशाली बन्धन है। कर्ता-भाव तीनो काल सम्बन्धी हो सकता है। अत शरण-भाव आवश्यक है। इसके पूर्व शरण-भाव के सम्बन्ध मे बताया था। उस प्रकार शरणभाव के आने पर कर्ता-भाव स्वयमेव तिरोहित हो जाता है और शरण मे जाने के लिए क्या करना है? कुछ भी नही करना है, बस केवल शरण मे रहना है।

द्वितीय अध्ययन : लोकविजय

षष्ठ उद्देशक

पाचवें उद्देशक में यह बताया गया है कि सयम का सम्यक्तया परिपालन करने के लिए मुनि आहार आदि का ग्रहण तो करे, परन्तु उसमे आसक्त नही बने। प्रस्तुत उद्देशक मे भी मुख्यतया इसी बात का वर्णन किया गया है कि मुनि को आहार आदि मे मूर्च्छा भाव नहीं रखना चाहिए। प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार निम्नोक्त है—

मूलम्—से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा॥97॥

छाया—स तत् संबुद्धयमान· आदानीयं समुत्थाय तस्मात् पाप कर्म नैव कुर्यात् न कारयेत्।

पदार्थ—**से**—वह। **तं**—उस चिकित्सा के फल को। **सबुज्झमाणे**—जानता हुआ। **आयाणीयं**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र को स्वीकार करे। **समुट्ठाय**—सयम साधना मे सावधान हो कर। **तम्हा**—इसलिए। **पाव कम्मं**—पाप कर्म को। **नेव कुज्जा**—न स्वय करे; और न। **कारवेज्जा**—न अन्य से करावे।

मूलार्थ—वह मुनि चिकित्सा के फल को जानता हुआ ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार करके, सावधानी पूर्वक संयम का परिपालन करे, किन्तु न तो स्वयं पाप कर्म मे प्रवृत्ति करे और न अन्य को पाप कर्म मे प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करे।

हिन्दी-विवेचन

पचम उद्देशक के अन्तिम सूत्र मे यह बता आए है कि काम एव व्याधि, चिकित्सा अनेक दोषो से युक्त है। उसमे अनेक प्राणियो की हिंसा होती है और उससे साधु जीवन मे अनेक दोषो के प्रविष्ट होने की सभावना रहती है। अत· साधु को उसके दुष्परिणाम को जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे प्रवृत्ति करते हुए समस्त पाप

कार्यों से बचकर रहना चाहिए। न स्वय कोई पाप कर्म करना चाहिए और न अन्य व्यक्ति से पाप कर्म करवाना चाहिए, क्योंकि इससे उसके अन्य महाव्रतों मे भी दोष लगता है।

पाचों महाव्रतो का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। एक में दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए बिना नही रहता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अन्नयरंमि कप्पइ, सुहट्ठी लालप्पमाणे, सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती॥98॥

छाया—स्यात्तत्र एकतरं विपरामृशति षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्प्यते सुखार्थी लालप्यमान· स्वकीयेन दु.खेन मूढः विपर्यासमुपैति स्वकीयेन दुःखेन प्रमादेन पृथग् वयं (व्रतं) प्रकरोति यस्मिन् इमे प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रत्युपेक्ष्य नो निकरणाय एषा परिज्ञा प्रोच्यते कर्मोपशान्ति।

पदार्थ—**सिया**—कदाचित्। **तत्थ**—उससे। **एगयर**—किसी एक पृथ्वी आदि काय का। **विप्परामुसइ**—समारम्भ—किसी एक आस्रव से आरम्भ करता है, तो। **छसु**—6 काय में। **अन्नयरंमि**—किसी एक काय का आरम्भ करने पर। **कप्पइ**—प्राय 6 काय का आरम्भ हो जाता है। **सुहट्ठी**—सुखाभिलाषी। **लालप्पमाणे**—अधिक प्रलाप करता हुआ या अपने मन, वचन और काय को उस क्रिया मे लगाता हुआ। **सएण**—स्वकीय। **दुक्खेण**—दु'ख से। **मूढे**—वह मूढ। **विप्परियासमुवेइ**—विपरीत भाव को प्राप्त होता है, और फिर। **सएण**—स्वकीय। **विप्पमाएण**—प्रमाद से। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **वयं**—व्रत का। **पकुव्वइ**—भेदन करता है। **जंसिमे**—इस ससार मे ये। **पाणा**—प्राणी। **पव्वहिया**—विभिन्न दु खों से सतप्त एवं पीड़ित होते है। **पडिलेहाए**—ऐसे कर्म फल को जानकर या विचार कर। **नो निकरणयाए**—जिससे दु ख की अभिवृद्धि होती है, वैसा कर्म न करे। **एस**—यह। **परिन्ना**—परिज्ञा। **पवुच्चइ**—कही जाती है, जिससे। **कम्मोवसंती**—कर्म उपशात हो जाते है।

मूलार्थ—कई बार ऐसा भी होता है कि एक काय की हिसा करते हुए छह काय की हिंसा हो जाती है और एक प्राणातिपात विरमण व्रत का भग करने से अन्य व्रतो का भी भग हो जाता है। भौतिक सुखाभिलाषी व्यक्ति भोगों के लिए प्रलाप करता है। अपने कर्मोदय से मूढता एव विपरीत भाव को प्राप्त होता है और विभिन्न प्रकार से प्रमाद का सेवन करने से वह व्रतो का भग करता है और परिणाम स्वरूप अनेक योनियो मे परिभ्रमण करता हुआ दु:ख का सवेदन करता है। पाप कर्म मे सलग्न प्राणी विभिन्न दु:खो को भोगते है। अत साधक को पाप कर्म का कभी भी सेवन नही करना चाहिए। यही तेजस्वी एव शक्तिशाली परिज्ञा है, इससे कर्मो का सर्वथा क्षय हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि एककाय की हिसा से छह काय की हिंसा भी हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम अध्ययन मे कर चुके है। यहा यह विशेष रूप से बताया गया है कि जेसे एककाय की हिसा से छह काय की हिसा होती है, उसी प्रकार एक महाव्रत के भग होने पर शेष महाव्रत भी भग हो जाते है। इसका तात्पर्य यह है कि पाचो महाव्रत एक-दूसरे से संबद्ध है और एक दूसरे पर आधारित है। जैसे साधु किसी प्राणी की हिसा करता है तो वह केवल अहिंसा व्रत से ही च्युत नही होता है, अपितु अन्य व्रतो से भी गिरता है। उसकी हिंसा नही करने की प्रतिज्ञा असत्य हो गई, इसलिए उसका दूसरा व्रत दूषित हो जाता है और जीव की बिना आज्ञा उसके प्राणों का अपहरण करने रूप चोरी करता है। जो व्यक्ति हिसा के कार्य मे प्रवृत्त होता है, वह किसी कामनावश होता है और कामना-वासना अब्रह्मचर्य है और उस सजीव प्राणी को ग्रहण करने रूप परिग्रह तो है ही। इस प्रकार जो साधु झूठ बोलता है, वह व्यक्ति के मन को आघात पहुचाने रूप हिंसा करता है, वीतराग आज्ञा का उल्लघन रूपी चोरी करता है। वह झूठ भी किसी कामना-वासना एवं आसक्तिवश बोलता है। इसलिए चौथा एवं पाचवा महाव्रत भी भग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य व्रतो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक व्रत मे दोष लगने से, शेष व्रत भी दूषित हो जाते है।

प्रश्न—फिर मनुष्य पापकर्म मे क्यो प्रवृत्त होते हैं?

बात तो ठीक है, परन्तु इसका कारण यह है कि मनुष्य अपने सुख के लिए या यो कहिए कि अपने स्वार्थ को साधने के लिए पाप कर्म मे प्रवृत्त होता है। जब मनुष्य के जीवन में स्वार्थ की भावना जागृत होती है तो उस समय वह ससार के प्राणियो के हित को तो क्या अपने हित को भी भूल जाता है। पदार्थो एव भौतिक सुखो का मोह एव तृष्णा मनुष्य की हिताहित की दृष्टि को आवृत कर लेती है। वह कुछ सब जानते हुए भी मूढ़ बन जाता है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है—

एक राजा को भयंकर रोग हो गया। कई राजवैद्यो से चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नही हो पाया। एक अनुभवी वैद्य को बुलाया, उसने राजा के रोग को शात कर दिया और साथ मे यह भी कह दिया कि इस रोग का मूल कारण आम्रफल है। अत यदि आप स्वस्थ एव कुछ दिन जीवित रहना चाहते है, तो कभी भी आम न खाएं। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय बीतता चला गया, एक दिन राजा उद्यान मे घूम रहा था। आम का मौसम था। आम के वृक्षो की शाखाएं मधुर पके फलो से लदी हुई विनम्र शिष्य की भाति झुक रही थी। आम्र फलो की मधुर सुवास चारो ओर फैल रही थी। फलो की सुवास एव उनके सौदर्य को देखकर गजा का मन ललचा गया। मत्री ने उसे रोकना भी चाहा, परन्तु तृष्णा ने राजा के मन पर अधिकार जमा लिया था। अत सबके उपदेश को ठुकराकर वह आम खा ही गया और उसका परिणाम महावेदना के रूप मे प्रकट हुआ और उसने राजा के प्राण भी ले लिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वार्थ, तृष्णा एव मोह के वश मनुष्य अपना हित भी भूल जाता है। तो ऐसी स्थिति मे दूसरों के हित को देखने का तो प्रश्न ही नही उठता। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि दोषो मे आसक्त व्यक्ति को भी अधा कहा गया है। उसके बाहरी आंख तो रहती है, परन्तु आत्मज्ञान पर मोह, अज्ञान एव कषायो का गहरा अवगुण्ठन पडा रहने से वह हिताहित को नही देख पाता। इसलिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्त होता है।

'लालप्पमाणे' का अर्थ है—बार-बार प्रवृत्ति करना **'विप्परियासमुवेइ'** का अर्थ है—**'हितमप्यहितबुद्धयाऽधिष्ठत्यहितं च हितबुद्धयेति'** अर्थात् हित के कार्य को अहितकर एव अहित के कार्य को हितप्रद समझना। इसे बुद्धि की विपरीतता भी कहते है। **'पुढो वय पकुव्वइ, पृथगू-विभिन्नं व्रतं करोति यदि वा—का** तात्पर्य

यह है—**पृथु—विस्तीर्ण 'वयमिति वयन्ति पर्यटन्ति प्राणिनःस्वकीयेन कर्मणा यस्मिन् स वयः—संसारस्तं करोति, तथा वयः अवस्था विशेषः'** अर्थात् यह जीव व्रत का भग करता है और परिणामस्वरूप ससार मे परिभ्रमण करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रमाद के वश मनुष्य अपने पथ से भटक जाता है और विभिन्न दुष्कार्यो मे संलग्न होता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को प्रमाद का त्याग करके सयम में प्रवृत्त होना चाहिए, जिसके कारण वह सारे कर्मो को क्षय करके पूर्ण सुख को प्राप्त कर सके।

व्यक्ति सुख-दु ख जो कुछ भी पा रहा है, वह स्वकृत कर्म का फल है। स्वय प्रमाद एव आसक्ति का सेवन करके ही वह मूढ भाव को प्राप्त होता है। अत. सबसे पहले आसक्ति, ममत्व एव मूर्च्छाभाव का त्याग करना चाहिए। इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्ठपहे मुणी जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि॥

नारइं सहइ वीरे, वीरे न सहइ रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ॥99॥

छाया—यो ममायित मतिं जहाति, स त्यजति ममायितं, स खलु दृष्ट पथः मुनिः, यस्य नास्ति ममायितं, तं परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोक वांत्वा लोके संज्ञां स मतिमान् प्राक्रमेत, इति ब्रवीमि।

नारतिं सहते वीरः, वीरो न सहते रतिं।
यस्माद् अविमनो वीरः, तस्माद् वीरो न रज्यति॥1॥

पदार्थ—जे—जो। **ममाइयमइं**—ममत्व बुद्धि को। **जहाइ**—छोडता है। **से**—वह। **ममाइयं**—स्वीकृत परिग्रह को। **चयइ**—छोड़ता है। **से**—वह। **हु**—निश्चय ही। **मुणी**—मुनि। **दिट्ठपहे**—मोक्ष पथ को देखने वाला है, तथा। **जस्स**—जिसके। **ममाइयं**—स्वीकृत परिग्रह। **नत्थि**—नही है, तथा। **तं**—उस परिग्रह के स्वरूप को। **परिन्नाय**—जानकर। **मेहावी**—बुद्धिमान् फिर। **विइत्ता**—जानकर। **लोगं**—लोक को।

लोगसन्नं—लोक सज्ञा को। **वंता**—वमन कर जो विचरता है। **से**—वह है। **मइमं**—मतिमान्। **परिक्कमिज्जासि**—संयमानुष्ठान मे पराक्रम करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

वीरे—वीर पुरुष। **अरइ**—सयम में अरति को। **न सहइ**—सहन नहीं करता और फिर। **वीरे**—वीर पुरुष। **रतिं**—असयम में रति को। **न सहइ**—सहन नही करता। **जम्हा**—जिससे। **वीरे**—वीर पुरुष का। **अविमणे**—मन दूषित न हो। **तम्हा**—इसलिए। **वीरे**—वीर पुरुष। **न रज्जइ**—शब्दादि विषय एवं परिग्रह मे मूर्छित नही होता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति ममत्व भाव का परित्याग करता है, वही स्वीकृत परिग्रह का त्याग कर सकता है। जिसके मन मे ममत्व भाव नही है, वह मोक्षमार्ग का द्रष्टा है। अत जिसने परिग्रह के दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग कर दिया है, वह बुद्धिमान है। क्योंकि जो लोक के स्वरूप को जानकर लोक सज्ञा का त्याग करता है, वहीं प्रबुद्ध पुरुष सयम साधना मे पुरुषार्थ करता है।

वीर पुरुष सयम मे अरति और असयम में रति को सहन नही करते। वे रति-अरति दोनों का त्याग करते है। इसलिए वीर पुरुष शब्दादि विषयो मे आसक्त नहीं होते।

हिन्दी-विवेचन

मुनि के लिए यह आवश्यक है कि वह परिग्रह का सर्वथा त्याग करे। पूर्ण अपरिग्रही व्यक्ति ही मुनित्व को स्वीकार कर सकते है और इसके लिए—पूर्ण अपरिग्रही बनने के लिए केवल बाह्य पदार्थो का त्याग करना ही पर्याप्त नही है, अपितु उनकी ममता, आसक्ति एवं मूर्छा का परित्याग करना आवश्यक है। हम यो भी कह सकते है कि ममत्व का त्याग करने पर ही व्यक्ति अपरिग्रह की ओर बढ सकता है। जब तक पदार्थो की लालसा, भोगेच्छा एवं आसक्ति मन में चक्कर काट रही है, तब तक बाह्य पदार्थो का त्याग कर देने पर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा है। आगम मे स्पष्ट शब्दों मे कहा है—"कि जो साधक वस्त्र, सुगधित पदार्थ, पुष्पमाला, आभूषण, स्त्री आदि का उपभोग करने मे स्वतन्त्र नहीं है या उसे ये साधन उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु उसके मन मे भोगेच्छा अवशेष है तो वह त्यागी नही कहा जा सकता है। त्यागी

वही कहला सकता है, जो कांतकारी, प्रियकारी प्राप्त भोगो को भोगने मे स्वतन्त्र एव समर्थ होते हुए भी उनका एवं उनकी वासना का त्याग कर देता है।"[1]

इससे स्पष्ट होता है कि आसक्ति का त्याग करने वाला व्यक्ति ही परिग्रह का त्याग कर सकता है। अत· साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले आसक्ति के कारणो का परिज्ञान करे। इसमें यह बताया गया है कि लोक सज्ञा से आहार, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थो की इच्छा-आकांक्षा मन में जाग-सकती है। अत· मुनि को लोक सज्ञा का परित्याग करके संयम मे सलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित गाथा के चारों पदो में **'वीर'** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सयम साधना में अरति का, असयम में रति का, मन मे अमध्यस्थ भाव का और शब्दादि विषयो मे आसक्ति उत्पन्न होने का प्रसग उपस्थित होने पर भी जो अपने मन को, विचार को एवं आत्मा को उस प्रवाह मे नही बहने देता, वही वास्तव मे वीर है। योद्धा का वीरत्व तभी माना जाता है, जब वह बलवान शत्रु के बाणो के प्रवाह मे, भीषण बम वर्षा मे भी अपने मार्ग को छोडकर नही भागता, अपितु शत्रु को परास्त करके छोडता है। इसी प्रकार विषय-वासना एव कषायो के प्रबल झोंको मे भी जो लडखडाता नही, उसे ही वीर कहा गया है और ऐसे सयमनिष्ठ साधक का बार-बार वीर शब्द का प्रयोग करके आदर-सत्कार किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'दिट्ठपहे' पद भी इस अर्थ को परिपुष्ट करता है। इसका अर्थ है—**दृष्टो ज्ञानादिको मोक्षपथो येन स दृष्टपथः"** जिस व्यक्ति ने ज्ञानादि रूप मोक्ष मार्ग को सम्यक्तया देख लिया है, उस मुनि को दृष्टपथ कहा गया है। यदि इसे **'दृष्ट भय'** पढा जाए तो इसका अर्थ होगा—सात भय का परिज्ञान करके उनकी उत्पत्ति के मूल कारण परिग्रह का जिसने त्याग कर दिया है।

'मइमं' का अर्थ है—बुद्धिमान्। अर्थात् जिसमे सत्-असत् को समझने की बुद्धि

---

1 वत्थगन्धमलकार इत्थिओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥
—दशवैकालिक 2, 2, 3

है। इससे यह सिद्ध होता है कि विचारशील एवं विवेकवान व्यक्ति संयम के प्रतिकूल परिस्थितियो एवं वातावरण के उपस्थित होने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, वह समस्त विकारों पर विजय पा लेता है, इसलिए उसे वीर शब्द से सबोधित किया गया है।

'वीर' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह है—**"विशेषेणेरयति—प्रेरयति अष्ट प्रकारं कर्म्मारिषड्वर्ग वेति वीरः"** अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मो को आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि छह आतरिक शत्रुओ को परास्त करता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि वीर पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सद्दे फासे अहियासमाणे, निव्विद नंदिं इह जीवियस्स।
मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं॥2॥
पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्तदंसिणो।
एस ओहंतरे मुणी, तिन्ने मुत्ते विरए वियाहिए॥3॥
त्तिबेमि॥100॥

छाया—शब्दान् स्पर्शान् अध्यासमानः सम्यक् सहमानः, निर्विदस्व नन्दिमिह जीवितस्य मुनिर्मौन समादाय धुनीयात् कर्म शारीरिक प्रान्त रूक्ष सेवन्ते वीराः सम्यक्त्व दर्शिनः। एष ओघंतरो मुनिस्तीर्णमुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सद्दे—शब्द। **फासे**—स्पर्श को। **अहियासमाणे**—सम्यक् प्रकार से सहता हुआ, हे शिष्य! **निव्विद**—तू निवृत्त हो। **नंदिं**—राग-और द्वेष से, तथा। **इह**—इस मनुष्य लोक मे। **जीवियस्स**—असयम मय जीवन के सम्बन्ध से। **नंदिं**—राग से निवृत्त हो। **मुणी मोण समायाय**—यही मुनि का मौन भाव है, इसी को ग्रहण करके। **धुणे कम्म सरीरग**—कर्म शरीर और औदारिक शरीर को धुन देवे। **पत**—तथा जो स्वाभाविक रस रहित वा स्वल्प। **लूहं**—राग रहित रूक्षाहार। **सेवन्ति**—सेवन करते हैं। **वीरा**—वीर पुरुष। **सम्मत्तदंसिणो**—सम्यक्त्वदर्शी वा परमार्थ के

देखने वाले। **एस**—यह। **मुणी**—मुनि। **ओहंतरे**—भवौघ संसार-सागर को तैरता है, तथा। **तिन्ने**—ससार समुद्र को पार कर जाता है, तथा। **मुत्ते**—परिग्रह से मुक्त हुआ। **विरए**—विषयादि से विरत हुआ। **वियाहिए**—कहा गया। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू शब्द और स्पर्श आदि को सम्यक्तया सहन करता हुआ राग और द्वेष से रहित हो, तथा असयम जीवन के मंबन्ध में हर्ष मत कर, हे मुने! तू मौन भाव को ग्रहण करके कार्मण शरीर को धुन दे। समदर्शी आत्माएं प्रात और रूक्ष आहार का सेवन करती है, वे ही वीर है। यह मुनि ससार सागर को पार कर गया, अत: उसे तीर्ण, मुक्त विरत कहा गया है, इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि साधु को शब्दादि विषयो को भली-भाति जानकर उनमें आसक्त नही होना चाहिए। क्योंकि उनमे आसक्त होने से अनुकूल विषयो पर राग-भाव और प्रतिकूल विषयो पर द्वेष भाव आना स्वाभाविक है और राग-द्वेष ही कर्म बन्ध के मूल कारण है। यह बात ठीक है कि मनुष्य के सामने, जहां तक साधक के सामने भी ये विषय आते है, अनुकूल एव प्रतिकूल शब्द, गध, रूप, रस और स्पर्श का सयोग भी मिलता रहता है। अतः इसका यह अर्थ नहीं है कि साधु कान-आख आदि बन्द करके चले या बैठा रहे। विषयो से वचने का तात्पर्य इतना ही है कि उनमे आसक्त न हो, अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार के विषयो की ओर ध्यान न दे। अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रसग उपस्थित होने पर समभाव का त्याग न करे, अर्थात् विषमता के प्रवाह में न बहे।

इसलिए यह आदेश दिया गया है कि मुनि विषयो में राग-द्वेष न करे। यही उसका मौन है। वस्तुत देखा जाए तो मौन का अर्थ केवल नही बोलना ही नहीं है। नही वोलना, यह व्यावहारिक या द्रव्य मौन है। इसमे केवल शब्द के विषय-भाषा को रोका जाता है, उसमे भी वोलने पर ही प्रतिबन्ध है, न कि सुनने पर भी। श्रोत्र-इंद्रिय की प्रवृत्ति द्रव्य मौन मे खुली रहती है, अत: मौन का यथार्थ अर्थ है—शब्दादि विषयो में राग-द्वेष नही करना। क्योंकि कर्म बन्ध राग-द्वेष से होता है। केवल इन्द्रियो के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्म का बन्ध नही होता है, जब तक

कि उसके साथ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नही होती है। इसलिए साधक को राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे यह होगा कि राग-द्वेष से निवृत्त हो जाने पर नए कर्मो का बन्ध नहीं होगा और पुराने कर्म की निर्जरा करके वह कार्मण शरीर को ही नष्ट कर देगा, जिसके आधार पर जीव औदारिक आदि शरीर धारण करता है और विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है। ससार का सारा खेल कर्म पर ही आधारित है, उसका नाश होने पर खेल की समाप्ति स्वत ही हो जाएगी। नीव उखाड फेकने पर गगनचुम्बी भवनो का स्थित रहना भी नितांत असभव है। इसी प्रकार कर्म का उन्मूलन ही ससार का उन्मूलन है और उसके लिए कर्म के मूल कारण राग-द्वेष को समाप्त करने की आवश्यकता है। अत' मुनि को चाहिए कि वह विषयो से सदा मौन रहे, अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करे। यही कर्मो को नष्ट-विनष्ट करने का प्रशस्त मार्ग हे।

'संमत्तदसिणो–पाठ भी इसी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो समदर्शी है–अनुकूल एव प्रतिकूल विषयो के उपस्थित होने पर भी जिसकी दृष्टि मे विषमता नही आती, वही वीर पुरुष कर्म की विषाक्त लता को निर्मूल कर सकता है। अत. हम कह सकते है कि ससार-सागर को पार करने के लिए समता की नौका को स्वीकार करना अनिवार्य है। समभाव की साधना जितनी विकसित होती जाएगी, उतना ही राग-द्वेष कम होता जाएगा और राग-द्वेष के घटने का अर्थ है–ससार का घटना। जब हमारी आत्मा मे समभाव की पूर्ण ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी, तो राग-द्वेष का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा और उसके साथ ससार का भी अन्त ही समझिए।

अत मुनि को चाहिए कि वह परिग्रह एवं विषयो की आसक्ति का परित्याग करे। क्योकि आसक्ति से परिणामो एव विचारो मे विषमता आती है, राग-द्वेष के भाव उद्बुद्ध होते है। इसलिए उसके मूल कारण असक्ति का त्याग करने वाला साधक ही बाह्य परिग्रह से भी निवृत्त होता है और एक दिन समस्त कर्मो एव कर्म जन्य साधनो से मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

जो व्यक्ति परिग्रह एव विषयों की आसक्ति से मुक्त एव विरत नही हुआ है, उसकी क्या स्थिति होती है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्—दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ॥101॥

छाया—दुर्वसुमुनिः अनाज्ञया तुच्छः ग्लायति वक्तुम् एष वीर· प्रशंसितः अत्यति लोकसंयोगं एष न्यायः प्रोच्यते।

पदार्थ—दुव्वसु—दुर्वसु। **मुणी**—मुनि। **अणाणाए**—आज्ञा के बिना—दुःखो को सवेदन करता है। **तुच्छए**—ज्ञानादि शून्य, वह। **गिलाइ वत्तए**—शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने मे ग्लानि पाता है। किन्तु जो साधक शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करता है। **एस वीरे**—वह वीर। **पसंसिए**—प्रशसित है, और। **लोए**—लोक। **संजोगं**—सयोग को। **अच्चेइ**—छोड देता है। **एस**—यह। **नाए**—न्याय-सगत। **पवुच्चइ**—कहा जाता है।

मूलार्थ—जो साधक मोक्षमार्ग पर गति करने के योग्य नही है, वह आज्ञा से वाहर है और ज्ञानादि से भी रहित है। अत· वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने मे ग्लानि का अनुभव करता है। परन्तु प्रबुद्ध साधक वास्तविक मार्ग को बताने में नही सकुचाता। इसलिए वह वीर प्रशसनीय है और वह लोक के सयोग से भी मुक्त हो जाता है। ऐसा कहना न्यायसगत कहा जाता है।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे कहा गया है कि **'आणाए धम्मं'** अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि आज्ञा मे कौन है?

इसी प्रश्न के समाधान मे कहा गया है कि जो मोक्ष के योग्य है, वही भगवान की आज्ञा मे है। मोक्ष की योग्यता सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर आधारित है। इससे स्पष्ट हो गया कि जिस व्यक्ति को सम्यग् ज्ञान का आलोक नही, वह अज्ञान के अन्धकार मे इधर-उधर टकराता फिरेगा, किन्तु मोक्ष मार्ग पर गति नही कर सकेगा। क्योकि उसे उस मार्ग का ज्ञान ही नही और जब ज्ञान ही नही, तब उस पर चलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए यह कहा गया कि सम्यग् ज्ञान से रहित व्यक्ति भगवान की आज्ञा मे नही है और ज्ञानाभाव के कारण ही वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने मे हिचकिचाता है। इसके विपरीत ज्ञानसंपन्न व्यक्ति भगवान की

आज्ञा में है, क्योकि वह भगवान द्वारा प्ररूपित शुद्ध मार्ग पर चलने एव उसकी प्ररूपणा करने में सकुचाता नही है। अत भगवान की आज्ञा मे प्रवर्त्तने वाला साधक ही मोक्ष मार्ग के योग्य है। इस मार्ग को न्याय मार्ग भी कहा गया है, क्योकि ससार सबन्ध का त्याग करने वाला मुनि ही इसे स्वीकार करता है।

'दुव्वसुमुणी-दुर्वसुमुनिः' का अर्थ है—भव्यजीव मुक्ति के योग्य है। क्योंकि **'वसु'** का अर्थ द्रव्य माना है और भव्य संज्ञक जीव द्रव्य ही मुक्ति योग्य है। अत· अभव्य जीव को **'दुर्वसुमुनिः'** कहा है। कारण कि उसमे मोक्ष जाने की योग्यता नही है, अर्थात् साधुवेश ग्रहण कर लेने पर भी मोक्ष के आधारभूत सम्यग् ज्ञान आदि का अभाव होने से वह मोक्ष के अयोग्य है।[1] इसी कारण वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा नही कर सकता।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान युक्त व्यक्ति ही इस पथ पर चल सकता है और इसका उपदेश देकर दूसरो को भी सन्मार्ग बता सकता है। इसलिए उपदेश का भी महत्त्व माना गया है। उपदेश के महत्त्व को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिन्नमुदाहरंति, इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे जे अणण्णारामे से अणन्नदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ॥102॥

छाया—यद् दुःख प्रवेदितमिह मानवानां तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति, इति कर्म परिज्ञाय सर्वशो योऽनन्यदर्शी सोऽनन्यारामो योऽनन्यारामः स अनन्यदर्शी यथा पुण्यवतः कथ्यते तथा तुच्छस्य कथ्यते यथा तुच्छस्य कथ्यते तथा पुण्यवतः कथ्यते।

पदार्थ—**जं**—जो। **दुक्खं**—दु ख का कारण। **पवेइय**—प्रतिपादन किया है। **इह**—इस ससार मे। **माणवाणं**—जीवो को। **तस्स**—उस। **दुक्खस्स**—दु.ख रूप कर्म

---

1 वसु—द्रव्यम्, एतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादित 'द्रव्य च भव्य' इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्ति-गमनयोग्य, ततश्च मुक्तिगमनयोग्य यद्द्रव्य तद्वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनि·—मोक्षगमनायोग्य। —आचाराग वृत्ति

को। **कुसला**–निपुण पुरुष। **परिन्नमुदाहंरति**–ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर इस प्रकार कहते है। **इइ कम्मं**–इस प्रकार कर्म को। **परिन्नाय**–जान कर। **सव्वसो**–सर्व प्रकार से। **जे**–जो। **अणन्नदंसी**–यथावस्थित पदार्थो को देखने वाला है। **से**–वह। **अणन्नारामे**–मोक्ष मार्ग के बिना अन्यत्र रमण नही करता। **जे**–जो। **अणण्णारामे**–मोक्ष मार्ग के विना अन्यत्र नही रमता है। **से**–वह। **अणन्नदंसी**–अनन्यदर्शी–यथार्थदर्शी है। **जहा**–जैसे। **पुण्णस्स**– पुण्यवान् के आगे। **कत्थइ**–धर्म कथादि कहता है। **तहा**–उसी प्रकार। **तुच्छस्स**–निर्धन के आगे। **कत्थइ**–कहता है, फिर। **जहा**–जैसे। **तुच्छस्स**–निर्धन के आगे। **कत्थइ**–कहता है। **तहा**–वैसे ही। **पुण्णस्स**–पुण्यवान के आगे। **कत्थइ**–कहता है। (केवल समभाव और निर्जरा के लिए ही उक्त दोनो के आगे धर्म कथादि कहता है)।

मूलार्थ–इस ससार मे जीवों के लिए, जो दु:ख के कारण बताए गए है, कुशल पुरुष उनका परिज्ञान करके त्याग कर देता है। इस प्रकार वह कर्म के स्वरूप को जानकर उससे छूट जाता है। जो यथार्थ द्रष्टा है वह मोक्ष पथ के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो मोक्षमार्ग के अतिरिक्त अन्यत्र नही रमता है, वही अनन्यदर्शी यथार्थ द्रष्टा है। अत वह जैसे ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को धर्मोपदेश देता है, मोक्ष मार्ग का पथ बताता है, उसी प्रकार निर्धन व्यक्ति को भी उपदेश देता है। जिस भाव से निर्धन को उपदेश देता है, उसी भाव से ऐश्वर्यवान् को भी उपदेश देता है। तात्पर्य यह है कि उसकी उपदेश धारा मे प्राणिमात्र के प्रति समभाव एव हित बुद्धि रही हुई है, उसमे बडे-छोटे का भेद नही रहता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि जो साधक कुशल–बुद्धिमान है, वह संसार मे उपलब्ध होने वाले दु खो के कारण को जानकर उस मार्ग का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह दु:खो एव कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति का मन ससार मे नहीं लगता। वह ससार से ऊपर उठ जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है कि "जो अनन्यदर्शी है वह अनन्याराम है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।" इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जो यथार्थ द्रष्टा है–संसार एवं आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता-पहचानता है, वह मोक्ष मार्ग

से अन्यत्र गति नहीं करता। क्योंकि उसका लक्ष्य, उसका ध्येय आत्मा को समस्त कर्म बन्धनो से मुक्त-उन्मुक्त करना है। इसलिए उसके पग उसी पथ पर ही उठेगे। जिसके पग उस मोक्ष-पथ पर बढ रहे है तो समझना चाहिए कि वह यथार्थ द्रष्टा है। इससे यह बात सिद्ध की है कि सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। उक्त त्रिपथ की समन्वित साधना से ही आत्मा समस्त दु:खो से सर्वथा छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि इस सूत्र मे दर्शन और चारित्राचार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु ज्ञान और दर्शन दोनो सहभावी है। बिना ज्ञान के दर्शन, दर्शन के बिना ज्ञान का अस्तित्व नही रहता है। इसलिए 'अनन्यदर्शी और अनन्याराम' के द्वारा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित साधना से ही निर्वाण पद बताया गया है।

इसलिए साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले कर्मो के स्वरूप को जाने। क्योकि दु ख के मूल कारण कर्म ही हैं। अत उनके स्वरूप का बोध हुए बिना उनका त्याग कर सकना कठिन है। यह प्रश्न हो सकता है कि कर्मो का स्वरूप किस प्रकार जाना जाए? इसके लिए आगम में बताया गया है—कर्म की मूल प्रकृतिया आठ हैं और उनका चार प्रकार से बन्ध होता है—1 प्रकृतिबन्ध, 2 स्थितिबन्ध, 3 अनुभागबन्ध और 4 प्रदेशबन्ध। इनके स्वरूप को समझने से कर्म का स्वरूप भली-भाति समझ मे आ जाता है[1]।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अणन्नदसी और अणन्नारामे' पाठ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—**"अन्यद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी—यथावस्थित-पदार्थद्रष्टा, कश्चैवं भूतो? यः सम्यग्दृष्टिमौनीन्द्रप्रवचना-विर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यामो—मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते।"** अर्थात् जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धात के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नही करता और जो अपने चिन्तन-मनन, विचारणा एव आचरण को अन्यत्र नही लगाता, वही तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है और ऐसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष तीर्थकरों द्वारा प्ररुपित मोक्ष मार्ग का पथ बता सकते है, यथार्थ

1 इस विषय मे विशेष जानकारी करने मे लिए पाठक मेरे द्वारा लिखित 'जीव कर्म सवाद' निबन्ध पढे।

उपदेश दे सकते हैं। क्योंकि उनके उपदेश में समभाव की प्रमुखता रहती है। वे महापुरुष समदर्शी होते है। उनके मन में धनी, निर्धन का, छूत-अछूत का, पापी-धर्मी का कोई भेद नहीं होता। उनका ज्ञान-प्रकाश उनकी उपदेश धारा किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, सप्रदाय विशेष, वर्ग विशेष के बधनों से आबद्ध नही होती। वे जिस विशुद्ध भाव से एक ऐश्वर्य सन्पन्न व्यक्ति को उपदेश देते है, उसी भाव से घर-घर की खाक छानने वाले भिखारी को भी देते है। जिस भाव से एक निर्धन को देते है, उसी भाव से एक धनी को देते है। ऐसा नही कि गरीब को जो कुछ मन मे आया, वह कह दिया और सेठ जी के आते ही ज़रा चिकनी-चुपडी बाते बनाने लगे। आगम मे अनाथी मुनि का उदाहरण आता है। वे उस युग के एक महान् ऐश्वर्य सम्पन्न एव शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक को भी अनाथ कहते हुए नही हिचकिचाते और निर्भयता के साथ श्रेणिक की अनाथता को सिद्ध कर देते है। जिसे श्रेणिक स्वय स्वीकार कर लेता है। उस महामुनि ने केवल श्रेणिक की ही अनाथता नही बताई थी, अपितु समस्त पूजीपतियो के धन-सम्पत्ति और राजाओ के ऐश्वर्य एव सैनिक शक्ति के मिथ्याभिमान एव अहकार को अनावृत करके रख दिया था। तो कहने का तात्पर्य यह है कि भय प्राणियो को सन्माग पर लाने के लिए वे यथार्थ द्रष्टा कभी भी छोटे-बडे का भेद नही करते। वे सबको समान भाव से उपदेश देते है।

उपदेष्टा को सबके प्रति समभाव रखना चाहिए, उसके मन में भेद भाव नही होना चाहिए। परन्तु इसके साथ उसे परिषद् अर्थात् श्रोताओ की योग्यता, परिस्थिति एव वहां के देश काल का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे इन बातो का पूरा-पूरा बोध नही है, तो उससे अहित होने की भी सभावना हो सकती है। अत उपदेष्टा कैसा होना चाहिए, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्—अवि य हणे अणाइयमाणे; इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के॥103॥

छाया—अपि च हन्यात् अनाद्रियमाणः अत्रापिजानीहि श्रेय इति नास्ति कोऽय पुरुषः कं च नतः? एष वीर. प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचकः ऊर्ध्व अधः तिर्यग् दिशासु सः सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते क्षणपदेन वीरः, स मेधावी अणोद्घातन खेदज्ञः यश्च बंधप्रमोक्षान्वेषी कुशलः पुनः नो बद्धः नो मुक्तः!

पदार्थ—**जाण**—हे शिष्य! तू यह जान कि। **इत्थपि**—यहां पर भी। **अवि**—अपि शब्द सभावनार्थक है, जैसे कोई व्यक्ति। **अणाइयमाणे**—साधु के वाक्य का अनादर करता है। **य हणे**—और दण्ड आदि से मारता है, तो। **सेयति नत्थि**—इस प्रकार कथा करनी श्रेयस्कर नही है (कारण कि-राजादि के प्रतिकूल कही गई कथा लाभ के बदले हानि का ही कारण बन जाती है। तब किस प्रकार से धर्म कथा करनी चाहिए? **केयं**—कौन-यह। **पुरिसे**—पुरुष है। **च**—और फिर। **कं**—किस देव को। **नए**—नमस्कार करने वाला है, अर्थात् किस देव को मानता है (इस प्रकार जानकर धर्मकथा करनी चाहिए)। **एस**—यह व्याख्यान की विधि को जानने वाला। **वीरे**—कर्मो के विदारण मे समर्थ पुरुष। **पससिए**—प्रशसा के योग्य है, क्योकि वह। **जे**—जो व्यक्ति। **बद्धे**—आठ प्रकार के कर्मो से बद्ध है उसको। **परिमोयए**—कर्म बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है। तथा वह। **उड्ढं**—ऊर्ध्व। **अहं**—नीची। **तिरिय**—मध्य। **दिसासु**—दिशाओ मे-जो जीव रहते है उनको कर्म बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है। **से**—वह वीर पुरुष। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सव्व परिन्नाचारी**—सर्व परिज्ञाओ का आचरण करने वाला अर्थात् विशिष्ट ज्ञान से युक्त। **छण पएण**—हिसा के पद से। **न लिप्पइ**—लिप्त नही होता। **वीरे**—अत वह वीर है। **से**—वह। **मेहावी**—बुद्धिमान् है, तथा वह। **अणुग्घायणखेयन्ने**—कर्मो के नाश करने मे निपुण है। **य**—और वह। **बधपमुक्खमन्नेसी**—बन्ध और मोक्ष का अन्वेषक—अन्वेषण करने वाला है। **कुसले**—चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करने वाला-तीर्थकर वा सामान्य केवली। **पुणो**—फिर वह। **नोबद्धे**—न तो घातिकर्मो से बद्ध होता है। **नोमुक्के**—और न मुक्त अर्थात् भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से वह मुक्त भी नही।

मूलार्थ—ऐसा होना भी सभव है कि श्रोताओ के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किए बिना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल

देनेवाला हो। अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओं मे से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने या ताडना तर्जना करने पर भी उतारू हो जाए तो यह असम्भव नही, इसलिए परिषद् के अभिप्राय को जाने बिना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नहीं है। अत' उपदेशक के लिए उपदेश देने से पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है? इन सब बातो का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशसा के योग्य है तथा वह ऊची-नीची और मध्य दिशा मे उत्पन्न होने वाले जीवों को आठ प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है, और सब प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम बुद्धिमान्, कर्मो के नाश करने मे समर्थ और बन्ध मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है एव वह कुशल, अर्थात ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करने वाला, मिथ्यात्व और कषाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करने वाला (तीर्थकर वा सामान्य केवली) न तो बद्ध है और (भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से) न ही मुक्त है। तात्पर्य कि घातिकर्मो के क्षय होने के बाद उसको कर्म का वन्ध नही होता, इसलिए वह बद्ध नही और नाम गोत्र आदि अघातिकर्मो का वहां सद्भाव है। अत वह कर्मो से सर्वथा मुक्त भी नही कहा जा सकता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि उपदेशक को स्व और पर-सिद्धान्त के साथ श्रोताओ की स्थिति, योग्यता एव मान्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि वह परिषद् मे उपस्थित व्यक्तियो की मान्यता से परिचित नही है; तो ऐसी स्थिति मे दिया गया उपदेश और रूप में परिणत हो सकता है, उसका परिणाम उपदेशक की आशा के विपरीत आ सकता है।

श्रोताओ के विचारो को जाने विना दिया गया उपदेश कभी-कभी उनकी उत्तेजना को बढा देता है। अपने विश्वासो एव मान्यताओ से विपरीत विचार सुनकर उनके विचारो मे आवेश आ जाना स्वाभाविक है और फिर उन्हे सभालना वक्ता के लिए कठिन हो जाता है। आजकल सभाओ मे कई बार ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि धर्मोपदेशक मुनि को श्रोताओं के अभिप्राय

का, उनकी मान्यताओ का बोध होना चाहिए। अन्यथा उसके उपदेश से लोगों में उनके प्रति अनादर का भाव उत्पन्न होगा और परिणाम स्वरूप वे उपदेशक को तिरस्कार एव अपमान जन्य शब्दो से विभूषित कर सकते है। यदि कही अधिक उग्रवादी व्यक्ति हुए तो डडे आदि का भी प्रयोग कर सकते है। अतः जो वक्ता देश, काल एव श्रोताओ की मान्यताओ से परिचित होता है, वह परिषद् मे कभी भी अपमान को प्राप्त नही होता।

उपदेश का उद्देश्य लोगो को यथार्थ मार्ग दिखाना है। इसलिए उपदेशक को बडी सतर्कता से काम लेना पडता है। उसका काम इतना ही है कि वह उपदेश के द्वारा उनके मन में सत्य-अहिसा आदि आत्म गुणो की ज्योति जगाकर उन्हें आत्म-चिन्तन एव सदाचार की ओर गतिशील कर दे और यह काम तभी हो सकेगा जब कि वह उनके विचारो से परिचित होगा और उन्ही की भाषा मे उन्हे समझने मे प्रवीण होगा। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवे अध्ययन मे जयघोष-विजयघोष के प्रकरण मे उपदेशक की शैली का बडा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। दोनो व्यक्ति ब्राह्मण कुल मे जन्मे थे, परन्तु एक श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गया और दूसरा वैदिक यज्ञ-याग मे उलझ रहा है। एक समय मुनि जयघोष वाराणसी मे पधारते है और भिक्षा के लिए विजयघोष के यहां जा पहुचते है। विजयघोष मुनि को यह कह कर भिक्षा देने से इनकार कर देता है कि मै वेद मे पारगत एव वैदिक धर्म का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को ही भिक्षा दूगा। मुनि इससे रुष्ट नही होते है, वे समभाव पूर्वक खडे रहते है और उसे वैदिक विश्वासो के अनुसार धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझाते है। वे उसे याज्ञिक भाषा मे तत्त्व का उपदेश देते है। उसका परिणाम यह होता है कि विजयघोष के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह चिन्तन की गहराई मे उतरता है और वास्तविकता को समझकर साधना के यथार्थ पथ पर गतिशील हो उठता है, मुनि धर्म को स्वीकार कर लेता है और उत्कृष्ट साधना के द्वारा समस्त कर्मो को तोड़कर दोनो महामुनि मोक्ष को प्राप्त करते है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता को बोलने से पहले श्रोता के विचारो का ज्ञान होना जरूरी है। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि यह किस मत का है और यदि कोई उससे प्रश्न पूछ रहा हो तो उस समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न

कर्ता का उद्देश्य क्या है? वह समझने की दृष्टि से पूछ रहा है या वक्ता की परीक्षा करने के लिए या उसे निरुत्तर करने या हराने की दृष्टि से पूछ रहा है। उक्त सारी परिस्थितियों एव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला वक्ता ही उपदेश देने योग्य है। वह श्रोताओं के तथा प्रश्नकर्ता के मन का यथार्थ समाधान कर सकता है। उन्हे यथार्थ मार्ग बता सकता है। वह उन्हे कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग बताने मे भी योग्य है। क्योकि वह ज्ञान सम्पन्न और सदा-सर्वदा हिसा आदि दोषों से दूर रहता है। इसलिए वह प्रबुद्ध पुरुष कर्मो को क्षय करने मे निपुण है और वह प्रवृत्ति एवं पूर्व बँधे हुए बन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न मे सदा सलग्न रहता है। ऐसे महापुरुष को वीर, मेधावी, कुशल, खेदज्ञ आदि शब्दो से सम्बोधित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **"अणुग्घायण खेयन्ने"** और **"बन्धपमुक्खमन्नेसी"** दोनों शब्दो की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है—"जिसके प्रभाव से यह जीव ससार मे परिभ्रमण करता है, उसको अण-कर्म कहते है। उस कर्म का जो सर्वथा क्षय करने मे समर्थ है, उसे खेदज्ञ कहते हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति कर्मो को क्षय करने की विधि जानता है, वही मुमुक्षु—कर्म करने के लिए उद्यत पुरुषो मे कुशल एवं वीर माना जाता है। जो चारो प्रकार के बन्ध एव बन्धन से छूटने के उपाय मे संलग्न है, उसे बन्ध-मोक्षान्वेषक कहते है। परन्तु यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि **'अणुग्घायणखेयन्ने'** शब्द से मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के भेद से विभिन्न योग निमित्त से आने वाले **'कषायमूलकबध्मान'** कर्म की जो बद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित रूप अवस्था है, उसको तथा उसे दूर करने के उपाय को जो जानता है, लिया गया और **बन्धपमुक्खमन्नेसी**, शब्द से कर्म बन्धन से छूटने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान अपेक्षित है, इसलिए यहा पुनरुक्ति दोष का प्रसग उपस्थित नहीं होता है[1]।

---

1 अणोद्घातनस्य खेदज्ञ अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिक ससारमित्यण-कर्म तस्योत्प्रावल्येन घातन अपनयन तस्य तत्र वा खेदज्ञो-निपुण· इह हि कर्मक्षपणोद्यताना मुमुक्षूणा य कर्मक्षपण विधिज्ञ· स मेधावी कुशलो वीर इत्युक्त भवति। 2 यश्च प्रकृति स्थित्यनुभाव प्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि बन्धस्य यः प्रमोक्ष· तदुपायो वा तमन्वेष्टु-मृगयितु शीलमस्येत्यन्वेषी, यश्चैव भूत स वीरो मेधावी खेदज्ञ इतिपूर्वेण सम्बन्ध·, अणोद्घातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन मूलोत्तर प्रकृतिभेद भिन्नस्य योगनिमित्तायातस्य कषायस्थितिकस्य कर्मणो बध्यमानावस्था

प्रश्न—इस विवेचन से मन मे यह जानने की इच्छा होती है कि कर्मो को सर्वथा क्षय करने मे निपुण एवं बन्ध मोक्ष का अन्वेषक पुरुष छद्मस्थ है या वीतराग—सर्वज्ञ है?

उत्तर—इसका समाधान यह है कि ऐसा व्यक्ति छद्मस्थ ही हो सकता है, न कि केवली। क्योकि उक्त विशेषण केवली पर घटित नहीं होते हैं। इसलिए उसे असर्वज्ञ ही समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त **'कुसले'** शब्द केवली और छद्मस्थ दोनो का परिचायक है। यदि उसका अर्थ यह करें कि जिसने घातिक कर्मो का सर्वथा क्षय कर दिया है; उसे कुशल कहते है तो कुशल शब्द तीर्थकर या सामान्य केवली का बोधक है और जब इसका यह अर्थ करते है—जो मोक्षाभिलाषी है और कर्मो को क्षय करने का उपाय सोचने एव उसका प्रयोग करने मे सलग्न है, उसे कुशल कहते है तो कुशल शब्द से छद्मस्थ साधक का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त केवली ने चारो घातिककर्मो का क्षय कर दिया है, इसलिए वह कर्मो से आबद्ध नहीं होता, परन्तु अभी तक उसमे भवोपग्राही—वेदनीय; नाम गोत्र और आयु कर्म का सद्भाव है, अत वह मुक्त भी नही कहलाता। इसलिए 'कुसले' शब्द के आगे 'नो बद्धे न मुक्के' शब्दो का प्रयोग किया गया है। परन्तु छद्मस्थ साधक के अर्थ मे कुशल शब्द का अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके उस पथ पर गतिशील साधक है[1]। मिथ्यात्व एव कषाय के उपशम से उसकी आत्मा मे ज्ञान का उदय है, इसलिए वह ससार मे परिभ्रमण कराने वाले मिथ्यात्व आदि से बद्ध नही है, परन्तु अभी तक उसने उनको क्षय नहीं किया है, उनका अस्तित्व है, इसलिए वह मुक्त भी नही है।

बद्धस्पृष्ट निधत्त निकाचित रूपा तदपनयनोपाय च वेत्तीत्येतदभिहित, अनेन चापनयनानुष्ठानमिति न पुनरुक्त दोषानुषग प्रसजति।

1 कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षित स च तीर्थकृत सामान्य केवली वा छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषक, केवली तु पुनर्घातिकर्म क्षयान्नो बद्धो भवोपग्राहिकर्मसद्भावान्नो मुक्त कुशल —अवाप्त ज्ञान दर्शन चारित्रो मिथ्यात्वद्वादश कषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽद्यापि तत्सत्कर्मतासद्भावान्नो मुक्त इति।

—आचाराग वृत्ति

इसलिए मुमुक्षु पुरुष को किस प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से जं च आरभे जं च नारभे, अणारद्धं च न आरभे, छणं-छणं परिण्णाय लोगसन्नं च सव्वसो॥104॥

छाया—स यच्चारभते, यच्च नारभते अनारब्धं च नारभते, क्षणं-क्षण परिज्ञाय लोकसंज्ञां च सर्वशः।

पदार्थ—से—वह कुशल साधक। **जं**—जिस—कर्मो को क्षय करने के लिए सयमानुष्ठान को। **आरभे**—आरम्भ करता है। **च**—समुच्चयार्थक है। **जं च**—और जिन मिथ्यात्वादि ससार परिभ्रमण के कारणो को। **नारभे**—आरम्भ नहीं करता है। **च**—और। **अणारद्धं**—जो आचरणीय नहीं है। **नारभे**—उन्हे स्वीकार न करे, किन्तु। **छणं-छणं**—जिन-जिन कारणो से हिसा होती है, उन्हें। **परिण्णाय**—जानकर। **च**—तथा। **सव्वसो लोगसन्नं**—सर्व प्रकार से आहार आदि लोक सज्ञाओं का भी परित्याग कर दे, अर्थात् त्रिकरण त्रियोग से सज्ञा का परित्याग कर दे।

मूलार्थ—वह कुशल मुनि कर्मो का क्षय करने के लिए संयम-साधना को स्वीकार करता है। अत· वह मिथ्यात्व, अविरति आदि संसार परिभ्रमण के कारणो एव सर्वज्ञों द्वारा अनाचरणीय आचार को स्वीकार नहीं करता है और वह हिसा के स्थान को तथा लोकसज्ञा आदि के स्वरूप को भली-भांति जानकर उनका सर्वथा परित्याग कर देता है।

हिन्दी-विवेचन

ससार का कारण कर्म है और उनसे सदा मुक्त होना यह साधक का उद्देश्य है, लक्ष्य है। इसलिए वह मुनि कुशल कहा गया है, जो संयम-साधना के द्वारा कर्मो को क्षय करने का प्रयत्न करता है। वह प्रबुद्ध साधक मिथ्यात्व, अविरति आदि दोषो को ग्रहण नहीं करता और न वह ऐसे आचार को स्वीकार करता है, जो केवली भगवान द्वारा अनाचरित है[1]।

---

1 अनारब्ध—अनाचीर्ण केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षुर्नारभते—न कुर्यादित्युपदेशो, यच्च मोक्षागममाचीर्ण त कुर्यादित्युक्त भवति। —आचाराग वृत्ति

'छण—छण' शब्द का अर्थ है—हिंसा[1]। अत: मुनि हिंसा का त्याग कर के संयम साधना में प्रवृत्त होता है। उसके लिए वह लोक संज्ञा आदि का भी त्याग कर देता है। लौकिक सुख एवं परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह आत्म सुख का अनुभव कर सकता है[2]।

इससे स्पष्ट हुआ कि कर्मों को क्षय करने के लिए हिंसा आदि दोषों एवं अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करके जो शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करता है, वह साधक अपना आत्म विकास करते हुए दूसरे को भी यथार्थ मार्ग बताता है।

वस्तुत: उपदेश की किसको आवश्यकता होती है और संसार में कौन परिभ्रमण करता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ, त्तिबेमि॥105॥

छाया—उद्देशः (उपदेश:) पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनर्निह कामसमनुज्ञ: अशमित दुःख दुःखी दु:खानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—उद्देसो—उपदेश। **पासगस्स**—यथाद्रष्टा को। **नत्थि**—नहीं है, किन्तु जो। **बाले**—अज्ञानी है। **पुण**—फिर। **निहे**—स्नेह करने वाला। **कामसमणुन्ने**—काम-भोगों के अभिलाषी को। **असमिय दुक्खे**—असीम दुःख होता है। **दुक्खी**—वह बार-बार दु:ख का संवेदन करता है। **दुक्खाणमेव**—दु:खों के ही। **आवट्टं**—आवर्त्त में। **अणुपरियट्टइ**—परिभ्रमण करता रहता है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—यथार्थ द्रष्टा के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है। जो बाल अज्ञानी पुरुष है, वही बार-बार काम-भोगों में स्नेह करता है और बार-बार दु:खों के आवर्त्त में अनुवर्तन करता रहता है। इस प्रकार मैं कहता हूं।

---

1 'क्षणु हिंसायां' क्षणनं क्षणो—हिंसनं कारणे कार्योपचारात् येन येन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तत् ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। —आचारांग वृत्ति

2 लोकस्य—गृहस्थ लोकस्य संज्ञानं संज्ञा—विषयाभिष्वंगजनितसुखेच्छा परिग्रह संज्ञा वा तां च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यान परिज्ञया च परिहरेत्। —आचारांग वृत्ति

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है कि जो यथार्थ द्रष्टा है, तत्त्वज्ञ है, उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती; क्योकि वह अपने कर्त्तव्य को जानता है और अपने सयम पथ पर सम्यक्तया गति कर रहा है। इसलिए वह संसार-सागर से पार होने मे समर्थ है। ससार सागर को पार करने के लिए ज्ञान और क्रिया आवश्यक है। इनकी समन्वित साधना से ही साधक अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए निर्वाण पद को पाने के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों को स्वीकार करना जरूरी है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यही है कि कषाय, राग-द्वेष एव विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता है। दूसरे शब्दो मे हम यों कह सकते हैं कि कषाय, राग-द्वेष एव विषय-वासना ही ससार है। क्योकि ससार का मूलाधार ये ही है। इनमे आसक्त रहने वाला व्यक्ति ही ससार मे घूमता है। अत· इनका त्याग करना, विषय-वासना मे जाते हुए योगो को उस ओर से रोक कर सयम में लगाना, यही ससार से मुक्त होने का उपाय है और यही लोक पर विजय प्राप्त करना है। जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक शत्रुओं को जीत लेता है, उसके लिए और कुछ जीतना शेष नही रह जाता। फिर लोक मे उसका कोई शत्रु नही रह जाता। सारा लोक—ससार उसका अनुचर—सेवक बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि विषय-वासना की आसक्ति का त्याग-करने वाला अनन्त सुख को प्राप्त करता है। उसमे आसक्त रहने वाला व्यक्ति असीम दु खो को प्राप्त करता है। उसके दु खो का कभी अन्त नही आता। अत मुमुक्षु पुरुष को विषयो में आसक्त न होकर, साधना मे सलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ भी पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय अध्ययन लोकविजय समाप्त ॥

अध्यात्मसार : 6

मूलम् : अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्व परिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने, जे य बन्ध पमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के॥ 2/6/103

मूलार्थ ऐसा होना भी सम्भव है कि श्रोताओ के अभिप्राय और योग्यता आदि का ज्ञान प्राप्त किये बिना उनको दिया गया धर्मोपदेश निष्फल या विपरीत फल देने वाला हो, अर्थात् उपदेश को सुनकर श्रोताओ में से कोई मुख्य श्रोता उठकर उपदेशक साधु के वचन का अनादर करता हुआ उसे मारने-ताड़ने या तर्जना करने पर भी उतारू हो जाए तो यह असम्भव नही, इसलिए परिषद् के अभिप्राय को जाने बिना धर्मोपदेश करना भी श्रेयस्कर नही है। अत. उपदेशक के लिए उपदेश देने से पहले यह जानना बहुत आवश्यक है कि जिसको वह उपदेश देने लगा है, वह कौन, किस विचार का और किस देवता को मानता है। इन सब बातो का ज्ञान रखने वाला वीर पुरुष प्रशसा के योग्य है तथा वह ऊँची-नीची और मध्य दिशा मे उत्पन्न होने वाले जीवो को आठ प्रकार के कर्मो के बन्धन से मुक्त कराने मे समर्थ है, और सब प्रकार से सर्व परिज्ञा के अनुसार चलने वाला परम बुद्धिमान, कर्मो के नाश करने मे समर्थ और बन्ध-मोक्ष का यथावत् अन्वेषण करने वाला है और वह कुशल अर्थात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करने वाला, मिथ्यात्व और कषाय के उपशम से न तो बद्ध है और न मुक्त है अथवा कुशल, अर्थात् चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करने वाला 'तीर्थकर या सामान्य केवली' न तो बद्ध है और न 'भवोपग्राही कर्म के सद्भाव से' ही मुक्त है। तात्पर्य यह कि घातिकर्मो के क्षय से उसके कर्म का बन्ध नही होता, इसलिए वह बद्ध नही और नाम-गोत्र

आदि अघातिकर्मों का वहाँ सद्भाव है, अत- वह कर्मों से सर्वथा मुक्त भी नही कहा जा सकता।

वक्ता की योग्यता : कौशल

यहाँ वक्ता के सम्बन्ध में बताया गया है। 'के य पुरिसे कच नए?' वह पुरुष कौन है, कैसा है, उसकी आस्था कहाँ पर है, क्योंकि जो व्यक्ति जैसा होगा, उसे वैसी ही भाषा में समझाना होगा। वैसी ही भाषा वह समझ सकता है; अन्यथा बात सत्य होते हुए भी उसे असत्य प्रतीत होती है।

सर्वप्रथम यह कि वह पुरुष कौन है? अब यह कैसे पता चलेगा कि वह कैसा है? यह योग्यता वक्ता मे होनी चाहिए कि वह बिना पूछे पहचान जाए कि वह पुरुष कौन है, कैसा है? उसके आने से, बैठने से, चेहरे से, बोलने से, भाव-भंगिमा और शिष्टाचार से, उसे यह बोध हो जाना चाहिए कि उसके जीवन की मूल विचारधारा कैसी है, बिना पूछे ही वक्ता में यह जानने की क्षमता होनी चाहिए कि श्रोता का जीवन कैसा है। क्योकि अगर पूछोगे तो वह स्वय भी नहीं बता पाएगा कि मेरा जीवन कैसा है।

वक्ता मे यह योग्यता होती है कि जो व्यक्ति ने नहीं बताया वह उसे भी जान लेता है कि व्यक्ति की मूल प्रकृति कैसी है। वह परिग्रही है या लोभी है या उदार है, रोगी है या स्वस्थ है, आलसी है या परिश्रमी है? वह सदा अकेला रहता है या मित्र के साथ रहता है? इस प्रकार उसके सम्पूर्ण बाह्य-आभ्यन्तर व्यक्तित्व का पूरा लेखा-जोखा वक्ता दे सके। यह सब तत्क्षण होना चाहिए। ऐसा नही कि आज देखा और दो दिन बाद पहचाना। यदि प्रज्ञा इतनी सूक्ष्म हुई और पहचान इतनी प्रामाणिक हुई तो आगे का कार्य बहुत आसान एव सुचारु रूप से हो सकता है। इस प्रकार उपदेश के तीन हिस्से हुए—1 वह पुरुष कैसा है, 2 उसकी आस्था किसके प्रति है, 3 दोनो बातो का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर, दिया गया योग्य उपदेश।

आस्था : आस्था सभी मे होती है, किसी की आस्था सत्य के प्रति होती है तो किसी की आस्था असत्य के प्रति। इसलिए जीव को दर्शन रहित नही कहा। या तो वह सम्यक् दृष्टि है या फिर वह मिथ्या-दृष्टि है। वक्ता को यह देखना चाहिए कि

वह पुरुष यथार्थ का द्रष्टा है या अयथार्थ का। जो जैसा है वैसा देखना यथार्थ है।

अयथार्थ : जो जैसा है, वैसा नही देखना—भ्रान्त दृष्टिकोण, मोहनीय कर्म के उदय से दृष्टिकोण भ्रान्त हो गया। जैसे ऑखें तो है परन्तु आवरण आ जाने पर वह देख तो सकता है लेकिन जो है उससे कुछ अलग देखता है। जीव का गुण है दर्शन। अत. आस्था तो सभी में है। किसी की सत्य के प्रति, किसी की असत्य के प्रति, बिना आस्था के जीव हो नही सकता। बिना गुण के गुणी कैसे रहेगा?

इसे हम इस प्रकार से भी जान सकते है कि उसकी आस्था जीवन के किस दृष्टिकोण मे है। केवल खाना-पीना और जीना यही उसका साध्य है या वह जीवन एक सघर्ष है, ऐसा मानता है। व्यक्ति मान्यता मे जीता है। वह जैसी मान्यता बना लेता है, ठीक वैसे ही वह जीता है। यदि मान्यता भ्रान्त है तो उसका सारा जीवन भ्रान्त हो जाएगा।

व्यवहार सम्यक्त्व सुदेव, सद्‌गुरु और सद्धर्म की शरण, अर्थात् यथार्थ सत्य की शरण। निश्चय मे, यथार्थ का बोध होना, पूरे आवरण हट जाना, मिथ्या-दर्शन का आवरण हट जाना। जैसे कमरे की खिडकी बन्द हो तब पूर्ण रूप से ॲधेरा, फिर एक छोटा-सा छिद्र हो तो प्रकाश की किरण भीतर प्रवेश करती है। माना कि एक ही किरण है, लेकिन वह एक छिद्र भी और उस एक छिद्र से आने वाला प्रकाश भी—प्रकाश के अस्तित्व का, मूल स्वरूप का बोध करा देता है। वह है निश्चय सम्यक्त्व। व्यवहार क्या है? जो यथार्थ है उस यथार्थ के सम्बन्ध मे विश्वास अथवा मान्यता। जैसे देह अलग है, चेतन अलग है, लेकिन अभी वह हमे दिखाई नही पडता। फिर भी, क्योकि हमने अरिहन्त की शरण ली है अत' वे तो यह साक्षात् देख रहे है। लेकिन वे जो देख रहे है, वह हमे नही दिखाई पडता। अत अरिहन्त के शरण ऐसे है, जैसे अन्धा व्यक्ति ऑख वाले की ॲगली पकड लेता है। उसके पास तो ऑख नही है, लेकिन ऑख वाले की ॲगली पकड कर वह सुचारु रूपेण रास्ता पार कर लेता हे। इसी का नाम शरण है।

अरिहन्त प्रभु ने जो यथार्थ देखा है और बताया है, देह और चेतन भिन्न है, उसे मे भी मानता हूॅ और उस मान्यता के अनुसार अपने जीवन को ढालता हूॅ, क्योकि जैसा मेरा जीवन के प्रति दृष्टिकोण होगा, वैसा ही मेरे जीवन का आचरण होगा।

जैसे प्रभु ने बताया कि कन्द-मूल मे अनन्त जीव है और हमने स्वीकार किया कि प्रभु ने जो कहा है, वह सत्य है। फिर हमने उसका त्याग किया।

जैसे प्रभु ने बताया कि रात्रि मे भोजन करने से असख्यात जीवों की हिसा होती है। स्थविर-एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक, पंचेन्द्रिय सूक्ष्म समुच्छिंम जीव। इस प्रकार एक से लेकर पचेन्द्रिय तक की हिसा हो सकती है। आहार के प्रत्येक स्थान मे जीवोत्पत्ति हो जाती है। हमने यह सब प्रत्यक्ष और पूर्ण रूप से नहीं देखा, लेकिन भगवान ने जो देखा, वह मैं मानता हूँ और तदनुसार आचरण करता हूँ। आचरण कर भी सकू या न भी कर सकूं, लेकिन मै स्वीकार जरूर करता हूँ।

व्यवहार सम्यक्त्व में सबसे बडी दुविधा क्या है? दुविधा यह है कि भगवान ने वास्तव मे क्या कहा? सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते है। भले ही सभी एक ही भगवान और एक ही शासन को मानने वाले हैं, लेकिन मान्यताओ में बडा भेद है। जैसे कोई कहता है कि मन्दिर मे जाना पुण्य बन्धन और कर्म-निर्जरा का कारण है। कोई कहता है मदिर मे जाना ठीक नही है। अब सामान्य जनता इतनी प्रज्ञावान नही है कि वह दोनों ही दृष्टिकोण के पीछे रहे हुए आधार को देख पाए। अत भ्रान्ति होना स्वाभाविक है। इसका उपाय क्या है?

अनेकान्त दृष्टि : यदि साधुजन कहे कि मुझे यह मार्ग ऐसा लग रहा है। यह मेरा सोचना अथवा मेरा अनुभव अथवा मेरा अनुमान है। बल्कि इसके विपरीत भी सत्य हो सकता है। लेकिन जव दो विरोधी मान्यता वाले, धर्म गुरु हों और दोनो ही कहे मेरी ही वात सत्य है तव श्रोता असमंजस और दुविधा मे पड़ जाते हैं। अनेकान्तवाद का सहारा सभी दृष्टिकोणों को अपने में समाहित कर लेता है। अनेकान्त मे समन्वय हे, सत्य है, शान्ति, प्रेम और सोहार्द है तथा एकान्त मे सघर्ष है। यदि व्यवहार मे अनेकान्तवाद का आधार लिया जाए, तव कोई दुविधा नही। जैसे आपको लगता है ध्यान कर्म निर्जरा हेतु सर्वोत्तम मार्ग है, तव कोई कहेगा ध्यान करने से कुछ नही होता, स्वाध्याय करो। अब अनेकान्त की दृष्टि से देखे तो अनेकान्त किसी का विरोध नही करता। 'जीवो मगलम्' सभी जीव मगल है। यदि कोई विरोध भी करता है, तब भी हमें उनका विरोध नही करना। कहना कि उनकी बात भी ठीक हो सकती है, लेकिन मुझे यह बात ऐसी प्रतीत होती है और हो सकता है कि वे मेरी बात को

समझ नही पाए है। यदि कोई निदा भी करे, तब भी हमें निन्दा नहीं करनी। हो सकता है उन्हे इसमे यह गुण दिखाई नही देते। उन्हे मुझमे अवगुण दिखाई दे रहे है। यह उनका दृष्टिकोण है। उस सम्बन्ध मे हम न ही कुछ कह सकते है और न ही कुछ कर सकते हैं।

अभी जो समय आ रहा है, उसमे दो प्रकार के लोग हैं—एक तो अन्धानुकरण करने वाले और दूसरे जब तक उनको अनुभव नही आएगा, तब तक एक कदम भी आगे बढाने को तैयार न होने वाले। अब साधना के क्षेत्र मे दोनो आवश्यक है। जैसे हमने अभी-अभी देखा कि हम नही देख सकते, फिर भी हम श्रद्धा करते है, क्योकि हमें अनुभव हुआ हे कि उनकी शरण लेने से हमे मार्ग मिला है, हमारा विकास हुआ है।

जीवन में शरण कब लेगे? जब आप अनुभव करेगे कि शरण लेने से मेरे जीवन मे विकास हो रहा है और उस अनुभव से पहले, उस अनुभव की सम्भावना के प्रति भरोसा, अज्ञात मे भरोसा जैसे किसी को ध्यान का जरा भी अनुभव नही है, लेकिन उसके मन मे यह भरोसा है अथवा मन मे थोड़ा-सा अहसास है कि कुछ मिल सकता है। इस भरोसे से ही शुरूआत होगी। यदि भरोसा नही हुआ, तब प्रथम तो वह आएगा ही नही। यदि आ भी गया तो काम नही करेगा। हालांकि वह भरोसा थोड़े समय का है। वह टूट भी सकता है और बलवान भी हो सकता है। यदि उसे जो विकास चाहिए, वह नही मिलता, तब भरोसा नही रहेगा। यदि मिलने की शुरूआत हुई, तब भरोसा उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा।

यहाँ साधना के मार्ग पर कदम बढाने के लिए भरोसा पहले करना जरूरी है और उस भरोसे का विकास आपकी साधना एव आपके अनुभव से होगा। उस भरोसे का आपके जीवन मे प्रतिफल और परिणाम, आपकी साधना और अनुभव से आएगा।

प्रथम अहसास होना जरूरी है। हालाकि अहसास होने मात्र से पूरा जीवन तो नही बदलेगा। अहसास होना पर्याप्त नही है।

जब कोई व्यक्ति आपसे पूछे कि ध्यान करना आवश्यक हे या नहीं। ध्यान करना चाहिए या नही। तब उसे कहना मैने करके देखा और मुझे ठीक लगा, आप भी करके देखिए। अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण से देखो मुझे ठीक लग रहा है। हो

सकता है, आपको ठीक न भी लगे, लेकिन पहले करके देखने पर ही पता लगेगा।

हरेक को यही कहना कि पहले आप स्वयं करके देखो। यह बात साधना के हरेक क्षेत्र मे लागू होती है। फिर वह ध्यान है, अणुव्रत है, कन्दमूल या रात्रि-भोजन का त्याग। प्रत्येक अनुभव के लिए कम-से-कम छह माह आवश्यक है। चार से छह माह तक के समय में अनुभव आ सकता है, क्योकि मूल मार्ग तो कषाय की उपशान्ति है। अब यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भीतर देखना है कि कन्द-मूल छोडने से मेरे कषाय उपशान्त होते है या नही। ध्यान, स्वाध्याय अथवा किसी भी अनुभव के लिए 6 माह का समय देना।

अन्धानुकरण किसी का भी हो सकता है। उसमे व्यक्ति का अपना कोई आधार नही होता है। ऐसा अन्धानुकरण करने वाला व्यक्ति यदि सद्गुरु के पास जाए तो तर भी सकता है और यदि कुगुरु का सान्निध्य किया, तब डूब भी सकता है। ऐसे कई लोग होगे जो आपका भी अन्धानुकरण करेगे।

दोनो ही मार्ग सम्यक् नही हैं और दोनों भी जरूरी हैं। भरोसा भी और अनुभव भी। अनुभव भरोसे को पक्का करता है और भरोसा अनुभव करने के लिए तैयार करता है। इस काल मे हमे दोनों को ही साथ मे लेना होगा। जैसे आपके बताए हुए मार्ग पर कोई तभी चलेगा, जब पहले उसे आप पर थोडा भरोसा होगा। वह भरोसा अनुभव के लिए व्यक्ति को तैयार करता हैं। आगे तो उसको अपना अनुभव ही उसे अपने आप आगे ले जाएगा। अत इस काल मे हमे ऐसा ही समझाना होगा। केवल यही कहने से बात नही बनेगी कि किसी साधु ने कहा है, इसलिए तुम मान लो। ऐसा सिखाने पर और करने पर लोगों की यह वृत्ति बन जाती है कि साधुजी जो भी फरमाते हे वैसा कर लो, तब फिर आज वे आपकी बात को मानकर चलेगे, कल फिर कोई और आएगा और उसकी बात मानकर चलेगे। परसो कोई और आएगा और उसकी बात को मानकर चलेगे। इस प्रकार पहुँचना तो कही नही होगा। बस थोड़े दिन जब तक साधुजी रहेगे, तब तक चलेंगे। फिर भूल जाएगे। इसलिए यह बताना जरूरी है कि हम जो बता रहे है, वह हमें ठीक लग रहा है। लेकिन तुम्हारे लिए वह सत्य तभी बनेगा, जब तुम भरोसा रखते हुए अनुभव करोगे और फिर अपने अनुभव से जानोगे कि यह ठीक है या नहीं, आपको यही वातावरण बनाना है।

1. अनेकान्तवाद की दृष्टि हमें किसी से कोई विरोध नही है, सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से ठीक है। हमारा कोई विरोध कर भी रहा है तो हो सकता है उन्हे हमारी दृष्टि समझ मे न आयी हो, और यदि समझ मे आयी हो, तब भी जरूरी नही है कि वे हम से सहमत हो। अत हो सकता है कि वे हमसे विरुद्ध हों। पर हमे किसी से विरोध नही है। मै जो कह रहा हूॅ, वह सत्य है। मैं जो कह रहा हूॅ, उससे विपरीत भी सत्य हो सकता है।

2. अनुभव की दृष्टि . भरोसा रखते हुए पहले स्वय अनुभव करके देखना। फिर आगे ठीक लगे तो स्वीकार करना। कोई भी व्यक्ति भटक नही सकता। अगर इन दोनो बातो को कोई भी साधक साथ मे रखे।

एकायनो मग्गो : मार्ग तो एक ही है, किसी भी मार्ग से जाओ। अन्तत प्रत्येक मार्ग की गुणवत्ता एक ही है।

समता का मार्ग : वीतरागता का मार्ग . चाहे कोई प्रकट रूप से जिनेश्वर भगवान को माने या न माने, परन्तु यदि समता मे उसकी आस्था है, वीतरागता की जीवन मे आराधना करता है तो वह भगवान के मार्ग पर है।

जैन : जिसको जिन मे, राग-द्वेष को जीतने मे, समता मे विश्वास है, वह जैन है। यदि तुम भले ही जन्म से जैन हो परन्तु तुम्हारा विश्वास क्रोध मे है, भोग मे है, तव फिर आप जेन कैसे है? रोज कार्य वैसे ही करते हो जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ बढता है, तव फिर जैन कैसे? मार्ग तो केवल एक ही है। वह है वीतरागता का मार्ग। विश्व मे जितनी भी साधना-पद्धतियॉ है, वे सभी-की-सभी समता की बात करती है। इस प्रकार देखा जाए तो जो भी मार्ग हमे समता की ओर ले जाता है, वह जिनेश्वर भगवान का मार्ग है। लेकिन फिर भी जिन-शासन की, जिनेश्वर भगवान के मार्ग की विशेषता क्या है? यह महाविधि है, यह राजमार्ग है। अल्प समय मे सहजता और सरलतापूर्वक पहॅुचाने वाला मार्ग है। दूसरी विशेषता यह है कि यह अनेकान्त का मार्ग है, सभी को अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है। सत्य का प्रतिपादन तो करो, किन्तु असत्य का निषेध किसी का विरोध मत करो। जब भी आप कोई सत्य बात कहेगे, तव वे अपने आप करेगे और सत्य को पहचान लेंगे। इसमें भी भव्य जीव जल्दी पहचान लेता है।

आचरणयोग्य महत्त्वपूर्ण बातें :

किसी भी क्रोधी व्यक्ति को क्षमा से जीत सकते हो। अगर क्रोध से जीतोगे तो तुम हार जाओगे। अहंकारी व्यक्ति को विनम्रता से जीत सकते हैं, वैसे ही मायावी व्यक्ति को सरलता से जीत सकते है। लोभी को वीतरागता एव धैर्य से जीत सकते है। यह प्रतिदिन अपने आप मे अवलोकन करना कि मैंने कहॉ-कहॉ क्रोध के सामने क्रोध किया, कहॉ-कहॉ मान के समाने मान—इसका दिन मे एक बार अवश्य ध्यान करना। मान को मान से जीतने से विरोध और बढता है।

चार प्रकार के लोग जो जाति व्यवस्था है, वह व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार है, व्यक्ति के स्वभाव को समझ गये तो उसे समझना बहुत सरल हो जाता है।

ब्राह्मण—ज्ञान की भाषा से समझते है।

क्षत्रिय—प्रेम की भाषा से समझते है।

वैश्य—बुद्धि प्रधान होते हैं। वे बुद्धि से समझते है।

शूद्र—दण्ड से समझते है।

ये चार प्रकार के लोग दुनिया मे होते है। अनुशासन करते समय या उन्हे जीतते समय उपर्युक्त बातो का ध्यान रखा जाए तो व्यक्ति को सहज मे ही जीता जा सकता है। अनुशासन में कषाय नहीं है, कठोरता एव दृढता है।

गणनायक के कर्तव्य : महत्त्वपूर्ण है त्याग और बलिदान। खाना और झपटना तो सभी जानते है, इसमे कोई बहादुरी नही है। मूल्य त्याग का है। व्यक्ति मे जितना ही निस्स्वार्थ प्रेम का विकास होता है, व्यक्ति उतना ही उच्चता को प्राप्त होता है।

घर मे सर्वप्रथम स्थान मॉ का है, उसके बाद पिता का, क्योकि मॉ सबका खयाल रखती है। सबको खाना खिलाकर वाद में खाती है। सबकी रुचि को ध्यान में रखती है। अपनी रुचि और अपने विचार उसके लिए गौण रहते है। इसी प्रकार गणनायक को होना चाहिए स्वय के स्वार्थ का पूर्णत· त्याग करने वाला।

आहार सम्बन्धी कर्त्तव्य : गणनायक को देखना चाहिए कि सभी मुनिजनो को यथायोग्य गवेषणीय आहार मिला या नही, तत्पश्चात् स्वय आहार करें। प्रथा यह है कि बड़े साधु को प्रथम आहार दिया जाता है, यह लघु जनो की विनय है। लेकिन

गुरुजनो का, गणनायक का कर्तव्य यह है कि पहले सभी को देखकर तत्पश्चात् ग्रहण करे। उसी प्रकार वस्त्र एव अन्य गवेषणीय वस्तु सबन्धी विचार है। पहले जिसको आवश्यक है उन्हे देखें, तत्पश्चात् स्वय का विचार करे। इस प्रकार गणनायक वह है, जो सबका खयाल रखता है और सबका खयाल रखने मे समर्थ है। गणनायक का यह सामर्थ्य और यह प्रेमपूर्ण त्याग ही गण के विकास का प्रथम सोपान है।

गण मे कलह का निवारण : गण मे किसी प्रकार का असामजस्य, विसगति या कलह हो जाए तब—1 कभी भी किन्हीं भी श्रावकजनो को बीच मे न लाए, क्योकि जो स्वय अविरति है, वह विरति के मन की गति और समस्या कैसे समझ सकेगा? लेकिन इस प्रकार की मूढता अनेक जन करते है, जिससे समस्या मे वृद्धि होती हे एव शासन की भी अवहेलना होती है। श्रमण की समस्या श्रमण तक ही रहनी चाहिए, क्योकि मूलत श्रमण की समस्या का जन्म उसके आचार शैथिल्य, समझ मे न्यूनता एव अज्ञानवश होता है। कर्मो का प्रबल उदय भी कार्य करता है और इसका निवारण श्रमणचर्या एव श्रमणसाधना से ही हो सकता है।

जब गणनायक समस्या के समाधान मे अडचन महसूस करे, तब किसी ऐसे सुसाधु को, किसी ऐसे स्थविर को देखे जो समाधान दे सके, अगर उन तक प्रत्यक्ष रूप से पहुँचना सभव न हो तो किसी अन्य माध्यम से समाचार दे, यदि बहुत ही आवश्यक लगे और समस्या अति गम्भीर हो तब अन्तिम समाधान स्वरूप किसी अति गम्भीर व्रतधारी, निष्ठा-युक्त धर्म-ध्यान मे स्थिर श्रावक के द्वारा स्थविर तक समाचार दे सकते है।

कोई श्रावकगण के किसी साधु के सम्बन्ध मे कुछ पूछे तो भी कुछ नहीं कहना, क्योकि श्रावक मे वह समझ होनी सभव नही है। श्रावक पर विश्वास करें परन्तु पूर्ण विश्वास नही। इससे शासन पर, गण पर या किसी साधु पर आपत्ति आ सकती है। क्योकि वे रहते है कषायो के मध्य और कषाय-वश मन का विचलित होना स्वाभाविक है।

गण-नायक अपने लिए ही नही, गण के सभी सदस्यो के लिए जिम्मेदार है, जिस प्रकार आचार्य सघ के लिए जिम्मेदार होता है। आचार्य जितना बडा हो, उतना ही त्याग, बलिदान और निस्स्वार्थता।

उच्चता और बडप्पन का आधार

व्यक्ति जितना दूसरो की सभाल रख सकता है या दूसरो का खयाल रख सकता है, उतना ही उसके बडप्पन का विकास होता है। सभाल कब रख सकता है, जब वह प्रभुता से, सामर्थ्य से युक्त हो।

सामर्थ्य : ज्ञान से, दर्शन से, चारित्र से और तप से आत्म-शक्ति आती है। आचार्य को भी यही करना चाहिए। सघ की बात संघ मे ही रखनी चाहिए। श्रावको को बताना उचित नही। आजकल जो हो रहा है, वह ठीक नही है। सघ का सचालन आचार्य को साधुओ के माध्यम से करना चाहिए। आचार्य केवल पद बनकर न रह जाए, अपितु उस पद का प्रयोग साधु के साथ सम्बन्ध रखने मे होना चाहिए। इतनी विशाल दृष्टि हो कि मै सबके लिए जिम्मेदार हूॅ, सबका विकास मेरा विकास है।

जब कोई साध्वाचार से पूर्णत विचलित हो जाए, तब भी श्रावको को कुछ भी नही कहना। उन्हे पूछने की कुछ आवश्यकता नही है कि अब हम क्या करे। जैसा कि वर्तमान मे हो रहा है। पहले श्रावको को बुलाते है, फिर निर्णय करते है। ऐसा करना उचित नही है। साधु धर्म से जो विचलित हुआ है, उसके स्थिरीकरण के लिए गणनायक को प्रयत्न करने स्वय या स्थविर के द्वारा जैसे पहले बताया गया। फिर भी स्थिरीकरण न हो तो उसे श्रावक-धर्म समझाना, आगे उसके परिणाम (निकालना) लेकिन निर्णय स्वय गणनायक को ही करना चाहिए।

श्रावकों के साथ सम्बन्ध :

धर्म कथा एव शुद्ध आहार, वस्त्र इत्यादि दान से श्रावको के साथ साधु का सम्बन्ध रहता है। जहॉ पर भी धर्मोपदेश देकर धर्म जागरण हो सके एव जहॉ पर भी गवेपणा करके संयम अनुष्ठान हेतु शुद्ध भिक्षा मिल सके, उतना ही हमारा श्रावकों के साथ सम्बन्ध है। इससे अधिक सम्बन्ध रखने से जैसा सग वैसा रग चढ़ता है।

धर्मकथा एवं प्रवंचन का रूप : प्रशिक्षण

धर्मकथा स्वाध्याय का पचम अग है। धर्मकथा को केवल एक साधारण प्रवचन का रूप न देकर, प्रशिक्षण शिविर का रूप दे सकते है। जो भी विषय आप लेना

चाहते है, उस विषय का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है। दैनिक जीवन मे उसका क्या उपयोग है, उसका व्यावहारिक स्वरूप क्या है? यह सब कुछ स्वयं के अभ्यास के द्वारा जानकर तैयार करना।

प्रथम उसको अपने जीवन मे उतारकर देखना। अनुभव करना, उसके बाद उस अनुभव को खयाल मे रखते हुए, लोगो को विविध दृष्टान्त एव अनुभवो के सरल एव स्पष्ट विवरण द्वारा समझाना। यदि एक घण्टे का प्रवचन हो तो पहले आधा या पौना घण्टा समझाना और शेपकाल मे उसके व्यावहारिक स्वरूप को उन्हें करवाना, जिससे लोगो को यह समझ मे आ जाए कि उसके सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक दोनो स्वरूप क्या है और उन्हे हम अपने जीवन मे किस प्रकार उतार सकते है, यह भी उन्हे बोध हो जाएगा। तत्पश्चात् इस बात को उन्हे घर पर करके देखने के लिए कहना और यह भी बताना कि सुनने व समझने का फायदा तभी है, जब आप अपने जीवन मे साधना और प्रयोग करेगे; अन्यथा केवल शब्द एव बुद्धि विलास है।

सुनने के सम्बन्ध मे श्रोताओ को जागरूक और जिम्मेदार बनाना। आज आपने क्या सुना और आपको क्या समझ मे आया, इन प्रयोगो को जीवन मे करने से, इस साधना के माध्यम से, आपको अपने जीवन मे क्या अनुभव हुए इत्यादि कुछ बाते, घर से लिखकर लाने के लिए कहना। यह सब करेगे, तब वास्तव मे कुछ समझ मे आएगा और जीवन की दिशा मे परिवर्तन होगा, अन्यथा केवल ऐसे ही सुनते रहना व्यर्थ है।

इस धर्मकथा के लिए कोई भी विषय ले सकते है। जैसे ध्यान, स्वाध्याय, ऊँकार का स्वरूप जैन तत्त्व प्रकाश मे दिये हुए विविध विषय, चार भावनाए इत्यादि। इन प्रवचनो मे नये लोग भी आकर बैठ सकते है। यह सभी के लिए खुला है। लेकिन जो निरन्तर आते है, उन्हे अहसास दिलाना जरूरी है कि जो सुना, उसका अभ्यास करना आवश्यक है। एक प्रयोग के रूप में। विषय को यथातथ्य समझने के लिए यदि उनको अच्छा लगे तो आगे कर सकते है, अन्यथा नही।

यही प्रवचन और भाषण मे अन्तर है। भाषण केवल सुनने के लिए होते है और प्रवचन जीवन के प्रशिक्षण और परिवर्तन के लिए है। अत. प्रवचन मे वक्ता और श्रोता दोनो का साथ मे मिलकर चलना, सिद्धान्त और प्रयोग दोनो का स्पष्टीकरण

और प्रशिक्षण आवश्यक है। किसी भी विषय को ले, जहाँ तक हो सके इसकी निरन्तरता बनाए रखते हुए, इसे पूरा करे। किसी विशेष कारण के अतिरिक्त किसी अमुक विषय को बीच मे ही अधूरा छोड कर दूसरा विषय चालू न करे। यह भी स्वाध्याय का एक महत्त्वपूर्ण नियम है।

जिस विषय पर आपने प्रवचन सुनाया है और प्रयोग करवाया है, अगर आप चाहे तो कुछ लिखित सामग्री भी उन्हे दे सकते है, जो व्यक्ति भविष्य मे उस साधना को जीवन मे गतिमान रखना चाहते हैं।

तप और अणुव्रत · तप और अणुव्रत का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसे सवर और निर्जरा का। अणुव्रत सहित तप करने पर 'अनशन करने पर' सवर और निर्जरा का लाभ होता है। बिना व्रत लिए तप करते है तो शुभ भावों के परिणाम से निर्जरा भी होती है परन्तु अधिकाशत पुण्य बन्धन होता है। सवर निर्जरा का पूर्ण लाभ नहीं मिलता है और इससे भी आगे यह अनुभव की बात है। एक बिना व्रत के तप करके देखना और एक वत सहित तप करके देखे, व्यक्ति को स्वय ही अन्तर का अनुभव होगा। बिना व्रत लिए तप करने पर मन के भाव क्या होते है और व्रत सहित तप करने पर मन के भाव क्या होते है, इसका निरीक्षण करे।

तप और ध्यान . ध्यान और कायोत्सर्ग साधु एव श्रावक की मूल साधना है। साथ मे व्रत, अनशन इत्यादि बाह्य साधना के मुख्य अग है। वस्तुतः मन को उपशात करने के लिए ही अनशन किया जाता है। व्रत, अनशन इन सभी के साथ ध्यान का होना आवश्यक है। ध्यान और कायोत्सर्ग भी आभ्यन्तर साधना की परिवृद्धि के लिए बाह्य साधन है और उपयोगी है। लेकिन ये पूर्ण रूप से प्रभावित एव विकसित तभी होते है, जब आभ्यन्तर साधना साथ मे हो, क्योंकि ये आभ्यन्तर साधना के लिए ही है। प्रार्थना-स्तुति ये स्वाध्याय के अन्तर्गत समाविष्ट होते है।

लोच का महत्त्व

प्रश्न—लोच चारित्र के अन्तर्गत है या तप के अन्तर्गत और यह क्यो आवश्यक है?

उत्तर—लोच एक रूप से चारित्र भी है और एक अन्य प्रकार से तप भी है। जैसे संवत्सरी के दिन सभी साधुजनो को उपवास करना आवश्यक कहा गया, उसी प्रकार

लोच है। जैसे उपवास तप का प्रथम प्रकार है, उसी प्रकार बाह्य तप का अन्तिम प्रकार कायक्लेश के अन्तर्गत आता है।

यदि किसी ने संवत्सरी को उपवास नहीं किया, तब उसे पच महाव्रत को कोई दोष तो नही लगेगा, क्योंकि इस संदर्भ मे भगवान ने कोई विशेष निर्देश भी नहीं दिया है। लेकिन पूर्वाचार्यो ने देखा कि सभी साधुजनो को कम-से-कम इतना तप तो करना ही चाहिए, इसलिए यह नियम बनाया। क्योकि उन्होने देखा कि पचमकाल में प्रमाद बढ गया है और उसका प्रमाण आप आसपास देखते है कि जहाँ पर केवल एक बार भोजन का विधान था, वहॉ पर आज साधुजन बहुत अधिक समय आहार इत्यादि में व्यतीत करते है। यह देखकर सोचकर उन्हे लगा, कम-से-कम इतनी लगाम तो लगानी ही होगी। ऐसे तो न्यूनतम महीने मे दो उपवास जरूरी है। इसी प्रकार यह लोच है। इसमे प्रथम बात तो यह है कि व्यक्ति स्वय पर निर्भर रहे। दूसरी मूल बात यह कि काय-क्लेश तप का हिस्सा है। इससे शरीर में दृढता आती है, सहनशीलता बढ़ती है, साधना मे सहयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त काय-क्लेश तप के जो भी लाभ है, वे सभी लोच मे मिलते है।

लोच का अभाव मूलव्रतो मे तो कोई दोष नही लाता। लेकिन साधुजनो के लिए न्यूनतम आवश्यक तप होने की वजह से, लोच का अभाव नियम भग गिना जाता है। भगवान के समय मे भी सभी लोच करते थे और स्वय ही करते थे, क्योकि श्रमण को केश विभूषा नही करनी, स्त्री एव पुरुष दोनों के लिए। श्रमण के सिर पर इतने केश नही होने चाहिए कि विभूषा के योग्य हो। इसलिए कहा, साल मे दो बार लोच। उत्सर्ग-मार्ग यही है। अपवाद मार्ग इसके अतिरिक्त कुछ भी हो सकता है। इसमे भी रोगी, तपस्वी, बाल और वृद्ध—इन चारो का आगार कहा गया है।

जिनशासन जडता का मार्ग नही है। मूल बात क्या है? किसी भी प्रकार के तप के सम्बन्ध मे। क्षमता होते हुए चोरी नही करना। नही तो साधक का प्रमाद बढेगा। ऐसे ही यदि अपवाद मार्ग पर चलने की छूट दे देगे, तब प्रमाद अवश्य ही बढ़ जाएगा।

लोच का सम्बन्ध तप से अधिक है, चारित्र से कम। निश्चय मे विशेष रूप से यह तप ही है, लेकिन सभी साधुजनो के लिए यह न्यूनतम काय-क्लेश तप आवश्यक

बना दिया गया इसलिए अब यह व्यवहार से चारित्र का एक अग बन गया है। ऐसे देखा जाए तो, तुम व्यवहार में इसकी कोई स्पष्ट कड़ी नही दिखा पाओगे। लेकिन आचार्यो ने इसे न्यूनतम तप को योग्य समझा।

जितने भी साधन और सुविधाए बढाएगे, उतना ही प्रमाद बढ़ेगा। इस कारण भगवान पार्श्वनाथ के समय मे साधु जन सभी रंग के कपड़े पहन सकते थे। लेकिन भगवान महावीर ने अपने शासन मे केवल श्वेत रग का ही विधान रखा, क्योंकि उन्होने देखा, पचमकाल मे मोह का प्रबल उदय है और कर्म बीज भारी है।

उन्होने देखा कि आगे आने वाली मोह की ऑधी में लोग भॉति-भॉति के वस्त्र पहनेगे, अत केवल सफेद वस्त्र की मर्यादा कर दी।

लोच से कायक्लेश तप के सभी लाभ प्राप्त हो जाते है। जैसे शरीर की जड़ता का दूर होना। शरीर पर नियत्रण बढ़ना इत्यादि। ऐसे तो दीक्षा के समय लोच करनी चाहिए, लेकिन अब केवल प्रतीक मात्र के रूप से उस विधान का निर्वाह होता है। पच मुष्टि का अर्थ—पॉच बार में ही वे सम्पूर्ण केशराशि को अलग कर देते है।

इस प्रकार के तप से कर्मनिर्जरा किस प्रकार होती है? कर्म-निर्जरा का मूल आधार भाव है। यदि कषाय की उपशान्ति के साथ मे और कषाय की उपशाति के लिए जो भी तप किया जाता है, उससे संवर और निर्जरा का वेग बढता है और आत्मा निर्मल होती है। यदि कषायवश, क्रोधवश, गुस्से में आकर अहकारवश, मान-सम्मान को प्राप्त करने के लिए, दूसरे के समक्ष, दूसरे से अधिक, अपने आपको ऊँचा बताने के लिए, सिद्ध करने के लिए, अपने चारित्र के अन्य दोषों का गोपन करने के लिए, ताकि लोगो का ध्यान तप के लिए आकर्षित हो और स्वयं के दोष ढक जाएँ। इस प्रकार मायापूर्वक अथवा किसी ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति के लिए लौकिक-पारलौकिक, दैविक इत्यादि लोभवश जब-तप का अनुष्ठान किया जाता है, अनशन से लेकर काय-क्लेश तक सारे बाह्य तप, क्योंकि आभ्यन्तर तप कषायवश नही हो सकते, तब कर्मो की सवर निर्जरा होने की अपेक्षा पुण्यबन्ध होता है और वह भी पापानुबन्धी पुण्य। उससे भविष्य में पुण्य उपलब्ध होने वाले सारे भोग-उपभोग के साधन मिलते है। इसे ही अज्ञान तप या बाल तप कहते हैं। जैसे तापस—कमठ, गौशालक।

इस प्रकार कषाय की उपशाति के लिए और उपशाति के साथ जो तप-अनुष्ठान किया जाता है, वही संवर-निर्जरा का कारण है तथा वास्तविक तप है, और कषाय पूर्वक जो तप किया जाता है, वह बालतप अथवा अज्ञानतप है।

जैसे यदि कोई साधु कहता है कि मै अन्य साधुओ से अधिक और शुद्ध क्रियानुष्ठान का पालन करता हूँ। अत· मैं दूसरों से महान हूँ। यह अहकार का पोषण है। सभी जीव महान है।

जीवो मगलम्

मुझे सभी जीवो की सेवा करने का अवसर मिला है। मै एक सेवक हूँ। व्यर्थ की तुलना छोड दो। इसी तुलनात्मक दृष्टिकोण के कारण अनेकानेक सालो के बाह्य क्रियानुष्ठान के बाद भी साधक वही-का-वही है। मूल बात है, कषाय की उपशान्तता। इसीलिए तप और दान जितने गुप्त रहे, उतने ही फलदायी होते है।

लोच के सम्बन्ध मे ये सारी बाते इसलिए है कि आपकी समझ बढे। यदि कोई समझना चाहे तो समझ सकता है, अन्यथा यह बात जन-साधारण की समझ मे आने योग्य नही है। लोच का अपना महत्त्व है। इस सम्बन्ध मे हम कोई छूट नही दे सकते। हमे यह भी देखना है कि इसका हम साधना के लिए कैसे उपयोग कर सकते है। फिर भी मूल बात भाव की है कि सवत्सरी के दिन रोटी खाने वाले भी केवल ज्ञान को उपलब्ध हो जाते हैं। वस्तुत· जिनशासन का मार्ग अनेकान्त का मार्ग है। यहाँ कोई पकड नही है। पकड करोगे तो अटक जाओगे। इसीलिए इसे समझने के लिए प्रज्ञा और सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। लेकिन आज अधिकाश लोग जड और वक्र-बुद्धि के हैं। अत धर्म इतना सीधा, सरल, स्पप्ट, सुगम होते हुए भी लोग समझ नही पाते है। इस कारण आप स्वय साधना करे। इसी साधना के माध्यम से अनेकानेक भव्य जीवो का उद्धार होने वाला है। अपनी स्वय की साधना करते हुए आप जो भी जनकल्याण, समाज-विकास का कार्य कर सकने है, अवश्य करे। परन्तु अपनी साधना से हटकर नहीं। साधना को प्रमुखता दे।

वैर से वैर का उपशमन नही होता। क्षमा से ही वैर का उपशमन होता है। यह कितना सरल, सत्य है। धर्म और साधना के नाम पर क्या संघर्ष? पहले वैदिक मान्यता वालो ने श्रमण धर्म का विरोध किया, फिर श्रमणो ने वेद को मिथ्यात्व कहा,

ये दोनों ही अयथार्थ के द्रष्टा है। यथार्थ का द्रष्टा किसी का भी विरोध नही करता है। उसकी दृष्टि में जो आता है, वह तो उसका प्रतिपादन करता है और अन्य सभी के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव रखता है।

पूर्व में कथित सूत्र 103 के मूलार्थ को पुन· देखने के बाद कुछ बाते और समझनी है। उनमे पहली यह कि जो बन्धनों का प्रतिमोचन करता है, यानी उन बन्धनो को विशेष रूप से उघाड़ कर उन्हें पूर्णत उघाड़ने मे कुशल हो गया है, ऐसा वीर प्रशसनीय है। ऐसा वीर कैसा होता है? उड्ढ, अह, तिरिय, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओ मे स्थित द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का परिज्ञाता, अर्थात् सर्वज्ञ।

सव्वपरिन्नाचारी, न लिप्पइ छणपएणं :

फिर वह छण अर्थात् 'छद्म' आवरण, दूसरा अर्थ है छण यानी हिसा। हिसा मूल मे क्या है? राग और द्वेष, जो उससे लिप्त नही होता। इस प्रकार जो आवरण से, हिसा अर्थात् राग-द्वेष से लिप्त नही होता।

प्रथम हम सूत्र को अत्मज्ञानी की दृष्टि से देखते है और फिर केवल-ज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं।

यह सूत्र जब हम आत्म-ज्ञानी की दृष्टि से देखते है, तब आत्म-ज्ञानी वह है, जिसे स्वरूप का बोध हो गया है। अत छह दिशाओ में जो सम्यक् सत्य है, उसे वह जानता है। जैसा है, वैसा जानता है। उसे हम सम्यक् दृष्टि भी कह सकते है। जड को जड और चेतन को चेतन जानता है। उनके सही रूप, भाव और अर्थ मे जानता हे। इन अर्थो मे 'सत्व परिन्नाचारी' और फिर जैसा है, वैसा जानेगा तो क्या परिणाम आएगा? राग-द्वेष नही।

छण्णपरिन्नाचारी - जो जैसा है, वैसा जान ले। फिर राग-द्वेष नही होगा, क्योकि फिर मिथ्यात्व नही है। हिसा का मूल है 'राग और द्वेष' और राग-द्वेष का जनक है, मिथ्यात्व। इस प्रकार कर्म आश्रव की जड है मिथ्यात्व और मोक्ष का मूल है सवर। जैसे वृक्ष की जड़ सूख जाए तो फिर क्या होगा?

वीर कौन है? जिसने स्वरूप का बोध कर लिया, सत्य को सत्य रूप में पहचान लिया, ऐसा व्यक्ति वीर है, क्योंकि इस जगत मे एक ही वीरता पूर्ण कार्य है और वह

है स्वरूप का बोध, बाकी सब सामान्य। ऐसा व्यक्ति, ऐसा वीर ही समर्थ है। अन्य लोगो को मुक्त करवाने के लिए।

केवलज्ञानी की दृष्टि में : सर्व दिशाओ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ज्ञान से युक्त होने के कारण मिथ्यात्व से विमुक्त होने के कारण राग-द्वेष से मुक्त है, हिसा से अलिप्त है।

'से मेहावी अणुग्घायणखेयन्ने' वह मेधावी मेधा से युक्त है। एक साधारण व्यक्ति है और दूसरा साधना के माध्यम से परिपक्व तीव्र एव स्पष्ट बुद्धि। साधना के माध्यम से, एक को अनुभव से अपना ज्ञान प्राप्त होता है, और दूसरा गुरु की नेश्राय मे श्रुत ज्ञान के अभ्यास करते हुए ज्ञानी बनता है। इन दोनों साधको मे 'जो बुद्धि उत्पन्न होती है' और बुद्धि मे जो परिपक्वता, स्पष्टता, निर्मलता एव तीव्रता आती है, उसे मेधा कहते है। जिसे अपनी दिशा, अपना मार्ग और गन्तव्य स्पष्ट हो गया है। शरीर और मन की उपशान्ति के कारण जिसे स्वरूप की प्रतीति हुई है और उस प्रतीति के आधार पर जिसको अपना गन्तव्य स्थान का पता लग गया है, जिसकी इन्द्रियॉ अन्तर्मुखी हो गयी है, बोध के कारण जबर्दम्ती नही। ऐसी अवस्था मे जो बुद्धि विद्यमान है, उसे मेधा कहते है। इसी प्रकार आगे बढते हुए, बुद्धि जो उच्च स्तरीय स्वरूप लेती है, उसे प्रज्ञा कहते है।

प्रज्ञा यह बुद्धि का उच्चतम रूप है। जब स्वरूप की स्पष्ट प्रतीति होती है, तब प्रज्ञा का जागरण होता है। अध्यात्म की शुरूआत का प्रारम्भ होता है मेधा से और उच्चतम प्रज्ञा। इसके बाद फिर अवधिज्ञान, मन पर्यव ज्ञान जो, इन्द्रियातीत है, बुद्धि से परे है। ऐसा मेधावी साधक अणुग्घायणखेयन्ने—कर्मो का अनुघात करने वाला है।

खेयन्ने : भीतर कुछ चुभन हुई, कही कोई चोट लगी। जो दु:ख को जानता है कि दु ख क्या है? हम सभी दु खी होते है और सुखी भी होते है। लेकिन यह नही जानते कि दुःख क्या है, और सुख क्या है। जिस दिन यह पता चल जाए कि दु.ख क्या है और सुख क्या है, तब फिर उसका कारण और फिर निवारण दोनो का ही पता चल जाता है। हमने कभी भीतर जाकर देखा ही नही कि दु ख क्या है। हम कहते है कि मै दु खी हूँ और अनुभव करते हुए कि मै दु खी हूँ तो दु:ख का कारण खोजने लगते है, तब हमे लगता है यह उस व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति के कारण

अथवा कर्म के कारण। जब दु.ख क्या है, यह जान गये तब उस दु'ख का वास्तविक कारण भी जान जाएगे।

देखो कि दु ख क्या है। इसमें सोचना नही है, वरन् शान्त भाव से बैठ जाओ, और साक्षीभाव से देखो, जो विचार आ रहे है, जा रहे है। जो भी अनुभव में आ रहा है और उसके प्रति मन मे प्रतिक्रियाएं उठ रही है, देखो कि आज मै दुःखी हूं। इस प्रकार से निष्पक्ष भाव से जो कुछ भी याद आ रहा है, भीतर गतिविधि चल रही है, वस उसे देखते रहो और उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया जागे तो उस प्रतिक्रिया को भी देखो। हर बार देखोगे तो हर बार नया-नया सत्य सामने आएगा। हर बार नया, नया अनुभव होगा।

इसी प्रकार सुखी हो गये, तव भी भीतर देखो कि यह क्या हो रहा है। क्या है सुख? इस प्रकार जो सुख और दु ख को देखना सीख गया, उनके कारण और निवारण से अवगत हो गया, तो उसे 'खेदज्ञ' कहते हैं।

मूलत' ज्ञाता-द्रष्टा भाव समान है, लेकिन प्रत्येक की अनुभूति अलग-अलग है।

तीव्र भूख लगे तब देखना कि भूख क्या है। कुछ क्षण देखो कि भीतर क्या हो रहा है। क्या है भावना, कैसे है परिणाम शरीर के स्तर पर क्या हो रहा है, मन क्या कह रहा है। शरीर और मन दोनो के स्तर पर क्या हो रहा है? कहने के लिए दो स्तर है। वस्तुत समग्रता मे चेतना मे क्या हो रहा है? इसी को कहा है—'अप्पा अप्पणो अट्टे' आत्मा के द्वारा आत्मा के अर्थ को अनुभव भी चेतना को हो रहा है। उस अनुभव को जानने और देखने वाला भी चैतन्य, देखने का अर्थ केवल साक्षी-भाव से। इस देखने मे सब कुछ आ गया। केवल देखना है, करना कुछ भी नही।

बन्ध पमुक्ख मन्नेसी : बन्धन और मुक्ति का अन्वेषक

जो बन्धन और मुक्ति से अलग है, अर्थात् जो न बन्धन मे है न मुक्ति मे है। बन्धन और मुक्ति एक भेद है। ऐसे ही जैसे जन्म और मरण, रोगी और स्वस्थ, सुखी और दु खी, ज्ञानी और अज्ञानी, वैसे ही बन्धन और मुक्ति का भेद है। अभेद जो इन दोनो से परे हो गया, वहाँ मै हूँ। जो इन दोनो से परे हो गया और जिसने यह जान लिया कि मै मुक्त हूँ। मैं मुक्त हो गया हू ऐसा नही, अपितु मै मुक्त हूं और मुक्त

रहूँगा और मै मुक्त था। इस स्वरूप का बोध अन्तर-अन्वेषण मे यह देखने पर कि बन्धन क्या है, समझ मे आता है। बन्धन एक भ्रम है। किसने किसको बाध रखा है? स्व ने ही स्व को बॉधा है। मूल मे बन्धन अज्ञान है। भ्रम है, मिथ्यात्व है, मूर्च्छा है। वास्तव मे बन्धन है ही नही। केवल मूर्च्छा-वश दिखाई पडता है कि मै बॅधा हूॅ। वास्तव मे अज्ञान ही है। लेकिन कर्मो के वश, सस्कारो के वश लगता है कि मै अज्ञानी हूॅ। जो कर्म सस्कारों के वश लगता है कि मै बन्धन में हूॅ तो इच्छा होती है मुक्त हो जाऊॅ। यह अनुभव प्रत्येक जीव का है। लेकिन प्रत्येक जीव के बन्धन का स्वरूप अलग है। किसी को यह लग रहा है कि मै परिवार के बन्धन मे हूॅ। मेरा परिवार मेरा बन्धन है। किसी को लगता है कि मै शरीर की अस्वस्थता के बन्धन मे हूॅ। यह बीमारी मेरा बन्धन है। किसी को लगता है कि मै विचारो के बन्धन मे हूॅ, ये विचार मेरे बन्धन है। जैसा-जैसा उसे बन्धन का अनुभव होगा, जिस स्वरूप और जिस अर्थो मे उसे बन्धन का अनुभव होगा, वैसे स्वरूप और वैसे अर्थो मे मुक्ति का उपाय भी ढूॅढेगा।

मुक्ति का स्वरूप : बन्धन का प्रतिरूप

जैसे किसी को लगता है, मेरी गरीबी मेरा बन्धन है, मै स्वामी के बन्धन मे हूॅ। तब वह उपाय खोजेगा कि मै कैसे धनवान बन जाऊॅ। उसके लिए गरीबी बन्धन है तो धनवान होना मुक्ति है। दासत्व बन्धन है तो दासत्व से मुक्त होकर स्वामी हो जाना मुक्ति है। नियम और उप-नियम बन्धन है। कायदे और कानून बन्धन है, परिवार बन्धन है। तो वह कायदे-कानून और परिवार से दूर भागने का प्रयत्न करेगा। साधारण समझ यह है कि ससार एक बन्धन है। लेकिन वस्तुत· बन्धन का बन्धन के रूप मे प्रतीत होना ही ससार है। कहते है परिवार एक बन्धन है। अत परिवार का मोह छोडो, लेकिन जहॉ जाओगे, वहॉ एक परिवार। फिर वहॉ-वहॉ भी बन्धन लगेगा। वस्तुत· जो परिवार को बन्धन रूप मानते है, वे जहां भी जाएगे इस खोज मे रहेगे कि परिवार से मै मुक्त कैसे हो जाऊॅ। बन्धन न परिवार मे है, न धन मे है, न गरीबी मे है, न शरीर मे है और न विचारो मे ही है। फिर बन्धन है क्या, यह देखना आवश्यक है।

जब पुन-पुन अपना अन्वेषण करोगे समत्व और अप्रमत्तता मे स्थिर होगे, तब

धीरे-धीरे यह समझ मे आने लगेगा कि मै स्वय ही अपना बन्धन हूँ। जब तक मैं न बदलूँगा, तब तक कही भी जाऊँ, बन्धन में ही रहूँगा। चाहे परिवार मे रहूँ या परिवार से दूर रहूँ। चाहे धन मे रहूँ या धन से दूर रहूँ। केवल बाह्य परिस्थितियाँ बदलने मात्र से व्यक्ति बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता।

व्यक्ति का बन्धन है, उसका मिथ्यात्व, उसका भ्रम। अन्तर-अन्वेषण से जब यह भ्रम टूटता है तब उसे अनुभव होता है कि मै मुक्त हूँ, तब फिर प्रतिपल मुक्ति है।

तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

प्रथम उद्देशक

प्रथम अध्ययन मे आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध तथा पृथ्वी आदि छह कायो में जीव की सजीवता एव उनकी हिसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्ययन में कषायो पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है, परन्तु कषायो का उद्भव पदार्थो के निमित्त से होता है। अच्छे और बुरे पदार्थो को देखकर तथा अनुकूल एव प्रतिकूल सयोग मिलने पर या परिस्थितियो के उपस्थित होने पर भावना मे, विचारो मे उत्तेजना एव अन्य विकार उत्पन्न हो जाते है। अत प्रत्येक परिस्थिति एव संयोग मे—भले ही वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, समभाव रखना चाहिए। प्रत्येक स्थिति मे साम्यभाव को बनाए रखने वाला व्यक्ति ही कषायों पर विजय पा सकता है। अत प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि अनुकूल एव प्रतिकूल दोनो प्रकार के परीषहो के उपस्थित होने पर उनका सवेदन न करे।

प्रस्तुत अध्ययन का **'शीतोष्णीय'** नाम है। **'शीतोष्णीय'** शब्द का अर्थ है—ठण्डा और गरम, परन्तु इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए बताया है—परीषह (कष्ट सहन), प्रमाद, उपशम, विरति और सुख शीत है तथा परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दु ख उष्ण है। परीषहो की गणना शीत और उष्ण दोनो मे करने का कारण यह है—स्त्री और सत्कार परीषह मन को लुभाने वाले होने से शीत है और शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण है। एक विचारणा यह भी है कि तीव्र परिणामी उष्ण और मन्द परिणामी शीत है।

व्यवहार मे भी, जो व्यक्ति धर्म मे एवं व्यवसाय के कार्य मे प्रमादी—आलसी या सुस्त होता है, उसे ठण्डा और जो मेहनती—परिश्रमी होता है, उसे उष्ण—तेज या गरम कहते है। जब कोई व्यक्ति आवेश मे होता है तो झट कह दिया जाता है कि यह क्रोध मे जल रहा है। अत जिस व्यक्ति के क्रोध आदि उपशात हो गए है, उसे

शीतल या उपशांत कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो परीषह मन के अनुकूल हैं, उन्हे शीत कहा है और जो प्रतिकूल हैं, उन्हे उष्ण कहा गया है।

निर्युक्तिकार ने मोक्ष सुख को शीत एव कषाय को उष्ण कहा है। क्योंकि मोक्ष में किसी प्रकार का द्वन्द्व नही है, एकान्त सुख है और कषाय में तपन है, दु ख है, द्वन्द्व है, इसलिए निर्वाण सुख शीत और कषाय उष्ण है। तात्पर्य यह है कि सुख शीत है और दु ख मात्र उष्ण है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन मे इसी आभ्यन्तर और बाह्य शीतोष्ण का विवेचन किया गया है। क्योकि श्रमण शीत-उष्ण या अनुकूल-प्रतिकूल स्पर्श, सुख-दु ख, कषाय, परीषह, वेद, कामवामना ओर शोक आदि के उपस्थित होने पर उन्हे सहन करता है और समभाव पूर्वक तप-सयम की साधना मे सलग्न रहता है। वह अपनी साधना मे सदा सजग रहता है। यही प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है कि श्रमण वह है—जो अपने जीवन मे सदा—सर्वदा विवेकपूर्वक गति करता है, वह सदा जागृत रहता है। इसका प्रथम सूत्र निम्नोक्त है—

मूलम्—सुत्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति॥106॥

छाया—सुप्ता अमुनय· सदा मुनय· जाग्रति।

पदार्थ—अमुणी—मिथ्यादृष्टि। **सुत्ता**—भाव निद्रा मे सोए पडे हैं, किन्तु **मुणिणो**—प्रबुद्ध पुरुप। **सया**—सदा। **जागरति**—जागते है।

मूलार्थ—अज्ञानी लोग सदा सोए रहते है और मुनि—ज्ञानी जन सदा जागते है।

हिन्दी-विवेचन

जागरण और सुषुप्ति जीवन की दो अवस्थाए है। मनुष्य दिन भर की शारीरिक, मानसिक एव मस्तिष्क की थकान को दूर करने के लिए कुछ देर के लिए सोता है और फिर जागृत होकर अपने काम मे लग जाता है। इस प्रकार सासारिक प्राणी

1 निव्वाणसुह साय सीईभूय पय अणाबाहँ। इहमवि ज किंचि सुह त सीय दुक्खमवि उण्ह॥ डज्झइ तिव्वकसाओ सोगऽभिभूओ उइन्नवेओ य। उण्हयरो होइ तवो कसायमाईवि ज डहइ॥ आचाराङ्ग—निर्युक्ति 207, 208

जागते और सोते रहते है। परन्तु यहा जागरण और सुषुप्ति का साधारण अर्थ में नहीं, अपितु आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयोग किया गया है और इसके द्वारा मुनित्व एव अमुनित्व का लक्षण बताया गया है। जो सुषुप्त है, वे अमुनि है, बोध से रहित है और जो सदा जागते रहते है, वे मुनि है, प्रबुद्ध पुरुष है।

सुषुप्ति और जागरण के दो भेद है–1 द्रव्य और 2 भाव। निद्रा लेना एव समय पर जागृत होना द्रव्य सुषुप्ति या जागरण है और विषय, कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि में आसक्त एव सलग्न रहना भाव सुषुप्ति–निद्रा है और त्याग, तप एव सयम मे विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असयम, अव्रत एव मिथ्यात्व को बढाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और सयम, व्रत एव सम्यग्ज्ञान मे अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिबन्धक है। क्योकि भाव निद्रा मे उसका विवेक सोया रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नही देख पाता और अनेक पापो का सग्रह कर लेता है। आगम मे अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के बन्ध का कारण माना है। यह सत्य है कि प्रत्येक प्रवृत्ति मे क्रिया लगती है। परन्तु जहा विवेक चक्षु खुले है, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, तो वहा पाप कर्म का बन्ध नही होगा और जहा विवेक चक्षु बन्द हैं, वहा पाप कर्म का बन्ध होता है। इससे यह साफ हो गया कि पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नही पहुचाती, जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। यही कारण है कि भाव निद्रा मे निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुषुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवो को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है। साधु को द्रव्य निद्रा के समय भी जागता हुआ माना है। इसका कारण यह हे कि उसकी प्रत्येक क्रिया संयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक के चक्षु खुले होते है। सयम मे तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। उसका शयन सोने के लिए जागने के लिए है, सुषुप्ति से मुक्त होने के लिए। आगम में जहा साधु समाचारी–दिन-रात की चर्या का उल्लेख किया गया है, वहा बताया है कि साधु तीसरे पहर निद्रा से मुक्त होवे।[1]

1. तइयाए निद्दमोक्ख तु। –उत्तराध्ययन सूत्र 26, 46

साधु का जीवन संयममय है। उसका प्रत्येक समय सयम मे बीतता है। वह दिन मे या रात मे, अकेले मे या व्यक्तियो के समूह मे, सुषुप्त अवस्था मे या जाग्रत अवस्था मे किसी भी तरह का पाप कर्म नही करता, किसी भी प्राणी की हिसा नही करता एव न झूठ, स्तेय आदि दोषो का सेवन ही करता है,[1] इसलिए साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है। जयन्ती श्राविका के प्रश्नो का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियो को सदा सुषुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियो को सदा जागरणशील कहा है और जो मनुष्य सदा पाप एव अधर्म मे संलग्न रहते है, उन्हे आलसी कहा है और जो सदा धर्म मे, सत्कार्य मे एव आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते हे, उन्हे दक्ष, प्रवीण, चतुर कहा है[2]।

भगवद्गीता मे भी इसी बात को इन शब्दो मे कहा गया है कि जिसे सब लोग रात्रि समझते है उसमें संयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते है तो ज्ञानवान उसे रात्रि समझता है[3]। तात्पर्य यह है कि विषय-भोगो की आसक्ति भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण हे। अत भोगी व्यक्ति भोगो मे आसक्त होने से सदा सोए रहते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते है, इसलिए वे सदा जागते रहते है। हम यो भी कह सकते है कि अज्ञान निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एव मोह के कारण ही मनुष्य भोगो मे फसता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दु खो को प्राप्त करता है। और ये दु ख अहितकर है। इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति॥107॥

---

1 दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन 4।

2 भगवती सूत्र, शतक 12, उद्देशक 2

3 या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने॥ श्री गीता, 2, 69

छाया—लोके जानीहि अहिताय दु·ख, समयं लोकस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरत·, यस्य इमे शब्दाश्च, रूपाश्च, रसाश्च, गन्धाश्च, स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति।

पदार्थ—जाण—हे शिष्य! तू यह समझ कि। **लोयंसि**—लोक मे। **दुक्खं**—दु ख। **अहियाय**—अहितकर है। **लोगस्स समयं**—लोक के सयमानुष्ठान को। **जाणित्ता**—जानकर। **जस्सिमे**—जिस मुनि को, ये। **सद्दा**—शब्द। **य**—और। **रूवा**—रूप। **य**—और। **रसा**—रस। **य**—और। **गंधा**—गध। **य**—और। **फासा**—स्पर्श। **य**—समुच्चय अर्थ मे। **अभिसमन्नागया**—अभिसमन्वागत। **भवति**—होते है, वह। **इत्थ**—इस लोक मे। **सत्थोवरए**—शस्त्र से उपरत होता है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू यह जान कि लोक मे दु ख अहितकर है। इसलिए लोक मे सयमानुष्ठान एव समभाव को जान कर शस्त्र का त्याग कर दे। जिस मुनि के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श अभिसमन्वागत होते है, वास्तव मे वही शस्त्रो से उपरत होता है या वही मुनि है।

हिन्दी-विवेचन

अज्ञान एव मोह आदि से पाप कर्म का बन्ध होता है और अशुभ कर्म का फल दु ख रूप मे प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्रकार ने अज्ञान को दु·ख का कारण बताया है और ज्ञान को दु·ख से मुक्त होने का कारण कहा है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि साधक को सयम एव आचार के स्वरूप को जानकर उसका परिपालन करना चाहिए और शब्दादि विषयो राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति से निवृत्त होकर छह काय की हिसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिए, वास्तव मे विषय मे राग-द्वेष एव हिसा जन्य शस्त्रो का परित्याग ही मुनित्व है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त **'समय'** शब्द के दो अर्थ होते है—**"समयः-आचारोऽनुष्ठानं तथा 2 समता—समशत्रु-मित्रतां समात्परता वा'** अर्थात् **'समय'** शब्द आचार का भी परिबोधक है और इसका अर्थ यह भी होता है कि प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखना।

'लोयंसि अहियाय दुक्ख' वाक्य का तात्पर्य यह है कि अज्ञान और मोह दु·ख

का कारण है। मोह और अज्ञान के कारण ही जीव नरकादि योनियो में विभिन्न दु खों का सवेदन करता है। इसलिए नरकादि मे प्राप्त होने वाले दु खो को अहितप्रद कहा है। अत इन दुःखो से छूटने का उपाय है—अज्ञान एव मोह का त्याग करना।

'अभिसमन्नागया' का अर्थ है—जिस आत्मा ने शब्दादि विषयों के स्वरूप को जान लिया है और उनमे उसकी राग-द्वेष मय प्रवृत्ति नही है, वही मुनि है और उसी ने लोक के स्वरूप को जाना है[1]।

जो प्रबुद्ध पुरुष शब्दादि विषयो के परिणाम को जानकर उनका परित्याग कर देते है, उन्हे किस गुण की प्राप्ति होती है। इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ॥108॥

छाया—स आत्मवान् (आत्मवित्) ज्ञानवान् (ज्ञानवित्), वेदवान् (वेदवित्), धर्मवान् (धर्मवित्), ब्रह्मवान् (ब्रह्मवित्), प्रज्ञानैः परिजानाति लोकं मुनिः इति वाच्य धर्मवित् ऋजु आवर्त्त स्रोतसि संगमभिजानाति।

पदार्थ—से—वह मुमुक्षु पुरुष। **आयवं**—आत्मवान्। **नाणवं**—ज्ञानवान्। **वेयवं**—वदवित्—आगमो का परिज्ञाता। **धम्मव**—धर्म स्वरूप का ज्ञाता। **बंभवं**—ब्रह्म को जानने वाला। **पन्नाणेहि**—मति-श्रुत ज्ञान आदि से। **लोयं**—लोक के स्वरूप को। **परियाणइ**—जानता है। **मुणीतिवच्चे**—उसे मुनि कहते है, क्योकि। **धम्मविऊ**—धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता। **उज्जू**—सरल आत्मा। **आवट्ट सोए**—ससार चक्र और विषयाभिलाषा के। **सगं**—सम्बन्ध को। **अभिजाणइ**—जानता है।

मूलार्थ—वह प्रबुद्ध पुरुष आत्मा स्वरूप को जानता है, ज्ञानयुक्त है, वेद-आगमो का ज्ञाता है, धर्म को जानने वाला है, ब्रह्म को जानने वाला है, मति-श्रुत आदि ज्ञानो से लोक के स्वरूप को जानता है, अत उसे मुनि कहते है। क्योंकि वह धर्म

---

1 'अभिसमन्वागता' इति, अभि —आभिमुख्येन सम्यग्—इष्टानिष्टावधारणतयाऽन्विति—शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागता -ज्ञाता परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोक जानातीति सम्बन्ध । —आचाराग वृत्ति

के स्वरूप का ज्ञाता सरल आत्मा ससार-चक्र एव विषयाभिलाषा के सम्बन्ध को भली-भाति जानता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के क्षेत्र में सबसे पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक साधक को अपनी आत्मा का, लोक-परलोक का बोध नही है, जीव-अजीव की पहचान नही है, तब तक वह सयम मे प्रवृत्त नही हो सकता। सयम का अर्थ है—दोषों से निवृत्त होना। अतः दोषो से निवृत्त होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष क्या है? कौन-सी प्रवृत्ति दोषमय और कौन-सी निर्दोष प्रवृत्ति है? इसलिए आगम मे स्पष्ट भाषा मे कहा गया है कि साधक पहले ज्ञान प्राप्त करे, फिर क्रिया मे प्रवृत्ति करे।[1]

प्रस्तुत सूत्र मे भी मुनि जीवन का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। इसमे यह स्पष्ट कर दिया है कि वह ज्ञानवान हो, आत्म स्वरूप का, वेदो का, धर्म का, ब्रह्म स्वरूप का एव मति-श्रुत आदि ज्ञान से लोक के स्वरूप का ज्ञाता हो। जो साधक इनके स्वरूप को नही जानता है, वह सयम का भली-भांति पालन नही कर सकता। अत साधक के लिए सबसे पहले आत्मस्वरूप को जानना जरूरी है। जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप को जान सकता है। फिर उसके लिए वेद-आगम, ब्रह्म एवं लोक के स्वरूप का परिज्ञान करना कठिन नही रह जाता है और आत्मा एव लोक के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर उसकी साधना मे, उसके आचरण मे सहज ही गति एव तेजस्विता आ जाती है। वह अपने आपको दोषो से बचाता चलता है। क्योकि वह इस बात को भली-भांति जान चुका है कि इन दोषो मे आसक्त होने के कारण ही आत्मा लोक मे इधर-उधर भटकती फिरती है और विभिन्न योनियो मे अनेक दु खों का सवेदन करती है। इससे स्पष्ट हो गया कि दोषो से बचने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र मे आत्मज्ञान के बाद वेदवित् होने को कहा गया है। **'वेयवं' 'वेदवित्'** का अर्थ है जिस साधन के द्वारा जीवाजीव आदि के स्वरूप को जाना

1 पढम नाण तओ दया। —दशवैकालिक सूत्र, 4, 9

जाता है, उसे वेद कहते है। वह आचाराग आदि आगम है। अत उनके परिज्ञाता को वेदवित् कहते है[1]।

इसके बाद धर्म के स्वरूप को जानने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि आचाराग आदि आगम साहित्य के द्वारा ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है, इसलिए पहले श्रुत–साहित्य के अध्ययन का उल्लेख करके धर्म को जानने का विवेचन किया गया है।

आत्मस्वरूप, श्रुत एव धर्म के स्वरूप को जानने के बाद ब्रह्म के स्वरूप का सुगमता से बोध हो सकता है। क्योकि ब्रह्म–परमात्मा आत्मा से भिन्न नही है। जब आत्मा अपने समस्त कर्म आवरणो को सर्वथा हटा देती है, तो वह परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेती है। इसी अर्थ मे ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है[2] और ब्रह्म शब्द से 18 प्रकार के ब्रह्मचर्य को भी ग्रहण किया गया है[3]। पहले अर्थ मे परमात्मस्वरूप को स्वीकार किया है और दूसरे अर्थ मे ब्रह्मचर्य का बोध कराया है।

'प्रज्ञान' शब्द से मति-श्रुत आदि ज्ञान समझने चाहिए। क्योकि मति-श्रुत आदि ज्ञान से ही लोक के स्वरूप का बोध होता है और इसी ज्ञान के द्वारा साधक ससार परिभ्रमण एव विषयाभिलाषा के सबन्ध को जान लेता है। **'आवट्टसोए संगमभिजाणइ'** मे 'सग' शब्द संबन्ध का परिचायक है। शास्त्रों मे ससार परिभ्रमण एव विषयाभिलाषा का स्थायी सबन्ध माना गया है। जब तक विषयाभिलाषा है, तब तक ससार परिभ्रमण है। क्योंकि जहा राग-द्वेष की प्रवृत्ति है, वहीं जन्म-मरण की परम्परा का पोषण होता है, ससार का सवर्द्धन होता है। अत ससार-परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए राग-द्वेष का सग छोड देना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके सयम मार्ग पर गतिशील साधक सुषुप्ति–भाव निद्रा का त्याग करके अपनी साधना में सदा सजग रहता है। क्योंकि जागरणशील साधक ही राग-द्वेष से बच सकता है। इसलिए सुषुप्त एव जागरण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। अत·

---

1 वेद्यत जीवादि स्वरूपम् अनेनेति वेद –आचाराद्यागम त वेत्तीति वेदवित्।
—आचाराग वृत्ति

2 ब्रह्म-अशेषमलकलङ्कविकल योगीश वेत्तीति ब्रह्मवित्। —आचाराग वृत्ति

3 यदिवधा अष्टादशा ब्रमेति। —आचाराग वृत्ति

ऐसे ज्ञाता को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खापमुक्खसि, जरामच्चुवसोवणीए नरे सययं मूढ़े धम्मं नाभिजाणइ॥109॥

छाया–शीतोष्णत्यागी स निर्ग्रन्थ· अरतिरतिसहः परुषता नो वेत्ति जागर वैरोपरत., वीरः एव दुःखात् प्रमोक्ष्यसि जरामृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढ़ः धर्म नाभिजानाति।

पदार्थ–सीउसिणच्चाई–शीतोष्ण का त्यागी। **से निग्गंथे**–वह निर्ग्रन्थ। **अरइरइसहे**–अरति और रति को सहता हुआ। **फरुसयंनोवेएइ**–परुषता–कठोरता का अनुभव नही करता। **जागर**–असयम रूप भाव निद्रा से जागता है। **वेरोवरए**–वैर से उपरत हो गया है, उसे गुरु कहते है। **एव**–इस प्रकार। **वीरे**–हे वीर! **दुक्खापमुक्खसि**–तू दु खो से मुक्त हो जाएगा और दूसरो को भी मुक्त करेगा, परन्तु जो उक्त गुणो से रहित है, वह। **नरे**–मनुष्य। **जरामच्चुवसोवणीए**–जरा और मृत्यु के वशीभूत हुआ। **धम्मं नाभिजाणइ**–धर्म के स्वरूप को नही जानता। क्योकि मोह कर्म के उदय से वह। **मूढ़े**–मूढ-भाव निद्रा मे सुप्त है।

मूलार्थ–निर्ग्रन्थ–मुनि असयम–भावनिद्रा का त्यागी होने के कारण जागरणशील है और वैर-विरोध से निवृत्त हो चुका है। इस लिए वह शीतोष्ण का त्यागी, अरति और रति को सहता हुआ कठिन परीषहो के उपस्थित होने पर भी कठोरता का अनुभव नही करता। गुरु कहते है कि हे वीर! इस प्रकार के श्रेष्ठ आचरण के द्वारा तू दु·खों से सर्वथा मुक्त हो जाएगा तथा दूसरों को भी मुक्त करने मे समर्थ होगा।

परन्तु जो जागरणशील नही है, वह जरा और मरण के वशीभूत होकर मोह से मूढ बना हुआ द् खो के प्रवाह मे बहता रहता है। वह धर्म के स्वरूप को भी नहीं जान पाता, इसलिए वह द् खो से मुक्त भी नही हो सकता।

हिन्दी-विवेचन

साधक का लक्ष्य है–मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना। इसी लक्ष्य को, साध्य को सिद्ध करने के लिए वह साधना करता है। जब साधक अपने साध्य मे तन्मय होता है, तो उसे उस समय वाह्य सवेदन की अनुभूति नही होती। क्योंकि अनुकूल

एव प्रतिकूल विषयो का अनुभव मन के द्वारा होता है। जब इन्द्रियों के साथ मन का सबन्ध जुड़ा होता है, तो हमें उसके द्वारा अच्छे-बुरे विषयो का अनुभव एव उससे सुख-दु ख का सवेदन होता है। परन्तु जब मन का सम्बन्ध साध्य के साथ जुडा होता है, वह अपने लक्ष्य में तन्मय होता है, तो उस समय उसे इन्द्रियों के साथ विषयो का सबन्ध होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं होती, सुख-दु ख का संवेदन नही होता।

कुछ वर्ष हुए प्रो. भसाली[1] के जीवन की एक घटना समाचार पत्रो मे छपी थी। गरमी का महीना था। वे नगे सिर नगे पैर सेवाग्राम से वर्धा को जा रहे थे। उधर से महादेव देसाई अपने दो-तीन साथियो के साथ वर्धा से सेवाग्राम आ रहे थे। पैरो में जूते पहने हुए, सिर पर छाता ताने हुए चले आ रहे थे। फिर भी गरमी के कारण परेशान हो रहे थे। मार्ग मे भसाली जी को नगे सिर नंगे पाव मस्ती में झूमते हुए आते देखा, तो सब हैरान रह गए। निकट आते ही महादेव भाई ने पूछा—क्यो भसाली जी, गरमी नही लगती? महादेव भाई का स्वर सुनते ही वे एकदम चौक उठे और ऊपर को देखते हुए बोले—क्या गरमी पड रही है? और आगे बढ़ गए।[1]

आगमो मे भी वर्णन आता है कि साधु दिन के तीसरे पहर अथवा बारह बजे के बाद भिक्षा के लिए जाते थे। इसका अर्थ यह नही है कि उनको गरमी नहीं लगती थी। उष्णता का स्पर्श तो होता था, परन्तु मन आत्म-साधना में सलग्न होने के कारण उस कष्ट की अनुभूति नही होती थी। कभी-कभी चिन्तन मे इतनी तन्मयता हो जाती कि उन्हे पता ही नही लगता कि गरमी पड रही है या नही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि जब साधक अपने लक्ष्य या साध्य को सिद्ध करने मे तन्मय हो जाता है, तो उस समय वह अनुकूल एव प्रतिकूल परीषह को आसानी से सहन कर लेता है।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रखने वाला साधक शीतोष्ण परीषह को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है और वह वैर-विरोध से निवृत्त होकर सयम साधना में सलग्न हो जाता है और इस प्रक्रिया के द्वारा वह समस्त कर्म बन्धन तोडकर मुक्त हो जाता है और अन्य प्राणियो को मोक्ष का मार्ग बताने में समर्थ होता है।

---

1 प्रो भसाली गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के एक सैनिक थे और अभी कुछ मास पहले अणु परीक्षण वन्द करने के विरोध मे आपने 61 दिन का अनशन किया था।

इसके विपरीत जिसका मन साधना मे नही लगा है, जिसके समक्ष कोई लक्ष्य नही है; और जिसके मन मे साध्य मे तन्मयता एव एकरूपता नहीं है, वह मोह के वश ससार में परिभ्रमण करता है। विषयो की आसक्ति एव मोह के कारण वह धर्म के स्वरूप को नही समझ पाता; इसलिए वह बार-बार जन्म-मरण के **प्रवाह** मे बहता हुआ विभिन्न दु खो का सवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'सीउसिणच्चाई'** पद का पाचो आचार के अनुसार भी अर्थ किया जाता है। वह इस प्रकार है—

1. **ज्ञानाचार विषयक**—आगम, ग्रथ आदि को मन्दता से पढना शीत कहा जाता है और अति शीघ्रता से पढना उष्ण। ये दोनो दोष है, अत. अतिमन्द एव शीघ्र गति का त्याग करके आगम आदि को स्वाभाविक गति से पढना चाहिए।

2. **दर्शनाचार विषयक**—दर्शन को परीषह शीत कहा है और आक्रोश आदि को उष्ण अथवा सत्कार आदि परीषह को शीत और वध परीषह की उष्ण कहा है। इन सब परीषहो को शान्तभाव से सहन कर लेना चाहिए।

3. **चारित्राचार विषयक**—शीतोष्ण—अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शो के द्वारा सयम से विचलित नही होना।

4 **तपाचार विषयक**—आगम मे ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ तप कहा है। अत उसकी सुरक्षा के लिए शीतोष्ण स्पर्श वाली योनि (स्त्री) से सम्बन्ध न करे।

5. **वीर्याचार विषयक**—मन्दगति को शीत और अति शीघ्र गति को उष्ण कहा है। साधु को अति मन्द एवं शीघ्र गमनागमन का त्याग कर देना चाहिए। इस के अतिरिक्त पंडितवीर्य ज्ञानबल को शीत और बालवीर्य—अज्ञान को उष्ण कहा है। प्रथम का फल निर्वाण है और द्वितीय का संसार-परिभ्रमण। अत बालवीर्य का परित्याग करके ज्ञान की साधना मे सलग्न होना चाहिए।

'फरुसय नो वेएइ' का अर्थ है—मोक्षाभिलाषी पुरुष कठोर परीषहों को दु.ख रूप नही, अपितु अपना सहायक मानता है। यदि तप साधना से शरीर मे कोई वेदना हो जाए तो वह उसका सवेदन नही करता, हाय-हाय नही करता। परन्तु शातभाव से अपने लक्ष्य की ओर बढता रहता है।

'वेरोवरए' का अर्थ है—वैर से निवृत्त होना। वैर से निवृत्त व्यक्ति ही आत्मविकास

के पथ पर आगे बढ सकता है और निर्वैरता के कारण ही वह अपनी साधना मे सदा सजग रहता है।

'दुक्खापमुक्खसि' इस पद का तात्पर्य यह है कि वैर-विरोध से निवृत्त व्यक्ति ही समस्त दु-खो से मुक्त हो सकता है। इसके विपरीत वैर-विरोध में फसा हुआ व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता है।

प्राणी जरा और मृत्यु के प्रहारो से प्रताडित हो रहा है। इससे बचने के लिए मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं पास, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणापमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवजाय सत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ कम्मं च पडिलेहाए॥110॥

छाया–दृष्ट्वा आतुरप्राणान् (प्राणिनः) अप्रमत्तः परिब्रजेत् मत्वा च मतिमन्! पश्य? आरभजंदुःखम्, इदमिति ज्ञात्वा मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम्, उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु ऋजुः, माराभिशकी मरणात् प्रमुच्यते, अप्रमत्तः कामैरुपरतः पाप कर्मभ्यः वीर· आत्म गुप्तः खेदज्ञो यः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः स अशस्त्रस्य खेदज्ञ य· अशस्त्रस्य खेदज्ञः स पर्यवजात शस्त्रस्य खेदज्ञ· अकर्मण· व्यवहारो-न विद्यते कर्मणोपाधिर्जायते कर्म च प्रत्युपेक्ष्य।

पदार्थ–आउर पाणे–दु खी प्राणियों को। **पासिय**–देखकर। **अप्पमत्तो**–अप्रमत्त भाव से। **परिव्वए**–सयम मार्ग का अनुसरण करे। **य**–और। **मइम**–हे मतिमान्। **पास**–भाव सुप्त को देख? **मंत्ता**–गुण और दोप को मानकर तू मत शयन कर? **आरंभजं**–आरम्भ से उत्पन्न हुआ। **इण**–यह। **दुक्ख**–दु ख। **ति**–इस प्रकार। **णच्चा**–जानकर। **माई**–छल करने वाला। **पमाई**–प्रमाद करने वाला। **गब्भ**–गर्भ मे। **एइ**–आता है, किन्तु जो। **सद्दरूवेसु**–शब्द और रूपादि विषयो मे।

उवेहमाणो—रागद्वेप न करता हुआ। **उज्जू**—ऋजुमति होता है। **माराभिसंकी**—मरण से उद्विग्नचित्त वाला। **मरणापमुच्चइ**—मरण से विमुक्त हो जाता है। **कामेहिं**—काम-भोगो से। **अप्पमत्तो**—अप्रमत है और। **पावकम्मेहिं**—पाप कर्मो से। **उवरओ**—उपरत हे। **वीरे**—वह वीर। **आयगुत्ते**—आत्मगुप्त है। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है। **जे**—जो। **पज्जवज्जाय सत्थस्स**—शब्दादिविषयो की प्राप्ति के लिए जो हिसादि क्रियाए की जाती है, जो उनका। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है। **से**—वह। **असत्थस्स**—संयम का। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है। **जे**—जो। **असत्थस्स**—समय का। **खेयन्ने**—खेदज्ञ—जानने वाला है। **से**—वह। **पज्जवजायसंस्थस्स**—पर्यवजात शस्त्र का। **खेयन्ने**—खेदज्ञ है और फिर। **अकम्मस्स**—कर्म रहित का ससार चक्र मे। **ववहारो**—व्यवहार। **न विज्जइ**—नही है। **उवाही**—ससार भ्रमण रूप उपाधि। **कम्मुणा**—कर्म से। **जायइ**—उत्पन्न होती है अत। **च**—फिर। **कम्म**—कर्म को। **पडिलेहाए**—विचार कर—भावनिद्रा को छोड जाग्रत अवस्था मे ही सदा रहना चाहिए।

मूलार्थ—दु खित प्राणियो को देखकर सदा अप्रमत्त भाव से ही सयम मार्ग मे विचरे, हे बुद्धिमान्' आरम्भ—हिसा से यह दु.ख उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार मानकर फिर छल-कपट करने वाला प्रमादी जीव गर्भ में पुन-पुन आता है। अपितु जो शब्दादि विषयो में राग और द्वेष न करता हुआ ऋजुमति और मरणजन्य दु.ख से उद्विग्न चित्तवाला है, वह मरण के दु.ख से छूट जाता है तथा जो काम-भोगो मे अप्रमत्त—प्रमाद-रहित एव पापकर्मो से उपरत—रहित है, वह वीर आत्मगुप्त और खेदज्ञ है, निपुण है, तथा जो हिसादि क्रियाओ का खेदज्ञ—जानकार है, वह सयम का खेदज्ञ जानने वाला है और जो सयम का जानकार हे, अर्थात् सयम के स्वरूप को जानता हे, वह हिसादि क्रियाओ के स्वरूप को जानता है। किन्तु कर्म रहित आत्मा का ससारचक्र मे व्यवहार—परिभ्रमण नही होता, ससार-चक्र की उपाधि कर्मजन्य है, कर्म से उत्पन्न होती है, अत कर्म के यथार्थ स्वरूप का पर्यालोचन करके मुमुक्षु पुरुप को सयम मार्ग मे ही यतना पूर्वक विचरना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

ससार-परिभ्रमण का मूल कारण राग-द्वेप-जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्ति कषायो के वश होकर आरम्भ—हिसा करता है और परिणामस्वरूप अशुभ कर्मो का वन्ध करके नरक, तिर्यच आदि गतियो मे अनेक प्रकार के दु'खों का सवेदन करता है। इस

प्रकार व्यक्ति शब्दादि विषयो में आसक्त होकर हिंसा आदि दोषो मे प्रवृत्त होकर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह मे बहता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिसा जन्य प्रवृत्ति मे प्रवर्त्तमान व्यक्ति दु खो के महागर्त मे जा गिरता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त दु खो का मूल स्रोत हिसाजन्य प्रवृत्ति है। हम यों भी कह सकते है कि जो व्यक्ति संयम से विमुख है, शब्दादि विषयो मे आसक्त है, वह आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मो का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप विभिन्न योनियों मे जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है, जागरणशील है, विवेकशील है, सयम-असयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त नही होता। उसकी प्रत्येक क्रिया सयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना मे प्रवृत्त होता है, अत वह पाप कर्म का बन्ध नही करता। परन्तु सयम एव तप के द्वारा नए कर्मो के आगमन को रोकता है और पुरातन आबद्ध कर्मो की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन कर्म बन्धनो से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अपने लक्ष्य पर जा पहुंचता है। अत. मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि असयम से निवृत्त होकर संयम मे प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'जे पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने'** का अर्थ है—जो व्यक्ति शब्दादि विषयों की आकाक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओ एव उसके परिणाम का ज्ञाता है, वही विशुद्ध सयम का परिज्ञाता हो सकता है[1]। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतु-हेतुमद्भाव से वर्णन किया है, अर्थात् जो व्यक्ति ससार-परिभ्रमण के कारणो का परिज्ञाता है, वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है—मोक्ष-मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म बन्धनो को तोड देता है और वह आठ कर्मो से मुक्त व्यक्ति फिर से

---

1 शब्दादीना विषयाणा पर्यवा—विशेषास्तेपु—तन्निमित्त जात शस्त्र पर्यवजात शस्त्र—शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यानुष्ठान तत्पर्यवजातशस्त्र तस्यपर्यवजातशस्त्रस्य य खेदज्ञो—निपुण सोऽशस्त्रस्य निरवद्यानुष्ठानरूपस्य सयमस्य खेदज्ञ यश्चाशस्त्रस्य सयमस्य खेदज्ञ स पर्यवजात्—शस्त्रस्यापि खेदज्ञ, इत्यादि। —आचाराग वृत्ति

ससार मे नहीं आता[1]। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि कर्म बन्धन से मुक्त आत्मा फिर से संसार मे अवतरित नही होती? कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में बहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म-ग्रहण नही करती है, क्योंकि जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था मे कर्म का सर्वथा अभाव है। इसलिए परमात्मा या ईश्वर के अवतरित होने की कल्पना नितांत असत्य एव कपोल कल्पित प्रतीत होती है। वस्तुत कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है, फिर वह ससार मे नही भटकती है।

अत. मुमुक्षु को कर्मो की मूल एव उत्तर प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–कम्म मूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अन्तेहिं अदिस्समाणे तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि॥111॥

छाया–कर्ममूलं च यत् क्षण प्रत्युपेक्ष्य सर्व समादाय द्वाभ्यामन्ताभ्याम-दृश्यमानः त परिज्ञाय मेधाविन्! विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसंज्ञां स मेधावी परिक्रमेत्–पराक्रमेत् इति ब्रवीमि।

पदार्थ–कम्ममूलं–कर्म मूल को। **पडिलेहिय**–प्रत्युपेक्षण कर। **च**–समुच्चय अर्थ मे है, तथा। **ज छण**–जो हिसा है वही कर्म मूल है, उसको छोड देवे। **सव्वं**–सर्व। **समायाय**–उपदेश पूर्व क सयम ग्रहण करके। **दोहिअंतेहिं**–दोनों से–राग और द्वेष से आत्मा को पृथक् करके तथा राग और द्वेष को। **अदिस्समाणे**–अदृश्यमान करता हुआ। **त**–उस कर्म के कारणो को। **परिन्नाय**–ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। **मेहावी**–बुद्धिमान। **लोगं**–विषय कषाय रूप लोक को। **विइत्ता**–जानकर अत । **वता**–छोडकर। **लोगसन्नं**–लोक सज्ञा को। **से**–वह। **मेहावी**–मर्यादावर्त्ती बुद्धिमान पुरुष। **परिक्कमिज्जासि**–सयमानुष्ठान मे पराक्रम करे। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ–प्रबुद्ध पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह हिसा आदि दोषो को कर्म का मूल

---

1 न विद्यते कर्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्मा तस्य व्यवहारो न विद्यते। –आचाराग वृत्ति।

जानकर और भगवान के उपदेश को जीवन में ग्रहण करके राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ कर्मो को क्षय करने का प्रयत्न करे और मर्यादा का परिपालन करता हुआ संयम में पुरुषार्थ करे। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

कर्म बन्ध के मूल कारण पाच है—1. मिथ्यात्व, 2 अव्रत, 3. कषाय, 4. प्रमाद और 5 योग। इनके कारण ही जीव ससार में परिभ्रमण करता है। इस बात को जिनेश्वर भगवान ने अपने उपदेश में स्पष्ट कर दिया है और उससे मुक्त होने का मार्ग भी बताया है। अत भगवान के उपदेश को हृदयगम करके मुमुक्षु पुरुष को उसके अनुरूप आचरण करना चाहिए। ससार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

राग-द्वेष कर्म बन्ध के बीज है[1]। इसलिए मुख्य रूप से इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देता है, उनका सर्वथा उन्मूलन कर देता है, फिर वह कर्म बन्धन से नही बन्धता है और परिणामस्वरूप जन्म-मरण आदि समस्त दु:खो से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे **'अंत'** शब्द राग-द्वेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। अत· बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सम्यगदर्शन, ज्ञान और चारित्र का आराधन करके आत्मा को कर्ममल से मुक्त बनाने का प्रयत्न करे।

यहा 'मेधावी' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष मर्यादा में स्थित रहता है, वही आत्म विकास कर सकता है, सयम मे प्रवृत्त हो सकता है। अत· ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में पडित एव बुद्धिमान होता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

1 रागो य दोसो वि य कम्मबीय। —उत्तराध्ययन सूत्र-32

2 अन्तहेतुत्वादन्तौ—राग-द्वेषौ ताभ्या सहादृश्यमान ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्म्मेति। —आचाराग वृत्ति

तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे भाव सुप्त एव जागरणशील पुरुष के स्वरूप को बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म नही करता। पाप कर्म करने से जीव किस प्रकार दु खी होता है, इस उद्देशक मे इसका सजीव वर्णन किया गया है और कहा है कि आतकदर्शी—नरक आदि दुर्गति में मिलने वाले दु.खो से बचने वाला कभी भी पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता। भाव निद्रा मे सुप्त पुरुष ही पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए प्राय· वह दु खों एव असातावेदनीय कर्म का संवेदन करता है। इन भावो को स्पष्ट अभिव्यक्त करने वाले प्रस्तुत उद्देशक का प्रथम सूत्र निम्न है—

मूलम्— जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज! पासे,
भूएहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा,
संमत्तदंसी न करेइ पावं॥4॥

छाया— **जातिं च बृद्धिञ्च ऽहार्य पश्य' भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं।**
तस्मादतिविद्यः परमिति ज्ञात्वा, सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापं॥

पदार्थ—अज्ज—हे आर्य' तू। **जाइं**—जन्म। **च**—और। **वुड्ढिं**—वृद्धत्व को। **इह**—इस मनुष्य लोक मे। **पासे**—देख। **भूएहिं**—जीवों के। **सायं**—साता-सुख को। **पडिलेह**—प्रतिलेखन कर के। **जाणे**—अपने समान जान, अर्थात् सभी जीव मेरे समान सुख चाहते है। **तम्हा**—इसलिए। **अतिविज्जे**—तत्त्व निर्णायक विद्या एव। **परमं**—मोक्ष को। **णच्चा**—जानकर। **ति**—पूर्णार्थ में है। **सम्मत्तदंसी**—सम्यग्दृष्टि। **पाव न करेइ**—पापकर्म नही करता है।

मूलार्थ—हे आर्य' तू इस लोक मे जन्म जरा (बुढ़ापे) के दुःख को देख और जीवो के सुख का प्रतिलेखन कर यह जान ले कि सभी जीव सुख चाहते है । इसलिए तत्त्व एव मोक्ष का परिज्ञाता सम्यग् दृष्टि जीव पाप कर्म नही करता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात पर जोर दिया गया है कि साधक सबसे पहले जन्म-जरा एव मृत्यु के स्वरूप तथा जीवो के स्वभाव को जाने। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जन्म-जरा एव मरण कर्म जन्य हैं और आरम्भ हिंसा आदि दोषों को सेवन करने से कर्म का बन्ध होता है। क्योकि हिसा से दूसरे प्राणियो को कष्ट होता है, दु:ख होता है और कोई भी प्राणी दु ख नही चाहता। कारण कि जीव स्वभाव से सुखाभिलाषी है। सभी प्राणी सुख चाहते है। अत उन्हें कष्ट देना, परिताप देना, पीडा पहुचाना पाप है। इससे कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप जीव जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान होता है तथा विभिन्न दु खो का सवेदन करता है।

अत जन्म-जरा के स्वरूप एव जीवो के स्वभाव का ज्ञाता प्रबुद्ध पुरुष आरभ-समारभ से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता हे। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म मे आसक्ति तब तक रहती है, जब तक आत्मा मे सद्ज्ञान की ज्योति नही जगती। अत· पाप का कारण अज्ञान है। यह ठीक है कि ज्ञान की प्राप्ति होने के बाद आरम्भ होता है, परन्तु अज्ञान दशा मे की जाने वाली प्रवृत्ति एव ज्ञान पूर्वक होने वाली प्रवृत्ति मे रात-दिन का अन्तर है। मिथ्यादृष्टि आरभ-समारभ मे सलग्न रहता है, आसक्त रहता है और हार्दिक इच्छा पूर्वक उसमे प्रवृत्ति करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उसमें आसक्त नहीं बनता, वह परिस्थितिवश उसमे प्रवृत्त होता है; फिर भी वह भावना से उस कार्य को त्याज्य ही समझता है।

कुछ लोग इसका यह अर्थ करते है कि सम्यग्दृष्टि को पाप कर्म नही लगता, परन्तु यह अर्थ सामान्य सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा घटित नही होता। छठे गुणस्थान की अपेक्षा से यह कथन उचित है कि उक्त गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव को पाप कर्म नही लगता। परन्तु उसके नीचे के गुणस्थानो के लिए यह कथन ठीक नही है। इसके लिए हम यहां थोड़ा-सा गुणस्थान के विकासक्रम पर भी सोच लें तो यह विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा।

चौथे गुणस्थान से जीवन विकास आरम्भ होता है। इस गुणस्थान को स्पर्श करते ही मिथ्यादर्शन की क्रिया रुक जाती है। पाचवे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान की

क्रिया नहीं लगती, छठे गुणस्थान मे परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, और वीतराग गुणस्थान मे केवल इरियावहिया क्रिया लगती है और अयोगीगुणस्थान मे कोई क्रिया नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि पाप कर्म का बन्ध छठे गुणस्थान मे रुकता है। उक्त गुणस्थान मे अप्रत्याख्यान एव परिग्रह--आसक्ति का अभाव रहता है। परन्तु पांचवे गुणस्थान मे पदार्थो के प्रति आसक्ति का पूर्ण त्याग नही होता है और चौथे गुणस्थान मे जीव आसक्ति को त्याज्य समझता है, परन्तु वह उसका आशिक त्याग भी नही कर सकता। इसलिए चौथे एव पाचवे गुणस्थान मे रहा हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नही होता। परन्तु उसकी भावना निवृत्त होने की रहती है और विवशतावश वह उसमे प्रवृत्त होता है। इसलिए यह कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म मे प्रवृत्ति नही करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि दुःखो से बचने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। प्रवुद्ध—ज्ञानी पुरुष ही पापों से बच सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि **"भूएहिं जाणे पडिलेह सायं"** इसका तात्पर्य यह है कि जो यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की साधना मे सलग्न रहता है, वह पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता, क्योंकि वह पाप कर्म के दुष्फल—दु:खद परिणाम से परिचित होता है[1]।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर साधक अपने आपको सदा पाप कर्म से निवृत्त करने का प्रयत्न करता है। वह पाप कर्म के दुखद परिणामो को जानकर उनसे बचने के लिए धर्म का आचरण करता है, सयम साधना मे सलग्न होता है। यो कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है। वह अपनी आत्मा को भूलाकर कोई कार्य नही करता।

पाप कर्म की उत्पत्ति का कारण राग—स्नेह है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य विभिन्न दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होता है। अत· मुमुक्षु को राग भाव का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 भूतांभि—चतुर्दशभूतग्रामास्तै सममात्मन सात—सुख प्रत्युपेक्ष्य पर्यलोच्य जानीहि, तथाहि—यथा त्व सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्वं दुखद्विडेवमन्येऽपि जन्तव, एव मत्वाऽन्येषामसातोत्पादन न विदध्या। —आचाराग वृत्ति

मूलम्—उम्मुञ्च पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी कामेसु गिद्धा निचयं करंति, ससिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं॥5॥

छाया— उन्मुञ्च पाशमिह मर्त्यैः, आरम्भजीवी उभयानुदर्शी।
कामेषु गृद्धाः निचयं कुर्वन्ति, संसिच्यमानाः पुनर्यान्ति गर्भम्॥

पदार्थ—**इह**—इस मनुष्य लोक मे। **मच्चिएहिं**—मनुष्यों से। **पासं**—राग-स्नेह बन्धन को। **उम्मुञ्च**—तोड दे। और यह जान कि जो व्यक्ति। **आरंभजीवी**—आरभ से आजीविका करने वाले है। **उभयाणुपस्सी**—शारीरिक एव मानसिक उभय सुखो के द्रष्टा—अभिलाषी। **कामेसु गिद्धा**—काम-भोग मे मूर्छित है, **वेनिचयं करंति**—कर्मो का उपचय करते है। **पुण**—और फिर। **संसिच्चमाणा**—काम-भोग रूप जल से भव भ्रमण रूप कर्म वृक्ष का सिञ्चन करते हुए। **गब्भं**—गर्भ को। **एति**—प्राप्त होते है।

मूलार्थ—हे आर्य! इस मनुष्य लोक में मनुष्यो के साथ तेरा जो राग भाव है, स्नेह बन्धन है, उसे तू छोड दे और यह जान ले कि जो व्यक्ति आरम्भ से आजीविका करने वाले, शारीरिक एव मानसिक सुखाभिलषी और काम भोगो में आसक्त है वे पाप कर्मो का उपचय करते है और भवभ्रमण रूप कर्मवृक्ष का सिंचन करते हुए बार-बार गर्भ मे आते है अर्थात् जन्म मरण के प्रवाह मे बहते रहते है।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे राग-द्वेष को कर्म का मूल बीज बताया है। प्रस्तुत सूत्र मे राग—स्नेह-वन्धन के त्याग का उपदेश दिया गया है। क्योंकि जिस व्यक्ति के प्रति अनुराग होता है, मोह होता है तो उसके लिए मनुष्य अच्छे बुरे किसी भी कार्य को करने मे संकोच नही करता। इसके लिए वह आरम्भ-समारम्भ एव विषय-वासना मे सदा आसक्त रहता है और इससे पाप कर्म का संचय एव प्रगाढ़ बन्ध करता है तथा परिणाम स्वरूप बार-बार गर्भ में जन्म ग्रहण करता है।

अत हे आर्य! तू कर्म एवं जन्म-मरण के मूल कारण राग भाव या स्नेह बन्धन को तोडने का प्रयत्न कर और सावधान होकर सयम मार्ग पर गति कर।

जो व्यक्ति बिना सोचे-विचारे, अविवेकपूर्वक काम करते है, उनके संसर्ग से क्या होता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नइ।
अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेइ अप्पणो॥6॥

छाया— अपि स हासमासाद्य, हत्वा नन्दीति मन्यते।
अल बालस्य संगेन वैरं वर्द्धयति आत्मन॥

पदार्थ—**अवि**—सभावना अर्थ मे है। **हासं आसज्ज**—हास्य को स्वीकार करके। **से**—वह, विषयासक्त पुरुष। **हंता**—जीवो को मारकर। **नंदीति**—आनन्द। **मन्नइ**—मनाता है। **अलंवस**—पर्याप्त है, वह। **बालस्स**—बाल—अज्ञानी के। **संगेण**—ससर्ग से। **अप्पणो**—अपनी आत्मा के साथ। **वेरं**—वैर भाव को। **वड्ढेइ**—बढ़ा रहा है।

मूलार्थ—वह विषयासक्त व्यक्ति हास्य को ग्रहण करके हसी-विनोद के लिए जीवो को मारकर प्रसन्न होता है। ऐसे अज्ञानी पुरुष के ससर्ग से आत्मा वैर भाव को बढाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि हास्य एव अज्ञान से आत्मा मे वैर भाव बढता है। क्योकि हास्य एव अज्ञान के वश मनुष्य हिसा आदि पाप कार्य मे प्रवृत्त होता है और उसमे आनन्द एव प्रसन्नता का अनुभव करता है। परन्तु मरने वाला प्राणी उस दु ख से बचने के लिए पूरा प्रयत्न करता है, अपनी सारी शक्ति लगा देता है। कारण यह है कि सभी प्राणी जीने के इच्छुक है, मरना कोई नही चाहता। इसलिए हम देखते है कि वध गृह, बलिदान के स्थान पर या किसी अन्य स्थान मे मारने के लिए लाए हुए बकरे आदि पशुओ को जब मारा जाता है, तो वे उसके कठोर बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते है। उनकी इस चेष्टा को रोकने के लिए घातक के मन मे क्रूरता और अधिक उग्र रूप धारण करती है और प्रतिक्षण द्वेष-भाव बढता है। उधर मरने वाले प्राणी के मन में भी बदले की भावना उद्बुद्ध होती है—भले ही वह दुर्बल होने के कारण अपनी चेष्टा मे सफल नही होता, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से नही निकलती। इस प्रकार दोनो व्यक्ति वैर भाव का अनुबन्ध कर लेते हैं। इससे यह कहा गया कि ऐसा अज्ञानी व्यक्ति एव उसका ससर्ग करने वाला व्यक्ति भी वैर-भाव को बढाता है।

कुछ लोग केवल विनोद एव शौर्य प्रदर्शन के लिए शिकार करके प्रसन्न होते है। कुछ लोग वेद विहित यज्ञो मे एव देवी-देवताओ को तुष्ट करने के लिए पशुओ का बलिदान करके आनन्द मनाते है। इस प्रकार स्वर्ग एव पुत्र-धन आदि की प्राप्ति तथा शत्रुओ के नाश के लिए या धर्म के नाम पर मूक एव असहाय प्राणी की हिसा करना, धर्म की पवित्र मानी जाने वाली वेदी को निरपराध प्राणियो के खून से रग कर आनन्द मनाना भी पतन की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट बाल-भाव—अज्ञान है। इससे आत्मा पतन के महागर्त मे गिरता है।

इन सब पाप-कार्यो का मूल कारण विषय-कषाय है। अत मुमुक्षु पुरुष को विषय-कषाय का परित्याग करके पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा आयंकदंसी न करेइ पावं। अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी॥4॥

छाया—तस्मदतिविद्वान् परममिति ज्ञात्वा, आतकदर्शी न करोति पापम्।
अग्रञ्च मूलं च त्यज धीर! परिच्छिद्य निष्कर्मदर्शी॥

पदार्थ—तम्हा तिविज्जो—इसलिए प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी पुरुष। **परमंति**—मोक्ष के सर्वश्रेष्ठ। **णच्चा**—जानकर वह। **आयंकदंसी**—आतकदर्शी—नरकादि दु:खो के कारण एवं परिणाम का द्रष्टा। **पावं न करेइ**—पाप कर्म को नही करता।

धीरे—हे धैर्यवान! तू। **अग्गं**—भवोपग्राही वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन कर्म चतुष्टय और। **मूल**—आत्मा के मूल गुण के घातक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म चतुष्टय को। **च**—समुच्चयार्थक। **विगिं च**—दूर कर। **ण**—वाक्यालंकार मे। **पलिच्छिंदिया**—तप सयम के द्वारा कर्म वृक्ष के मूल एव शाखा-प्रशाखा का छेदन करके। **निक्कम्मदंसी**-निष्कर्मदर्शी—कर्म रहित होकर जगत का द्रष्टा बन जाता है, अर्थात् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो जाता है।

मूलार्थ—इसलिए आतकदर्शी नरकादि दु:खो के कारण एव उसके परिणाम का यथार्थ द्रष्टा प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता।

हे आर्य! तू आत्मा के मूल को प्रच्छन्न करने वाले घातिकर्म चतुष्टय और

संसार मे रोक कर रखने वाले अघातिकर्म चतुष्टय को दूर कर, धैर्यवान पुरुष तप साधना के द्वारा कर्म वृक्ष की शाखा-प्रशाखा एवं मूल का उन्मूलन करके आत्मा एव लोक के स्वरूप का द्रष्टा, निष्कर्म अर्थात् कर्म आवरण से रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जो इस बात को भली-भांति जानता है कि यह जीव आरम्भ-समारम्भ आदि दुष्कर्मो मे प्रवृत्त होकर कर्म का संग्रह करता है और उसके परिणाम स्वरूप नरकादि लोक मे विभिन्न दु.खो का सवेदन करता है। इसके साथ वह यह भी जान लेता है कि जीव आरम्भ आदि दोष जन्य प्रवृत्ति से निवृत्त हो कर निष्कर्म बन जाता है और वही मार्ग—जिस पर चलकर जीव निष्कर्म बनता है, मोक्ष मार्ग कहलाता है। अत लोक एवं मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला साधक ही प्रबुद्ध पुरुष कहलाता है और वह यथार्थ द्रष्टा पाप कार्य के दु.खद परिणामो को जानता है, इसलिए वह पाप कार्य मे प्रवृत्ति नही करता है।

जब मनुष्य पाप कर्म से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, तो वह दु ख एव भव परिभ्रमण के मूल एव उत्तर कारणो का समूलत· नाश कर देता है। तथागत बुद्ध ने भी दु ख नाश करने का उपदेश दिया है। परन्तु बुद्ध एव महावीर के उपदेश मे पर्याप्त अन्तर है। बुद्ध की दृष्टि केवल भौतिक दुःखो तक ही सीमित रही है। वे एक डाक्टर की भाति नशे का इजेक्शन देकर बाहरी वेदना को दूर करने का प्रयत्न करते है। वे दु.ख की मूल जड को नही पकडते और न उसके नाश का ही प्रयत्न करते हुए दिखाई देते है, परन्तु भगवान महावीर केवल भौतिक दु·ख के नाश मे ही नहीं उलझे रहे। उन्होंने दु·ख के मूल कारण को खोजा और एक निपुण चिकित्सक की तरह रोग को जड से उखाड फेकने का प्रयत्न किया।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'अग्ग च मूल च . ' पाठ इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि भगवान महावीर या जैन दर्शन का मूल स्वर ससार वृक्ष के पत्तों को ही नही, अपितु उसकी जड को उखाडने का रहा है। उन्होने अग्र भाग को भी समाप्त करने

की बात कही, उसका भी मार्ग बताया है, परन्तु साधक का लक्ष्य केवल शाखा-प्रशाखाओ का नाश तक ही नही, अपितु उस विषाक्त वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने का है। जैन दर्शन ऊपर-ऊपर से ही कांट-छाट करने का पक्षपाती नही है, वह जड मूल से नाश करने का उपदेश देता है।

मूल कर्म चार हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म; क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणो को प्रच्छन्न करने वाले है। उसके अनन्त ज्ञान दर्शन, अव्याबाध सुख और वीर्य—शक्ति को ढकने वाले हैं। शेष चार कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के मूल गुणो को प्रभावित नही करते है। उनका प्रभाव इतना ही रहता है कि वे आत्मा को ससार मे रोके रखते है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा के मूल गुणो के घातक पहले चार कर्म है, इसलिए उन्हे घातिकर्म कहते है। उनके नाश का अर्थ है—ससार का नाश। यह सत्य है कि वृक्ष को जड से उखाड़ते ही शाखा-प्रशाखा एव पत्ते आदि नष्ट नही हो जाते। परन्तु साथ मे यह भी तो है कि मूल का नाश होने के बाद शाखा आदि का अस्तित्व थोडे समय का ही रह जाता है। क्योंकि उन्हे पोषण मूल से ही मिलता है और उसके नाश होते ही उन्हे पोषण मिलना बन्द हो जाता है और परिणाम स्वरूप वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते है। यही स्थिति ससार की है। मूल कर्मो के क्षय होते ही शेष कर्म आयुष्य कर्म की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते है और यह जीव पूर्णत निष्कर्म—कर्म आवरण से रहित बन जाता है।

निष्कर्म जीव किस गुण को प्राप्त करता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एस मरणापमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी; लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिव्वए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं॥112॥

छाया—एष मरणात् प्रमुच्यते स खलु दृष्टभयो मुनिर्लोके परमदर्शी विविक्तजीवी उपशान्तः समितः सहित· सदायतः कालाकांक्षी परिव्रजेत् बहु च खलु पापकर्म प्रकृतम्।

पदार्थ—**एस**—वह निष्कर्मदर्शी। **मरणा**—मृत्यु से। **पमुच्चइ**—मुक्त हो जाता है, और। **से हु**—निश्चय ही वह। **मुणी**—मुनि। **बहु**—बहुत। **च**— समुच्चयार्थ मे। **खलु**—निश्चयार्थक है। **पावकम्मं**—पाप कर्म। **पगडं**—जो पूर्व मे बंधा हुआ है या प्रकट है, उसे दूर करने के लिए वह। **दिट्ठभए**—भयो का द्रष्टा। **लोगंसि**—लोक मे। **परमदंसी**—मोक्ष या संयम मार्ग का द्रष्टा। **विवित्त जीवी**—स्त्री, पशु और नपुंसक रहित निर्दोष उपाश्रय मे रहने वाला या रागद्वेष रहित। **उवसते**—उपशान्त रूप। **समिए**—पाच समिति से युक्त। **सहिए**—ज्ञानवान्। **सया**—सदा। **जए**—यत्नशील। **कालकखी**—पडित मरण का आकाक्षी। **परिव्वए**—सयम मार्ग पर चले।

मूलार्थ—निष्कर्मदर्शी जन्म-मरण से मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है। अत· निष्कर्मदर्शी बनने का अभिलाषी मुनि पूर्व में बॉधे हुए पाप कर्म को क्षय करने के लिए वह सात भयो का द्रष्टा लोक मे मोक्ष या सयम मार्ग का परिज्ञाता, शुद्ध एवं निर्दोष स्थान—उपाश्रय मे ठहरने वाला, उपशांत भाव मे रमण करने वाला, पाच समिति से युक्त एव सदा यत्नशील होकर पण्डितमरण की आकांक्षा रखते हुए सयम साधना मे सलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

जन्म-मरण कर्मजन्य है। आयु कर्म के उदय से जन्म होता है और क्षय होने पर मृत्यु आ घेरती है। फिर आयु कर्म उदय-होने पर अभिनव योनि मे जन्म होता है और उसका क्षय होते ही वह उस योनि के भौतिक शरीर को वही छोड़कर चल देता है। इस प्रकार वह बार-बार जन्म-मरण के प्रवाह मे बहता है और बार-बार गर्भाशय एव विभिन्न योनियो मे अनेक दु खो का सवेदन करता है। अत जब तक कर्म बन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक आत्मा काल-चक्र से मुक्त नही होता। अत मृत्यु पर विजय पाने के लिए जन्म के कारण कर्म का क्षय करना जरूरी है। जब जीव निष्कर्म हो जाता है, तब फिर वह मृत्यु के दु·ख से मुक्त हो जाता है। कारण कि निष्कर्म आत्मा का जन्म नही होता और जब जन्म नही होता—तो फिर मृत्यु का तो प्रश्न ही नही उठता। मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है। हम यो भी कह सकते है कि जन्म का दूसरा रूप मृत्यु है। मनुष्य जिस क्षण जन्म लेता है, उसके दूसरे क्षण ही वह मृत्यु की ओर

पाव बढाने लगता है। इसलिए निष्कर्म बनने का अर्थ है—जन्म और मरण की परम्परा को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देना।

इसलिए साधक को सबसे पहले निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए। उसकी दृष्टि, भावना एव विचार-चिन्तन निष्कर्म बनने की ओर ही होनी चाहिए। जब मन में निष्कर्म बनने की भावना उद्बुद्ध होगी, तभी वह उस ओर पाव बढ़ा सकेगा और उस मार्ग मे आने वाले प्रतिकूल एव अनुकूल साधनो को भली-भाति जान सकेगा। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है—वह सप्त भय एव सयम मार्ग का द्रष्टा है। उनके स्वरूप एव परिणाम को भली-भाति जानता है। इसलिए उसे **'परमदंसी'**—परमदर्शी अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मोक्ष मार्ग का द्रष्टा कहा है।

वह ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न साधक आचार से भी सम्पन्न होता है। वह एकात, शात एव निर्दोष स्थान मे ठहरता है और अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी राग-द्वेष नही रखता हुआ समभाव से सयम साधना मे सलग्न रहता है। सदा उपशात भाव मे निमज्जित रहता है और पांच समिति से युक्त होकर तप संयम के द्वारा पूर्व मे बधे हुए पाप कर्मो का क्षय करने मे सदा यत्नशील रहता है।

प्रस्तुत सूत्र मे **'परमदंसी'** पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि साधक सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न होता है। **'समिए'** शब्द चारित्र का परिचायक है और **'विवित्त जीवी'** और **'परिव्वए'** शब्द तप एव वीर्य आचार के ससूचक है। इस प्रकार इस सूत्र में साधक का जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य पाचो आचार से युक्त बताया गया है।

साख्य दर्शन आत्मा को कर्म से आबद्ध नही मानता है। उसके विचार मे आत्मा शुद्ध है, इसलिए वन्ध एव मोक्ष आत्मा का नही, प्रकृति का होता है। परन्तु वस्तुतः ससारी आत्मा बन्धन रहित नही है, क्योकि वह निष्कर्म नही, अपितु कर्मयुक्त है। **'बहु पाव कम्म पगड'** इस पाठ से इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि वह बहुत पापकर्म से आबद्ध है।

अत. निष्कर्म व्यक्ति को पापकर्मो का सर्वथा क्षय कैसे करना चाहिए, इसका मार्ग बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्–सच्चंमि[1]धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ॥113॥

छाया–सत्ये धृतिं कुरुध्वं अत्रोपरतो मेधावी सर्व पाप–कर्म झोषयति।

पदार्थ–सच्चंमि–सयम में। **धिइ**–धृति। **कुव्वहा**–कर। **एत्थोवरए**–इस समय मे जो उपरत है, वह। **मेहावी**–तत्त्वदर्शी। **सव्वं**–सभी। **पावं कम्मं**–पाप कर्म को। **झोसइ**–क्षय–नष्ट कर देता है।

मूलार्थ–जो तत्त्वदर्शी पुरुष संयम मे सलग्न है, वह समस्त पाप-कर्म को क्षय कर देता है। अत हे आर्य' सत्य-सयम मे धैर्य करो, अर्थात् धैर्य के साथ सत्य-सयम का परिपालन करो।

हिन्दी-विवेचन

इस बात को हम देख चुके है कि हिसा, असत्य, असयम आदि दोषो से पाप कर्म का बन्ध होता है और सयम से पाप कर्म का प्रवाह रुकता है एव उसके साथ सत्य एव तप आदि सद्गुण होने से पूर्व बधे हुए पाप कर्म का क्षय भी होता है। इस प्रकार संयम की साधना–आराधना से जीव कर्मो का आत्यातिक क्षय कर देता है। इससे स्पष्ट हुआ कि सयम-साधना का फल निष्कर्म–कर्म रहित होता है।

'एत्थोवरए' पद का अर्थ है–भगवान के वचनो पर विश्वास करके सयम मे जो रत है–सलग्न है। और **'सव्वं पावं कम्मं झोसइ'** का तात्पर्य है–समस्त अवशिष्ट पाप कर्मो का क्षय करना[2]। अत निष्कर्म बनने के लिए साधक को धैर्य के साथ सत्य-सयम का परिपालन करना चाहिए।

जो सयम का परिपालन नही करते है, उन प्रमादी जीवो की स्थिति का चित्रण करते हुए सूत्रकार कहते है–

---

1 सच्चंसि–इति पाठान्तरम्

2 'अत्र' अस्मिन् सयमे भगवद् वचसि वा उप-सामीप्येन रतो–व्यवस्थितो। और, सर्व अशेष पाप, कर्म, ससारार्णवपरिभ्रमणहेतु झोपयति-शोषयति क्षय नयतीति यावत्।
–आचाराग वृत्ति

मूलम्—अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरित्तए, से अण्णवहाए, अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए॥114॥

छाया—अनेक चित्तः खलु अयं पुरुषः स केतनमर्हति पूरयितुं सोऽन्यवधाय, अन्यपरितापाय, अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदपरितापाय, जनपद-परिग्रहाय (जनपदपरिवादाय)।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ मे है। **अयं अणेग चित्ते**—यह अनेक चित्त वाला। **पुरिसे**—पुरुष। **से केयणं**—वह लोभ रूप घर को। **पूरित्तए**—भरने की। **अरिहए**—इच्छा करता है। **से**—वह लोभ पूर्ति के लिए। **अण्णवहाए**—अन्य जीवों का वध करता है। **अण्णपरियावाए**—अन्य प्राणियों को परिताप देता है। **अण्ण-परिग्गहाए**—अन्य द्विपद-चतुष्पद आदि प्राणियो को अपने अधीन करता है। **जणवयवहाए**—जनपद का सहार करने के लिए प्रवृत्त होता है। **जणवयपरिग्गहाए**—जनपद को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करता है।

मूलार्थ—अनेक चित्त वाला पुरुष अपनी अतृप्त तृष्णा को पूरी करने की आकाक्षा रखता है और इसके लिए वह अन्य जीवो एव जनपद का वध करने, उन्हे परिताप देने एव उन्हे अपने अधीन बनाने के लिए प्रवृत्त होता है।

हिन्दी-विवेचन

कषाय आत्मगुणो के नाशक हैं। क्रोध प्रेम का, मान विनय का, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणो का विनाश करता है। क्रोधादि एक-एक आत्मगुण के नाशक हैं, परन्तु लोभ इतना भयकर शत्रु है कि वह गुण मात्र को नष्ट कर देता है। लोभ के नशे में मनुष्य इतना बेईमान हो जाता है कि वह अच्छे-बुरे कार्य का भेद ही नही कर पाता। वह न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। लोभी मनुष्य अपनी अनन्त तृष्णा के गढ़े को भरने के लिए रात-दिन दुष्प्रवृत्तियों मे लगा रहता है।

स्वाद एव धन के लोभ से मनुष्य अनेक पशु-पक्षी एव मनुष्यो तक की हिसा करते हुए सकोच नहीं करता। आज देश में बढती हुई हिसा मनुष्यों के लोभ का ही परिणाम है। जिह्वा के स्वाद के लिए भी हिंसा होती है, परन्तु इसके अतिरिक्त करोड़ों

रुपए का पशुओं का चमडा, आते, जिगर, सीग एव चर्बी विदेशो मे भेजने के लिए भी प्रतिदिन हजारो पशुओ को मारा जाता है। इसके अतिरिक्त डाकू-लुटेरे राह चलते मनुष्यो को या गावों मे मनुष्यों को मार कर धन-माल लूट लेते है। बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रो को अपने अधीन बनाकर उनके धन-वैभव से अपने राष्ट्र को सम्पन्न बनाने के लिए उन पर आक्रमण करके लाखो मनुष्यो को मार डालते है। आज के अणु युग मे एटमबम की शक्ति से पूरे जनपद (राष्ट्र) को देखते ही देखते राख का ढेर बनाया जा सकता है। नागासाकी और हिरोशिमा का उदाहरण हमारे सामने है। इन सब दुष्कर्मो का मूल कारण तृष्णा है। लोभ-लालच के वश ही मनुष्य पशु-पक्षी एवं व्यक्तियो का सहार करने के लिए प्रवृत्त होता है।

'जणवय परिग्गहाय'—जनपद परिवादाय का अर्थ है—लोगो को चोर-डाकू आदि बताकर उनकी निन्दा करना[1]। जब कि सूत्र मे क्रियापद का उल्लेख नही किया है, फिर भी यहा क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिए।

लोभ आत्मा के आध्यात्मिक विकास मे प्रतिबन्धक चट्टान है। इसलिए मुमुक्षु को लोभ के स्वरूप एव उसके परिणाम को जानकर उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आसेवित्ता एतं (एवं) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं॥115॥

छाया—आसेव्य एतम् (एवं) अर्थमित्येवैके समुत्थिताः तस्मात् त द्वितीयं नो सेवेत, निस्सारं दृष्ट्वा ज्ञानी उपपातं च्यवन ज्ञात्वा अनन्यं चर, माहन! (मुने) स। न क्षणुयात नाप्यपर घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात्, निर्विन्दस्व नन्दिं अरक्तः प्रजासु (स्त्रीषु) अनवमदर्शी निषण्णः पापकर्मभ्यः—पापैःकर्मभिः—पापकर्मसु।

---

1 जनपदाना—लोकाना परिवादाय-दस्युरय पिशुनो वेत्येव मर्मोद्घाटनाय।

—आचाराग वृत्ति

पदार्थ—**एवं**—इस प्रकार। **इच्चेवेगे**—लोभवश भरत चक्रवर्ती आदि राजाओ ने। **अट्ठं**—धन-ऐवश्र्य आदि भोगो को। **आसेवित्ता**—आसेवन—भोगकर भी। **समुट्ठिया**—संयम साधना में सलग्न हो गए। **तम्हा**—इसलिए। **तं**—उन त्यागे हुए भोगो को। **विइयं**—दूसरी बार। **नो सेवे**—सेवन नहीं करे अर्थात् हिसा, झूठ आदि असयम में प्रवृत्ति न करे। **निस्सारं**—विषयो की निस्सारता को। **पासिय**—देखकर। **नाणी**—ज्ञानी पुरुष। **उववायं-चवणं**—देव भव को जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे प्रवहमान। **णच्चा**—जानकर, विषय-भोगो का सेवन न करे। **अण्णाणं**—ज्ञानादि। **चर**—ग्रहण करे। **माहणे**—वह महान-मुनि है, अत। **न छणे**—न स्वय हिसा करे। **न छणावए**—न दूसरे व्यक्ति से हिंसा करवाए। **छणंतं**—हिसा करते हुए व्यक्ति को। **नाणु-समणुजाणइ**—अच्छा नही समझता है। अब चौथे व्रत के विषय में कहते है। **निव्विद नन्दि**—विषय-भोगो से उत्पन्न हुए आनन्द को घृणित समझकर। **पयासु**—स्त्रियो मे। **अरए**—अनासक्त—राग रहित रहे। **अणोमदंसी**—सम्यगुदर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त, वह मुनि। **पावेहिं कम्मेहिं**—पाप कर्मो से। **निस्सण्णे**—निवृत्त हो जाता है।

मूलार्थ—लोभ के वश प्राप्त किए गए धन-वैभव एव विषय-भोगो का आसेवन करके भी कई एक महापुरुष फिर से सावधान हो जाते हैं। दूसरी बार वे उन त्याज्य भोगों को भोगने की इच्छा नहीं करते। भोगो को निस्सार एव देव भव को भी जन्म और मृत्यु रूप जानकर वे विषय-वासना मे आसक्त नही होते। अत हे मुनि! तू भोगो को त्याग, ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्वीकार कर अथवा सयमपथ पर चल।

सयमशील मुनि स्वय हिसा नही करता, न अन्य से हिसा करवाता है और न हिंसा करने वाले को भी अच्छा समझता है। इसी प्रकार रत्नत्रय से युक्त मुनि विषय-भोगो से उत्पन्न आनन्द को घृणित समझकर स्त्रियो मे आसक्त नही बनता। वह सयम की आराधना करके पाप कर्म से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

मनुष्य चलते-चलते गिरता भी है और उठता भी है। ऐसा नही है कि जो गिर गया, वह गिरने के बाद कभी उठता ही नही है। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन की है। हिसा आदि दोषो मे प्रवृत्त आत्मा पतन के गर्त में गिरती जाती है। परन्तु अपने

आपको सभालने के बाद वह पतन के गर्त से बाहर निकल कर विकास के पथ की ओर बढ सकती है, अपना उत्थान कर सकती है। वह भी सिद्धत्व को प्राप्त कर सकती है। बस, आवश्यकता इस बात की है कि वह दोषो को दोष समझकर उनका परित्याग कर दे, अपने मन-वचन एव शरीर को पाप चिन्तन, पाप कथन एवं पाप आचरण से हटा ले। इस प्रकार विचार एव आचार में परिवर्तन होते ही जीवन बदल जाता है, मनुष्य पापी से धर्मात्मा बन जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि मनुष्य को पापी से नही पापो से घृणा करनी चाहिए और पापो का ही तिरस्कार करना चाहिए, क्योंकि आज जो पापी है, आने वाले कल को धर्मात्मा भी बन सकता है। इसलिए बुरे एव अच्छे का आधार व्यक्ति नही, आचरण है।

प्रस्तुत सूत्र मे भी यह बताया गया है कि कई लोभ वश पाप कर्म मे प्रवृत्त होते हैं, दोषो का आसेवन करते है; परन्तु उसी जीवन मे जागृत होकर उनका परित्याग करते हैं और फिर उन परित्यक्त भोगो एव दोषो की ओर घूमकर भी नहीं देखते क्योंकि वे उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके है। उन्होने यह जान लिया है कि ये भोग-विलास दु ख के कारण है और अस्थायी है। यहा तक कि देवो के भोग विलास भी स्थायी नही है। वे भी मृत्यु की चपेट मे आकर अपनी स्थिति से गिर जाते है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैषयिक सुख स्थिर नही है। ऐश्वर्य एव भोगो की दृष्टि से देव मनुष्य से अधिक सपन्न है। सामान्य देवो की भौतिक सम्पत्ति के समक्ष करोड अरवपति का वैभव भी तुच्छ-सा प्रतीत होता है। ऐसे महाऋद्धि वाले एव ऐश्वर्य सम्पन्न देवों के सुख भी सदा नही रहते; कर्म उन्हे भी आ घेरते है तो मनुष्य के लिए अभिमान करने जैसी बात ही क्या है? इस प्रकार भोगो की असारता, अस्थिरता एव पूर्ति न होना तथा उनके दु:खद परिणाम को जानकर मुमुक्षु पुरुष विषय-भोगो मे आसक्त नहीं होते और वासना के साधन स्त्री-पुरुष-सयोग से सदा दूर रहते है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

**मूलम्– कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं।
तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं
लहुभूयगामी॥7॥**

गंथं परिण्णाय इहऽज्ज! धीरे, सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते।
उम्मज्ज लद्धुमिह माणवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि त्तिबेमि॥8॥

छाया— क्रोधादि मान हन्याच्चवीरः, लोभस्य पश्य! नरकं महान्तम्।
तस्माच्च वीरः विरतो वधात्, छिंद्यात् शोकं लघुभूतगामी॥
ग्रन्थं परिज्ञाय इहाद्यैव धीरः स्त्रोतः परिज्ञाय चरेद् दान्तः।
उन्मज्ज लब्ध्वा इह मानवैः, नो प्राणिनां प्राणान् समारंभेथा.॥
इति ब्रवीमि॥

पदार्थ—कोहाइ—क्रोधादि। **य**—तथा। **माणं**—मान को। **वीरे**—वीर पुरुष। **हणिया**—हनन करे—क्रोध, मान, माया को नष्ट करे और। **लोभस्स**—हे शिष्य! तू लोभ को, लोभ के विपाक को। **पासे**—देख तो। **महंतं**—महान्। **नरय**—नरक का कारण है। **तम्हा**—इसलिए। **य**—समुच्चय अर्थ मे। **वीरे**—वीर पुरुष। **वहाओ**—वध हिसा से। **विरयो**—निवृत्त हो जाए, और। **लहुभूयगामी**—मोक्ष गमन की इच्छा करने वाला साधक। **छिविज्ज सोयं**—भाव स्रोत को छेदन करे, अब उपदेश विषय मे कहते है। **गंथं**—परिग्रह को। **परिण्णाय**—ज्ञ परिज्ञा से। जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर दिया है, जिसने। **धीरे**—वह धैर्यवान। **इहज्ज**—इस मनुष्य लोक मे। **अज्ज**—अनि शीघ्रता से। **सोय**—ससारस्रोत विषय स्रोत को। **रिण्णाय**—जानकर और। **दंते**—दमंनन्द्रिय होकर इन्द्रियो का दमन कर। **चरिज्ज**—सयम का आचरण कर। **उम्मज्ज**—तरने का मार्ग। **लद्धु**—प्राप्त होने पर वह। **इह**—इस। **माणवेहि**—मनुष्य लोक मे। **पाणिण**—प्राणियो के। **पाणे**—प्राणों का। **नो समारभिज्जासि**—समारम्भ न करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—वीर पुरुष क्रोध और मानादि का विनाश करे तथा महान नरक आदि के हेतु भूत लोभ को देखे, लोभ यह महान नरकादि दु:खो का कारण है ऐसा अनुभव करे, इसलिए वीर पुरुष को वध से निवृत होना चाहिए तथा मोक्ष गमन की इच्छा रखने वाला साधक प्रथम भाव स्रोत को छेदन करे तथा इस लोक मे दु:ख का मूल कारण धनादि पदार्थ ही है, ऐसा जानकर उनका—धनादि का तत्काल परित्याग कर दे, एव भाव स्रोत को जानकर इन्द्रियो का दमन करता हुआ सयम को धारण करे, और इस लोक मे तरने का मार्ग प्राप्त करके प्राणियो की हिंसा न करे, इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा को संसार मे परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। कषाय शब्द कष्आय से बना है **'कष'** का अर्थ है—ससार और आय का अर्थ है—लाभ। जिस क्रिया से ससार की अभिवृद्धि हो, उसे कषाय कहते है और यह उपर्युक्त चार प्रकार की है, इसलिए जनसाधारण की भाषा में इसे चांडाल-चौकड़ी भी कहते हैं। ये कषाय मोह कर्म के उदय का परिणाम हैं और सब कर्मो में मोह कर्म को प्रधान माना गया है। अत· साधक को सबसे पहले कषायों का नाश करना चाहिए; क्योंकि ये नरक एव महादु:खों का कारण हैं। इसलिए साधक को कर्म आगमन के भाव स्रोत को नष्ट कर देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे लोभ को स्पष्ट रूप से नरक का कारण बताया है, क्योकि लोभ समस्त गुणो का विनाशक है और छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम चरण तक उसका अस्तित्व रहता है। उसका क्षय करने पर ही आत्मा लघुभूत होता है और सर्व घातिकर्मो को क्षय कर शेष कर्मो का आत्यान्तिक क्षय करने की ओर बढता है और आयुकर्म के क्षय के साथ समस्त कर्मो का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए हे आर्य! द्रव्य एव भाव ग्रंथि—गांठ को जानकर और शोक एवं दु ख के कारण का परिज्ञान करके सयम मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, परिग्रह एव वासना मे गम्यमान इन्द्रियो एव मन का दमन करना चाहिए, उसे उस मार्ग से हटाकर साधना मे सलग्न करना चाहिए। इस प्रकार ससार के स्वरूप का भली-भांति अवलोकन कर के उससे पार होने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार से पार होने का साधन मनुष्य जन्म मे ही मिल सकता है। इस मानव शरीर के द्वारा ही आत्मा सर्व बन्धनो से मुक्त हो सकता है। अत· ऐसे श्रेष्ठ साधन मानव जीवन को प्राप्त करके साधक को फिर से ससार बढाने के साधन—हिसा आदि मे प्रवृत्त न होकर, आरम्भ-समारम्भ एव दोषजन्य प्रवृत्ति का त्याग करके सयम-साधना मे प्रवृत्त होना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्वोक्त समझें।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में कष्टसहिष्णुता का उपदेश दिया गया है। साधु को कठिन परीषह उत्पन्न होने पर भी घबराना नहीं चाहिए और कष्ट से विचलित होकर प्राणियो की हिंसा एव अन्य पाप कार्य भी नही करने चाहिए। अहिसा की इस विराट् भावना को जीवन मे साकार रूप देने के लिए आत्मदृष्टि को विशाल बनाने की आवश्यकता है। अपने अन्दर समस्त प्राणियों के हित एव उनके सुख का साक्षात्कार करना ज़रूरी है। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है और यह समझता है कि सभी प्राणी जीना चाहते है, सुख चाहते है, व्याघात एव दुःखो से बचना चाहते है, वही व्यक्ति हिंसा आदि दोषो से मुक्त-विमुक्त हो सकता है।

अत हिसा आदि दोषो से बचने के लिए आत्मद्रष्टा बनना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही हमारे दु ख-सुख का, मुक्ति-बन्धन का आधार है। वस्तुत देखा जाए तो आत्मा ही हमारा मित्र है और शत्रु भी वही हो जाता है। अत· जीवनविकास के लिए सहयोगी मित्रो को बाहर ढूढने की आवश्यकता नही है। मैत्री का वह अनन्त सागर अपने अन्दर ही लहर-लहर कर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अन्तर्द्रष्टा बने। यही बात प्रस्तुत उद्देशक मे बताई गई है। इसका प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्नमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया? ॥116॥

छाया—संधिं लोकस्य ज्ञात्वा आत्मनः बहिः पश्य! तस्मान्न हन्ता न व्यापादकः (न विघातयेत्) यदिदं अन्योन्यस्य विचिकित्सया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पाप कर्म, किं तत्र मुनिः कारण स्यात्?

पदार्थ—**संधिं**—अवसर—धर्म साधना के अवसर को। **जाणित्ता**—जानकर। **लोयस्स**—लोक के जीवो को कष्ट नही देना, बल्कि उन्हे अपनी आत्मा के समान समझना चाहिए। **पास**—ऐसा देख, जैसे। **आयओ**—अपनी आत्मा को सुख प्रिय है, वैसे ही। **बहिया**—अन्य आत्माओ को भी सुख प्रिय है। **तम्हा**—इसलिए। **न हंता**—किसी जीव को नही मारना चाहिए। न **विघायए**—न उनकी विशेष रूप से घात-विघात करनी चाहिए। **जमिणं**—जो यह। **अन्नमन्न वितिगिच्छाए**—परस्पर भय या लज्जा के कारण। **पडिलेहाए**—प्रतिलेखन करके। **पावं कम्मं**—पाप कर्म। **न करेइ**—नहीं करता है, तो। **कि**—क्या। **तत्थ**—उस पाप कर्म के नही करने मे। **मुणी**—मुनि। **कारण सिया**—कारण है—मुनित्व है।

मूलार्थ—हे आर्य! लोक मे धर्म करने के अवसर को जानकर, तू प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देख और यह समझ कि मेरी ही तरह प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय और दु.ख अप्रिय है। इसलिए किसी प्राणी की हिसा नही करनी चाहिए और न उनकी विशेष रूप से घात ही करनी चाहिए। जो व्यक्ति परस्पर भय एव लज्जा को प्रतिलेखन—विशेष रूप से देख कर पाप कर्म नही करता है, तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है?

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि मुनि सधि का परिज्ञाता हो। सधि शब्द का सामान्य रूप से जोडना अर्थ होता है। सधि भी दो प्रकार की मानी गई है—1—द्रव्य सन्धि और 2—भाव सन्धि।

दीवार आदि मे छिद्र का होना द्रव्य सन्धि कहलाता है और कर्म विवर को भाव सन्धि कहते हे। भाव सन्धि भी तीन प्रकार की है—1—सम्यग्दर्शन, 2—सम्यग्ज्ञान और 3—सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

1—उदय मे आए हुए दर्शनमोहनीय कर्म क्षय या क्षयोपशम और शेष का उपशमन करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना भी भाव सन्धि है। इससे मिथ्यात्व का छिद्र रुक जाता है।

2—ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है।

इससे आत्मदृष्टि का धुधलापन दूर होता है। आत्मा बाह्य द्रष्टा ही न रहकर आत्म-द्रष्टा बन जाता है। अज्ञान के छिद्र नही रह पाते है।

3—चारित्रमोहनीय कर्म का देशतः या सर्वत क्षयोपशम करने से आत्मा को देश एव सर्व चारित्र—श्रावकत्व एवं साधुत्व की प्राप्ति होती है। इससे अव्रत के द्वार बन्द हो जाते हैं।

'सन्धि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—**'सन्धनम् सन्धिः—स च भाव सन्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्मोदयात त्रुटयतः पुनः सन्धाम्—मीलनम्'**, अर्थात् स्खलित होते हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र का पुन सयोजन करना भाव सन्धि है।

सन्धि का अर्थ अवसर भी किया जाता है। संध्या एव उषा काल को—दिन की समाप्ति एव रात के प्रारम्भ तथा रात की समाप्ति एव दिन के उदय का सयोग काल होने से सन्धि काल कहलाते है। इसी प्रकार धर्म या सद्ज्ञान, अधर्म या अज्ञान रूप निशा का अवसान और आत्म विकास का उदय काल होने से उसे भाव सन्धि कहा है। इस दृष्टि से धर्म अनुष्ठान के अवसर को जानना भी सन्धि का परिज्ञान करना कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे **'सन्धि'** शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। क्योकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण एव दर्शन और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर ही आत्मा मे धर्म की भावना उद्बुद्ध होती है और मनुष्य अपने अन्दर झाकने लगता है—आत्म-द्रष्टा बनता है। यही से जीवन का अभ्युदय आरम्भ होता है। वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरे प्राणियो की आत्मा को देखने लगता है और उसे यह अनुभूति होती है कि मेरे समान प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है एव दुःख अप्रिय है।

जब व्यक्ति आत्मद्रष्टा होता है तो वह स्वत हिसा आदि दोषो से निवृत्त हो जाता है। उसे हिसा आदि दोषो से बचने के लिए व्यवहार, भय और लज्जा की अपेक्षा नही रहती, परन्तु जिस व्यक्ति की अन्तर दृष्टि कुछ धूमिल है, वह एक दूसरे के भय एव लज्जा से हिसा आदि पाप कर्म का सेवन नही करता है। तो वहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उसमे मुनित्व है? इसका समाधान नकार की भाषा मे दिया गया है।

मुनित्व का सम्बन्ध भावना से है। आगम मे बताया गया है कि जो व्यक्ति वस्त्र, गन्ध, अलकार, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनो का उपभोग करने मे स्वतन्त्र न होने के कारण भोग नही करता है; परन्तु उसके मन मे भोगेच्छा अवशेष है, तो वह त्यागी नही है, उसे मुनि नही कह सकते[1]।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनित्व भावपूर्वक किए गए त्याग में है। केवल लोकज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप मे प्रवृत्त न होना ही मुनित्व नही है।

निश्चय नय की अपेक्षा से मुनित्व आत्मा मे राग-द्वेष के त्याग एव सब प्राणियो के प्रति समानता के भाव में है, परन्तु यह अन्तर्दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। इसका साक्षात्कार सर्वज्ञ या स्वय आत्मा ही कर सकता है। साधारणतः मनुष्य व्यवहार को ही देख सकता है। इस दृष्टि से निश्चय के साथ व्यवहार का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसी कारण किसी भी वेश-भूषा एवं अवस्था मे सर्वज्ञ होने के बाद भी वे महापुरुष स्वलिग को धारण करते है। भरत चक्रवर्ती को गृहस्थ के वेश में आरिसा भवन—काच के महल मे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद उन्होने गृहस्थ लिंग का परित्याग करके मुनि वेश को स्वीकार किया। यह कार्य केवल व्यवहार का पालन मात्र है। इससे व्यवहार शुद्धि बनी रहती है, क्योंकि व्यवहार भी भाव या निश्चय शुद्धि का साधन है।

इस अपेक्षा से पारस्परिक व्यवहार शुद्धि के लिए दोषो से बचना एकात रूप से अमुनित्व का परिचायक नही है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार के साथ निश्चय और निश्चय के साथ व्यवहार का सम्बन्ध जुडा रहे। लोक मर्यादा के साथ आत्म भावना धूमिल न पडने पाए। अस्तु, आत्मा के उज्ज्वल, समुज्ज्वल प्रकाश मे व्यावहारिकता का परिपालन करना मुनित्व है। जहा आत्मज्योति दीप्त नही है, वहा केवल दिखाने मात्र के लिए व्यावहारिकता को निभाने मे मुनित्व का अभाव है, वहा द्रव्य ही रह जाता है।

मुनित्व भाव की साधना को सफल बनाने के लिए साधक को किस भाव की साधना करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

1 दशवैकालिक सूत्र, सूत्र-2-2।

मूलम्— समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए—
अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि।
आयगुत्ते सयावीरे, जाया मायाइ जावए॥10॥

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा, महया खुड्डएहिं य, आगइं गइं परिण्णाय दोहिं वि अन्तेहिं आदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ कंचणं सव्वलोए ॥117॥

छाया—समतां तत्रोत्प्रेक्ष्य आत्मानं विप्रसादयेद्यत्। अनन्य परमज्ञानी नो प्रमादयेत् कदाचिदपि आत्म गुप्तः सदा वीर· यात्रामात्रया यापयेत्, विरागं रूपेषु गच्छेत्, महता क्षल्लकेषु च आगतिं गतिं परिज्ञाय द्वाभ्या-मप्यन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यां स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते केनचित् सर्व लोके।

पदार्थ—समयं—समता को। **तत्थुवेहाए**—उस संयम में पर्यालोचन करके-जो कुछ करता है, वह सब मुनित्व का ही कारण है, अथवा। **समयं**—आगम के। **तत्थुवेहाए**—अनुसार जो अनुष्ठान किया जाता है, वह सब। **मुनित्व**—मुनि भाव का ही कारण है, अत । **अप्पाणं**—आत्मा को समता भाव से। **विप्पसायए**—प्रसन्न करे, तथा। **नाणी**—ज्ञानी पुरुष। **अणन्नपरमं**—सयम मे। **कयाइवि**—कभी भी। **नो पमाए**—प्रमाद न करे। **आयगुत्ते**—वह आत्मगुप्त। **सया**—सदा। **वीरे**—कर्म विदारण मे समर्थ। **जायामायाइ**—सयम यात्रा मात्रा से। **जावए**—काल यापन करे। (अब आत्म गुप्तता के कारणों का निर्देश करते हैं)। **आगइं गइं**—ससार मे आवृत्ति—आगमन और गति-गमन अर्थात् ससार परिभ्रमण को। **परिण्णाय**—जानकर। **अंतेहिं**—राग-द्वेष। **दोहिं वि**—दोनो को। **अदिस्समाणेहिं**—आत्मा से अदृश्य करता हुआ, अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होता हुआ। **रूवेहिं**—प्रिय रूपो मे। **विरागं**-वैराग्य भाव को। **गच्छेज्जा**—प्राप्त करे, और। **महया**—दिव्य भाव से, अर्थात् प्राधान्यरूप से पुन.। **खुड्डएहिं**—मनुष्य के रूपों मे सब मे वैराग्य भाव उत्पन्न करके, फिर। **से**—उसका। **सव्वलोए**—समस्त लोक में। **कंचणं**—किसी के द्वारा। **न छिज्जइ**—छेदन नही किया जाता। **न भिज्जइ**—भेदन नहीं किया जाता। **न डज्झइ**—दग्ध नही किया जाता। **न हम्मइ**—न हनन किया जाता है।

मूलार्थ—समता—समभाव मुनित्व का प्रधान कारण है। अत· सयमनिष्ठ मुनि समता से आत्मा को प्रसन्न करे और सयम-परिपालन मे कभी भी प्रमाद न करे। इस तरह आत्मा को वश मे रखने वाला वीर पुरुष सदा सयम से जीवन व्यतीत करे। जीवो के आगमन एव गमन के स्वरूप को जा.न कर, रागद्वेष से आत्मा को पृथक् करता हुआ, मानवी और दैवी रूपो मे वैराग्य धारण करे, फिर वह इस लोक मे किसी तरह भी छेदन-भेदन को प्राप्त नही होता, किसी द्वारा जलाया नही जाता और न उसका किसी द्वारा अवहनन ही होता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि जिस साधक के जीवन में समता—समभाव है, जो आगम के अनुरूप सयमसाधना में सलग्न है और जो इन्द्रिय एव नो-इन्द्रिय—मन का गोपन करके अपनी आत्मा मे केन्द्रित होता है—आत्म-द्रष्टा वनता है, वही मुनि है। इससे स्पष्ट है कि मुनित्व की साधना केवल वेश में नही, अपितु भावो के साथ अन्तर्वृत्ति को बदलने मे है। जब तक अन्त·करण मे विषय-वासना एव राग-द्वेष की आग प्रज्वलित है, तब तक बाहर के त्याग एव मात्र वेष धारण का विशेष मूल्य नही रह जाता है, क्योकि मुनित्व वासना, ममता एव आसक्ति के त्याग मे है, प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव एवं सहिष्णुता को बनाए रखने मे है।

सयम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योकि इसकी साधना में स्व और पर का हित रहा हुआ है। इसमे किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुचाने, कष्ट देने या मन को आघात पहुचाने के भाव नही रहते। सयमी पुरुष के मन मे सब प्राणियो के प्रति समता का भाव रहता है। उसकी दृष्टि मे विकार एव वासना नही रहती। वह मन एव इन्द्रियो को अपने वश मे रखता है। इसलिए वह मनुष्य स्त्री एव देवी के रूप-सौदर्य को देखकर वासना के प्रवाह में नही बहता है।

शब्दादि पाचो विषय मानव को भटकाने वाले है। परन्तु उनमे रूप की प्रधानता है। मानव सौदर्य को देखकर कभी-कभी पागल हो उठता है, उस रूप को देखते हुए थकता ही नहीं। अत शब्दादि विषयो मे रूप अधिक आकर्षक है। परन्तु, इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अनर्थ का मूल राग-द्वेष है, आसक्ति है। यदि जीवन मे राग-द्वेष या आसक्ति नही है, तो जीवन के साथ विषयो का सम्बन्ध होने पर भी

कर्मबन्ध नहीं होता है। जो समभाव पूर्वक सयमसाधना में सलग्न है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, क्योकि वह रूप आदि विषयों में मुग्ध एव आसक्त नही होता। अत· समभाव की साधना ही मुनित्व की साधना है। इस साधना मे प्रवर्त्तमान साधक किसी भी प्राणी का छेदन-भेदन एवं अवहनन नही करता है और न अन्य व्यक्ति उसका छेदन-भेदन एव अवहनन करते है।

हिसा मे प्रवृत्त होने का कारण राग-द्वेष है। राग द्वेष से निवृत्त व्यक्ति हिंसा मे प्रवृत्त नही होता। इसलिए वह ससार मे परिभ्रमण भी नही करता है, अर्थात् वह चार गति के आवागमन को समाप्त कर देता है। अत साधक को गति-आगति के स्वरूप को जानना चाहिए। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता मुनि ही गमनागमन के दु खो से बच सकता है। लोक मे चार गतिए मानी गई है—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव। ससारी प्राणी अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार इन गतियो मे गमनागमन करते है। इसके अतिरिक्त मोक्ष पाचवी गति मानी गई है। मनुष्य साधना के द्वारा मोक्ष में जा सकता हे, परन्तु वहा से वापस आना नही होता; क्योकि वहा आत्मा की शुद्ध अवस्था रहती हे, उस गति मे जाने वाले जीव के कर्म एव कर्म जन्य उपाधि नही रहती। इसलिए वह फिर से जन्म नही लेता। मानव ही उत्कृष्ट साधना के द्वारा सर्व कर्मो को नष्ट करके उक्त गति में जा सकता है। अत मोक्ष गति मनुष्य भव की अपेक्षा से मानी गई है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'कंचंण'** शब्द का **'केनचित्'** रूप बनता है। इसका अर्थ है—राग-द्वेष से रहित आत्मा को किसी के द्वारा छेदन-भेदन आदि का भय नहीं रहता, वह अभय का देवता स्वय निर्भय होकर प्राणी जगत को अभयदान देता है

जो व्यक्ति लोक एव गतागति के स्वरूप को नही जानते है अथवा जिन्हे यह ज्ञात नही है कि हम कहा से आए हैं, हमे कहा जाना है तथा हमे किस वस्तु की प्राप्ति होगी; वही व्यक्ति ससार मे दु·खो का अनुभव करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते है—

मूलम्— अवरेणपुव्विं नसरंति एगे, किमस्स तीयं किं वागमिस्सं?
भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं॥11॥

नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥12॥

छाया— अपरेण पूर्वं न स्मरन्त्येके, किमस्य अतीतं किं वागमिष्यति?
भाषन्ते एके इह मानवाः, यदस्य अतीतं तदेवागमिष्यति॥
नातीतार्थमनागत रूपतया, नियच्छन्ति अर्थ तथागतास्तु।
विधूतकल्पः एतदनुदर्शी, निर्झोषयिता क्षपकः महर्षिः॥

पदार्थ—अवरेण—आगामी काल और। **पुव्विं**—अतीत काल को। **एगे**—कोई एक। **न सरंति**—स्मरण नही करते, तथा। **किमस्सतीयं**—अतीत काल मे इस जीव का क्या हुआ? **वा**—अथवा। **किं आगमिस्सं**—आगामी काल मे क्या होगा तथा। **एगे**—कोई एक। **इह**—इस मनुष्य लोक में। **माणवाओ**—मनुष्य। **भासंति**—कहते है, कि। **जमस्स**—जीव का जो यह पुरुषादि वेद। **तीयं**—अतीत काल मे था। **तमागामिस्सं**—वही आगामी काल में होगा। **नाईय मट्ठं**—अतीत काल के अर्थ को। **य**—पुन । **आगमिस्सं**—आगामी काल के। **अट्ठं**—अर्थ को। **न नियच्छन्ति**—नही चाहते-ना ही अवधारणा करते हैं, तथा। **नाईयमट्ठं**—न अतीत काल के भोगादि को। **नय आगामिस्सं**—और न आगामी काल के दिव्यागनादि सग को। **नियच्छन्ति**—चाहते है और न उनका स्मरण करते हैं। उ—तु पुन कौन? **तहागया**—तथागत—सर्वज्ञ। **विहुयकप्पे**—विधूत कल्प—शुद्धाचार के द्वारा कर्मो का नाश करने वाला। **एयाणुपस्सी**—इस प्रकार देखने वाला। **महेसी**—जो। **महर्षि**—महायोगीश्वर है, वह। **निज्झोसइत्ता**—पूर्वोपचित कर्मो का क्षय करने वाला या। **खवगे**—कर्म क्षय करता है तथा आगामी काल मे कर्म क्षय करेगा।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति पूर्व और अपर काल के स्वरूप का स्मरण नहीं करते—मै पूर्व काल में क्या था और आगामी काल में क्या बनूंगा? तथा इस लोक मे कई एक व्यक्ति इस प्रकार भी कहते है कि जो अतीत काल में था, वही आगामी काल में होगा, अतीत काल के अर्थ की और आगामी काल के अर्थ को तथागत नही चाहते, तथा पर्याय की विचित्रता से जो अतीत काल का अर्थ है वह आगामी काल का अर्थ नही हो सकता, और विधूत कल्प शुद्ध संयम के परिपालक महर्षि अतीत, अनागत और वर्तमान तीनो कालों मे कर्मों का क्षय करते है।

हिन्दी-विवेचन

मोह एवं अज्ञान से आवृत्त आत्मा अपने स्वरूप को नही जान सकती। वह न अपने पूर्व भव को देख सकती है और न भविष्य के स्वरूप को जान सकती है। इसलिए अज्ञानी लोग आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाए करते रहते है। कुछ लोग ऐसा मानते है कि जिस व्यक्ति का जो रूप इस समय है, वही रूप इसके पूर्व भवो में भी था और भविष्य मे भी वही स्वरूप रहेगा। सती प्रथा इसी परम्परा की देन थी। पति की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ पत्नी के जीवित शरीर को इसलिए जला दिया जाता था कि आगामी भव में फिर से दोनो पति-पत्नी के रूप मे आबद्ध हो सकेंगे। इन लोगो की यह मान्यता रही है कि पुरुष सदा पुरुष ही बनता है और स्त्री स्त्री ही बनती है। प्राणी के लैगिक जीवन मे कोई अन्तर नहीं आता। परन्तु यह मान्यता असत्य है।

आत्मा की तरह लिग नित्य नहीं है, क्योंकि लिंग कर्मजन्य है और कर्म मे परिवर्तन होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार कभी पुरुष वेद को प्राप्त करता है, कभी स्त्री वेद को, तो कभी नपुसक वेद को वेदता है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्म-परिवर्तन के कारण आत्मा एक भव मे भी तीनों वेदो को वेद सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वेदोदय का सम्बन्ध मोह कर्म जन्य वासना की प्रबलता पर है। यदि वासना जल्दी जागृत होती है और भोग के बाद शीघ्र ही शांत हो जाती है, तो वहा पुरुष वेद का उदय रहता है। लेकिन जहा वासना जागृत होने के बाद बहुत देर तक शात नहीं होती है, तो वहा स्त्री वेद का उदय होता है। इसी तरह जहा वासना की आग हर समय प्रज्वलिन रहती है, वहा नपुसक वेद का उदय समझना चाहिए। जिस समय पुरुष मे वासना की प्रबलता रहती है और वह जल्दी शात नहीं होती है, तो उस समय वह लैंगिक रूप से पुरुष होते हुए भी स्त्री वेद को वेदता है और यदि किसी नारी के जीवन मे वासना की स्वल्पता है और उसे जल्दी ही सन्तोष हो जाता है, तो वह स्त्रीलिग मे पुरुषवेद का वेदन करती है। इस प्रकार मोह कर्म के शमन के साथ वेद के सवेदन मे भी परिवर्तन आ जाता है।

इससे स्पष्ट है कि लिंग में हर समय एकरूपता नही रहती। अतः उक्त कथन तथागत—सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित नही है, क्योकि पर्यायें सदा परिवर्तनशील है। उनमे

सदा एक रूपता नहीं रहती। सर्वज्ञ इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए कहा गया है कि तथागत—सर्वज्ञ अतीत और अनागत काल की पर्यायो को एक रूप से स्वीकार नही करते। वे भूत एवं भविष्य काल के भोगों मे आसक्त भी नही होते और न विषय-भोगो की आकाक्षा ही रखते है। क्योकि उन्होने आकाक्षा के उत्पादक राग-द्वेष का ही क्षय कर दिया है।

'तथागत' शब्द का अर्थ है—सर्वज्ञ। इसकी व्याख्या करते हुए वृत्तिकार लिखते है—"जो पुनरावृत्ति से रहित है और जो पदार्थ को यथार्थ स्वरूप—पूर्ण रूप से जानते है," उन्हें तथागत कहते है—अरिहंत, सिद्ध और सर्वज्ञ को तथागत कहा जाता है[1]।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त **'विहुय कप्पे—विधूत कल्प.'** का अर्थ है—अष्टकर्मो को आत्मा से पृथक् करने वाला व्यक्ति[2]।

कर्म क्षय करने के लिए उद्यत मुनि जब धर्मध्यान एव शुक्लध्यान मे निमग्न होता है, तब उसे शारीरिक, मानसिक एव भौतिक सुख-दु:ख की अनुभूति नही होती।

उस समय उसकी जो स्थिति होती है, उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—का अरई के आणंदे? इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा! तुममेव तुम मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?॥118॥

---

1 तथेव—अपुनरावृत्त्या गत—गमन येषा ते—तथागता—सिद्धा, यदि यथैव ज्ञेय तथैव गत-ज्ञान येषा ते तथागता—सर्वज्ञा, ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छति-अवधार-यन्ति, नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणते, पुनरर्थग्रहण पर्यायरूपार्थार्थ, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थ विषयभोगादिक नाप्यनागत दिव्यागनासगादिक स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के? तथागता—रागद्वेषाभावात्, पुनरावृत्तिरहिता, तु शब्दो विशेषमाहा-यथा मोहोदयादेके पूर्वमागामि वाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिनि।
—आचाराग वृत्ति

2 विविधम्—अनेकधाधूतम्—अपनीतमष्टप्रकार कर्म्म येन स: विधूत, कोऽसौ? कल्प—आचारो, विधूत कल्पो यस्य साधो स. विधूतकल्प। —आचाराग वृत्तिः

छाया—का अरतिः? क· आनन्दः? अत्रापि अग्रहः चरेत्, सर्व हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिव्रजेत्, हे पुरुष! त्वमेव तव मित्रम् किं बहिर्मित्रमिच्छसि?

पदार्थ—का अरई—क्या अरति है? **के आणंदे**—क्या आनन्द है? **इत्थपि**—इस विषय में। **अग्गहे**—अनासक्त होकर। **चरे**—विचरण करे, और। **सव्वं**—सब प्रकार के। **हासं**—हास्य को। **परिच्चज्ज**—परित्याग करे। **आलीणगुत्तो**—गुप्तेन्द्रिय होकर। **परिव्वए**—संयम का परिपालन करे। **पुरिसा**—हे पुरुष-आत्मन्। **तुममेव**- तू ही—सदनुष्ठान करने से। **तुम मित्तं**—अपना मित्र है, फिर तू। **बहिया**—अपने आत्मस्वरूप से बाहर अन्य को। **कि मित्तमिच्छसि**—मित्र बनाने की क्या इच्छा रखता है अथवा अपने से बाहर मित्र ढूढता क्यो फिरता है?

मूलार्थ—हे आर्य! धर्मध्यान एव शुक्लध्यान मे सलग्न मुनि को यह अनुभूति नही होती कि भौतिक अरति—दु ख एव आनन्द क्या है? वह दु ख-सुख के सवेदन से अनासक्त होकर आत्म-चिन्तन मे तल्लीन होकर रहता है। इसलिए मुनि को कछुए की भाति मन एवं इन्द्रियो का गोपन करके सयम-साधना मे प्रवृत्त रहना चाहिए, क्योंकि वस्तुत तेरी आत्मा ही तेरा मित्र है, अर्थात् सदनुष्ठान मे प्रवृत्त आत्मा से ही तू कर्मो का आत्यन्तिक क्षय कर सकता है। अत हे पुरुष-आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है फिर तू अपने से बाहर अन्य मित्रो की क्यो इच्छा रखता है, अर्थात् अपने मन को अन्यत्र से हटाकर अपनी आत्मज्योति को जगा।

हिन्दी-विवेचन

जीवन मे योगो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये कर्म बन्धन के भी कारण है। और निर्जरा के भी कारण है। जब योगो की प्रवृत्ति विषय-वासना में होती है, तो उनसे पाप कर्म का बन्ध होता है और जब इन्हें बाह्य पदार्थो से हटाकर सयम मे, ध्यान एव चिन्तन-मनन मे लगाते है, तो ये निर्जरा के कारण बन जाते है। क्योकि उस समय साधक की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। उसे इस बात का कोई ध्यान ही नही रहता कि बाहर क्या कुछ हो रहा है। जिस समय वह आत्मचिन्तन में सलग्न रहता है, उस समय उसे शारीरिक अनुभूति भी नही होती है। इसलिए उसे यह भान नही रहता कि दु·ख एव आनन्द क्या है। जिस समय गजसुकुमाल मुनि के सिर पर सोमिल ब्राह्मण ने प्रज्वलित अंगारे रखे तो उनको तीव्र वेदना हुई होगी, इसकी हम कल्पना कर

सकते हैं। ऐसी बात नही है कि उनके शरीर को ताप नहीं हुआ हो, परन्तु उनका चिन्तन आत्मस्वरूप मे था, इसलिए उन्हें उसकी अनुभूति नही हुई।

मनुष्य जब देहाभिमुख होकर सोचता है तो उसे अनुकूल एव प्रतिकूल परिस्थितियों तथा स्पर्शो आदि मे आनन्द एव अरति (दु:ख) की अनुभूति होती है। उससे उसके मन मे राग-द्वेष की भावना जागृत होती है, विषयो की आसक्ति बढ़ती है और परिणामस्वरूप ससार परिभ्रमण बढता है। परन्तु साधक आत्माभिमुख होता है। अतः जब वह धर्मध्यान एव शुक्लध्यान मे सलग्न होता है तो उस समय उसे आनन्द एव अरति का प्रसग उपस्थित होने पर भी उसका सवेदन नही होता; क्योंकि उस समय योगो की प्रवृत्ति चिन्तन मे लगी होती है। अत. साधक को आत्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नही होती। दूसरा कारण यह है कि रति एव अरति मोह जन्य है और वहां मोह कर्म का अभाव होने के कारण उभय विकारों की अनुभूति को पनपने का अवकाश ही नही मिलता।

इससे स्पष्ट हो गया कि जब साधक आत्मचिन्तन मे तल्लीन होता है, तब उसे पौद्गलिक सुख-दु ख की अनुभूति नही होती है और ऐसी स्थिति मे ही ध्यान एव चिन्तन-मनन मे तेजस्विता आ पाती है। आगम मे भी कहा गया है कि जब साधक का मन लेश्या, अध्यवसाय, तीव्र अध्यवसाय, आत्म चिन्तन मे लगा होता है तथा उसे जिन वचनो में या आत्म-चिन्तन मे अनुराग हाता है, अपने योगो को आत्म-चिन्तन मे अर्पित कर देता है, उसी की भावना रखता है और उसका मन अन्यत्र कही भी नही जाता है, तब उसे ध्यान कहते है[1]।

ध्यान योगों को एकाग्र करने का साधन है और इसी साधना के बल से साधक एक दिन शुक्लध्यान के द्वारा योगो का निरोध कर अयोगी अवस्था को प्राप्त करता है और फिर समस्त कर्मो एव कर्म जन्य साधनो से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अपने साध्य को पा लेता है। अस्तु, ध्यान एव आत्म-चिन्तन, मनन साध्य सिद्धि का साधन है। इसलिए साधक को हास्य आदि का परित्याग

1 तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउते तदप्पिअकरणे, तब्भावणाभाविए, अणत्ध कत्थइमण अकरेमाणे. ।

—अनुयोगद्वार सूत्र 27 (मूल सुत्ताणि) पृ. 349

करके तथा विषय-वासना से मन एवं इन्द्रियो का गोपन करके, उसे ध्यान एव चिन्तन-मनन मे सलग्न होना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को अपनी आत्मा पर निर्भर रहना चाहिए, क्योंकि उसमे अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना विकास करने में वही समर्थ है। ससार की कोई भी शक्ति न उसे गिरा सकती है और न उसे उठा सकती है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया है कि हे पुरुष—आत्मन्' तू ही अपना मित्र है। फिर अपने को छोड़कर बाहर मित्रो को कहा ढूढता फिरता है? मुझे अपनी शक्ति को पाने के लिए बाहर नही, अपने अदर ही झाकने की आवश्यकता है। तू अपनी दृष्टि को बाहर से हटाकर अपने अदर मोड़ ले, फिर अनन्त ज्ञान-दर्शन की ज्योति से तू ज्योतिर्मान हो उठेगा, तेरे अदर ही अनन्त सुख का सागर लहर-लहर कर लहराता दिखाई देगा और तेरे जीवन के कण-कण में अनन्त शक्ति का सचार होने लगेगा। यह अनन्त चतुष्टय तेरे ही भीतर निहित है। इसे प्रकट करने के लिए अन्तर्द्रष्टा बनकर आत्मचिन्तन और ध्यान मे सलग्न होने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में **'पुरुष'** को सम्बोधित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान एव आत्मचिन्तन का अधिकारी पुरुष ही हैं[1]।

आत्मचिन्तन की पूर्व भूमिका का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइय, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ॥119॥

छाया—यं जानीयादुच्चालयितारं तं जानीयात् दूरालयिक, यं जानीयाद् दूरालयिकं त जानीयादुच्चालयितारम्, पुरुष! आत्मानमेवाभिनिगृह्य एवं दुःखात् प्रमोच्यसि, पुरुष! सत्यमेव समाभिजानीहि सत्यस्य आज्ञयोपस्थितो मेधावी मारंतरति, सहितोधर्म्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति।

1 पुरुषद्वारामंत्रण तु पुरुषस्यैवोपदेशाहित्वात्तदनुष्ठानसमर्थ त्वाच्चेति। —आचाराग वृत्ति

पदार्थ—**जं**—जो। **उच्चालइयं**—कर्म क्षय करना। **जाणिज्जा**—जानता है। **तं**—वह मोक्ष मार्ग को। **जाणिज्जा**—जानता है। **जं**—जो। **दूरालइयं**—मोक्ष मार्ग को। **जाणिज्जा**—जानता है। **तं**—वह। **उच्चालइयं**—कर्म क्षय करने के मार्ग को। **जाणिज्जा**—जानता है। **पुरिसा**—हे पुरुष! **अत्ताणमेव**—अपने आत्मा को ही। **अभिणिगिज्झ**—धर्म ध्यान से बाहर जाते हुए को रोक्—निरोध कर। **एवं**—इस प्रकार तू। **दुक्खा**—दु:ख से। **पमुच्चसि**—छूट जाएगा। **पुरिसा**—हे पुरुष! **सच्चमेव**—सत्य और सयम को ही। **समभिजाणाहि**—भली प्रकार जानकर आचरण कर। **सच्चस्स**—सत्य की। **आणाए**—आज्ञा मे। **उवट्ठिए**—उपस्थित हुआ। **से**—वह। **मेहावी**—बुद्धिमान व्यक्ति। **मारं**—ससार को। **तरइ**—पार कर देता है। **सहिओ**—ज्ञानादि से वा हित से युक्त। **धम्ममायाय**—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। **सेयं**—पुण्य वा आत्महित को। **समणुपस्सइ**—सम्यक् प्रकार से देखता है।

मूलार्थ—जो कर्म क्षय करने के मार्ग को जानता है, वह मोक्ष को भी जानता है और जो मोक्ष को जानता है, वह कर्म क्षय करने के मार्गो को भी जानता है। हे पुरुष! तू अपने आत्मा का ही निग्रह कर, धर्मध्यान से विमुख जाते हुए आत्मा को रोक, इस प्रकार करने से तू दु:खो से छूट जाएगा। हे पुरुष! तू सत्य-सयम का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर, पालन कर, सूत्र की—आगम की आज्ञा मे उपस्थित हुआ मेधावी—बुद्धिमान ससार को तैर जाता है और ज्ञानादि से युक्त हुआ श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके आत्महित को भली-भांति देखता है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि साधक ध्यान के द्वारा योगो को एकाग्र करता है। मन-वचन एव काया की बाह्य प्रवृत्ति को अपने अदर मोडता है, आत्म चिन्तन में लगाता है। इससे सयम-साधना मे तेजस्विता आती है और वह इस साधना के द्वारा नये कर्मो के आगमन को रोकता है और पुरातन कर्मो का क्षय करता चलता है। इस प्रकार वह एक दिन समस्त कर्मो का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को, निर्वाण को पा लेता है, क्योकि कर्मो का आत्यन्तिक क्षय करना ही मोक्ष है अथवा सपूर्ण कर्म क्षय का ही दूसरा नाम मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि जो कर्म क्षय करना

जानता है, वह मुक्ति को जानता है और जो मोक्ष को जानता है वह कर्म क्षय करने की प्रक्रिया को जानता है[1]।

साधक अन्तर्मुखी साधना से ही कर्म क्षय करता है। इसलिए उसे आदेश देते हुए कहा गया है—तू अपनी आत्मा को बहिर्वृत्तियो से हटाकर धर्मध्यान या आत्म-चिन्तन की ओर मोड़। दूसरे शब्दों में यों कहते हैं कि तू बाहर से सिमट कर अपने अन्दर स्थित हो जा। इससे विषय-वासना की आसक्ति से आने वाले कर्म रुक जाएगे और परिणामस्वरूप तू दु खों से मुक्त हो जाएगा।

इसके लिए सत्य-सयम का आचरण आवश्यक है। सत्य पथ पर गतिशील एव सत्य—आगम की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति संसार-सागर से पार हो जाता है; क्योकि विषयों मे आसक्त रहने का नाम ससार है और जब वह विषयों से अपने को सर्वथा हटा लेता है, तो उसके लिए ससार दूर होता जाता है और मोक्ष निकट होता जाता है। इसलिए साधक को सत्य-सयम के परिपालन करने एवं आगम के अनुसार प्रवृत्ति करने का आदेश दिया गया है। प्रस्तुत प्रकरण मे सत्य शब्द सत्य, सयम एव आगम तीनों अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है[2]।

'मार' शब्द का अर्थ संसार किया है, यह भी उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त 'मार' शब्द कामदेव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और वह अर्थ भी यहा अनुपयुक्त नही है, क्योंकि श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक काम-वासना पर विजय पा लेता

---

1 'उच्चालइय' शब्द कर्मो को दूर करने का तथा 'दूरालइय' शब्द मोक्ष-मार्ग का ससूचक है। सस्कृत मे इसका 'दूरालय' रूप बनता है और इससे मत्वर्थीय प्रत्यय का सबध कर देने से 'दूरालयिक' रूप बन जाता है, जो मोक्षमार्गानुगामी आत्मा का परिबोधक है, 'दूरे सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यालयो दूरालय—मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकस्तमिति।' —आचारांग वृत्ति

2 सद्भ्यो हित सत्य —सयमस्तमेवापर व्यापारनिरपेक्ष समभिजानीहिआसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहि—गुरु साक्षिगृहीत प्रतिज्ञानिर्वाहको भव, यदिवा सत्य —आगमस्तत्परिज्ञान च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालन। 'सच्चमेव समणुजाणाहि। इस वाक्य मे प्रयुक्त सत्य शब्द के तीन अर्थ किए गए है और 'सच्चस्स' का अर्थ तो एक आगम ही किया है—"सत्यस्य—आगमस्याज्ञयोपस्थित सन्।

—आचाराग वृत्ति

है और विषय-भोग का विजेता कर्म का क्षय करके जन्म-मरण रूप संसार सागर से पार हो जाता है।

"पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि" इस पाठ से अयोगी **गुणस्थान** की ओर सकेत किया गया है। इसमे कहा गया है कि हे पुरुष! तू योगों का **निरोध** कर, जिससे तू सारे दु:खो से छूट जाएगा। योगों का पूर्ण निरोध चौदहवे अयोगी गुणस्थान मे ही होता है और इस गुणस्थान को स्पर्श करने के बाद जीव निर्वाण-पद को पा लेता है, समस्त कर्म बन्धन एव कर्मजन्य उपाधि से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

इतना स्पष्ट होने पर भी कुछ लोग प्रमाद का सेवन करते है, विषय कषाय मे आसक्त होते हैं। उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—दुहओ जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमायंति॥120॥

छाया—द्विहतः [दुर्हतः] जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनार्थ (पूजनाय) यस्मिन्नेके प्रमाद्यन्ति।

पदार्थ—दुहओ—राग-द्वेष से पीड़ित जीव। **जीवियस्स**—जीवन के लिए। **परिवंदण**—परिवन्दनार्थ। **माणण**—मान के लिए। **पूयणाए**—पूजा के लिए। **जं**—उक्त निमित्तो से। **एगे**—कोई एक जीव। **पमायंति**—प्रमाद का सेवन करते है, अर्थात् हिसादि पाप मे प्रवृत्त होते है।

मूलार्थ—राग-द्वेप से सतप्त कई एक जीव अपने जीवन के मान-सम्मान के लिए, एवं पूजा-प्रतिष्ठा के लिए प्रमाद-हिसा आदि परिवन्दन, पापो का आसेवन करते है।

हिन्दी-विवेचन

जब मनुष्य की दृष्टि देहाभिमुख या भौतिकता की ओर होती है, तब वह दु:खो के नाश का उपाय भी बाह्य पदार्थो में खोजता है। इसलिए वह अनुकूल पदार्थ एव साधनो पर अनुराग करता है और वह प्रतिकूल साधनों से द्वेष करता है। उनसे बचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग-द्वेष में संलग्न व्यक्ति अपने जीवन के लिए,

वन्दन, सत्कार पाने के लिए, मान-सम्मान एव पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रमाद का सेवन करता है। वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए हिसा आदि अनेक दोषों का सेवन करता है और विषय-वासना मे अधिक आसक्त होने के कारण रात-दिन अव्रत का पोषण करने मे लगा रहता है। इससे वह पाप कर्म का बन्ध करके ससार मे परिभ्रमण करता है।

निष्कर्ष यह है कि राग-द्वेष के वश जीव हिसादि दोषो मे प्रवृत्त होकर पाप कर्मो का सग्रह करता है और परिणामस्वरूप दु खों के प्रवाह मे प्रवहमान रहता है।

अत साधक को राग-द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देते है, उनके विषय मे सूत्रकार कहते है–

मूलम्–सहिओ दुक्खमच्चत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकोलोकपवंचाओ मुच्चइ, त्तिबेमि॥121॥

छाया–सहितोदुःखमात्रया स्पृष्टः नो झञ्झयेत् (नो व्याकुलितमतिर्भवेत्) पश्य! इम द्रव्य· लोकालोक प्रपचात् मुच्यते। इति ब्रवीमि।

पदार्थ–सहिओ–हित-ज्ञान आदि से युक्त। **दुक्खमच्चत्ताए**–दु ख मात्र से। **पुट्ठो**–स्पर्शित हुआ। **नो झझाए**–व्याकुल न होवे। **पासिमं**–हे शिष्य! तू इस वात को देख। **दविए**–द्रव्यभूत–मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधु। **लोकालोकप-वचाओ**–लोक के प्रपच से। **मुच्चइ**–मुक्त हो जाता है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ–ज्ञानवान साधु दु·खो से स्पर्शित होने पर भी आकुल-व्याकुल नही होते। अत हे साधक! तू मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधुओ को देख। जो लोक के प्रपच से मुक्त हो जाते है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

विचारशील, चिन्तनशील साधक कष्ट उपस्थित होने पर भी आकुल-व्याकुल नही होता। घबराता नही और न वह उन कष्टो को दूर करने के लिए कोई सावद्य अनुष्ठान ही करता है। वह समस्त दु·खो का मूल कारण कर्म को ही मानता है। अतः वह अपनी शक्ति दुखो के मूल का उन्मूलन करने मे लगा देता है। उसका प्रयत्न

केवल भौतिक दुःख नाश का नहीं, बल्कि समस्त दुखो का एव ससार-भ्रमण के कारण कर्म का क्षय करने का रहता है। अत· वह अपनी वृत्ति को बाहर से मोड कर अन्दर की ओर हटा लेता है। या यों कहिए कि सदा आत्मसाधना मे संलग्न रहता है।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र में साधक को आदेश देते हुए कहा गया है कि तू साधु जीवन की साधना को देख और अपने आचरण को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर; क्योंकि संयमनिष्ठ मुनि तप-संयम की साधना से मोक्ष पथ पर बढ़ता हुआ लोक-संसार के समस्त प्रपचो से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह रहा कि साधु को ज्ञान के साथ धैर्यशील एव सहिष्णु होना चाहिए। कष्ट एवं वेदना के समय भी उसे साहस, शाति एव आत्म-चिन्तन का त्याग नही करना चाहिए और जीवन से निराश होकर सकल्प-विकल्प मे नहीं उलझना चाहिए। रोग उपशांति के लिए औषध की आवश्यकता पड़ने पर निर्दोष एव सात्त्विक औषध का सेवन करते हुए भी धैर्य एव आत्मचिन्तन में संलग्न रहना चाहिए, क्योकि जब योगों की प्रवृत्ति चिन्तन में लगी रहेगी तो बाह्य वेदना की अनुभूति स्वत· कम हो जाएगी। इससे आत्मा मे शाति की अनुभूति होगी और पहले के बधे हुए कर्मो की निर्जरा भी होगी। इसलिए साधक को कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए हर स्थिति-परिस्थिति मे आत्माभिमुख होकर चलना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय अध्ययन : शीतोष्णीय

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे सयम, आत्मचिन्तन एव परीषहो के उपस्थित होने पर भी धैर्य एव सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। वस्तुत- देखा जाय तो अधैर्य एव चचलता का कारण कषाय, राग-द्वेष एव भय ही है। अत प्रस्तुत उद्देशक मे इनके त्याग का उपदेश दिया गया है। उसका प्रारम्भ करते हुए कहा है—

मूलम्—से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स, पलियंतकरस्स आयाणं सगडब्भि॥122॥

छाया—सः वमिता क्रोध च मानं च मायां च लोभं च एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं स्वकृतभित्।

पदार्थ—से—वह, जो त्यागी है। **कोहं**—क्रोध को। **च**—और। **माणं**—मान को। **च**—और। **मायं**—माया को। **च**—और। **लोभ**—लोभ को। **वंता**—छोडता है। च—और। **आयाणं**—कर्मास्रव को छोडता है, वह। **सगडब्भि**—स्वकृत कर्मो का भेदन करता है। **एयं**—यह। **दसणं**—अभिप्राय। **उवरयसत्थस्स**—द्रव्य और भाव शस्त्र से निवृत्त। **पलियतकरस्स**—कर्मो का या ससार का अन्त करने वाले। **पासगस्स**—भगवान महावीर का है।

मूलार्थ—जो ज्ञान से युक्त संयमनिष्ठ मुनि है, वह कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन—त्याग कर देता है। जो कर्मास्रव का परित्याग करता है, वह स्वकृत कर्मो का भेदन करता है। ससार और कर्मो का अन्त करने वाले तथा द्रव्य और भाव शस्त्र से रहित भगवान महावीर ने ऐसा उपदेश दिया है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का उद्देश्य है—कर्मो से सर्वथा मुक्त होना। इसलिए प्रत्येक तीर्थकर भगवान अपने शासनकाल में मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं। प्रस्तुत सूत्र में भगवान

महावीर कषाय के त्याग का उपदेश देते हैं। कषाय से कर्म का बन्ध होता है और कर्म-बंध से जीव ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह ससार-परिभ्रमण मे सहायक क्रोध आदि का परित्याग कर दे। जो व्यक्ति कषाय का परित्याग कर देता है, वह स्वकृत कर्म का भी भेदन कर देता है, क्योकि कषाय कर्म-बधन का कारण है और जब कारण नष्ट कर देगे तो कार्य का नाश सहज ही हो जाएगा। अत कर्म का क्षय करने के लिए पहले कषाय-त्याग का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'पासगस्स दंसणं'** का अर्थ है—लोक के समस्त पदार्थो के यथार्थ द्रष्टा को पश्यक कहते है, ऐसे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर जी है, और उनका उपदेश एव दर्शन **'पासगस्स दसणं'** कहलाता है[1]। **'आयाण'** शब्द से हिसा आदि 5 आस्रव एव 18 पाप स्वीकार किए गए है। इनके द्वारा ही जीव अष्ट कर्मो को बाधता है। इसलिए इन्हे **'आयाणं-आदान'** कहते है[2]।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सर्वज्ञता या सर्वज्ञ के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। इसलिए उक्त विषय मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ॥123॥

छाया—यो एकं जानाति स सर्व जानाति, यः सर्व जानाति स एकं जानाति।

पदार्थ—जे—जो। **एग**—एक—परमाणु या आत्मा की स्वपर्याय और परपर्याय का। **जाणइ**—जानता है। **से**—वह। **सव्व**—सर्व द्रव्यो की स्व-पर पर्यायो को। **जाणइ**—जानता है। **जे**—जो। **सव्वं**—सर्व वस्तु को। **जाणइ**—जानता हे। **से**—वह।

---

1 सर्व निरावर्णत्वात्पश्यति—उपलभत इति पश्य स एव पश्यक —तीर्थकृत्। श्री वर्द्धमान स्वामी तस्य दर्शनम्—अभिप्रायो यदिवा दृश्यते यथावस्थित वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्-उपदेश।
—आचाराग वृत्ति

2 आदीयते-गृह्यते आत्मप्रदेशै सहश्लिष्यतेऽष्ट प्रकार कर्म्म येन तदादान—हिसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूप वा।
—आचाराग वृत्ति

एगं—आत्म आदि एक द्रव्य को। **जाणइ**—जानता है।

मूलार्थ—जो एक द्रव्य को जानता है, वह सब को जानता है, और जो सब को जानता है, वह एक को जानता है।

हिन्दी-विवेचन

जैन दर्शन में मूल रूप से दो तत्त्व माने है—जीव और अजीव। ससार के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ इन्ही दो तत्त्वो में आ जाते हैं। ससार में इन दोनों का इतना घनिष्ट संबंध है कि एक का ज्ञान होने पर दूसरे का या समस्त पदार्थो का परिज्ञान हो जाता है। जब व्यक्ति आत्मा का चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है तो वह सहज ही अन्य तत्त्वो से परिचित हो जाता है। क्योकि आत्मा असख्यात प्रदेशी, अरूपी एव अनन्त चतुष्टय युक्त शुद्ध है। फिर भी अनत आत्माए ससार मे परिभ्रमण कर रही है। इसका कारण यह है कि वे कर्म पुद्गलों से आवृत्त है। कर्म अजीव है, जड हैं। अत जब कर्म-आवरण पर सोचते है, तो अजीव तत्त्व का बोध हो जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि अजीव या कर्म आत्मा को क्यो आवृत्त करते है। इस समस्या के समाधान मे गोता लगाने पर ज्ञात होता है कि आत्मा राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामो तथा योगो की प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ कर्मो—जिन्हे पाप और पुण्य भी कहते है, का सग्रह करती है। शुभाशुभ कर्म आगमन के द्वार को शास्त्रीय भाषा मे आस्रव कहते है। इन आए हुए कर्मो के परिणामों की तीव्रता एव मन्दता के अनुसार उनका तीव्र एव मन्द बन्ध होता है। सयम के द्वारा आते हुए नए कर्मो को रोक दिया जाता है और तप के द्वारा पुराने कर्मो का क्षय कर दिया जाता है। इस प्रक्रिया से आत्मा एक दिन कर्म एव कर्मजन्य साधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। इन्हे क्रमश· सवर, निर्जरा और बन्ध कहते है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान करने वाला व्यक्ति अन्य तत्त्वो को भी जान लेता है। एक तत्त्व के परिज्ञान मे सब तत्त्वो का तथा सब तत्त्वो के परिज्ञान मे एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक के साथ अनेक या समस्त का संबध जुडा हुआ है और अनेक में एक समाहित है। इसलिए सम्यक्तया एक का ज्ञान होने पर अनेक का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार आत्मचिन्तन की गहराई में उतरने

पर वह अज्ञान के आवरण को अनावृत करके पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेती है और सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होकर ससार के प्राणियो को मोक्ष-मार्ग दिखाती है।

सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थकर क्या उपदेश देते है। इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं, जे एगं नामे से बहुं नामे; जे बहुं नामे से एगं नामे, दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, नावकंखति जीवियं॥124॥

छाया—सर्वत· प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम्। यः एकं नामयति स बहून् नामयति य· बहून् नामयति स एकं नामयति दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा वान्त्वा लोकस्य संयोगं यान्ति धीराः महायानं परेण पर यान्ति नावका क्षन्ति जीवितम्।

पदार्थ—पमत्तस्स—प्रमादी व्यक्ति को। **सव्वओ**—सब तरह से। **भयं**—भय है। **अप्पमत्तस्स**—अप्रमत्त को। **सव्वओ**—सर्व तरह से। **भयं**—भय। **नत्थि**—नही है। **जे**—जो। **एगं**—एक अनन्तानुवन्धी क्रोध को। **नामे**—क्षय करता है। **से**—वह। **बहु**—बहुत-से मानादि को भी। **नामे**—क्षय करता है। **जे**—जो। **बहुं**—बहुतों को। **नामे**—क्षय करता है। **से**—वह। **एग**—एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को। **नामे**—क्षय करता है। **लोगस्स**—लोक के। **दुक्ख**—दु ख को। **जाणित्ता**—जानकर फिर। **लोगस्स**—लोक के। **सजोग**—सयोग को। **वंता**—छोड कर। **धीरा**—धीर पुरुष। **महाजाण जन्ति**—महायान को अर्थात् एक जन्म मे ही दर्शनादि का ग्रहण करके मुक्त हो जाते है अथवा। **परेणपरजति**—परम्परा से आगे बढता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। परन्तु। **नावकखन्ति जीविय**—असयम जीवन की इच्छा नही करते।

मूलार्थ—प्रमत्त—प्रमादी जीव को सब तरह से भय है और अप्रमत्त को सर्व तरह से कोई भय नही। जो एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय करता है, वह अन्य बहुत-सी कर्म-प्रकृतियो को क्षय करता है, और जो बहुत-सी कर्म-प्रकृतियों को क्षय

करता है, वह एक को क्षय करता है। लोक के दुख को जान कर और उसके संयोग को त्याग कर धीर पुरुष मोक्ष मार्ग पर चलते हैं और वे अनुक्रम से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वे महापुरुष कभी भी असयममय जीवन की इच्छा नही करते।

हिन्दी-विवेचन

भय मोह जन्य है। चूँकि वह चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है, इसलिए असंयमनिष्ठ जीवन में उसका उदय रहता है। इससे प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि प्रमादी व्यक्ति को सब प्रकार से भय है, अर्थात् जहा प्रमाद है वही सब भय हैं। जब आत्मा अप्रमत्त भाव में विचरण करती है, तब मनुष्य को कोई भय नही रह जाता है। इसका कारण यह है कि प्रमादी व्यक्ति की दृष्टि मे भौतिक पदार्थो की मुख्यता है, अत उनके नाश या वियोग की स्थिति उत्पन्न होते ही मन मे भय एवं कम्पन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु अप्रमत्त मुनि का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है, शरीर एवं अन्य भौतिक साधन उसकी दृष्टि में केवल आत्म विकास के साधन मात्र है—इससे अधिक नहीं, इसलिए और साधनो का तो क्या, देह के विनाश का प्रसग आने पर भी वह भयभीत नही होता। वह उसे उसी प्रसन्न भाव से त्याग देता है, जिस प्रसन्न भाव से पुरातन वस्त्र का परित्याग करता है। अत सयमनिष्ठ अप्रमत्त व्यक्ति को किसी भी प्रकार का भय नही होता, वह सदा निर्भय होकर विचरता है। वह अभय का देवता न स्वय भयभीत होता है और न अन्य किसी भी प्राणी को भयभीत करता है।

जहा भय रहता है, वहा मोह कर्म की अन्य प्रकृतिया भी रहती है। वस्तुतः मोह कर्म ही सब कर्मो का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मो का नाश करना सरल हो जाता है। इसलिए कहा गया कि जो व्यक्ति मोह कर्म की एक प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध को क्षय कर देता है, वह शेष प्रकृतियो को भी क्षय कर देता है और जो मोह कर्म की बहुत-सी प्रकृतियों को क्षय करता है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध का भी नाश करता है या जो मोह कर्म को क्षय करता है, वह बहुत-से कर्मो का अर्थात् तीन घातिकर्मो—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अतराय कर्म का उसी समय नाश करता है और शेष कर्मो का आयुकर्म के क्षय के साथ क्षय कर देता है। और जो बहुत-से कर्मो का क्षय करता है, वह मोह कर्म का भी क्षय करता है।

इस प्रकार आत्मा समस्त दु:खो से मुक्त हो जाता है, क्योंकि दु:खो का मूल कारण कर्म है और विषय-वासना की आसक्ति एव राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक राग-द्वेष एव विषयो की आसक्ति का परित्याग करके मोक्ष-मार्ग पर चले। इससे वह उसी भव मे या परम्परा से—कुछ भवों मे समस्त कर्मो का नाश करके निर्वाण पद पा लेता है।

प्रस्तुत सूत्र मे **'महाजाण—महायान'** शब्द का प्रयोग मोक्षमार्ग के अर्थ मे किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त 'यान' शब्द का चारित्र अर्थ भी होता है। अत· **'महायान'** का अर्थ हुआ—उत्कृष्ट चारित्र[2]। धैर्यवान पुरुष चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते है, अत इस अपेक्षा से चारित्र को भी महायान कहा है।

क्या चारित्र की आराधना से आत्मा उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेती है या वह देव, मनुष्य आदि गतियों मे कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करती है? कुछ आत्माए उसी भव मे समस्त कर्मो से मुक्त हो जाती है और कुछ आत्माए सयम के साथ सरागता होने के कारण सौधर्म आदि स्वर्गो मे उत्पन्न होती है। और वहा मनुष्य एवं विशिष्ट स्वर्गो में उत्पन्न होता हुआ, एक दिन मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इस बात को **'परेण परं जाति'** पाठ से अभिव्यक्त किया है। 'परेण (तृतीयात) और पर (द्वितीयान्त) इन दोनो शब्दों का कई अर्थो मे प्रयोग होता है। जैसे—1—धीर पुरुष सयम की आराधना से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते है। 2—आत्मा चतुर्थ गुणस्थान मे चढते हुए, पचम गुणस्थान आदि मे होता हुआ अयोगि केवली 14वे गुणस्थान मे पहुच जाता है। 3—अनन्तानुबन्धी क्षय से दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म या घाति एव अघाति कर्मो का क्षय कर देता है[3]। इसके अतिरिक्त इन

---

1 महद्यान—सम्यग् दर्शनादित्रय यस्य स महायानो मोक्ष। —आचाराग वृत्ति

2 यान्त्यनेन मोक्षमिति यान—चारित्र तच्चानेकभवकोटिदुर्लभ लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविध कर्मोदयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद्यानं च महायानमिति। —आचाराग वृत्ति

3 यथा—"परण-सयमेनोदिष्ट विधिनां पर-स्वर्ग पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदि-वा परेण—सम्यगदृष्टिगुणस्थानेन 'पर'—देशवृत्यायोगिकेवलि पर्यत गुणस्थानकमधितिष्टन्ति, परेण वा अनन्तानुबन्धि क्षयेणोल्लसत्कडकस्थाना· 'पर' 'दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीय-

उभय शब्दों का **'परेण'**—तेजोलेश्या से भी **'परं'**—विशिष्टतर लेश्या को प्राप्त करना भी अर्थ होता है।

'नामे' यह क्रियापद है, जैसे—नामयति—क्षपयति 'लोकस्य संयोग' पद मे आत्मा के अतिरिक्त पुत्र, पत्नी आदि परिवार मे आसक्त रहना। अत इसका अभिप्राय यह है कि मुनि को धन-वैभव एव पारिवारिक सम्बन्ध का त्याग करके सयम का परिपालन करना चाहिए।

जो आत्मा अनन्तानुबन्धी आदि कर्म-प्रकृतियो का क्षय करने को तैयार होता है, उस समय उन्ही का क्षय करता है या साथ मे अन्य प्रकृतियो का भी क्षय करता है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि एगं, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण पर, नत्थि असत्थं परेण परं॥125॥

छाया—एक क्षपयन् पृथक् (अन्यदपि) क्षपयति, पृथगपि (अन्यदपि) श्रद्धी (श्रद्धावान्) आज्ञया मेधावी लोक च आज्ञया अभिसमेत्याकुतोभयं, अस्ति शस्त्र परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम्।

पदार्थ—एगं—एक मोहनीय कर्म का। **विगिचमाणे**—क्षय करता हुआ साधक। **पुढो**—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन अनेक कर्मो का। **विगिंचइ**—क्षय करता है। **पुढोवि**—ज्ञानावरणीय आदि अनेक कर्मो का क्षय करता हुआ साधक। **एग**—एक कर्म का क्षय करता है।

आणाए—भगवत्प्रणीत आगम के अनुसार आचरण करने वाला। **सड्ढी**—श्रद्धावान और मेहावी—बुद्धिमान साधक द्वारा। **लोगं**—छह काय के जीव लोक को। **आणाए**—आगम के उपदेश से। **अभिसमिच्चा**—जानकर। **अकुओभयं**—किसी भी प्राणी को भय न हो, वैसा व्यवहार करना चाहिए। **सत्थं**—शस्त्र रूप असयम।

क्षयघातिभवोपग्राहीकर्मणावा क्षयमवाप्नुवन्ति' एव विधाश्च कर्म क्षपणोद्यत जीवित कियद्गत कि वा शेषमित्येव नावकाक्षन्ति।"

परेणपरं—तारतम्य वाला है। **अत्थि**—है, परन्तु। **असत्थं**—संयम। **परेण परं नत्थि**—तारतम्य—उतार-चढाव वाला नही है।

मूलार्थ—मुनि एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता हुआ दर्शन सप्तक का भी क्षय करता है और दर्शन सप्तक का क्षय करता हुआ एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय कर देता है। ऐसा श्रद्धावान भगवत्प्रणीत आज्ञा के अनुसार अनुष्ठान करता हुआ बुद्धिमान साधक भगवान के उपदेश से लोक को जानकर किसी भी जीव को भय न दे, क्योकि असयम तारतम्य रूप वाला होता है, परन्तु सयम उतार-चढाव वाला नही होता।

हिन्दी-विवेचन

जैन दर्शन विकासवादी है। वह आत्मा के स्वतन्त्र विकास पर विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से विकास करके निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र मे इसी श्रेणिविकास का क्रम बताया गया है।

जब साधक क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय, दर्शन—सम्यक्त्वमोहनीय; मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियो का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उक्त गुणस्थान से ही उसका विकास आरम्भ होता है, दृष्टि में एक नया परिवर्तन आता है। उसका चिन्तन-मनन अब बाह्याभिमुखी नही, अपितु आत्माभिमुखी होता है।

इसके बाद वह अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यानी कषाय एवं सज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता हुआ पाचवे, छठे, सातवे आदि गुणस्थानो को लाघकर तेरहवे गुणस्थान मे पहुचता है और वहा से चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त करके वहा समस्त कर्मो का आत्यन्तिक क्षय करके और मन-वचन एव काय का निरोध करके निर्वाण-पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार साधक सदा कर्मबन्धन को शिथिल—ढीला करने की साधना मे लगा रहता है। कुछ साधक एक भव मे समस्त कर्मो को क्षय करने मे समर्थ नही होते। उनकी साधना में इतनी तेजस्विता नही होती कि वे शीघ्र गति से सभी सीढ़ियो को पार कर सके। फिर भी उनका लक्ष्य सपूर्ण कर्म क्षय करने का होता है और वे उसी श्रेणी-क्रम से उस लक्ष्य तक पहुचने का प्रयत्न करते है।

इसलिए कहा गया है कि मोक्षाभिलाषी साधक श्रद्धानिष्ठ होकर सयम-मार्ग पर चलता है और भगवान की आज्ञा के अनुसार साधना में प्रवृत्त होता है। अथवा छह काय या कषाय रूप लोक एव उसके आरम्भ-समारम्भ तथा कषाय-सेवन से बढ़ने वाले ससार परिभ्रमण को जानकर किसी भी जीव को त्रास एव भय नही देता। वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान जानता है। अत दूसरे प्राणी को कष्ट देना अपनी आत्मा को कष्ट देना है, ऐसा जानकर वह सब को अभयदान देता है।

वस्तुतः भय सयम का शस्त्र है। असयम सबसे भयकर शस्त्र है, क्योकि असंयत जीवन में एकरूपता नही रहती। अपने स्वार्थ की प्रमुखता के कारण दूसरे जीवों पर समदृष्टि नहीं रहती। इसलिए असयत जीव अपने स्वार्थ को साधने के लिए द्रव्य एव भाव शस्त्रो को तीक्ष्ण बनाता रहता है। अस्थि-शस्त्र के युग से लेकर अणुबम एव हाईड्रोजन बम तक का इतिहास असयम की विषाक्त भावना का परिणाम है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ एव राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रो मे तीव्रता आती रहती है। परन्तु सयम अशस्त्र है, उसमे द्रव्य एव भाव दोनो प्रकार के शस्त्रो का अभाव है। साधक समभाव की दृष्टि लेकर आगे बढता है। इसलिए उसमे तरतमता नही पाई जाती है। वह शस्त्र से दूर रहता हुआ सदा आगे बढ़ता रहता है। उसकी साधना की पूर्णता चौदहवे गुणस्थान मे होती है। फिर उसे सयम की भी आवश्यकता नही रहती, क्योकि साधना की उपयोगिता साध्य के प्राप्त होने तक ही है, उसके प्राप्त हो जाने के बाद उसकी आवश्यकता नही रह जाती है। इस प्रकार संयम-निष्ठ साधक श्रेणी-विकास करता हुआ अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

साधक कषाय के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिस प्रकार वह क्रोध के स्वरूप एव परिणाम से परिचित है, उसी प्रकार मान एव अन्य कषायो के स्वरूप से भी परिचित है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जन्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयंपासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणंनिसिद्धा सगडब्भि किमत्थि ओवाही पासगस्स न विज्जइ? नत्थि त्तिवेमि॥126॥

छाया—यः क्रोधदर्शी स मानदर्शी, यो मानदर्शी स मायादर्शी, यो मायादर्शी, स लोभदर्शी, यो लोभदर्शी, स प्रेमदर्शी यः प्रेमदर्शी स द्वेषदर्शी, यो द्वेषदर्शी स मोहदर्शी, यो मोहदर्शी, स गर्भदर्शी, यो गर्भदर्शी स जन्मदर्शी, यो जन्मदर्शी स मारदर्शी यो मारदर्शी स नरकदर्शी, यो नरकदर्शी स तिर्यग्दर्शी यः तिर्यग्दर्शी स दुःखदर्शी। स मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च प्रेम च द्वेष च मोहं च गर्भ च जन्मं च मारञ्च नरकं च तिर्यञ्चं च दुःखं च। एतत् पश्यकस्य दर्शनं, उपरत शस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं निषेध्य स्वकृतकर्मभित् किमस्ति उपाधिः? पश्यकस्य न विद्यते, नास्ति। इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**जे**—जो। **कोहदंसी**—क्रोध के स्वरूप को देखने वाला है। **से**—वह। **माणदंसी**—मान के स्वरूप को देखने वाला है। **जे**—जो। **माणदसी**—मान के देखने वाला है। **से**—वह। **मायादसी**—माया के देखने वाला है। **जे**—जो। **मायादसी**—माया को देखने वाला है। **से**—वह। **लोभदसी**—लोभ के देखने वाला है। **जे**—जो। **लोभदंसी**—लोभ के देखने वाला है। **से**—वह। **पिज्जदसी**—राग के देखने वाला है। **जे**—जो। **पिज्जदंसी**—राग के देखने वाला है। **से**—वह। **दोसदंसी**—द्वेष के देखने वाला है। **जे**—जो। **दोसदसी**—द्वेष के देखने वाला है। **से**—वह। **मोहदंसी**—मोह के देखने वाला है। **जे**—जो। **मोहदंसी**—मोह देखने वाला है। **से**—वह। **गब्भदंसी**—गर्भ के देखने वाला है। **जे**—जो। **गब्भदंसी**—गर्भ के देखने वाला है। **से**—वह। **जम्मदंसी**—जन्म के देखने वाला है। **जे**—जो। **जम्मदंसी**—जन्म के देखने वाला है। **से**—वह। **मारदसी**—मरण—मृत्यु के देखने वाला है। **जे**—जो। **मारदंसी**—मृत्यु को देखने वाला है। **से**—वह। **नरयदंसी**—नरक को देखने वाला है। **जे**—जो। **नरयदंसी**—नरक को देखने वाला है। **से**—वह। **तिरियदंसी**—तिर्यक् के देखने वाला है।

जे—जो। **तिरियदंसी**—तिर्यक् दर्शी है। **से**—वह। **दुक्खदंसी**—दु.ख के देखने वाला है। **से**—वह। **मेहावी**—बुद्धिमान है जो इन से। **अभिणिवट्टिज्जा**—निवृत्ति करे तथा बुद्धिमान वही है जो निम्नलिखित कारणों से निवृत्ति करता है, यथा। **कोहं च**—क्रोध। **माणं च**—मान। **मायां च**—माया। **लोभं च**—लोभ। **पिज्जं च**—प्रेम-राग। **दोस च**—द्वेष। **मोहं च**—मोह। **जम्मं च**—जन्म। **मारं च**—मरण। **नरयं च**—नरक। **तिरियं च**—तिर्यक्, और। **दुक्खं च**—दु ख से। (चकार शब्द प्रेरणार्थ वा समुच्चय अर्थ वा पादपूर्णार्थ मे जानना चाहिए। तथा उक्त पदो का अर्थ द्वितीय विभक्ति का करना और भावार्थ मे पाचवीं विभक्ति का भी हो सकता है) **एयं**—यह। **पासगस्स**—तीर्थकर देव का। **दंसणं**—दर्शन है, जो कि। **उवरय सत्थस्स**—शस्त्र से उपरत है। **पलियंतकरस्स**—कर्मो का अन्त करने वाले है। **किं**—क्या। **पासगस्स**—पश्यक केवली भगवान को। **ओवाहि**—उपाधि है। **अत्थि**—है? **न विज्जइ**—न विद्यते, नही है। **नत्थि**—नही है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो क्रोध के देखने वाला है, वह मान के देखने वाला है, जो मान के देखने वाला है, वह माया के देखने वाला है, जो माया के देखने वाला है, वह लोभ के देखने वाला है, जो लोभ के देखने वाला है, वह राग के देखने वाला है, जो राग के देखने वाला है, वह द्वेष के देखने वाला है, जो द्वेष के देखने वाला है, वह मोह के देखने वाला है, जो मोह के देखने वाला है, वह गर्भ के देखने वाला है, जो गर्भ के देखने वाला है, वह जन्म के देखने वाला है, जो जन्म के देखने वाला है, वह मरण क देखने वाला है, जो मरण—मृत्यु के देखने वाला है, वह नरक के देखने वाला है, जो नरक के देखने वाला है, वह तिर्यक् के देखने वाला है, जो तिर्यक् के देखने वाला है, वह दु ख के देखने वाला है। मेधावी व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को तथा राग-द्वेष और मोह का एव गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यक् और दु ख को छोड देता है, इनसे निवृत्त हो जाता है। यह तीर्थकर देव का दर्शन अर्थात् सिद्धात है जो कि शस्त्र से उपरत और संसार का अन्त करने वाले और स्वकृत कर्मो का भेदन करने वाले है। क्या तीर्थकर अथवा केवली भगवान के भी कोई उपाधि हैं? उत्तर—तीर्थकर वा केवली भगवान के कोई भी उपाधि नही है। इस प्रकार मे कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है। ये ही ससार-परिभ्रमण एव दुःख-प्रवाह को बढाने वाले हैं। अतः बुद्धिमान वही है, जो इनसे निवृत्त हो जाता है। तीर्थकर भगवान का यही उपदेश है। वे असयम रूप शस्त्र से रहित होते है। अत वे ससार का अन्त करने वाले एव उपाधि-रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए, उसे उपाधि कहते हैं। यह दो प्रकार की है—1—द्रव्य उपाधि और 2—भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन-सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते है और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते है[1]। सर्वज्ञ भगवान मे द्रव्य उपाधि तो होती ही नही और भाव उपाधि मे उन्होने चार घातिकर्मो का क्षय कर दिया है। इसलिए अवशिष्ट चार कर्म भी कर्मबन्धन के कारण नही बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हे भी उपाधि रूप नही माना गया है, क्योकि आयु कर्म के साथ उनका भी क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते है।

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव उपाधि ससार-परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग ससार-नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एव भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

॥ तृतीय अध्ययन-शीतोष्णीय समाप्त ॥

---

1 उपाधि विशेषण, उपाधीयत इति वोपाधि, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्ट प्रकार कर्म्म।
—आचाराग वृत्ति

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—सम्यक्त्व। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते है। सम्यक्त्व—यथार्थ श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है—जैसे सारे प्रयत्न करने पर भी अन्धा व्यक्ति शत्रु पर विजय नही पा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व संपन्न व्यक्ति धन-वैभव एव परिजनो का त्याग करके, व्यवहार से निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करके तथा तप एव कायक्लेश आदि अनेक कष्ट उठाकर भी वह राग-द्वेष रूपी शत्रु को परास्त करके मुक्ति नही पा सकता। अत· कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रद्धा-सम्पन्न होना आवश्यक है। श्रद्धा-युक्त व्यक्ति के ही ज्ञान, तप और चारित्र सफल होते है, मोक्ष के कारणभूत होते है और सम्यक्त्व को स्पर्श करने के अनन्तर ही क्रमश· उन्नति करके तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति सम्भव है। इसलिए जैन दर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम यो भी कह सकते है कि सम्यक्त्व मोक्ष-साधना का मूल कारण है। इसी कारण आगमो मे मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, संयम-परिपालन आदि को दुर्लभ कहा है[1]। अस्तु, श्रद्धा साधना का प्राण है, जीवन है।

प्रश्न हो सकता है कि किस बात पर श्रद्धा की जाए और कौन-से तत्त्वो पर विश्वास रखा जाए। प्रस्तुत अध्ययन मे इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र मे साधना के मूल मत्र, श्रद्धा रखने के तत्त्व एव जैन दर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है—

मूलम्—से बेमि जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति एवं परूविंति-सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न

---

1 सद्धा परम दुल्लहा। —उत्तराध्ययन सूत्र 3, 9

हंत्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघि त्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे, निइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तंजहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरएदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा तच्च चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ॥127॥

छाया—अथ ब्रवीमि ये अतीताः ये प्रत्युत्पनाः ये आगामिनः (अनागताः) अर्हन्तः भगवन्त· ते सर्वे एवमाचक्षते एवं भाषन्ते एवं ज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति सर्वे प्राणाः सर्वाणि भूतानि सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः न ज्ञापयितव्या· न परिग्राह्याः न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्याः एष धर्म· शुद्ध· नित्य· शाश्वतः समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदित· तद्यथा-उत्थितेषु वा अनुत्थितेषुवा उपस्थितेषुवा अनुपस्थितेषुवा उपरतदंडेषुवा अनुपरतदण्डेषुवा, सोपधिकेषुवा अनोपधिकेषुवा संयोगरतेषुवा असयोगरतेषुवा तथ्यंचैतत् तथा चैतत् अस्मिन् चैतत् प्रोच्यते।

पदार्थ—से—मै। **बेमि**—कहता हूँ। **जे**—जो। **अईया**—अतीत काल मे हो गए। **य**—और। **पडुप्पन्ना**—जो वर्तमान काल में है तथा जो। **आगमिस्सा**—भविष्य काल मे होंगे। **अरहंता**—अर्हन्त। **भगवंतो**—भगवन्त। **ते**—वे। **सव्वे**—सब। **एवमाइक्खति**—इस प्रकार कहते है। **एवं**—इस प्रकार। **भासंति**—भाषण करते है। **एवं**—इस प्रकार। **पण्णविंति**—प्रज्ञापन करते है। **एव**—इस प्रकार। **परूविति**—प्ररूपण करते है। **सव्वे**—सर्व। **पाणा**—प्राणी। **सव्वे**—सब। **भूया**—भूत। **सव्वे**—सब। **जीवा**—जीव। **सव्वे**—सब। **सत्ता**—सत्त्व। **न हंतव्वा**—न मारने चाहिए। **न अज्जावेयव्वा**—न दूसरो से मरवाने चाहिए। **न परिघितव्वा**—न किसी अन्य के द्वारा पकडवाने चाहिए। **न परियावेयव्वा**—न इनको परितापना देनी चाहिए। **न उद्दवेयव्वा**—न इनके ऊपर उपद्रव करना चाहिए अर्थात् प्राणों से वियुक्त न करना चाहिए। **एस धम्मे**—यह अहिसा रूप धर्म। **सुद्धे**—शुद्ध है। **निइए**—नित्य है। **सासए**—शाश्वत है। **लोयं**—जतु लोक के दु·ख सागर के अवगाढ को। **समिच्च**—विचार कर।

खेयण्णेहि—जीवों के दु:खो को जानने वालो ने। **पवेइए**—प्रतिपादन किया है। **तजहा**—जैसे कि। **उट्ठिएसु**—जो धर्म सुनने के लिए तैयार हैं। **वा**—अथवा। **अणुट्ठिएसु**—जो अनुद्यत है। **वा**—अथवा। **उवट्ठिएसु**—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है। **वा**—अथवा। **अणुवट्ठिएसु**—अनुपस्थित है। **वा**—अथवा। **उवरयदंडेसु**—जो मन-वचन और काया के दड से उपरत है। **वा**—अथवा जो। **अणुवरयदडेसु**—दड से उपरत नही है। **वा**—अथवा। **सोवहिएसु**—जो उपाधि से युक्त हैं। **वा**—अथवा। **अणोवहिएसु**—जो उपधि से रहित है। **वा**—अथवा। **सजोगरएसु**—माता-पिता के सयोग मे रक्त है। **वा**—अथवा। **असंजोगरएसु**—जो सयोग रत नहीं है—एकान्त भावना के ऊपर आश्रित है, इनके प्रति भगवान ने धर्मदेशना दी है। **एय**—वह। **तच्च**—सत्य है। **च**—नियमार्थ है। **तहा**—तथा। **चेयं**—एतद् वस्तु अहिसा धर्म। **अस्सिं**—इस मौनेन्द्र प्रवचन मे सम्यक् मोक्ष-मार्ग के विधान करने वाली। **चेयं**—यह शिक्षा। **पवुच्चइ**—प्रकर्ष से कही गई है।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू से कहते है कि हे आर्य! जिस प्रकार मेने भगवान के मुख से श्रवण किया है, उसी प्रकार मै तुम्हारे को कहता हूँ—जो अरिहत भगवन्त अतीत काल मे हो चुके है, वर्तमान काल में हैं, तथा आगामी काल मे होगे, वे सब इस प्रकार भाषण करते है, इस प्रकार कहते है, इस प्रकार प्रज्ञापित करते है, इस प्रकार प्ररूपण करते हैं—सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वो को न मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात्कार से पकडना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणापहार—उपद्रव करना चाहिए, यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है, लोक के दु खो का विचार कर खेदज्ञ पुरुषो ने इसका वर्णन किया है, जैसे कि जो अहिसा धर्म के सुनने के लिए उद्यत है अथवा अनुद्यत है, उपस्थित है, वा अनुपस्थित है, मन-वचन और काय रूप दण्ड से उपरत है वा अनुपरत है, सोपधिक है अथवा उपधि रहित है, संयोग मे रत है वा सयोग से उपरत है, इन सबको अहिंसा रूप धर्म सुनाना चाहिए। कारण यह कि धर्म सत्य है, मोक्ष-प्रदाता है, जैनागम में इस अहिसानिष्ठ धर्म का प्रकर्ष रूप से वर्णन किया गया है। अत. प्रत्येक साधक को इस शुद्ध एव शाश्वत धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

जैन धर्म के मूल उद्देश्य को समझने के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। अहिसा की निष्ठा का इससे अधिक वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें बताया गया है कि अतीत, अनागत एव वर्तमान तीनो काल में रहने वाले समस्त तीर्थकरो का यही उपदेश रहा है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव एव सत्त्व की हत्या नहीं करनी चाहिए, उन्हे पीडा और सन्ताप नही देना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। इसके आचरण से जीव दुर्गति के द्वार को बन्द करके सुगति या मोक्ष की ओर बढता है, आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होता है। इसलिए वृत्तिकार ने अहिसा की इस महासाधना को दुर्गति के लिए अर्गला एव सुगति के लिए सोपान रूप बताया है[1]।

यह अहिसा धर्म सर्व प्राणिजगत के लिए हितकर है, कल्याणरूप है। इससे समस्त जीवो को शाति मिलती है, सबको आत्मविकास का सुअवसर मिलता है, इसलिए इसका समस्त प्राणियों को उपदेश देना चाहिए, भले ही, वे सुनने के इच्छुक हो या न हों, सुनने के लिए उपस्थित हों या न हो, मन-वचन-काय से संवृत्त हो या न हो, सासारिक उपाधि से मुक्त हो या न हो, धन-वैभव एवं परिवार से अनासक्त हो या न हो अथवा हम एक शब्द मे यो कह सकते है कि पापी एव धर्मी सभी व्यक्तियो को यह उपदेश देना चाहिए। अहिंसा का मार्ग सबके लिए समान रूप से खुला है। साधना के क्षेत्र मे ऊंच-नीच, अमीर-गरीब; धर्मी-अधर्मी का कोई भेद नहीं है। जीवन की श्रेष्ठता एव निकृष्टता बीते हुए जीवन से नही नापी जाती, प्रत्युत वर्तमान एव भविष्य के जीवन से नापी जाती है; अत. जब साधक जागृत होता है, सयम एवं अहिसा के पथ पर वढता है, तभी से उसके जीवन का विकास आरम्भ हो जाता है और वह विश्व के लिए वन्दनीय एव पूजनीय बन जाता है। अस्तु, अहिसा धर्म का सभी प्राणियो को समान भाव से उपदेश देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र मे यह वताया गया है कि तीनो काल मे होने वाले तीर्थकर इसी अहिसा धर्म का उपदेश देते है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म अनादि-अनन्त है। यह बात अलग है कि कुछ क्षेत्रो मे कुछ काल के लिए तीर्थकर एव तीर्थकरों का शासन नही होता। परन्तु महाविदेह क्षेत्र मे हर समय तीर्थकरो का शासन रहता है। अत. कर्मभूमि मे धर्म की सरिता सदा बहती रहती है और धर्म का आधार अहिंसा है,

1 दुर्गत्यार्गलासुगतिसोपानदेश्य। —आचाराग वृत्ति

क्योकि अन्य व्रत, नियम एव साधना इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है और इससे प्रत्येक प्राणी को शांति मिलती है। साधक के मन मे भी शांति का सागर ठाठे मारता रहता है। मन में संकल्प-विकल्प एव कलुषता को पनपने का अवसर ही नही मिलता। इस कारण अहिसा को धर्म का प्राण कहा गया है और धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक काल मे होने वाले तीर्थकर सर्व क्षेमकरी अहिंसा का उपदेश देते है।

अत साधक को अहिंसा धर्म पर श्रद्धा रखना चाहिए। श्रद्धा के बाद वह क्या करे, इसको स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं, जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्सेसणं चरे॥128॥

छाया—तदादाय न गोपयेत्, न निक्षिपेत् ज्ञात्वा धर्म यथा-तथा दृष्टैः निर्वेदं गच्छेत्, नो लोकस्यैषण चरेत्।

पदार्थ—**तं**—सम्यग्दर्शन को। **आइत्तु**—स्वीकार करके। **न निहे**—उसका गोपन न करे। **न निक्खिवे**—न उसका परित्याग करे। **धम्मं**—धर्म को। **जहा-तहा**—यथार्थ रूप से। **जाणित्तु**—जानकर। **दिट्ठेहिं**—इष्ट या अनिष्ट रूप आदि मे। **निव्वेयं**—वैराग्य भाव। **गच्छिज्जा**—धारण करे। **नो लोगस्सेसणं चरे**—परन्तु, लोकैषणा को ग्रहण न करे।

मूलार्थ—सम्यक्त्व को स्पर्श करने के बाद उसकी आराधना मे अपनी शक्ति का गोपन नही करना चाहिए और मिथ्यात्व के प्रवाह मे बहकर उसका परित्याग भी नही करना चाहिए। इष्ट-अनिष्ट, रूप-रस आदि मे वैराग्य भाव रखे, अर्थात् उनमें आसक्त न बने, न प्रिय वस्तु पर राग करे और न अप्रिय पदार्थ पर द्वेष रखे और लोकेषणा—श्रद्धा-विहीन लोगो का अनुकरण करके इष्ट वस्तु को उपादेय एव अनिष्ट वस्तु को हेय बुद्धि से ग्रहण न करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा मे निष्ठा—श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को दृढ शब्दों में कहा गया है कि वह अपनी शक्ति श्रद्धा को दृढ बनाने एव उसके अनुरूप आचरण करने

मे लगावे। सम्यक्त्व का विस्तार करने मे कभी भी शक्ति का गोपन न करे और उसका परित्याग करने की भी न सोचे। सम्यक्त्व का प्रकाश धुधला न पड जाए। इसके लिए उसे उसके अतिचारो—दोषो से बच कर रहना चाहिए। लोकैषणा भी जीवन को गिराने वाली है। लोकैषणा से यहा पुत्र, धन, काम-भोग, विषय-वासना, विलासिता आदि की इच्छा-कामना समझनी चाहिए। यह विषयेच्छा कर्म-बन्ध एव दु खो की परम्परा को बढाने वाली है। अत मुमुक्षु को लोकैषणा से निवृत्त होना चाहिए।

जिस व्यक्ति के जीवन मे लोकेषणा नही होती, उसके मन मे कुमति भी नही होती है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो-पुणो जाइं पकप्पंति॥129॥

छाया—यस्य नास्ति इयं ज्ञाति· तस्यान्या कुतः स्याद्? दृष्टं श्रुतं मत विज्ञातं यदेतत् परिकथ्यते शाम्यन्तः प्रलीयमानाः पुन· पुन· जातिं प्रकल्पयन्ति।

पदार्थ—जस्स—जिस मुमुक्षु पुरुष के मन मे। **इमा**—यह। **जाई**—जाति-लोकैपणा बुद्धि। **नत्थि**—नही है। **तस्स**—उसके। **अण्णा**—सावद्य प्रवृत्ति। **कओ**—कहा से। **सिया**—हो। **दिट्ठं**—देखा हुआ। **सुय**—सुना हुआ। **मय**—माना हुआ। **विण्णायं**—विशेषता से जाना हुआ। **जं**—जो। **एय**—यह। **परिकहिज्जइ**—मेरे द्वारा कहा जाता है, अर्थात् जो कुछ मै कहता हू वह सब सर्वज्ञोक्त है तथा जो सर्वज्ञोक्त कथनानुसार क्रिया नही करते, उनकी जो दशा होती है, अब उसके विषय मे कहते है—**समेमाणा**—भोगो मे आसक्त एव। **पलेमाणा**—मनोज्ञ इन्द्रियो के अर्थ मे मूर्च्छित होते हुए। **पुणोपुणो**—बार-बार। **जाइं**—एकेन्द्रियादि जातियो मे। **पकप्पन्ति**—परिभ्रमण करते है।

मूलार्थ—जिसको यह लोकैषणा नही है, उसको अन्य-सावद्य-रूप प्रवृत्ति कहा से हो सकती है? जो यह कहा जाता है कि वह सर्वज्ञो द्वारा देखा हुआ, सुना हुआ, माना हुआ और विशेषता से जाना हुआ है, कि जो जीव लोकैषणा के त्यागी नही

है, वे अत्यन्त आसक्ति रखने वाले मूर्च्छित और इन्द्रियों के अर्थो में लीन होते हुए बार-बार एकेन्द्रियादि जाति मे परिभ्रमण करते है।

हिन्दी-विवेचन

विषयेच्छा से मन मे पाप-भावना उद्‌बुद्ध होती है और उस तृष्णा एव आकांक्षा को पूरी करने के लिए मनुष्य आरम्भ-समारम्भ मे प्रवृत्त होता है। अत जिस व्यक्ति के मन मे भोगेच्छा नही होती है, विषयो की तृष्णा एवं आकाक्षा नही रहती है, उसके मन मे पाप-भावना भी नही जागती और परिणामस्वरूप वह सावद्य कार्य में प्रवृत्त भी नही होता। इससे स्पष्ट है कि लोकेषणा, विषयेच्छा ही पाप एव सावद्य कार्य का कारण हे। ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा-जाना है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस मार्ग मे सन्देह का अवकाश नहीं है। अत· साधक को लोकैषणा का त्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति विषयेच्छा का त्याग नही करते, रात-दिन भोगो मे आसक्त रहते है, वे पाप-कर्मो का बन्ध करते है और परिणामस्वरूप एकेन्द्रिय आदि योनियो मे परिभ्रमण करते रहते है। इस प्रकार वे दु ख के प्रवाह मे बहते रहते हे।

ससार की यथार्थ स्थिति को जानकर मनुष्य को इन दु खो से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार का प्रयत्न करे। इस का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि, त्तिबेमि॥130॥

छाया—अहश्च रात्रि च यतमानः धीरः सदागतप्रज्ञान· प्रमत्तान् बहि· पश्य! अप्रमत्तः सन् सदा पराक्रमेथाः।

पदार्थ—अहो—दिन। **य**—और। **राओ**—रात्रि। **य**—समुच्चयार्थ मे। **जयमाणे**—यत्न करता हुआ। **धीरे**—धैर्यवान पुरुष। **सया**—सदा। **आगयपण्णाणे**—जिसको विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है। **बहिया पमत्ते**—धर्म से बाहर प्रमादी लोगो को। **पास**—तू देख, और। **अप्पमत्ते**—अप्रमादी होकर। **सया**—सदा—उपयोग पूर्वक। **परिक्कमिज्जासि**—सयम-पालन मे पुरुषार्थ कर। **तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूॅ।

मूलार्थ—जिस साधक को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह धैर्यवान यत्न-पूर्वक सदा मोक्ष-मार्ग की साधना मे सलग्न रहता है। हे आर्य! तू प्रमादी जीवो की स्थिति को देख! जो रात-दिन धर्म से बाहर विषयो मे आसक्त है, उन्हें देखकर, तू स्वयं प्रमाद का त्याग करके विवेकपूर्वक सयम-साधना में पुरुषार्थ कर, ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया है। अप्रमत्त व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह बाह्य कष्टो से घबराकर संयम-मार्ग का त्याग नही करता, अपितु धैर्यपूर्वक कष्टो को सहन कर लेता है। भयकर परीषह भी उसके मन को विचलित नही कर सकते, क्योकि उसकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। आत्मसाधना मे तल्लीन वह साधक बाहरी जीवन को भूल जाता है। उसे सुख-दु:ख का सवेदन नही होता।

प्रमादी जीव की स्थिति इससे विपरीत है। उसकी दृष्टि शरीर एव भौतिक पदार्थो पर लगी रहती है। वह रात-दिन शरीर को शृङ्गारने, परिपुष्ट बनाने एव भौतिक सुखो की अभिवृद्धि करने का उपाय ढूंढता रहता है। उसका चिन्तन एवं प्रयत्न वाह्य सुखो को बढाने तक ही सीमित रहता है। इसलिए वह अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए दूसरो के स्वार्थ को, सुख को लूटने लगता है। इसलिए उसके जीवन को धर्म से बाहर कहा गया है और साधक को सावधान किया गया है कि वह प्रमादी के आरम्भमय जीवन एव उसके दु:खद परिणाम को जानकर उससे बचने का प्रयत्न करे, अर्थात् अपनी शक्ति सयम-साधना मे लगाए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे सम्यक्त्व—श्रद्धा का विवेचन किया गया है। उसका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व है। अत· मिथ्यात्व के हटने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और मिथ्यात्व का नाश सम्यग्ज्ञान से होता है। अत प्रस्तुत उद्देशक मे सम्यग्ज्ञान का वर्णन किया गया है।

ससार-परिभ्रमण का कारण बन्ध है और संसार-समाप्ति का कारण सवर एव निर्जरा है। इसलिए साधक को इस बात का बोध अवश्य होना चाहिए कि किस भावना से बन्ध होता है और किस से वन्ध रुकता है, अर्थात् सवर की साधना सधती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा से आसवा। जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा। एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं॥131॥

छाया—ये आस्रवाः ते परिस्रवा·, ये परिस्रवाः ते आस्रवा·। ये अनास्रवा ते अपरिस्रवाः ये अपरिस्रवा· ते अनास्रवा·। एतानि पदानि संबुध्यमानः लोक च आज्ञयाप्यभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम्।

पदार्थ—**जे**—जो। **आसवा**—आस्रव-कर्मबन्ध के स्थान है। **ते**—वे ही। **परिस्सवा**—निर्जरा के भी स्थान है। **जे**—जो। **परिस्सवा**—निर्जरा के स्थान है। **ते**—वे ही। **आसवा**—आस्रव के भी स्थान है। **जे**—जो। **अणासवा**—सवर के स्थान है। **ते**—वे। **अपरिस्सवा**—कर्म-आगमन के स्थान भी हैं। **जे**—जो। **अपरिस्सवा**—कर्म-आगमन के स्थान है। **ते**—वे **अणासवा**—सवर के भी स्थान है। **एए पए**—इन पदों के अर्थ को। **संबुज्झमाणे**—समझते हुए। **च**—और। **लोयं**—लोक के स्वरूप को। **अभिसमिच्चा**—विचार कर। **आणाए**—भगवान की आज्ञा से—भगवान के

उपदेशानुसार। **पुढो**—अलग-अलग जीव, अजीव, कर्म-बन्ध-सवरादि स्थानो का। **पवेइय**—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—जो आस्रव के स्थान हैं, वे निर्जरा के भी स्थान हैं, जो निर्जरा के स्थान है, वे कर्म-बन्ध के भी स्थान है। जो व्रतो के स्थान हैं वे कर्म आगमन के स्थान भी है और जो कर्म-आगमन के स्थान है, वे व्रतो के भी स्थान हैं। इन पदों को समझकर तथा भगवान की आज्ञा के अनुसार लोक के स्वरूप का विचार करके कर्मबन्ध एव उनकी निर्जरा आदि के स्थानो का अलग-अलग वर्णन किया है।

हिन्दी-विवेचन

आस्रव एवं सवर के लिए स्थान एव क्रिया की अपेक्षा भावना का मूल्य अधिक है। जो स्थान कर्मबन्ध का कारण है, वही स्थान विशुद्ध भावना वाले साधक के लिए निर्जरा, सवर एव सयम-साधना का कारण बन जाता है। जो स्थान निर्जरा, सवर एव साधना का सुरम्य स्थल है, वह परिणामो की अशुद्धता के कारण कर्मबन्ध का कारण वन जाता है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मनुष्यलोक मे कोई भी स्थान ऐसा नही है कि जहा आस्रव, बध, सवर एव निर्जरा की साधना नही की जा सकती है। भावना के परिवर्तित होते ही आस्रव का स्थान सवर-साधना का स्थान वन जाता है और सवर की साधना-भूमि आस्रव का स्थान ग्रहण कर लेती है। तो आस्रव एव सवर भावना—परिणामो की अशुद्ध एव विशुद्ध भावना पर आधारित है। इस चतुर्भगी को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है।

1—सम्यग्दृष्टि साधक जब वैराग्य-भाव से आत्म-चिन्तन मे गोते लगाने लगता है, तो उस समय आस्रव—कर्मबन्ध का स्थान भी उसके लिए सवर या निर्जरा का साधनास्थल बन जाता है। भरत चक्रवर्ती शीशमहल में शृगार करने गये थे। शृंगार करने के अनन्तर अकस्मात् उनकी उंगली की मुद्रिका गिर पडी। सारा शृगार फीका सा लगने लगा। वस, भावना परिवर्तित हो गई। बाह्य सजावट में लगा हुआ ध्यान आत्म-चिन्तन को ओर मोड खा गया और धीरे-धीरे शरीर से शृगार का आवरण हटने लगा और उसके साथ ही आत्मा से कर्म का आवरण भी हटता गया और परिणामस्वरूप वही शीशमहल मे भरत को निरावरण केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

2—अज्ञानी व्यक्ति दुर्भावना के वश निर्जरा के स्थान में पापकर्म का बन्ध कर

लेता है। एक दिन नागश्री ब्राह्मणी ने भूल से ककडी के स्थान मे कडवे तुम्बे की सब्जी बना ली। जब चाखने पर उसे तुम्बे की कटुता का ज्ञान हुआ तो उसने उसे एक ओर रख दिया और तुरन्त दूसरी सब्जी बना ली। कुछ देर पश्चात् एक-एक महीने की तपस्या करने वाले धर्मरुचि मुनि उसके यहा भिक्षार्थ आए और तब नागश्री ने उस तुम्बे को फेकने के लिए बाहर जाने के कष्ट से बचने तथा घर वालो से अपने अज्ञान को छिपाने के लिए सारी सब्जी मुनि के पात्र मे डाल दी। मुनि को दिया जाने वाला दान यद्यपि निर्जरा का कारण था। परन्तु उसके दुष्ट परिणामो के कारण वह नागश्री के कर्मबन्ध का कारण बन गया।

3--जो अनास्रव—व्रत विशेष या सयम-साधना सवर एव निर्जरा का स्थान है, वह साधना के सुरम्य भाव स्थल मे स्थिर होकर साधक सारे कष्टो को नष्ट कर देता है। परन्तु भावना की अस्थिरता एव अविशुद्धता के कारण व्यक्ति निर्जरा के स्थान मे कर्मबन्ध कर लेता है। कुण्डरीक राजर्षि का उदाहरण इसी गिरावट का प्रतीक है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे वासना के प्रवाह मे बह गए और रात-दिन उसी के चिन्तन मे लगे रहे। एक दिन वेष त्याग कर फिर से राजसुख भोगने लगे और अति भोग के कारण भयकर व्याधि से पीडित होकर तीन दिन मे काल करके सातवी नरक मे जा पहुचे। जो सयम कर्मनिर्जरा का स्थान था, परन्तु भावना मे विकृति आते ही वह कर्मवन्ध का स्थान बन गया।

4—जो पापकर्म के स्थान है, शुभ अध्यवसायो के कारण वे निर्जरा के स्थान बन जाते है, चिलायनी पुत्र बास पर नाटक कर रहा है। निकट भविष्य में उसकी पत्नी होने वाली कन्या ढोलक बजा रही थी। दर्शक उसके नृत्य-कौशल को देखकर वाह-वाह पुकार रहे थे, परन्तु राजा का ध्यान नट के नृत्य पर नही, अपितु उस कन्या पर लगा हुआ था। राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया था। वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। इसलिए वह चाहता था कि किसी प्रकार यह नट नीचे गिर कर समाप्त हो जाए तो इस कन्या को मै अपने अधिकार मे कर लूं। उधर वह नट राजा को प्रसन्न करके धन पाने के लिए बार-बार वास पर चढ-उतर रहा था। फिर भी उसे पारितोषक नही मिल रहा था। इतने मे पास के घर मे एक मुनि को भिक्षा लेते देख कर उसकी भावना मे परिवर्तन आया, और परिणामस्वरूप धन एव भोग-विलास की

आकाक्षा त्याग में बदल गई। कर्मबन्ध का वह स्थान निर्जरा का कारण बन गया। यह सब भावो का चमत्कार है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्मबन्ध एव निर्जरा में भावो की प्रमुखता है। परन्तु यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से भावो के साथ स्थान एवं क्रिया का भी मूल्य है। परिणामो की विशुद्ध एवं अशुद्ध धारा को प्रत्येक व्यक्ति देख नही सकता। परन्तु अल्प बुद्धि व्यक्ति भी व्यवहार को भली-भांति जान लेता है। भावों के साथ स्थान एवं व्यवहार-शुद्धि को भी भुला नही देना चाहिए। क्योंकि धर्मस्थान एव धर्मनिष्ठ व्यक्तियो की सगति का भी जीवन पर प्रभाव होता ही है। संयति राजा शिकार खेलने गया था और अपने बाण से एक मृग को घायल भी कर दिया था, परंतु वहीं मुनि से वोध पाकर संसार से विरक्त हो गया, मुनि बन गया। इस प्रकार जीवन को मांजने एव विचारों को नया मोड देने मे संतो का, शास्त्रो का एव धर्मस्थानो का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। या हम यो कह सकते है कि व्यवहार शुद्धि के पथ से हम निश्चय दृष्टि से भी भावो की शुद्धि के सुरम्य स्थल तक पहुच जाते है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'जे आसवा ते परिस्सवा ' इत्यादि पाठ मे 'आसवा' से आस्रव स्थान, 'परिस्सवा' से निर्जरा के स्थान, 'अणासवा' से व्रत विशेष और 'अपरिस्सवा' से कर्मबन्ध के स्थान विशेष समझना चाहिए।

जीव भावो के द्वारा बन्ध के स्थान को निर्जरा का एव निर्जरा के स्थान को बन्ध का कारण वना लेता है। आस्रव और निर्जरा के स्थान पृथक्-पृथक् है। आस्रव में भी आठो कर्म के आठों स्थान भिन्न हैं और इसी प्रकार आठों कर्मो को रोकने वाले सवर एव क्षय करने वाले निर्जरा स्थान भी भिन्न-भिन्न है। अत· मुमुक्षु पुरुष को आस्रव, सवर एव निर्जरा के स्वरूप को भली-भाति जानकर भगवान की आज्ञा के अनुसार भावो को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए[1]।

प्रबुद्ध पुरुष भी अपने उपदेश द्वारा आर्त एव प्रमत्त जीवों को जगाते रहते है। वे किस प्रकार का उपदेश देते है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–

---

1 आचाराग वृत्ति

मूलम्—आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं त्तिबेमि, नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा-पणीया वंकानिकेया कालगहीया निचयनिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति॥132॥

छाया—आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां सम्बुध्यमानाना विज्ञानप्राप्तानामार्त्ता अपिसन्तः अथवा प्रमत्ताः यथा सत्यमिदमिति ब्रवीमि, नानागमो मृत्युमुखस्यास्ति इच्छा प्रणीताः वकानिकेताः कालगृहीताः निचयनिविष्टाः पृथक् पृथग् जातिं प्रकल्पयन्ति।

पदार्थ—नाणी—ज्ञानी। **इह**—इस प्रवचन मे वा ससार में। **माणवाणं**—मनुष्यों को। **संसार पडिवण्णाणं**—ससार प्रतिपन्नो को। **संबुज्झमाणाणं**—जो सम्यग् प्रकार से बोध को प्राप्त हुए है, उनको—**विण्णाण पत्ताणं**—विज्ञान प्राप्तो को। **अट्टाविसता**—किसी प्रकार से आर्त हुओ को। **अदुवा**—अथवा। **पमत्ता**—विषयो मे निमग्न चित्त वालो को। **आघाइ**—धर्म को कहता है। **सच्चमिणं**—यह विषय सत्य है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं। **अहा**—जैसे दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र के विषय मे प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योकि। **नाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि**—ऐसा नही है कि मृत्यु के मुख मे कोई जीव नही आएगा, अपितु अवश्य ही आएगा। **इच्छापणीया**—इच्छा के वश होकर ससाराभिमुख हुए। **वकानिकेया**—असयम के आश्रयभूत। **कालगहीया**—काल से। **गृहीत**—पकडे हुए। **निचय निविट्ठा**—कर्म के निचय मे निविष्ट। **चित्त**—सावद्य कर्म के करने मे अत्यन्त आसक्त। **पुढो-पुढो**—पृथक्-पृथक्। **जाइ**—एकेन्द्रियादि जाति को। **पकप्पयंति**—प्रकल्पन करते है, अर्थात् एकेन्द्रियादि विभिन्न जातियो मे परिभ्रमण करते है।

मूलार्थ—प्रबुद्ध—ज्ञानी पुरुष इस ससार मे ससार-प्रतिपन्न, बोध एव विज्ञान का ज्ञाता, आर्त्त और प्रमत्त मनुष्यो को कहता है कि तुम्हे धर्म-परिपालन या सयम-साधना मे कभी भी प्रमाद नही करना चाहिए। क्योकि यह कथन सत्य नही है कि ससारी जीव मृत्यु के मुख मे नही जाता अथवा वह अवश्य मरता है, और इच्छा-आकांक्षा एवं असयम मे सलग्न संसाराभिमुख व्यक्ति आरम्भ-समारभ मे

आसक्त होकर बार-बार जन्म-मरण करता है, एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियो मे परिभ्रमण करता रहता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि प्रबुद्ध पुरुष आर्त्त एवं प्रमादी जीवो को सयम-साधना मे संलग्न रहने के लिए सदा प्रेरित करता रहता है। परन्तु साथ मे यह भी बता दिया है कि उपदेश का प्रभाव उन्ही जीवो पर पडता है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त है। वस्तुत आत्म-स्वरूप को जानने या जानने की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति ही उपदेश को सुनकर आचरण मे ला सकते है। कभी-कभी परिस्थितिवश ज्ञानी व्यक्ति भी भटक जाते है, परन्तु फिर से निमित मिलने पर वे साधना के पथ पर चल पडते है। चिलायति पुत्र जैसे हिसक मानव एव शालिभद्र जैसे काम-भोगों मे आसक्त व्यक्ति भी प्रबुद्ध पुरुष का सकेत पाकर अपने जीवन को बदलने मे देर नही करते।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अत्यन्त दु.खी एव अत्यधिक सुखी तथा मध्यम अवस्था के सभी पुरुष धर्मोपदेश के अधिकारी हैं। इसलिए प्रबुद्ध मानव प्रत्येक जीव को धर्मोपदेश देते रहते है कि ससार मे कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मृत्यु को प्राप्त न करता हो, अर्थात् सभी प्राणी मरते हैं। जो जीव नही मरते है, वे ससारी नही, अपितु सिद्ध हैं। ससारी जीव जब तक घातिकर्मो का क्षय नहीं कर लेता है, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह मे बहता रहता है; इसलिए मानव को कर्मक्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति इस ओर प्रयत्न न करके विषय-वासना मे आसक्त रहता है, ऐहिक एव भौतिक सुखों को बटोरने मे व्यस्त रहता है, वह पाप-कर्म का बन्ध करता है और परिणामस्वरूप एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियो में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को विषयेच्छा का त्याग करके सयम का परिपालन करना चाहिए।

क्योंकि जो विषयासक्त जीव दु.खो का सवेदन करते रहते हैं, वे प्राणी किस प्रकार की वेदना एव दु खों का सवेदन करते है, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिट्ठं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं

कम्मेहिं नो चिट्ठं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि नाणी, नाणी वयंति अदुवा वि एगे॥133॥

छाया—इहैकेषां तत्र तत्र संस्तवः भवति अधः औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, चिट्ठं—भृशं कर्मभिः क्रूरै· चिट्ठं-भृशम् परितिष्ठति अतिष्ठ क्रूरैः कर्मभिः नो तिष्ठं परितिष्ठति, एके-वदन्ति अथवापि ज्ञानी वदन्ति ज्ञानिनो अथवाप्येके।

पदार्थ—इह—इस ससार में। **एगेसिं**—कई एक—मिथ्यात्व। **अविरति**—प्रमाद और विषय कषायादि से युक्त। **तत्थ तत्थ**—उन नरकादि गतियो मे—यातनाओं के स्थानो मे। **संथवो**—सस्तव—बार-बार जाने से। **भवइ**—होता है। **अहोववाइए**—नीचे—नरकादि गतियो में उत्पन्न होने वाले। **फासे**—दु ख-रूप स्पर्श को। **पडिसंवेयंति**—प्रतिसवेदन करते है, अनुभव करते है, कारण कि। **चिट्ठं**—अत्यन्त। **कूरेहिं**—क्रूर। **कम्मेहि**—कर्मो के करने से। **चिट्ठं**—अत्यन्त। **परिचिट्ठइ**—दु ख स्थानो में स्थित होता है—ठहरता है किन्तु जो। **अचिट्ठं**—नहीं है। **कूरेहिं कम्मेहिं**—क्रूर कर्मो से युक्त तो फिर। **नो चिट्ठं परिचिट्ठइ**—अत्यन्त दु ख रूप स्थानों मे स्थित नहीं होता, नहीं ठहरता, इस प्रकार से। **एगे वयन्ति**—वे एक—चौदह पूर्व के पाठी कहते है। **अदुवावि**—अथवा। **नाणी**—केवल ज्ञानी। **अपि से**—श्रुत केवली। **वदति**—कहते है। **नाणी-वयन्ति**—ज्ञानी कहते है। **अदुवावि**—अथवा। **एगे**—कई एकश्रुत केवली भी इसी प्रकार भाषण करते है। तात्पर्य कि जिस भांति केवली भगवान कहते है, उसी भाति श्रुत केवली भी कहते है।

मूलार्थ—इस ससार मे कई एक अत्यन्त क्रूर कर्म करने वाले जीव नरक तिर्यक् आदि योनियो मे नाना प्रकार के दु-ख-रूप स्पर्शो का अनुभव करते है, अर्थात् अत्यन्त क्रूर कर्मो के फलस्वरूप चिरकाल तक नरक यातनाएं भोगते है, और जो इस प्रकार के क्रूर कर्मो का बन्ध नही करते है, वे अत्यन्त दु·ख-रूप स्थानो मे नही जाते, अर्थात् उनको नरक-यातनाएं भोगनी नही पडती। इस प्रकार कई एक अर्थात् केवली भगवान कहते है और श्रुत केवली भी ठीक इसी प्रकार कहते है तथा चतुर्दश पूर्व धारी जिस प्रकार उक्त विषय का समर्थन करते है, ठीक उसी प्रकार केवल ज्ञानी भी कहते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि प्रमादी जीव विषय-कषाय मे आसक्त रहता है। अपनी अतृप्त वासना को पूरी करने की भावना से अनेक जीवो को दु ख एव कष्ट देता है। अपने स्वार्थ को साधने के लिए अनेक प्राणियो का निर्दयतापूर्वक वध करता है। इस प्रकार क्रूर कर्म मे प्रवृत्त होकर पाप-कर्म का सग्रह करता है और परिणामस्वरूप नरक-तिर्यच आदि नीच योनियों मे जन्म लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे आरम्भ-समारम्भ आदि दोषो से भी बचे रहते हैं और परिणामस्वरूप नरक आदि गतियों की वेदना को भी नहीं भोगते।

इससे यह स्पष्ट होता है कि ससार-परिभ्रमण का कारण कर्म है। प्रमाद के आसेवन से पापकर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप नरक आदि योनियो मे महावेदना का सवेदन करना होता है। यह कथन सर्वज्ञ पुरुषों ने अपने निरावरण ज्ञान मे देखकर किया है और उसी के अनुरूप श्रुत केवलियो ने किया है। श्रुत-केवलियो की निरूपण शक्ति सर्वज्ञो जैसी ही है। अतः इस बात को मानने मे किसी प्रकार का सशय नहीं करना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि जब सर्वज्ञ एवं श्रुत केवली की तत्त्व-निरूपण शैली एक समान है, तब फिर सर्वज्ञता एव छद्मस्थता में क्या अन्तर रहा। इसका समाधान यह है कि सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण होता है। अत वे बिना किसी भी सहायक के स्वय अपनी आत्मा से लोक के समस्त पदार्थो को देखते-जानते है। परन्तु श्रुत केवली का ज्ञान निरावरण नही होता। वे सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो को हृदयगम करके उसी का उपदेश देते है। इसलिए उनका उपदेश सर्वज्ञ वचनो के सदृश होता है।

श्रुत केवली वाद-विवाद को मिटाने में समर्थ है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठ च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे-सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जा-वेयव्वा परियावेयव्वा

परिघित्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, तत्थ जे आरिआ ते एवं वयासी—से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियंदिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, ज णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पण्णवेह—सव्वे पाणा 4 हंतव्वा 5, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णावेमो-सव्वे पाणा 4 न हंतव्वा 1 न अज्जावेयव्वा 2 न परिघित्तव्वा 3 न परियावेयव्वा 4 न उद्दवेयव्वा 5, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं, त्तिबेमि॥134॥

छाया—यावन्त· केचन लोके श्रमणाश्च ब्राह्मणाश्च पृथक् पृथग् विवादं वदन्ति तद् दृष्टं च नः (अस्माभिः अस्माकंवा-) श्रुतं च नः मतं च नः, विज्ञातं च नः, ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सुप्रत्युपेक्षित च नः सर्वे प्राणाः सर्वे जीवा· सर्वे भूता· सर्वे सत्त्वाः हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परितापयितव्याः परिगृहतव्या· अपद्रापयितव्या· अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः अनार्य वचनमेतत् तत्र ये आर्याः ते एवमावादिषुः तद् दुर्दृष्टं च युष्माभिः दु·श्रुतं च युष्माभिः दुर्मत च युष्माभिः दुर्विज्ञातं च युष्माभिः ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः दुष्प्रत्युपेक्षित युष्माभि· यदेतत् यूयमेवमाचक्षध्वे एव भाषध्वे एवं प्ररूपयथ एव प्रज्ञापथ सर्वेप्राणाः 4 हन्तव्या· 5 अत्रापिजानीथ नास्त्यत्र दोषोऽनार्यवचन-मेतत् वयं पुनरेवम् आचक्षामहे एवं भाषामहे एवं प्ररूपयामः एव प्रज्ञापयामः सर्वे प्राणा· 4 न हन्तव्या 1 न आज्ञापयितव्याः 2 न परिगृहीतव्या· 3 न परितापयितव्याः 4 न अपद्रापयितव्याः 5 अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः आर्यवचनमेतत् पूर्व निकाच्य समयं प्रत्येकं-प्रत्येकं प्रश्नयिष्यामि भो प्रवादुका·! किं युष्माकं सात दुःखं उतासातम्? सम्यक् प्रतिपन्नान् चापि एवं ब्रूयात्

सर्वेषां प्राणिनां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानाम् असातम् अपरिनिर्वाणं महद्भयं दु:खमिति इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**आवन्ति**—जितने। **केयावन्ति**—कितने एक। **लोयंसि**—लोक मे। **समणा**—श्रमण। **य**—और। **माहणा**—ब्राह्मण। **य**—समुच्चयार्थक है। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **विवादं**—विवाद को। **वयन्ति**—कहते है। **से**—जो मैने। **दिट्ठं**—देखा है। **च**—शब्द उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है। **णे**—हमने। **सुयं**—सुना है। **णे**—हमने। **मयं**—माना है। **णे**—हमने। **विण्णायं**—जाना है। **णे**—हमने। **उड्ढं**—ऊंची। **अहं**—नीची। **तिरिये**—तिर्यक्। **दिसासु**—दिशाओं मे। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सुपडिलेहियं**—सुष्ठु प्रकार से पर्यालोचन किया है। **णे**—हमने वा हमारे तीर्थकरो ने। **च**—प्राग्वत् जानना चाहिए। **सव्वे**—सब। **पाणा**—प्राणी। **सव्वेजीवा**—सब जीव। **सव्वे भूया**—सब भूत। **सव्वेसत्ता**—सब सत्त्व। **हंतव्वा**—हनन करने चाहिए। **अज्जावेयव्वा**—उनसे आज्ञा से काम कराना चाहिए। **परियावेयव्वा**—उन्हे परिताप देना चाहिए। **परिघेत्तव्वा**—उन्हे पकडना चाहिए। **उदवेयव्वा**—उन्हे मरणान्त कष्ट देना चाहिए। **परिघेत्तव्वा**—उन्हे पकडना चाहिए। **उदवेयव्वा**—उन्हे मरणान्त कष्ट देना चाहिए। **इत्थावि**—धर्म चिन्ता मे वा यज्ञादि मे। **जाणह**—समझो। **नत्थित्थदोसो**—यहा पर, अर्थात् यज्ञादि के लिए पशुओ के मारने में कोई दोष नही है। **अणारियवयणमेय**—पापानुबन्धी होने से यह कथन अनार्यो का है। **तत्थ**—वाक्योपन्यास अथवा निर्धारण मे जानना, वहा पर। **जे**—जो। **आयरिया**—आर्य है। **ते**—वे। **एव**—इस प्रकार। **वयासी**—कहते है। **से भे दुदिट्ठ**—यह तुम्हारा देखना दुष्ट है। **च**—उत्तरापेक्षी वा समुच्चयार्थक है। **भे दुस्सुयं**—तुम्हारा यह सुनना मिथ्या है। **च**—पुन:। **भे दुम्मयं**—तुम्हारा यह मानना मिथ्या है। **भे दुब्विण्णाय**—तुम्हारा यह विज्ञान विशेप रूप मे ज्ञात भी—मिथ्या है दुर्विज्ञात है। **च**—प्राग्वत्। **भे**—आपके द्वारा। **उड्ढ**—ऊची। **अहं**—नीची। **तिरिय**—तिर्यक्। **दिसासु**—दिशाओ मे। **सव्वओ**—सब प्रकार से। **दुप्पडिलेहियं**—दुष्प्रतिलेखित वा दुष्प्रत्युपेक्षित है। **च**—और। **भे**—आपने। **णं**—वाक्यलकार मे। **ज**—जो वक्ष्यमाण। **तुब्भे**—तुम लोग। **एवं**—इस प्रकार। **आइक्खह**—कहते हो। **एवं**—इस भाति। **भासह**—भाषण करते हो। **एवं**—इस भाति। **परूवेह**—प्ररूपण करते हो। **एवं**—इस भांति। **पण्णावेह**—प्रज्ञापन करते हो।

सव्वेपाणा 4–सब प्राणी-भूत जीव और सत्त्व। **हंतव्वा 5**–मारने चाहिए, आज्ञा द्वारा उनसे काम लेना चाहिए, परिताप देना चाहिए, पकडना चाहिए और मरणात कष्ट देना चाहिए। **इत्थवि**–इन यज्ञादि में। **जाणह**–जान लो। **नत्थित्त्थ दोसो**–इन क्रियाओ मे कोई दोष नही है। **अणारिय वयणमेयं**–हिंसा युक्त होने से–यह सब अनार्य वचन है। **वयं**–हम। **पुण**–फिर। **एवं**–इस प्रकार। **आइक्खामो**–कहते है। **एव**–इस प्रकार। **भासामो**–भाषण करते है। **एवं**–इस प्रकार। **परूवेमो**–प्ररूपण करते है। **एवं**–इस प्रकार। **पण्णवेमो**–प्रज्ञापन करते है। **सव्वेपाणा 4**–सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व। **न हतव्वा**–नही मारने चाहिए। **न अज्जावेयव्वा**–उनसे बलात् काम नही लेना चाहिए। **न परि घित्तव्वा**–नही पकडना चाहिए। **न परियावेयव्वा**–उन्हें परिताप नही देना चाहिए। **न उद्दवेयव्वा**–न ही मरणात कष्ट देना चाहिए। **इत्थवि**–इस स्थान पर भी तुम। **जाणइ**–जान लो। **नत्त्थित्त्थ दोसो**–इस अहिसा रूप क्रिया मे कोई दोष नही। **आयरिय-वयणमंये**–यह आर्यवचन है। **पुव्व**–पहले। **समयं**–आगम की। **निकाय**–व्यवस्था करके फिर। **पत्तेय पत्तेय**–प्रत्येक को। **पुच्छिस्सामि**–पूछूगा। **हंभो पवाइया**–हे प्रवादको, वादिलोगो! **किं**–क्या। **भे**–आपको। **साय दुक्खं असायं**–साता मे दु ख है कि वा असाता मे? अथवा दु ख यह साता रूप मन को प्रसन्न करने वाला है या मन के प्रतिकूल असाता रूप है? दु ख को साता रूप मानना लोक, आगम और अनुभव के विरुद्ध है और यदि असाता रूप कहे तब तो इस प्रकार से। **समियापडिवण्णेयावि**–यथार्थता को प्राप्त होने वाले यथार्थ कहने वाले उन वादियों के प्रति। **एवं**–इस प्रकार। **वूया**–कहना चाहिए। **सव्वेसिं पाणाणं**–सब प्राणियो को। **सव्वेसिं भूयाण**–सर्व भूतो को। **सव्वेसिंजीवाणं**–सर्व जीवो को। **सव्वेसिसत्ताणं**–सर्व सत्त्वो को। **असायं**–असाता। **अपरिनिव्वाणं**–अनिर्वृत्ति रूप। **महब्भय**–महान भय है। **दुक्ख**–दु ख रूप है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ–इस लोक मे जितने मनुष्य है, उनमें कितने एक श्रमण और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् विवाद करते हुए इस प्रकार कहते है–हम ने देख लिया है, सुन लिया है, मान लिया और जान लिया है; इतना ही नही, किन्तु ऊर्ध्व-अध· और तिर्यगादि सभी दिशाओ मे भली-भाति पर्यालोचन कर लिया है कि सभी प्राणी, सभी भूत,

सभी जीव और सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते, हनन करने चाहिए), उनसे बलात् काम लेना चाहिए, उनको परिताप देना चाहिए, उनको पकडना और मरणान्त कष्ट पहुचाना चाहिए, धार्मिक क्रियानुष्ठान के सम्पादनार्थ इस काम मे कोई दोष नही है, परन्तु यह अनार्य वचन है, अर्थात् जो आर्य नही, यह उनका कथन है, और जो आर्य है, वे इस प्रकार कहते हैं कि तुमने भली प्रकार से नही देखा, भली प्रकार से नही सुना, भली प्रकार से नही माना, भली प्रकार से नही जाना, और तुमने ऊंची, नीची और तिरछी आदि सभी दिशाओ मे भली प्रकार से पर्यालोचन भी नहीं किया। जो कि तुम इस प्रकार कहते हो, इस प्रकार भाषण करते हो, इस प्रकार प्ररूपण करते हो और इस प्रकार प्रज्ञापन करते हो कि—सर्व प्राणी, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व (यज्ञादि के वास्ते मारने चाहिए), जान लो कि इसमे कोइ दोष नही? परन्तु यह कथन अनार्यो का है, आर्यो का नही? और जो हम आर्य हैं, वे इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार भाषण करते, इस प्रकार प्ररूपणा और प्रज्ञापना—करते है कि सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव और सभी सत्त्व न तो मारने चाहिए, न उनसे बलात् काम कराना चाहिए, न उन्हें सन्ताप देना चाहिए एव न उन्हे पकडना और न उन पर उपद्रव करना चाहिए। यहा पर भी जान लो, समझ लो कि इस काम मे कोई भी दोष नही है। यह आर्य वचन हे, अर्थात् आर्य पुरुषों का कथन है जो कि निर्दोष है। हे प्रवादियो! तुम पहले अपना समय—आगम विहित सिद्धात स्थापित करो, फिर मै तुम से प्रत्येक को पूछूगा कि दु ख साता मे है या असाता मे? यदि कोई इसका यथार्थ उत्तर दे कि दु.ख असाता मे है साता मे नही तो उनके प्रति इस प्रकार कहना चाहिए कि सब प्राणियो को, सब भूतो को, सब जीवो और सब सत्त्वो को असाता, अनिर्वृत्ति रूप है, महा भय रूप है और महादु.ख रूप है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे आर्य-अनार्य या सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का स्पष्ट एव सरस विवेचन किया गया है। दुनिया में अनेक विचारक है। परन्तु तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान न होने से उन सबकी विचारधाराएं परस्पर टकराती हैं। इसलिए श्रमण-बौद्ध, साख्य आदि मत के भिक्षु और ब्राह्मणो—वैदिक धर्म को मानने वालों का परस्पर संघर्ष होता रहता है।

भागवत के मानने वालो का कहना है कि 25 तत्त्वो का परिज्ञान कर लेने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा सर्वव्यापी, निष्क्रिय निर्गुण और चेतन है, ससार मे निर्विशेष सामान्य ही एक तत्त्व है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि द्रव्य आदि 6 पदार्थो का ज्ञान कर लेने से मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा समवाय, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणो से युक्त है और सामान्य एव विशेष दोनो परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

बौद्ध विचारको ने आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। उनके विचार मे सभी पदार्थ क्षणिक है। आत्मा भी प्रतिक्षण नई-नई उत्पन्न होती है और पुरानी आत्मा का नाश होता रहता है। इस प्रकार वह अनित्य है, अशाश्वत है।

मीमासक सर्वज्ञ एव मुक्ति को नहीं मानते। कुछ विचारक पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पदार्थो को सजीव नही मानते। कुछ वनस्पति को निर्जीव मानते है। कुछ नास्तिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को ही नहीं मानते। कुछ लोगो का कहना है कि हमारे महर्षि सब जीवो को जानते है। उनका उपदेश है कि वेद-विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्टान मे किसी भी प्राणी का वध करना या उसके अगो का छेदन-भेदन करना दोषयुक्त नहीं है। उक्त क्रिया से उन जीवो का कल्याण होता है, उन्हे स्वर्ग आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है[1]। वेद-विहित यज्ञ मे की गई हिंसा हिसा नही है। वह मास अभक्ष्य नही, भक्ष्य है। जो व्यक्ति वह मास नहीं खाता है, वह प्रेत्य होता है[2]। श्राद्ध और मधुपर्क मे आमन्त्रित व्यक्ति यदि मास नही खाता है, तो वह मरकर 21 जन्म तक पशु होता है[3]। इस प्रकार वेद-विहित हिसा में पाप नही लगता। उसमे धर्म ही होता है।

---

1 यज्ञार्थ पशव सृष्ट' स्वयमेव स्वयभुवा, यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञेवधोऽवध.। औषध
य. पशवोवृक्षास्तिर्यञ्च पक्षिणस्तथा, यज्ञार्थ निधन प्राप्ता प्राप्नुवन्त्यसृती पुन ।
—मनुस्मृति, 5 38, 40

2 नियुक्तस्तु यथान्याय यो मास नात्ति मानव ,
स प्रेत्य पशुता यातिसभवानेक विशतिम्। —मनु, 5, 35

3. श्राद्धे मधुपर्के च यथान्यायनियुक्त सन् यो मनुष्यो मास न खादति स मृत सन् एकविशति जन्मानि पशुर्भवति।

उक्त कथन आर्यत्व का नहीं, अनार्यत्व का ससूचक है, क्योकि आर्य पुरुष किसी भी स्थिति मे हिसा मे धर्म नहीं मानते है। हिसा हिंसा ही है, वेद आदि धर्म-ग्रथों में उल्लेख होने मात्र से वह अहिंसा नही हो सकती। अपने स्वाद का पोषण करने एव स्वार्थ को साधने हेतु किसी प्राणी को मारना या परिताप देना पाप ही है। ऐसी स्थिति मे धर्म के नाम पर हिसा करना तो पाप ही नही, महापाप है, पतन की पराकाष्ठा है। धर्म सब प्राणियो का कल्याण करने वाला है, सब को शान्ति देने वाला है। उसके नाम पर जीवो को त्रास देना धर्म की हत्या करना है।

यह तो सूर्य के उजाले की भांति साफ है कि हिसा में धर्म नही है। धर्म वही है, जिसमे प्राणिमात्र के हित की भावना रही हुई है और ऐसी क्रिया मे हिसा आदि पाप कार्यो का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिए हिंसा आदि पाप-कार्यो से निवृत्त व्यक्ति ही आर्य हैं और वे ही मोक्ष-मार्ग पर चलने के अधिकारी है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कर्मबन्ध एवं निर्जरा तथा सवर के स्वरूप को बताया गया है। उसके ज्ञान के बाद यह जरूरी है कि कर्म के आगमन के द्वार को रोककर पूर्व बँधे हुए कर्मो की निर्जरा करके कर्मो का आत्यन्तिक क्षय किया जाए। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक मे निर्जरा के साधन—तप का उल्लेख किया गया है। सम्यग् ज्ञान पूर्वक किए गए तप से कर्म नष्ट होते है। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—उवेहि णं बहिया य लोग, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो॥135॥

छाया—उपेक्षस्व (ण) वहि लोक स सर्व-लोके ये केचिद् विज्ञाः अनविचिन्त्य पश्य निक्षिप्त दण्डा ये केचित् सत्त्वाः पलित—कर्म त्यजन्ति नराः मृताच्र्चा धर्मविदः इति ऋजवः आरम्भज दुखमिदमिति ज्ञात्वा एवमाहु· सम्यक्त्व दर्शिनः—समस्त दर्शिन· ते सर्वे प्रावादिका·दुखस्य कुशला परिज्ञा मुदाहरन्ति इति कर्म परिज्ञाय सर्वश·।

पदार्थ—ण—वाक्यालकार मे प्रयुक्त हुआ है। **लोगं**—अन्य धर्मावलम्बी व्यक्तियो को। **बहिया**—धर्म से बाहर आचरण करते देखकर। **उवेहि**—उपेक्षा करनी चाहिए। **से**—वह। **सव्वलोगंमि**—समस्त लोक मे। **जे**—जो। **केइ**—कोई—लोक मे विद्वान है, उनमे भी श्रेष्ठ। **विण्णू**—विद्वान हो जाता है। **अणुवीइ**—ऐसा विचार कर। **पास**—तू देख। **निक्खित दंडा**—जिन्हों ने दड को त्याग दिया है। **जे केइ**—जो कोई धर्म के ज्ञाता। **सत्ता**—प्राणी है, वे। **पलियं**—कर्म को। **चयति**—छोड देते हैं। **नरा—मनुष्य**

ही कर्म क्षय करने में समर्थ है। **मुयच्चा**—जो शरीर को शृंगारित नहीं करने वाला है, तथा कषाय विजेता है। **धम्मविउन्ति**—श्रुत और चारित्र रूप धर्म का ज्ञाता है। **अंजू**—सरल प्रकृति का है। **आरंभजं दुक्खमिणंति**—आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दु ख को। **णच्चा**--जानकर। **एवमाहु**—इस प्रकार कहते हैं। **संमत्तदंसिणो**—सम्यग्दृष्टि। **ते सव्वे पावाइया**—तथा वे सब यथार्थ वक्ता तीर्थकरादि। **दुक्खस्स**—दु·ख के कारण मे। **कुसला**—कुशल। **परिण्णं**—परिज्ञा को। **उदाहरंति**—कहते हैं। **इय**—इस प्रकार। **सव्वसो**—सब प्रकार से। **कम्मं**—कर्म को। **परिण्णाय**—जानकर उसके स्वरूप को भी बताते हैं।

मूलार्थ—हे आर्य! तू अन्य धर्मावलम्बी लोगो को देख और उन्हे धर्म से बाहर आचरण करते हुए जान कर उनमे मध्यस्थ भाव रख। इस लोक मे जो अक्षरी ज्ञान मे निपुण एव विद्वान है, त्यागी व्यक्ति उनसे भी अधिक विद्वान है। जिसने मन-वचन और काय दण्ड का त्याग कर दिया है। जो धर्म के परिज्ञाता, कर्मो का त्याग करने वाले, शरीर का शृगार नहीं करने वाले और सरल स्वभाव के है, वे आरम्भ से उत्पन्न होने वाले दु ख को जानकर उनका वर्णन करते हैं। वे सम्यग्दृष्टि कहते है कि सभी तीर्थकर दु·ख के कारणो को जानने में कुशल है, एव परिज्ञा का उपदेश देते है। इस तरह सब प्रकार से कुशल व्यक्ति कर्म के स्वरूप को जानकर उसका यथार्थ विवेचन करते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे सम्यक्त्व को दृढ बनाए रखने का उपदेश दिया है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को विपरीत बुद्धि एव आचरण मे प्रवृत्त व्यक्तियो का साथ नही करना चाहिए। वे कितने भी पढे-लिखे एव प्रौढ़ विद्वान भी क्यो न हो, परन्तु सम्यग् ज्ञान एव आचरण के अभाव के कारण, वे वास्तविक त्यागनिष्ठ मुनि की समता नही कर सकते। इसलिए त्यागी सन्त को उनसे भी अधिक विद्वान कहा है। इसका कारण यह है कि जो सम्यग्दृष्टि है; वह ससार के स्वरूप को भली-भाति जानता है और यह भी जानता है कि आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होने से पाप-कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बढेगा। इसलिए वह अपने योगो को हिसा आदि दोषों से बचाकर रखता है, परन्तु, जिसे अपने स्वरूप एव लोक का यथार्थ ज्ञान नही है, वह अक्षरी ज्ञान से

सपन्न होने पर भी आरम्भ-समारम्भ एव पापो से बच नहीं सकता और हिसादि दोषो मे प्रवृत्त होने के कारण पापकर्म का संग्रह करके ससार मे परिभ्रमण करता है। अत· त्यागी मनुष्य ही वास्तव मे विद्वान है।

दु·ख का मूल कारण कर्म ही है और कर्म का बीज राग-द्वेष एव हिसा आदि दोषजन्य प्रवृत्ति है। इसलिए तीर्थकरो ने सब प्रकार के कर्मो को छोडने का उपदेश दिया है, क्योकि कर्म छोडने का अर्थ है—राग-द्वेष का क्षय करना। राग-द्वेष कर्म का मूल है और जब मूल का नाश हो जाएगा तो फिर कर्मवृक्ष तो स्वतः ही सूखकर ठूठ हो जाएगा, नि सत्त्व हो जाएगा। इससे स्पष्ट है कि तीर्थकरो ने हिंसा आदि दोषो का त्याग करके वीतराग अवस्था को प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

निष्कर्ष यह निकला कि कर्मक्षय का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—सत्य और सयम का परिपालन और वह महापुरुषों की सगति से ही प्राप्त हो सकता है। अत , साधक को अपनी निष्ठा—श्रद्धा को शुद्ध बनाए रखने एव तप तथा त्याग मे तेजस्विता लाने के लिए ज्ञान एवं चारित्रहीन व्यक्तियो की सगति का त्याग करके चारित्र-निष्ठ व्यक्तियो की सेवा करनी चाहिए, उनके पास बैठना चाहिए।

ससार एवं कर्मो के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने से श्रद्धा मे दृढ़ता आ जाती है। अत उसके बाद साधक को कर्मो को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। कर्म-क्षय की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे॥136॥

छाया—इह आज्ञाकाक्षी पंडितोऽस्नेहः आत्मानमेकं संप्रेक्ष्य धुनियात् शरीरकं, कष आत्मानं, जर आत्मानं—यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहः प्रमथ्नाति एवमात्मसमाहितः अस्नेहः परित्यज क्रोधमविकम्पमानः।

पदार्थ—इह—इस जिन शासन मे। **आणाकंखी**—भगवान की आज्ञा का आकांक्षी। **पंडिए**—पडित। **अणिहे**—स्नेह—राग-द्वेष रहित होकर। **एगमप्पाणं**—अपनी एक आत्मा को। **संपेहाए**—भली-भांति देखे, और वह। **सरीरं धुणे**—शरीर को

सुखावे। **अप्पाणं कसेहि**—शरीर को कृश करे। **अप्पाणं जरेहि**—शरीर को जीर्ण करे। **जहा**—जैसे। **जुन्नाइं कट्ठाइं**—पुराने काष्ठ को। **हव्वावाहो**—अग्नि। **पमत्थइ**—शीघ्र ही भस्म कर देती है। **एवं**—इसी प्रकार। **अत्तसमाहिए**—समाधिस्थ आत्मा। **अणिहे**—स्नेह-रहित होकर तपरूप अग्नि से कर्मरूप काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है। अत हे शिष्य' तू। **कोह**—क्रोध आदि का। **विगिंच**—परित्याग करके। **अविकंपमाणे**—कप-रहित—निश्चल स्थिर हो।

मूलार्थ—इस जिन शासन मे भगवान की आज्ञा के अनुरूप चलने वाला पंडित पुरुष स्नेह—राग रहित होकर अपनी आत्मा के एकत्त्व भाव को समझकर शरीर को सुखा लेता है। अत हे आर्य! तू तप के द्वारा शरीर कर्मो को कृश एव जीर्ण करने का प्रयत्न कर। जैसे अग्नि पुराने काष्ठ को तुरन्त जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार स्नेह—राग रहित समाधिस्थ साधक तपरूप अग्नि के द्वारा कर्मरूप काष्ठ को जला देता है। इसलिए हे आर्य तू' क्रोध का परित्याग करके निष्कम्प—स्थिर मन वाला बनने का प्रयत्न कर।

हिन्दी-विवेचन

ससार मे कर्मबन्ध का कारण स्नेह-राग भाव है। स्नेह का अर्थ चिकनाहट भी होता है। इसी कारण तेल को भी स्नेह कहते है। हम देखते हैं कि जहा स्निग्धता होती है, वहा मैल जल्दी जम जाता है। इसी प्रकार जिस आत्मा मे राग भाव रहता है, उसमे ही कर्म आकर चिपकते है, राग-भाव से रहित आत्मा के कर्म-बन्ध नही होता। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि पंडित पुरुष राग-रहित होकर आत्मा के एकत्व स्वरूप का चिन्तन करके शरीर, अर्थात् कर्मो को पतला कर देता है और एक दिन निष्कर्म हो जाता है।

'अणिहे' शब्द का सस्कृत मे **'अनिहत'** रूप भी बनता है। इसका अर्थ होता है—जो विषय-कषाय आदि भाव शत्रुओं से अभिहत न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वीतराग आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला साधक आन्तरिक शत्रुओं से पराम्त नही होना है। ऐसा साधक ही स्नेह-राग भाव से निवृत्त होकर आत्मसमाधि में सलग्न हो सकता है। इसलिए साधक को राग-भाव का त्याग करके तप के द्वारा शरीर को कृश एव जीर्ण बनाना चाहिए, क्योंकि प्रज्वलित अग्नि में जीर्ण काष्ठ जल्दी ही जल

जाता है, उसी प्रकार तप से जीर्ण-शीर्ण बने कर्म भी जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्मसमाधि प्राप्त करने के लिए साधक को राग-भाव एवं क्रोध आदि, अर्थात् कषायो का परित्याग कर देना चाहिए, क्योकि क्रोध आदि विकारों से आत्मा मे सदा व्याकुलता बनी रहती है। योगो मे स्थिरता नही आ पाती। मानसिक वेचारिक चचलता एव शारीरिक कपन को दूर करके निष्कर्म बनने के लिए क्रोध आदि विकारों का त्याग करना आवश्यक है। इससे आत्मचिन्तन मे स्थिरता आती है।

प्रश्न यह है कि वीतराग आज्ञा का परिपालन करने वाले साधक को योगो के स्थिर होने पर किस वस्तु का चिन्तन करना चाहिए? इसका समाधान करते हुए सूत्र कार कहते है—

मूलम्—इमं निरुद्धाउयं सपेहाए, दुक्खं च जाण, अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि, त्तिबेमि॥137॥

छाया—इदं निरुद्धायुष्कं संप्रेक्ष्य दुःखं च जानीहि अथवा आगामि (दुःखम्) पृथक् स्पर्शाञ्च स्पृशेल्लोकं च पश्य विस्यन्दमान ये निवृत्ता पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः तस्मादतिविद्वान् न प्रतिसंज्वलेः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—इम—यह मनुष्य भव। **निरुद्धाउय**—परिमित आयु वाला है, यह। **संपेहाए**—विचार कर, और। **दुक्खं**—क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले दुःखो को। **जाण**—जान। **अदु**—अथवा। **आगमेस्सं**—भविष्य में उत्पन्न होने वाले दुःखो का, और। **पुढो**—पृथक पृथग् नरको मे। **फासाइफासे**—दुःखो का स्पर्श करता है। **च**—समुच्चय अर्थ मे। **च**—और। **विफदमाणं**—दुःखो को दूर करने के लिए इधर-उधर भागते हुए। **लोय**—लोक को। **पास**—देख। **जे**—जो। **निव्वुडा**—क्रोध आदि से निवृत्त है। **पावेहिं**—पाप-कर्मो से निवृत्त है। **अणियाणा**—निदान कर्म से रहित है। **ते**—वे। **वियाहिया**—इच्छा, आकाक्षा रहित है, ऐसा कहा गया है। **तम्हा**—इसलिए। **अतिविज्जो**—प्रबुद्ध पुरुष। **नो पडिसंजलिज्जासि**—अपने हृदय मे क्रोध को प्रज्वलित न करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू इस मनुष्य-जन्म को अल्पायुष्क समझकर इसी जीवन मे क्रोध से होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःखो को देख! इसके अतिरिक्त क्रोध से उत्पन्न होने वाले आगामी जन्मो के दु.खो को समझ। क्योकि क्रोध के कारण ही जीव नरकादि योनियो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टो को अनुभव करते है। दु ख के वशवर्ती बना हुआ यह जीव उनसे बचने के लिए इधर-उधर भागता फिरता है। यह भी तू देख। जो क्रोधादि विकारों एव पापकर्मो से निवृत्त हो गए है और निदा· ा रहित हैं, वे ही इच्छा-रहित कहे जाते है। अत विद्वान पुरुष को कभी अपने हृदय मे क्रोध को प्रज्वलित नही करना चाहिए। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

जीवन सदा एक-सा नही है। जन्म के बाद मृत्यु का आगमन आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण आयु कम होती रहती है। इस प्रकार मानव-आयुष्य परिमित है। इसलिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए और विवेकपूर्वक सयम का परिपालन करना चाहिए, क्योकि क्रोध आदि कषायो से विभिन्न दुःख एवं सक्लेश उत्पन्न होते है। क्रोध केवल वर्तमान के लिए ही दु.ख रूप नही है, अपितु भविष्य मे भी वह मनुष्य को दु.ख के गर्त मे गिरा देता है। कषायों के वश मानव नरक आदि योनियों मे अनेक दु खो का सवेदन करता है। इसलिए साधक को दु ख के मूल क्रोध आदि कषायो एव पापकर्मो से निवृत्त होकर तप आदि साधना मे किसी भी प्रकार का निदान—कामना नही करनी चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि साधक को शात एव निष्पाप जीवन के साथ आकाक्षा का त्याग करना चाहिए। निराकाक्षी साधक ही समस्त कर्मो को क्षय करने मे समर्थ होता है और वास्तव मे वही महा विद्वान एव प्रबुद्ध पुरुष है—जो क्रोध को प्रज्वलित नही होने देता है। क्रोध एव कामना-रहित व्यक्ति सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है। उसे कभी भी दु ख का अनुभव नही होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को कषाय एव कामना का त्याग कर सदा सयम मे संलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ अध्ययन : सम्यक्त्व

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में निष्काम तप का वर्णन किया गया है। तप का सयम-साधना के साथ सम्बन्ध है। वह भी चारित्र का एक अग है। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक मे सयम-साधना—चारित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आवीलए, पवीलए, निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराण अनियट्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि॥138॥

छाया—आपीडयेत्, प्रपीडयेत्, निष्पीडयेत् त्यक्त्वा पूर्व संयोगं हित्वोपशमं तस्मादविमनाः वीरः स्वारतः समितः, सहितः सदा यतेत, दुरनुचरो मार्गः वीराणामनिवर्तगामिनां विवेचय मांसशोणित एष पुरुषः द्रविकः, वीरः आदानीयः व्याख्यातः यो धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये।

पदार्थ—पुव्वसंजोगं—मुमुक्षु पुरुष पूर्व सजोग को। **जहित्ता**—छोडकर। **उवसम-हिच्चा**—उपशम को प्राप्त कर, मन-वचन और काय योग का दमन करने के लिए। **आवीलए**—थोडा तप करे, फिर। **पवीलए**—विशिष्ट रूप से करे। **निप्पीलए**—उससे भी उत्कृष्ट, अर्थात् घोर तपश्चर्या करे। **तम्हा**—इसलिए। **अविमणे**—वैमनस्य से रहित। **वीरे**—वीर पुरुष। **सारए**—सम्यक् रूप से। **समिए सहिए**—समिति और ज्ञान से युक्त। **सया**—सदा। **जए**—सयम पालन मे सलग्न रहे, क्योकि। **दुरणुचरो**—जो दुष्करता से आचरित किया जाए, वह। **वीराणमग्गो**—वीरो का मार्ग है। **अनियट्ट-गामीणं**—मोक्ष गमन का इच्छुक। **विगिञ्च**—तप के द्वारा। **मांस सोणिय**—मास और शोणित को अलग कर देता है, अर्थात् समस्त कर्मो को नष्ट करके शरीर-रहित

हो जाता है। **एस**—यह। **पुरिसे**—पुरुष। **दविए**—जो मोक्षगामी है, वह। **आयाणिज्जे**—आदेय वचन वाला। **वियाहिए**—कहा गया है। **जे**—जो व्यक्ति। **बंभचेरसि**—ब्रह्मचर्य मे। **वसित्ता**—निवास करके। **समुस्सय**—तप के द्वारा शरीर एव कर्मोपचय को। **धुणाइ**—कृश करता है।

मूलार्थ—मुमुक्षु पुरुष पूर्व सयोग—असयम का परित्याग एवं संयम को स्वीकार करके तप साधना के द्वारा योगो का दमन करे, धीरे-धीरे योगो का निरोध करते हुए उनका सपूर्ण रूप से निरोध करे। इसके लिए वह वैमनस्य रहित, भली-भांति मर्यादा पूर्वक संयम मे सलग्न, समिति एव ज्ञान से युक्त होकर सयम का परिपालन करे। मोक्षगामी वीर पुरुषो का मार्ग दुष्कर है। अत. हे शिष्य! तू तपश्चर्या के द्वारा मास-शोणित को सुखा दे। जो साधक ब्रह्मचर्य मे स्थित रहकर तप के द्वारा शरीर एव कर्मोपचय को कृश करता है, वह सयमी, मोक्षगामी वीर और आदेय वचन वाला कहा गया है।

हिन्दी-विवेचन

सयम-साधना का उद्देश्य कर्म क्षय करना है और कर्म क्षय के लिए तपश्चर्या एक साधन है। इसलिए मुनि को तप के द्वारा कर्म क्षय करना चाहिए। यह तप साधना दीक्षा ग्रहण करते ही प्रारम्भ करनी चाहिए। प्रारम्भ मे सामान्य रूप से तप करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे आत्मशक्ति का विकास होगा और संयम में तेजस्विता आएगी। अत साधु को आगमों का अध्ययन करने तक थोडी-थोडी तपश्चर्या करनी चाहिए। आगम का भली-भाति अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद, उसके परिणामों मे परिपक्वता आ जाए, तब उसे विशिष्ट तप करना चाहिए और साधना के पथ पर चलते हुए उसे यह निश्चय हो जाए कि अब शरीर शिथिल हो गया। अब यह अधिक दिन रहने वाला नही है, तब पूर्णतया आहार-पानी त्याग करके जीवन पर्यन्त के लिए तप स्वीकार करके शान्तिभाव से समाधि मरण को प्राप्त करे। इस तप के साथ किसी भी प्रकार इस लोक या परलोक सम्बन्धी यश-प्रशसा एव भौतिक सुख की कामना नही होनी चाहिए। निष्काम भाव से एकान्त निर्जरा की दृष्टि से किया गया तप ही कर्मक्षय करने मे समर्थ होता है।

तप-साधना का प्रमुख उद्देश्य कार्मण शरीर को कृश करना है। कार्मण शरीर

की कृशता से ही आत्म-गुणो का विकास होता है। इस अपेक्षा से आपीडन आदि शब्दो का यह अर्थ होगा—चौथे से सातवें गुणस्थान तक आपीडन—सामान्य तप, आठवे और नवमें गुणस्थान मे प्रपीड़न—विशेष तप और दसवे गुणस्थान मे निष्पीडन-मास-क्षमण आदि तप अथवा औपशमिक श्रेणी मे आपीडन तप, क्षपक श्रेणी में प्रपीडन तप और सूक्ष्मसपराम आदि शैलेसि अवस्था मे निष्पीडन तप होता है। तप साधना के लिए यह शास्त्रीय पद्धति है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि असयम का त्याग करके उपशम भाव को प्राप्त व्यक्ति तप के द्वारा कर्मो की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति ज्ञान एव समिति से युक्त है, वही तप एव सयम मार्ग पर चल सकता है। साधना का, मुक्ति का, सयम का मार्ग कायरो का नही, वीरो का है। इसका आचरण करना सरल नही है।

वही व्यक्ति इस पथ पर चल सकता है, जो ससार के स्वरूप को भली-भाति जानता है और ब्रह्मचर्य से युक्त है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति कर्मो को शीघ्र ही क्षय कर देता है। परन्तु उसके पालन के लिए इन्द्रियां एव मन को विशेष रूप से वश मे रखना होता है और उन्हे वश मे रखने का उपाय है—तप अर्थात् जिह्वा को नियन्त्रण में रखना। कहा भी जाता है कि—"एक इन्द्रिय—जिह्वा को भूखी रखने पर शेष चारो इन्द्रिया तृप्त रहती है और एक जिह्वा का पोषण करने पर चारो इन्द्रिया बुभुक्षित होकर इधर उधर उछल-कूद मचाती है।"

जिह्वा के पोषण से या प्रकाम भोजन से शरीर मे मास-खून एव चर्बी बढेगी। इससे विकार भाव जागेगा। मन एव अन्य इन्द्रिया विषय-भोगो की ओर आकर्षित होगी, इसलिए ब्रह्मचर्य का परिपालन करने वाले साधक के लिए यह बताया गया है कि वह तपश्चर्या के द्वारा मास और शोणित को सुखा दे। मास और शोणित की शक्ति निर्बल होने पर ब्रह्मचर्य की साधना भली-भाति सध सकेगी और इस प्रकार साधक कर्म क्षय करने में सहज ही सफलता प्राप्त कर लेगा।

जो साधक पूर्व आसक्ति का त्याग नही करता, उसकी क्या स्थिति होती है, इस सबन्ध मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्न-

बंधणे आणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि, त्तिबेमि॥139॥

छाया—नेत्रैः परिच्छिन्नेः आदान श्रोतोगृद्धो बालः (अज्ञ) अव्यवच्छिन्न बन्धनोऽनभिक्रान्त-संयोगः तमसि अविजानतः आज्ञायाः लाभो नास्ति, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—नित्तेहि—चक्षु आदि इन्द्रियो को विषयो से निवृत्त करके। **पलिच्छिन्नेहि**—फिर मोह कर्म के उदय से। **आयाणं सोय गढिए**—कर्म आने के स्रोत मे आसक्त, वह। **बाले**—अज्ञानी जीव। **अव्वोच्छिन्नबंधणो**—जिसने कर्म बन्ध का छेदन नहीं किया है। **अणाभिक्कंतं संजोए**—जिसने सयोग का त्याग नही किया है। **तमंसि**—जो मोह अन्धकार मे स्थित है। **अवियाणओ**—जो मोक्ष के **उपाय**—साधन को नही जानता है, उस व्यक्ति को। **आणाए**—तीर्थकर की आज्ञा का। **लंभो नत्थि**—लाभ प्राप्त नही होता। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो व्यक्ति विषयो से इन्द्रियो का निरोध करने पर भी मोह कर्म के उदय से आस्रव मे आसक्त हो गया है और जिसने कर्म बन्ध के कारण राग-द्वेष का छेदन नही किया है, विषयों के संयोग को नहीं त्यागा है और जो मोह अन्धकार से बाहर नहीं निकला है तथा मोक्ष मार्ग को नही जानता है, वह अज्ञानी व्यक्ति तीर्थकर की आज्ञा का लाभ नही उठा सकता, इस प्रकार मैं कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी मानव की मानसिक निर्बलता को बताया गया है। वह अपने आपको विषयों से निवृत्त कर लेता है और इन्द्रियों को भी कुछ समय के लिए वश मे रख लेता है, परन्तु फिर से मोह कर्म का उदय होते ही विषयो में आसक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उसने आस्रव एव बन्ध के मूल कारण राग-द्वेष का उन्मूलन नही किया और न मोह कर्म का ही छेदन किया है। इसके अतिरिक्त उसे मोक्ष मार्ग का भी पूरा बोध नही है। इसी कारण वह मोह कर्म का थोड़ा-सा झाका लगते ही अपने मार्ग से फिसल जाता है।

इसलिए साधक को सबसे पहले साध्य एवं साधन का ज्ञान होना चाहिए। मार्ग

का यथार्थ बोध होने पर ही वह उस पथ पर सुगमता से चल सकेगा और मार्ग में आने वाली कठिनाइयो को भी दूर कर सकेगा, अत. जिसे उस पथ का बोध नहीं है, वह ससार की हवा लगते ही इधर-उधर भटक जाता है। इसी कारण उसे तीर्थकर की आज्ञा का भी लाभ प्राप्त नही होता, क्योकि न तो उसे उस मार्ग का बोध ही है और न उस पथ के प्ररूपक पर निष्ठा ही है, ऐसी स्थिति मे उसे लाभ कैसे मिल सकता है?

ऐसी आत्मा को न पीछे बोधि लाभ हुआ है, न अब होता है और न भविष्य में होगा। इस बात को वताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया? से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, निक्कमदंसी, इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी॥140॥

छाया—यस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात्? स खलु प्रज्ञानवान् बुद्ध· आरम्भोपरतः सम्यगेतत् पश्यतः येन बन्धं वध घोर परितापंच दारुणं परिच्छिन्द्य बाह्यं च स्रोतः निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु कर्मणां सफल दृष्ट्वा तत· निर्याति वेदवित्।

पदार्थ—जस्स—जिसको। **पुरा**—पूर्वकाल मे सम्यक्त्व का लाभ। **नत्थि**—नही हुआ और। **पच्छा**—ना ही आगामी काल मे सम्यक्त्व का लाभ होगा तो फिर। **तस्स**—उसको। **मज्झे**—मध्य जन्म मे। **कुओ**—कहा से। **सिया**—सम्यक्त्व का लाभ होगा। **हु**—जिससे भोगो से निवृत्त हो गया है, इसलिए। **से**—वह। **पन्नाणमन्ते**—प्रज्ञावान है। **बुद्धे**—तत्त्वो को जानने वाला है। **आरम्भोवरए**—आरम्भ से उपरत हो गया है, हे शिष्यो! तुम। **सम्ममेयन्ति**—सम्यग् शोभन रूप इस सम्यक्त्व को। **पासह**—देखो क्योकि। **जेण**—जिस कारण से। **बंधं**—बन्ध को। **वहं**—वध को। **घोरं**—घोर रूप। **च**—और। **परियाव**—परिताप को। **दारुण**—दारुण रूप असहनीय को। **पलिछिन्दिय**—दूर करके। **च**—पुन । **बाहिरग**—बाहर के धन—धान्यादि। **सोयं**—स्रोत को भी दूर कर दिया है। **निक्कमदंसी**—मोक्ष वा संवर मार्ग के देखने

वाला। **इह**—इस ससार में। **मच्चिएहिं**—मनुष्यों के मध्य मे। **कम्माणं**—कर्मों के। **सफलं**—फल को। **दट्ठूण**—देश कर। **तओ**—तत्पश्चात्। **वेयवी**—आगमों के जानने वाला। **निज्जाइ**—कर्मों के स्रोत से पृथक् हो जाता है, अर्थात् निष्कर्मदर्शी आत्मा कर्मों के स्रोत से निर्गच्छति—निकल जाता है। सकाम व अकाम निर्जरा से कर्मों को नष्ट कर देता है।

मूलार्थ—जिस आत्मा को पूर्व काल मे सम्यक्त्व का लाभ नही हुआ, आगामी काल मे होने का नही तो फिर उसको मध्य काल में सम्यक्त्व का लाभ किस प्रकार हो सकता है?

हे शिष्यो! तुम उन बुद्धिमानो तथा तत्त्वो को जानने वाले आरभ से निवृत्त और सम्यग् देखने वाले व्यक्तियो को देखो! जिस कारण से वन्ध-वध—घोर भयकर और दारुण परिताप को तथा वाह्य और आभ्यन्तरिक स्रोतो को दूर करके जो निष्कर्मदर्शी बने है, वे इस लोक मे सबसे बढ़कर हैं। आगमवेत्ता कर्मों के फल को देखकर तत्पश्चात् आस्रव स्रोत से निकल जाता है, अर्थात् आस्रव का सर्वथा निरोध कर देता है।

हिन्दी-विवेचन

कुछ जीव ऐसे है, जिन्होंने न अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श किया है और न अनागत काल मे करेंगे। उन जीवो को आगमिक भाषा मे अभव्य जीव कहते है। वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नही करते। आगम में उनके लिए स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि अतीत काल में उन्होंने सम्यक्त्व का न स्पर्श किया और न अनागत मे करेंगे और अतीत एव अनागत इन दोनों काल मे अनन्त-अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी का समावेश हो जाता है। इनके मध्य का काल, अर्थात् वर्तमान काल तो केवल एक समय का होता है। अत: जब इन दोनो काल मे वे सम्यक्त्व के प्रकाश को नही पा सकते तो मध्य काल मे पाने का तो प्रश्न ही नही उठता। इसलिए ऐसे अभव्य जीव कभी भी मोक्ष मार्ग पर नही चल सकते।

कुछ जीव ऐसे है कि जिन्होने अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया परन्तु मोह कर्म के उदय से वे फिर से मिथ्यात्व मे गिर गए। ऐसे जीव अनागत काल मे फिर से सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। एक बार

सम्यक्त्व का स्पर्श करने के पश्चात् मिथ्यात्व मे चले जाने पर भी वह अधिक से अधिक अपार्द्ध पुद्गल परावर्त तक मिथ्यात्व में रह सकता है। उसके बाद तो वह अवश्य ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके मुक्ति की ओर पग बढाएगा ही।

जिन जीवो को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे किसी भी प्राणी को मारने, काटने एव पीडा पहुचाने आदि आरम्भ एवं हिसा जन्य कार्यो से अलग रहते है। वे आस्रव के द्वार को रोकते हुए सदा सयम-साधना मे सलग्न रहते है। इसलिए उन्हे निष्कर्मदर्शी कहा गया है। उनकी दृष्टि सवरमय होती है। वे कर्म के दु:खद फल को जानते हुए उससे—कर्म बन्ध से सदा बचकर रहने का प्रयत्न करते है

वह प्रज्ञावान् भी होगा ही और जो प्रज्ञावान् होगा वह बुद्ध-बोध युक्त होगा ही।

यह सत्य है कि प्रत्येक कर्म फल युक्त होता है, कोई भी कर्म निष्फल नही होता। उसमे इतना अन्तर हो सकता है कि कुछ कर्म विपाकोदय रूप से वेदन किए जाते है तो कुछ कर्म प्रदेशोदय से ही अनुभव कर लिए जाते है। कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग इन पाच कारणो से कर्म का बन्ध होता है। जो व्यक्ति जीवाजीव आदि पदार्थो का ज्ञाता है, वह आस्रव से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

तत्त्वो को जानने वाले व्यक्ति को प्रज्ञावान् कहते है। वह आगम के द्वारा संसार एव ससार परिभ्रमण के कारण कर्म तथा कर्म-बन्ध के कारण को भली-भाति जानता है। प्रस्तुत सूत्र मे आगम के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद का अर्थ है—जिसके द्वारा सपूर्ण चराचर पदार्थो का ज्ञान हो, उसे वेद कहते हैं और वे सर्वज्ञोपदिष्ट आगम है। उसके परिज्ञाता उसके अनुरूप आचरण करने वाले साधक कहलाते है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मविकास एव साध्य को सिद्ध करने का मूल सम्यक्त्व है। अत मुमुक्षु पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सभी तीर्थकरो का यही अभिमत है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मुलम्—जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा, पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं

इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठंसु साहिस्सामो नाणं, वीराणं समियाणं, सहियाणं सया जयाणं संघडदंसिणं, आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही? पासगस्स न विज्जइ नत्थि त्तिबेमि॥141॥

छाया—ये खलु भो! वीराः ते समिताः सहिताः सदायताः निरन्तरदर्शिनः आत्मोपरताः यथातथं लोकम् उपेक्षमाणाः प्राच्या प्रतीच्यां दक्षिणायाम् उत्तरस्यामिव सत्ये परिचिते तस्थुः कथयिष्यामि ज्ञानं वीराणां समिताना, सहिताना दायतानां निरन्तर स दर्शिनां आत्मोपरतानां यथातथ्यं लोकं समुत्प्रेक्षमाणाना किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते नास्ति, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—खलु—वाक्यालकार मे है। **भो**—हे आर्य! **जे**—जो। **वीरा**—कर्म विदारण मे समर्थ। **ते**—वे। **समिया**—समितियो से युक्त। **सहिया**—ज्ञान से युक्त। **सयाजया**—सदा यत्न करने वाले। **संघड दंसिणो**—निरन्तर देखने वाले। **आओवरया**—पाप कर्मो से उपरत हुए। **अहातह**—यथा तथा। **लोय**—लोक को। **उवेहमाणा**—देखते हुए। **पाईणं**—पूर्व दिशा में। **दाहिणं**—दक्षिण दिशा में। **पडिणं**—पश्चिम दिशा मे। **उइणं**—उत्तर दिशा मे। **इय**—इस प्रकार। **सच्चंसि**—सत्य मे। **परिचिए**—परिचित विषय मे। **परिचिट्ठसु**—ठहरे हुए स्थिति वाले। **सहिस्सामो**—मै तुम्हारे प्रति कहूंगा—सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यो के प्रति कहते है। हे शिष्यो! मै तीन काल के तीर्थकरो का अभिप्राय तुम्हारे प्रति कहूँगा तुम सुनो किनका। **वीराणं**—वीरो का। **समयाण**—समिति वालो का। **सहियाणं**—ज्ञानयुक्तो का। **सयाजयाणं**—सदा यत्न करने वालो का। **संघडदंसिण**—निरन्तर देखने वालो का। **आओवरयाणं**—जिनका आत्मा पापो से निवृत्त है। **अहातहं**—यथा-तथा। **लोयं**—लोक के। **समुवेहमाणाणं**—समुत्प्रेक्षया वालो का। **नाणं**—जो ज्ञान है। **किमत्थि उवाही**—क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि है? **नत्थि**—नही होती है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्यो? वे वीर पुरुष जो समितियो से युक्त ज्ञान से सयुक्त सदा यत्नशील निरन्तर देखने वाले पूर्व-पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा मे व्यवस्थित, स्थिर सत्य व तप सयम मे अवस्थित थे, मैं उन वीर पुरुषो का ज्ञान तुम्हारे प्रति सुनाऊगा जो कि समित—समितियुक्त ज्ञान-युक्त सदा यत्नशील, निरन्तर देखने

वाले पापों से उपरत, और यथावस्थित लोक के स्वरूप को देखने वाले है, वे कहते है सत्य में, संयम मे ठहरो? क्या केवल ज्ञानी को भी कर्म जनित उपाधि होती है, अर्थात् नही होती, इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल मे होने वाले तीर्थकर सत्य और सयम की साधना से कर्मो का नाश करते है। सत्य किसी एक देश, वस्तु विशेष या काल विशेष मे सीमित नही, अपितु समस्त लोक व्यापी है और सब काल मे स्थित रहता है। अत सभी तीर्थकरो के उपदेश मे एकरूपता रहती है। तीर्थकर सम्यक्त्व को मुक्ति का मूल कारण बताते है, क्योकि सम्यक्त्व प्रकाश मे अपना विकास करता हुआ व्यक्ति सब कर्मो का नाश कर देता है। अत इस प्रयत्न मे सलग्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है। वह वीर साधक पाच समिति और तीन गुप्ति की साधना से ज्ञानवारण कर्म को अनावृत करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और आयु कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्म आवरण को नष्ट करके निरावरण आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

चार घातिकर्मो को क्षय करने पर आत्मा मे अनन्त चतुष्टय ज्ञान, दर्शन सुख और वल-वीर्य शक्ति का उदय होता है। उस निरावरण ज्ञान के प्रकाश मे वह सारे ससार एव लोक मे स्थित सभी तत्त्वो को यथार्थ रूप से देखने लगता है। उससे ससार का कोई रहस्य गुप्त नहीं रहता और वह महापुरुष कर्मो के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के बल पर वह कर्मो के क्षय करने मे समर्थ होता है और एक दिन आत्मा विकास की चरम सीमा—14वे गुणस्थान को लांघकर अपने साध्य—सिद्ध अवस्था को पा लेता है। अत' मुमुक्षु पुरुष को रत्नत्रय की आराधना मे प्रमाद नहीं करना चाहिए, अर्थात् अप्रमत्त भाव से सयम का परिपालन करना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

प्रथम उद्देशक

चतुर्थ अध्ययन मे सम्यक्त्व का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व के बाद सम्यक् चारित्र का स्थान है। चूंकि सम्यग् दर्शन का महत्त्व चारित्र के विकास मे है, इसलिए लोक मे चारित्र ही सार रूप माना गया है। प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी लोकसार है। अत इस अध्ययन मे चारित्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए वृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखा है—

लोगस्स उ को सारो? तस्य य सारस्स को हवइ सारो?
तस्स य सारो सार जइ जाणसि पुछिओ साह है।

अर्थात्—गुरुदेव! इस चौदह रजूलोक का सार क्या है तथा उस लोक के सार का सार तत्त्व एव उस सार का भी सार तत्त्व क्या है? इसका समाधान करते हुए वृत्तिकार कहते है—

लोगस्स सारो धम्मो धम्मपि य नाणसारिय विति
नाण सजमसार सजमसार च निव्वाण॥

अर्थात्—लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है और सयम का सार निर्वाण—मोक्ष है। निष्कर्ष यह रहा कि लोक का सार सयम है और सयम-साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। सयम-साधना के अभाव मे कोई भी व्यक्ति मोक्ष को नही पा सकता है। अत सूत्रकार असयमी—असाधु जीवन किसका होता है, अर्थात् मुनित्व का अभाव किस में है, इस बात को स्पष्ट करते हुए कहते है—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारं ते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे॥142॥

छाया—यावन्तः केचन लोके विपरामृशन्ति अर्थायानर्थाय एतेषु विपरामृशन्ति गुरवः तस्य कामाः ततः स मारान्तः (मारान्तर्वर्ती) यतः सः मारान्तः तत सः दूरे नैवासौ अन्तः नैवदूरे।

पदार्थ—आवन्ती—जितने जीव असयत है, उनमे। **केयावन्ती**—कितने एक। **लोयंसि**—लोक मे। **विप्परामुसन्ति**—अनेक विषयाभिलाषा से अनेक जीवो की घात करते है। **अट्ठाए**—प्रयोजन से। **अणट्ठाए**—निष्प्रयोजन से, फिर वे जीव। **एएसु**—इन्ही 6 कायो मे। **च**—पुन । **एव**—अवधारणार्थ में। **विप्परामुसन्ति**—उत्पन्न होते है तथा अनेक प्रकार के दुःखो का सवेदन करते हैं, फिर। **से**—उसको। **गुरुकामा**—काम भोगो का परित्याग करना कठिन हो जाता है। **तओ**—तदनुसार। **से**—वह। **मारन्ते**—जन्म-मरण के प्रवाह मे प्रवहमान रहता है। **जओ**—जिससे। **से**—वह। **दूरे**—मोक्ष से दूर रहता है। **से**—वह। **नेव**—अन्तो विषय सुख के अन्तर्वर्ती भी नही है, और। **नेव दूरे**—न उससे दूर ही है।

मूलार्थ—ससार मे जितने भी असयत जीव है, उनमे कई जीव अनेक तरह के प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही अनेक जीवो की हिसा करते है। इस कारण वे इन्ही 6 काय के जीवो मे उत्पन्न होते रहते है, वे मोक्ष से दूर है। विषय-भोगो के इच्छुक होने के कारण ससार से दूर भी नही है और विषय-सुख का उपभोग भी नही कर सकते हैं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे हिसा एव हिसाजन्य फल का उल्लेख किया गया है। कुछ असयत मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए अनेक जीवो की हिसा करते रहते है। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए तो स्पष्ट रूप से हिसा होती ही है। परन्तु कुछ लोग धर्म एव मोक्ष के नाम पर किए जाने वाले यज्ञो एव अन्य क्रियाकाण्डो मे—पचाग्नि, होम, धूपदीप आदि में अनेक जीवो की हिसा करते है। वे प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही केवल मौज-शौक के लिए दूसरे प्राणियो का प्राण ले लेते है। जैसे मनोविनोद के लिए शिकार आदि दुष्कर्मो के द्वारा प्राणियो की हिसा करते है और परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके उन्ही 6 काय के जीवो मे उत्पन्न होते रहते है, जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान रहते है।

ऐसे व्यक्ति मोक्ष से दूर रहते है, क्योकि सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिपालन करना मोक्षमार्ग है और विषयाभिलाषी प्राणी रत्नत्रय की आराधना-साधना कर नही सकता। वह रात-दिन विषय-वासना मे आसक्त रहता है, अतः मोक्ष से दूर कहा गया है।

विषयासक्त व्यक्ति रात-दिन भोगो मे सलग्न रहता है। अतिभोग के कारण उसकी इन्द्रियां जर्जरित होती है, शरीर दुर्बल एव रोग से घिर जाता है। इस तरह वे विषयजन्य सुख से वचित रहता है और उसमे मानसिक भावो से लीन रहने के कारण वह संसार से दूर नही होता है। क्योकि उसका चिन्तन सदा विषय-वासना मे ही लगा रहता है। अत वह निरन्तर जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है।

सम्यक्त्व की साधना करने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय किस तरह के रहते है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं एव बालस्स जीविय मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पक्कुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो-पुणो॥143॥

छाया—स पश्यति उदकबिन्दुमिव कुशाग्रे प्रणुन्न निपतित वातेरितः मेव बालस्य जीवितं मन्दस्य अविजानतः क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाण तेन दु.खेन मूढः विपर्यासमुपैति मोहेन गर्भमरणादिमेति अत्र मोहः पुनः पुन.।

पदार्थ—से—वह—सम्यग् दृष्टि व्यक्ति संसार को असार। **पासइ**—देखता है। **कुसग्गे**—कुशा—तिनके के अग्रभाग पर स्थित। **फुसियमिव**—जल बिन्दु की तरह। **बालस्स**—बालक का। **जीवियं**—जीवन है। **पणुन्नं**—कुशाग्र पर स्थित वह जल विन्दु अन्य जल बिन्दु से या। **वाएरिय**—वायु से प्रेरित हुआ। **निवइय**—गिर जाता है। **एवं**—इसी प्रकार बाल्यकाल का जीवन समझना चाहिए। **मंदस्स**—विवेक विकल। **अवियाणओ**—परमार्थ को नहीं जानता हुआ। **बाले**—बाल जीव। **कूराइं**—क्रूर। **कम्माइं**—कम। **पकुव्वमाणे**—करता हुआ। **तेण**—उस दुष्कर्म के फलस्वरूप। **दुःखेण**—दु ख से वह। **मूढे**—मूढ। **विप्परियासमुवेइ**—विपर्यास भाव को प्राप्त हो

जाता है। **मोहेण**—मोह से मोहित व्यक्ति। **गब्भं**—गर्भ को एव। **मरणाइ एइ**—मृत्यु को प्राप्त होता है। **एत्थ मोहे**—इस मोह कर्म से। **पुणो-पुणो**—बार-बार चार गति मे परिभ्रमण करता है।

मूलार्थ—वह सम्यक्त्वी प्राणी जैसे बाल जीवन को कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु की तरह असार देखता है। कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु दूसरी बूँद या हवा के झोके की प्रेरणा से शीघ्र ही गिर पडता है, उसी तरह बाल्यकाल भी कुछ दिनो मे बीत जाता है। परन्तु विवेकहीन प्राणी इस परमार्थ सत्य को नही जानता। अत· वह अज्ञानी व्यक्ति क्रूर कर्मो को करता हुआ तज्जन्य दु खानुभूति से मूढ होकर विपरीत मार्ग का अनुगामी बन जाता है और मोह से आवृत होकर जन्म-मरण के प्रवाह मे बहता रहता है।

हिन्दी-विवेचन

दुनिया की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। प्रत्येक पदार्थ की पर्यायो मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। काल की गति के साथ-साथ जीवन की धारा भी बदलती रहती है। बाल्यकाल के बाद जवानी आती है, यौवन का स्थान प्रौढता ग्रहण करती है, प्रौढावस्था को परास्त करके बुढापा मनुष्य को बुरी तरह से पछाड देता है। काल मानव को एकदम परास्त कर देता है। उसके सामने किसी की शक्ति नही चलती। आणविक शक्ति भी उसका सामना नही कर सकती। यह स्थिति हमारे सामने से गुजरती है। फिर मोह कर्म से आवृत एव विषयासक्त व्यक्ति जीवन की क्षणिकता की तरफ से आख मूदकर रात-दिन दुष्कार्मो में सलग्न रहता है। परिणामस्वरूप पाप कर्म को बाध करके ससार मे परिभ्रमण करता रहता है।

परन्तु सम्यग्दृष्टि व्यक्ति इस बात को भलीभाति जानता है। वह जीवन की अस्थिरता से अपरिचित नही है, क्योकि वह दर्शन मोह का क्षय या क्षयोपशम कर चुका है। इससे स्पष्ट होता है कि ससार परिभ्रमण एव दुष्कर्मो मे प्रवृत्ति का कारण मोह कर्म का उदय है। अत मोह कर्म का नाश करने से आत्मा मे विशिष्ट ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होते देर नही लगती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ॥144॥

छाया—संशयं परिजानतः संसारः परिजातो भवति, संशयमपरिजानतः संसारोऽपरिज्ञातो भवति।

पदार्थ—ससय—जो सशय को। **परिआणयो**—जानता है, वह। **संसारे**—ससार के स्वरूप का। **परिन्नाएभवइ**—जानता है। **जोसंसयं**—सशय को। **अपरियाणओ**—नही जानता है, वह। **संसारे**—ससार को भी। **अपरिन्नाए भवइ**—नही जानता है।

मूलार्थ—जो व्यक्ति सशय को जानता है, वह ससार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है और जो सशय को नही जानता है, वह ससार के स्वरूप को भी नही जानता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे पदार्थ ज्ञान और सशय का अविनाभाव सवन्ध माना गया है। यहा सशय का अर्थ है—पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति। इससे स्पष्ट होता है कि सशय ज्ञान के विकास का कारण भी है। जब मन मे जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्बुद्ध होती है, तो मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र मे निरन्तर आगे बढता रहता है।

सशय—जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है—1. अर्थगत और 2 अनर्थगत। मोक्ष एव मोक्ष के कारण भूत संयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत सशय कहते है और ससार एव ससार परिभ्रमण के कारणो को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत सशय कहते है। दोनों प्रकार के सशय से ज्ञान मे अभिवृद्धि होती है और ससार एवं मोक्ष दोनो के यथार्थ स्वरूप हो जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इसलिय यह कहा गया है कि जो व्यक्ति सशय को जानता है, वह ससार के स्वरूप को जानता है और जो सशय को नही जानता है, वह ससार को यथार्थत. नही जान सकता।

सशय ज्ञान कराने मे सहायक है। परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल सन्देह—शंका करते रहने की कुटिल वृत्ति अपनाता है, तो वह सशय पतन का कारण वन जाता है। उससे पदार्थ ज्ञान नहीं होता, अपितु व्यक्ति और अधिक अज्ञान अन्धकार से आवृत हो जाता है। इसी दृष्टि से कहा गया

है—“संशयात्मा विनष्यति” अर्थात् सशयशील आत्मा का विनाश होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि सशय पदार्थ ज्ञान के लिए होना चाहिए। भगवती सूत्र मे गौतम स्वामी के लिए जात संशय, सजात सशय और समुत्पन्न सशय ऐसा तीन बार उल्लेख किया गया है[1]। जात सशय की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार अभय देव सूरि ने लिखा है—'जात· सशयो यस्य स जातसंशय , सशयस्तु अनवधारितार्थ ज्ञान जातसशयः इद वस्त्वेव स्वादेवमिति।' अर्थात् जो ज्ञान पहले धारण नहीं किया गया है, उसकी प्राप्ति के लिए किए जाने वाले सशय को जात सशय कहते हैं। इस प्रकार यह सशय ज्ञान वृद्धि मे कारणभूत है। इससे पदार्थो का यथार्थ बोध होता है और उनकी हेयोपादेयता का भी परिज्ञान होता है।

हेय एवं उपादेय वस्तु का त्याग एव स्वीकार कौन कर सकता है, इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणाविज्जा अणासेवणय त्तिबेमि॥145॥

छाया—यच्छेक स सागारिक—मैथुनं न सेवते कृत्वा एवमभिजानतः द्वितीया मंदस्य बालता लब्धानपि अर्थान् प्रत्युपेक्ष्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनतया, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—जे—जो साधक निपुण है। **से**—वह। **सागारियं**—मैथुन कर्म को। **न सेवइ**—सेवन नही करता है, परन्तु जो अज्ञानी व्यक्ति मैथुन का आसेवन करता है, वह उसका सेवन। **कट्टु**—करके भी गुरु के पूछने पर। **एवं**—इस प्रकार। **अवियाणयो**—अपलाप करता है कि मैने मैथुन का आसेवन नही किया है, यह। **मन्दस्स**—उस मन्दमति वाले व्यक्ति की। **बिइया**—दूसरी। **बालया**—अज्ञानता है। इसलिए मतिमान पुरुष को। **लद्धा**—विषयो का सयोग मिलने पर भी। **हुरत्था**—उसके विपाक को। **पडिलेहाए**—विचार कर। **आगमित्ता**—जानकर। **अणासेवणय**—उनका सेवन नही करना चाहिए। **आणविज्जा**—और अन्य व्यक्तियो को विषयो से दूर

1. भगवती सूत्र

रहने की आज्ञा देनी चाहिए। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो साधक कुशल है, निपुण है, वह विषय-भोगो का आसेवन नहीं करता। परन्तु कुछ दुर्बुद्धि साधक विषय-वासना का सेवन करके भी गुरु आदि के पूछने पर उसे छिपाने का प्रयत्न करते है। वे कहते हैं कि हमने मैथुन का सेवन नहीं किया। इस तरह पाप को छिपाकर रखना उन मन्दबुद्धि साधको की दूसरी अज्ञानता है।

बुद्धिमान साधक विषयो की प्राप्ति होने पर भी उस ओर अपने योगों को नही लगाते। वे उनके विपाक-फल का विचार कर उनका सेवन नही करते और अन्य साधको को भी उनसे बचकर रहने का आदेश देते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बुद्धिमान साधको की बुद्धिमत्ता, मूर्खो की अज्ञानता एवं बुद्धिमानों के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। बुद्धिमान वह है जो किसी भी परिस्थिति मे अपने साधनापथ से विचलित नही होता है। जिस वस्तु को ससार परिभ्रमण का कारण समझ कर त्याग कर दिया, उसे फिर स्वीकार करना या उसे ग्रहण करने की मन मे कल्पना करना अज्ञानता का परिचायक है। प्रबुद्ध पुरुष किसी भी स्थिति मे परित्यक्त विषय-भोगो के आसेवन की इच्छा नहीं रखते। वे सदा भोगो से दूर रहते हैं, क्योकि वे उसके दुष्परिणामो से परिचित है।

परन्तु, जो मूर्ख है, वे त्याग के पथ पर चलकर भी भटक जाते है, विषयवासना के साधनों को देखते ही वे उसके प्रवाह में बह जाते हैं और उसका आसेवन करके भी उसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दुष्कर्म को स्वीकार नही करते। गुरु के पूछने पर कहते हैं कि मैने कोई दुष्कर्म नहीं किया। इस प्रकार पहले तो पाप कर्म मे प्रवृत्त होते है और फिर उसे छिपाने के लिए दूसरे पाप कर्म का सेवन करते है। यह उनकी दूसरी अज्ञानता है। इससे उनका जीवन पतन के गर्त में गिरता है और वे ससार मे परिभ्रमण करते रहते है।

प्रवुद्ध पुरुष विषय-भोगो के कटु परिणाम एव बाल-अज्ञानी जीवो द्वारा आसेवित विषय-भोगो एव माया—मृषावाद के दुष्परिणामो को भली-भाति जानते है। इसलिए भोग्य-पदार्थो के उपलब्ध होने पर भी वे उसका सेवन नही करते है। वस्तुतः सच्चा त्यागी वही है, जो स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त प्रिय भोगों का हृदय से त्याग कर देता है,

उनके सेवन की बिलकुल इच्छा-आकांक्षा नही रखता[1]' और अपने अन्य साथी साधको को भी भोगों की असारता एव उनके दुष्परिणाम बताकर, विषय-वासना से दूर रहने का आदेश देता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो-पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहिं कम्मेहि असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे, बहुमाणे, बहुमाए, बहुलोभे, बहुरए, बहुनडे बहुसढे, बहुसंकप्पे, आसवसत्ती पलिउच्छन्ने, उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू, अन्नाणपमायदोसेणं, सययं मूढ़े धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया मानव! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुक्खमाहु—आवट्टमेव अणुपरियट्टंति, त्तिबेमि॥146॥

छाया—पश्यत एकान् रूपेषु गृद्धान् परिणीयमानान् अत्र स्पर्शान् पुनः-पुनः यावन्तः केचन लोके आरम्भजीविनः एतेषु चैव आरम्भजीवी अत्रापि बालः परिपच्यमानः रमते पापै कर्मभिः अशरणं शरणमिति मन्यमानः इहैकेषामेकचर्या भवति स बहुक्रोधः बहुमानः बहुमायः बहुलोभ· बहुरतः बहुनट· बहुशठः बहुसकल्प आश्रवसक्ती पलितावच्छन्न कर्मावष्टब्धः उत्थितवादं प्रवदन् मा मां केचन अद्राक्षु· अज्ञानप्रमाद दोषेण सतत मूढः धर्म नाभिजानाति आर्ताः प्रजा· मानव! कर्म कोविदा· ये अनुपरताः अविद्यया परिमोक्षमाहु· आवर्त्तमेव अनुपरिवर्तन्ते, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—पासह—हे मनुष्यो! तुम देखो। **एगे**—कई एक धर्म के मानने वालो को। **रूवेसु**—रूपादि मे। **गिद्धे**—गृद्धो को। **परिणिज्जमाणे**—नरकादि स्थानो मे गये हुओ को, फिर वे। **इत्थ**—इस संसार मे। **पुणो पुणो**—पुन पुन । **फासे**—दुःख

---

1 जे य कते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ,
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्तिवुच्चइ। —दशवैकालिक 2, 3

रूप स्पर्शो का अनुभव करने वालों को तथा। **आवंती**–जितने भी। **केयावंती**–कई एक प्राणी। **लोयंसि**–लोक मे। **आरंभजीवी**–आरम्भ से जीवन व्यतीत करने वाले। **च**–और फिर। **एव**–निश्चय ही। **एएसु**–सावद्यारम्भप्रवृत्ति में, तथा गृहस्थों में। **आरंभ जीवी**–आरम्भपूर्वक आजीविका दु:खरूप होती है। **इत्थवि**–इस अर्हत प्रणीत सयम के स्थान मे भी। **बाले**–राग और द्वेष से व्याप्त। **परिपच्चमाणे**–परितप्त होता हुआ, अथवा विषय रूप पिपासा से सन्ताप को प्राप्त होता हुआ, फिर उन विषयो मे। **रमइ**–रमण करता है, फिर। **पावेहि**–पाप। **कम्मेहि**–कर्मो से सन्तप्त होता हुआ। **असरणे**–अशरणरूप सावद्यानुष्ठान को। **सरणंति**–शरण रूप। **मन्नमाणे**–मानता हुआ, नाना प्रकार की वेदनाओ का अनुभव करता है। **इहं**–इस मनुष्य लोक मे। **एगेसि**–कई एक की क्रोध के वशीभूत होकर। **एगचरिया**–एकचर्या। **भवइ**–होती है। **से**–वह विषय और कषायो के वशीभूत होकर अकेला विचरने वाला। **बहुकोहे**–बहुत क्रोध वाला। **बहुमाणे**–बहुत मान वाला। **बहुमाए**–बहुत माया वाला। **बहुलोभे**–बहुत लोभ वाला। **बहुरए**–बहुत कर्म रज वाला। **बहुनढे**–नट की भाति विषयों के लिये भ्रमण करने वाला। **बहुसढे**–बहुत शठता वाला। **बहुसंकप्पे**–बहुत सकल्पो वाला, हो जाता है, तथा। **आसवसत्ती**–आश्रव में आसक्त। **पलिउच्छन्ने**–कर्मो से आच्छादित। **उट्ठियवायं**–चारित्र रूप धर्मवाद मे उद्यत हुआ 2। **वायमाणे**–इस प्रकार बोलता हुआ। **मा**–मत। **मे**–मुझे। **केइ**–कोई। **अदक्खू**–पाप करते हुए को देखे, तथा वह। **अन्नाण पमाय दोसेणं**–अज्ञान व प्रमाद के दोष से पाप कर्म करता है। **सययं**–निरन्तर। **मूढ**–मूढ-मोह से उदय से। **धम्म**–धर्म को। **नाभिजाणइ**–नही जानता। **अट्टा**–विषय कषायो से पीडित। **पया**–जीव। **माणव**–हे मनुष्य! **कम्मकोविया**–कर्मकोविद अर्थात् अष्टविध कर्मो के अनुष्ठान मे चतुर। **जे**–जो। **अणुवरया**–पाप कर्म से अनिवृत्त हैं। **अविज्जाए**–अविद्या से। **पलिमुक्खमाहु**–सर्व प्रकार से मोक्ष मानते है। **आवट्टमेव**–संसार चक्र के आवर्त मे ही। **अणुपरियट्टंति**–बार-बार अनुवर्तन करते है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र मे ही फसे रहते है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ–भव्य जीवो! तुम देखो! कई एक विषयासक्त व्यक्ति नरकादि मे वेदना पाते हुए नरकादि स्थानो में पुन:-पुन: दु:ख रूप स्पर्श का अनुभव करते है,

लोक में कितने ही प्राणी आरम्भ से आजीविका करने वाले इन गृहस्थ या सारम्भी अन्य तीर्थियो मे आरम्भपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इस ससार में अज्ञानी जीव, विषयो की अभिलाषा से सावद्य कर्मो मे संलग्न रहते हैं, अशरणरूप पापकर्म को शरणभूत मानते हुए नाना प्रकार की वेदनाओ का अनुभव करते है तथा इस मनुष्य लोक मे कोई व्यक्ति विषयकषायो के अधीन होकर अकेले विचरने लगता है और फिर वह अधिक क्रोध, अधिक मान, अधिक माया और अधिक लोभ वाला हो जाता है तथा अधिक कर्मरज से युक्त, नट की भाति विषयो के लिए घूमने वाला अत्यन्त धूर्त, अधिक सकल्पों वाला, आश्रवो मे आसक्ति रखने वाला और कर्मो से आच्छादित हुआ—'मे धर्म के लिए उद्यत हो रहा हूँ, इस प्रकार बोलता है कि मुझे कोई पाप कर्म करते हुए न देखे, इस प्रकार विचारता हुआ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर सदा अकार्य मे लगा रहता है। वह निरन्तर मूढ हुआ धर्म को नहीं जानता। हे मानव! विषयकपायभूत कर्म करने में कोविद, कर्मानुष्ठान मे चतुर, पापो से निवृत्त न होने वाले जीव अविद्या से मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते है। इस प्रकार मै कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। यह स्पष्ट है कि वासना मे आसक्त व्यक्ति दूसरे प्राणियो के हिताहित को नहीं देखता। वह अपनी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त कार्य करते हुए सकोच नहीं करता। परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके नरकादि गतियो मे उत्पन्न होता है और वहा विविध वेदना का सवेदन करता है। इससे स्पष्ट होता है कि जो प्राणी अज्ञान के वश वासना मे आसक्त रहता है, वह नीच योनि मे उत्पन्न होकर अनेक कष्टो को सहता है, संसार में परिभ्रमण करता है। भले ही, वह गृहस्थ के वेश में हो या साधु के या वेश में, जैन कुल मे उत्पन्न हुआ हो या जेनेतर कुल मे, विषय-वासना में आसक्ति एव दुष्कर्म मे प्रवृत्ति रखना किसी के लिए भी हितप्रद नही है। फल भोग के समय लिग, वेश एव कुल का भेद नहीं किया जाता। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसे उसके अनुरूप फल भोगना होता है।

परन्तु, अज्ञान से आवृत व्यक्ति इस बात को भूल जाता है और वह अशरण

रूप दुष्कर्म को शरणभूत मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। परिणामस्वरूप वह और अधिक दुःख एव कष्ट का वेदन करता है। कुछ व्यक्ति विषय-वासना का त्याग करके मुनि बनते है, परन्तु फिर से विषय-कषाय के वश मे होकर अकेले विचरने लगते है। इससे उन पर आचार्य एव गुरु आदि किसी का नियन्त्रण नहीं रहता और अनुशासन के अभाव मे उनके जीवन मे कषायो—क्रोध, मान, माया, लोभ एवं विषयो की अभिवृद्धि होती है। वह गुप्त रूप से पाप कर्म मे प्रवृत रहता है और परिणामस्वरूप वह पतन के गर्त मे गिरता है।

अज्ञान के कारण ही कुछ व्यक्ति अधर्म एवं पापकार्यो को धर्मस्वरूप समझते हैं। दुराग्रह के कारण वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नही करते। या यों कहिए कि वे अपनी स्वार्थ साधना एव मिथ्या प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए धर्म के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, अधर्म को ही धर्म का चोला पहनाकर स्वय पाप कर्म मे प्रवृत्त होते है और जनता को भी उस मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय एव अन्य पाप कर्मों को करने मे प्रवीण होते है और भोली-भाली जनता के मन मे तर्क के द्वारा अधर्म को धर्म बनाने में भी चतुर होते है। परन्तु वे धर्माचरण से सदा विमुख रहते है। वे अज्ञान या अविद्या के द्वारा ही मोक्ष मानते है। ऐसे व्यक्ति धर्म के स्वरूप को नहीं जानते। अत परिणामस्वरूप वे चार गति संसार मे परिभ्रमण करते है। ऐसे व्यक्तियो के ससार का अन्त नही हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र मे जो यह बताया गया है कि अकेले साधु के जीवन मे विषय-कषाय की अभिवृद्धि होती है। वह विषय-वासना एव प्रकृति की विषमता के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है, न कि सभी साधुओ के लिए। क्योकि कुछ साधक अकेले रहकर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हे अकेले विचरने की आज्ञा देते है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र मे एकाकी विहार समाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने के लिए, जिनकल्प पर्याय को ग्रहण करने के लिए या किसी विशेष परिस्थितिवश मुनि गुरु एव सघ के आचार्य की आज्ञा लेकर अकेला विचरता है, तो वह अपने आत्मगुणो में अभिवृद्धि करता है। अत· आचाराङ्ग सूत्र का यह पाठ उन मुनियों के लिए है, जो

विशेष साधना एवं किसी विशिष्ट कारण के बिना ही गुरु आदि की आज्ञा लिए बिना ही अपनी प्रकृति की विषमता से या विषय-वासना से प्रेरित होकर अकेले विचरते है।

प्रस्तुत सूत्र मे जो "एतेसु चेव आरभ जीवी" पाठ दिया है, वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"एतेषु सावद्यारम्भ प्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थ वर्तमान-स्तीर्थिक. पार्श्वस्थादिर्वा 'आरभजीवी' सावद्यानुष्ठानवृत्ति. पूर्वोक्त दु खभागू भवति।' अर्थात् गृहस्थ आदि मे जो सावद्यवृत्ति होती है, उसका परिणाम दुःखप्रद होता है।

"इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ" की व्याख्या करते हुए लिखा है—"अत्र अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीत- सयमाभ्युपगमे बालो रागद्वेषाकुलित. परितप्यमानः परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते" अर्थात्—अर्हत् भगवान के शासन मे दीक्षित होकर भी कोई-कोई अज्ञानी व्यक्ति विषय-कषाय के वश पाप कर्म में रमण करते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे 'रमइ रमते' वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार के समय मे भी ऐसे व्यक्ति रहे हो। 'इत्यादि पाठ से भी यह ध्वनित होता है और ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि मोहकर्म के उदय मे आने वाली उत्तर प्रकृतियो के कारण उस युग मे भी सयम से पथभ्रष्ट होना संभव हो सकता है।

'माणव' शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य ही मोक्ष की सम्यक् साधना कर सकता है। अन्य योनि से मुक्ति की प्राप्ति नही होती।

'अविज्जाए पलि मुक्खमाहु' का तात्पर्य है कि जो अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विद्या से विपरीत अविद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानते है, वे धर्म तत्त्व से अनभिज्ञ है।

त्तिबेमि का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे मुनित्व की साधना से दूर रहे हुए व्यक्तियो के विषय मे वर्णन किया गया था। प्रस्तुत उद्देशक मे उन साधको के जीवन का विवेचन किया गया है, जो मुनित्व की साधना मे सलग्न रहते है। मुनि कौन हो सकता है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–आवन्ती केयावन्ती लोए अणारम्भजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति उन्नेसी एस मग्गे आरिएहि पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं साय, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुटठो फासे विपणुन्नए॥147॥

छाया–यावन्त· केचन लोके अनारम्भजीविन· तेषु अत्रोपरतः तत् झोषयन् अयं सन्धिरिति अद्राक्षीत् योऽस्य विग्रहस्य अयं क्षण इति अन्वेषी एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः उत्थित· न प्रमादयेत् ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं पृथक् छन्दाः इह मानवा· पृथग् दुःखं प्रवेदित स अहिसन् अनपवदन् स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रणोदयेत्–विप्रेरयेत्।

पदार्थ–आवती–जितने। **केयावंती**–कितने एक। **लोए**–लोक में। **अणारंभजीविणो**–आरम्भ से रहित आजीविका करने वाले। **तेसु**–उन आरम्भ युक्त गृहस्थों मे अनारम्भ जीवी होते है, तथा। **एत्थोवरए**–इस सावद्यारम्भ से उपरत है। **त**–उस सावद्यारम्भ से आये हुए पाप कर्म को। **झोसमाणे**–क्षय करता हुआ मुनि भाव धारण करता है। **अयं**–यह। **संधीति**–अवसर इस प्रकार। **अदक्खू**–देखे। **जे**–जो। **इमस्स**–इस। **विग्गहस्स**–औदारिक शरीर तथा। **अयं**–यह। **खणेत्ति**–क्षण। **अन्नेसी**–इनके अन्वेषण करने वाला, सदैव ही अप्रमत्त होता है।

एस—यह। **मग्गे**—मार्ग। **आरिएहिं**—आर्यो—तीर्थकरो द्वारा। **पवेइए**—प्रवेदित-प्रतिपादित है। **उट्ठिए**—धर्म ग्रहण करने मे उद्यत हुए। **नोपमायए**—प्रमाद न करे, किन्तु। **जाणित्तु**—जान कर। **दुक्खं**—दु ख और उसके कारण कर्म तथा। **पत्तेयं**—प्रत्येक-प्राणी की। **सायं**—साता को। इह—इस संसार मे। **पुढो**—अलग-अलग। **छदा**—अभिप्राय है। **माणवा**—नाना प्रकार के अध्यवसाय वाले मनुष्य है। **पुढो**—पृथक् पृथक्। **दुक्खं**—दु ख प्राणियो का। **पवेइय**—कथन किया गया है। **से**—वह। **अविहिसमाणे**—हिसा न करता हुआ। **अणवयमाणे**—असत्य न बोलता हुआ—हे शिष्य तू अनारम्भ जीवी को देख। **फासे**—शीतोष्ण स्पर्शो व परीपहो को। **पुट्ठो**—स्पर्शित हुआ। **विपणुन्नए**—नाना प्रकार की भावनाओ द्वारा उन कष्टो को सहन करे, किन्तु व्याकुल न होवे।

मूलार्थ—लोक मे जितने भी अनारम्भजीवी साधु है, गृहस्थो से आहारादि लेकर अनारम्भी जीवन व्यतीत करते है, वे सावद्यकर्म से उपरत है, पाप कर्म को क्षय करते हुए, साधुमार्ग को ग्रहण करते है। हे शिष्य! तू इस अवसर को देख, जो इस शरीर के स्वरूप को जानता है, वह अवसर का अन्वेषण करने वाला है। यह मार्ग तीर्थकर या गणधरो द्वारा कथित है। सयम मे उद्यत हुए प्राणी को प्रत्येक प्राणी के सुख-दु:ख को जानकर प्रमाद नही करना चाहिए। जीवो के पृथक्-पृथक् अभिप्राय हे, पृथक्-पृथक् मानवो के अध्यवसाय हैं, पृथक्-पृथक् प्राणियो का दु:ख कथन किया गया हे। वह अनारम्भ जीवी किसी की हिसा न करता हुआ, असत्य न बोलता हुआ, शीतोष्ण परीपहों के स्पर्शित होने पर उन कष्टो को सम्यग् रूप से सहन करता है, किन्तु व्याकुल नही होता, क्योकि वह सम्यग्दर्शन से युक्त है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे मुनि-जीवन का विश्लेषण किया गया है। मुनि के लिए आगम मे बताया गया है कि वह पूर्णत हिसा का त्यागी होता है। अत लोक मे जितने भी प्राणी है, उनमे मुनि का आचार विशिष्ट है, क्योकि असयत प्राणियो का जीवन आरम्भ से युक्त होता है, परन्तु मुनि का जीवन अनारम्भी—आरम्भ से रहित होता है। वह किसी भी स्थिति-परिस्थिति मे आरम्भ—हिसा का सेवन नहीं करता। उसके तीन करण और तीन योग से हिसा करने का त्याग होता है। वह मन-वचन और काय

से न तो किसी प्राणी की हिसा करता है, न दूसरे व्यक्ति से हिसा कराता है और न किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई हिसा का अनुमोदन या समर्थन ही करता है।

वह गृहस्थ की निश्रा—गृहस्थ के अधिकार मे रहे हुए उसके मकान मे उसकी आज्ञा से रहता है। फिर भी उसके अनुशासन को मानकर नहीं चलता। उसकी निश्रा मे रहते हुए वह आरभ की ओर प्रवृत्त नही होता। इसका तात्पर्य यह है कि वह गृहस्थ की आज्ञा से उसके मकान में रहते हुए भी ऐसा आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, तख्त आदि आवश्यक साधन-सामग्री स्वीकार नही करता, जिसमे उसके लिए आरम्भ-समारम्भ किया गया हो। वह स्वतन्त्र रूप से आहार आदि लाने के लिए जाएगा और अपनी साधु-मर्यादा के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक एव ऐषणिक आहार को ग्रहण करेगा। इस प्रकार वह अपनी समस्त क्रियाए स्वय विवेकपूर्वक करता है और अपने जीवन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। इसलिए उसकी समस्त क्रियाएँ निष्पाप होती है। वह पाप कर्म का क्षय करता हुआ मुनि भाव मे विचरण करता है।

वह इस बात को जानता है कि यह मार्ग ही प्रशस्त है, सब दु खो से मुक्त करनेवाला है। क्योकि यह मार्ग तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट है। इसलिए यह मार्ग सबके लिए क्षेमकर है। इस मार्ग मे किसी भी प्राणी को संक्लेश उत्पन्न नही होता। मुनि अपने हित के साथ प्राणिमात्र के हित का ध्यान रखता है। वह अपने मन-वचन और शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट नही पहुचाता। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकंपा एव दया का भाव रखता है। अत यह मार्ग सर्वश्रेष्ठ एव प्राणिजगत के लिए हितप्रद है।

निष्कर्ष यह है कि यह मार्ग प्रशस्त है। परन्तु प्रशस्त के साथ कठिन भी है। इसीलिए इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति को पूरी सावधानी रखनी होती है। अत आगम मे मुनि को विवेकपूर्वक एव अप्रमत्त भाव से क्रिया करने का आदेश दिया गया है। मुनि को प्रत्येक कार्य विवेक, यत्ना एवं अप्रमत्त भाव से करना चाहिए, जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट एवं पीड़ा न हो। अत· साधक के लिए त्याग करना आवश्यक है[1]। क्योंकि अयत्नापूर्वक चलने वाला, खड़ा रहने वाला, बैठने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, शयन करने वाला, प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिसा

1 दशवैकालिक सूत्र 4, 1, 6

करता है, पाप कर्म का बन्ध करता है, जिससे वह कटु फल को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि अयत्ना एव प्रमादपूर्वक की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है और विवेकपूर्वक अप्रमत्त भाव से की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

अत. मुनि को प्रत्येक समय प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त भाव से साधना मे सलग्न रहना चाहिए और किसी भी स्थिति मे आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल एव अनुकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी उसे अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट के समय भी उसे आरम्भ का सेवन नही करना चाहिए, क्योंकि यह आर्योपदिष्ट मार्ग बार-बार नही मिलता। इसलिए प्राप्त हुए अवसर को सफल बनाने के लिए साधक को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि आए हुए परीषहो को सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूवसंधिं॥148॥

छाया—एष सम्यक् (शमिता) पर्यायः व्याख्यातः ये असक्ताः पापेषु कर्म्मसु कदाचित् तान् आतंकाः स्पृशन्ति इति उदाहृतवान् धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः सन् अध्यासयेत् पूर्वमप्येतत् पश्चादप्येतद् भिदुरधर्म, विध्वंसनधर्ममध्रुवं, अनित्यं, अशाश्वत, चयापचयिकं, विपरिणामधर्म्म पश्यतैनं रूपसधिम्।

पदार्थ—एस समिया—यह (मुनि) परीषहो को सहन करने वाला। **परियाए**—और सम्यक् प्रवज्या से युक्त। **वियाहिए**—कहा गया है। अब रोग के उत्पन्न होने पर सहिष्णुता रखने वाले साधक के सम्बन्ध मे कहते है। **उदाहु**—तीर्थकरों ने इस प्रकार कहा है, कि। **जे**—जो। **पावेहिं**—पाप कर्मो मे। **असत्ता**—आसक्त नहीं है। **ते**—ऐसे मुनियो को। **आयंका**—आतक—रोग। **फुसति**—स्पर्श करता है। **इति उदाहु**—तब उनके सम्बन्ध मे कहते है कि। **धीरे**—वे धैर्यवान पुरुष। **ते**—उन।

फासे पुट्ठो—रोगादि के स्पर्श होने पर वह। **अहियासइ**—सम्यक्तया सहन करे। **से**—वह रोग आदि से पीडित मुनि यह सोचे कि। **पुव्विंपेयं**—मैंने पहले भी रोगादि के दु'खों को सहन किया था। **पच्छापेयं**—बाद मे भी होने वाला रोगादि का दु.ख मुझे ही सहन करना है, फिर—यह औदारिक शरीर। **भिउरधम्मं**—भेदेन धर्म—स्वभाव वाला है। **विद्धंसण**—विध्वस होने वाला है। **अधुवं**—अध्रुव है। **अणिइयं**—अनित्य है। **असासयं**—अशाश्वत है। **चयावचइयं**—चय-उपचय वाला है। **विप्परिणामधम्मं**—विपरिणाम धर्म वाला है, अत । **एयं रूवसंधि**—इस अमूल्य अवसर को। **पासह**—देख, अर्थात् इस शरीर की स्थिति पर विचार करके रोग आदि दु खो एव परीषहों को समभाव पूर्वक सहन कर।

मूलार्थ—जो साधक पाप कर्म मे आसक्त नही है, ऐसे चारित्रनिष्ठ साधक को मुनि कहा गया है। उसके लिए तीर्थकरो ने कहा है कि वह धैर्यवान साधक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उन्हे समभाव पूर्वक सहन करता है। वह सयमी पुरुष ऐसा सोचता-विचारता है कि यह रोग मैंने पहले भी सहन किया था और पीछे भी मुझे सहन करना ही है। यह शरीर स्थायी रहने वाला नही है। यह विध्वस—नष्ट होने वाला है। यह अध्रुव, अनित्य अशाश्वत है, ह्रास और अभिवृद्धि वाला है। अत ऐसे नाशवान शरीर पर क्या ममत्व करना? इस तरह शरीर के स्वरूप एव प्राप्त हुए अमूल्य अवसर को देखो।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधक को कष्टसहिष्णु बनने का उपदेश दिया गया है। औदारिक शरीर रोगो का आवास स्थल है। जब तक पुण्योदय रहता है, तब तक रोग भी दबे रहते है। परन्तु असातावेदनीय कर्म का उदय होते ही अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है। अत शरीर मे रोग एव वेदना का उत्पन्न होना सरल है, क्योकि औदारिक शरीर ही रोगो से भरा हुआ है। इसलिए रोगो के उत्पन्न होने पर साधक को आकुल-व्याकुल नही होना चाहिए। उन्हे अशुभ कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय साधक को यह सोचना चाहिए कि पहले भी मैने रोगों के कष्ट को सहन किया है और अब भी उदय में आए हुए वेदनीय कर्म को वेदना ही होगा। अत हाय-हाय करके अशुभ कर्म का बध क्यों करू? यह वेदना मेरे कृत कर्म का ही

फल है। अत समभाव पूर्वक ही सहना चाहिए; यह शरीर सदा स्थायी रहने वाला नहीं है। प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह अध्रुव है, अशाश्वत है, अनित्य है, ह्रास एव अभिवृद्धि वाला है। अत. इसके लिए इतनी चिन्ता क्यो करनी चाहिए? इस तरह धैर्य के साथ कष्ट एव वेदना को सहकर अशुभ कर्म नष्ट कर दे और आगे पाप कर्म का बन्ध नहीं होने दे।

मुनि जीवन का उद्देश्य है—समस्त कर्म बन्धनों को तोड कर निष्कर्म बनना। अत मुनि को सदा-सर्वदा इस शरीर एव जीवन को अनित्य समझकर अपने आत्मविकास मे सलग्न रहना चाहिए। यह सत्य है कि शरीर आत्मविकास का साधन है। अत साध्य की सिद्धि के लिए साधन को भी व्यवस्थित रखना चाहिए। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि साधन का महत्त्व साध्य सिद्धि के लिए है। यदि उसका उपयोग अपने लक्ष्य को साधने मे नही हो रहा है, तो फिर उसका कोई मूल्य नही रह जाता है। अत शरीर का ध्यान भी सयम साधना के लिए है, न कि शरीर पोषण के लिए। इसलिए रोगादि कष्टो के उपस्थित होने पर साधक को उसके लिए आर्त, रौद्र ध्यान नही करना चाहिए। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वस्थ होने का भी प्रयत्न न करे। साधक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए निर्दोष औषध आदि का उपयोग कर सकता है, परन्तु साथ मे मानसिक, आत्मिक स्वस्थता को बनाए रखते हुए। इसका तात्पर्य इतना ही है कि उस रोग से उसके मन मे, विचारो मे एव आचार मे किसी तरह की विकृति न आए। महावेदना का प्रसग उपस्थित होने पर भी धैर्य एव सहिष्णुता का त्याग न करे। हर परिस्थिति मे वह आत्मचिन्तन मे सलग्न रहने का प्रयत्न करे। इससे पूर्व मे बधे हुए कर्मो का क्षय होगा और अभिनव कर्मो (पाप कर्म) का बन्ध नही होगा। इस तरह वह एक दिन निष्कर्म बन सकेगा। अतः समभाव पूर्वक परीषहो एव कष्टों को सहन करने से वह एक दिन सम्पूर्ण परीषहो एव कष्टो से मुक्त हो जाएगा।

इसलिए साधक को कष्ट के समय अपने मन को शरीर से हटा कर आत्म-चिन्तन मे लगाना चाहिए और धैर्य के साथ कष्टों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए। यही तीर्थकर भगवान का उपदेश है।

इस तरह शरीर एव आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले चिन्तनशील

व्यक्ति को किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–समुप्पेहमाणस्स इक्कायणरयस्स इह विप्पमुक्स्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि॥149॥

छाया–सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्तिमार्गः विरतस्य, इति ब्रवीमि।

पदार्थ–समुप्पेहमाणस्स–सम्यक् प्रकार के अनुप्रेक्षा करने वाले को। **इक्कायणरयस्स**–ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्न त्रय मे सलग्न रहने वाले को। इह **विप्पमुक्कस्स**–इस शरीर के ममत्व से रहित व्यक्ति को। **विरयस्स**–हिसा आदि आस्रवों से निवृत्त व्यक्ति को। **नत्थि मग्गे**–नरकादि गतियों का मार्ग प्राप्त नही होता। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ–सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्व नही रखने वाला और हिसा आदि आस्रवो से निवृत्त साधक नरकादि गतियो मे नही जाता ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि ससार परिभ्रमण एव नरकादि गतियो मे उत्पन्न होने का कारण पापकर्म है। विपय कषाय मे आसक्ति एव हिसा आदि दोषो मे प्रवृत्ति होने से पाप कर्म का बन्ध होता है और इस तरह विषयासक्त व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। अत· ससार का अन्त करने के लिए आगम मे हिसा आदि दोषो से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे यही बताया गया है कि जो साधक रत्नत्रय की साधना मे सलग्न है, शरीर एव सयम पालन के अन्य साधनो पर ममत्व भाव नही रखता है और विषय-कषाय एव हिसा आदि दोषो से आसक्त नही है, वह नरक, तिर्यंच आदि गतियो मे नही जाता।

प्रस्तुत सूत्र मे "इक्कायणरयस्स" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसके द्वारा

आत्मा को सब तरह से पापो से रोका जाए उसे आयतन कहते है। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध है और उस रत्नत्रय मे सलग्न रहने वाले साधक को 'एकायतन रत' कहते है। अत· 'इक्कायणरयस्स' का अर्थ हुआ जो साधन रत्नत्रय की साधना-आराधना मे सलग्न है।

'नत्थिमग्गे विरयस्स' का तात्पर्य यह है कि जो साधु हिसा आदि दोषो से विरक्त है, निवृत्त है, उसके ससार परिभ्रमण का मार्ग नही रह जाता है।

दोषो से निवृत्त व्यक्ति का वर्णन करके अब सूत्रकार अविरत एवं परिग्रही व्यक्ति के विषय में कहते है—

मूलम्—आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसि महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च ण उवेहाए, एए संगे अवियाणओ॥150॥

छाया—यावन्त· केचन लोके परिग्रहवन्तः तदल्प वा बहु वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवद् वाचित्तवद् वा एतेष्वेव परिग्रहवन्तः एतदेव एकेषां महाभयं भवति लोकवित्तं च (वृत्तम्) उत्प्रेक्ष्य एतान् सगानविजानत·।

पदार्थ—आवती—जितने। **केयावती**—कितनेक। **लोगंसि**—लोक मे। **परिग्गहावंती**—परिग्रह वाले है। **से**—वह-द्रव्य। **अप्पं**—अल्प। **वा**—अथवा। **बहुं**—वहुत। **वा**—अथवा। **अणु**—छोटा मूल मे वा भार मे। **वा**—अथवा। **थूलं**—स्थूल। **वा**—अथवा। **चित्तमंतं**—चेतना वाला। **वा**—अथवा। **अचित्तमंतं**—चेतना से रहित। **वा**—परस्पर अपेक्षा मे। **एएसु**—इस परिग्रह मे गृहस्थो के समान साधु भी हो जाते है—यदि वे परिग्रह से युक्त हो तो। **च**—पुन। **एव**—अवधारणार्थ में जानना। **परिग्गहावती**—वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं। **एतदेव**—इसी परिग्रह मे भी। **एगेसिं**—बहुतो को। **महब्भयं**—महाभय। **भवइ**—होता है। **च**—पुन·। **णं**—वाक्यालकार अर्थ मे है। **लोगवित्तं**—असयत्त लोक मे वित्त-धन-वा लोकवृत्त, आहार, भय, मैथुन परिग्रह आदि। **उवेहाए**—विचार कर (इनका परित्याग करे) तथा। **एए**—इन अल्प परिग्रह आदि के। **संगे**—संग को। **अवियाणओ**—न जानता हुआ।

मूलार्थ—लोक में कितनेक परिग्रह वाले होते है, वह परिग्रह अल्प, बहुत स्थूल,

अणु, सचित्त और अचित (चेतना वाला वा चेतना रहित) 'रूप से अनेक प्रकार का है'। त्यागी-मुनि-विरत भी यदि मूर्छायुक्त हों तो वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं। इसी परिग्रह मे कितनेक जीवों को महाभय होता है। अत· लोक वित्त का विचार करके इसका परित्याग करे। इस परिग्रह के संग का त्याग करता हुआ भययुक्त नही होता।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में भय का कारण वताते हुए कहा गया है कि ससार मे जितने भी भय हें, वे सब परिग्रही व्यक्ति को है। जब प्राणी पदार्थो एव शरीर पर आसक्ति एव ममत्वभाव रखता है, तो उसे कई तरह की चिन्ताए लग जाती हैं। वह रात-दिन चिन्तित, सशक एव भयभीत-सा रहता है। किन्तु अपरिग्रही मुनि को किसी तरह की चिन्ता एव भय नही होता, यहा तक कि मृत्यु के समय भी वह निर्भय रहता है। क्योकि शरीर पर भी उसे ममत्व भाव नहीं है। वह शरीर को केवल संयम साधना का साधन मानता है और साथ मे वह यह भी जानता है कि यह नष्ट होने वाला है। अत उसके नाश होने के समय उसे न चिन्ता होती है और न भय ही होता है। परन्तु साधु बनने के पश्चात् भी जो शरीर पर एवं अन्य साधनो पर ममत्वभाव रखते है, वे नय से मुक्त नही होते और ऐसे साधक परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त नही होते।

इससे स्पष्ट है कि भय का मूल कारण परिग्रह है। इसकी आसक्ति के कारण मानव मन मे एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का भाव उद्बुद्ध होता है और इसी कारण वह सदा भयभीत रहता है। चाहे परिग्रह परिणाम मे थोडा हो या बहुत, वह-एक दूसरे के मन मे शंका—सन्देह एव भय को जन्म देता है और दो दिलो के बीच मे भेद की दीवार खडी कर देता है। इसलिए आगम मे मुनि के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य कहा गया है।

परिग्रह भी दो प्रकार का है—द्रव्य और भाव। भाव परिग्रह—मूर्छा, आसक्ति आदि हे। द्रव्य परिग्रह भी लौकिक वित्त और लोकवृत्त के भेद से दो प्रकार का माना गया हे। धन-धान्य आदि परिग्रह लौकिक वित्त मे गिना गया है और आहार संज्ञा, भय सज्ञा, मैथुनसज्ञा, परिग्रहसज्ञा आदि परिग्रह लोकवृत्त मे माना गया है। सभी तरह का परिग्रह भय का कारण है। इसलिए मुनि को परिग्रह मात्र का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए। अत· साधु के लिए थोडा या बहुत परिग्रह त्याज्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है।

मूलम्—से सुपडिबुद्धं सूवणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे—बन्धपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्तिबेमि॥151॥

छाया—तस्य सुप्रतिबद्ध सूपनीतमिति ज्ञात्वा हे पुरुष! परम चक्षुः! पराक्रमस्व एतेष्वेव ब्रह्मचर्यमिति ब्रवीमि तच्छ्रुतं च मया अध्यात्मं च मया बन्ध प्रमोक्षः अध्यात्मन्येव अत्र विरतः अनगार· दीर्घरात्रं तितिक्षेत् प्रमत्तान् बहिः पश्य! अप्रमत्त· परिव्रजेत् एतन्मौनं सम्यक् अनुबासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह परिग्रह से विमुक्त मुनि। **सुपडिबद्धं**—जिसने भली प्रकार से बोध प्राप्त किया है। **सूवणीयंति**—भली प्रकार से ज्ञानादि प्राप्त किए है। **नच्चा**—जानकर। **पुरिसा परमचक्खू**—हे पुरुष! परम चक्षु! **विपरिक्कमा**—मोक्ष साधन मे पराक्रम कर। **एएसु**—ये जो परिग्रह से विरत है इनमे ही। **च**—पुन.। **एव**—अवधारण अर्थ मे है। **बंभचेर**—ब्रह्मचर्य है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मे कहता हूँ। **से**—वह जो कहा है। **च**—पुन जो कहूँगा सो वह। **मे**—**सुयं**—सुना है। **च**—पुन.। **मे**—मेरे। **अज्झत्थयं**—अध्यात्म मे व्यवस्थित है। **च**—पुन·। **मे**—मैंने माना है। **बधपम्मुक्खो**—बन्ध से प्रमोक्ष। **अज्झत्थेव**—अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है। **इत्थ**—इस परिग्रह से। **विरए**—विरत। **अणगारे**—अनगार। **दीहरायं**—जीवन पर्यन्त। **तितिक्खए**—परीषहो को सहन करे। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **पमत्ते**—प्रमत्त। **बहिया**—धर्म से बाहर है अतः तू। **अप्पमत्तो**—अप्रमत्त होकर। **परिव्वए**—सयमानुष्ठान मे चल। **एयं**—यही। **मोणं**—मुनि का मुनित्व। **सम्म**—सम्यक् प्रकार से। **अणुवासिज्जासि**—अनुपालन कर। **तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—ज्ञान रूप चक्षु रखने वाले हे पुरुष! तू परिग्रह के त्यागी मुनि के भली प्रकार से प्राप्त हुए सुदृढ ज्ञानादि का विचार करके तपोनुष्ठान विधि से सयम मे प्रयत्न कर! जो ये परिग्रह से विरत है, इन्ही मे ब्रह्मचर्य अवस्थित है। इस प्रकार मै कहता हू, मैने सुना है और मन मे निश्चय किया हुआ है कि पुरुष ब्रह्मचर्य से ही बन्धन से मुक्त हो सकता है। परिग्रह का त्यागी अनगार जीवन पर्यन्त परीषहो को

सहन करे। हे शिष्य! जो व्यक्ति धर्म से बाहर हैं, उनको तू देख और अप्रमत्त होकर सयम मार्ग मे विचरण कर! यही मुनि का मुनित्व है। अत तू सम्यक् प्रकार विहित क्रियाओ का पालन कर।

हिन्दी-विवेचन

हम देख चुके है कि परिग्रह आत्मविकास मे प्रतिबन्धक है। जब तक पदार्थो मे आसक्ति रहती है, तब तक आत्मिक गुणो का विकास नही होता। अत निष्परिग्रही व्यक्ति ही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ सकता है। वही विषय-वासना एव दोषों से निवृत्त हो सकता है। क्योंकि जीवन मे वासना की उत्पत्ति परिग्रह—आसक्ति से होती है। पदार्थो मे आसक्त व्यक्ति ही अब्रह्मचर्य या विषय-सेवन की ओर प्रवृत्त होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में पदार्थो के प्रति मूर्छाभाव नहीं है, उसके मन मे कभी भी विषयवासना की आग प्रज्वलित नही होती। अत. परिग्रह से वासना जागृत होती है और विषय-भोग से कर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप संसार परिभ्रमण एव दु ख के प्रवाह में अभिवृद्धि होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को विषय-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए परिग्रह, अर्थात् पदार्थो पर स्थित मूर्छा—ममता, आसक्ति एव भोगेच्छा का त्याग करना चाहिए।

विषय में आसक्त एव प्रमत्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य का परिपालन नही कर सकते। वे अपनी इच्छा, आकाक्षा एव वासना की पूर्ति के लिए विषय-भोगों में सलग्न रहते है। उन्हे प्राप्त करने के लिए रात-दिन छल-कपट एव आरभ-समारभ करते है और फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके ससार मे परिभ्रमण करते है। अत मुनि को उन प्रमत्त जीवो की स्थिति को देख कर विषय-भोगो का एव परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह से रहित व्यक्ति के मन मे सदा शान्ति का सागर ठाठे मारता रहता है। कठिन से कठिन परिस्थिति मे भी वह सहनशीलता का त्याग नही करता। यो कहना चाहिए कि उसकी सहिष्णुता मे अभिवृद्धि होती है। अत मुमुक्षु पुरुष को निष्परिग्रही होकर विचरना चाहिए।

त्तिबेमि की व्याख्या पूर्वक समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे अविरत और परिग्रही व्यक्तियो के जीवन का उल्लेख किया है। प्रस्तुत उद्देशक मे विरत और अपरिग्रही साधक के जीवन का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं, पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नथ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं॥152॥

छाया—यावन्त केचन लोके अपरिग्रहवन्त· एतेष्वेव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा वाचं मेधावी पडितानां निशम्य समतया धर्म· आर्यैः प्रवेदितः यथाऽत्र मया सन्धिः झोषित· एवमन्यत्र सन्धि दुर्झोष्यो भवति, तस्माद् ब्रवीमि नो निहन्यात् वीर्यम्।

पदार्थ—लोयंसि—इस लोक मे। **आवंती केयावंती**—जितने भी। **अपरिग्ग-हावंती**—अपरिग्रही व्यक्ति है। **च**—और। **एव**—निश्चय ही। **एएसु**—इन मे। **अपरिग्ग-हावंती**—निष्परिग्रही व्यक्ति। **मेहावी**—बुद्धिमान। **पडियाण**—पडितों के। **वई**—वचन। **सोच्चा**—सुनकर। **समियाए**—समभाव से। **निसामिया**—हृदय मे विचार कर, कि। **आरिएहिं**—आर्यपुरुषो ने। **धम्मे**—धर्म का। **पवेइए**—कथन किया है, और। **जहित्थ**—इस ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म से। **मए**—मैंने। **संधी झोसिए**—कर्म सन्तति को क्षय किया है। **एवं**—इस प्रकार। **अणत्थ**—अन्यतीर्थियों के मत मे। **संधी**—कर्म सन्तति को। **दुज्झोसए**—क्षय करना कठिन। **भवति**—होता है। **तम्हा**—इसलिए। **बेमि**—मै कहता हूँ कि सयम परिपालन मे। **वीरिय**—पुरुषार्थ को। **नो निहणिज्ज**—गोपन नही करना चाहिए, अर्थात् छिपाना नही चाहिए।

मूलार्थ—इस लोक में जितने भी मनुष्य है, उनमे कुछ ही निष्परिग्रही व्यक्ति होते हैं। पडितो के वचन सुनकर एव हृदय मे विचार कर बुद्धिमान पुरुष अपरिग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते है कि आर्य पुरुषो ने समभाव से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे मैने रत्नत्रय का आराधन करके कर्म का क्षय किया है, वैसे ही अन्य प्राणी भी कर्म का क्षय कर सकते है। क्योकि अन्य मत-मतान्तर में कर्म का क्षय होना कठिन है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को सयम-साधना मे पुरुषार्थ का गोपन नही करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

परिग्रह के दो भेद है—द्रव्य और भाव परिग्रह। धन, धान्यादि पदार्थ द्रव्य परिग्रह मे गिने जाते हैं और मूर्छा, आसक्ति एव ममत्वभाव को भाव परिग्रह कहा गया है। दशवैकालीक सूत्र मे परिग्रह की परिभाषा करते हुए मूर्छा को ही परिग्रह माना गया है[1]। तत्त्वार्थ सूत्र मे भी आगम की इसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है[2], क्योकि द्रव्य परिग्रह की अपेक्षा भाव परिग्रह का अधिक महत्त्व है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन-वैभव एव अन्य पदार्थो का अभाव है या कमी है, परन्तु उसके मन में परिग्रह की तृष्णा, आकांक्षा एव ममता बनी हुई है, तो द्रव्य-परिग्रह कम या नहीं होने पर भी उसे अपरिग्रही नही कह सकते। वही व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, जो भाव परिग्रह का त्यागी है, जिसके मन में पदार्थो के प्रति ममता, मूर्छा एवं तृष्णा नही है। अत ममत्व का त्याग करना ही निष्परिग्रही बनना है। ऐसे निष्परिग्रही व्यक्ति कुछ ही होते है।

वे प्रबुद्ध पुरुषो के वचन सुनकर और उनपर चिन्तन-मनन करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते है। वे परिग्रह से होने वाले दुष्परिणामों को जानकर उसका त्याग करते है। इससे श्रुतज्ञान का महत्त्व बताया गया है, क्योकि श्रुतज्ञान के द्वारा मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी हेयोपादेयता की ठीक जानकारी मिलती है और उसके जीवन मे त्याग एव समभाव की ज्योति जगती है। समभाव साधना का मूल है, इसी के आश्रय से अन्य गुणों का विकास होता है और आत्मा कर्मो का छेदन करके

1 मुच्छापरिग्गहोवुत्ता —दशवैकालिक सूत्र 6, 21

2 मूर्च्छा परिग्रह —तत्त्वार्थ सूत्र 7, 17

निष्कर्म बनता है। अत. बुद्धिमान व्यक्ति प्रबुद्ध पुरुषो के आर्य वचन सुनकर समभाव एव अपरिग्रह को स्वीकार करते हैं।

"समियाए धम्मे, आरिएहि पवेइए" का अर्थ है—यह समता रूप धर्म आर्य—तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। अहिसा अपरिग्रह आदि भी समता के ही रूप हैं। अहिसक एव अपरिग्रही—अनासक्त व्यक्ति ही शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रख सकता है। जिसके जीवन मे अहिसा, दया, करुणा का अभाव है तथा पदार्थो के प्राप्त करने की अभिलाषा बनी हुई है, तो वह व्यक्ति किसी भी प्राणी के प्रति समभाव नही रख सकता। अत हिसा, परिग्रह आदि दोषो का त्यागी व्यक्ति ही समभाव की साधना कर सकता है। उसके मन मे छोटे-बडे का या शत्रु-मित्र का कोई भेद नहीं रहता। वह सब व्यक्तियो को समान भाव से कल्याण का मार्ग बताता है, उसकी उपदेश धारा मे राजा-रक या छूत-अछूत का भेद नही होता। वह जो बात धनवान से कहता है, वही हितकर उपदेशक एक दर-दर के भिखारी को भी देता है[1]। इससे स्पष्ट है कि भगवान की वाणी मे समभाव की धारा बहती रहती है। क्योकि उनका जीवन हिसा, परिग्रह आदि दोषो से ऊपर उठा हुआ है और उन्होने हिसा आदि दोषो के पनपने के कारण राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। अत हिसा, परिग्रह आदि दोषो से रहित व्यक्ति ही आर्य हो सकता है।

यह समता एव अपरिग्रह की साधना का मार्ग ऐसे आर्य पुरुषों द्वारा कहा गया है, जिन्होंने समभाव के द्वारा कर्म बन्ध की परम्परा का उच्छेद करके निष्कर्म बनने की ओर कदम बढाया है। इससे स्पष्ट है कि समभाव की साधना से जीवन मे अहिसा, अपरिग्रह आदि आत्म गुणो का विकास होता है और पूर्व मे बधे हुए कर्मो का क्षय होकर आत्मा निष्कर्म बन जाता है। कर्म क्षय का यह मार्ग अन्य मत-मतान्तर मे नही मिलता, क्योंकि अन्य मत-मतान्तर मे पूर्ण अहिसा एव अपरिग्रह की साधना को स्वीकार नही किया गया है। अत उसके बिना जीवन मे समभाव नही आता और समभाव के बिना कर्म का क्षय नही होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि अन्य मत-मतान्तर मे बताई गई साधना से कर्म परपरा का नाश होना दुष्कार है।

इसलिए साधक को अपरिग्रह की साधना मे प्रमाद नही करना चाहिए और

1 जहा पुणस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।

सयम का पालन करने में अपनी शक्ति का गोपन नही करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, सोऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति॥153॥

छाया–य· पूर्वोत्थायी नो पश्यान्निपाती, य· पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यो नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, सोऽपि तादृश एवं स्याद् ये परिज्ञाय लोकमन्वेषयन्ति।

पदार्थ–**जे**–जो। **पुव्वुट्ठाई**–पहले त्याग-वैराग्य भाव से संयम साधना के लिए उद्यत होता है। **नो पच्छानिवाई**–वह पीछे सयम मार्ग से पतित नहीं होता। **जे**–जो। **पुव्वुट्ठाई**–पहले तो त्याग-वैराग्य से सयम स्वीकार करता है, परन्तु। **पच्छानिवाई**–पीछे पथ भ्रष्ट हो जाता है। **जे**–जो। **नो पुव्वुट्ठाई**–पहले त्याग-वैराग्य से संयम नही लेता। **नो पच्छानिवाई**–पीछे पतित भी नही होता। **सोऽवि**–वह भी। **तारिसए**–गृहस्थ के तुल्य ही। **सिया**–है। जे–जो। **परिन्नाय**–परिज्ञा से जानकर। **लोगं**–लोक को। **अन्नेसयंति**–अन्वेषण करते हैं, अर्थात् लोकैषणा में निमग्न हैं, वे भी गृहस्थ के तुल्य हैं।

मूलार्थ–कुछ व्यक्ति ऐसे है, जो त्याग-वैराग्य के साथ सयम-साधना को स्वीकार करते है और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते है, अर्थात् साधना पथ से च्युत नही होते (गणधरवत्), कुछ व्यक्ति पहले तो वैराग्य से दीक्षित होते है, परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते है (नन्दीषेण मुनि की तरह)। यहा तीसरे भग का अभाव होने से उसका उल्लेख नहीं किया है। कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से सयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते है। उनमे सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हे गृहस्थ तुल्य कहा है। शाक्यादि अन्य मत के साधुओ को भी चौथे भंग मे समाविष्ट किया है। कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोक के आश्रित रहते हैं और लोकैषणा मे सलग्न रहते है, इसलिए उन्हे गृहस्थ के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि भाव चारित्र के

अभाव में साधु वेश होने पर भी उन्हे भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योकि वे गृहस्थ को तरह आरभ-समारभ में सलग्न रहते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे विचार-चिन्तन की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ व्यक्ति जीवन मे त्याग-वैगगय की भावना लेकर साधना पर चलने को उद्यत होते है और प्रतिक्षण त्याग-वैरागय को बढ़ाते चलते है। साधना के प्रारम्भ समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक वे दृढता के साथ सयम मे स्थिर रहते हैं। गणधरों की तरह उनकी साधना मे उत्तरोत्तर उज्ज्वलता एव तेजस्विता आती रहती है। इस तरह से प्रतिक्षण विकास करते हुए अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं।

कुछ व्यक्ति त्याग-वेराग्य की ज्योति लेकर दीक्षित होते है। प्रारभ मे उनके विचारो मे तेजस्विता होती है, परन्तु पीछे परीषहो के उत्पन्न होने पर मन विचलित हो उठता है। माधना की ज्योति धूमिल पड़ने लगती है। उनके विचारो मे शिथिलता आने लगती है और वे पतन की ओर लुढकने लगते है। शारीरिक एव मानसिक आराम के प्रबल झोकों के सामने त्याग-वैरागय की घनघोर घटाए स्थिर नहीं रह पाती। इस तरह कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण वे साधना पथ पर स्थित नहीं रह सकते है। परीषहो के उपस्थित होते ही पथ भ्रष्ट हो जाते है।

त्याग-वैराग्य भाव से सयम ग्रहण करना और अन्तिम क्षण तक उसका दृढता से परिपालन करना प्रथम भग है। सयम का ग्रहण करके पीछे से उसका त्याग कर देना दूसरा भग है। पहले सयम ग्रहण न करके पीछे से उसका पालन करना, यह तीसरा भग बनता है। परन्तु ऐसा हो नही सकता, क्योकि सयम का पालन एव त्याग पहले संयम स्वीकार करने पर ही घटित हो सकते है। परन्तु जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसके पीछे से सयम पालन का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। अत· तीसरा भग नही बनता है। इसलिए सूत्र मे तीसरे भग का उल्लेख नहीं किया गया है।

चतुर्थ भग में न सयम का ग्रहण होता है और न त्याग का ही प्रश्न होता है। त्याग का प्रश्न ग्रहण करने पर ही उपस्थित होता है, जो विद्यार्थी परीक्षा में बैठता ही नहीं, उसके उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही नही उठता। इसी तरह जिसने सयम को स्वीकार ही नही किया है, उसके लिये सयम के पालन एवं त्याग का प्रश्न

ही नहीं उठता। इस भग में गृहस्थ को लिया गया है, और उन साधुओ को भी इसी भग में समाविष्ट किया गया है, जो बिना भाव के साधु वेश को स्वीकार करते है और रात-दिन आरभ-समारभ मे सलग्न रहते है। कहने का तात्पर्य यह है कि संयम भाव से रहित समस्त साधु-सन्यासियो को इसी भंग मे गिना गया है और इन्हे गृहस्थ के तुल्य कहा गया है। क्योंकि द्रव्य से साधु कहलाते हुए भी रात-दिन गृहस्थ की तरह आरभ-समारभ मे लगे रहने के कारण भाव से सयम हीन होने से वे गृहस्थ की श्रेणी मे ही रखे गए है।

यह कथन स्वबुद्धि से नही, बल्कि तीर्थकरो द्वारा किया गया है। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सयासीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ॥154॥

छाया—एतद् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितं इह आज्ञाकांक्षी पण्डित· अस्निह· पूर्वापररात्रं यतमानः सदाशीलं सप्रेक्ष्य श्रुत्वा भवेत् अकामः। अज्झञ्झः अनेनैव युध्यस्व किंतु युद्धेन बाह्यतः।

पदार्थ—**एयं**—यह यत्नादिक। **नियाय**—केवलज्ञान से जान कर। **मुणिणा**—तीर्थकर देव ने। **पवेइय**—कथन किया है। **इह**—इस मौनीन्द्र प्रवचन मे स्थित। **आणाकंक्खी**—आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला। **पंडिए**—सदसत् का विवेकी। **अणिहे**—स्नेह रहित। **पुव्वावररायं**—रात्रि के पहले और पिछले पहर मे। **जयमाणे**—सदाचार का आचरण करने वाला, अर्थात् ध्यान आदि क्रियाओ का अनुष्ठान करने वाला। **सया**—सदा। **सीलं**—शील को। **सुपेहाए**—विचार कर, उसका पालन करे। **सुणिया**-सुनकर—शील सप्रेक्षण के फल को सुनकर, तथा कदाचार के फल को सुनकर। **अकामे**—इच्छा अथ च मदन—काम भोगादि से रहित। **अझंझे**—माया और लोभादि से रहित। **भवे**—होवे। **च**—परस्पर सापेक्षार्थ है। **एव**—अवधारणार्थ मे। **इमेण**—इस औदारिक शरीर के साथ। **जुज्झाहि**—युद्ध कर। **कि**—क्या है। **ते**—तुझे। **बज्झा ओ**—बाहर के। **जुज्झेण**—युद्ध से।

मूलार्थ—तीर्थकर देव ने उक्त विषय केवलज्ञान के द्वारा अवलोकन करके कथन किया है। इस जिन शासन मे स्नेह रहित आगमानुसार क्रियानुष्ठान करने वाला पडित—विचारशील पुरुष रात्रि के पहले और पिछले पहर मे यत्न करने वाला तथा सदैव काल शील को विचार कर उसके अनुसार चलनेवाला, शील और कदाचार के फल को सुनकर हृदय मे विचार कर, इच्छा, कामभोग और लोभादि रहित होवे। हे शिष्य! तू इस औदारिक शरीर के साथ युद्ध कर तुझे बाहर के युद्ध से क्या प्रयोजन है?

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे सयम-साधना को लेकर जो भग बताए गए है, वे सर्वज्ञ पुरुषो द्वारा उपदिष्ट है। उन्होने अपने ज्ञान मे देखकर यह बताया है कि सयम साधना के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है। साधना में तेजस्विता लाने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे पाच बाते बताई गई है। इन गुणो को जीवन में उतारने वाला साधक साध्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ये पाच गुण इस प्रकार हैं—1 स्नेह रहित होना, 2 सदसत् का ज्ञाता होना, 3. रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर मे अनवरत आत्म-चिन्तन करने वाला होना, 4 सदा शील का परिपालक होना और 5 कामेच्छा एव लोभ-तृष्णा का त्यागी होना।

स्नेह रहित होने का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित होना, क्योकि राग भाव मे मनुष्य हिताहित की भावना को भूल जाता है। राग के तीन भेद किए गए है—1. स्नेह राग, 2 दृष्टि राग और 3 विषय राग। स्नेह राग का अर्थ है—अपने स्नेही के दोषो को भी रागवश गुण रूप मानना, उसे गलती करने पर भी कुछ नही कहना। दृष्टि राग का अर्थ है—असत्य सिद्धान्त को असत्य होते हुए भी सांप्रदायिक रागवश सत्य मानना एवं कुतर्को के द्वारा उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। विषय राग का अर्थ है—कामभोगों के प्रति आसक्ति रखना। ये तीनो तरह का राग सयम से दूर हटाने वाला है, अत: साधक को राग भाव का परित्याग करना चाहिए।

विवेकशील व्यक्ति ही सयम का भली-भाति पालन कर सकता है। जिस व्यक्ति को सदसत् का विवेक नही है, हेयोपादेयता का बोध नही है, वह सयम का पालन नहीं कर सकता। इसलिए संयम-साधना को स्वीकार करने के पहले पदार्थों

का ज्ञान होना जरूरी है। अत. प्रस्तुत सूत्र में साधक के लिए विवेक सम्पन्न होना बताया गया है।

साधक का जीवन आत्मसाधना का जीवन है। वह रात-दिन चिन्तन-मनन मे सलग्न रहता है। वह जगल मे रहे या शहर मे, सोया हुआ हो या जागृत, चल रहा हो या बैठा हो, प्रत्येक समय आत्मसाधना मे लीन रहता है। भावों की दृष्टि से वह सदा आत्मचिन्तन में सलग्न रहता है। क्योंकि एक क्षण भी आत्मा को भूलता नहीं है। परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वह 24 घण्टे साधना नही कर सकता। कुछ आवश्यक कार्यो के लिए वह दिन मे कुछ देर के लिए स्वाध्याय-ध्यान आदि नहीं कर पाता। इसी तरह रात में कुछ समय विश्रान्ति के लिए आवश्यक है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि मुनि रात के पहले और अन्तिम प्रहर मे निरन्तर आत्मचिन्तन करे। बीच के दो प्रहर निद्रा से मुक्त होने के लिए है। इससे मस्तिष्क को विश्राम मिल जाने से थकावट अनुभव नहीं होती, जिससे वह शेष समय आत्म-चिन्तन मे रह सकता है।

शील शब्द का प्रयोग कई अर्थो मे होता है। अष्टादश सहस्रशीलाग रथ, सयम महाव्रतो का पालन, तीन गुप्तियो का आराधन, 5 इन्द्रिय एव कषाय निग्रह को शील कहते है। इन अर्थो से शील शब्द का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अत· साधक को शील का पालन करने मे प्रमाद नही करना चाहिए।

सयम का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए विषयेच्छा एव कषायो का परित्याग करना जरूरी है। विषयासक्त एव क्रोध आदि विकारो से प्रज्वलित व्यक्ति सयम का पालन नही कर सकता, इसलिए साधक को समस्त विकारो का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह विकारो पर विजय प्राप्त करके साधक निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है। उसे निष्कर्म बनने के लिए औदारिक शरीर से युद्ध करना पड़ता है। औदारिक शरीर से युद्ध करने का अर्थ है—शरीर बन्धन से मुक्त होकर अशरीरी बनना। यह स्थिति चार घातिकर्मो को क्षय करके जीवन के अन्त मे अवशेष चार अघातिकर्मो का नाश करने पर प्राप्त होती है। अत. यह युद्ध जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसमे

विजयी होने के बाद आत्मा सर्व कर्म बन्धनो से मुक्त हो जाता है। अतः साधक को अप्रमत्त भाव से सयम का पालन करना चाहिए।

ऐसा अवसर एव सयम के साधन का मिलना सुलभ नही है। अत. साधक को इस अवसर को व्यर्थ नही खो देना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहि परिन्नाविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भई, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विण्णचारी अरए पयासु॥155॥

छाया—युद्धार्हं खलु दुर्लभं यथा अत्र कुशलैः परिज्ञाविवेकः भाषितः च्युत. खलु बालः गर्भादिषु रज्यतेऽस्मिन् चैतत् प्रोच्यते रूपे वा क्षणे वा स खलु एकः संविद्धपथः मुनि अन्यथा लोक उत्प्रेक्षमान. इति कर्म परिज्ञाय सर्वत. स न हिनस्ति संयमयति नो प्रगल्भते उत्प्रेक्षमाण· प्रत्येकं सातं,वर्णादेशी नारभते कंचन सर्वलोके एकात्मुख· विदिक् प्रतीर्णः निर्विण्णचारी अरतः प्रज्ञासु।

पदार्थ—खलु—अवधारण अर्थ में है। **जुद्धारिहं**—यह औदारिक शरीर, भाव युद्ध के योग्य। **दुल्लह**—दुर्लभ—मुश्किल से प्राप्त होता है। **जहित्थ**—जिस प्रकार से इस ससार मे। **कुसलेहि**—तीर्थकरो ने। **परिन्नाविवेगे**—परिज्ञाविवेक। **भासिए**—भाषण किया है—अर्थात् अध्यवसायो की विशेषता प्रतिपादन की है, बुद्धिमान को उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये। **हु**—निश्चयार्थक है। **बाले**—अज्ञानी जीव। **चूए**—धर्म से च्युत होकर। **गब्भाइसु**—गर्भादि में। **रज्जइ**—रचता है अर्थात् गर्भादि मे दुख पाता है वा गृहादि को प्राप्त करता है। **अस्सि**—इस अर्हत् प्रवचन में। **च**—समुच्चय अर्थ मे है। **एयं**—यह विषय। **पवुच्चइ**—प्रकर्ष से कहा गया है। **रूवंसि**—रूप मे। **वा**—अथवा-अन्य इन्द्रियो के विषयो मे। **छणंसि**—हिसादि में। **वा**—अनृतादि मे प्रवृत्ति करता है, अर्थात् धर्म से पतित हुआ हिसादि में प्रवृत्ति करके फिर गर्भादि मे

रच जाता है, इस प्रकार अर्हत् प्रवचन में वर्णन किया गया है। **से**–वह जिनेन्द। **एगे**–एक अद्वितीय। **मुणी**–तीन लोक के जानने वाला मुनि। **संविद्धपहे**–जिसने मोक्ष मार्ग को सम्यक् प्रकार से सन्मुख किया हुआ है अर्थात् जिसकी गति मोक्ष मार्ग में है। **अन्नहा**–अन्यथा–जो हिसादि मे प्रवृत्ति कर रहे है इस प्रकार के। **लोगं**–लोक को। **उवेहमाणे**–उप्प्रेक्षमाण-उसकी विचारना करता हुआ, अर्थात् आत्मा के सावद्य व्यापार की निवृत्ति की आलोचना करता हुआ, निम्न प्रकार से विचार करता है। **इय**–इस प्रकार। **कम्म**–जो बंध कर्म है उसको। **सव्वतो**–सर्व प्रकार से। **परिण्णाय**–ज्ञपरिज्ञा से जान कर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करे अर्थात् छोड दे। **से**–वह कर्म परिहर्ता मन वचन और काय से। **न हिसइ**–किसी जीव की हिसा नही करता, किन्तु। **सजमइ**–पाप मे प्रवृत्त हुए आत्मा को सयमन करता है वा सत्तरा प्रकार के सयम का पालन करता है। **नोपगब्भइ**–असयम प्रवृत्ति मे धृष्टता नही करता, अर्थात् लज्जा शील है, किन्तु। **उवेहमाणे**–विचार करता हुआ विचरता है। **पत्तेयं**–प्रत्येक प्राणी को। **सायं**–**साता**–सुख प्रिय है, अन्य के सुख से अन्य सुखी नही होता, इत्यादि विचारो से हिसादि कर्म, मुनि नही करता, तथा। **वण्णएसी**–यश की इच्छा करने वाला मुनि। **नारभे कचणं**–किसी प्रकार के पाप कर्म मे प्रवृत्ति न करे। **सव्वलोए**–सर्वलोक के विषय तथा। **एगप्पमुहे**–जिसने एक मोक्ष पथ मे दृष्टि दी हुई है, वह पापारम्भ नही करता। **विदिसप्पइन्ने**–असयम से उत्तीर्ण हो गया है। **निव्विण्णचारी**–वैराग्य युक्त होकर विचरने वाला, तथा हिसादि क्रियाओ से निवृत्त होकर चलने वाला। **पयासु**–जीवो मे। **अरए**–अरत अर्थात् आरम्भादि से निवृत्त हो गया है, अथवा। **पयासु**–स्त्रियों मे। **अरए**–रत नही है।

मूलार्थ–भावयुद्ध के योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है, तीर्थकरों ने परिज्ञा विवेक से भाषण किया है कि धर्म से पतित व्यक्ति बाल भाव को प्राप्त होकर गर्भ मे रमण करता है। इस प्रकार आर्हत मत मे वर्णन किया गया है कि जो जीव, रूपादि विषयो या हिसादि कार्यो मे मूर्छित है, वही गर्भादि में रहता, अर्थात् रमण करता है, वह जितेन्द्रिय मुनि एकमात्र मोक्षमार्ग में ही गति कर रहा है, अन्यथा–अन्य

प्रकार से लोक की विचारणा करता हुआ कर्म के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से हिसादि क्रियायें नही करता, किन्तु अपने आत्मा को सयम में रखता हुआ पापकर्म के करने मे धृष्टता नही करता। प्रत्येक प्राणी साता–सुख का इच्छुक है, इस प्रकार की विचारणा से किसी भी जीव की हिसा नही करता, एव यश की इच्छा न करने वाला किचिन्मात्र भी पापकर्म का आरम्भ नही करता, वह सर्वलोक मे सभी जीवों को समभाव से देखता है, जिसने एक मोक्ष की ओर दृष्टि (मुख) की हुई है, वह विदिक् प्रतीर्ण है (दिशा मोक्ष नाम है और विदिशा ससार का) अर्थात् वह ससार से उत्तीर्ण हो गया है, इसलिए वही हिसादि क्रियाओ से अथवा स्त्रियो के ससर्ग से निवृत्त होकर शान्तभाव से मोक्षपथ मे विचरता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के लिए उपयुक्त सामग्री का मिलना भी आवश्यक है। योग्य साधन के अभाव मे साध्य सिद्ध नही हो पाता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे योग्य साधनो का उल्लेख किया है। सयम साधना के लिए सब से प्रमुख है औदारिक शरीर—मनुष्य का शरीर। मनुष्य ही सयम को स्वीकार कर सकता है। औदारिक शरीर मे सपूर्ण अगोपाग हे एव स्वस्थ होने पर ही वह धर्म साधना मे सहायक हो सकेगा। अगोपाग की कमी एव अस्वस्थ अवस्था मे मनुष्य को सयम के पालन करने मे कठिनता होती है। सयम पालन के योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियो से युक्त स्वस्थ शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। प्रबल पुण्योदय से ही सम्पूर्ण अंगोपागो से युक्त स्वस्थ शरीर उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ प्रमत्त प्राणी विषय-भोगो मे आसक्त होकर उसका दुरुपयोग करके जन्म-मरण को बढाते है।

कर्मो का बन्ध एव क्षय दोनो आत्मा के अध्यवसायो पर आधारित है। साधक शुभ अध्यवसायों—परिणामो के द्वारा पूर्व बँधे हुए कर्मो का क्षय करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, क्योकि वह साधना किसी प्रकार की आकाक्षा, लालसा एव यश आदि पाने की अभिलाषा से नहीं करता, केवल कर्मो की निर्जरा के लिए ही वह तप-सयम की साधना करता है। अत. वह उक्त साधना के द्वारा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानी प्राणी प्रमाद के वश विषय-वासना में आसक्त रहते है। विषयो की पूर्ति

के लिए रात-दिन सावद्य कार्यो मे प्रवृत्त रहते है, हिसा आदि दोषो का सेवन करते है। इससे पाप कर्मो का बन्ध करते हैं और परिणामस्वरूप ससार में परिभ्रमण करते है और अनेक दु.खो का सवेदन करते हैं।

विवेकशील पुरुष इस बात को जानता है। उसकी दृष्टि स्वच्छ और विस्तृत होती है। वह अपने ही स्वार्थ एव हित को नहीं देखता। वह सब प्राणियो का हित चाहता है। वह जानता है कि ससार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। इसलिए वह सब के प्रति समभाव रखता है। किसी भी प्राणी को पीडा नही पहुँचाता। इस तरह वह अपनी निष्पापमय प्रवृत्ति से प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को सयम साधना मे संलग्न रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिढिलेहि अद्दिज्जमाणेहि गुणसाएहि बंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुरो कम्म सरीरगं, पंतं लूहं सेवति वीरा सम्मत्तदंसिणो एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्तेविरए वियाहिए त्तिबेमि॥156॥

छाया—सः वसुमान् सर्व समन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म तन्नो अन्वेषयति यत् सम्यगिति—सम्यक्त्वमिति—सम्यक् इति पश्यतः तन्मौनमिति पश्यत. यन्मौनमिति पश्यतः तत् सम्यगिति पश्यत नैतत् शक्यं शिथिलैः आद्री क्रियमाणैः गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारमावसदभि· मुनिर्मौनं समादाय धनीयात् कर्म शरीरकं प्रान्त रूक्षं सेवन्ते वीरा· सम्यक्त्वदर्शिनः एष ओघन्तरः मुनि· तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रबीमि।

पदार्थ—**से**—वह। **वसुम**—सयमवाला। **सव्व**—सब। **समन्नागयपन्नाणेणं**—विशिष्ट ज्ञान से युक्त। **अप्पाणेणं**—आत्मा से। **पावकम्मं**—पापकर्म। **अकरिणज्जं**—अकरणीय है, अर्थात् पापकर्म नही करता कारण कि। **जं संमंति**—जो सम्यक्त्व है वही। **मोणंति**—मौन-सयमानुष्ठान है। **पासहा**—यह देखो, विचार करो। **जंमोणंति**—जो

मौन-सयमानुष्टान है। त **समंति**—वह सम्यक्त्व है। **पासहा**—यह देखो-विचार करो। **नइमं सक्कं सिढिलेहि**—शिथिल पुरुष इसका पालन करने मे समर्थ नही है। **अदिज्जमाणेहिं**—पुत्रादि के स्नेह से आर्द्र चित्त वाले अर्थात् जो पुत्रादि के स्नेह मे खचित है वे इसका पालन नही कर सकते। **गुणासाएहिं**—शब्दादि गुणो का आस्वादन करने वाले। **वंकसमायारेहिं**—कपटाचारी—कपट करने वाले। **पमत्तेहिं**—प्रमादी-प्रमाद का सेवन करने वाले। **गारभावसतेहि**—घरो पर ममत्व रखने वाले, इस सम्यक्त्वादि रत्नत्रय का पालन नही कर सकते अत : **मुणी मोणं समायाए**—मुनि-मनन शील आत्मा मौन-मुनि भाव को ग्रहण करके ; **सरीरग**—कार्मणं वा औदारिक शरीर को। **धुणे**—धुनने—कृश करने का यत्न करे। **पंतं**—प्रान्ताहार अथवा वल्ल चणकादिरूप अल्पाहार। **लूह**—रूक्षाहार को जो। **सेवंति**—सेवन करते है। **वीरा**—वीरपुरुष—जो कर्म विदारण मे समर्थ है। **सम्मत्तदंसिणो**—सम्यक्त्वदर्शी है वा समत्वदर्शी है। **एस**—यह उक्त गुणो से युक्त। **मुणी**—मुनि। **ओहंतरे**—भवौघ—ससार को तर जाता है। **तिण्णे**—तथा वह मुनि ससार रूप समुद्र को तर गया। **मुत्ते**—बन्धन मे मुक्त हुआ। **विरए**—सावद्यानुष्ठान से विरत हुआ। **वियाहिए**—इस प्रकार से कहा गया है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—वह सयम धनवाला साधु, सर्वप्रकार से ज्ञान सम्पन्न, अपने आत्मा के द्वारा किसी प्रकार के अकरणीय कर्म की गवेपणा नही करता, अर्थात् किसी प्रकार का अनुचित कर्म नही करता। गुरु कहते है, हे शिष्यो! तुम देखो! जो सम्यग्दर्शन को देखता है, वह मौन—मुनिभाव—साधुत्व को देखता है और जो मुनि भाव को देखता है, वह सम्यग्ज्ञान को देखता है। कातर-शिथिल भावो वाले, पुत्रादि से स्नेह युक्त, शब्दादि गुणो का आस्वादन करने वाले वक्रसमाचारी—मायावी और घरो मे ममत्व रखने वाले मठाधीश व्यक्ति मुनिवृत्ति की आराधना नही कर सकते, किन्तु जो वीर आत्माए है, वे ही मुनि वृत्ति को धारण करके कार्मण, औदारिक शरीर को धुनने मे समर्थ हो सकते है। वे प्रान्त चणकादि, और रूक्ष आहार का सेवन करते है। इतना ही नही, अपितु सम्यक्त्व या समत्व को धारण करने वाले मुनि संसार-समुद्र को तैर जाते है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत, इस प्रकार से वर्णन किया गया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे चारित्र की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यह बताया गया है कि रत्नत्रय से सम्पन्न व्यक्ति पापकर्म से छुटकारा पा सकता है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही आत्मा मोक्ष को पा सकता है। संयम—सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन और ज्ञान होता ही है। क्योंकि सम्यग् दर्शन एवं ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यग् हो ही नहीं सकता। अत· सम्यक् चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते है, क्योकि चारित्र पापकर्म का निरोधक है और पाप कर्म अर्थात् हिसा आदि आश्रवो—दोषो का। इनके सेवन से पापकर्म का बन्ध होता है। बोध ज्ञान से ही होता है, इसलिए साधक ज्ञान की आख से हेय व उपादेय मार्ग को देखता है, पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को समझता है और दर्शन से उस यथार्थ मार्ग पर श्रद्धा-विश्वास करता है तथा चारित्र के द्वारा हेय मार्ग का त्याग करके उपादेय मार्ग स्वीकार करता है। इस तरह रत्नत्रय की आराधना से वह पूर्व में बधे हुए कर्मो का क्षय करता है, अभिनव पापकर्म के बन्ध को रोकता है। इस तरह वह सयम-साधना से निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

रत्नत्रय की आराधना त्याग-वैराग्य से युक्त आत्माए ही कर सकती है। विषय-भोगो में आसक्त व्यक्ति उसका पालन नही कर सकते। साधु का वेश ग्रहण करके भी जो मठ-मन्दिर या चल-अचल सपत्ति पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे हैं एव अनेक प्रकार के आरम्भ-समारभ मे सलग्न है, वे रत्नत्रय की साधना से कोसो दूर हैं। इसके लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार एव घर आदि सभी पदार्थो से आसक्ति हटानी होती है। अत सभी स्नेहबन्धनो एवं ममत्वभाव का त्यागी व्यक्ति ही संयम की साधना कर सकता है और वही कर्मबन्धन को तोड सकता है। दुर्बल एवं कायर पुरुष इस पथ पर नहीं चल सकता।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे मुनित्व का वर्णन किया गया है। मुनित्व का सम्यक् आराधन गुरु के सान्निध्य में ही हो सकता है। गुरु आज्ञा से विपरीत चलने वाला व्यक्ति भली-भाति साधुत्व का परिपालन नही कर सकता। अत· प्रस्तुत उद्देशक मे यह बताया गया है कि गुरु की आज्ञा के बिना एकाकी विचरने वाले साधु के जीवन में कौन-कौन-से अवगुणो की अभिवृद्धि होती है और आज्ञानुसार चलने वाले शिष्य के जीवन में कौन-से गुणो की अभिवृद्धि होती है। स्वच्छन्द एव आज्ञा मे विचरने वाले दोनो साधको की प्रकृति का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो॥157॥

छाया—ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य दुर्यातं दुष्पराक्रान्त भवति अव्यक्तस्य भिक्षोः।

पदार्थ—अवियतस्स—अव्यक्त—अगीतार्थ। **भिक्खुणो**—भिक्षु को। **गामाणु-गामं**—अकेले एक गाव से दूसरे गाव को। **दूइज्जमाणस्स दुज्जायं**—विचरने की क्रिया सुखप्रद नही होती, और। **दुप्परिक्कतं**—उसका एकाकी भ्रमण भी उसके चारित्र के पतन का कारण। **भवइ**—होता है।

मूलार्थ—अव्यक्त—अगीतार्थ भिक्षु को अकेले एक गांव से दूसरे गाव को विचरना सुखप्रद नही होता। इससे उसके चारित्र का पतन होने की सभावना है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अकेले विचरने वाले साधु के जीवन का विश्लेषण किया गया है। इसमे बताया गया है कि जो साधु बिना कारण गुरु की आज्ञा के बिना अकेला विचरता है, उसे अनेक दोष लगने की संभावना है। पहले तो लोगो के मन मे अनेक

तरह की शकाएं पैदा होती है कि यह अकेला क्यों घूमता है? फिर उसके सम्बन्ध मे झूठी-सच्ची अनेक बाते होती हैं और एकाकी होने के कारण अनेक परीषह उपस्थित हो सकते है, उनमे दृढ़ता न रहने के कारण वह कभी सयम-पथ से च्युत भी हो सकता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर आगम मे अव्यक्त—अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का आदेश नहीं दिया है।

एकाकी विचरने का निषेध उत्सर्ग मार्ग में है और वह भी अगीतार्थ मुनि के लिए है। परन्तु, विशेष परिस्थिति मे या किसी विशेष कारण से एकाकी विहार करना पडे तो गुरु की आज्ञा से गीतार्थ मुनि वैसा करके भी शास्त्र की आज्ञा का उल्लघन नहीं करता है और न उसके सयम से गिरने की सभावना है। एक तो वह परिस्थिति वश जा रहा है और दूसरे गुरु की आज्ञा से जा रहा है और साथ मे गीतार्थ होने से वह आगम मर्यादा से भी भली-भाति परिचित है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही विचरण करता है, इसलिए उसके गिरने की संभावना नही रहती।

अव्यक्त—अगीतार्थ किसे कहते हैं? अव्यक्त की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भगी बनती है।

1—श्रुत और वय से अव्यक्त—श्रुत मे आचार-प्रकल्पागम का अर्थ से अनुशीलन नही करने वाला एवं 16 वर्ष की आयु वाला साधक श्रुत एव वय से अव्यक्त कहलाता है।

2—श्रुत से अव्यक्त और वय से व्यक्त—आचार के अर्थ ज्ञान से रहित, परन्तु सोलह वर्ष से अधिक आयु वाला साधक।

3—श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त किन्तु 16 या 16 वर्ष से कम अवस्था का साधक।

4—श्रुत और वय दोनो से व्यक्त—आचार के ज्ञान से युक्त और सोलह वर्ष से अधिक अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधक।

चतुर्थ भग वाला साधक कारण विशेष से गुरु की आज्ञा से अकेला भी विचर सकता है, क्योंकि वय से परिपक्व एव श्रुतज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परीषह उपस्थित होने पर भी वह साधना मार्ग से भटक नही सकता। परन्तु, अगीतार्थ मुनि के ज्ञान अपरिपक्वता के कारण वह परीषहों के उपस्थित होने पर विपरीत मार्ग पर

भी चल सकता है। इसलिए अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का निषेध किया गया है।

एक बात यह भी है कि अव्यक्त अवस्था में अकेला रहने से उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैसे पूर्वकाल में माता-पिता अपने बच्चे को गुरुकुल में रखकर पढाते थे, आज भी कई जगह ऐसा किया गया है। क्योकि गुरुकुल में शिक्षक के अनुशासन मे बच्चा ज्ञान की कमी को पूरा कर लेता है। उसी तरह गुरु के अनुशासन मे रहकर शिष्य ज्ञानसम्पन्न बन जाता है। अत· श्रुत एव ज्ञान साधना के लिए अगीतार्थ मुनि को गुरु की सेवा मे रहना चाहिए और उनकी आज्ञा के बिना अकेले नही विचरना चाहिए।

क्रोधादि के वश अकेले विचरने वाले मुनि की क्या स्थिति होती है, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्त निवाई पंथ निज्झाई पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा॥158॥

छाया–वचसापि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः उन्नतमानश्च नरो महता मोहेन मुह्यति, संबाधाः बह्व्यः भूयो भूयो दुरतिक्रमाः अजानतः अपश्यतः एतत् ते मा भवतु एतत् कुशलस्यदर्शनं तद्दृष्ट्या तन्मुक्त्या तत् पुरस्कारे तत् संज्ञी तन्निवेशनः यतमानः विहारी चित्तनिपाती पथनिर्ध्यायी परिबाह्य दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत्।

पदार्थ–वयसावि–वचन से गुरु द्वारा। **बुइया**–कहे हुए। **एगे**–कई एक। **माणवा**–मनुष्य अर्थात् शिष्य वर्ग। **कुप्पंति**–क्रोध करने लग जाता है। **य**–फिर। **उन्नयमाणे**–अहंकार करता हुआ। **नरे**–मनुष्य। **महया मोहेण**–महान् बडे मोह से। **मुज्झइ**–कार्याकार्य विचार विवेक से विकल हो जाता है। **संबाहा**–संबाधा–पीड़ा। **बहवे**–बहुत। **भुज्जो भुज्जो**–पुन पुन·। **दुरइक्कम्मा**–सहन करनी दुष्कर है।

अजाणओ—अज्ञानी—अतत्त्वदर्शी उपाय को न जानता हुआ। **अपासओ**—न देखता हुआ गुरु कहते है हे शिष्य! **एयं**—यह एकाकीचर्या। **ते**—तुझे। **मा होउ**—मत हो, क्योकि। **एयं**—यह। **कुसलस्स दंसणं**—कुशल अर्थात् श्री वर्द्धमान स्वामी का दर्शन है, अत.। **तद्दिट्ठीए**—गुरु—आचार्य की दृष्टि से वर्तना चाहिए। **तम्मुत्तीए**—निर्लोभता से वर्तना चाहिए। **तप्पुरक्कारे**—प्रत्येक कार्य मे गुरु को आगे रखना चाहिए। **तस्सन्नी**—गुरु पर श्रद्धा रखने वाला। **तन्निवेसणे**—गुरुकुलवासी होना चाहिए अर्थात् गुरु के पास रहना चाहिए। **जयं विहारी**—यत्न पूर्वक विचरना चाहिए। **चित्त निवाई**—गुरुजनो के चित्त के अनुसार वर्तना चाहिए। **पथ निज्झाई**—गुरुजनों के कही चले जाने पर उनकी ओर ध्यान रखने वाला हो। **पलिबाहिरे**—गुरुओ की आज्ञा के बाहर कभी न हो, यदि गुरु ने किसी स्थान पर भेजा हो तो। **पाणे**—प्राणियों को। **पासिय**—देखकर। **गच्छिज्जा**—जावे—यत्नपूर्वक गमन करे।

मूलार्थ—जो मनुष्य गुरुजनो की हित शिक्षा से क्रोधित होते है, अहंकार के वश में होकर तथा महामोह के उदय से अज्ञानता मे मूर्छित होकर गुरुजनों से पृथक् होकर विचरने लग जाते हैं, ऐसा करने से उन्हें उपसर्गादि जनित बार-बार अनेक प्रकार की दुरतिक्रम बाधाये उपस्थित होती है! सम्यक् सहन करने के उपाय से अज्ञात और कर्म विपाक के न देखने के कारण उन बाधाओं से अत्यन्त दुःखी होकर वे चारित्र मार्ग से गिर जाते हैं। गुरु कहते है हे शिष्य! श्रमण भगवान महावीर स्वामी का यह दर्शन है कि तुम्हारी यह दशा न हो, किन्तु गुरु की दृष्टि से सर्व प्रकार की निर्ममत्ववृत्ति से, प्रत्येक कार्य मे गुरुजनो की आज्ञा को सन्मुख रखने से, गुरुओ के पास रहने से, और यत्नपूर्वक विचरने से, गुरुओं के चित्त की आराधना करनी चाहिए, एवं कहीं पर गए हुए गुरुओ के मार्ग का अवलोकन करना चाहिए, गुरुओ की आज्ञा में रहना चाहिए, यदि गुरु कही पर भेजे तो मार्ग मे प्राणियो की रक्षा करते हुए चलना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

अव्यक्त अवस्था में—श्रुतज्ञान से सम्पन्न न होने के कारण, साधक अपने अन्दर स्थित कषायों को दबा नहीं सकता। कभी परिस्थिति वश उसका क्रोध प्रज्वलित हो उठता है और वह उस स्थिति में अपनी समझ को भी भूल जाता है। कषायो के

प्रवाह में उसे अपने हिताहित का भी खयाल नहीं रहता। इसलिए वह कर्त्तव्य मार्ग से च्युत होकर पतन के गर्त मे गिरने लगता है। आवेश के नशे में उसको भाषा पर भी अंकुश नहीं रहता। गुरु के सामने भी वह अट-संट बकने लगता है और अपने आंतरिक दोषों को न देख कर गुरु के दोष निकालने का प्रयत्न करता है और अपने दोषों पर परदा डालने के लिए वह दूसरे साधकों के दोषों को सामने रख कर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि गुरु मुझे हित शिक्षा नही दे रहे हैं, अपितु सबके सामने मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। इसलिए वह आवेश के वश गुरु के वचनो का अनादर करके तथा उन्हे भला-बुरा कहकर अकेला विचरने लगता है। परन्तु वय एवं श्रुत से अव्यक्त होने के कारण वह संयम मार्ग पर स्थिर नही रह सकता। रोग आदि कष्ट उपस्थित होने पर वह घबरा जाता है। उन परीषहो को सह नहीं पाता और परिणामस्वरूप अनेक दोषो का सेवन करने लगता है। इस तरह आवेश के वश संघ से पृथक् होकर विचरने वाला साधक चारित्र से गिर जाता है। अत अव्यक्त साधु को गुरु की सेवा में रहते हुए क्रोध आदि कषायों के वश मे नहीं होना चाहिए।

गुरु की सेवा में रहकर सयम का परिपालन करना चाहिए और सावधानी एवं विवेक के साथ सभी क्रियाए करनी चाहिए और कभी भूल हो जाने पर उसका सशोधन करके उस दोष को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिमज्जमाणे, एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी॥159॥

छाया—स अभिक्रामन् प्रतिकामन् संकुचन् प्रसारयन् विनिवर्तमानः संपरिमृजन् एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य-कायसंस्पर्श समनुचीर्णाः एके प्राणाः-प्राणिनः अपद्रान्ति इह लोके वेदनवेद्या पतितं यत् आकुट्टी-कृतंकर्म तत् परिज्ञाय विवेकमेति एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्तयति वेदवित्।

पदार्थ—से—वह भिक्षु। **अभिक्कममाणे**—जाता हुआ। **पडिक्कममाणे**—पीछे हटता हुआ। **संकुचमाणे**—हस्तादि का संकोच करता हुआ। **पसारेमाणे**—पादादि को पसारता-फैलाता हुआ। **विणिवट्टमाणे**—अशुभ व्यापार से निवृत्त होता हुआ। **एगया संपलिज्जमाणे**—सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन करता हुआ। **एगया**—एकदा किसी समय। **गुणसमियस्स**—गुण युक्त, अप्रमत्त भाव से। **रीयओ**—चलते हुए वे। **कायसंफासं**—काय के स्पर्श से। **समणुचिन्ना**—स्पर्शित हुआ। **एगतिया**—कई एक। **पाणा**—प्राणी। **उद्दायंति**—मृत्यु को प्राप्त हो जाते है अथवा परितापना युक्त हो जाते है, तब। **इहलोगवेयण विज्जा वडियं**—इस लोक मे वेदना का अनुभव करके उसे क्षय कर देवे। **ज**—जो। **आउट्टिकयं**—जो जान कर किया हुआ। **कंमं**—हिसादि कर्म है। **त**—उसको। **परिन्नाय**—ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्यख्यान करके। **विवेगमेइ**—विवेक परिज्ञा द्वारा उस कर्म को क्षय कर देवे। **एवं**—इस प्रकार। **से**—वह सापरायिक कर्म। **अप्पमाएण**—अप्रमाद के द्वारा। **विवेगं**—क्षय कर देवे। इस प्रकार। **वेयवी**—तीर्थकर वा गण (धरों) ने। **किट्टइ**—कहा है।

मूलार्थ—समस्त अशुभ व्यापार से अलग रहने वाला भिक्षु चलते हुए, पीछे हटते हुए, हस्त पादादि अगों को सकोचते हुए और फैलाते हुए, भली प्रकार से रजोहरणादि के द्वारा शरीर के अङ्गोपाग तथा भूमि आदि का प्रमार्जन करता हुआ गुरुजनो के समीप निवास करे। इस प्रकार अप्रमत्त भाव से सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान करते हुए गुण युक्त मुनि से यदि किसी समय चलते-फिरते हुए काय—शरीर के स्पर्श से किसी प्राणी—सपातिमादि जीव की मृत्यु हो जावे तो वह भिक्षु उस कर्म के फल को इसी लोक मे वेदनादि का अनुभव करके क्षय कर दे, परन्तु जान-बुझकर किया गया हो तो उसको तप अनुष्टान के द्वारा क्षय कर दे, यह कर्म क्षय करने का विधान तीर्थकरो ने किया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद और अप्रमाद का सुन्दर शब्दो मे विश्लेषण किया गया है। प्रमाद आरम्भ-समारम्भ एवं सब पापो का मूल है। प्रमाद पूर्वक कार्य करने से अनेक जीवो की हिसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधु के लिए आगम

मे प्रमत्त भाव का त्याग करने का आदेश दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि अविवेक पूर्वक चलने वाला, खडे रहने वाला, बैठने वाला, सोने वाला, भोजन करने वाला, एव बोलने वाला पापकर्म का बन्ध करता है। अविवेक पूर्वक की जानें वाली प्रत्येक क्रिया पाप बन्ध का कारण है और विवेक पूर्वक की जाने वाली उपर्युक्त सभी क्रियाओ में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अविवेक एवं प्रमाद से पाप कर्म का बन्ध होता है, अतः साधु को अप्रमत्त भाव से विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए भी कभी भूल से किसी प्राणी की हिसा हो जाए तो इर्यापथिक क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से जान-बूझकर हिसा की गई है तो उस पाप से निवृत्त होने के लिए साम्प्रायिक तप अनुष्ठान या प्रायश्चित्त स्वीकार करे इस तरह भूल से या समझ पूर्वक किए गए हिसक आदि दोषों का क्षय करने के लिए इर्यापथिक एव साम्प्रायिक क्रियाओ का विधान किया गया है। इस तरह प्रायश्चित्त एवं तप के द्वारा मुनि पापकर्म का क्षय कर देता है। इस लिए साधक को अविवेक एव प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ सयम मे संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिये सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ? एस से परमारामो जाओ लोगंसि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे नाम धम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दुइज्जिज्जा अवि आहारं बुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि से नो काहिए नो पासणिए नो मामए णो कयकिरिए वइ गुत्ते अज्झप्पसंडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि, त्तिबेमि॥160॥

छाया—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञानः उपशान्त समितः सहितः सदायतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेष जनः कुर्यात्? स एष परमारामः यः

लोके स्त्रियः मुनिना हुए एतत् प्रवेदितं उद्‌वाध्यमानः ग्रामा-धर्मैरपि निर्वलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्याद् अपि ऊर्ध्व स्थानं तिष्ठेदपि ग्रामानुग्रामं विहरेद् अपि आहारं व्यवछिन्द्यादपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः पूर्व दंडाः पश्चात् स्पर्शाः पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दंडाः इत्येते कलहसंगकराः भवन्ति प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि। स नो कथां कुर्यात् नो पश्येत्, न ममत्वं (कुर्यात्) न कृतक्रियः वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापं एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**से**—वह साधु। **पभूयदंसी**—प्रभूत देखने वाला। **पभूय परिन्नाणे**—अत्यन्त ज्ञान वाला। **उवसंते**—उपशान्त कषाय वाला। **समिए**—समितियो से समित। **सहिए**—ज्ञान युक्त। **सयाजए**—सदा यत्नशील। **दट्ठुं**—स्त्री जनित उपसर्ग के लिए उद्यत हुआ देख कर। **अप्पाणं**—आत्मा को। **विप्पडिवेएइ**—शिक्षित करता है। **किमेस जणो करिस्सइ**—यह स्त्री जन मेरा क्या कर सकती है? **एस से**—यह स्त्री जन। **परमारामो**—परमाराम रूप है अथवा। **जाओ**—जो। **लोगम्मि**—लोक में। **इत्थिओ**—स्त्रियां हैं वे पुरुषों के मोहोदय का मुख्य कारण हैं। **हु**—निश्चय ही। **एवं**—यह पूर्वोक्त विषय। **मुणिणा**—श्री वर्द्धमान स्वामी ने। **पवेइयं**—विशेषता से प्रतिपादन किया है। **गामधम्मेहिं**—इन्द्रिय धर्मो में। **उब्बाहिज्जमाणे**—पीडित होता हुआ। **अवि**—अपि शब्द सभावना अर्थ से जानना चाहिए। गुरुजनो की शिक्षा द्वारा किस प्रकार बन जाता है, अब इसको दर्शाते हैं, यथा। **निब्बलासए**—निर्बल और असार-सार-रहित आहार के करने वाला। **अवि**—पूर्ववत् जानना चाहिए। **ओमोयरियं**—ऊनोदरी तप। **कुज्जा**—करे। **अवि**—पूर्ववत्। **उड्ढं**—ऊर्ध्व। **ठाणंठा- इज्जा**—स्थान पर कायोत्सर्ग तप द्वारा आतापनादि करे। **अवि**—पूर्ववत्। **गामाणुगामं**—ग्रामानुग्राम। **दूइज्जिज्जा**—विचरे। **अवि**—अपि समुच्चय अर्थ मे है। **आहार**—आहार को। **वुच्छि दिज्जा**—छोड़ देवे। **अवि**—अपि शब्द से अन्य अर्थो का भी ग्रहण कर लेना। **चए**—छोड देवे। **इत्थीसु मणं**—स्त्री मे लगे हुए मन को। **पुव्व**—पूर्व में। **दंडा**—है। **पच्छा फासा**—पीछे नरकादि दु.खों का स्पर्श है तथा। **पुव्वंफासा**—पहले स्त्री का सुख रूप स्पर्श है। **पच्छा दंडा**—पीछे दु.ख रूप दंड मिलता है। **इच्चेए**—अत ये स्त्रियों के संसर्गादि। **कलह संगकरा भवंति**—कलह सग्रामादि के कारण होते हैं। अथवा राग-द्वेष आदि के उत्पादक होते है, अतः। **पडिलेहाए**—प्रत्युपेक्षणा से।

आगमित्ता—जानकर। **आणविज्जा**—स्वात्मा को शिक्षित करे। **अणासेवणाए**—विषयो का सेवन न करना चाहिए, अर्थात् अपने आत्मा को विषयों से पराङ्मुख रहने की शिक्षा देवे। **त्तिबेमि**—इति शब्द अधिकार की परिसमाप्ति मे है, गणधर श्री सुधर्मा स्वामी कहते है! हे शिष्य यह मै तीर्थकर वचन के अनुसार कहता हूँ। अब सूत्रकार स्त्री के परिहरण के विषय में कहते हैं। **से**—वह त्यागी भिक्षु। **नोकाहिए**—स्त्री के शृङ्गारादि की कथा न करे। **नो पासणिए**—स्त्री के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे। **नो मामए**—स्त्री के साथ न ममत्व करे। **णो कय किरिए**—तथा स्त्री मंडनादि क्रियाये न करे अर्थात् स्त्री की वैयावृत्य न करे। **वइगुत्ते**—वचन से सलाप न करे। **अज्झप्पसंबुड़े**—अध्यात्म सवृत स्त्री के विषय मे मन से भी विचार न करे, तथा। **सया**—सदा। **पावं**—पाप कर्म को। **परिवज्जइ**—त्याग देवे। **एयं**—यह। **मोणं**—मुनित्व-मुनि भाव है गुरु कहते है हे शिष्य! इस मुनि भाव को तू। **समणुवासिज्जासि**—सम्यक् प्रकार से पालन कर। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

मूलार्थ—वह भिक्षु प्रभूत देखने वाला, प्रभूत ज्ञान वाला, उपशान्त, समितियो से समित, ज्ञानयुक्त, सदा यत्नशील स्त्रीजन को देख कर अपने आत्मा को शिक्षित करे कि हे आत्मन्! यह स्त्री जन तुम्हारा क्या करेगा! यह स्त्री जन समस्त लोक में परमाराम रूप है, इस प्रकार से कामीजन मानते हैं ऐसा श्री वर्धमान स्वामी ने वर्णन किया है। विचारशील भिक्षु यदि ग्रामधर्म—विषय से पीडित हो जाए तो उसे नीरस आहार करना चाहिए, ऊनोदरी तप करना चाहिए, ऊचे स्थान पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए, ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए। आहार का परित्याग करना चाहिए (यहा तक कि ऊँचे से गिर कर प्राण त्याग कर देने चाहिए), परन्तु मन को स्त्रीजन मे आसक्त नही करना चाहिए, कारण कि स्त्रीसग से पहले (दड-धनादि में उपार्जन के लिए महाकष्ट) होता है, पीछे से नरकादि जनित दु खो का स्पर्श होता है तथा पहले स्त्री के अग-प्रत्यंग का स्पर्श और पीछे नरकादि यातनाओ का दड भोगना पडता है, ये स्त्रियॉ कलह और सग्रामादि का कारण हैं और भयकर राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाली हैं। इस प्रकार बुद्धि सें विचार करके कर्म के विपाक को सन्मुख रखकर विचारशील भिक्षु अपने आत्मा को शिक्षित करे। इस प्रकार मैं कहता हूँ। फिर वह त्यागी भिक्षु स्त्री की कथा न करे, उसके अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे, उसके साथ एकान्त में किसी प्रकार की पर्यालोचना

न करे, उस पर ममत्व न करे, उसकी वैयावृत्य न करे और उसके साथ रहस्यमय वार्त्तालाप न करे तथा उसके विषय में मन मे सकल्प भी न करे, पापकर्म का सदैव त्याग करे, गुरु कहते है, हे शिष्य! तू इस मुनि-भाव का सम्यग् रूप से पालन कर, इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

विवेकशील साधु दीर्घदर्शी एवं ज्ञान सम्पन्न होता है। वह अतीत, अनागत एव वर्तमान को तथा कर्म फल को भली-भांति देखने वाला है। उसे सयम को सुरक्षित रखने एव संयम के द्वारा समस्त कर्म बन्धनो को तोडकर मुक्त होने के रास्ते का भी परिज्ञान है। वह उपशान्त प्रकृति वाला है एव समिति-गुप्ति से युक्त है, इसलिए वह सयम-निष्ठ मुनि कभी अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी संयम से च्युत नही होता। उसे कोई भी स्त्री एवं भोगोपभोग के साधन अपनी ओर आकर्षित नही कर सकते। क्योंकि उसने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को जान लिया है, अत- उसके सामने दुनिया के सभी पदार्थो का सौन्दर्य उसे फीका-सा प्रतीत होता है।

स्त्री एव भोग-विलास के साधनो के उपस्थित होने पर वह सोचता है कि मैंने बड़ी कठिनता से सम्यक्त्व को एव सयम-साधना को प्राप्त किया है। इन विषय-भोगों को तो मै अनेक बार भोग चुका हूँ; फिर भी इनसे आत्मा की तृप्ति नही हुई। इनके कारण मै बार-बार ससार मे परिभ्रमण करता रहा हूं। इस ससार बन्धन से छूटने का यह साधन मुझे कर्मो के क्षयोपशम से मिला है। अत अब ससार मे भटकाने वाले विषय-भोगों की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। ससार का रूप-सौन्दर्य मुझे पथ-भ्रष्ट नहीं कर सकता।

ये स्त्रियॉ एव भोगोपभोग के साधन बड़े-बडे तत्त्ववेत्ताओ को भी मोह लेते हैं और उनके मोहजाल में आबद्ध साधक पहले तो सयम से भ्रष्ट होता है और बाद में वह उनका दास होकर जीवन व्यतीत करता है। इसलिए सबसे अच्छा यही है कि मै इन विषय-विकारो एव भोगो को स्वीकार ही न करूं। इस प्रकार सोच-विचारकर प्रबुद्ध पुरुष भोगेच्छा का त्याग कर देता है, वह भोगो की ओर आकर्षित ही नहीं होता।

तीर्थकरो ने स्त्री—काम-भोगों को भावबन्धन कहा है। मोहकर्म के उदय से मनुष्य वासना के प्रवाह मे बहता है। अत- साधु को गुरु के अनुशासन मे रहकर

मोहकर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए और वासना एव विकृति को रोकने के लिये कामोत्तेजक आहार एव ऐसे अन्य साधनो का त्याग करना चाहिए। विषयों से विरक्त रहने के लिए साधु को नीरस भोजन करना चाहिए। एक गाव मे लम्बे समय तक नही रहकर ग्रामनुग्राम विचरना चाहिए, आतापना लेनी चाहिए, एकान्त स्थान में या पर्वत के शिखर पर कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा तपश्चर्या करते रहना चाहिए।

इसके साथ उसे सोचना चाहिए कि स्त्री के कारण कलह-कदाग्रह होते रहते है। इतिहास में भी इसके अनेको प्रमाण मिलते है। इसके अतिरिक्त स्त्री-ससर्ग से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। व्यभिचारी व्यक्ति का दुनिया मे तिरस्कार होता है। इस तरह सोचकर विषय-वासना का त्यागी साधु विषय-विकार की ओर आकर्षित न हो, और उसे स्त्री-कथा, स्त्री-परिचर्या एवं उसके साथ रहस्यपूर्ण बातचीत नहीं करनी चाहिए। इसके लिए आगम मे, मन-वचन और शरीर को गोपकर रखने का विधान किया गया है।

इस तरह साधु को विवेक के साथ सयम का परिपालन करना चाहिए। अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों से पराभूत होकर सयम से भ्रष्ट नही होना चाहिए।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे अव्यक्त—अगीतार्थ मुनि के एकाकी विचरने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में आचार्य की सेवा मे रह कर रत्नत्रय की आराधना-साधना करने वाले मुनि के विषय में विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से बेमि तंजहा-अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्तिबेमि॥161॥

छाया—तद् ब्रवीमि तद्यथा—अपि ह्रदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति उपशान्तरजः संरक्षन् स तिष्ठति स्रोतोमध्यगतः स पश्य! सर्वतः गुप्तः पश्य! लोके महर्षयः ये प्रज्ञानवन्तश्च प्रबुद्धाः आरम्भोपरताः सम्यगेतदिति पश्यत! कालस्य कांक्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—यह शब्द अथ शब्द के स्थान मे प्रयुक्त किया गया है, अत इसका अर्थ है—अब मै आचार्य के सबन्ध मे। **बेमि**—कहता हूँ। **तंजहा**—जैसे। **अपि**—सभावना अर्थ मे। **पडिपुण्णे हरए**—जल से भरा हुआ एक जलाशय है। **समंसि**—उसका जल समतल है। **भोमे**—भूमि मे। **चिट्ठइ**—ठहरता है। **उवसंतरए**—उसका जल उपशात रज वाला है, और। **से**—वह—जलाशय। **सारक्खमाणे**—जलचर जीवों का सरक्षण करता हुआ। **चिट्ठइ**—स्थित है। इसी तरह वह आचार्य भी। **सोयमज्झगए**—स्रोत मध्यगत है—स्वय श्रुत का पारायण करता है और अन्य साधुओं को पढ़ाता भी है, और वह। **सव्वओ**—सब तरह से। **गुत्ते**—इन्द्रिय और मन का गोपन करने वाला है। **पास**—हे शिष्य! तू देख कि। **लोए**—लोक में। **जे महेसिणो**—जो महर्षि है, उनको। **पास**—देख, वे भी जलाशय के सामन हैं।

व—और वे। **पन्नाणमंता**—प्रज्ञावन्त आगमो के ज्ञाता है। **पबुद्धा**—प्रबुद्ध तत्वज्ञ हैं। **आरम्भोवरया**—आरम्भ से निवृत्त हैं। **सम्ममेयंति**—जो कुछ मैंने कहा है, उसे सम्यक् प्रकार से। **पासह**—देखो, क्योंकि सयमी पुरुष। **कालस्स**—समाधि मरण रूप काल की। **कंखाए**—आकांक्षा रखते हुए सयम मार्ग मे। **परिव्वयंति**—भली-भांति चलने का प्रयत्न करते हैं। **त्तिबेमि**—ऐसा मै कहता हूॅ।

मूलार्थ—तीर्थकर भगवान ने आचार्य के गुणो का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही मै तुम्हें कहता हू। जैसे एक जल से परिपूर्ण उपशान्त रज वाला जलाशय समभूमि में ठहरा हुआ, जलचर जीवो का सरक्षण करता हुआ स्थित है, इसी प्रकार आचार्य भी सद्गुणो से युक्त, उपशान्त एव गुप्तेन्द्रिय है। वे श्रुत का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं एव अन्य साधुओ को भी श्रुत का बोध कराते है। हे शिष्य! तू लोक मे उनको देख जो महर्षि है, आगमवेत्ता, तत्त्वज्ञ एव आरभ-समारभ से निवृत्त हैं। हे शिष्य! तू मध्यस्थ भाव से उनके जीवन का अवलोकन कर, वे महापुरुष जलाशय के समान है। अत. मुमुक्षु पुरुष को समाधि मरण की आकाक्षा करते हुए सयम पालन मे सलग्न रहना चाहिए, ऐसा मै कहता हूॅ।

हिन्दी-विवेचन

सघ की व्यवस्था के लिए, साधु-साध्वियों मे अनुशासन बनाए रखने के लिए शास्ता का होना जरूरी है। आगम की परिभाषा मे शास्ता को आचार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे उनके गुणो एव उनकी श्रुत संपदा को जलाशय की उपमा देकर वर्णन किया गया है। जलाशय की विशेषता का उल्लेख करते हुए चार बाते बताई गई हे—1—जलाशय समभूमि पर होता है, 2—जल से परिपूर्ण होता है, 3—उपशान्त रज वाला होता है, और 4—जलचर जीवो का सरक्षक या आश्रयभूत होता है। सरोवर का महत्त्व इन्हीं चार विशेषताओं से ही स्थित है। यदि सरोवर समतल भूमि पर नही है तो प्रत्येक प्राणी सुगमता से उसके पानी का लाभ नही उठा सकता। दूसरे, जल से रहित सरोवर का कोई मूल्य नही है, जिससे किसी भी प्राणी को लाभ नही पहुंचता। तीसरे, सरोवर का उपशान्त रजमय होना उसकी स्वच्छता का प्रतीक है और स्वच्छ जल प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद हो सकता है और चौथे यह कि जलचर जीवो के सरक्षक के रूप में उसकी परोपकारिता परिलक्षित होती है। वह जैसे मत्स्य आदि

जीवो को आश्रय देता है, उसी प्रकार सर्प आदि को भी आश्रय देता है और सर्प-सिंह आदि हिसक जन्तुओं की भी प्यास बुझाता है। इस गुण से उसकी समभाव वृत्ति का भी बोध होता है। इन चार बातो से ही जलाशय–सरोवर का महत्त्व एव श्रेष्ठता बताई गई है।

आचार्य का जीवन भी सरोवर के समान होता है। उनके जीवन मे कही भी विषमता परिलक्षित नही होती और वह श्रुतज्ञान के जल से परिपूर्ण रहता है। ज्ञान सम्पन्न होने पर भी उनके जीवन मे अभिमान का उदय नही होता। उनकी कषायें सदा उपशान्त रहती हैं और वे सघ मे स्थित साधको के सरक्षण मे सदा तत्पर रहते है। वे समभाव से प्रत्येक साधक की उन्नति के लिए प्रयत्न करते है। छोटे-बड़े का, विद्वान-मूर्ख का उनके मन में भेद नही रहता। सबके साथ समानता का व्यवहार करते है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त **"पबुद्धा, पन्नाणमंता, आरम्भोवरया"** इन तीन पदो से रत्नत्रयी का बोध कराया गया है। प्रबुद्ध शब्द से सम्यग्दर्शन, प्रज्ञावंत शब्द से सम्यक् ज्ञान और आरम्भ से निवृत्त शब्द से सम्यक् चारित्र का वोध होता है और आचार्य एव साधु दोनों रत्नत्रय के आराधक हैं। अत श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु को जलाशय के समान श्रेष्ठ बताया गया है।

इस तरह श्रुत सम्पन्न आचार्य साधु के आदर्श जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि तुम स्वय मध्यस्थ–निष्पक्ष भाव से अनुभव करो देखो। इस कथन से अन्धश्रद्धा का उच्छेद किया गया है। साधक को अपनी निष्पक्ष बुद्धि से गुणो को समझने का अवसर दिया गया है। इस कथन से स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह साधक को श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन मे समाधि मरण की आकाक्षा रखते हुए रत्नत्रय के विकास मे सलग्न रहना चाहिए। जीवन मे मृत्यु का आना निश्चित है। अत साधु को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव पूर्वक समाधि मरण की आकांक्षा रखनी चाहिए, क्योकि समाधि मरण से साधक अशुभ कर्मो की निर्जरा करता हुआ, एक दिन इसी मरण से निर्वाण पद को पा लेता है। अत. साधक को समाधि मरण की आकांक्षा रखने का आदेश दिया गया है।

श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में रहकर अपनी साधना को तेजस्वी बताने वाले शिष्य की कैसी वृत्ति हो, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—वितिगिच्छासमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं न निव्विज्जे?॥162॥

छाया—विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नो लभते समाधिम्, सिताः वा एके अनुगच्छन्ति, असितावा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत्।

पदार्थ—वितिगिच्छासमावन्नेणं—सशय से युक्त। **अप्पाणेणं**—आत्मा द्वारा। **समाहिं**—समाधि को। **नो लहइ**—प्राप्त नही कर सकता। **वा**—अथवा। **एगे**—कोई-कोई। **सिया**—लघुकर्मी जीव पुत्रादि के स्नेह से बद्ध होने पर भी। **अणुगच्छंति**—आचार्यादि का अनुगमन करते है—उनके कथन को स्वीकार करते है। **वा**—अथवा। **एगे**—कोई-कोई। **असिता**—जो पुत्रादि के स्नेह से वियुक्त है (साधु हैं वे भी)। **अणुगच्छन्ति**—आचार्यादि के वचन को स्वीकार करते है। **अणुगच्छमाणेहिं**—जो आचार्य के आदेशानुसार चलने वाले हैं तथा। **अणणुगच्छमाणे**—कर्मोदय से जो आचार्यादि के वचनानुसार नही चलता, वह। **कह**—कैसे। **न निव्विज्जे**—खेद को प्राप्त नही होता? अवश्य होता है।

मूलार्थ—सन्देह युक्त आत्मा समाधि को प्राप्त नही कर सकता, कोई-कोई गृहस्थ आचार्य की आज्ञा का पालन करते है, तथा कोई-कोई साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते है। अर्थात् आचार्य के वचनानुसार चलने से समाधि की प्राप्ति करते है, तो फिर जो आचार्य की आज्ञा का पालन नही करता, वह संशययुक्त आत्मा खेद को क्यों न प्राप्त होगा? अर्थात् अवश्य होगा।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे आत्मा के विकास की 14 श्रेणिया मानी गई हैं, जिन्हे आगमिक भाषा मे गुणस्थान कहते है। चतुर्थ गुणस्थान से आत्मा विकास की ओर सन्मुख होता है और 14वे गुणस्थान में पहुंचकर वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस तरह

सम्यक् श्रद्धा से आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता है और अयोगि अवस्था मे पहुंचकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस विकास क्रम में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रद्धा के बल पर ही साधक साध्य को सिद्ध कर पाता है। इसलिए आगम मे श्रद्धा को परम–अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है[1], क्योंकि श्रद्धा पूर्वक पढा गया श्रुत सम्यग्श्रुत कहलाता है और श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया गया आचरण ही सम्यक् चारित्र के नाम से जाना-पहचाना जाता है। श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र दोनो सम्यग् नहीं रह पाते।

सम्यक् श्रद्धा के अभाव मे चारित्र भी सम्यग् नही रहता है। श्रद्धा विहीन साधक के चित्त मे संशय एव परिणामों मे स्थिरता नही रहती है और इस कारण उसके चित्त में समाधि भी नहीं रहती। क्योकि समाधि शान्त चित्त की स्थिरता पर आधारित है और चित्त की स्थिरता शुद्ध श्रद्धा पर अवलम्बित है। अतः साधक को आचार्य एव तीर्थकरो के वचनो पर तथा श्रुत पर विश्वास रखना चाहिए। जो साधक श्रुत पर विश्वास रखता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसके मन मे चंचलता एव अस्थिरता नही होती है। इससे वह शाति को, पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। परन्तु रात-दिन सशय मे पड़ा हुआ व्यक्ति शांति को नहीं पा सकता। कहा भी है **"संशयात्मा विनश्यति"**, अर्थात् सशय में निमग्न व्यक्ति अपना विनाश करता है।

इसलिए साधक को सशय का त्याग कर निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। अपनी श्रद्धा को तेजस्वी बनाने के लिए साधक को क्या चिन्तन करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते है–

मूलम्–तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं॥163॥

छाया–तदेव सत्यं निःशंकं यज्जिनैः प्रवेदितम्।

पदार्थ–तमेव–वह पदार्थ–तत्त्वज्ञान। **सच्च**–सत्य है। **नीसंकं**–सशय रहित है। **ज**–जो। **जिणेहिं**–जिन भगवान के द्वारा। **पवेइयं**–कहा गया है।

मूलार्थ–जो तत्त्वज्ञान जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया है, वह सत्य एवं सशय रहित है।

---

1 सद्धा पर दुल्लहा

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से श्रुतज्ञान अधिक न हो, तब भी साधक को जिन प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे वीतराग द्वारा प्ररूपित वचनो मे शका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव आदि पदार्थो का एवं जीवाजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर निर्जरा-बन्ध एवं मोक्ष आदि तत्त्वो का जो वर्णन किया है, वह अपने ज्ञान में देखकर किया है। उनके ज्ञान में दुनिया का कोई भी पदार्थ अनदेखा नहीं रह सकता है। अत· उनके प्रवचन मे पूर्णत· यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन वचनो पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्मा विकास की ओर उन्मुख होता है।

सशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एव श्रावक जीवन मे भी हो सकता है। अतः साधु के मन में भी श्रुतज्ञान—आगमों मे संशय हो सकता है और सशय से आत्मा का पतन होता है। अत· सशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की कमी के कारण मैं पूरी तरह समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु इन वचनो में असत्यता नहीं है। इस तरह साधक को सशय रहित होकर सयम का परिपालन करना चाहिए। एक आचार्य ने भी कहा है— "वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नही करते।" अत· उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एव सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थ दर्शनम्॥

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सिड्ढस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ 1, समियंति मन्माणस्स एगया असमिया होइ 2, असमयति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ 3, असमयंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ 4, समयंति-मन्नमाणस्स

समिया वा असमिया वा समिया वा होइ उवेहाए 5, असमयंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए 6, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया—उवेहाहि स मयाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसियो भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासइ इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा॥164॥

छाया—श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतः सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति 1, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति 2, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति 3, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति 4, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग् भवति उत्प्रेक्षया 5, असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा असम्यग् भवति 6, इत्युप्रेक्षया उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयात—उत्प्रेक्षस्व सम्यक्तया भावेन इत्येव तत्र सन्धिर्झोषितः भवति स तस्योत्थितस्य स्थितस्य गति समनुपश्यत अत्रापि बालभावे आत्मान नोपदर्शयेत्।

पदार्थ—णं—वाक्यालकार अर्थ में है। **सड्ढिस्स**—श्रद्धालु को तथा। **समणुन्नस**—वैराग्य से जिसका आत्मा भावित हो, अथवा। **संपव्वयमाणस्स**—संप्रव्रजित—दीक्षा-लेते हुए को। **समियंति**—जैसे श्री जिनेन्द्र भगवान ने प्रतिपादन किया है वह सम्यग्-यथार्थ है, इस प्रकार। **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **एगया**—एकदा—किसी समय—उत्तर काल मे। **समिया**—सम्यग्। **होइ**—होता है 1। **समियति**—सम्यक् है, इस प्रकार। **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **एगया**—एकदा उत्तर काल मे। **असमिया**—असम्यक्। होइ—होता है 2। **असमियति**—असम्यग् है इस प्रकार। **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **एगया**—एकदा। **समिया**—सम्यक्। **होइ**—होता है 3। **असमयंति**—असम्यग् है, इस प्रकार। **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **एगया**—एकदा—किसी समय। **असमिया**—असम्यग्। होइ—होता है 4। **समियंति**—सम्यग् है, इस प्रकार। **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **समिया**—सम्यग्। वा—अथवा। **असमिया**—असम्यग्। वा—अथवा। **समिया**—सम्यग्। होइ—होता है। **उवेहाए**—सम्यग् विचार करने से 5। **असमियंति**—असम्यक् है, इस प्रकार । **मन्नमाणस्स**—मानते हुए को। **समिया**—सम्यक् है। **वा**—अथवा। **असमिया**—असम्यग् है। **वा**—अथवा। **असमिया**—असम्यग्।

होइ—होता है। **उवेहाए**—असम्यग् विचार करने से 6। **अवेहमाणो**—आगमानुसार विचार करता हुआ। **अणुवेहमाणे**—विचार करते हुए के प्रति। **बूया**—कहे। **समियाए**—हे पुरुष! सम्यग् विचार से। **उवेहाहि**—पर्यालोचन कर! (तात्पर्य कि सम्यग् प्रकार से—मध्यस्थ भाव से विचार करने पर ही पदार्थो का यथार्थ स्वरूप अवगत हो सकता है, अन्यथा नही) **इच्चेव**—इस प्रकार। **तत्थ**—उस संयम मे यत्नशील होने पर। **संधी**—कर्म सन्तति रूप सन्धि। **झोसियो**—क्षपित। **भवइ**—होती है। **वे**—वह, सम्यक् प्रकार से। **उट्ठियस्स**—सयम मार्ग में उत्थित हुए की। **ठियस्स**—गुरुजनो की आज्ञा मे स्थित की। **गइं**—गति को। **समणुपासह**—सम्यक् प्रकार से देखो! **इत्थवि**—यहां पर भी। **बालभावे**—बालभाव—असंयम भाव। **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को। **नोउवदसिज्जा**—नही दिखलावे, अर्थात् सयम मार्ग मे बालभाव का प्रदर्शन न करे।

मूलार्थ—श्रद्धालु या वैराग्य युक्त मुनि तथा दीक्षा लेते हुए व्यक्ति, जो कि श्री 1—जिनेन्द्र भगवान के वचनो को सम्यग् मान रहा है—के भाव उत्तर काल मे भी सम्यग् होते है, 2—सम्यग् मानते हुए के एकदा—किसी समय असम्यग् होते हैं, 3—असम्यग् मानते हुए के किसी समय सम्यग् होते है, 4—असम्यग् मानते हुए के भाव एकदा असम्यग् होते है, 5—सम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग् तथा सम्यग् विचारणा से सम्यग् भाव होते हैं, 6—और असम्यग् मानते हुए के सम्यग् वा असम्यग् तथा असम्यग् विचारणा से असम्यग् होते है। आगमानुसार विचार करता हुआ विचार करो! इस प्रकार सयम मे अवस्थित होने से कर्मो की सन्तति का क्षय होता है, वह जो सयम मार्ग मे यत्नशील और गुरुजनो की आज्ञा मे स्थित है, तुम उसकी गति को देखो! साधक पुरुष यहा अपने आत्मा का बालभाव प्रदर्शित न करे।

हिन्दी-विवेचन

जब आत्मा अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियो—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय या क्षयोपशम करता है, तब साधक के जीवन मे श्रद्धा की, सम्यक्त्व की ज्योति जगती है। उसे यथार्थ तत्त्वो पर विश्वास होता है। अत जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय एव दर्शनमोह का उदय रहता है, तब तक सम्यक् श्रद्धा आवृत रहती है। जैसे आखो पर मोतियाबिन्दु

का आवरण आ जाने से दृष्टि मन्द पड जाती है, उसी तरह दर्शनमोह कर्म के उदय से आत्मा के स्वगुणो पर परदा-सा पड जाता है और उस कर्म-आवरण के कारण आत्मा पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

इससे स्पष्ट हो गया कि दुनिया मे दो तरह की दृष्टियां हैं—एक दर्शनमोह के आवरण से अनावृत और दूसरी है आवृत। इन्हे आगम मे सम्यग् एव मिथ्या दर्शन या मिथ्या दृष्टि कहते है। ससार की चारो गतियो में दोनों के जीव पाए जाते है। परन्तु आत्मा का विकास एवं अभ्युदय सम्यगृदृष्टि से ही होता है। इसलिए जीवन मे सम्यक्त्व को अधिक महत्त्व दिया गया है। सम्यक्त्व भी क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन तरह का होता है। जीवन में क्षायिक सम्यक्त्व आने के बाद वह सदा बना रहता है, परन्तु शेष दो तरह का सम्यक्त्व सदा एक-सा नहीं रहता है। उसमे विचारो की तरगों के अनुसार उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। कुछ व्यक्ति जिस निष्ठा के साथ दीक्षा लते है, उनकी वही श्रद्धा—निष्ठा अन्त तक बनी रहती है और उनकी निष्ठा में तेजस्विता आती रहती है, परन्तु उसका प्रकाश धूमिल नही पड़ता। कुछ व्यक्ति दीक्षा के समय निर्मल सम्यक्त्व वाले होते हैं, परन्तु दीक्षित होने के बाद दर्शन मोह के उदय से श्रद्धा से गिर जाते है। कुछ साधक दीक्षित होते समय सशयशील होते है, परन्तु बाद में उनका सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। कुछ साधक दीक्षा ग्रहण करते समय एव बाद में सशयशील या सम्यक्त्व-रहित बने रहते हैं। इसी तरह अन्य भगो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए।

जीवो के कार्यो के भेद इन्ही दो दृष्टियो के आधार पर किए गए है। मिथ्यादृष्टि की क्रिया मिथ्या कहलाती है, तो सम्यगृदृष्टि की क्रिया सम्यक् कहलाती है और इसी सम्यक् क्रिया से आत्मा का विकास होता है। सम्यक् भाव से अन्वेषण करने पर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखा एव जाना जा सकता है। अत· साधक को जीवन मे श्रद्धा एव निष्ठा को बनाए रखना चाहिए और उसे प्रत्येक पदार्थ को सम्यग् दृष्टि से देखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधक को सम्यगृदृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के अन्तर को समझ कर अपनी श्रद्धा—निष्ठा को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति के ज्ञान, दर्शन एव चारित्र में स्थिरता रहती है और उससे पूर्व बॅधे हुए पाप कर्म का क्षय होता

है। अभिनव रूप से पाप कर्म का बन्ध नही होता, परन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति रात-दिन पाप कर्म का बन्ध करता है। अत- साधक को मिथ्यादृष्टि एव सशय का त्याग करके जिन वचनो पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह नितान्त सत्य है कि पाप कर्म का बन्ध अध्यवसाय के अनुसार होता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के अध्यवसाय सदा आरभ-समारभ मे लगे रहते है, अत· वह सदा हिसा आदि दोपों मे सलग्न रहता है और उससे पाप कर्म का वन्ध करता है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–तुमंसि नाम सच्चेवं जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एव जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, ज उद्दवेयंति मन्नसि अंजू चेय पडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए॥165॥

छाया–त्वमेव नाम स एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमेव ना स एव यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, त्वमेव नाम स य परितापयितव्यमिति मन्यसे एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रापयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुश्चैतस्य प्रतिबुद्धजीवी तस्मान्न हंता नापि घातयेत् अनुसंवेदनमात्मना यद् हन्तव्यं नाभिप्रार्थयेत्।

पदार्थ–नाम–सभावना अर्थ मे है। **च**–और। **एव**–शब्द अवधारण अर्थ में है। **जं**–जिसको तू। **हंतव्वति**–मारना। **मन्नसि**–चाहता है। **स**–वह। **तुमंसि**–तू ही है। **नाम**–सभावना। **च एव**–पूर्ववत्। **जं**–जिसको तू। **अज्जावेयव्वंति**–आज्ञा मे प्रवर्त्ताना। **मन्नसि**–चाहता है। **स**–वह। **तुमंसि**–तू ही है। नाम और च एव पूर्ववत्। **जं**–जिसको तू। **परियावेयव्वंति**–परितापना देनी। **मन्नसि**–चाहता है। **स**–वह। **तुमंसि**–तू ही हे अथवा जिसे तू परिगृहीतव्य–पकडना चाहता है वह तू ही है। **एव**–इस प्रकार। **ज**–जिसको तू। **परिघित्तव्वंति**–पकडना। **मन्नसि**–चाहता है वह तू ही है। **जं**–जिसको। **उद्दवेयंति**–प्राणो से वियुक्त करना। **मन्नसि**–चाहता है वह तू ही है। **च**–पुन·। **एय**–यह पूर्वोक्त विषय जानकर। **अज्जू**–सरल वृत्ति

वाला साधु। **पडिबुद्ध-जीवी**—ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् प्रत्येक जीव को अपने आत्मा के समान जानने वाला। **तम्हा**—इसलिए। **न हंता**—स्वय जीव को न हने। **नवि घायए**—और न दूसरे से घात करावे तथा न इसकी अनुमोदना करे। **अप्पाणं**—आत्मा को हिंसादि कर्मो का। **अणुसंवेयणं**—अनुसंवेदन अर्थात् हिसादि व्यापार जनित दु:ख का अनुभव करना पडेगा, इसी प्रकार की विचारणा करता हुआ। **जं**—जो कोई भी मारने आदि के भाव है अथवा हिंसा रूप—सावद्य क्रियाए है, उनकी। **नाभिपत्थए**—प्रार्थना न करे।

मूलार्थ—जिस को तू मारना चाहता है, वह तू ही है' जिसको तू आदेश देना चाहता है, वह तू ही है, जिसको तू परितापना देना चाहता है, वह तू ही है; जिसको तू पकडना चाहता है, वह तू ही है, जिसको तू प्राणो से वियुक्त करना चाहता है, वह तू ही है। ऋजुप्राज्ञ साधु प्रतिबुद्ध जीवन व्यतीत करने वाला, अर्थात् ज्ञान युक्त जीवन व्यतीत करने वाला होता है। इसलिए किसी भी जीव को न मारे, और न मारने की प्रेरणा करे, तथा मारने वाले को इस सावद्य क्रिया का अनुमोदन भी न करे, किन्तु इस प्रकार के भाव रक्खे कि यदि मुझसे किसी प्रकार की हिंसा हो गई तो उसके कटु फल का अनुभव मुझे अवश्य करना पडेगा। अत किसी भी जीव को मारने की प्रार्थना न करे, अर्थात् न मारे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि सम्यग् एव मिथ्यादृष्टि की क्रिया मे अन्तर रहता है। जिस साधक के जीवन मे सम्यक्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रत्येक कार्य विवेक एव उपयोग पूर्वक करता है। क्योंकि वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि में विवेक का अभाव होता है। उसके जीवन मे अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है, अत वह दूसरे के दु ख-सुख को नही देखता, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि दूसरे प्राणी की हिसा करना अपनी हिसा करना है, क्योकि जिसे तू मारना चाहता है, अपने अधीन रखना चाहता है, परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि सब प्राणियो की आत्मा आत्मद्रव्य की अपेक्षा से समान है। सबको सुख-दु ख का समान सवेदन होता है और प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है,

दु:ख से बचना चाहता है। अतः इस सिद्धांत को जानने वाला साधक किसी भी प्राणी की हिसा नही करेगा। क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी का वध करते समय अध्यवसायो–परिणामो मे क्रूरता रहती है और भावो की मलिनता के फलस्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है और आत्मा पतन के महागर्त मे जा गिरती है। आत्मा का पतन होना भी एक प्रकार से मृत्यु ही है। मृत्यु के समय दु.खानुभूति होती है और हिसक प्रवृत्ति से भी दु ख परम्परा में अभिवृद्धि होती है। इससे जन्म-मरण का प्रवाह बढता है। इस प्रकार मरने वाले प्राणी के अहित के साथ मारने वाले प्राणी का भी अहित होता है। वह पाप कर्म से बोझिल होकर ससार मे परिभ्रमण करता है। अत· यही उसकी मृत्यु है। इसलिए साधक को यह समझकर, जिसे मै मार रहा हूँ, वह मै ही हूँ, यह उस प्राणी की नही, मेरी अपनी ही हिसा है, हिसा से निवृत्त होना चाहिए।

उसे अपने आत्म ज्ञान से सब प्राणियों के स्वरूप को समझ कर हिसा से निवृत्त रहना चाहिए, क्योंकि जो आत्मा है वही विज्ञाता है, अन्य नही। कुछ विचारक आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते है। उन्हे सशय है कि आत्मा और ज्ञान एक कैसे हो सकते है? इसी सशय का निवारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए, त्तिबेमि॥166॥

छाया–यः आत्मा स विज्ञाता, यः विज्ञाता स आत्मा येन विजानाति स आत्मा तं प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते एष आत्मवादी सम्यक्तया पर्यायः व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ–**जे**–जो। **आया**–आत्मा है। **से**–वह। **विन्नाया**–विज्ञाता है। **जे**–जो। **विन्नाया**–विज्ञाता है। **से**–वह। **आया**–आत्मा है। **जेण**–जिससे–मत्यादि ज्ञान से। **वियाणइ**–जानता है। **से**–वह। **आया**–आत्मा है। **त पडुच्च**–उस ज्ञान परिणाम के आश्रय से। **पडिसंखाए**–आत्मा कहा जाता है, अर्थात् आत्मा व्यपदेश ज्ञान सापेक्ष है। **एस**–यह अनन्तरोक्त। **आयावाई**–आत्मवादी कहा जाता है, तथा। **समियाए**–सम्यग् भाव से वा शमिता से। **परियाए**–संयम पर्याय। **वियाहिए**–वर्णन किया गया है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है, जिसके द्वारा जानता है वह आत्मा है, उस ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से आत्मा कहलाता है, इस प्रकार वह आत्मवादी कहा गया है, और फिर उसका सम्यक् प्रकार से संयम पर्याय कहा गया है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे आत्मा और ज्ञान की एक रूपता बताई गई है। आगम मे आत्मा का लक्षण उपयोग—ज्ञान और दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नही रह सकता। जहा ज्ञान परिलक्षित होता है, वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहा चेतना का आभास होता है, वहा ज्ञान की ज्योति अवश्य रहती है। जैसे सूर्य की किरणे और प्रकाश एक-दूसरे के अभाव में नही रह सकते। जहा किरणे होगी वहा प्रकाश भी अवश्य होगा और जहा सूर्य का प्रकाश होगा वहा किरणो का अस्तित्व भी निश्चित रूप से होगा। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान के बिना नही रह सकती। जिस पदार्थ मे ज्ञान का अभाव है, वहा आत्मचेतना की प्रतीति भी नही होती, जैसे स्तम्भ आदि जड पदार्थ।

यह सत्य है कि ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा दो भिन्न पदार्थ है। परन्तु यह भी सत्य है कि गुण सदा गुणी में रहता है। गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र उसका कही अस्तित्व नही पाया जाता और उसका गुणी आत्मा ही है। अत· इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है, क्योकि सदा-सर्वदा आत्मा मे ही स्थित रहता है। इसी अभिन्नता को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र मे कहा गया कि जो आत्मा है वही विज्ञाता—जानने वाला है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। इससे आत्मा और विज्ञाता मे एकरूपता परिलक्षित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि आगम मे आत्मा को कर्ता एव ज्ञान को करण माना गया है। कर्ता और करण दोनो भिन्न होते है। यहा दोनो की अभिन्नता बताई गई है, अत· दोनों विचारो मे एकरूपता कैसे होगी?

इसका समाधान यह है कि जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ पर स्यादवाद्—अनेकान्त की दृष्टि से सोचता-विचारता है। अत· उसके चिन्तन में विरोध को पनपने का अवकाश ही नही रहता। वह आत्मा और ज्ञान को न तो एकान्त रूप से भिन्न ही

मानता है और न अभिन्न ही। गुण और गुणी की अपेक्षा से आत्मा और ज्ञान अभिन्न प्रतीत होते है, तो कर्ता एव करण की अपेक्षा से भिन्न भी परिलक्षित होते है। इनका भेद करण के बाह्य और आभ्यन्तर भेद पर आधारित है। जैसे देवदत्त आत्मा का आत्मा से निश्चय करता है, इसमें देवदत्त—आत्मा एवं निश्चय ज्ञान की एकरूपता दिखाई देती है और देवदत्त कलम से पत्र लिखता है, इसमे देवदत्त एव कलम से लिखने की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। प्रस्तुत सूत्र मे उसका गुण-गुणी की दृष्टि से उल्लेख किया गया है, अत' यहा उसकी अभिन्नता ही दिखाई गई है।

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मा ज्ञानवान है। उसमे सत्ता रूप से अनन्त ज्ञान स्थित है। परन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से उसकी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। उक्त कर्म का जितना क्षय एव क्षयोपशम होता रहता है, आत्मा मे उतना ही ज्ञान का प्रकाश फैलता रहता है। जब उक्त कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा मे पूर्ण ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है। ज्ञान के इस विकास को पाच प्रकार का माना गया है—1—मति ज्ञान, 2—श्रुतज्ञान, 3—अवधिज्ञान, 4—मन -पर्यवज्ञान और 5—केवलज्ञान। जिस व्यक्ति के जीवन मे दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है, उसमे भी ज्ञान का सद्भाव होता है। परन्तु, मोह कर्म के उदय से वह ज्ञान सम्यक् नही, मिथ्या ज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद किए गए है—1—मति अज्ञान, 2—श्रुत अज्ञान, 3—विभग ज्ञान। इस ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पदार्थो को जानता है और वह (ज्ञान) सदा-सर्वदा आत्मा के साथ सबद्ध रहता है। इसलिए उसे आत्मा कहा है।

आत्मविकास मे सम्यग् ज्ञान ही कारणभूत है। उसी के द्वारा साधक पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को जानकर सयम को स्वीकार करता है और रत्नत्रय की शुद्ध आराधना करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अत साधक को आत्मा मे स्थित अनन्त ज्ञान पर पडे हुए आवरण को क्षय करके निरावरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा सयम-साधना मे संलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

पंचम अध्ययन : लोकसार

षष्ठ उद्देशक

पचम उद्देशक मे आचार्य को जलाशय के समान बताया गया है। जलाशय के समीप रहने वाले, अर्थात् रत्नत्रय से सम्पन्न आचार्य के सान्निध्य मे रहने वाले शिष्य रत्नत्रय को प्राप्त करके संयम-साधना में संलग्न रहते है और उसके द्वारा पूर्ण शान्ति को प्राप्त करते है। प्रस्तुत उद्देशक मे शिष्यो के जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सन्नी, तन्निवेसणे॥167॥

छाया–अनाज्ञया एके सोपस्थानाः आज्ञायामेके निरुपस्थानाः अयं ते माभूत्, एतत् कुशलस्यदर्शन तद्दृष्टिः, तनमुक्तिः, तत्पुरस्कारः, तत्संज्ञी, तन्निवेशनः।

पदार्थ–एगे–कई एक व्यक्ति। **अणाणाए**–जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के बिना। **सोवट्ठाणा**–कुमार्ग पर चल रहे है। **एगे**–कई एक व्यक्ति। **आणाए**–भगवान की आज्ञा में। **निरुवट्ठाणा**–पुरुषार्थ नही करते। **एयं**–ये दोनो–कुमार्ग में पुरुषार्थ और सन्मार्ग मे आलस्य। **ते मा होउ**–तुम्हारे में न हो। एयं–ऐसा। **कुसलस्स**–तीर्थकर भगवान का। **दंसणं**–दर्शन–मन्तव्य है, उनका आदेश है कि। **तद्दिट्ठिए**–शिष्य को आगम एव आचार्य की दृष्टि–आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए। **तम्मुत्तीए**–आचार्य की आज्ञा के अनुसार करना चाहिए। **तस्सन्नी**–आचार्य की भांति सदा ज्ञान मे सलग्न रहना चाहिए। **तन्निवेसणे**–शिष्य को सदा आचार्य एव गुरु के सान्निध्य मे रहना चाहिए।

मूलार्थ–कुछ लोग भगवान की आज्ञा के विपरीत कुमार्ग पर चलते हैं। कुछ

साधक भगवान की आज्ञा का परिपालन करने में आलस्य करते है। परन्तु जिनेश्वर भगवान का आदेश है कि साधक के जीवन मे ये दोनो दोष—कुमार्ग मे पुरुषार्थ एव सन्मार्ग मे आलस्य न रहे। विनीत शिष्य को इन दोषो का त्याग करके गुरु की दृष्टि—आज्ञा से उनके समान निर्लोभ वृत्ति से सयम का पालन करना चाहिए। आचार्य एव गुरु की तरह सदा ज्ञान-साधना में संलग्न रहना चाहिए और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से करना चाहिए। शिष्य को सदा आचार्य एवं गुरु के सान्निध्य मे रहना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के अभाव मे जीवन में धर्म का उदय नही हो सकता और विनय की आराधना आज्ञा में है। इसलिए आगम मे कहा गया है कि आज्ञा का पालन करने मे धर्म है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि जो व्यक्ति आगम एव आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह आत्मा का विकास करते हुए एक दिन अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है और जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा के विपरीत मार्ग पर चलता है, उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करने मे आलस्य करता है वह व्यक्ति ससार मे परिभ्रमण करता है। अत विनीत शिष्य को उक्त दोनो दोषो का त्याग करके सदा तीर्थंकर भगवान एव उनके शासन के सचालक आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। उसे सदा ज्ञान-साधना एव संयमपालन में सलग्न रहना चाहिए और उसे प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

इस तरह के आचरण से साधक के जीवन मे किस गुण का विकास होता है, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू निरालंवणयाए जे महं अबहिमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहमंमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा॥168॥

छाया—अभिभूय अद्राक्षीत् अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बतायाः य महान् अबहिर्मनाः प्रवादेन प्रवादं जानीयात् सह सन्मत्या परब्याकरणेन अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा।

पदार्थ–अभिभूय–परीषहो को जीतकर। **अदक्खू**–चारो घातिक कर्मों को क्षय करके तत्त्व को देखता है, और। **अणभिभूए**–अनुकल और प्रतिकूल परीषहों के आने पर भी पराभूत नहीं होता। **निरालंबणयाए**–माता-पिता आदि के आलम्बन से रहित हो कर। **पभू**–सयम पालन में समर्थ है। **जे**–जो। **महं**–महापुरुष–लघुकर्म वाला है, उसका। **अबहिमणे**–मन तीर्थकर भगवान की आज्ञा से बाहर नहीं जाता है। **पवाएण**–आचार्य परम्परा से। **पवाय**–प्राप्त सर्वज्ञ उपदेश को। **सहसंमइयाए**–सन्मति से या। **परवागरणेणं**–तीर्थकर आदि के उपदेश से, या। **अन्नेसि अन्तिए**–अन्य आचार्य के सान्निध्य से। **सुच्चा**–सुनकर। **जाणिज्जा**–जाने, अर्थात् पदार्थो के यथार्थ स्वरूप से परिज्ञात होवे।

मूलार्थ–जो साधक परीषहो पर विजय प्राप्त करके तत्त्व का द्रष्टा होता है और माता-पिता एव परिजनों के आलम्बन से रहित होकर सयम पालन मे समर्थ है, वह भगवान की आज्ञा से बाहर नही होता। आचार्य परपरा से सर्वज्ञ के सिद्धात को जानकर और सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य मत की परीक्षा करके, सन्मति–शुद्ध एव निष्पक्ष बुद्धि से, तीर्थकरों के उपदेश से या आचार्य के सान्निध्य से पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को जानते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे आध्यात्मिक विकास का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों से घबराता नही है, वही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ सकता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस, शक्ति एव श्रद्धा–निष्ठा का होना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है एव उन पर पूर्ण विश्वास है, वही व्यक्ति कठिनाई के समय भी अपने सयम मार्ग से विचलित नही होता और माता-पिता एव अन्य परिजनों के आलम्बन की भी आकाक्षा नही रखता, क्योकि वह जानता है कि उनका जीवन आरभमय है। अत उनके आश्रय मे जाने का अर्थ है–आरभ-समारभ को बढावा देना और इस प्रवृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है तथा ससार परिभ्रमण बढता है। इस बात को जानने वाला एवं उस पर श्रद्धा–निष्ठा रखने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का परिपालन कर सकता है। क्योकि सर्वज्ञ के वचनों मे परस्पर विरोध नही होता और वे प्राणिजगत के हित को

लेकर कहे गए हैं। इसलिए सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी के वचनों पर श्रद्धा नही होती। वह उसके आधार पर अन्य मत की परीक्षा करता है और हेय-उपादेय की पहचान करके हेय का त्याग करता है और उपादेय को स्वीकार करता है। जैसे—जैनागमो में शब्द पौद्गलिक माना है और नैयायिक-वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है, क्योकि शब्द रूपवान है और आकाश रूप रहित है। रूप रहित पदार्थ का गुण रूप युक्त पदार्थ हो नही सकता। इसलिए शब्द भी रूपवान होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। आज के वैज्ञानिक अविष्कारो ने भी शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि सर्वज्ञ के वचनो में असत्यता नहीं होती।

इस प्रकार साधक पदार्थो का यथार्थ ज्ञान करके सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के अनुरूप संयम का पालन करते है। पदार्थो का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—1—सन्मति से—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय एव क्षयोपशम से सन्मति प्रस्फुटित होती है और उससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। 2—तीर्थकर के उपदेश से और 3—आचार्य के उपदेश से भी पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

पदार्थो के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने के पश्चात् साधक को क्या करना चाहिए, इस सबन्ध मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिणणाय, इह आरामं परिण्णाए अल्लीणे गुत्ते परिव्वए निट्ठियठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्तिबेमि॥169॥

छाया—निर्देशं नातिवर्तेत मेधावी सुप्रतिलेख्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यक् समभिज्ञाय इह आरामं परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च परिव्रजेत् निष्ठितार्थी वीर· आगमेन सदा पराक्रमेथाः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—मेहावी—बुद्धिमान साधु। **निद्देस**—तीर्थकरादि के उपदेश को। **नाइवट्टेज्जा**—अतिक्रम न करे—उल्लघन न करे। **सुपडिलेहिया**—भली प्रकार से प्रतिलेखन कर, फिर। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से। **सव्वप्पणा**—सर्वात्मना—सामान्य विशेष रूप से पदार्थो का पर्यालोचन करके। **सम्मं**—सम्यक् प्रकार से। **समभिण्णाय**—सम्यग्वाद और मिथ्यावाद को जानकर,

मूलम्—आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज, वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिण्णाय॥170॥

छाया—आवर्त्त तु उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेत् वेदवित् विनेत्तुं स्रोतः निष्क्रम्य एष महान् अकर्म्मा जानाति पश्यति प्रत्युत्प्रेक्ष्य नाकाक्षति इह आगतिं गतिं परिज्ञाय।

पदार्थ—तु—वितर्क अर्थ मे। **आवट्टं**—राग-द्वेप और विषय रूप आवर्त्त मे। **पेहाए**—विचार कर। **इत्थ**—इस आवर्त्त विषयक। **मेहावी**—आगम के जानने वाला। **विरमिज्ज**—निवृत्ति करे। **सोय**—स्रोत के। **विणइत्तु**—दूर करने के लिए। **निक्खम्म**—दीक्षा लेकर, पुरुषार्थ—प्रयास करे। **एस**—यह प्रत्यक्ष। **मह**—महापुरुष। **अकम्मा**—चार घातिकर्मो से रहित होने पर। **जाणइ**—विशेप रूप से जानता है। **पासइ**—सामान्य रूप से देखता है किन्तु, फिर। **पडिलेहाए**—पदार्थो के स्वरूप को जानकर-अर्थात् प्रतिलेखन कर। **नावकखइ**—सत्कारादि की अभिलाषा नही करता। **इह**—इस मनुष्य लोक मे। **आगइं**—प्राणियो का आगति—आगमन। **गइं**—गति—गमन को। **पडिलेहाए**—पर्यालोचन करके, परिन्नाय—ससार के कारण को ज्ञान से जानकर प्रत्याख्यान से त्यागकर ससार से विमुक्त हो जाता है।

मूलार्थ—वेदवित्—ज्ञानवान् पुरुप, ससार के कारणभूत भाव स्रोत का विचार कर उसे छोड देता है। भाव स्रोत को दूर करने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करता है, अर्थात् प्रव्रज्या के द्वारा भाव स्रोत का निरोध करता है। यह महापुरुप चार प्रकार के घातिकर्मो का क्षय करके ससारवर्ती पदार्थो को जानता और देखता है—विशेष रूप से जानता और सामान्य रूप से देखता है। फिर वह किसी प्रकार के मान-सत्कार की इच्छा नही करता, किन्तु इस लोकवर्ती जीवो के गमनागमन को देखकर और उनके मूल कारणो को जानकर, उनका निराकरण करता है।

हिन्दी-विवेचन

आत्मा मे स्थित अनन्त चतुष्ट्य—1—अनन्त ज्ञान, 2—अनन्त दर्शन, 3—अनन्त शक्ति और 4—अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिए पहले कर्म स्रोत को रोकना

आवश्यक है। अभिनव कर्मो के आगमन को रोके बिना ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता। इसके लिए साधक संयम—दीक्षा को स्वीकार करता है। सयम के द्वारा कर्मो का आगमन रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आबद्ध कर्मो का क्षय करता है। इस तरह चार घातिक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी बनता है। इस तरह सयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसके मन मे किसी तरह की आकाक्षा नही रह जाती है। वह समस्त इच्छा-आकाक्षाओ से रहित होकर अपने आत्मस्वरूप मे रमण करता है। उस के ज्ञान मे सब कुछ स्पष्ट रहता है। ससार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नही रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र मे वेदवित् एव अकर्मा कहा गया है।

इस तरह ससार परिभ्रमण के कारणो का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिदे न सुक्किल्ले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न सीए न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने अवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि॥171॥

छाया—अत्येति जातिमरणस्य वर्त्तमार्गं व्याख्यातरतः सर्वेस्वरा· निवर्त्तन्ते तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओजः अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः स न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमंडलो न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो न तिक्तो न कटुको न कषायो नामलो न मधुरो न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो न उष्णो न स्निग्धो न रुक्षो न कायवान् न रुहो न संगो न स्त्री, न पुरुषो न

अन्यथा परिज्ञः, संज्ञः, उपमा न विद्यते अरूपिणी सत्ता अपदस्य पदं नास्ति।

पदार्थ—**जाई**—जन्म। **मरणस्स**—मरण के। **वट्टमग्गं**—मार्ग के कारण कर्मो का। **अच्चेइ**—अतिक्रम करता है। **विक्खायरए**—मोक्ष में रत है। **सव्वे**—सर्व। **सरा**—स्वर। **नियट्टंति**—वहां पर नही है—अर्थात् ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति नही है, तथा वाच्य वाचक सम्बन्ध भी नही है। **जत्थ**—जहा पर। **तक्का**—तर्क। **न विज्जइ**—विद्यमान नहीं है। **तत्थ**—वहा पर। **मई**—मति—मतिज्ञान। **न गहिया**—ग्राहक नही है, अर्थात् मति का वहा पर कोई भी प्रयोजन नही है। **ओए**—केवल कर्म कलक से रहित सिद्ध भगवान है। **अपइट्ठाणस्स**—औदारिक शरीर वा कर्म अप्रतिष्ठान—मोक्ष का जो। **खेयन्ने**—खेदज्ञ—निपुण वा क्षेत्रज्ञ है। **से**—वह परम पद का अध्यासी, सिद्ध आत्मा ज्ञानदर्शनोपयुक्त है और सस्थान की अपेक्षा से न दीर्घ है। **न हस्से**—न ह्रस्व है। **न वट्टे**—न वृत्त—वर्तुलाकार है। **न तंसे**—न त्रिकोण है। **न चउरसे**—न चतुष्कोण है—। **न परिमंडले**—न परिमडल सस्थान वाला है, तथा वर्ण की अपेक्षा। **न किण्हे**—न कृष्ण वर्ण वाला है। **न नीले**—न नील वर्ण वाला है। **न लोहिए**—न लोहित है। **न हालिद्दे**—न पीत है—पीले वर्ण वाला है। **न सुक्किल्ले**—न शुक्ल—श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा। **न सुरभिगधे**—न सुगन्ध वाला है। **न दुरभिगंधे**—न दुर्गन्ध वाला है—रस की अपेक्षा। **न तित्ते**—न तिक्त है। **न कडुए**—न कटुक है। **न कसाए**—न कषाय रस वाला है। **न अंबिले**—न खट्टा है। **न महुरे**—न मधुर है, स्पर्श की अपेक्षा। **न कक्खड़े**—न कर्कश स्पर्श वाला है। **न मउए**—न मृदु स्पर्श—कोमल स्पर्श वाला है। **न गरुए**—न गुरु—भारी है। **न लहुए**—न लघु—हल्का है। **न उण्हे**—न उष्ण है। **न सीए**—न शीत है। **न निद्धे**—न स्निग्ध है। **न लुक्खे**—न रुक्ष है। **न काऊ**—न काय वा लेश्या से युक्त है। न **रुहे**—कर्म बीज के अभाव से जिसका पुनर्जन्म नही होता। **न सगे**—अमूर्त होने से जिसको किसी का सग नही। **न इत्थी**—जो न स्त्री है। **न पुरिसे**—न पुरुष है। **न अन्नहा**—न नपुसक है। **परिन्ने**—परिज्ञ है सर्वात्म प्रदेशो का ज्ञाता है। **सन्ने**—सज्ञ है—अर्थात् ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त है—सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है। **उवमा न बिज्जए**—उसके—सिद्धात्मा के सुख की किसी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती। **अरूवी सत्ता**—वह अरूपी सत्ता है। **अपयस्स**—उसकी कोई भी अवस्था विशेष नही है, अत । **पय**—उसकी नियत्त अवस्था। **नत्थि**—नही

है। तात्पर्य यह कि अपद का पद नही होता, अर्थात् ऐसा कोई शब्द नही, जिससे उसका निरूपण किया जा सके।

मूलार्थ—वह जन्म-मरण के मार्ग को अतिक्रम करने वाला है, मोक्ष में रत है। मोक्ष या मोक्ष के सुख का शब्दो के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, तर्क उसमे काम नहीं करता, मति का वहा प्रयोजन नही, अर्थात् मति के द्वारा वहा विकल्प उत्पन्न नही किया जा सकता, ऐसा केवल शुद्ध चैतन्य और ज्ञान, दर्शन तथा अक्षय सुख एव अनन्त शक्तिमय सिद्ध भगवान है। जो कि अप्रतिष्ठान नाम मोक्ष का ज्ञाता और परमपद का अध्यासी है तथा सस्थान की अपेक्षा से वह—सिद्ध भगवान न दीर्घ है—न ह्रस्व, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण, एव न चतुष्कोण है, न परिमडल के आकार—चूडी के आकार वाला। वर्ण की अपेक्षा से न कृष्ण है, न नीला, लाल है न पीला और न ही श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा से न सुगन्ध युक्त है और न ही दुर्गन्धवाला है, रस की अपेक्षा से न तिक्त है न कटुक, न कषाय न खट्टा और न मधुर है एव स्पर्श की अपेक्षा से वह न तो कर्कश है न कोमल, तथा न लघु है न गुरु, न उष्ण है न शीत और न स्निग्ध है न रुक्ष, तथा न वह काय वाला या लेश्या वाला है, इसी तरह न तो उसका कर्म रूप बीज है और न उसको किसी का सग है, वह न तो स्त्री है और न ही पुरुष और न ही नपुसक है, वह सामान्य और विशेष ज्ञान वाला, अवस्था विशेष से रहित, अनुपम केवल शुद्ध चेतन्य स्वरूप अरूपी सत्ता वाला, अक्षय सुख की राशि अनन्त शक्तियो का भंडार और ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त हुआ विराजमान है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे बनाया गया है कि आस्रव का निरोध करके एव निर्जरा के द्वारा चार घातिक कर्मो का क्षय करके आत्मा सर्वज्ञ बनता है और सर्वज्ञ अवस्था मे आयु कर्म के क्षय के साथ शेप तीन—वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय करके आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र मे इसी मोक्ष एव मुक्तात्मा के विषय का विवेचन किया गया है।

मोक्ष उस स्थिति का नाम है, जिसमे साधक समस्त कर्मो का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। अब उसके लिए कुछ भी करना अवशेष नही रह जाता है। फिर आत्मा

सब प्रकार की बाधा—पीड़ाओं एवं कर्म तथा कर्मजन्य उपाधि से रहित हो जाता है; निरावरण ज्ञान एव अनन्त आत्मा सुख मे रमण करता हुआ सदा-सर्वदा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित रहता है। यह अक्षय सुख वाला है, समस्त कर्मो से रहित है, अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं शक्ति से सपन्न है।

उसके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति किसी शब्द मे नहीं है। उसके वर्णन करने मे समस्त स्वर अपनी सामर्थ्य खो देते है, क्योकि शब्दों के द्वारा उसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, जिसका कोई रूप हो, रंग हो या उसमे अन्य भौतिक आकार-प्रकार हो। परन्तु शुद्ध आत्मा इन सब गुणो से रहित है। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि का सर्वथा अभाव है। वहा आत्मा के साथ किसी पौद्गलिक पदार्थ का सबन्ध नही है। अत शब्दो के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नही किया जा सकता। वेदो मे 'नेति नेति' शब्द द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि परमात्मा के स्वरूप का शब्दो से विवेचन नही किया जा सकता। आत्मा—परमात्मा को मानने वाले प्राय सभी भारतीय दर्शन इस बात मे एकमत हैं।

शब्द की अपेक्षा तर्क एव बुद्धि का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है और यह उससे भी सूक्ष्म है। इस कारण इनकी पहुच भी शब्द से अधिक विस्तृत क्षेत्र मे है। कवि एव विचारक तर्क एव बुद्धि की कल्पना से बहुत ऊंची उडानें भरने मे सफल होते है। परन्तु मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने में तर्क एवं बुद्धि भी असमर्थ है। क्योकि मनन-चिन्तन एव तर्क-वितर्क आदि पदार्थो के आधार पर होता है और मुक्ति समस्त मानसिक विकल्पो से रहित है। अत वहा तर्क एव बुद्धि की भी पहुच नही है।

वैदिक ग्रन्थो मे भी ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है—जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रस हीन, नित्य और अगन्ध युक्त है, जो अनादि-अनन्त, यह तत्त्व से भी परे और ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है[1] वह जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि रहित, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म ओर अव्यय हे जो सम्पूर्ण भूतो का कारण है, उसे विवेकी पुरुष देखते

1 अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय, तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव, निचाय्य तन्मृत्यमुखात्प्रमुच्यते॥

—कठोपनिषद्, 1, 3, 15

हैं[1]।' तैत्तीरय उपनिषद् मे कहा है—"जहां वचन की गति नहीं है और मन भी अप्राप्य है, ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की व्याख्या नही की जा सकती[2]। इसी तरह बृहदारण्यक में भी ब्रह्म को अस्थूल, असूक्ष्म, अदीर्घ, अह्रस्व आदि माना है[3]। निर्वाण के सम्बन्ध मे बौद्ध ग्रन्थो मे भी ऐसे ही विचार मिलते है[4]। इस तरह इस विषय मे प्राय. सबके विचारो मे एकरूपता है।

मोक्ष मे आत्मा सर्व कर्म मल से रहित, विशुद्ध एव एक है। उसके साथ न कर्म है और न कर्म जन्य उपाधि है। वह सब दोषों से रहित है और दुनिया के समस्त पदार्थो का ज्ञाता एव द्रष्टा है। निष्कर्ष यह निकला कि मोक्ष मे स्थित आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमडल सस्थान वाला है, न कृष्ण, नील, पीत, रक्त एव श्वेत वर्ण वाला है, न दुर्गन्ध एवं सुगन्ध वाला है, न तीक्षण, कटुक, खट्टा, मीठा एव अम्ल रसवाला है, न गरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एव उष्ण स्पर्श वाला है, न स्त्री, पुरुष एव नपुसक वेद वाला है, अर्थात् शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श आदि विशेषणो से रहित है। इसलिए मोक्ष या मुक्तात्मा को अपद कहा गया है। पद अभिधेय को कहते है, अत. इसका यह अर्थ हुआ कि मोक्ष का कोई भी अभिधेय नही है। क्योंकि वहां वाच्य विशेष का अभाव है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमवर्णमचक्षु, श्रोत्र तदपाणिपादम्।
नित्य विभू सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा॥
—मुण्डकोपनिषद् 6, 1, 6

2 यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कदाचन॥ —तैतिरीय उपनिषद् 2, 4, 1

3 ते हावाचेतद्वैतदक्षर गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय-मतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनेऽतेजस्कनप्रणाणमुखम-मात्रमनन्तरमवाह्य न तदश्नाति किचन न तदश्नाति कश्चन।
—बृहदारण्यक उपनिषद् 3, 8, 8, 4, 5, 15

4 मज्झिमनिकाय (चूलमालुक्य सुत्त) 63
सयुत्तनिकाय, 44

मूलम्—से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे, इच्चेव, त्तिबेमि॥172॥

छाया—स न शब्दः, न रूपः, न गन्ध·, न रसः, न स्पर्शः इत्येव (इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदाः स्यु) इति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह मुक्तात्मा। **न सद्दे**—शब्द रूप नही है। **न रूवे**—रूप युक्त नहीं है। **न गंधे**—गध रूप नही है। **न रसे**—रस युक्त नहीं है। **न फासे**—स्पर्श वाला नही है। **इच्चेव**—वस्तु के इतने ही भेद हो सकते है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—वह मुक्तात्मा शब्द, रूप, गध, रस एव स्पर्श युक्त नही है और रूपी वस्तु के इतने ही भेद होते है। ऐसा मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे पूर्व सूत्र मे विस्तार से कही गई बात को सक्षेप मे कहा है और यह वताया है कि वस्तु के इतने ही भेद होते है। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता। अत· इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है, अत· उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नही किया जा सकता। सर्वज्ञ पुरुष भी उसका प्रत्यक्ष तो करते है, परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकते। क्योकि अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और इस बात को हम देख चुके है कि शब्द मे उसका विवेचन करने की शक्ति नही है। अत उसका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ पचम अध्ययन लोकसार समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन : धुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम धुत अध्ययन है। धुत शब्द का अर्थ है—मल का निवारण करना। यह दो प्रकार का है—द्रव्य धुत और भाव धुत। वस्त्र आदि के मैल को दूर करके उन्हे स्वच्छ-साफ बनाने को द्रव्य धुत कहा है और परीषह एव उपसर्गों को सहन कर अष्टकर्म मल को शुद्ध कर आन्तरिक मल को निवारण करने वाली आत्मा को भाव धुत—शुद्ध-बुद्ध कहा गहा है। प्रस्तुत अध्ययन मे आभ्यन्तर राग-द्वेष आदि विकार एव बाह्य भोगोपभोग के साधन आदि के त्याग का एव आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया का उपदेश दिया गया है। आत्मा को शुद्ध करने की प्रक्रिया को धुत शब्द से अभिव्यक्त किया जाता रहा है। बौद्ध ग्रन्थो मे भी इसके लिए धुत शब्द का प्रयोग मिलता है। उनमे भी धुत शब्द के उक्त निर्युक्ति सम्मत अर्थ पाए जाते है।

भाव धुत के सम्बन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्सइमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं (अवि) एगे महावीरा विपरिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने से बेमि, से जहावि (सेवि) कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मगं से नो लहइ भंजगा इव संनिवेसं नो चयति एवं (अवि) एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभति मोक्ख, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया।

गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं।
काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा॥14॥

उदरिं च पास मूयं च, सूणीयं च गिलासणिं।
वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं॥15॥
सोलस्स एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो।
अहणं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा॥16॥
मरणं तेसिं संपेहाए उववायं, चवणं च नच्चा, परियागं च संपेहाए॥173॥

छाया—अवबुध्यमानः इह मानवेषु आख्याति स नरो यस्य इमाः जातयः सर्वतः सुप्रत्युपेक्षिताः भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशं, स कीर्त्तयति तेषां सम्यगुत्थितानां निक्षिप्त दण्डानां समाहितानां-प्रज्ञानवताम् इह मुक्ति-मार्ग एवं (अपि) एके महावीराः विपराक्रमंते पश्यत एकान् अवसीदतः अनात्मप्रज्ञान सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा च (सोपि) कूर्म्मो ह्रदे विनिविष्टचित्तः पलाशप्रच्छन्नः उन्मार्गमसौ न लभते, भञ्जगाः (वृक्षाः) इव सन्निवेशं न त्यजन्ति एवं (अपि) एके अनेक रूपेषु कुलेषु जाताः रूपेषु सक्ताः करुणं स्तनन्ति निदानतः ते न लभन्ते मोक्षम्, अथ पश्य! तेषु कुलेषु आत्मत्वाय जाताः गण्डी अथवा कुष्ठी राजाँसी अपस्मार. काणत्वं जाड्यता चैव कुणिः कुब्जी तथा उदरिं च पश्य मूकं च शूनत्व च गिलासणिं (भस्मकोव्याधिः) वेपन्ति (कम्पमानम्) पीढसर्पित्वं च श्लीषदत् मधुमेहिनम् षोडशाऽप्येते रोगा; आख्याताः अनुपूर्वश. अथ (णं) स्पृशन्ति आतकाः स्पर्शाश्च असमंजसाः! मरण तेषा सप्रेक्ष्य—उपपातं, च्यवनं च ज्ञात्वा परिपाकं च सम्प्रेक्ष्य।

पदार्थ—इह—इस मनुष्य लोक मे। **माणवेसु**—मनुष्यो में। **ओबुज्झमाणे**—स्वर्ग, अपवर्ग और ससार के कारणों को जानता हुआ। **से**—वह। **नरे**—मनुष्य। **आघाइ**—धर्म कहता है। **जस्स**—जिसके। **इमाओ**—ये—शस्त्र परिज्ञाध्ययन मे कथन की गई। **जाइओ**—एकेन्द्रियादि जातिया। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सुपडिलेहियाओ**—सुप्रतिलेखित। **भवति**—होती हैं, तथा वही अर्थात् केवली, श्रुतकेवली या अतिशय ज्ञान युक्त व्यक्ति। **आघाइ**—धर्म का कथन करता है। **से**—वह—तीर्थकर, केवली या श्रुतकेवली, जिसका। **नाणमणेलिसं**—ज्ञान अन्य स्थानों मे नही है, अर्थात् अनीदृश ज्ञान है। **से**—वह। **किट्टइ**—कहता है। किनको कहता है? **तेसिं**—उनको

जो। **समुट्ठियाणं**—धर्म ग्रहण करने के लिए उत्थित है। **निक्खित्त दंडाणं**—मन-वचन और काय दड को जिन्होने छोड दिया है। **समाहियाणं**—जो तप-सयमादि में समाहित—उद्यत है। **पन्नाणमंताणं**—जो प्रज्ञान वाले है। **इह**—इस मनुष्य लोक में। **मुत्तिमग्गं**—मुक्तिमार्ग का प्रकाश करते है। **एवं**—इस प्रकार। **एगे**—तीर्थकरादि धर्म कहते है, फिर। **महावीरा**—वीर पुरुष तीर्थकर भाषित धर्म मे। **विप्परिक्कमंति**—पराक्रम करते है, तथा। **एगे**—कई एक। **अवसीयमाणे**—अवसीदित हुए—मोह कर्म के प्राबल्य से जो सयम से गिरते हैं, उनको। **पासह**—हे शिष्य! तू देख। **अणत्तपन्ने**—अनात्मप्रज्ञ—जिनकी आत्मा के लिए हित बुद्धि नही है। **से बेमि**—हे शिष्य! वह जो धर्म से गिरता है, उसके विषय मे फिर मै कहता हूँ। **से**—अब। **जहावि**—जैसे कि—यहा अपि शब्द च शब्द के अर्थ में आया है। **कुम्मे**—कछुआ। **हरए**—ह्रद में—सरोवर मे। **विणिविट्ठचित्ते**—अत्यन्त एकाग्र चित्त होकर ठहरता है, तथा जो सरोवर। **पच्छन्नपलासे**—वृक्षो के पत्र गिरने से आच्छादित्त हो रहा है। **उम्मग्गं**—निकलने का मार्ग। **से**—वह—कछुआ। **नो लहइ**—प्राप्त नही कर सकता, इसी प्रकार ससारी जीव ससार सरोवर मे पडा हुआ उससे बाहर निकलने का मार्ग प्राप्त नही कर सकता, जो ससारी जीव। **भंजगा इव**—वृक्षो की तरह। **संनिवेसं**—स्व स्थान को। **नो चयंति**—नही छोडते (वे ही दु खादि को सहते रहते है)। **एवं**—इसी प्रकार। **अवि**—सभावना अर्थ मे है। **एगे**—कई एक भारी कर्मी जीव। **अणेगरूवेहिं**—नाना प्रकार के ऊच-नीच। **कुलेहि**—कुलो मे। **जाया**—उत्पन्न होते है। **रूवेहिं सत्ता**—रूपादि विषयो मे आसक्त हुए। **कलुणं**—करुणा युक्त—दीन वचन। **थणंति**—बोलते है। **नियाणओ**—दु:ख के कारण कर्मो के बिना भोगे। **ते**—वे—विलाप करते हुए। **मोक्खं**—मोक्ष को। **न लभंति**—प्राप्त नही होते, अर्थात् बिना भोगे दुःखो से छुटकारा नही पाते। अथवा दु:ख से छुटकारा कराने वाले सयम को धारण नहीं करते। **अह**—अथ शब्द वाक्योपन्यास में है। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **तेहिं कुलेहिं**—उन कुलो में। **आयत्ताए**—स्वकर्म भोगने के लिए। **जाया**—उत्पन्न हुए हैं। अशुभ कर्म के उदय से जीव, जिस-जिस दु:खमयी अवस्था को प्राप्त होते है, अब उसका वर्णन करते हैं। **गंडी**—गण्डमाला रोग। **अहवा**—अथवा। **कोढी**—कुष्ठ रोग। **रायंसी**—राजक्ष्मा—क्षयरोग। **अवमारियं**—अपस्मार-मिरगी रोग। **काणियं**—एक चक्षु वाला काणत्वरोग। **च**—पुन.। **एव**—अवधारण अर्थ में है। **झिमियं**—जाड्यता—

शरीर के अवयवो का शून्य हो जाना। **कुणियं**—एक पाद ह्रस्व और एक दीर्घ, अथवा एक हाथ छोटा और एक बड़ा। **तहा**—तथा। **खुज्जियं**—कुब्ज रोग। **च**—पुन: या समुच्चय अर्थ में जानना। **उदरिं**—उदर के रोग, जलोदरादि। **पास**—हे शिष्य तू देख! **मूयं**—मूकरोग गूगापन। **च**—समुच्चय अर्थ मे। **सूणीय**—शोथरोग—सूजन। **च**—समुच्चय अर्थ मे। **गिलासणिं**—भस्मरोग। **वेवइं**—कम्परोग। **च**—फिर। **पीढसप्पि**—काष्ठ की पाटियो को कक्ष—काख मे रखकर उनके सहारे चलने वाला रोगी। **सिलिवयं**—श्लीपद रोग। **महुमेहिण**—मधुमेह-प्रमेह रोग। **एए**—ये। **अणुपुव्वसो**—अनुक्रम से। **सोलस**—सोलह रोग। **अक्खाया**—कथन किए है। **ण**—वाक्यालकार अर्थ मे है। **अह**—अथ तदनन्तर। **आयका**—शूलादि आतक—भयकर रोग। **फुसति**—स्पर्श करते है। **य**—और इनके। **फासा**—स्पर्श। **असमजसा**—असमजस है। **तेसिं**—उन भारी कर्मा जीवो की, रोगो के स्पर्श से। **मरण**—मृत्यु को। **संपेहाए**—विचार कर। **च**—और। **उववाय**—देवो के उपपात और। **चवणं**—च्यवन को। **नच्चा**—जानकर। **च**—और। **परियागं**—कर्मो के परिपाक को। **संपेहाए**—पर्यालोचन करके।

मूलार्थ—इस मनुष्य-लोक मे सद्बोध को प्राप्त हुआ पुरुष ही अन्य मनुष्यो के प्रति धर्म का कथन करता है अथवा वह श्रुतकेवली जिसके शस्त्र परिज्ञा अध्ययन मे कथन की गई सर्व प्रकार से एकेन्द्रियादि जातियॉ सुप्रतिलेखित है या तीर्थकर, केवली तथा अतिशय ज्ञानी पुरुष धर्म का उपदेश करते है।

प्रश्न—वे किस व्यक्ति को धर्म कहते हैं?

उत्तर—जो धर्म सुनने के लिए उपस्थित है, जिसने मन-वचन और काय के दण्ड का त्याग दिया है, समाधि को प्राप्त है, बुद्धिमान है, वह उसे मुक्ति मार्ग का उपदेश करता है। इसी प्रकार कई एक वीर पुरुष धर्म को सुनकर सयम मार्ग मे पराक्रम करते है। हे शिष्य! तू देख! आत्मा का हित न चाहने वाले कई पुरुष धर्म से गिरते है। हे शिष्यो! मै कहता हूं, जैसे वृक्ष के पत्तो से आच्छादित ह्रद—सरोवर मे निमग्न हुआ कछुआ वहा से निकलने का मार्ग प्राप्त नही कर सकता, उसी प्रकार गृहवास में आसक्त जीव वहा से निकलने मे समर्थ नही हो सकता, मोहावरण के कारण वे जीव धर्मपथ को नही देख सकते। जैसे वृक्ष शीतोष्णादि कष्टो को सहन करता हुआ भी अपने स्थान को नही छोड़ता, उसी प्रकार भारी कर्म

वाले जीव भी अनेक ऊंच-नीच कुलो में जन्म धारण कर नाना प्रकार के रूपादि विषयों मे आसक्त हुए नाना विध कर्मो के कारण नाना प्रकार की दु.ख वेदनाओ को भोगते हुए अनेक प्रकार के दीन वचन कहते है। परन्तु, वे कर्म फल को भोगे बिना कर्म बधन से मुक्त नहीं हो सकते और ससार से छूटने के उपाय का भी अन्वेषण नही करते। सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे शिष्यो! तुम देखो कि वे ऊंच-नीच कुलो में उत्पन्न होने वाले जीव निम्नलिखित रोगों द्वारा असह्य वेदना को प्राप्त होते है। यथा—1—गडमाला, 2—कुष्ठ, 3—राजयक्ष्मा, 4—अपस्मार—मिरगी, 5 —काणत्व, 6—जड़ता—शून्यता, 7—कुणित्व—लुजपन, 8—कुब्जता—कुबडापन, 9—मूकता—गूगापन, 10—उदर रोग—जलोदरादि, 11—शोथ—सूजन, 12—भस्मरोग, 13—कम्पवात, 14—गर्भ दोष से उत्पन्न हुआ रोग, जिससे प्राणी बिना लाठी के चलने मे असमर्थ होता है, 15—श्लीपद, 16—मधुमेह। सोलह प्रकार के इन रोगो का अनुक्रम से कथन किया है। जब शूलादि का स्पर्श होता है, तब बुद्धि असमजस, अर्थात् अस्त-व्यस्त हो जाती है। अत देवो के उपपात और च्यवन को तथा उक्त प्रकार के रोगो द्वारा होने वाली मनुष्यो की मृत्यु को देख कर एव कर्मो के विपाक को लक्ष्य मे रख कर साधक को सयम-साधना द्वारा जन्म-मरण से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञान आत्मा का गुण है। प्रत्येक आत्मा मे अनन्त ज्ञान की सत्ता स्थित है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म के कारण बहुत-सी आत्माओ का ज्ञान प्रच्छन्न रहता है। ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षय या क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान आत्मा मे प्रकट होता रहता है। जब आत्मा पूर्ण रूप से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर डालती है, तब उसे पूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञान प्राप्त होता है। फिर उससे संसार का कोई भी पदार्थ प्रच्छन्न नही रहता। वह महापुरुष अपने ज्ञान से ससार परिभ्रमण के कारण एव उससे मुक्त होने के साधन को जान लेता है। अत ऐसा महापुरुष ही धर्म का यथार्थ उपदेश दे सकता है। इसी कारण जैन धर्म मे तीर्थकर एव सर्वज्ञ भगवान को उपदेष्टा माना गया है। छद्मस्थ साधको का उपदेश तीर्थकर भगवान द्वारा प्ररूपित प्रवचन या आगम के आधार पर होता है, स्वतन्त्र रूप से नही। क्योंकि सर्वज्ञ सभी पदार्थो के

यथार्थ स्वरूप को देखते है, इसलिए उनके उपदेश मे कही भी विपरीतता नहीं आ पाती। उनमें राग-द्वेष का अभाव होने से उनका उपदेश प्राणिजगत के लिए हितप्रद एव कल्याणकारी होता है।

सर्वज्ञ पुरुष राग-द्वेष के विजेता होते है। अत· उनके उपदेश में भेद-भाव नहीं होता। त्यागी—भिक्षु वर्ग एवं भोगी—गृहस्थ वर्ग हो, धनी या निर्धन हो, छूत या अछूत हो, स्त्री या पुरुष हो, कोई भी व्यक्ति क्यो न हो, सबको उपदेश सुनने का अधिकार है। जैन धर्म मे जाति, लिग, देश, रग आदि को महत्त्व नही दिया गया है, महत्त्व दिया गया है गुणो को, आचरण को। प्रत्येक वर्ग, जाति एव देश का व्यक्ति अपने आचरण को शुद्ध बनाकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। अत· धर्मनिष्ठा एव जिज्ञासा की भावना लेकर सुनने वाला व्यक्ति—भले ही वह किसी भी जाति, रंग एव देश का क्यो न हो, अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। इस प्रकार श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति वीतराग प्रभु का प्रवचन सुनकर अपने जीवन को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त करके तप, सयम एवं ज्ञान साधना मे लगा देते हैं। अत वे महापुरुष दड से सर्वथा निवृत्त होकर श्रुतसम्पन्न बनकर त्यागपथ पर गतिशील होते है।

परन्तु, सभी श्रोताओ का जीवन एक समान नही होता है। कुछ श्रद्धानिष्ठ प्राणी भगवान का प्रवचन सुनकर तप-संयम के द्वारा कर्म-बन्धन तोडने का प्रयत्न करते है और प्रतिक्षण निष्कर्म बनने की साधना मे सलग्न रहते है। किन्तु, कुछ व्यक्ति मोह कर्म से इतने आवृत होते है कि त्याग-वैराग्य के पथ पर भली-भाति चल नही सकते। वे कायर पुरुष विपय-भोग एव पदार्थो की आसक्ति को त्याग नही सकते। जैसे शैवाल से आच्छादित सरोवर मे स्थित कछुआ उक्त सरोवर से बाहर निकलने का मार्ग जल्दी नही पा सकता। उसी प्रकार मोह कर्म से आवृत व्यक्ति ससार-सागर से ऊपर नही उठ सकता, तप-त्याग की ओर पग नही वढ़ा सकता। तप-सयम की साधना के लिए मोह कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना आवश्यक है।

इस प्रकार विषय-वासना मे आसक्त व्यक्ति कर्मबन्धन एवं कर्मजन्य दु·खों से छुटकारा नही पा सकते, क्योकि विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहने के कारण वे पाप कर्म का बन्ध करते है और परिणामस्वरूप दु ख के प्रवाह में प्रवहमान रहते हैं। वे जन्म-मरण के दुःख एव व्याधियो से सतप्त रहते है। यो तो

रोग—व्याधियों की कोई परिमित सख्या नहीं है। फिर भी प्रमुख रोग 16 प्रकार के माने गए हैं। उनका नाम-निर्देश करते हुए सूत्रकार ने लिखा है—

1—गंडमाला—यह रोग वात, पित्त, कफ और इन तीनों का सन्निपात, इस प्रकार यह चार प्रकार का होता है। लोक भाषा मे इसे कठमाला कहते है। इसमे सन्निपात असाध्य रोग माना गया है।

2—कुष्ठरोग—यह रोग अठारह प्रकार का होता है। इसमे सात प्रकार के महा-कुष्ठ—असाध्य और ग्यारह प्रकार के क्षुद्र—सामान्य कुष्ठ होते है। 1—अरुण, 2—उदुम्बर, 3—निश्यजिह्, 4—कपाल, 5—काकनाद, 6—पौडरीक और 7—दद्रु ये महाकुष्ठ है। 1—स्थूलासत्व, 2—महाकुष्ठ, 3—एक कुष्ठ, 4—चर्मदल, 5—परिसर्प, 6—विसर्प, 7—सिध्म, 8—विचर्चिका, 9—पिष्टिम, 10—पामा, 11—शतारुक ये क्षुद्र कुष्ठ कहलाते है।

3—राजयक्ष्मा—इसे क्षय रोग या टी बी. भी कहते है। यह रोग पेशाब-टट्टी आदि के रोकने से, धातु क्षय से, अत्यन्त साहस एव शक्ति का काम करने से तथा विषम भोजन से होता है।

4—अपस्मार—इस रोग मे स्मृति के ऊपर आवरण-सा आ जाता है। इस रोग मे रोगी को मूर्छा आ जाती है। इसे लोक भाषा मे मिरगी एवं अंगरेजी मे हिस्टेरिया की बीमारी भी कहते है।

5—काणत्व—एक आख की रोशनी का चला जाना। यह रोग गर्भ मे भी हो जाता है और जन्म के बाद भी हो जाता है।

6—जाड्यता—इस रोग मे शरीर सचालन क्रिया से शून्य हो जाता है।

7—कुणि—इस रोग में एक पैर या एक हाथ बडा और दूसरा पैर या हाथ छोटा हो जाता है।

8—कुब्जरोग—इसमे पीठ पर कूबड उभर आता है।

9—उदररोग—यह रोग वात-पित्त आदि के प्रकोप से होता है। यह आठ प्रकार का होता है—1—जलोदर, 2—वातोदर, 3—पित्तोदर, 4—कफोदर, 5—कठोदर, 6—प्लीहोदर 7—उदर और 8—बद्ध गुदोदर।

10—मूकरोग—इस रोग के कारण मनुष्य गूगा हो जाता है। वह बोल नही सकता। यह 65 प्रकार का है और 7 स्थानो मे होता है। वे स्थान ये है—1—आठ ओष्ठ के, 2—पन्द्रह दन्त मूल के, 3—आठ दातो के, 4—पाच जिह्वा के, 5—नौ ताल के, 6—सत्रह कण्ठ के और 7—तीन सब स्थानो के, इस प्रकार कुल मिलाकर 65 प्रकार के होते है।

11—शून्यत्व—इसमे अगोपाग शून्य हो जाते है। यह रोग वात, पित्त, श्लेष्म, सन्निपात, रक्त और अतिघात से उत्पन्न होता है।

12—भस्मक—यह रोग वात-पित्त की अधिकता एव कफ की कमी से होता है। इसमे भूख अधिक लगती है, भोजन करते रहने पर भी तृप्ति नही होती।

13—कंपरोग—इससे शरीर कांपता रहता है। यह रोग वायु के प्रकोप से होता है।

14—पीठसर्पी—इस रोग म रोगी लाठी के आश्रय मे ही चल सकता है।

15—श्लीपद—इस रोग मे पैर बहुत बडा एव भारी हो जाता है।

16—मधुमेह—इसमे मूत्र मे मधु जाता है। इससे अंगरेजी मे डायबिटीज या शुगर (चीनी) की बीमारी कहते है।

इस प्रकार विषय-भोगो मे आसक्त व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टो का सवेदन करता हुआ ससार मे परिभ्रमण करता है। अत मुमुक्षु पुरुष को सम्यग्ज्ञान से भोगासक्ति के परिणामस्वरूप प्राप्त कष्टो एव उनसे छुटकारा पाने के स्वरूप को जानकर सयम का पालन करना चाहिए, क्योकि ज्ञान से ही साधक सयम के पथ को जान सकता है और फिर उसका आचरण करके निरावरण ज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त बन सकता है। अत· साधक को सदा साधना में संलग्न रहना चाहिए। इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया, तमेव सइं असइं अइअच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं पवेइयं-संति पाणा वासगा, रसगा, उदए-उदएचरा आगास गामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं॥174॥

छाया—तच्छृणुत यथा तथा सन्ति प्राणाः-प्राणिनः अन्धाः तमसि व्याख्याताः तामेव सकृद्, असकृद्, अतिगत्य उच्चावचान् स्पर्शान् अतिसंवेदयति बुद्धैः एतत् प्रवेदितम् सन्ति प्राणाः-प्राणिनः वासकाः रसगाः, उदके-उदकचराः, आकाशगामिनः प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति पश्य! लोके महद् भयम्।

पदार्थ—तं—उस कर्म विपाक को। **जहा-तहा**—जैसे-तैसे—यथार्थ रूप से उसी प्रकार, मुझसे। **सुणेह**—हे शिष्यो! तुम श्रवण करो। **पाणा**—प्राणी, ससार मे। **संति**—हे जो। **अंधा**—द्रव्य चक्षु वा भावचक्षु—विवेक से रहित। **तमसि**—नरकादि प्रधान—अन्धकारमय स्थानो मे रहने वाले। **वियाहिया**—कथन किए हैं। **तमेव**—उन योनियो मे रोगादि स्थानो से उत्पन्न हुए दु.ख। **सइं**—एक बार। **असइं**—अनेक वार। **अइअच्च**—भोगकर फिर तिर्यग् आदि गतियो मे। **उच्चावयफासे**—शीतादि स्पर्शो को। **पडिसवेएइ**—प्रतिसवेदन करता है। **एयं**—यह विपय। **बुद्धेहिं**—तीर्थकरो ने। **पवेइय**—प्रतिपादन किया है, तथा। **पाणा**—द्वीन्द्रियादि प्राणी। **वासगा**—भाषालब्धि सम्पन्न। **सति**—है। **रसगा**—रस के जानने वाले संज्ञी जीव है, इन ससारी जीवो के कर्म विपाक का विचार कर आत्मविकास करना चाहिए, तथा। **उदए**—उदक रूप—एकेन्द्रिय अप्काय के जीव। **उदएचरा**—जल मे रहने वाले त्रस जीव, तथा। **आगास गामिणो**—आकाश मे गमन करने वाले पक्षी आदि जीव। **पाणा**—तथा प्राणी। **पाणे**—अन्य प्राणियों को। **किलेसंति**—पीडित करते है—अर्थात् निर्वल को बलवान मार देता है, अत हे शिष्य! **लोए**—लोक मे। **महब्भयं**—महाभय है, इसको तू। **पास**—देख! अर्थात् ससार में दुःखो का महाभय है, इसको तू देख!

मूलार्थ—हे शिष्यो! तुम कर्म विपाक के यथावस्थित स्वरूप को मुझ से सुनो! ससार मे द्रव्यचक्षु रहित या भावचक्षु रहित जीव कहे गए है। वे उन रोगादि अवस्थाओ म दु.खो का अनुभव कर रहे है। नरकादि गतियों मे एक बार या अनेक बार नाना प्रकार के दुःख रूप स्पर्शो का अनुभव करते है। यह अनन्तोरक्त विषय बुद्धो—तीर्थकरो ने प्रतिपादन किया है। द्वीन्द्रियादि जीव या रस के जानने वाले सज्ञी जीव तथा अप्काय—जलरूप जीव, जल मे रहने वाले त्रस जीव और आकाश मे उडने वाले पक्षी, ये ससार मे जितने जीव है, उनमे बलवान निर्बलो को पीडित दुःखित करते है।

हे शिष्यो! तुम ससार के दु:खो से उत्पन्न हुए महाभय को देखो अथवा हे शिष्य तू ससार के महाभय को देख।

हिन्दी-विवेचन

संसार मे अनन्त जीव हैं। इन्द्रिय आदि साधनो की समानता की अपेक्षा से उनके 5 भेद किए गए है जिन्हे जीवो की पाच जातियॉ कहते हैं—1—एकेन्द्रिय 2—द्वीन्द्रिय 3—त्रीन्द्रिय, 4—चतुरिन्द्रिय, और 5—पन्चेन्द्रिय। एकेन्द्रिय में स्पर्श इन्द्रियवाले पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एव वनस्पति के सभी जीव समाविष्ट हो जाते है। द्वीन्द्रिय में स्पर्श और जिह्वा इन दो इन्द्रिय वाले लट आदि जीवों को लिया गया है। इसी तरह त्रीन्द्रिय में स्पर्श, जिह्वा, घ्राण वाले चीटी, जू आदि जीवो को, चतुरिन्द्रिय मे स्पर्श, जिह्वा, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय वाले मच्छर-मक्खी-बिच्छू आदि जीवो को तथा पचेन्द्रिय मे स्पर्श, जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय वाले नारक, पशु-पक्षी, मनुष्य और देवयोनि के जीवो को गिना गया है। इस तरह ये समस्त ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करते है।

संसार मे कुछ प्राणी अंधे भी होते है। अंधत्व द्रव्य और भाव से दो प्रकार का होता है। द्रव्य अधत्व का अर्थ है—आखों मे देखने की शक्ति का न होना और भाव अधत्व का तात्पर्य है—पदार्थो के यथार्थ बोध का न होना। द्रव्य अधत्व आत्मा के लिए इतना अहितकर नही है, जितना भाव अधत्व है। भाव अधत्व, अर्थात् अज्ञान एव मोह के वश जीव विषय-वासना मे सलग्न रहता है और परिणामस्वरूप पापकर्म का बन्ध करके ससार मे परिभ्रमण करता है, अनेक तरह की वेदनाओ का सवेदन करता है।

अत मुमुक्षु पुरुष को ससार मे सभी प्राणियो एव उनके परिभ्रमण करने के कारणो का परिज्ञान होना चाहिए और साधक को उसका चिन्तन करके ससार मे भटकाने वाले दुष्कर्मो से अलग रहना चाहिए। इसी तरह ससार का चिन्तन उसे दुष्मार्ग मे हटाकर सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ाने का प्रेरणा देता है और इससे उसकी साधना मे तेजस्विता आती है। अत: साधक को वीतराग प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमो के द्वारा समार के स्वरूप का सम्यक् बोध प्राप्त करके मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे वह निर्भय बनकर निष्कर्म स्थिति को पा सके।

मोह कर्म के उदय से भय होता है। उसका क्षय या क्षयोपशम होने पर आत्मा मे निर्भयता आती है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं।

मूलम्—बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छंति सरीरेणं पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ, एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं, एयं पास मुणी! महब्भयं नाइवाइज्जा कंचणं॥175॥

छाया—बहु दु.खा हुः (खलु) जन्तवः सक्ताः कामेषु मानवाः अबलेन वध गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण आर्तः स बहुदुःख इति बाल प्रकरोति एतान् रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुराः परितापयेयुः नालं पश्य! अलं तव एभिः एतत् पश्य मुने! महद् भयं नातिपातयेत् कञ्चन।

पदार्थ—**हु**—जिससे—हिसादि कर्मो से। **जंतवो**—जीव। **बहुदुक्खा**—बहुत दु खी हे। **माणवा**—मानव। **कामेसु**—काम-भोगो मे। **सत्ता**—आसक्त हैं, मूर्छित है। **अबलेण**—बल से रहित। **सरीरेणं**—औदारिक शरीर के द्वारा। **पभंगुरेण**—जो स्वत विनाशशील है। **वहं**—वध—विनाश को। **गच्छन्ति**—प्राप्त होते हैं। **से**—वह। **अट्टे**—राग और द्वेष से व्याकुल चित्त वाला जीव। **बहुदुक्खे**—बहुत दु ख पाता है तथा। **एए**—ये सब। **रोगा**—रोग। **बहू**—बहुत उत्पन्न हुए। **नच्चा**—जानकर-चिकित्सा के लिए जीवो को मारकर चिकित्सा करनी चाहिए। **इह**—इस प्रकार। **बाले**—बाल। **पकुव्वइ**—क्रिया करता है और। **आउरा**—आतुर होकर। **परियावए**—प्राणियो को परिताप देता है। **पास**—हे शिष्य तू देख? **नालं**—कर्म रोग चिकित्सा के द्वारा उपशान्त नही हो सकता। **तवेएहिं**—तुझे पापकारी चिकित्सा विधि से। **अलं**—दूर रहना चाहिए, अर्थात् तुमको यह पापकारी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। **मुणी**—हे मुने! **एयं**—यह प्राणिबध। **पास**—देख। **महब्भय**—महान् भय रूप है, अत। **कंचणं**—किसी प्राणी का। **नाइवाइज्जा**—अतिपात मत कर।

मूलार्थ—हिसादि कर्मो से जीव बहुत दु खी हो रहे हैं। ससारी मनुष्य काम-भोगो में आसक्त हैं। क्षण भगुर निर्बल शरीर के द्वारा जीव विनाश को प्राप्त होते है, वे रोगादि से पीडित जीव बहुत दु खित है। बाल—अज्ञानी जीव इस प्रकार बोलते है

कि राजयक्ष्मादि रोगों की निवृत्ति के लिए सावद्य चिकित्सा—जीव हिसामय औषधोपचार करो, और मास आदि का भक्षण करो। आतुर प्राणी उत्पन्न हुए गण्ड, कुष्ठ, राजयक्ष्मादि रोगो को जानकर उनकी निवृत्ति के लिए अन्य प्राणियों को परिताप देता है। परन्तु, हे शिष्य! तू यह देख, सम्यग् विचार कर कि हिंसा-प्रधान चिकित्सा से कर्मजन्य रोग उपशान्त नहीं होता। अत हे शिष्य! तुझे जीव हिसामय औषध से कदापि उपचार नही करना चाहिए। यह सावद्य औषधोपचार महाभय का कारण है। इसलिए तुझे किसी भी जीव का अतिपात नही करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया है कि मोह कर्म से आवृत अज्ञानी जीव हिसा आदि दुष्कर्मो से अनेक प्रकार के दु.खों एवं रोगो का सवेदन करते हैं। फिर भी वे विषय-कषाय से निवृत्त नही होते। वे उन दु खो से छुटकारा पाने के लिए भी आरम्भ-समारम्भ एव विषय-कषाय का आश्रय लेते है। इस प्रकार वे दु'ख परम्परा को और बढाते हैं तथा महादु ख एव महाभय के गर्त मे जा गिरते है। विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति सदा भयभीत बना रहता है, क्योंकि वह दूसरे प्राणियो को त्रास देता है, डराता है। इसलिए स्वय भी दूसरो से डरता रहता है। सिह जैसा शक्तिशाली जानवर भी—जो हाथी जैसे विशालकाय प्राणी को मार डालता है, सदा भयभीत रहता है। वह जब भी चलता है तब प्रत्येक कदम पर पीछे मुडकर देखता है। इसका कारण यह है कि वह दूसरे प्राणियो के मन मे भय उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वय भयग्रस्त रहता है। उसकी इसी दुर्बलता के कारण साहित्यिक क्षेत्र मे पीछे मुड़कर देखने के अर्थ मे सिंहावलोकन शब्द का निर्माण किया गया है। अस्तु, सिहावलोकन भय का प्रतीक है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरो को सत्रस्त करने वाला व्यक्ति स्वय त्रास एव भय से पीडित रहता है। यह अनेक पाप कर्मो का बन्ध करके अनेक दु'खो एव रोगो का संवेदन करता है।

अत साधक को विषय-कषाय एव आरम्भ-समारम्भ के दुष्परिणामो को जानकर उससे दूर रहना चाहिए। उसे किसी भी परिस्थिति में आरम्भ का सेवन नहीं करना चाहिए। रोग आदि के उत्पन्न होने पर भी आरम्भजन्य दोषों मे प्रवृत्त न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए और कर्मो की निर्जरा के लिए सदा संयम मे सलग्न रहना चाहिए।

ऐसे सयम-निष्ठ साधको के गुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आयाण भो सुस्सूस! भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिनिव्वुडा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण महामुणी॥176॥

छाया—आजानीहि भोः शुश्रूषस्व भोः धूतवाद प्रवेदयिष्यामि इह खलु आत्मतया (आत्मता-तया) तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसंभूताः अभिसंजाता अभिनिर्वृत्ताः अभिसंबृद्धा अभिनिष्क्रान्ताः अनुपूर्वेण महामुनिः।

पदार्थ—भो—हे शिष्य। **आयाण**—तू अवधारण कर। **सुस्सूस**—सुनने की इच्छा कर। **धूयवायं**—धूतवाद को—कर्म धुनने के वाद को। **पवेयइस्सामि**—प्रवेदन करूगा। **इह**—इस संसार मे। **खलु**—वाक्यालकार मे है। **अत्तत्ताए**—अपनी कर्म परिणति के द्वारा। **तेहिंतेहिं**—उन-उन। **कुलेहि**—कुलो मे। **अभिसेएण**—शुक्र शोणित के अभिषेक—अभिसिचन से। **अमिसंभूया**—गर्भ में कलल रूप हुआ। **अभिसंजाया**—फिर मांस एव पेशी रूप बना, और। **अभिनिव्वुडा**—सागोपाग—स्नायु, सिर रोमादि क्रम से अभिनिवृत्त हुआ, फिर। **अभिसंबुडा**—अभिवृद्ध हुआ फिर। **अभिसंबुद्धा**—जागृत हुआ। **अभिनिक्कंता**—त्याग मार्ग मे प्रवर्जित हुआ; वह। **अणुपुव्वेण**—अनुक्रम से। **महामुणी**—महामुनि हो जाता है।

मूलार्थ—हे शिष्यो। ध्यानपूर्वक सुनो और समझो, मैं तुम्हें कर्म क्षय करने का उपाय वतलाता हूं। इस संसार मे कतिपय जीव अपने किए हुए कर्मो का फल भोगने के लिए भिन्न-भिन्न कुलो के माता-पिता के रज-वीर्य से गर्भ रूप में उत्पन्न हुए, जन्म धारण किया, क्रमश परिपक्व वय के बने, प्रतिबोध पाकर त्यागमार्ग अगीकार करके अनुक्रम से महामुनि बने।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे वताया गया है कि मनुष्य ही सब कर्मो का क्षय करके मुक्ति को पा सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त किसी भी गति या योनि मे स्थित जीव निष्कर्म नही वन सकता। मनुष्य योनि में भी सभी मनुष्य निष्कर्म नही बनते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे

निष्कर्म बनने वाले मनुष्यों के जीवनविकास का चित्रण किया गया है, गर्भ में उत्पन्न होने के समय से लेकर कर्म क्षय करने के स्वरूप का सक्षेप से वर्णन किया गया है।

सभी ससारी जीव अपने कृत कर्म के अनुसार जन्म ग्रहण करते है। जिन्होने मनुष्य गति का आयुष्य बाध रखता है, वे मनुष्य योनि मे उत्पन्न होते है। माता-पिता के रज और वीर्य का सयोग होने पर जीव उसमें उत्पन्न होता है। उस रज-वीर्य का सात दिन मे कलल बनता है, दूसरे सात दिन मे अबुर्द बनता है। उसके बाद पेशी बनती है, फिर वह सघन होता है, उसके बाद उसके अंगोपांग बनते है और फिर गर्भ का समय पूरा होने पर वह जन्म ग्रहण करता है और धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होता है। समझदार होने के बाद मोहकर्म के क्षयोपशम से वह स्वयं बोध को प्राप्त होकर या धर्म शास्त्र एव सन्त पुरुषो के संसर्ग से सद्ज्ञान को पाकर मुनि बन जाता है और तप-सयम मे सलग्न होकर कर्मो का क्षय करने लगता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जो मनुष्य योनि को प्राप्त करके सयम में सलग्न होता है, ज्ञान-दर्शन और चारित्र की साधना करता है, वही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है।

इस प्रकार ससार के स्वरूप को समझकर जब मनुष्य साधना के पथ पर चलने को तेयार होता है, उस समय उसके परिजन एव स्नेही उसे क्या कहते है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–त परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति-छदोवणीया अज्झोववन्ना अक्कंदकारी जणगा रुयति, अतारिसे मुणी (णय) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं नु नाम से तत्थ रमइ? एयं नाणं सया समणुवासिज्जासित्तिबेमि॥177॥

छाया–त पराक्रममाणं परिदेवमानाः मा परित्यज। इति ते वदन्ति, छन्दोपनीता. अभ्युपपन्नाः (अध्युपपन्ना वा) आक्रन्दकारिणः जनकाः रुदन्ति–अतादृशोमुनि नच ओघंतरति जनका येन अपोढाः शरणं तत्र न समेति कथ नु नामासौः (सः) तत्ररमते एतद् ज्ञानं सदा सम्यगनुवासयेः 'व्यवस्थापयेः' इति ब्रवीमि।

पदार्थ–त–उस–तत्त्व के जानने वाले। **परिक्कमतं**–सयम मार्ग में पराक्रम

करने वाले के प्रति। **परिदेवमाणा**—रुदन करते हुए माता-पिता आदि। **इय**—इस प्रकार। **ते**—वे। **वयंति**—कहते है, क्या कहते हैं? **छंदोवणीया**—हे पुत्र! हम सब तेरी इच्छा के अनुसार बर्ताव करने वाले है। **अज्झोववन्ना**—तेरे पर ही हमारा विश्वास है—तेरे मे हम आसक्त हैं। **अक्कंदकारी**—इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए। **जणगा**—जनक—माता-पिता आदि बन्धु जन। **रुयन्ति**—रुदन करते है, फिर इस प्रकार बोलते है। **अतारिसेमुणी**—इस प्रकार से मुनि नही हो सकता। **ओहंतरे**—और न वह संसार समुद्र को तैर सकता—पार कर सकता है। **जेण**—जिसने। **जणगा**—माता-पिता आदि को। **विप्पजढा**—छोड़ दिया है, इस प्रकार के वचनो को सुनकर तत्त्वज्ञ मुनि क्या विचारता है, वह सूत्रकार कहते है। **तत्थ**—उस कष्ट के समय वे—सगे सम्बन्धी वर्ग। **सरणं**—शरण भूत। **नो समेइ**—नही होता। **तु**—वितर्क मे जानना। **नाम**—संभावना अर्थ मे है। **कह**—किस प्रकार से मुमुक्षु जन। **तत्थ**—उस गृहस्थावास मे। **रमइ**—रमण कर सकता है, अर्थात् नही कर सकता। **एयं**—यह पूर्वोक्त। **नाणं**—ज्ञान। **सया**—सदा आत्मा मे। **समणु-वासिज्जासि**—स्थापन करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—सयम के लिए उद्यत हुए तत्त्वज्ञ व्यक्ति के प्रति उसके माता-पिता आदि सम्बन्धी जन इस प्रकार कहते है—हे पुत्र! तू हमको मत छोड, हम तेरे अभिप्राय के अनुसार चलने वाले है और तेरे मे आसक्त है। वे आक्रन्दन और रुदन करते हुए कहते है कि तू इस प्रकार से मुनि नहीं हो सकता और नाही वह ससार समुद्र को पार कर सकता है, जिसने रोते हुए माता-पिता आदि सम्बन्धी जनो का परित्याग कर दिया है। तब सयम के लिए उद्यत हुआ साधक (व्यक्ति) विचार करता है कि यह स्वजन वर्ग कष्ट के समय शरण भूत नहीं हो सकता। वह तत्त्वज्ञ पुरुष किस प्रकार गृहस्थावास मे रह सकता है, अर्थात् कदापि नही रह सकता। यह पूर्वोक्त ज्ञान सदा अपनी आत्मा मे स्थापन करे, इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि जीवन मे अनेको उतार-चढाव आते है। कभी मनुष्य को परिजनों का स्नेह मिलता है, तो कभी उनकी ओर से तिरस्कार भी सहना पडता है। परन्तु, प्रायः यह देखा गया है कि जीवन विकास के पथ पर बढने वाले व्यक्ति को उस मार्ग से हटाने के लिए वे सदा तैयार रहते है। भले ही, घर में रहते समय

उससे सदा लड़ते-झगड़ते रहे हो, उसे सदा कोसते रहे हो, परन्तु जब वह बोध को प्राप्त होकर साधना के पथ पर चलने का उपक्रम करता है, तब उनका समस्त प्यार-दुलार उमड़ पडता है और वे उसे अनेक तरह से संसार में रोकने का प्रयत्न करते है।

उस समय प्रिय और अप्रिय सभी परिजन उसे समझाते है कि तू हमारे जीवन का आधार है। हमने सदा तुम्हारे जीवन का एव दु.ख-सुख का ध्यान रखा है। तुम्हें योग्य बनाने के लिए सब तरह का प्रयत्न किया है। परन्तु जब हमारी सेवा करने का अवसर उपस्थित हुआ, तब तुम हमे छोड़कर जा रहे हो। क्या यही तुम्हारा धर्म है? कर्त्तव्य है? जरा गभीरता से सोचो-समझो।

इस तरह के आक्रन्दन भरे शब्द दुर्बल मन वाले साधक को विचलित कर देते हैं। उनके अनुराग के सामने उसका वैराग्य शरद् ऋतु के बादलों की तरह उड़ जाता है। इसलिए महापुरुषो ने ऐसे समय मे दृढ़ रहने का उपदेश दिया है। जो व्यक्ति मोह के प्रबल झोको से भी विचलित नही होता, वही सयम मे सलग्न रह सकता है। इसका यह अर्थ नही है कि साधक माता-पिता आदि परिजनो को तिरस्कार करके घर से भाग जाए, बुद्ध की तरह बिना आज्ञा प्राप्त किए छिपकर घर से भाग निकले या उन्हे परेशान करके, दु.ख एव कष्ट देकर आज्ञा प्राप्त करे। इसका तात्पर्य इतना ही है कि वह अपने सद्विचारों पर स्थित रहता हुआ, प्रेम एव स्नेह से परिजनों को समझाकर, उनकी शंकाओ का निराकरण करके आज्ञा प्राप्त करे। यह ठीक है कि यदि वैराग्य की कसौटी के लिए उसे किसी तरह का कष्ट दिया जाए तो वह उसे समभाव पूर्वक सहकर उसमे उत्तीर्ण होने का प्रयत्न करे, परन्तु अपनी तरफ से उन्हे कष्ट देने का प्रयत्न न करे।

इस तरह त्याग-वैराग्य एव ज्ञान के द्वारा परिजनो के मोह आवरण को दूर करके अपने पथ को प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करे। ऐसे विवेकनिष्ठ साधक ज्ञान एवं त्याग-वैराग्य के द्वारा सदा अभ्युदय की ओर बढ़ते रहते है और एक दिन समस्त कर्म बन्धनो से उन्मुक्त हो कर अपने ध्येय को, लक्ष्य को पूरा कर लेते हैं।

"त्तिबेमि" की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन : धुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे मोह पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि मोह पर विजय से कर्मो की निर्जरा होती है। अत प्रस्तुत उद्देशक मे कर्म-निर्जरा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाई कुसीला॥178॥

छाया—आतुरं लोकमादाय त्वक्त्वा पूर्वसंयोगं हित्वा उपशमं उषित्वा ब्रह्मचर्ये वसुः वा अनुवसुः वा ज्ञात्वा धर्म यथा-तथा अथैके तं पालायितुं न शक्नवन्ति कुशीलाः।

पदार्थ—लोग—माता-पिता आदि। **आउरं**—स्नेह राग तथा काम राग से आतुर लोगो को। **आयाए**—ज्ञान से जानकर, और। **पुव्वसंजोगं**—फिर माता-पिता आदि के पूर्व सयोग को। **चइत्ता**—छोडकर। **उवसम**—उपशम को। **हिच्चा**—ग्रहण कर के तथा। **बभचेरंसि**—ब्रह्मचर्य मे। **वसित्ता**—बस कर। वसु—वीतराग या साधु। **वा**—अथवा। **अणुवसु**—साधु या श्रावक। **धम्मं**—धर्म को। **अहातहा**—यथार्थ रूप से। **जाणित्तु**—जानकर भी मोहोदय से। **अहेगे**—कई एक। **कुसीला**—कुत्सित शील वाले व्यक्ति। **तं**—उस धर्म का। **आचाइ**—पालन नही कर सकते।

मूलार्थ—स्नेह-राग मे आसक्त माता-पिता आदि के स्वरूप को जान कर, पूर्वसयोग माता-पिता के सम्वध को छोडकर, उपशम को प्राप्त कर ब्रह्मचर्य मे बसकर, साधु अथवा श्रावक, यथार्थ रूप से धर्म को जानकर भी मोहोदय से कुछ कुशील बुरे आचार वाले व्यक्ति उस धर्म का पालन नही कर सकते।

हिन्दी-विवेचन

कुछ व्यक्ति श्रुत और चारित्र धर्म का यथार्थ स्वरूप समझकर साधना के पथ पर चलने का प्रयत्न करते हैं। उस समय मोह एव राग में आसक्त एवं आतुर व्यक्ति उन्हे उस मार्ग से रोकने का प्रयत्न करते है। परन्तु, प्रबल वैराग्य के कारण वे पारिवारिक बन्धन से मुक्त होकर सयम-साधना मे प्रविष्ट होते है। ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने वाले मुनि या श्रावक के व्रतो के परिपालक श्रमणोपासक धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसका परिपालन करते है। परन्तु, कुछ व्यक्ति धर्म के स्वरूप को जानते हुए भी मोहोदय के कारण साधना-पथ से भ्रष्ट हो जाते है।

इससे स्पष्ट होता है कि श्रमण एव श्रमणोपासक दोनो मोक्ष मार्ग के साधक है। श्रमणोपासक पूर्णत त्यागी न होने पर भी मोक्ष मार्ग का आराधक है, क्योकि उसका लक्ष्य एव ध्येय वही है, जो साधु का है। अत· आत्मविकास का मार्ग दोनो के लिए उपादेय है। साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह मोह से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक महाव्रत या अणुव्रत रूप धर्म का शुद्ध पालन करे।

'वसु' और 'अनुवसु' शब्द का वृत्तिकार ने क्रमश वीतराग एव सराग अर्थ किया है। इसके अतिरिक्त उक्त शब्दों से श्रमण–साधु एव श्रमणोपासक–श्रावक अर्थ भी ग्रहण किया गया है।

जो व्यक्ति सयम को स्वीकार करके फिर उससे भ्रष्ट हो जाता है, उसकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुञ्छणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए॥179॥

छाया–वस्त्र पतद्ग्रह· कम्बल पादपुञ्छनकं व्युत्सृज्य अनुपूर्वेण अनाधि-सहमानाः परीषहान् दुरधिसहनीयान् कामान् ममायमानस्य इदानीं मुहर्तेन वा अपरिमाणाय भेदः एव स अन्तरायिकैः कामै· आकेवलिकैः अवतीर्णाः (असम्पूर्णाः) च एतत्।

पदार्थ—**वत्थं**—वस्त्र। **पडिग्गहु**—पात्र। **कंबलं**—और्णवस्त्र—ऊन का वस्त्र। **पायपुंछणं**—रजोहरण, इनको। **विउसिज्जा**—छोडकर (कई एक तो देश विरति धर्म को अगीकार कर लेते हैं, कई एक अव्रती सम्यगृदृष्टि बन जाते हैं और कई एक धर्म से सर्वथा पतित होजाते हैं)। **दुरहियासए**—दुःख से सहन किए जाने वाले। **परिसहे**—परीषहो को। **अणुपुव्वेण**—अनुक्रम से। **अणहियासेमाणा**—न सहन करते हुए, और। **कामे**—काम भोगों में। **ममायमाणस्स**—तीव्र ममत्व रखने वाले को। **इयाणिं**—तत्क्षण—दीक्षा का परित्याग करने के पश्चात्। **वा**—शब्द परस्पर सापेक्ष अर्थ का बोधक है। **मुहुत्तेण**—अन्तर्मुहूर्त मात्र से ही। **वा**—अथवा। **अपरिमाणाए**—अपरिमित काल मे। **भेए**—आत्मा और शरीर का भेद हो जाता है। **एवं**—इस प्रकार। **से**—वह—कामाभिलाषी। **अन्तराएहि**—अन्तरायों से युक्त। **कामेहिं**—काम भोगो से। **आकेवलिएहि**—जो प्रतिपक्ष से युक्त है अर्थात् दु ख से युक्त है। **अवइन्ना**—असम्पूर्ण है, तथा वे—पुरुप ससार समुद्र से उत्तीर्ण नही हो सकते। **च**—शब्द समुच्चय अर्थ मे है। **एए**—ये कामाभिलाषी पुरुप काम भोगो से अतृप्त होकर ही शरीर के भेद को प्राप्त करते है।

मूलार्थ—वे—कुशील मोहनीय कर्म के उदय से सयम परित्याग के समय सयम के साधन उपकरणो को भी छोड देते है। उनमे से कोई एक तो सयम के उपकरण वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरणादि का सर्वथा परित्याग करके देशविरति धर्म को ग्रहण कर लेते है, कुछ अविरति सम्यग् दृष्टि बन जाते है और कुछ धर्म से सर्वथा पतित हो जाते है, कारण कि असहनीय कठिन परीषहो से—जो कि अनुक्रम अथवा युगपद से उदय मे आए हुए है, पराजित होकर मोह के वशीभूत होकर सयम का परित्याग कर देते है तथा पापोदय से काम-भोगो मे अधिक ममत्व रखने वाले उन असयमी पुरुषो के शरीर का तत्काल ही अथवा मुहूर्त मात्र में अथवा कुछ और अधिक समय मे अपरिमित काल के लिए आत्मा से भेद हो जाता है। इस प्रकार विघ्नो और दु खों से युक्त जो विषय-भोग है, उनके निरन्तर सेवन से वे ससार समुद्र को पार नही कर सकते। वास्तव मे कामी पुरुष काम-भोगो से अतृप्त रहकर ही शरीर का परित्याग कर देते है, अर्थात् वे भोगों से कभी भी तृप्त नहीं होते है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का पथ फूलों का नही, शूलो का मार्ग है। त्याग के पथ पर बढने वाले साधक के सामने अनेक मुसीबते, कठिनाइया एव परेशानिया आती है। उसे प्रत्येक पग पर परीषहो के शूल बिछे मिलते है। कभी समय पर अनुकूल भोजन नही मिलता, तो कभी अनुकूल पानी की कमी रह जाती है। कभी ठहरने के लिए व्यवस्थित मकान उपलब्ध नही होता, तो कभी ठीक शय्या नही मिलती। इसी प्रकार गर्मी-सर्दी, वर्षा, भोगोपभोग आदि अनेक परीषह सामने आते है। इस प्रकार साधना का मार्ग परीषहो से भरा-पूरा है। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—'श्रेयस्कर—कल्याणप्रद मार्ग मे अनेक विघ्न आते है।' उन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है।

परन्तु, कुछ साधक परीषहो के प्रबल थपेडो को सहन नही कर सकते। मोहोदय के कारण वे एकदम फिसल जाते है और पथ भ्रष्ट होते समय लोकभय एव लज्जा का भी त्याग कर देते हैं। इस तरह वे विवेक विकल साधक दुर्लभता से प्राप्त चिन्तामणि (सयम) रत्न को खो देते है। वे सयम का त्याग कर फिर से गृहस्थ जीवन मे प्रविष्ट हो जाते है। कुछ साधक महाव्रतो का त्याग कर देते है, परन्तु देशव्रत से नहीं गिरते। कुछ साधक चारित्र व्रतो से गिर कर भी दर्शन—सम्यक्त्व से नही गिरते। परन्तु, कुछ साधक दर्शन से भी भ्रष्ट हो जाते है। ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय मे आसक्त होकर अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करते है।

वे भोगेच्छा को पूरी करने के लिए सयम का परित्याग करते हैं और रात-दिन भोगो मे आसक्त रहते है, फिर भी उनकी भोगेच्छा पूरी नही होती। क्योकि इच्छा, तृष्णा एव कामना अनन्त है, अपरिमित है और जीवन या आयु सीमित है। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति सदा अतृप्त ही रहता है। मृत्यु के अन्तिम क्षण तक उसकी आकाक्षाए, तृष्णाए एव वासनाए जागृत ही रहती हे और वह इन्ही मे गोते लगाते हुए अपनी आयु को समाप्त कर देता है और उस वासना से आबद्ध कर्मो के अनुसार ससार मे परिभ्रमण करता रहता है।

अत. साधु को विषय-वासना के प्रवाह मे नहीं बहना चाहिए और परीषहों के समय भी अडिग एव स्थिर रहना चाहिए, ऐसे साधु के जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिन्नाय, एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं, न महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुण्डे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा॥180॥

छाया—अथैके धर्ममादाय आदान प्रभृतिषु प्रणिहिताः चरेयुः अप्रलीयमानाः दृढ़ा· सर्वा गृद्धिं परिज्ञाय एष प्रणतः महामुनिः अतिगत्य सर्वतः संगं न मम अस्तीति इह एकोऽह अस्मिन् यतमानः अत्र विरतः अनागारः सर्वतः मुण्डो रीयमाणो योऽचेलः पर्युषित· सतिष्ठते अवमौदर्ये स आक्रुष्टो वा हतो वा लुञ्चितो वा पलितं कर्म प्रकथ्य अथवा प्रकट्य अतथ्यैः शब्दस्पर्शैः इति-संख्याय एकतरान अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ये च हारिणो ये च अहारिणः।

पदार्थ—**अहेगे**—इसके अनन्तर कई एक। **धम्ममायाय**—श्रुत और चारित्र रूप धर्म को ग्रहण करके। **आयाणप्पभिइसु**—धर्मोपकरणादि से युक्त। **पणिहिए**—परीपहो के सहन करने वाले। **चरे**—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म का आचरण करे या करते है। **अप्पलीयमाणे**—माता-पिता आदि म अनासक्त। **दढे**—सयमादि में दृढ। **सव्वं**—सर्व। **गिद्धि**—भोगाकाक्षा को। **परिन्नाय**—ज्ञ परिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर, इनको छोड देवे। **एस**—यह काम पिपासा का परित्यागी। **पणए**—सयम मे अथवा कर्म धुनने मे प्रवृत्त होता है, अत· वह। **महामुणी**—महामुनि होता है, फिर। **सगं**—सग को। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **अइअच्च**—अतिक्रम करके—निम्न प्रकार से भावना भावे। **न महं अत्थित्ति**—इस ससार में मेरा कोई नही है। **इय**—इस प्रकार से। **एगो अहं**—मैं अकेला हू। **अस्सिं**—इस जिन प्रवचन मे। **जयमाणे**—दशविध प्ररूपित समाचारी मे यत्न करता हुआ। **इत्थ**—इस जिन शासन मे। **विरए**—सावद्यानुष्ठान से विरक्त होता है। **अणगारे**—वह अनगार। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **मुंडे**—द्रव्य और भाव से मुडित होकर। **रीयंते**—विचरता हुआ। **जे**—जो।

अचेले—अल्प वस्त्र से। **परिवुसिए**—सयम मार्ग मे विचरने वाला। **अमोयरियाए**—ऊनोदरी तप मे। **संचिक्खइ**—भली प्रकार से स्थित होता है। **से**—वह-भिक्षु। **आकुट्ठे**—वचन से आक्रोशित हुआ। **वा**—अथवा। **हए**—दण्डादि से ताडित हुआ। **वा**—अथवा। **लुंचिए**—केशोत्पाटनादि से लुचित हुआ। **वा**—अथवा। **पलियं पकत्थ**—पूर्वकृत दुष्कृत्यो को उद्देश्य करके कोई उसकी निन्दा करता है। **अदुवा**—अथवा। **अतहेहिं**—अयथार्थ वचनो से। **यथा**—तू चोर है, दुराचारी है, इत्यादि। **सद्द**—इस प्रकार के असत् शब्दो से। **फासेहिं**—अथवा शस्त्रादि के स्पर्शो से दु:ख देता है, तब मुनि। **इय**—इस प्रकार से विचार करता है कि यह सब मेरे पूर्वकृत कर्मो का ही फल है। **संखाए**—इस प्रकार विचारकर—जानकर। **तितिक्खमाणे**—कष्ट को सहन करता हुआ। **परिव्वए**—सयम मे विचरे, तथा। **एगयरे**—अनुकूल परीषहो को। **अन्नयरे**—प्रतिकूल परीषहो को। **अभिन्नाय**—जानकर संयम मार्ग मे ही विचरे। **य**—और। **जे**—जो परीषह। **हिरी**—सत्कार-पुरस्कारादि मन को प्रसन्न करने वाले। **य**—और। **जे**—जो परीषह। **अहिरीमाणा**—मन को अप्रसन्नता देने वाले, तथा। **हिरी**—जो परीषह लज्जा रूप है—याचना एव अचेलादि रूप है, तथा जो। **अहिरीमाणा**—अलज्जा रूप—शीतोष्णादि रूप है, उनको सहन करता हुआ—सयम मे विचरे।

मूलार्थ—कुछ एक व्यक्ति धर्म को ग्रहण कर, धर्मोपकरणादि से युक्त होकर सयम-मार्ग मे विचरते हे तथा माता-पिता आदि मे अनासक्त होकर सयम मे दृढ और सर्व प्रकार की भोगाकाक्षा को छोडकर सयमानुष्ठान मे प्रयत्नशील होते है।

सयम-मार्ग मे चलने से ही वह मुनि कहलाता है। वह सर्व प्रकार के सग को छोड कर—मै इस ससार मे अकेला हू, मेरा कोई नही है। इस प्रकार की भावना से आत्मा का अन्वेषण करता है, जिन शासन मे विचरने का यत्न करता हुआ सावद्य व्यापार से रहित होकर वह अनगार सर्व प्रकार से मुण्डित होकर विचरता है और अचेल धर्म मे बसा हुआ, दडादि से ताडित, केशोत्पाटनादि से लुञ्चित, किसी पूर्व दुष्कृत्य के कारण निन्दित किया हुआ, अतथ्य शब्दो से पीडित किया हुआ और शस्त्रादि से घायल किया हुआ वह भिक्षु अपने स्वकृत पूर्व कर्मो के फल को विचार कर शान्त चित्त से सयम-मार्ग मे विचरता है। इसी प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल, अर्थात् मन को प्रसन्न करने वाले तथा मन मे खेद उत्पन्न करने वाले परीषहों को

शान्तिपूर्वक सहन करता हुआ विचरता है। इसी कारण वह अपने अभीष्ट को सिद्ध करने में सफल होता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना मे निष्ठा एव सहिष्णुता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निष्ठा—श्रद्धा के बिना सयम का परिपालन नही किया जा सकता। इसलिए साधक को धर्मोपकरणो के साथ सयम-साधना में सदा सलग्न रहना चाहिए। साधक चाहे जितनी उत्कृष्ट साधना मे सलग्न रहे, फिर भी जब तक शरीर है, तब तक कुछ उपकरणो की आवश्यकता रहती ही है। परन्तु, वह उन उपकरणो को भोग-विलास की दृष्टि से नही रखता, केवल साधना मे सहायक होने के कारण अनासक्त भाव से स्वीकार करता है। अत. उसके उपकरण मर्यादित, सीधे-सादे एव साधना मे तेजस्विता उत्पन्न करने वाले होते है। क्योंकि वेश-भूषा का भी जीवन पर प्रभाव होता है। यदि एक सैनिक को भोग-विलास के समय की पोशाक पहना दी जाए तो उससे उसके जीवन मे स्फूर्ति के स्थान मे शिथिलता दिखाई देगी और उसे कोई भी सैनिक नही समझेगा। सैनिक के लिए उसके कार्य के अनुरूप चुस्त पोशाक होनी आवश्यक है। इसी प्रकार साधक के लिए उसकी साधना एव त्याग वृत्ति को प्रकट करने वाली सीधी-सादी एव सात्त्विक वेशभूषा होनी चाहिए। इसलिए आगम मे साधु के लिए मुख-वस्त्रिका, रजोहरण, चद्दर एव चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखने का विधान है।

साधना का क्षेत्र केवल उपकरणो तक ही सीमित नही है। उपकरण साधना मे सहायक है, परन्तु साधना का मूल कार्य है अपने अन्दर मे स्थित राग-द्वेष, काम-क्रोध, तृष्णा-आसक्ति आदि अन्तरग शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना। अत साधक को प्रत्येक परिस्थिति मे समभाव को बनाए रखना चाहिए। उसे कोई वन्दन-नमस्कार करे तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए और यदि कोई तिरस्कार एवं प्रताडन करे तो रुष्ट एव क्रुद्ध नही होना चाहिए। उसे दोनों अवस्थाओ मे एकरूप रहना चाहिए और दोनो व्यक्तियो के लिए एक समान कल्याण की भावना रखनी चाहिए। यही साधुत्व की साधना है, जिसके द्वारा वह कर्मो की निर्जरा करता हुआ निष्कर्म बनने का प्रत्यन करता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त **'अचेलक'** शब्द में **'अ'** अव्यय का पूर्णत निषेध अर्थ मे

प्रयोग नहीं किया गया है। यहा उसका स्वल्प अर्थ मे प्रयोग हुआ है। अत· अचेलक शब्द का अर्थ बिलकुल नग्न नही, प्रत्युत स्वल्प वस्त्र रखना होता है। वृतिकार ने भी यही अर्थ स्वीकार किया है—**'अचेल—अल्पचेलोजिनकल्पिको वा।'**

'ओमोयरियाए संचिक्खइ' का अर्थ है—साधु को औनोदर्य तप—अल्पाहार करना चाहिए। अधिक आहार करने से शरीर मे आलस्य आता है, जिसके कारण साधक ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की भली-भाति आराधना नही कर सकता। अत· रत्नत्रय की साधना के लिए साधक को शुद्ध एषणिक एवं सात्त्विक आहार भी भूख से कम खाना चाहिए।

साधना के विषय मे कुछ विशेष बाते बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थावरए तं झोसमाणेआयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि॥181॥

छाया—**त्यक्त्वा सर्वा विस्रेतसिका स्पर्शान् समितदर्शन भो! एते नग्ना, उक्ता ये लोके अनागमनधर्माणः आज्ञया मामकं धर्मम् एष उतर वादः इह मा-नवानां व्याख्यातः अत्रोपरतः तज्झोषयन् आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विवेचयति इह एकेषा एकचर्या भवति तत्र इतरे इतरेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया स मेधावी, परिव्रजेत् सुरभि· अथवा दुरभि· अथवा भैरवा प्राणाः (प्राणिनः) प्राणिनः क्लेशयन्ति, तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अति सहस्व? इति ब्रवीमि।**

पदार्थ—चिच्चा—छोडकर। **सव्व**—सब। **विसुत्तियं**—परीषहों के सहन करने की शका को। **फासे**—परीपहो के स्पर्शो—परीषहजन्य कष्टो को सहन करे। **समियदसणे**—समित दर्शन, अर्थात् जो सम्यग् दृष्टि है, वह सम्यक् प्रकार से

परीषहो को सहन करे। **भो!**—यह आमन्त्रण अर्थ मे है अत हे लोगो! **एए**—ये-परीषहो को सहन करने वाले। **णगिणा**—नग्न। **वुत्ता**—कहे गए है। **जे**—जो। **लोगंसि**—लोक मे। **अणागमणधम्मिणो**—दीक्षा ले कर घर मे वापिस नहीं आने वाले। **आणाए**—आज्ञा। **मामगं**—मेरा। **धम्मं**—धर्म है, इस प्रकार से धर्म का सम्यक्तया पालन करे। **एस**—यह अनन्तरोक्त। **उत्तरवाए**—उत्कृष्ट वाद। **इह**—इस मनुष्य लोक में। **माणवाणं**—मनुष्यो का। **वियाहिए**—कथन किया गया है, और। **इत्थावरए**—कर्म नष्ट करने के उपाय सयम मे रत होकर। **तं**—आठ प्रकार के कर्मो का। **झोसमाणे**—क्षय करता हुआ सयम मे विचरे। **आयाणिज्जं**—आदानीय कर्म की। **परिन्नाय**—मूल तथा उत्तर प्रकृतियो को जानकर फिर। **परियाएण**—संयम पर्याय से इनको। **विगिंचइ**—क्षय करता है। **इह**—इस प्रवचन मे। **एगेसि**—कई एक हलुकर्मी जीवों की। **एगचरिया**—एकाकी विहार प्रतिमा। **होइ**—होती है। **तत्थियरा**—उस एकाकी विहार प्रतिमा मे अन्य सामान्य साधुओं से विशिष्टता होती है। **इयरेहि**—इतर आय। **कुलेहिं**—कुलो मे। **सुद्धेसणाए**—शुद्धैपणा से। **सव्वेसणाए**—सर्व प्रकार के दोषो से रहित होने से। **सर्वैषणासे**—उसे पालन करे, अत । **मेहावी**—बुद्धिमान। **परिव्वाए**—सयम मार्ग मे विचरे अर्थात् सयम मे स्थित रहे। **सुब्भि**—इतर कुल मे यदि सुगन्ध वाला आहार मिले। **अदुवा**—अथवा। **दुब्भिं**—दुर्गन्ध युक्त आहार मिले तो उसमे राग-द्वेष न करे। **अदुवा**—अथवा। **भेरा**—श्मशानादि मे यदि राक्षसादि के भयानक शब्द हो तो उन्हे सहन करे तथा। **भेरवा**—भयोत्पन्न करने वाले। **पाणा**—प्राणी। **पाणे**—अन्य प्राणियो को। **किलेसंति**—पीडित—दु खी करते है, अतः हे शिष्यो! **ते**—उन। **फासे**—दुःख रूप स्पर्शो से। **पुट्ठो**—स्पृष्ट हुआ फिर उन स्पर्शो को। **धीरे**—तू धैर्यवान बन कर। **अहियासिज्जासि**—सहन कर। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मे कहता हूं।

मूलार्थ—हे शिष्यो! परीपहो के सहन की शका को सर्वथा छोड कर समित दर्शन—सम्यग् दृष्टि सम्पन्न होने को भाव नग्नता कहते है, जो इस मनुष्य लोक मे दीक्षित होकर पुनः घर मे आने की अभिलाषा नही रखते। इस मनुष्य लोक मे यह उत्कृष्ट वाद कथन किया गया है कि भगवान की आज्ञा ही मेरा धर्म है। इस जिन शासन में संलग्न व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मो का क्षय करता हुआ, कर्मो के भेदो

को जानकर सयम पर्याय से कर्म क्षय करता है। इस प्रवचन मे कई एक हलुकर्मी जीव एकाकी विहार प्रतिमा में प्रवृत्त हो जाते है, नाना प्रकार के अभिग्रहों से युक्त हो जाते है, अतः वह सामान्य मुनियों से विशिष्टता रखता है, अज्ञात कुलो मे निर्दोष तथा एषणिक भिक्षा को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह बुद्धिमान साधक सयमवृत्ति का पालन करता है, किन्तु यदि उसे अज्ञात कुलो में सुगन्ध युक्त या दुर्गंध युक्त आहार मिला है, तो वह उसमे राग-द्वेष न करे। यदि एकाकी प्रतिमा वाला भिक्षु किसी श्मशानादि स्थान पर ठहरा हुआ है और वहां पर यक्षादि के भयानक शब्द सुनाई पडे, तो उसे स्ववृत्ति से विचलित नहीं होना चाहिए। यदि व्याघ्रादि भयानक प्राणी, अन्य प्राणियो को सताप दे रहे हो या वे हिसक जन्तु मुनि पर आक्रमण कर रहे हों, तो वह उन दु.ख रूप स्पर्शो को शान्तिपूर्वक सहन करे। तात्पर्य यह है कि मोक्षाभिलाषी जीव को यदि किसी प्रकार के हिसक प्राणी कष्ट दें, तो वह उन कष्टो—परीषहो को धैर्यपूर्वक सहन करने मे तत्पर रहे। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सदा सहिष्णु बना रहे। वह अपनी साधना का पूरी निष्ठा के साथ पालन करे। वह अपने सयमपथ पर दृढता से चलता रहे और वीतराग द्वारा उपदिष्ट धर्म एव आज्ञा का सम्यक् प्रकार से पालन करे। वह यह विचार करे कि दुनिया में धर्म के सिवाय कोई भी पदार्थ अक्षय नहीं है। धर्म ही कर्म मल को दूर करके आत्मा को शुद्ध करने वाला है। अतः हिंसा आदि समस्त दोषो का त्याग करके जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार, वस्त्र-पात्र आदि स्वीकार करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करे। परन्तु, तीर्थकर भगवान की आज्ञा के विपरीत आचरण न करे।

इस तरह सयम-साधना मे सलग्न रहे और उक्त समय में आने वाले अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। कोई दुष्ट व्यक्ति उस पर प्रहार भी करे, तब भी वह उसके प्रति द्वेष न करे, मन मे भी घृणा एवं नफरत का भाव न रखे। यदि कभी श्मशान आदि शून्य स्थानों मे ध्यान लगा रखा हो और उस समय कोई हिसक पशु, मनुष्य या देव कष्ट दे, तब भी अपने आत्मचिन्तन का त्याग न करे

और उनके प्रति क्रूर भाव भी न लाए। इतना ही नही, यदि कोई हिसक पशु या मनुष्य आदि उसके शरीर का भी नाश करता हो, तब भी उसे बुरा-भला न कहकर, उस वेदना को यह समझकर समभाव पूर्वक सहन करे कि यह शरीर नाशवान है और मेरी आत्मा अविनाशी है। इस शरीर के नाश होने पर भी उसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता। इस प्रकार अनित्य एव अशरण भावना के द्वारा अपने शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्मचिन्तन को तीव्र बनाने का प्रयत्न करे। इस तरह समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने वाला साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके शीघ्र ही वीतराग पद को प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त बन जाता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन : धुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे कर्म-निर्जरा की बात कही है। कर्म की निर्जरा अनासक्ति एवं सहिष्णुता पर आधारित है। अत प्रस्तुत उद्देशक में बताया है कि वस्त्र आदि के फट जाने पर या अनुकूल वस्त्र न मिलने पर मन में संवेदन नहीं करे। अपितु, अनासक्त भाव से परीषहो को सहन करते हुए संयम का पालन करे। इसीका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ-परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं॥182॥

छाया–एतत् खु मुनिः आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्पः निर्झोषयित्वा योऽचेलः पर्युषितः तस्य (ण) भिक्षोः नैतद् भवति परिजीर्णं मे वस्त्रं, वस्त्रं याचिष्ये, सूत्रयाचिष्ये, सूचिं च याचिष्ये, सन्धास्यामि, सेविष्यामि, उत्कर्ष– यिष्यामि, व्युत्कर्षयिष्यामि, परिधास्यामि, प्रावरिष्यामि, अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयोऽचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजः स्पर्शाः स्पृशन्ति,

दंशमशक स्पर्शाः स्पृशंति, एकतरान् अन्यतरान् विरूप रूपान् स्पर्शान् अधिसहते, अचेलः लाघवं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति। यथा इदं भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वात्मना (सर्वतया) सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्। एवं तेषां महावीराणां चिर रात्रं पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्य! अधिसोढम्।

पदार्थ—**एयं**—यह पूर्वोक्त। **खु**—निश्चय अथवा वाक्यालंकार अर्थ में है। **आयाणं**—कर्म ग्रहण करने के कारण धर्मोपकरण के अतिरिक्त उपधि का। **निज्झोसइता**—त्याग कर देता है। **मुणी**—वह मुनि है तथा जो। **सया**—सदा। **सुयक्खायधम्मे**—सुन्दर धर्म वाला है। **विहूयकप्पे**—जिसने सम्यक् प्रकार से आचार को धारण किया है, वास्तव मे वही मुनि कर्म क्षय कर सकता है। **जे**—जो साधु। **अचेले**—अल्प वस्त्र वाला। **परिवुसिए**—सयम में ठहरा हुआ है। **णं**—वाक्यालकार मे है। **तस्स**—उस। **भिक्खुस्स**—भिक्षु को। **नो एवं भवइ**—यह नहीं होता कि। **मे**—मेरा। **वत्थे**—वस्त्र। **परिजुण्णे**—सर्व प्रकार से जीर्ण हो गया है, अतः मै। **वत्थं**—नूतन वस्त्र की। **जाइस्सामि**—याचना करूगा, फिर उसके सीने के लिए। **सुत्त**—सूत्र की। **जाइस्सामि**—याचना करूगा, फिर। **सूइं**—सूई की। **जाइस्सामि**—याचना करूगा, फिर। **संधिस्सामि**—उस वस्त्र का सन्धान करूगा, फिर। **सीविस्सामि**—फटे हुए वस्त्र को सीऊगा। **उक्कसिस्सामि**—या छोटे वस्त्र के साथ अन्य वस्त्र जोड कर उसे लम्बा करूगा, फिर। **वुक्कसिस्मामि**—अथवा बडे वस्त्र को फाड कर छोटा करूगा। **परिहिस्सामि**—फिर वस्त्र धारण करूगा। **पाउणिस्सामि**—शरीर को आच्छादित करूंगा। (इस प्रकार के अध्यवसाय—जो कि आर्तध्यान को उत्पन्न करने वाले है—उस मुनि के नही होते)। **अदुवा**—अथवा। **तत्थ**—उस अचेलत्व मे। **परिक्कमंतं**—पराक्रम करते हुए। **अचेलं**—अचेलक मुनि को। **भुज्जो**—फिर। **तणफासा**—तृण के स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **सीयफासा**—शीत के स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते हैं। **तेउफासा**—उष्णता के स्पर्श। **फुसंति**—स्पशित होते है। **दंसमसगफासा**—डास-मच्छर के स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **एगयरे**—उनमे से कोई एक परीषह, मन्द या तीव्र स्पर्श वाले है, तथा। **अन्नयरे**—मे से कई अन्य

परीषह है, तथा। **विरूवरूवे**—नाना प्रकार के परीषहों के। **फासे**—स्पर्शो को। **अचेल**—वस्त्र से रहित या अल्प वस्त्र वाला भिक्षु। **अहियासेइ**—सहन करे। **लाघवं**—लघु भाव को। **आगममाणे**—जानता हुआ। **से**—वह भिक्षु। **तवे**—काय क्लेशादि तप से। **अभिसमन्नागए**—युक्त। **भवइ**—होता है, अर्थात् सुधर्मा-स्वामी कहते है कि वह काय क्लेशादि तप को सहन करने वाला होता है। **जहेयं**—जिस प्रकार से यह विषय कहा गया है, वह। **भगवया**—भगवान ने। **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है। **तमेव**—उपकरण और आहार की लाघवता को। **अभिसमिच्चा**—विचार कर। **एव**—अवधारणा अर्थ मे है। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **संव्वताए**—सर्वात्मा से। **संमत्तमेव**—सम्यक् प्रकार से। **समभिजाणिज्जा**—जाने। **एवं**—इस प्रकार। **तेसिं**—उन। **महावीराणं**—महावीरों का यह आचार है। **चिररायं**—चिर काल पर्यन्त। **पुव्वाइं**—पूर्वोक्त। **वासाणि**—और वर्षो तक। **रीयमाणाणं**—सयम में विचरते हुओ का यह आचार है। **पास**—हे शिष्य! तू देख। **दवियाणं**—मोक्ष मार्ग पर चलने वाले। **अहियासियं**—व्यक्तियो के लिए ये परीषह सहन करने योग्य है।

मूलार्थ—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणो के अतिरिक्त उपकरणो को कर्मबन्ध का कारण जानकर जिसने उनका परित्याग कर दिया है, वह मुनि सुन्दर धर्म का पालन करने वाला है। वह आचारसंपन्न अचेलक साधु सदा-सर्वदा सयम मे स्थित रहता है। उस भिक्षु को यह विचार नही होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है। अतः मै नए वस्त्र की याचना करूगा, या सूई-धागे की याचना करूगा और फटे हुए वस्त्र को सीऊगा या छोटे से बड़ा या बड़े से छोटा करूगा, फिर उससे शरीर को आवृत करूगा अथवा उस अचेलकत्व मे पराक्रम करते हुए मुनि को तृणो के स्पर्श चुभते है, उष्णता के स्पर्श स्पर्शित करते है और दशमशक के स्पर्श स्पर्शित करते हैं, तो वह एक या अनेक तरह के परीषहजन्य स्पर्शो को सहन करता है। अचेलक भिक्षु लाघवता को जानता हुआ कायक्लेश तप से युक्त होता है। यह पूर्वोक्त विषय भगवान महावीर ने प्रतिपादित किया है। हे शिष्य! तू उस विषय को सम्यग् रूप से जानकर उन वीर पुरुषो की तरह—जिन्होंने पूर्वो या वर्षो तक सयम-मार्ग में विचरकर परीषहो को सहन किया है, तू भी अपनी आत्मा में परीषहो को सहन करने की वैसी ही शक्ति प्राप्त कर! इसका निष्कर्ष यह है कि मुनि के हृदय मे परीषहों को सहन करने की तीव्र भावना होनी चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि मुनि को साधक अवस्था मे कुछ उपकरण रखने पड़ते है। यह बात अलग है कि उपकरणों की सख्या में कुछ अन्तर रहता है। जैसे जिनकल्पी मुनि—जो जगल एवं पर्वतो की गुफाओं में रहते है, के लिए मुखवस्त्रिका और रजोहरण दो उपकरण ही पर्याप्त है, तो स्थविरकल्पी के लिए 14 उपकरण बताए गए हैं। इनमें भी कमी की जा सकती है। इन उपकरणो में कमी करना तपश्चर्या है। इससे कर्मो की निर्जरा होती है। अत साधक को कषायो के त्याग के साथ-साथ यथाशक्य उपकरणो मे कमी करने के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मुनि का मूल उद्देश्य आत्मविकास है। आत्मविकास के लिए ही वह आहार-पानी एव वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को स्वीकार करता है। ये उपकरण केवल सयम-साधना के साधन है, न कि साध्य। अत वह उपकरणो को रखते हुए भी उनकी विशेष चिन्ता नही करता और न उनमे आसक्त ही रहता है। उसका मन एवं उसका चिन्तन सदा-सर्वदा संयमपरिपालन मे ही सलग्न रहता है। क्योंकि वह इस बात को जानता है कि सयम से ही कर्मो का नाश होगा और कर्म क्षय होने पर ही आत्मा का विकास हो सकेगा। अत वह सदा सयम-पालन मे ही जागरूक रहता है।

कभी वस्त्र आदि के फट जाने पर तथा समय पर शुद्ध—एषणिक वस्त्र के न मिलने पर वह उसके लिए चिन्ता नही करता, आर्त-रौद्र ध्यान नही करता। ऐसे समय मे भी वह समभावपूर्वक अपनी साधना मे सलग्न रहता है। वह वस्त्र की कमी के कारण होने वाले शीत, दंश-मशक एवं तृण स्पर्श के परीषहो को बिना किसी खेद के सहन करता है। वह अपने मन मे सोचता-विचारता है कि भगवान महावीर ने इसी धर्म का या समभाव की साधना करने का उपदेश दिया है और अनेक महापुरुषो ने वर्षो एव पूर्वो[1] तक इस शुद्ध धर्म एव सयम का परिपालन करके आत्मा को कर्मो से सर्वथा अनावृत कर लिया है। अत- मुझे भी इसी धर्म का पालन करके निष्कर्म बनना

1 84 लाख वर्षो को 84 लाख वर्षो से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, उतने वर्षो का एक पूर्व होता है, अर्थात् 84 लाख × 84लाख = 70 लाख करोड, 56 हजार करोड वर्ष (70, 560000000000)।

चाहिए। इस प्रकार साधक को समभाव पूर्वक परीषहो को सहन करते हुए सयम मे सलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग अचेलक शब्द का वस्त्ररहित अर्थ करते है। परन्तु, प्रस्तुत सूत्र मे 'अ' अव्यय पूर्ण निषेध के अर्थ में नही, स्वल्प के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि अज्ञ का अर्थ है—स्वल्प ज्ञान वाला, न कि ज्ञान शून्य। इसी प्रकार अचेलक शब्द का तात्पर्य है—अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि। यह हम स्पष्ट कर चुके है कि स्वल्प वस्त्र भी संयम-साधना के साधन है, साध्य नही। अत· साधक इनमे आसक्त नहीं रहता। इन सब उपकरणो में अनासक्त रहते हुए वह सदा सयम मे सलग्न रहता है और आने वाले परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करता है।

परीषहो को सहन करने से आत्मा मे किस गुण का विकास होता है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आगयपनाणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि॥183॥

छाया—आगतप्रज्ञानाना कृशाः बाहवः भवन्ति, प्रतनुके च मासशोणिते, विश्रेणी कृत्वा परिज्ञाय, एष तीर्णः मुक्तः विरत· व्याख्यातः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—आगयपन्नाणाण—जिनको परीपहो के सहन करने से उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, उनके। **बाहवो**—भुजाएं। **किसा**—कृश। **भवंति**—होती है अथवा। **बाहवो**—बाधा–पीडा। **किसा**—कृश। **भवंति**—होती है। **य**—और, मन के दृढ होने से। **मंससोणिंए**—माम-शोणित रुधिर। **पयणुए**—थोडा हो जाता है। **विस्सेणिं**—ससार रूप श्रेणी—जिसकी कषाय रूप सन्तति है, उसको क्षमादि के द्वारा नष्ट। **कट्टु**—करके तथा। **परिन्नाय**—समत्व भावना से जानकर। **एस**—उक्त लक्षण वाला मुनि। **तिण्णे**—ससार समुद्र को तैर गया है। **मुत्ते**—सब सग से मुक्त हो गया है। **विरए**—सर्व सावद्यानुष्टान से रहित हो गया है। **वियाहिए**—ऐसा कहा गया है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—प्रज्ञावान मुनि की परीपहो को सहन करने से भुजाए कृश हो जाती

हैं, मांस और रुधिर थोड़ा हो जाता है। वह संसार-परिभ्रमण को बढाने वाली रागद्वेष रूप सन्तति को नष्ट करके और समत्व भाव एव पूर्वोक्त गुणो से युक्त होकर ससार समुद्र को पार कर जाता है। वह सर्व ससर्ग से छूट जाता है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

संसार में दो प्रकार का परिवर्द्धन होता है—1—शरीर और 2—भव भ्रमण। शरीर का विकास प्रकाम—गरिष्ठ एवं पौष्टिक भोजन और आराम तलबी पर आधारित है और भव भ्रमण का प्रवाह राग-द्वेष एव विषय-वासना के आसेवन से बढता है। मुनि का जीवन त्याग का जीवन है। वह भोजन करता है, वस्त्र पहनता है, मकान मे रहता है, फिर भी इनमे आसक्त नही रहता। क्योंकि, वह इन्हे केवल सयम-पालन के साधन मानता है। अतः साधना को शुद्ध रखने के लिए वह सादा एव सात्त्विक भोजन या वस्त्रादि लेकर समभाव से सयम का पालन करता है और कभी समय पर यथाविधि शुद्ध-एषणिक आहार आदि उपलब्ध न होने पर भी वह किसी प्रकार की चिन्ता नही करता है। वह इन सब परीषहो को समभावपूर्वक सहन करता है। इस प्रकार अनेक परीषहो को सहन करने से उसके शरीर का मास सूख जाता है। उसका शरीर कृश—दुबला-पतला हो जाता है, परन्तु सहन शक्ति के साथ समभाव की धारा प्रवहमान रहने के कारण वह पूर्व बद्ध कर्मो को क्षय करके कर्म के बोझ से भी हल्का हो जाता है। इससे वह जन्म-मरण की परम्परा को परिवर्द्धित करने वाले राग-द्वेष का क्षय करके अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वह द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के संसार-परिवर्द्धन को समाप्त करके भवसागर से पार हो जाता है।

इससे स्पष्ट हो गया कि ज्ञान, दर्शन एव चारित्र से सपन्न साधक समभाव पूर्वक परीषहों को सहन करने मे समर्थ होता है। इससे उसकी साधना मे तेजस्विता आती है और वह ससार-परिभ्रमण को घटाता रहता है। इस प्रकार परीषहो को सहन करने से उसकी आत्मा का विकास होता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए?

संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा जइया मेहाविणो पंडिया, एव तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्तिबेमि॥184॥

छाया—विरतं भिक्षुं रीयमाणं चिररात्रोषितमरतिस्तत्र किं विधारयेत्? संदधानः समुत्थितः यथा स द्वीपोऽसंदीनः एवं स धर्मः आर्यप्रदेशितः ते अनवकांक्षन्तः प्राणिनोऽनतिपातयन्त यदा (दयिताः) मेधाविनः पंडिता, एवं तेषां भगवतोऽनुष्ठानः यथा स द्विजपोतः एव ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**रीयंतं**—सयम मार्ग पर चलते हुए। **विरयं**—विरत। **भिक्खुं**—भिक्षु को। **चिरराओसियं**—जो चिर काल पर्यंत सयम मे रहा हुआ है। **किं**—क्या उसे। **तत्थ**—सयम के विषय मे। **अरई**—अरति—चिन्ता। **विधारए**—उत्पन्न हो सकती है?

उत्तर—हा, यह कर्म की विचित्रता है, जिसके कारण उसे चिन्ता उत्पन्न हो सकती, तथा नही भी हो सकती, जैसे कि। **सधेमाणे**—जो उत्तरोत्तर सयम स्थान मे आत्मा को जोडता है, तथा। **समुट्ठिए**—सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में उपस्थित हुआ है, ऐसे मुनि को अरति किस प्रकार हो सकती है? कदापि नही हो सकती, वह मुनि तो। **जहा**—जैसे। **से**—वह। **दीवे असंदीणे**—असदीन द्वीप जल से सर्वथा रहित होने से डूबते हुए प्राणियो का आश्रयभूत है, इसी प्रकार मुनि भी द्वीप तुल्य-द्वीप के समान अन्य जीवो का रक्षक है। एव—इसी प्रकार। **से**—वह। **धम्मे**—धर्म। **आरियपदेसिए**—आर्य प्रदेशित—तीर्थकर प्रणीत होने से द्वीप के समान प्राणियों की रक्षा करने वाला है। **ते**—वे—धर्म के पालने वाले। **अणवकख-माणा**—भोगो को न चाहते हुए तथा। **पाणे**—प्राणियो की। **अणइवायमाणा**—हिसा न करते हुए—उपलक्षण से अन्य महाव्रतो का पालन करते हुए। **जइया**—सर्व जीवो की रक्षा करने से लोगो को प्रिय हैं अथवा सब जीवो के रक्षक हैं। **मेहाविणो**—मर्यादा मे स्थित रहने से मेधावी है। **पंडिया**—पडित—पापो से दूर रहने वाले है। **एवं**—इसी प्रकार। **तेसिं**—उनको। **भगवओ**—भगवान वर्द्धमान स्वामी के धर्म में। **अणुट्ठाणे**—अनुष्ठान—अनुस्थान है अथवा जो भगवान के धर्म मे स्थिर चित्त नही, वे उनको धर्म मे स्थिर करते है—शिक्षा

के द्वारा उनकी आत्मा को धर्म मे लगाते है। **जहा**—जैसे। **से**—वह। **दिया**—द्विज—पक्षी। **पोए**—अपने पोत—बच्चो का पालन करता है। **एवं**—इसी प्रकार। **ते**—वे महापुरुष। **दिया**—दिन। **च**—और। **राओ**—रात्रि में। **य**—समुच्चयार्थ में है। **अपुव्वेण**—अनुक्रम से। **वाइयं**—वाचनादि के द्वारा। **सिस्सा**—शिष्यो का पालन करते हैं; जिससे कि वे ससार समुद्र से पार होने म समर्थ हों। इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—सावद्य व्यापार से निवृत्त और सयम-मार्ग में विचरते हुए भिक्षु—जो चिर काल से संयम मे अवस्थित है, को भी क्या अरति उत्पन्न हो सकती है? हा, कर्म की विचित्रता के कारण उसे भी सयम में अरुचि हो सकती है। परन्तु, सयम-निष्ठ मुनि को अरुचि उत्पन्न नही होती है। उत्कृष्ट संयम मे आत्मा को जोड़ने वाला, सम्यक् प्रकार से समय मे यत्नशील मुनि असन्दीन (कभी भी जल से नही भरने वाले) द्वीप की तरह सब जीवो का रक्षक होता है या यह तीर्थंकर प्रणीत धर्म द्वीप तुल्य होने से जीवो का रक्षक है। वे साधु भोगेच्छा से रहित एवं प्राणियो के प्राणो का उत्पीडिन नहीं करने वाले जगत प्रिय—वल्लभ, मेधावी और पडित है। परन्तु; जो भगवान के धर्म मे स्थिर चित्त नही हैं, ऐसे साधकों को आचार्यादि भी दिन और रात्रि मे अनुलोम वाचनादि के द्वारा रत्नत्रय का यथार्थ बोध करवा कर ससारसमुद्र से तरने के योग्य बनाते है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

आगमो मे मोह कर्म को सबसे प्रबल माना है। जिस समय इसका उदय होता है, उस समय यह बड़े-बड़े योगियों को भी साधनापथ से च्युत कर देता है। इसी बात को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि मोह कर्म के उदय से भी साधक के मन मे चिन्ता एव साधना से घृणा उत्पन्न हो सकती है। अत इस दुर्भावना को मन मे पनपने नही देना चाहिए, प्रत्युत उसे तुरन्त निकाल फेकने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे अपने मन को विषय-वासना एव पदार्थो की आसक्ति से हटाकर सयम मे लगाना चाहिए। उसे अपने चिन्तन की धारा को रत्न-त्रय की साधना की ओर मोड देना चाहिए, जिससे उसका मन सयम मे तथा ज्ञान एव दर्शन की साधना मे सलग्न हो सके। इस प्रकार वीतराग प्रभु की आज्ञा के अनुसार संयम मे संलग्न रहने वाला साधक कभी भी अपने पथ से भ्रष्ट नहीं होता है।

वह सयमसपन्न मुनि सब प्राणियो के लिए आश्रयभूत होता है। जैसे समुद्र में भटकने वाले प्राणियो की द्वीप रक्षा करता है, उसे आश्रय देता है, उसी प्रकार संयम-शील साधक सब प्राणियों की दया, रक्षा करता है। सयम सबके लिए अभय प्रदाता है। इससे बढ़कर संसार मे कोई और आश्रय या शरण नही है। उत्तराध्ययन सूत्र में केशीश्रमण के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम स्वामी ने भी यही कहा है कि "ससार सागर मे भटकने वाले प्राणी के लिए धर्म द्वीप ही सबसे श्रेष्ठ आश्रय है, उत्तम शरण है[1]।"

ऐसे सयम-निष्ठ मुनि ही समस्त प्राणियो के रक्षक हो सकते है। वे ही भोगासक्त व्यक्तियो को त्याग का मार्ग बताकर उन्हे निवृत्ति पथ पर बढने की प्रेरणा दे सकते है। ऐसे आचारसम्पन्न महापुरुषो का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे साधक को तत्त्वों का यथार्थ बोध कराए और ज्ञान के द्वारा उसकी साधना मे तेजस्विता लाने का प्रयत्न करे। यदि किसी साधक के पैर लड़खडा रहे है, मन चल-विचलित हो रहा है, तो उस समय आचार्य एव गीतार्थ (वरिष्ठ) साधु को चाहिए कि वह अपने अन्य सब कार्यो को छोडकर उसके मन को स्थिर करने का प्रयत्न करे। उसे रात-दिन स्वाध्याय कराते हुए, आगम का बोध कराते हुए उसके हृदय मे सयम के प्रति निष्ठा जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार अगीतार्थ एव चल-विचल मन वाले शिष्य को सुयोग्य बनाने का दायित्व आचार्य एव सघ के वरिष्ठ साधुओं पर है।

इस प्रकार सयम-निष्ठ एव सयम मे स्थिर हुआ साधक प्राणिजगत के लिए शरण रूप होता है। स्वय ससारसागर से पार होता है और अन्य प्राणियो को भी पार होने का मार्ग बताता है। **'त्तिबेमि'** का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

1 धम्मो दावो पइट्ठा य सरणमुत्तम —उत्तराध्ययन, 23, 63

षष्ठ अध्ययन : धुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे उपकरणों में कमी करने का उपदेश दिया गया है। उपकरणो मे कमी करने अथवा साधना मे सहायक आवश्यक उपकरणों से अधिक न रखने के लिए अनासक्त भाव का होना आवश्यक है। इसके लिए गौरव का त्याग करना अनिवार्य हो जाता है। अत. प्रस्तुत उद्देशक मे इसी बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमंतेहिं तेसिमंतिए पन्नाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नोत्ति मन्नमाणा आघायं तु सुच्चा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समाहिमाघायम-जोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति॥185॥

छाया–एवते शिष्या दिवा च रात्रौ चानुपूर्वेण वाचितस्तैर्महावीरैः। प्रज्ञानवद्भि· तेषामन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य हित्वा उपशमं पारुष्यं समाददति, उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञा ता नो इति मन्यमानाः आख्यातं तु श्रुत्वा निशम्य समनोज्ञाः जीविष्याम· एके निष्क्रम्य असंभवन्तः विदह्यमानाः कामैर्गृद्धाः अध्युपपन्ना· समाधिमाख्यातमजोषयन्तः शास्तारमेव परुषं वदन्ति।

पदार्थ–**एवं**–इस प्रकार। **ते**–वे। **सिस्सा**–शिष्य। **दिया**–दिन। **य**–और। **राओ**–रात्रि में। **य**–समुच्चय अर्थ मे है। **अणुपुव्वेण**–अनुक्रम से। **तेहिं**–उन। **महावीरेहिं**–तीर्थकर, गणधर आदि। **पन्नाणमंतेहिं**–प्रज्ञावानो के द्वारा। **वाइया**–पढाए गए है। **तेसिमंतिए**–वे शिष्य आचार्यादि के समीप। **पन्नाणमुवलब्भ**–विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करके बहुश्रुत बनकर, प्रबल मोह के उदय से पुन । **उवसमं**–उपशम

भाव को। **हिच्चा**—छोडकर। **फारुसियं**—कठोर भाव को। **समाइयंति**—ग्रहण करते है और। **बंभचेरसि**—ब्रह्मचर्य मे—सयम में। **वसिता**—वस कर। **आणं तं**—भगवद् आज्ञा को। **नोत्ति**—नही। **मन्नमाणा**—मानते हुए। **तू**—अवधारण अर्थ मे है। **आघायं**—कुशील के विपाक को। **सुच्चा**—सुनकर। **निसम्म**—हृदय मे विचार कर शिक्षक को कठोर वचन बोलते है, फिर। **एगे**—कई एक। **समणुन्ना**—लोक में प्रामाणिक होकर। **जीविस्सामो**—जीवन व्यतीत करेगे, इस आशा से वे शब्द शास्त्र आदि को पढते हैं। **निक्खमंते**—दीक्षा लेकर फिर मोह के उदय से। **असंभवंता**—तीन गौरव के वश होकर—मोक्ष मार्ग का अनुसरण न करके। **विडज्झमाणा**—मान में जलते हुए। **कामेहिं**—काम भोगो मे। **गिद्धा**—मूर्छित—आसक्त तथा। **अज्झोववन्ना**—तीन गौरवो मे अत्यन्तासक्त होकर। **समाहिमाघाय**—तीर्थकर कथित समाधि का। **अजोसयता**—सेवन न कर के। **सत्थारमेव**—शास्ता—गुरुजनो को ही। **फरुसं**—कठोर वचन। **वयंति**—बोलते है।

मूलार्थ—हे जम्बू! कुछ शिष्य तीर्थकर, गणधर तथा आचार्यादि प्रज्ञावानो के द्वारा रात-दिन पढाये हुए, उनके समीप श्रुतज्ञान को प्राप्त कर के भी प्रबल मोहोदय से उपशम भाव को छोडकर कठोर भाव को ग्रहण करते है। वे सयम मे बसकर तीर्थकर की आज्ञा को न मानते हुए तथा कुशील सेवन से उत्पन्न होने वाले कष्टो को सुनकर और हृदय मे विचार कर भी कई साधु इस आशा से दीक्षा लेकर शब्द शास्त्रादि पढ़ते है कि हम लोक मे प्रामाणिक जीवन व्यतीत करेंगे। मोह के प्राबल्य से वे बाल जीव तीन गौरवो के वशीभूत होकर भगवत् कथित मोक्ष मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण न करते हुए अहंकार से जलते है। वे काम-भोगो में मूर्छित, गौरवो मे अत्यन्त आसक्त हुए भगवत् कथित समाधिमार्ग का अनुसरण नही करते है। यदि कभी गुरुजन उन्हे हित शिक्षा दे तो वे उनको भी कठोर वचन बोलते हैं और उनका तथा शास्त्रो का दोष निकालते है।

हिन्दी-विवेचन

आगम मे विनय को धर्म का मूल कहा है। निरभिमानता विनय का लक्षण है। अभिमान और विनय का परस्पर मेल नही बैठता। अभिमानी व्यक्ति गुरु का, आचार्य का एव वरिष्ठ पुरुषो का आदर-सत्कार एव विनय नही कर सकता। प्रज्ञावान पुरुषो

द्वारा आगम का ज्ञान प्राप्त करके भी वह ज्ञान के मद मे गुरु के उपकार को भी भूल जाता है। वह उपशम का त्याग करके कठोरता को धारण कर लेता है। उपशम का अर्थ है—विकारों को शान्त करना। यह द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। पानी मे मिली हुई मिट्टी को उससे अलग करने के लिए उसमें बीजो का निर्मल चूर्ण डालते है या फिटकरी फेरते है, जिससे मिट्टी नीचे बैठ जाती है और पानी साफ हो जाता है। यह द्रव्य उपशम है। आत्मा मे उदय भाव मे आए हुए कषायो को ज्ञान के द्वारा उपशात करना भाव उपशम है। जैसे वायु के प्रबल झोको से शान्त पानी मे लहरे उठने लगती है, उसी तरह मोह के उदय से आत्मा मे भी विषमता एवं विकारों की तरंगें उछल-कूद मचाने लगती है और सयम मे स्थित साधु भी तीर्थकर, आचार्य आदि महापुरुषो की अवज्ञा करने लगता है। वह साता—सुख-शान्ति, रस एवं ऋद्धि इन तीन गौरवों के वश में होकर किसी की भी परवाह नहीं करता है और अपने आपको सबसे अधिक योग्य समझने लगता है।

वे आगमो का अध्ययन सयम मे आने वाले दोषो को दूर करके शुद्ध सयम का परिपालन करने की दृष्टि से नही, अपितु केवल अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने एव दूसरो पर अपना प्रभाव डालने के लिए ही करते है। अत. ज्यो ही उनका थोडा-सा अध्ययन होता है, त्यो ही वे एकदम मेढको की तरह उछल-कूद मचाने लगते है। ऐसे अभिमानी एव अविनीत शिष्य अपने गुरु एवं अन्य वरिष्ठ पुरुषो की अवहेलना करने में भी सकोच नही करते।

वे सघ के अन्य साधुओ के साथ भी शिष्टता का व्यवहार नही करते। उन्हें भी वे कठोर शब्द बोलते रहते है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया॥186॥

छाया—शीलवन्तः उपशान्ताः संख्यया रीयमाणाः अशीला अनुवदतः द्वितीया मन्दस्य बालता।

पदार्थ—सीलमंता—आचार-सम्पन्न। **उवसंता**—उपशात कषाय वाले। **संखाए**—ज्ञान पूर्वक। **रीयमाणा**—सयम में सलग्न साधु को, वे बाल अज्ञानी कहते हैं, कि। **असीला**—यह साधु दुराचारी है। **अणुवयमाणस्स**—वह उन्हे पार्श्वस्थ आदि भी

कहता है। **मंदस्स**—उस मद बुद्धि वाले साधक की यह। **बिइया**—दूसरी। **बालया**—मूर्खता है।

मूलार्थ—आचारनिष्ठ, उपशात कषाय वाले और ज्ञानपूर्वक संयम मे संलग्न साधक को दुराचारी कहना उस मन्द बुद्धि एव बाल अज्ञानी साधक की दूसरी मूर्खता है।

हिन्दी-विवेचन

जीवन का अभ्युदय ज्ञान, आचार एव कषायो की उपशातता पर आधारित है। ज्ञान एव आचारसपन्न पुरुष विकारो पर विजय पा सकते है। वे उदय में आए हुए कषायो को भी उपशांत कर सकते हैं। अत· ऐसे साधक ही आत्मविकास कर सकते है। कुछ व्यक्ति साधना के पथ को तो स्वीकार करते है, परन्तु मोहोदय के कारण वे सयम से गिर जाते है। वे साधक अपने दोषो को न देखकर शुद्ध सयम मे सलग्न साधकों की अवहेलना करते है। वे उन्हें दुराचारी, पाखण्डी, मायाचारी एव कपटी आदि बताकर उनका तिरस्कार करते है। इस तरह वे अज्ञानी व्यक्ति सयम का त्याग करके पहली मूर्खता करते है और फिर महापुरुषो पर झूठा दोषारोपण करके दूसरी मूर्खता करते है। इस प्रकार वे पतन के महागर्त में जा पडते हैं।

अत मुमुक्षु पुरुष को किसी भी सयम-निष्ठ पुरुष की अवहेलना नही करनी चाहिए। इस सबन्ध मे सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो॥187॥

छाया—निवर्त्तमाना (उपशान्ता) वैके आचारगोचरमाचक्षते, ज्ञान भ्रष्ट·, दर्शनलूषिणः (विध्वंसिनः)।

पदार्थ—एगे—कई एक। **नियट्टमाणा वा**—सयम से निवृत्त होते हुए या वेश का परित्याग करते हुए। **आयारगोयरं**—जो आचार का परिपालन करते हैं, वे धन्य है। **आइक्खंति**—ऐसा कहते है, वे आचार सम्पन्न मुनियो की निन्दा नहीं करते है। परन्तु, जो वेश का त्याग करके या वेश को रखते हुए भी सम्यग् ज्ञान एव दर्शन का

त्याग कर देते है, वे। **नाणब्भट्ठा**—ज्ञान से भ्रष्ट होते है और। **दंसणलूसिणो**—दर्शन के नाशक होते हैं।

मूलार्थ—कुछ साधक मुनि वेश का त्याग करने पर भी आचारसपन्न मुनियो का आदर करते है। वे सयमनिष्ठ मुनियो की निन्दा नही करते, परन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान एव दर्शन—श्रद्धा दोनो के विध्वसक होते हैं।

हिन्दी-विवेचन

ज्ञान, दर्शन, चारित्र की समन्वित साधना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत जीवन-विकास के लिए रत्न-त्रय की साधना महत्त्वपूर्ण है। इनमें ज्ञान और दर्शन सहभावी है, दोनो एक साथ रहते है। सम्यग् ज्ञान के साथ सम्यग् दर्शन एव सम्यग् दर्शन के साथ सम्यग् ज्ञान अवश्य होगा, परन्तु ज्ञान और दर्शन के साथ चारित्र हो भी सकता है और कभी नहीं भी होता। किन्तु सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन अवश्य होगा। उनके अभाव मे चारित्र सम्यक् नहीं रह सकता है। सम्यग् ज्ञान के अभाव मे चारित्र—भले ही वह आगम मे प्ररूपित आचार या क्रिया काड भी क्यो न हो, मिथ्या चारित्र ही कहलाएगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग् ज्ञान युक्त चारित्र का ही महत्त्व है। अत· यदि कोई व्यक्ति चारित्र मोहकर्म के उदय से सयम का त्याग भी कर देता है। परन्तु, श्रद्धा-ज्ञान एवं दर्शन का त्याग नही करता है, तो वह सयम से गिरने पर भी मोक्ष मार्ग से सर्वथा भ्रष्ट नही होता है। वह अपने विकास पथ से पूर्णत नही गिरता है। वह व्यक्ति संयम का त्याग करने पर भी आचार एव विचार निष्ठ मुनियो की निन्दा एव अवहेलना नही करता है। वह उन्हे आदर की निगाह से देखता है। उसकी विवेक दृष्टि पूरी तरह बन्द नहीं हुई है। परन्तु, जो अज्ञानी हैं अर्थात् ज्ञान एव दर्शन का भी त्याग कर चुके है, उन पर 'इतोभ्रष्टस्ततोनष्ट ' की कहावत पूर्णत· लागू होती है। वे धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहते है और न घाट के। वे अपने जीवन का भी पतन करते है और चारित्र-निष्ठ पुरुषो की निन्दा करके उन्हे बदनाम करने का भी प्रयत्न करते हैं तथा अन्य लोगो के मन मे उनके प्रति रही हुई श्रद्धा—निष्ठा को निकालकर उनको भी पतन के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करते है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे नियट्टन्ति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतंपि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥188॥

छाया—नमन्तो वैके जीवितं विपरिणामयन्ति स्पृष्ठाः वैके निवर्त्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् निष्क्रान्तमपि तेषां दुर्निष्क्रान्तं भवति बालवचनीयाः हु ते नरा; पौन पुन्येन जातिं प्रकल्पयन्ति अधः सभवन्तो विद्वांसो मन्यमानाः अहमस्मीति व्युत्कर्षयेत् उदासीनान् परुषं वदन्ति पलितं (अनुष्ठानं) प्रकथयेत् अथवा प्रकथयेद् अतथ्यै· तद् (तंवा) मेधावी जानीयाद् धर्मम्।

पदार्थ—एगे—कई एक साधु। **नममाणा**—श्रुतज्ञान के लिए भावशून्य नमस्कार करते हुए। **जीवियं**—सयम जीवन का। **विप्परिणामंति**—नाश करते है। **वा**—अथवा। **एगे**—कई एक। **पुट्ठा**—परीषहो के स्पर्श होने पर। **नियटंति**—सयम या लिग—भेष से निवृत्त हो जाते है। **एव**—अवधारणार्थक है। **जीवियस्स**—असयममय जीवन के। **कारणा**—कारण। **से**—निमित मे। **तेसि**—उनका। **निक्खतंपि**—गृहस्थावास से निकलना भी। **दुन्निक्खंतं**—दुष्कर। **भवइ**—होता है। **हु**—जिस से। **बालवयणिज्जा**—बाल अर्थात् प्राकृत पुरुषों मे भी निन्दनीय। **ते**—वे। **नरा**—मनुष्य। **पुणोपुणो**—पुर्नपुन। **जाइं**—चतुर्गतिरूप उत्पति स्थान मे। **पकप्पिंति**—परिभ्रमण करते है। कौन? **अहे संभवंता**—जो सयम स्थान से निम्न स्तर पर बर्ताव करने वाले अथवा संयम मार्ग से पतित होने वाले, तथा। **विद्दायमाणा**—अपने आप को ही विद्वान मानने वाले है। **अहमंसीति**—मै ही सबसे अधिक विद्वान हू, इस प्रकार। **विउक्कसे**—अहकार करने वाले, अर्थात् आत्मश्लाघी पुरुष, अन्य। **उदासीणे**—मध्यस्थ व्यक्तियों को। **फरुसं**—कठोर वचन। **वयंति**—बोलते है, तथा। **पलियं**—पूर्व आचरित अनुष्ठान के द्वारा। **पकथे**—निन्दा करते है यथा तू वाचाल है इत्यादि। **अदुवा**—अथवा। **अतहेहिं**—असत्य वचनों से गाली प्रदान करते है और मुख विकारादि कुचेष्टाओ से। **पकथे**—गुरु जनों की हीलना करते है। **मेहावी**—बुद्धिमान। **तं**—उस श्रुत और चारित्र रूप। **धम्मं**—धर्म अथवा वाच्य को। **जाणिज्जा**—भली-भाति जाने।

मूलार्थ—श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि हे जम्बू! कई एक साधक पुरुष आचार्यादि को श्रुतज्ञान के लिए भाव रहित नमस्कार करते हुए परीषहो के स्पर्शित होने पर केवल असंयमित—असंयत जीवन के लिए सयममय जीवन का परित्याग कर देते है। उनका ससार से निकलना श्रेष्ठ नही कहलाता है। वे बाल अर्थात् प्राकृत जनो द्वारा भी निन्दा के पात्र बनते है और चार गति रूप ससार मे परिभ्रमण करते है। संयम स्थान से नीचे गिरते हुए अथवा अविद्या के वशीभूत होकर वे अपने आप को परम विद्वान् मानते हुए तथा मै परम शास्त्रज्ञ अथवा बहुश्रुत हूं, इस प्रकार आत्मश्लाघा मे प्रवृत्त हुए अभिमानी जीव, मध्यस्थ पुरुषों को भी कठोर वचन कहते है। उनके भूतपूर्व चरित्र को लेकर वे उन पुरुषो की निन्दा करते है, अश्लील वचनों तथा मुखविकारादि कुचेष्टाओं से वे गुरुजनो की भी अवहेलना करते है। अत बुद्धिमान पुरुष, श्रुत और चारित्र रूप धर्म को या वाच्य और अवाच्य को भली-भांति जानने का प्रयत्न करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए विनय की आवश्यकता है। परन्तु, उसके साथ निष्ठा—श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। कुछ साधक ज्ञान की प्राप्ति के लिए आचार्य एव गुरु को यथाविधि वन्दन-नमस्कार तो करते हैं। परन्तु गुरु के प्रति श्रद्धा-भाव नही रखते। अत उनका विनय या वन्दन केवल दिखावा मात्र होता है। परिणामस्वरूप वे अपनी ज्ञान-साधना मे सफल नही होते है। उनके हृदय मे श्रद्धा नही होने के कारण उनका मन साधना मे नही लगता है। इस तरह वे सयम से गिर जाते है और अपने दोषो को छिपाने के लिए महापुरुषो की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध करते है और जन्म-मरण के प्रवाह को बढाते है।

वे अज्ञानी व्यक्ति अपने आपको सबसे श्रेष्ठ समझते है। वे अपन आपको सबसे अधिक ज्ञानी, ईमानदार एव चरित्रवान समझते है। वे आचारनिष्ठ महापुरुषो की सदा आलोचना करते रहते है। उनके जीवन मे से दोषो का अन्वेषण करने मे ही सलग्न रहते हैं। सदा गुरुजनो पर व्यंग्य कसते है तथा शारीरिक इशारो के द्वारा उनका उपहास करते हैं। इस प्रकार महापुरुषो की निन्दा करके वे ससार मे परिभ्रमण करते रहते है।

अत साधक को ऐसे विचारकों का त्याग करके श्रद्धापूर्वक ज्ञान एवं क्रिया तथा आचार एव विचार की साधना करनी चाहिए। आचार एव विचार से संपन्न साधक ही आत्मा का विकास कर सकता है। ज्ञान से रहित केवल आचार का पालन करने वाले तथा क्रिया-काण्ड से शून्य केवल (मात्र) ज्ञान की साधना में सलग्न साधक यथार्थ रूप से आत्मा का विकास नही कर सकते है। ज्ञान और क्रिया की समन्वित साधना के अभाव मे साधक पतन की ओर भी लुढ़क सकता है और वह भगवदाज्ञा के विपरीत चलकर ससार को भी बढ़ा सकता है।

इसी बात को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरम्भट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समुणजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए, त्तिबेमि॥189॥

छाया—अधर्मार्थी त्वमेव नाम बालः आरम्भार्थी अनुवदन् जहि प्राणिनः घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि (समनुजानान्) घोरो धर्मः, उदीरितः उपेक्षते (णं) अनाज्ञया एषः विषण्णो वितर्दो व्याख्यात· इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सयम से पतित होते हुए साधक को गुरुदेव शिक्षा देते है। **नाम**—सम्भावनार्थ मे है। **तुमंसि**—हे शिष्य! तू। **अहम्मट्ठी**—अधर्मार्थी है। **बाले**—बाल—अज्ञानी है और। **आरभट्ठी**—आरम्भार्थी—आरम्भ करने वाला है। **अणुवयमाणे**—हिसक पुरुषो के वचनो का अनुसरण करने वाला होने से तू इस प्रकार कहता है। **हणपाणे**—प्राणियों का हनन करो। **घायमाणे**—दूसरों से हिसा करवाता है। **हणओ यावि**—हिसा करने वाले अन्य प्राणियों का। **समणुजाणमाणे**—अनुमोदन करता है—उन्हे भला जानता है, अतएव तू बाल है। **घोरे-धम्मे**—आश्रव का निरोधक होने से भगवान ने धर्म को घोर—महान्। **उदीरिए**—कथन किया है, तू उस धर्म की। **उवेहइ**—उपक्षा करता है। **णं**—वाक्यालंकार मे हे। **अणाणाए**—भगवद् आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन रहा हे। **एस**—इन पूर्वोक्त कारणो से तू बाल है, अत। **विसन्ने**—काम-भोगो मे आसक्त। **वियद्दे**—हिसक। **वियाहिए**—कहा गया है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—सयम से पतित होते हुए शिष्य के प्रति गुरु कहते हैं—हे शिष्य! तू अधर्मार्थी है, बाल है और आरम्भ में प्रवृत्त हो रहा है। हिंसक पुरुषों के वचनों का अनुसरण करके तू भी कहता है कि प्राणियों का अवहनन—घात करो और तू दूसरो से हनन करवाता है तथा हिंसा करने वालों को अच्छा भी समझता है, अत: तू बाल है। आश्रवों का निरोधक होने से ही भगवान ने धर्म को घोर—दुरनुचर कहा है। किन्तु, तू उस धर्म की उपेक्षा करता है। भगवान की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने से तू स्वेच्छाचारी बन गया है। इन पूर्वोक्त कारणो से तथा काम-भोगो मे आसक्त और संयम के प्रतिकूल आचरण करने के कारण तू हिंसक कहा गया है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

जब साधक साधनापथ से एक बार फिसलने लगता है, तो बीच मे उचित सहयोग न मिलने या मोहकर्म के उदय के कारण फिर वह फिसलता ही जाता है। उनका पतन यहा तक हो जाता है कि वह अन्य हिंसक प्राणियों की तरह आरम्भ-समारम्भ मे सलग्न रहने लगता है। अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए वह हिंसा, झूठ आदि दोषों का सेवन करने लगता है। वह विषय-कषाय मे आसक्त होकर धर्म से सर्वथा विमुख हो जाता है और इससे पाप कर्म का बन्ध करके ससार मे परिभ्रमण करता है।

शिष्य को जागृत करते हुए गुरु कहते है कि हे आर्य! तुझे संयमपथ से भ्रष्ट, अधर्मी व्यक्ति के दु:खद एवं अनिष्टकर परिणाम को जानकर सदा संयम साधना मे सलग्न रहना चाहिए। सयमपथ से भ्रष्ट व्यक्ति को अधर्मी, स्वेच्छाचारी, भगवान की आज्ञा से बाहर एव ससार मे परिभ्रमण करने वाला कहा गया है। अत: मुमुक्षु पुरुष को सदा शुद्ध सयम का परिपालन करना चाहिए।

गुरु द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्ठा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए-भवइ, से

समणो भवित्ता विब्भंते-विब्भंते पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्तिबेमि॥190॥

छाया—किमनेन भो। जनेन करिष्यामीति मन्यमानाः एवमेके उदित्वा मातर पितरं हित्वा ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणा· समुत्थाय अविहिंसाः सुव्रताः दान्ताः पश्य! दीनान् उत्पतितान् प्रतिपततः वशार्त्ताः कातराः जनाः लूषकाः भवन्ति अथ एकेषां श्लोको पापको भवति स श्रमणो भूत्वा विभ्रान्तो विभ्रान्तः पश्य एके समन्वागतै· सह असमन्वागतान् नममानैः अनममानान्, विरतैरविरतान् द्रव्यैरद्रव्यानभिसमेत्य पंडितः मेधावी निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा परिक्रामयेरिति ब्रवीमी।

पदार्थ—भो—आमन्त्रणार्थ मे है। **जणेण**—माता-पिता आदि से। **किमणेण**—मै क्या। **करिस्सामित्ति**—करूंगा, इस प्रकार। **मन्नमाणे**—मानता हुआ, ससार के स्वरूप को जानने वाले। **एगे**—कई एक। **वइत्ता**—यह कहकर। **मायर**—माता को। **पियरं**—पिता को। **हिच्चा**—छोडकर। **य**—और। **नायओ**—ज्ञातिजनो को। **परिग्गह**—परिग्रह को। **वीरायमाणा**—आत्मा को वीर की भांति मानते हुए। **समुट्ठाए**—सयमानुष्ठान मे सम्यक् प्रकार से सावधान होकर। **अविहिंसा**—दया के धारण करने वाले। **सुव्वया**—सुन्दर व्रतो का सेवन करने वाले। **दंता**—इन्द्रियों का दमन करने वाले है, हे शिष्य। इनको। **पस्स**—तू देख। जो कि पहले सिंह की भाति दीक्षा के लिए उद्यत होकर, फिर पतित हो जाते हैं। **दीणे**—उन दीनो को। **उप्पइए**—पतितो को। **पडिवयमाणे**—सयम से गिरते हुओ को वे, किस कारण से पतित हो जाते है? **वसट्टा**—वे इन्द्रियों के वशीभूत होने से आर्त हो रहे हैं। **कायरा**—परीषहोपसर्गादि के सहन करने मे कायर। **जणा**—जन। **लूसगा**—व्रतो के विध्वंसक हो जाते है, अब उसका फल दिखाते हुए कहते है। **अहमेगेसिं**—उनमें से कई एक की। **सिलोए**—श्लाघा रूप कीर्ति। **पावए भवइ**—पापरूप होती है, अर्थात् यश के स्थान मे अपयश हो जाता है। **से**—वह। **समणो**—श्रमण। **भवित्ता**—होकर। **विब्भंते**—विभ्रांत होकर श्रमण भाव से गिर जाते है। **पासह**—हे शिष्य तू देख। **एगे**—कई एक। **समन्नागएहिं**—

उद्यत विहारियों के। **सह**—साथ, बसते हुए भी। **असमन्नागए**—शिथिल विहारी हो जाते है, तथा। **नममाणेहिं**—सयमानुष्ठान मे विनयशील साधको के साथ रहते हुए भी। **अनममाणे**—नम्रता रहित—निर्दयता और सावद्यानुष्ठान का सेवन करने वाले हो जाते है। **विरएहिं**—विरतो—त्यागियों के साथ रहकर भी। **अविरए**—अविरत हो जाते है। **दविएहिं**—मुक्ति जाने योग्य साधकों के साथ रहते हुए भी। **अदविए**—मुक्ति गमन के अयोग्य हो जाते है, इस प्रकार के शिष्यो को। **अभिसमिच्चा**—जानकर। **पंडिए**—पंडित। **मेहावी**—बुद्धिमान—मर्यादाशील। **निट्ठियट्ठे**—विषय सुख से रहित। **वीरे**—वीर—कर्म-विदारण में समर्थ। **आगमेणं**—आगम के द्वारा साधना पथ को जानकर। **सया**—सदा। **परक्कमिज्जासि**—सयम मे पराक्रम करे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—सुधर्मा स्वामी कहते है कि हे जम्बू! कई पुरुष प्रथम संयममार्ग की आराधना मे सम्यक् प्रकार से उद्यत होकर पीछे से किस प्रकार उसका परित्याग करके प्राणियो के विनाश मे प्रवृत्त हो जाते है। वह इस प्रकार कहता है कि हे लोगो! मुझे इन सबन्धी जनो से क्या प्रयोजन है? ऐसा मानकर वह दीक्षित होता है, माता-पिता और सम्बन्धी जनो तथा अन्य प्रकार के परिग्रह को त्यागकर वीर पुरुष की भाति आचरण करते हुए सम्यक् प्रकार से सयमानुष्ठान मे प्रवृत्त होकर अहिसक वृत्ति से व्रतो का परिपालन करने और इन्द्रियो को दमन करने मे सदा सावधान रहता है। परन्तु, पीछे से किसी पाप के उदय होने पर दीक्षा को छोड़कर, सयम को त्यागकर वह दीनता को धारण कर लेता है। अपने त्यागे हुए विषय-भोगो को फिर से ग्रहण करने लगता है। गुरु कहते है कि हे शिष्य! तू ऐसे पतित पुरुषो को देख, जो कि इन्द्रियजन्य विषय और कषायो के वश मे होकर आर्त दुःखी बन गए है। वे परीषहों को सहन करने मे कायर होने से व्रतो के विध्वसक बन रहे है। वे श्रमण होकर तथा विरत त्यागी बनकर भी यश के स्थान मे अपयश को ही प्राप्त करते हैं। वे विनयशील साधको के साथ रहकर भी अविनयी, विरतो के सहवास मे रहकर भी अविरत, उद्यत विहारियों के साथ रहकर भी शिथिल विहारी बन जाते है एव मुक्ति गमन योग्य व्यक्तियो के साथ बसकर भी वे मुक्तिगमन के योग्य नही रहते है। अत. मेधावी—विचारशील व्यक्ति इनको अच्छी तरह समझ कर वीर पुरुष

की भांति विषय-सुखो से सर्वथा पराङ्मुख होकर आगम के अनुरूप क्रियानुष्ठान—साधना का पालन करने मे सदा सलग्न रहे। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे साधना की पूर्व एव उत्तर स्थिति का एक चित्र उपस्थित किया है। इसमे बताया गया है कि कुछ साधक त्याग-विराग पूर्वक घर का एवं विषय-भोगो का त्याग करने के लिए उद्यत होते है। परिजन उन्हे घर मे रोकने का प्रयत्न करते है। परन्तु, वे उनके प्रलोभनों मे नही आते और पारिवारिक बन्धन को तोडकर सयम स्वीकार कर लेते हैं और निष्ठापूर्वक सयम का पालन करते हैं। वे सयम मे किसी प्रकार का भी दोष नही लगाते है।

परन्तु, मोह कर्म के उदय से वे विषय-भोगो मे आसक्त होकर सयम का त्याग कर देते हैं। वर्षो की घोर तपश्चर्या को क्षणभर में धूल मे मिला देते हैं। सिह की तरह गर्जने वाले गीदड़ की तरह कायर बन जाते है। भोगो मे अति आसक्त रहने के कारण वे जल्दी ही मर जाते है। उनमे से कुछ जीवित भी रहते हैं, परन्तु पथभ्रष्ट हो जाने के कारण लोगों में उनका मान-सम्मान नहीं रहता है। जहा जाते हैं, वहा निन्दा एवं तिरस्कार ही पाते है। इस तरह वे वर्तमान एव भविष्य के या इस लोक एवं परलोक—दोनों लोको के जीवन को बिगाड़ लेते है।

अत- उनके दुष्परिणाम को देखकर साधक को सदा विषय-वासना से दूर रहना चाहिए। ज्ञान एव आचार की साधना मे सदा संलग्न रहना चाहिए। जो साधक सदा-सर्वदा विवेकपूर्वक सयम का परिपालन करता है और आचार-विचार को शुद्ध रखता है, वह अपनी आत्मा का विकास करता हुआ एक दिन निष्कर्म बन जाता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

षष्ठ अध्ययन : धुत

पञ्चम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे गौरव (रस, साता और ऋद्धि) के त्याग का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इन पर विजय पाने के लिए कष्टसहिष्णु होना आवश्यक है। परीषहों के उपस्थित होने पर भी जो समभाव पूर्वक अपने मार्ग पर बढ़ता रहता है, वही गौरवो का त्याग कर सकता है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में परीषहो पर विजय पाने का या शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि के कष्ट उपस्थित होने पर भी संयम में स्थिर रहने का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए, ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा॥191॥

छाया–सः गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा नगरेषु वा, नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा, जनपदान्तरेषु वा, ग्रामनगरान्तरे वा, ग्रामजनपदान्तरे वा, नगरजनपदान्तरे वा, सन्ति एके जनाः लूषकाः भवन्ति अथवा स्पर्शाः स्पृशन्ति तैः (तान्) स्पर्शान् स्पृष्टो वीरोऽधिसहेत् ओजः समितदर्शनः दयां लोकस्य ज्ञात्वा प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनमा चक्षीत विभजेत् कीर्तयेद्वेदवित् सः उत्थितेषु वा, अनुत्थितेषु वा, शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत् शान्ति, विरतिं,

उपशम, निर्वाणं, शौचं, आर्जवं, मार्दवं लाघवमनतिपत्य सर्वेषां प्राणिनां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां सत्वानां, सर्वेषां जीवानां अनुविचिन्त्य भिक्षु धर्ममाचक्षीत।

पदार्थ—से—वह भिक्षु आहारादि के लिए। **गिहेसु वा**—घरों में अथवा। **गिहंतरेसु वा**—गृहान्तरों मे अथवा। **गामेसु वा**—ग्रामों में अथवा। **गामंतरेसु वा**—ग्रामान्तरों मे अथवा। **नगरेसु वा**—नगरो मे अथवा। **नगरन्तरेसु वा**—नगरान्तरो में अथवा। **जणवयेसु वा**—जनपदों मे अथवा। **जणवयंतरेसु वा**—जनपदान्तरो में अथवा। **गामनयरंतरेसु वा**—ग्राम और अन्य नगरो मे अथवा। **गामजणवयन्तरेसु वा**—ग्रामो या जनपदों मे, अथवा। **नगरजणवयंतरेसु वा**—नगरो या जनपदों में। **संतेगण जणा**—बहुत-से जन विद्यमान हैं, जो। **लूसगा भवंति**—हिंसक होते है, अर्थात् उपद्रव करने वाले होते हैं। **अदुवा**—अथवा। **फासा**—तृणादि के स्पर्श से। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **ते**—उन। **फासे**—स्पर्शो को। **पुट्ठे**—स्पृष्ट होने पर। **वीरो**—वीर पुरुष। **अहियासए**—सहन करे। **ओए**—रागादि से रहित अकेला। **समियदंसणे**—समित्तदर्शी—सम्यग् दृष्टि। **दयं**—दया को। **जाणिता**—जानकर। **पाईणं**—पूर्व दिशा को। **पडीणं**—पश्चिम दिशा को। **दाहिणं**—दक्षिण दिशा को। **उदीणं**—उत्तर दिशा को, विचार कर। **लोगस्स**—लोक के ऊपर दया करता हुआ। **आइक्खे**—धर्म कथा को कहे। **विभए**—विभाग करे अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देखकर धर्म कथा कहे। **किट्टे**—और व्रतो के फल को कहे। **वेयवी**—आगमो का वेत्ता—जानकार। **से**—वह-आगमवित्।

उट्ठिएसु वा—जो धर्म श्रवण करने के लिए उद्यत हैं या संयम मे सावधान है उनको अथवा। **अणुट्ठिएसु वा**—जो श्रावकादि धर्म मे या सयम मे उपस्थित नहीं है तथा। **सुस्सूसमाणेसु**—जो धर्म सुनने के इच्छुक हैं, उनको। **पवेयए**—धर्म सुनाए, उन्हे कैसा धर्म सुनाए अब इसके सम्बन्ध में कहते हैं। **संतिं**—शान्ति-क्षमा। **विरइं**—विरति। **उवसमं**—उपशम—कषायो को उपशात करना। **निव्वाणं**—निर्वाण-निवृत्ति। **सोयं**--शौच—निर्दोष व्रताचरण। **अज्जवियं**—आर्जव—ऋजुता। **मद्दवियं**—मृदुता—मार्दव, मृदुभाव,। **लाघवियं**—लाघवता—लघुभाव। **अणइवत्तियं**—आगम का अतिक्रम न करके, अर्थात् आगम के अनुसार इनका कथन करे। **सव्वेसिं**—सर्व। **पाणाणं**—प्राणियो के प्रति। **सव्वेसिं**—सर्व। **भूयाण**—भूतो के प्रति, अर्थात् भव्य

प्राणियों के प्रति। **सव्वेसिं सत्ताणं**—सर्व सत्त्वो के प्रति। **सव्वेसिं जीवाण**—सर्व जीवो के प्रति। **भिक्खु**—भिक्षु—साधु। **अणुवीइ**—विचारकर, अपने और पर—दूसरे के लिए। **धम्ममाइक्खिज्जा**—धर्म कथा कहे।

मूलार्थ—गृहो में, गृहान्तरो मे, ग्रामों में, ग्रामान्तरो मे, नगरो में, नगरान्तरों मे, द्रेशो मे, देशान्तरो मे, ग्रामों और नगरान्तरों मे, ग्रामो और जनपदो मे, नगरों और जनपदान्तरो में बहुत-से लोग हिसक—उपद्रव करने वाले होते हैं। अत वह आगम का ज्ञाता भिक्षु—धीर पुरुष उनके द्वारा दिए गए दु.ख एवं कष्ट विशेष को तथा परीषहो के स्पर्श से स्पृष्ट हुए संवेदन को सहन करे और राग-द्वेष से रहित एकाकी होकर, समभाव पूर्वक केवल वीतराग भाव मे विचरण करता हुआ, प्राणिजगत पर दयाभाव लाकर, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सब दिशाओ मे धर्मकथा कहे, धर्म का विभाग करके समझाए। आगम का ज्ञाता मुनि सबको व्रतो का फल सुनाए। जो जीव सयम मे सावधान है—पुरुषार्थ कर रहे है, उनको तथा जो सयम मे पुरुषार्थ तो नही कर रहे है परन्तु धर्म सुनने की इच्छा रखते है, उनको भी धर्म कथा सुनाये। आगमो मे वर्णित क्षमा, विरति, उपशम, निवृत्ति, शौच, ऋजुता, मार्दव और लघुता आदि धर्म के लक्षणों को, वह विचार पूर्वक एव स्व-पर-कल्याण के लिए सर्व प्राणियो, सर्व भूतो, सर्व सत्त्वो और सर्व जीवो को सुनाए।

हिन्दी-विवेचन

ससार में विभिन्न प्रकृतियो के प्राणी है। क्योंकि सब प्राणियो के कर्म भिन्न है ओर कर्मो के अनुसार स्वभाव बनता-बिगड़ता है। कषाय के उदय भाव से जीवन में क्रोध, लोभ आदि की भावना उद्‌बुद्ध होती है और क्षायिक भाव के समय क्रोध आदि की प्रवृत्ति नही होती है। इससे स्पष्ट है कि अपने कृत कर्म के अनुसार प्राणी ससार मे प्रवृत्त होते है। कर्म सब प्राणियों के भिन्न है, इसलिए उनके स्वभाव एव कार्य में भी भिन्नता दिखाई देती है।

हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य दूसरो को परेशान करने एवं दुःख देने में आनन्द अनुभव करते हैं; यहां तक कि वे सन्त-पुरुषो को कष्ट पहुंचाने से भी नहीं चूकते। मुनियो को देखते ही उनके मन में द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठती है और

वे उन्हें पीड़ा पहुचाने का प्रयत्न करते हैं, उपाय सोचते हैं और अनेक तरह के कष्ट देते है। ऐसे समय में भी मुनि अपने स्वभाव का, अर्थात् समभाव की साधना का त्याग न करे। उन कठोर स्पर्शो एवं दु:खो से घबराकर उन पर मन से भी द्वेष न करे, उन्हें कटु वचन न कहे और न उन्हे अभिशाप ही दे, प्रत्युत शान्त भाव से उन्हे सहन करते हुए सयम का पालन करे। यदि उचित समझे तो उन्हें भी धर्म का, शान्ति का उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करे।

मुनि जीवन की उदारता एव विराट्ता को बताते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि मुनि सब जीवो पर दया भाव रखे। वह उपकारी एव अनुपकारी, जैन एवं अजैन, अमीर एव गरीब, धर्मनिष्ठ एवं पापी, ब्राह्मण एवं शूद्र आदि पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते हुए, सब जीवो का कल्याण करने की तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से सबको सन्मार्ग दिखाने का प्रयत्न करे। उसके इस उपदेश का क्षेत्र कोई शहर विशेष या स्थान विशेष नहीं, अपितु सूत्रकार की भाषा मे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि सभी दिशाएं-विदिशाए है। वह किसी स्थान विशेष का आग्रह न रखते हुए, जहा भी आवश्यकता अनुभव करता है, वही उपदेश की धारा बहाने लगता है। उसका उपदेश व्यक्ति विशेष एव जाति विशेष के लिए नही, अपितु मानव मात्र के लिए होना चाहिए। वह भी किसी जाति, धर्म, पंथ एव सम्प्रदाय विशेष का साधु नही, अपितु अपने हित के साथ मानव मात्र का, प्राणिजगत का हित साधने वाला साधु है[1]। अत वह सब को समभावपूर्वक अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और क्षमा, शान्ति, आर्जव आदि धर्मो का उपदेश देकर प्राणिजगत को कल्याण का मार्ग बताता है, सबको जीओ और जीने दो का मन्त्र सिखा कर सुख-शान्ति से रहना एव जीना सिखाता है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त प्राणी[2], भूत, जीव, सत्त्व का अर्थ है—दस प्राण धारण करने वाले सन्नी पचेन्द्रिय प्राणी, भव्य जीव। जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता है, वे भूत कहलाते है, संयमनिष्ठ जीवन जीने वाले जीव और तिर्यच, मनुष्य एव देव सत्त्व

1 स्वपर हित साध्यतीति साधु।

2 प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व शब्दो के अर्थ शीलाकाचार्य कृत वृत्ति के अनुसार किए गए है।
—आचाराङ्गवृत्ति, पृष्ठ, 256

कहे गए हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि साधु संसार के सभी प्राणियो की रक्षा एवं दया के लिए बिना भेद-भाव के सबको उपदेश दे।

यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा उपदेष्टा किसी पथ या सम्प्रदाय पर आक्षेप कर सकता है या नहीं? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा, नो परं आसाइज्जा, नो अन्नाइं पाणाइं, भूयाइं जीवाइं, सत्ताइं आसाइज्जा, से अणासायए, अणासायमाणे बज्झमाणाणं, पाणाणं, भूयाणं, जीवाणं, सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे तम्हा संगंति पासह गंथेहिं गढिया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा, जस्सिमे आरम्भा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवंति तेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च, माणं च मायं च, लोभं च एस तुट्टे वियाहिए त्तिबेमि॥192॥

छाया—अनुविचिन्त्य भिक्षुर्धर्ममाचक्षाणः नोआत्मानमाशातयेत् नो परमाशातयेत् नोअन्यान् प्राणिनः भूतान जीवान् सत्वानाशातयेत् सोऽनाशातकः अनाशातयन् वध्यमानानां प्राणिनां भूताना जीवानां सत्वानां यथा स द्वीपोऽसन्दीनः एवं स भवति शरण्यं महामुनिः, एव स उत्थितः स्थितात्मा, अस्निहः अचलः चलः अबहिर्लेश्यः परिव्रजेत् संख्याय पेशलं धर्म्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः तस्मात् संमितिपश्यन् ग्रन्थैर्ग्रथिताः नराः विषण्णाः कामक्रान्ताः तस्माद् रूक्षात् नो परिवित्रसेत् यस्येमे आरम्भाः सर्वतःसर्वात्मकतया सुपरिज्ञाताः भवन्ति येष्विमे लुषिणो न परिवित्रसन्ति, स वान्त्वा क्रोधञ्च, मानञ्च, मायाञ्च, लोभञ्च एष (त्रोटयति) त्रुटः व्याख्यात इति ब्रवीमि।

पदार्थ—भिक्खू—वह मुनि। **अणुवीइ**—विचार कर। **धम्ममाइक्खमाणे**—धर्म कथा करते हुए। **अत्ताणं**—आत्मा की। **नो आसाइज्जा**—आशातना न करे। **परं**—दूसरे—सुनने वाले की। **नो आसाइज्जा**—आशातना न करे। **अन्नइं**—अन्य।

पाणाइं—प्राणियो की। **भूयाइं**—भूतों की। **जीवाइं**—जीवों की। **सत्ताइं**—सत्वों की। **नो**—नही। **आसाइज्जा**—आशातना करे। **से**—वह भिक्षु। **अणासायए**—आशातना न करने वाला। **अणासायमाणे**—अन्य की आशातना न करता हुआ। **बज्झमाणाणं**—वध्यमान। **पाणायं**—प्राणियो को। **भूयाणं**—भूतों को। **जीवाणं**—जीवों को। **सत्ताणं**—सत्त्वो को। **से**—वह। **असंदीणे**—जिसमे पानी नही भरता है, अर्थात् जो जल से सुरक्षित है ऐसा विशाल। **दीवे**—द्वीप। **जहा**—जैसे होता है। **एयं**—इस प्रकार। **से**—वह। **महामुणी**—महामुनि। **सरणं भवइ**—ससार जीवों को शरण भूत होता है। **एवं**—इसी प्रकार से। **से**—वह शरण भूत मुनि। **उट्ठिए**—सयमानुष्ठान में उद्यत। **ठियप्पा**—ज्ञानादि मे स्थित। **अणिहे**—स्नेह से रहित। **अचले**--परीषहों से अचलायमान। **चले**—अप्रतिबन्ध होकर विचरने वाला। **अबहिल्लेसे**—जिसकी लेश्या अध्यवसाय सयम के बाहर नही है, ऐसा मुनि। **परिव्वए**—सयमानुष्ठान में चले। **दिट्ठिमं**—सम्यग दृष्टि। **धम्मं**—धर्म को। **संखाय**—अवधारण कर के। **पेसल**—मनोहर। **परिनिव्वुडे**—निवृत्त कषायो के क्षय या उपशम होने से शान्त हो जाता है। **इति**—इस हेतु से। **तम्हा**—इसलिये। **पासह**—कहे शिष्यो! तुम। **सगं**—संग के विपाक को देखो। **गथेहि**—बाह्याभ्यन्तर परिग्रहो से। **गढिया**—प्रतिबध। **विसन्ना**—परिपूर्ण व पुरुष। **कामक्कता**—विषय-विकारों से आक्रान्त हुए। **नरा**—मनुष्य निर्वाण को प्राप्त नही कर सकते। अतः उन्हे क्या करना चाहिए? **तम्हा**—इस लिए। **लूहाओ**—सयम से। **नो परिवितसिज्जा**—वे त्रास न पाए, सयम के कष्टो से भयभीत न होए? **जास्सिमे**—जिस मुनि के ये सग और। **आरभा**—आरम्भ। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सव्वप्पयाए**—सर्वात्म रूप से। **सुपरिन्नाया**—ज्ञ परिज्ञा से भली प्रकार जाने गए है और प्रत्याख्यान से त्यागे गए हैं। **भवंति**—वे ही निर्वाण को प्राप्त होते है। **तेसिमे**—जो जन आरंभ में आसक्त हैं। **लूसिणो**—हिंसा करने वाले है। **नो परिवित्तसंति**—पाप कर्म करते हुए त्रास नहीं पाते, अत.। **से**—वह मुनि। **कोह च**—क्रोध को और। **माणं च**—मान को और। **मायं च**—माया को और। **लोभ च**—लोभ को। **वता**—छोड़कर। **एस**—वह मोह रहित हो जाता है, तो वह। **तुट्टे**—भव भ्रमण से छूटा हुआ। **वियाहिए**—तीर्थकरों द्वारा कहा गया है। **तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—हे आर्य! तू विचार कर। धर्म कथा करते समय मुनि अपनी आत्मा तथा अन्य सुनने वाले श्रोताओ की आशातना—अवहेलना न करे और न प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों की ही आशातना करे। आशातना नही करने वाला मुनि आशातना न करता हुआ, दु:खो से पीडित प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वो का उस विशाल द्वीप की तरह आश्रयभूत होता है, जो समुद्र मे डूबते हुए एवं व्यथित प्राणियों को आश्रय देता है। इस तरह ज्ञानादि में स्थित, स्नेह—रागभाव से रहित सयम-निष्ठ मुनि परीषहो के समय अविचिलत एव अप्रतिबंध विहारी और सयमानुसार शुद्ध अध्यवसायो मे स्थित रहता हुआ सयम मे प्रवृत्ति करे। कषायो के क्षयोपशम से धर्म के यथार्थ रूप को जानकर ज्ञानसंपन्न मुनि शान्त भाव से आत्मचिन्तन में सलग्न रहता है। हे शिष्यो! तुम यह देखो कि जो व्यक्ति सासारिक पदार्थो मे एव काम-भोगों मे आसक्त हैं या काम-भोगों ने जिन्हे आक्रान्त बना रखा है, वे शान्ति नहीं पा सकते है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष, सयमानुष्ठान से भयभीत नही होते है। जो इन आरम्भादि से सुपरिज्ञात—सुपरिचित होते हैं, वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं। अत: वह भिक्षु क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करके इस संसार-सागर से पार हो सकता है। ऐसा तीर्थकर आदि महापुरुषो ने कहा है। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि उपदेश प्राणियो के हित के लिए दिया जाता है। अतः उपदेष्टा को सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि परिषद् किस विचार की है; उसका स्तर कैसा है। उसके स्तर एवं योग्यता को देखकर दिया गया उपदेश हित-प्रद हो सकता है। उससे उनका जीवन बदल सकता है। परन्तु, परिषद् की विचारस्थिति को समझे बिना दिया गया उपदेश वक्ता एव श्रोता दोनो के लिए हानिप्रद हो सकता है। यदि कोई बात श्रोताओ के मन को चुभ गई तो उनमें उत्तेजना फैल जाएगी और उत्तेजना के वश वे वक्ता को भी भला-बुरा कह सकते है या उस पर प्रहार भी कर सकते है। इस प्रकार बिना सोचे-समझे अविवेकपूर्वक दिया गया उपदेश दोनों के लिए अहितकर हो सकता है। अत. प्रस्तुत सूत्र मे यह कहा गया है कि मुनि को व्याख्यान में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे स्व एवं पर को संक्लेश पहुंचे।

इस प्रकार का विवेकशील, संयमनिष्ठ मुनि प्राणिमात्र का शरणभूत हो सकता है। जैसे समुद्र मे परिभ्रमित व्यक्ति के लिए द्वीप आश्रयदाता होता है, उसी तरह ज्ञान एव आचार सम्पन्न मुनि भी प्राणिमात्र के लिए आधारभूत होता है और प्राणिजगत की रक्षा करता हुआ विचरता है। इससे स्पष्ट हो गया कि मुनि किसी भी प्राणी को क्लेश पहुचाने का कोई कार्य न करे। अपने उपदेश में किसी पर आक्षेप न करे।

दूसरी बात यह है कि सयमशील साधक ही दूसरो का सहायक हो सकता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को संसार की परिस्थिति का परिज्ञान करके आरम्भ से निवृत्त रहना चाहिए। क्योंकि, आरम्भ-समारम्भ एव विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति कभी भी शान्ति को प्राप्त नही करता है। वह रात-दिन अशान्ति की आग मे जलता रहता है। इसलिए साधक को आरम्भ आदि से सदा दूर रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ, त्तिबेमि॥193॥

छाया–कायस्य व्याघातो एषः संग्रामशीर्षे व्याख्यातः स पारगामी मुनि अविहन्यमानः फलकवत् स्थायी (फलकवदवतिष्ठते) कालोपनीतः कांक्षेत् कालं यावत् शरीरभेदः इति ब्रवीमि।

पदार्थ–कायस्स–काया का। **वियाघाए**–विनाश। **एस**–यह। **सगामसीसे**–सग्राम का शीर्षरूप। **वियाहिए**–कहा गया है। हु–अवधारणार्थ मे है, जो मुनि। **अविहम्ममाणे**–परीषहो से पराभूत नहीं होता है। **फलगावयट्ठी**–शरीर पर प्रहार होने पर भी फलग की तरह स्थिर रहता है। **कालोवणीए**–काल–मृत्यु के निकट आने पर भी जो घबराता नही, बल्कि पादोगमन, इगितमरण और भक्तप्रत्याख्यान अनशन के द्वारा। **कालं कंखिज्जा**–काल की आकाक्षा करता है। **जावसरीरभेउ**–जब तक शरीर से आत्मा पृथक् नही होती है। **से**–वह। **मुणी**–मुनि। **पारंगमे**–संसार समुद्र से पार हो जाता है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ–जिस प्रकार वीर योद्धा संग्राम मे निर्भय होकर विजय को **प्राप्त**

करता है, उसी तरह मुनि भी मृत्यु के आने पर फलग की तरह स्थिरचित्त रहकर पादोगमन आदि अनशन (संथारा) करके, जब तक आत्मा शरीर से पृथक् न हो, तब तक मृत्यु की आकाक्षा करता हुआ चिन्तन-मनन में सलग्न रहे। ऐसा मुनि ससार से पार होता है। ऐसा मैं कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

संसारी जीवन में जन्म और मृत्यु दोनो का अनुभव होता है। यह ठीक है कि दुनिया के प्रायः सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरने की कोई आकाक्षा नही रखता। मृत्यु का नाम सुनते ही लोग कांप उठते है, उससे बचकर रहने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी मृत्यु का आगमन तो होता ही है। इस तरह सामान्य मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा जीवन को, जन्म को महत्त्वपूर्ण समझते है। परन्तु, महापुरुष एव ज्ञानी पुरुष मृत्यु को भी महत्त्वपूर्ण समझते है। वे भी बचने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मृत्यु से नही, जन्म से। क्योकि जन्म कर्मजन्य है और मृत्यु कर्मक्षय का प्रतीक है। आयुकर्म का बन्ध होने पर जन्म होता है और उसका क्षय होना मृत्यु है। अतः ज्ञान-सपन्न मुनि आयुकर्म का क्षय करने का प्रयत्न तो करता है, परन्तु उसके बाधने का प्रयास नहीं करता है। वह सदा कर्मबन्ध से बचना चाहता है। क्योंकि, यदि कर्म का बन्ध नही होगा तो फिर पूर्व कर्म के क्षय के साथ पुनर्जन्म रुक जाएगा और जन्म के साथ फिर मृत्यु का अन्त तो स्वत ही हो जाएगा। जब कर्म ही नही रहेगा तो फिर उस के क्षय का तो प्रश्न ही नही उठेगा। इस प्रकार जन्म से बचने का अर्थ है—जन्म-मरण के प्रवाह से मुक्त होना। इसलिए मुनि मृत्यु से भय नहीं खाते। वे मृत्यु को अभिशाप नहीं, अपितु वरदान समझते है। अत पण्डितमरण के द्वारा उसे सफल बनाने मे या यो कहिए अपने साध्य को सिद्ध करने मे सदा सलग्न रहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया है कि जैसे योद्धा युद्ध क्षेत्र में मृत्यु को सामने देखकर भी घबराते नही, उसी तरह कर्मो एव मनोविकारों के साथ युद्ध करने में सलग्न साधक भी मृत्यु से भय नही खाता है। यदि कोई उस पर प्रहार भी कर दे, तब भी वह विचलित नहीं होता, घातक के प्रति मन मे भी द्वेष भाव नहीं लाता है। उस समय भी वह शान्त मन से आत्मचिन्तन मे सलग्न रहता है। इसी तरह मृत्यु के निकट आने पर भी वह घबराता नहीं और न उससे बचने का ही कोई प्रयत्न करता

है। वह महान् पुरुष उसके स्वागत के लिए संलेखना आरम्भ कर देता है। वह यह साधना 12 वर्ष पूर्व प्रारम्भ कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है[1]।

इस प्रकार साधक सलेखना के द्वारा कर्मो की निर्जरा करता हुआ अपने आपको पंडितमरण प्राप्त करने के लिए तैयार कर लेता है और मृत्यु के समय बिना किसी घबराहट के वह पादोगमन, इगितमरण या भक्तप्रत्याख्यान किसी भी संथारे—आमरण अनशन को स्वीकार करके आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहता है और जब तक आत्मा शरीर से पृथक् नही हो जाती, तब तक शान्त भाव से साधना में या यो कहिए कर्मो को क्षय करने मे प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार मृत्यु से परास्त नही होने वाला साधक मृत्यु के मूल कारण जन्म या कर्मबन्ध को समाप्त करके जन्म-मरण पर विजय पा लेता है। यह हम पहले ही बता चुके है कि जन्म का ही दूसरा नाम मृत्यु है। जन्म के दूसरे क्षण से ही मरण आरम्भ हो जाता है। अतः मृत्यु जन्म के साथ सबद्ध है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जन्म का अन्त होते ही मृत्यु का भी अन्त हो जाता है। अत साधक मृत्यु का अन्त नही करता, अपितु पण्डितमरण के द्वारा जन्म का या जन्म के मूल कारण कर्म का उन्मूलन कर देता है और यही उसकी सबसे वड़ी विजय है। अत साधक को निर्भय एव निर्द्वन्द्व भाव से पण्डित-मरण को स्वीकार करके निष्कर्म बनने का प्रयत्न करना चाहिए। पण्डितमरण को प्राप्त करके सारे कर्मो से मुक्त होना ही उसकी साधना का उद्देश्य है। अतः मुमुक्षु पुरुष को मृत्यु से घबराना नही चाहिए।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

॥ षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

1 विशेष विवरण के लिए मेरे द्वारा लिखित उत्तराध्ययन सूत्र भाग 3, अध्ययन 36 गाथा 251-268 की व्याख्या देखे।

सप्तम अध्ययन : महापरिज्ञा

स्पष्टीकरण

षष्ठ अध्ययन मे कर्मो की निर्जरा के सबन्ध मे उल्लेख किया गया है। कर्मो की निर्जरा मोह एवं मोहजन्य साधनो से निवृत्त होने पर होती है। अत प्रस्तुत अध्ययन में विभिन्न मोहजन्य उपसर्ग एवं परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने की विधि बताई गई थी। मुमुक्षु पुरुष के लिए आदेश दिया गया था कि मोहजन्य स्थिति के उपस्थित होने पर या विषयेच्छा जागने पर वह किसी चमत्कार एव यंत्र-मंत्र का प्रयोग करके मोह के प्रवाह में न बहे, अपितु उन परीषहों पर विजय प्राप्त करे। वह समस्त चमत्कारो एवं यंत्र-तत्र से निर्लिप्त रहकर सदा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहे।

महापरिज्ञा शब्द का भी यही अर्थ है कि महा—विशिष्ट ज्ञान के द्वारा मोहजन्य दोषों को जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करना। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि साधक मोहजन्य समस्त साधनो एवं आकाक्षाओ से मिलने वाले दु:खद परिणामो को जानकर उनका परित्याग करके केवल कर्मो की निर्जरा करने के लिए तप, सयम, स्वाध्याय एव आत्मचिन्तन में ही व्यस्त रहे।

परन्तु, सभी साधको का मानसिक स्तर एक जैसा दृढ नही होता है। आज ही नही, भगवान महावीर के समय एव उसके पहले के साधको की मानसिक धारा भी एक जैसी नही थी। सभी साधक गजसुकमाल की तरह कष्टसहिष्णु एव स्थूलीभद्र की तरह मोह एव कामविजेता नहीं थे। उनमें कुछ साधक कुण्डरीक एव अरणक मुनि जैसे भी थे, जो मोह के प्रबल झोको से गिर भी सकते थे और योग्य निमित्त मिलने पर फिर से सजग भी हो जाते थे। इस से भगवान महावीर के बाद की स्थिति सहज ही समझ में आ जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि साधु-साध्वियों के वैचारिक स्तर में विषमता-भिन्नता रहती है। कुछ साधक दृढ मनोबल वाले होते है, तो कुछ साधक निर्बल चिन्तन वाले भी होते हैं।

इन सब साधकों की मानसिक स्थिति को सामने रखकर सर्वसाधारण साधको को इस अध्ययन के स्वाध्याय करने की आज्ञा नहीं दी गई थी। चूर्णिकार ने लिखा है कि बिना आज्ञा या अधिकार के महापरिज्ञा अध्ययन पढा नहीं जाता था[1]। अधिकारी व्यक्ति, अर्थात् गीतार्थ–श्रुतसपन्न मुनि ही इसका स्वाध्याय कर सकता था।

आचार्य शीलाक ने भी लिखा है कि महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन विच्छिन्न हो गया है। उसकी निर्युक्ति भी नहीं मिलती है। जबकि निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के विषय मे अध्ययन के प्रारम्भ मे लिखा है–"प्रस्तुत अध्ययन मे मोहकर्म के कारण होने वाले विभिन्न परीषह एवं उपसर्गो का वर्णन था[2]।"

इन सब विवरणों से यह ज्ञात होता है कि प्रस्तुत अध्ययन में अनेक मोहजन्य परीषहों एवं चमत्कारों का वर्णन था। मोहजन्य अनेक दोषों का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में था। अत· इससे सामान्य साधकों के जीवन में शिथिलता आ जाने की सभावना थी और उनके द्वारा उक्त अध्ययन मे वर्णित चमत्कारो का दुरुपयोग भी हो सकता था। इसी दृष्टि को सामने रखकर सर्वसाधारण के लिए उसके पढ़ने का निषेध किया गया था। इस कारण उसका पठन-पाठन कम हो गया और बाद मे वह विलुप्त हो गया हो।

यह भी कहा जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में चमत्कारो का अधिक उल्लेख होने के कारण उसका दुरुपयोग न किया जाए, इस दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने प्रस्तुत अध्ययन को आचाराग से पृथक् कर दिया। कुछ भी कारण रहे हों, इतना तो स्पष्ट है कि साधना में दोष उत्पन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र का दुरुपयोग न हो, इसलिए उसके पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाया गया और परिणामस्वरूप वह अध्ययन आज हमारे सामने नही रहा। कुछ भी हो, प्रस्तुत अध्ययन का न रहना बहुत बड़ी कमी है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है?

॥ सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

---

1 महापरिण्णा पढिज्जइ असमणुण्णाया। —आचाराग चूर्णि

2. मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा । —आचाराग निर्युक्ति

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

प्रथम उद्देशक

सप्तम अध्ययन मे मोहजन्य परीषहो पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। चूँकि मोहजन्य परीषहों का विजेता ही संयम का भली-भांति परिपालन कर सकता है, वह आचार को शुद्ध रख सकता है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में आचार एवं त्यागनिष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सेबेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुञ्छणं वा, नो पादेज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे, त्तिबेमि॥194॥

छाया—सोऽहं ब्रवीमि समनोज्ञस्य वा, असमनोज्ञस्य वा, अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रहं-पात्रं वा, कम्बलं वा, पादपुञ्छनं वा, नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयेत्, नो कुर्यात् वैयावृत्यं परमादरियमानः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—सेबेमि—हे आर्य! मैं तुम्हें कहता हू कि। **समणुन्नस्स वा**—जो दृष्टि और लिंग से सुन्दर है, परन्तु चारित्र पालन मे जो निकृष्ट है उसको, अथवा। **असमणुन्नस**—उससे भिन्न शाक्यादि को। **वा**—का अर्थ उत्तरोत्तर अपेक्षा है। **असणं**—अशन—चावल, रोटी आदि खाद्य पदार्थ। **पाण वा**—द्राक्षादि का पानी। **खाइमं वा**—बादाम-किसमिस एवं फलादि। **साइमं वा**—स्वादिम—लवंगादि स्वादिष्ट पदार्थ। **वत्थं वा**—वस्त्रादि। **पडिग्गहं वा**—पात्रादि। **कंबलं वा**—कम्बलादि। **पायपुञ्छणं वा**—रजोहरणादि। **परं आढायमाणे**—अत्यधिक आदर पूर्वक। **नोपादेज्जा**—न देवे। **नो निमंतिज्जा**—न निमत्रित—मनुहार करे। **नो कुज्जावेयावडियं**—न उनकी वैयावृत्य—सेवा शुश्रूषा करे। **तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूँ।

मूलार्थ—हे आर्य! पार्श्वस्थ मुनि या शिथिलाचारी जैन साधु के वेश में स्थित चारित्र से हीन, साधु या जैनेतर भिक्षुओ की विशेष आदरपूर्वक अन्न-पानी। खादिम—मिष्टान्नादि एवं स्वादिम—लवंगादि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि न देवे, न निमन्त्रित करे और न उनकी वैयावृत्त्य ही करे। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि साधु को किसके साथ सम्बन्ध रखना चाहिए। सम्बन्ध हमेशा अपने समान आचार-विचार वाले व्यक्ति के साथ रखा जाता हे। इसी बात को यहा समनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दो से अभिव्यक्त किया गया है। दर्शन एव चारित्र से सपन्न साधु समनोज्ञ कहलाता है और इनसे रहित अमनोज्ञ। अत साधु को दर्शन एव चारित्र सपन्न मुनियो के साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना चाहिए, अन्य के साथ नही। इसके अतिरिक्त जो साधु दर्शन से सम्पन्न है और जैन मुनि के वेश में है, परन्तु चारित्र सम्पन्न नही है—शिथिलाचारी है या केवल वेश सम्पन्न है, परन्तु दर्शन एव चारित्र निष्ठ नही है और जो साधु दर्शन, चारित्र एव वेश से सम्पन्न नही है, अर्थात् जैनेतर सम्प्रदाय का भिक्षु है, तो उन्हें विशेष आदर सत्कार के साथ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ नही देना चाहिए और न उनकी वैयावृत्य—सेवा ही करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि विश्वबन्धुत्व का भाव रखने वाले जैन दर्शन मे इतनी सकीर्णता क्यो? इसका समाधान यह है कि साधक का जीवन रत्नत्रय की विशुद्ध आराधना करने के लिए है। अत उसे ऐसे साधको के साथ ही सम्बन्ध रखना चाहिए, जो उसके स्तर के है। क्योंकि, उनके सपर्क एव सहयोग से उसे अपनी साधना को आगे बढ़ाने मे बल मिलेगा। परन्तु विपरीत दृष्टि रखने वाले एव चारित्र से हीन व्यक्ति की सगति करने से उसके जीवन पर बुरा प्रभाव पड सकता है। पहले तो उसका अमूल्य समय—जो स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन मे लगना चाहिए, वह इधर-उधर की बातो मे नष्ट होगा। उसकी ज्ञानसाधना में विघ्न पड़ेगा और दूसरे, बार-बार आचार एव विचार के सम्बन्ध मे विभिन्न तरह की विचारधाराएं सामने आने से उसका मन लड़खड़ाने लगेगा और परिणामस्वरूप उसके आचार एव विचार में भी शिथिलता आने लगेगी। अत: साधक को शिथिलाचार वाले स्वलिगी एवं दर्शन

एवं आचार से रहित अन्य लिंगी साधुओ से विशेष सम्पर्क नही रखना चाहिए। उन्हे आदरपूर्वक आहार आदि भी नही देना चाहिए।

इसमे एक दृष्टि यह भी है कि जैसे शिथिलाचारी साधु दर्शन एवं वेश से मनोज्ञ और चारित्र से अमनोज्ञ है, उसी प्रकार श्रावक भी सम्यग् दृष्टि—दर्शन से समनोज्ञ और चारित्र एवं वेश से अमनोज्ञ होते है और शाक्य, शैव आदि अन्य साधु-सन्यासी दर्शन, चारित्र एव वेश से अमनोज्ञ है। अत साधु किसके साथ आहरादि का सम्बन्ध रखे और किससे न रखे, यह बडी कठिनता है। सम्यग् दृष्टि से लेकर शिथिलाचारी तक मनोज्ञता एव अमनोज्ञता दोनो ही है। यदि शिथिलाचारी के साथ आहार आदि का संबन्ध रखा जा सकता है, तो दर्शन से समनोज्ञ श्रावक के साथ सबन्ध क्यो न रखा जाए? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। परन्तु, सबके साथ संबध रखने पर वह अपनी साधना का भली-भांति परिपालन नहीं कर सकेगा। अतः उसके लिए यही उचित है कि ज्ञान, दर्शन एव चारित्र से मनोज्ञ—संपन्न साधु के साथ ही अपना सम्बन्ध रखे, अन्य के साथ नही।

जब उसका सम्बन्ध रत्नत्रय से सम्पन्न साधुओं के साथ ही है, तो वह प्रत्येक आवश्यक वस्तु अपने एव अपने से सम्बद्ध साधको के लिए ही लाएगा और देने वाला दाता भी उनके उपयोग के लिए ही देगा। अत उसे अपने एव अपने साथियों के लिए लाए हुए आहार-पानी आदि पदार्थो को अपने से असम्बद्ध व्यक्तियों को देने का कोई अधिकार नहीं रह जाता है। प्रथम तो उसे उक्त पदार्थ अन्य असम्बद्ध साधु को देने के लिए गृहस्थ की आज्ञा न होने से चोरी लगती है, उसके तीसरे महाव्रत मे दोष लगता है और दूसग दोष यह आएगा कि उनसे अधिक सपर्क एव परिचय होने से उसके विशुद्ध दर्शन एवं चारित्र मे शिथिलता आ सकती है। इसलिए साधक को अपने से असम्बद्ध स्वलिगी एव परलिगी किस भी साधु को विशेष आदर-सत्कार पूर्वक आहार-पानी आदि नही देना चाहिए। यह उत्सर्ग सूत्र है, अपवाद मे कभी विशेष परिस्थिति मे आहारादि दिया भी जा सकता है[1]। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे आहारादि देने का सर्वथा निषेध न करके आदर-सम्मान पूर्वक देने का निषेध किया गया है।

इससे स्पष्ट हो गया कि इस निषेध के पीछे कोई दुर्भावना, सकीर्णता एवं

1 इसके विशेष विवरण द्वितीय श्रुतस्कध मे देखे।

तिरस्कार की भावना नही है। केवल सयम की सुरक्षा एवं आचार-शुद्धि के लिए साधक को यह आदेश दिया गया है कि वह रत्नत्रय से सम्पन्न मुनि के साथ ही आहार-पानी आदि का सम्बन्ध रखे और उसकी ही सेवा-शुश्रूषा करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुञ्छणं वा लभिया, नो लभिया, भुंजिया, नो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे, समेमाणे, चलेमाणे, पाइज्जा वा, निमंतिज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं, परं अणाढायमाणे त्तिबेमि॥195॥

छाया–ध्रुवं चैतज्जानीयात्, अशनं वा यावत् पादप्रोञ्छनं वा लब्ध्वा, नो लब्ध्वा, भुक्त्वा, नो भुक्त्वा, पंथानं व्यावर्त्य व्युत्क्रम्य विभक्तं धर्म जुषन् समागच्छन् चलनः (गच्छन्) प्रदद्याद्वा वा निमन्त्रयोद्वा कुयद् वैयावृत्यं परमनाद्रियमाणः इति ब्रवीमि।

पदार्थ–बौद्धादि भिक्षु–जैन भिक्षु के प्रति कहते है कि हे भिक्षु! **धुवं**–ध्रुव निश्चय। **च**–पुनः। **इयं**–यह। **जाणिज्जा**–जान। **असणं**–अशन-अन्न अथवा। **जाव**–यावत्। **पायपुञ्छणं**–पादपुछन–रजोहरण आदि। **वा**–परस्पर अपेक्षार्थक है। **लभिया**–प्राप्त कर के। **नोलभिया**–प्राप्त नहीं करके। **भुंजिया**–भोगकर–खाकर। **न भुंजिया**–बिना खाए ही। **पथं विउता**–मार्ग का उपक्रम या। **विउक्कम्म**–व्युत्क्रम करके भी हमारे मठ मे आ जाना। **विमत्तंधम्म**–भिन्न धर्म को। **जोसेमाणे**–सेवन करता हुआ। **समेमाणे**–उपाश्रय में आकर कहता हो या। **चलेमाणे**–चलते हुए के प्रति कहता हो या। **पाइज्जा**–अन्न आदि देता हो। **वा**–अथवा। **निमंतिज्जा**–निमत्रण करे। **वेयावडियं कुज्जा**–वैयावृत्य करे। **परंअणाढायमाणे**–मुनि को अत्यन्त अनादरवान–अनादर युक्त होकर रहना चाहिए। यह दर्शन-शुद्धि का उपाय है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मे कहता हू।

मूलार्थ–यदि किसी जैन भिक्षु को कोई बौद्धादि भिक्षु ऐसा कहे कि तुम्हें निश्चित रूप से हमारे मठ मे सब प्रकार के अन्नादि पदार्थ मिल सकते है। अतः हे भिक्षु! तू अन्न-पानी आदि को प्राप्त करके या इन्हे बिना प्राप्त किए, उन्हें खाकर

या बिना खाए ही तुमको हमारे मठ में अवश्य आना चाहिए। भले ही तुम्हे वक्रमार्ग से ही क्यों न आना पडे, आना अवश्य। यदि विभिन्न धर्म वाला साधु, उपाश्रय मे आकर या मार्ग मे चलते हुए को इस प्रकार कहता हो या आदरपूर्वक अन्नादि का निमन्त्रण देता हो या सम्मानपूर्वक अन्नादि पदार्थ देना चाहता हो और वैयावृत्य– सेवा-शूश्रुषा आदि करने की अभिलाषा रखता हो, तो ऐसी स्थिति मे संयमशील मुनि को उसके वचनों का विशेष आदर नहीं करना चाहिए, अर्थात् उसके उक्त प्रस्ताव को किसी भी तरह स्वीकार नही करना चाहिए। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में अपने से असंबद्ध अन्य मत के भिक्षुओं को आहार-पानी आदि देने का निषेध किया था। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को आगे बढाते हुए कहा गया है कि यदि कोई बौद्ध या अन्य किसी मत का साधु आकर कहे कि हे मुनि! तुम हमारे विहार मे चलो। वहा तुम्हे भोजन आदि की सब सुविधा मिलेगी। यदि तुम्हें हमारे यहा का भोजन नहीं करना हो तो तुम भोजन करके आ जाना। भले ही तुम भोजन करके आओ या भूखे ही आओ, जैसे तुम्हारी इच्छा हो, परन्तु हमारे यहां आना अवश्य। इस तरह के वचनों को मुनि आदरपूर्वक श्रवण न करे। इसका तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न प्रलोभनो के द्वारा परिचय बढाकर उसे अपने मत मे मिलाने का प्रयत्न करते है। इसलिए उनके सपर्क से मुनि के आचार एव विचार मे गिरावट आ सकती है, वह साधनापथ से भ्रष्ट हो सकता है। अत. उसे उनसे घनिष्ठ परिचय नही बढाना चाहिए और न उनके सपर्क मे अधिक आना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र सामान्य रूप से है। श्रुत एव आचार सम्पन्न विशिष्ट साधक अन्य मत के भिक्षुओ के साथ विचार-चर्चा कर सकता है। क्योकि, उसमे अपनी साधना मे दृढ रहते हुए अन्य व्यक्ति को सत्य मार्ग बताने की योग्यता है। वह उन्हे भी सही मार्ग पर ला सकता है। अत विशिष्ट साधक के लिए प्रतिबन्ध नही है। परन्तु सामान्य साधक मे अभी इतनी योग्यता नही है कि वह उन्हे सही मार्ग पर ला सके। अत: उनके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने से सबद्ध मुनियो के अतिरिक्त अन्य के साथ संपर्क न बढावे, न उनका आदर-सम्मान करे एव न उनके स्थान पर ही आए-जाए। वह न उनकी सेवा करे और न उनसे सेवा-शुश्रूषा करावे।

अन्य मत के विचारको की विचारधारा कैसी है, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरम्भट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणु-जाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा अत्थि लोए, नत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडेत्ति वा, दुक्कडेत्ति वा, कल्लाणेत्ति वा, पावेत्ति वा, साहुत्ति वा, असाहुत्ति वा, सिद्धित्ति वा, असिद्धित्ति वा, निरएत्ति वा, अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे, नो सुपन्नत्ते धम्मे भवइ॥196॥

छाया–इहैकेषामाचारगोचरो नो निशान्तो भवति ते इह आरंभार्थिनो भवन्ति, अनुवदन्तः जहि प्राणिनः घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः अथवा अदत्तमाददति (गृह्णन्ति) अथवा वाचो वियुञ्जन्ति, तद्यथा-अस्ति लोकः, नास्ति लोकः, ध्रुवो लोकः, अध्रुवो लोकः सादिको लोकः, अनादिको लोकः, सपर्यवसितो लोकः, अपर्यवसितो लोकः, सुकृतमिति वा, दुष्कृतमिति वा कल्याणमिति वा, पापमिति वा, साधुरिति वा, असाधुरिति वा, सिद्धिरिति वा, असिद्धिरिति वा, नरक इति वा, अनरक इति वा, यदिदं विप्रतिपन्नाः मामकं धर्म प्रज्ञापयन्त अत्रापि जानीत अकस्मादेव तेषां न स्वाख्यातो धर्मो नो सुप्रज्ञापितो धर्मो भवति।

पदार्थ–**इह**–इस मनुष्य लोक मे। **एगेसिं**–किसी किसी को–जिनके पूर्वकृत अशुभ कर्म उदय मे आ रहे हैं। **आयारगोयरे**–आचार विषयक–जो मोक्ष मार्ग की साधना के विषय मे। **नो सुनिसंते**–भली-भांति से परिचित नही। **भवति**–होते है। **ते**–वे आचार-विचार से अपरिचित व्यक्ति। **इह**–इस लोक मे। **आरम्भट्ठी**–आरम्भ करने वाले हो जाते है। **अणुवयमाण**–फिर वे उन शाक्यादि अन्य मत के भिक्षुओं की तरह बोलने लग जाते है कि। **हणपाणे**–तुम प्राणियो का अवहनन–नाश करो। **घायमाणा**–वे अन्य व्यक्तियो से घात कराते हुए। **हणओ यावि**–और हनन करने वाले प्राणियों का। **समणुजाणमाणा**–अनुमोदन–समर्थन करता है। **अदुवा**–अथवा।

अदिन्नमाययंति—वे अदत्तादान ग्रहण करते हैं, इस प्रकार पहले तीसरे महाव्रत के संबंध मे कहकर अब सूत्रकार दूसरे व्रत के विषय में भी कुछ बातें कहते है। **अदुवा**—अथवा। **वायाउ विउज्जंति**—वे विविध प्रकार के वचन बोलते हैं। **तंजहा**—जैसे कि। **अत्थि लोए**—एक कहता है कि लोक है, तो दूसरा कहता है कि। **नत्थि लोए**—लोक नही है, एक कहता हैं कि। **धुवेलोए**—लोक ध्रुव है, तो दूसरा कहता है कि। **अधुवे लोए**—लोक अध्रुव है। **साइए लोए**—एक कहता है कि लोक सादि है, तो दूसरा कहता कि। **अणाइए लोए**—लोक अनादि है, एक कहता है कि। **सपज्जवसिए लोए**—लोक सपर्यवसित अर्थात् सान्त है, तो दूसरा कहता है कि। **अपज्जवसिए लोए**—लोक अनन्त है। **सुकडेति वा**—एक कहता है कि इसने दीक्षा ले कर अच्छा किया, तो दूसरा कहता है कि। **दुक्कडति वा**—इसने बुरा कार्य किया, अर्थात् इसने जो दीक्षा ग्रहण की है यह बुरा कार्य है। **कल्लाणेत्ति वा**—एक कहता है कि यह कल्याणकारी काम है, तो दूसरा कहता है कि। **पावेत्ति वा**—यह दीक्षा लेना पाप कार्य है। **साहुत्ति वा**—एक कहता है यह साधु है, तो दूसरा कहता है कि। **असाहुत्ति वा**—यह असाधु है। **सिद्धित्ति वा**—एक कहता है सिद्धि है, तो दूसरा कहता है कि। **असिद्धित्ति वा**—सिद्धि नही है, एक कहता है कि यह। **निरएत्ति वा**—नरक है, तो दूसरा कहता है कि यह। **अनिरएत्ति वा**—नरक नही है। इस प्रकार अन्य मत वाले भिक्षु विभिन्न विचार प्रकट करते हुए अपने-अपने आग्रह मे फंसे हुए है, अब सूत्रकार यह बताते है कि। **जमिणं**—जो यह। **विप्पडिवन्ना**—नाना प्रकार के आग्रहो से युक्त। **मामगं धम्मं**— स्वकीय—अपने-अपने धर्म का। **पन्नवेमाणा**—प्ररूपण करते हुए और स्वधर्म से ही मोक्ष मानते हुए अन्य भव्य जीवो को मिथ्यामार्ग मे आरूढ करने का यत्न करते है, अत सूत्रकार कहते हैं कि हे शिष्यो! **जाणह**—तुम इसे जानो। **इत्थवि**—यहां पर भी लोकादि विषयक। **अकस्मात**—बिना हेतु के एकान्त पक्ष का ग्रहण करने से। **एवं**—इस प्रकार। **तेसिं**—उन वादियों का कथन। **नो सुयक्खाए धम्मे**—युक्ति संगत धर्म नहीं है और। **नो सुपन्नत्ते धम्मे**—यह धर्म भली-भांति प्रतिपादन किया हुआ भी नही। **भवइ**—है।

मूलार्थ—इस ससार मे कुछ व्यक्तियों को आचार-विषयक सम्यग् बोध नहीं होता है। अतः कुछ अज्ञात भिक्षु इस लोक मे आरम्भार्थ प्रवृत्त हो जाते है। वे अन्य धर्मावलम्बियों के कथनानुसार स्वयं भी जीवो के वध की आज्ञा देते हैं, दूसरो से

वध करवाते है और वध करने वालों का अनुमोदन भी करते है। वे अदत्तादान का ग्रहण करते हैं और अनेक तरह के विरुद्ध वचनो के द्वारा एकात पक्ष की स्थापना करते हैं। जैसे कि कुछ व्यक्ति कहते है कि लोक है, तो कुछ कहते हैं कि लोक नहीं है। कोई कहता है कि यह लोक ध्रुव–शाश्वत है, तो कोई कहता है कि यह लोक अध्रुव–अशाश्वत है। कोई कहता है कि लोक सादि है, तो कोई कहता है कि लोक अनादि है। कोई कहता है कि लोक सान्त है, तो कोई कहता है कि लोक अनन्त है। कोई कहता है कि इसने दीक्षा ली यह अच्छा काम किया, तो कोई कहता है कि इसने यह अच्छा नही किया है। कोई कहता है, धर्म कल्याण रूप है तो कोई कहता है कि यह पाप रूप है। कोई कहता है कि यह साधु है, तो कोई कहता है कि यह असाधु है। कोई कहता है कि सिद्धि है, तो कोई कहता है कि सिद्धि का अस्तित्व ही नहीं है। कोई कहता है कि नरक है, तो कोई कहता है नरक का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार ये विभिन्न विचारक एकान्तत अपने-अपने मत की स्थापना करते हैं। ये अन्य धर्मावलम्बी विविध प्रकार के विरुद्ध वचनों से धर्म की प्ररूपणा करते है। अत भगवान कहते हैं कि हे शिष्यो! इन विभिन्न धर्मावलम्बियो के द्वारा कथित धर्म का स्वरूप अहेतुक होने से प्रामाणिक नही है और उनमे एकांत पक्ष का अवलम्बन होने से वह यथार्थ भी नहीं है। अत· तुम्हे यह समझना चाहिए कि वह आदरणीय भी नहीं है।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे अपने से असम्बद्ध अन्य मत के भिक्षुओं के साथ परिचय बढाने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि वे धर्म से परिचित नहीं है। उनका आचार-विचार साधुत्व के योग्य नहीं है। वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषो से मुक्त नही हुए है। वे स्वय हिसा आदि दोषो का सेवन करते हैं, अन्य व्यक्तियो से दोषों का सेवन करवाते हैं और दोषो का सेवन करने वाले व्यक्तियो का समर्थन भी करते हैं। इसी तरह वे भोजनादि स्वय बना लेते है या अपने लिए बनवा लेते है। इसी प्रकार वे अग्नि, पानी आदि का आरम्भ-समारम्भ भी करते-करवाते है। वे किसी भी प्रकार के दोष से निवृत्त नही हुए है।

दूसरे उन्हे तत्त्व का भी बोध नहीं है। वे लोक है, लोक नहीं है, लोक ध्रुव है,

लोक अध्रुव है, लोक सादि है, लोक अनादि है, लोक सपर्यवसित—सान्त है, लोक अपर्यवसित—अनन्त है, सुकृत है, दुष्कृत है, कल्याण है, पाप है, पुण्य है, साधु है, असाधु है, सिद्धि है, असिद्धि है, नरक है, नरक नहीं है, इन सब बातो को स्पष्टतया नहीं जानते हैं। कोई इनमें से किसी एक का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा उसका निषेध करके अन्य का समर्थन करता है। जैसे वेदान्त दर्शन लोक को एकान्त ध्रुव मानता है, तो बौद्ध दर्शन इसे एकान्त अध्रुव[1] मानता है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक भी किसी एक तत्त्व का प्रतिपादन करके दूसरे का निषेध करते है। क्योंकि, उन्हे वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने से उनके विचारों में स्पष्टता एव एकरूपता नजर नही आती है। जैसे वेदो मे विराट् पुरुष द्वारा सृष्टि का उत्पन्न होना माना है। मनुस्मृति आदि में लिखा है कि सृष्टि का निर्माण अण्डे से हुआ है। पुराणो में विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ और उससे सृष्टि का सृजन हुआ, ऐसा उल्लेख किया गया है। स्वामी दयानन्द जी की कल्पना इससे भिन्न एवं विचित्र है। वे माता-पिता के संयोग के बिना ही अनेक युवक स्त्री-पुरुषो का उत्पन्न होना मानते है। ईसाई और यवन विचारकों की सृष्टि के सम्बन्ध मे इनसे भी भिन्न कल्पना है। गॉड (ईश्वर) या खुदा ने कहा कि सृष्टि उत्पन्न हो जाए और एकदम सारा ससार जीवो से भर गया। इस प्रकार अन्य तत्त्वों के विषय मे भी सबकी भिन्न-भिन्न कल्पना है। इसलिए कोई विचारक एक निश्चय पर नहीं पहुंच सकता है। उसके मन में भ्रान्ति हो जाती है। इसलिए आगम में कहा गया है कि अपने से असम्बद्ध विचारको के साथ परिचय नही रखना चाहिए। क्योकि, इससे श्रद्धा—निष्ठा मे गिरावट आने की सम्भावना है।

उपर्युक्त तत्त्वों के सम्बन्ध मे जैनो का चिन्तन स्पष्ट है। संसार के समस्त पदार्थ अनेक धर्म वाले है, अत· उनका एकान्त रूप से एक ही स्वरूप नहीं होता है। जैसे लोक नित्य भी है और अनित्य भी है, सादि भी है और अनादि भी है। वह सान्त

---

1 'अध्रुव ' चल', तथाहि.. भूगोल केषाञ्चिन्मतेन नित्य चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव। —आचाराङ्ग टीका, पृष्ठ, 256

टीका के इस पाठ से यह परिज्ञात होता है कि आजकल के वैज्ञानिको की तरह पहले भी इस तरह के लोग थे, जो यह मानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य नहीं चलता है—स्थिर है।

भी है और अनन्त भी है। भगवती सूत्र में बताया गया है कि लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। द्रव्य और क्षेत्र से लोक नित्य है। क्योंकि, द्रव्य का कभी नाश नही होता है और क्षेत्र से भी वह सदा 14 राजू परिमाण का रहता है। काल एव भाव की अपेक्षा से वह अनित्य है। क्योकि भूतकाल में लोक का जो स्वरूप था, वह वर्तमान में नही रहा और जो वर्तमान में है वह भविष्य मे नही रहेगा, उसकी पर्यायो में प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। इसी तरह भाव की अपेक्षा से भी उसमे सदा एकरूपता नही रहती है। कभी वर्णादि गुण हीन हो जाते हैं, तो कभी अधिक हो जाते है। अत· द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक नित्य भी है और काल एव भाव की दृष्टि से अनित्य भी है। इसी प्रकार सादि-अनादि, सान्त-अनन्त आदि प्रश्नो का समाधान भी स्याद्वाद की भाषा मे दिया गया है। उसमें किसी प्रकार का विरोध नही रहता है, क्योकि उसमे एकान्तता नहीं है। उसमे किसी एक पक्ष का समर्थन एवं दूसरे का सर्वथा विरोध नही मिलता है। उसमे प्रत्येक पदार्थ को समझने की एक अपेक्षा, एक दृष्टि रहती है। वैज्ञानिको ने भी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। आगमिक भाषा मे इसे स्याद्वाद, अनेकान्तवाद या विभज्यवाद कहा है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकान्तवाद पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ नहीं है। अत मुनि को एकान्तवादियों से सपर्क नही रखना चाहिए। उन्हे यथार्थ धर्म मे श्रद्धा—निष्ठा रखनी चाहिए।

कौन-सा धर्म यथार्थ है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्तिबेमि। सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए, गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे, नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नी उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया॥197॥

छाया—तद्यथा इदं भगवता प्रवेदितमाशुप्रज्ञन जानता-पश्यता अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्येति ब्रवीमि, सर्वत्र सम्मतं पापं, तदेवोपातिक्रम्य, एषः मम

विवेको व्याख्यातः ग्रामे वा, अथवा अरण्ये वा, नैवग्रामे, नैवाऽरण्ये धर्ममाजानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता यामास्त्रयः उदाहृताः येषु इमे आर्याः संबुध्यमानाः समुत्थिताः ये निवृताः पापेषु कर्मसु अनिदानास्ते व्याख्याताः।

पदार्थ–से–वह। **जहेयं**–जैसे इस स्याद्वाद–अनेकान्तवाद रूप वस्तु का यथार्थ वर्णन करने वाले सिद्धान्त का। **भगवया**–भगवान महावीर ने। **पवेइयं**– प्रतिपादन किया है, वे प्रतिपादक कैसे हैं? **आसुपन्नेण**–आशुप्रज्ञा वाले हैं। **जाणया**– ज्ञानोपयोग से युक्त हैं। **पासया**–दर्शनोपयोग से संपन्न है, अत एकान्तवादियो का धर्म स्वाख्यात नहीं है। **अदुवा**–अथवा। **वओगोयरस्स**–वाणी के विपय को। **गुत्ती**–गुप्त करना–वोलते समय भाषा समिति का विचार रखना, अर्थात् वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति को पूर्ण व्यवस्थित रखना चाहिए, उस महापुरुष ने इस प्रकार का उपदेश दिया है। **त्तिबेमि**–इस प्रकार मैं कहता हू। **सव्वत्थ**–यह सिद्धान्त सर्वत्र। **समयं**–सम्मत है। **पावं**–अत. मैने पाप का एव। **तमेव उवाइक्कम्म**–उस पाप कर्म का परित्याग कर दिया है। **महं**–मेरा। **एस**–यह। **विवेगे**–विवेके। **गामे वा**–ग्रामों मे। **अदुवा**–अथवा। **रण्णे**–जगल में, सर्वत्र। **वियाहिए**–कहा गया है। **नेव गामे**–और न ग्रामो मे धर्म है। **नेव रण्णे**–न जगल मे है, किन्तु वह तो विवेक मे है। **पवेइयं**– भगवान ने ऐसा प्रतिपादन किया है, अत.। **धम्ममायाणह**–तुम धर्म को जानो, जो। **मइसया**–मतिमान। **माहणेण**–भगवान ने। **तिन्नि**–तीन। **जामा**–याम-व्रत विशेष। **उदाहिया**–कहे हैं। **जेसु इमे**–इन यामो मे। **आयरिया**–जो आर्य मनुष्य। **संबुज्झमाण**–बोध को प्राप्त होकर। **समुट्ठिया**–साधना के लिए उद्यत हुए है। **जे**–जो। **णिव्वुया**–क्रोधादि को दूर करके शान्त हो गए है। **पावेहिं कम्मेहि**–पाप कर्म करने मे जो। **अणियाणा**–निदान से रहित है, अर्थात् पापकर्म में जिनकी इच्छा एव रुचि नही है। **ते**–वे। **वियाहिया**–मुमुक्षु–मोक्ष मार्ग के योग्य, कहे गए हैं।

मूलार्थ–जैसा कि यह स्याद्वाद रूप सिद्धांत सर्वदर्शी भगवान ने प्रतिपादित किया है, एकान्तवादियो का सिद्धान्त वैसा नही है। क्योंकि भगवान भाषा-समिति से युक्त है अथवा भगवान ने वाणी के विषय मे गुप्ति और भाषा समिति के उपयोग का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह है कि वाद-विवाद के समय वचन गुप्ति का पूरा ध्यान रखना चाहिए। तर्क-वितर्क एव वादियों के प्रवाद को छोड़कर यह कहना उचित एवं

श्रेष्ठ है कि पाप कर्म का त्याग करना ही सर्ववादि सम्मत सिद्धान्त है। अतः मैंने उस पापकर्म का त्याग कर दिया है। चाहे मैं ग्राम में रहूं या जगल मे रहू, परन्तु पाप कर्म नही करना यह मेरा विवेक है। वस्तुतः धर्म न ग्राम मे है और न जंगल मे है, वह तो विवेक मे है। अत. तुम परम मेधावी सर्वज्ञ कथित धर्म को जानो। भगवान ने तीन याम का वर्णन किया है। जिनमे ये आर्य लोग सम्बोध को प्राप्त होते हुए धर्म कार्य में उद्यत हो रहे है और वे कषायों का परित्याग करके शान्त होते हैं। मुमुक्षु पुरुष पापकर्मो मे निदान से रहित होते है, अतः वे ही मोक्ष मार्ग के योग्य कहे गए हैं।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि स्याद्वाद की भाषा मे सशय को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता है। अत· स्याद्वाद की भाषा मे व्यक्त किया गया सिद्धान्त ही सत्य है। यह सिद्धान्त राग-द्वेष विजेता सर्वज्ञ पुरुषो द्वारा प्ररूपित है। इसलिए इसमें परस्पर विरोधी बाते नही मिलती हैं और यह समस्त प्राणियों के लिए हितकर भी है। वीतराग भगवान के वचनो मे यह विशेषता है कि वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते हैं, परन्तु किसी भी व्यक्ति का तिरस्कार नही करते। उनके उपासक मुनि भी वाद-विवाद के समय असत्य तर्कों का खण्डन कर के सत्य सिद्धात को बताते है, परन्तु यदि कही वाद-विवाद में सघर्ष की सम्भावना हो या वितण्डावाद उत्पन्न होता हो तो वे उसमे भाग नही लेते। वे स्पष्ट कह देते है कि यदि तुम्हारे मन मे पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझने की जिज्ञासा हो तो शान्ति से तर्क-वितर्क के द्वारा हम चर्चा कर सकते है और तुम्हारे संशय का निराकरण कर सकते है परन्तु हम इस वितण्डावाद में भाग नही लेगे। क्योंकि हम सावद्य प्रवृत्ति का त्याग कर चुके हैं और इसमे सावद्य प्रवृत्ति होती है। इसलिए हम इस चर्चा से दूर ही रहेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जंगलों में रहते है, कन्द-मूल खाते है, इसलिए हम धर्म-निष्ठ है। इस विषय मे सूत्रकार कहते है कि धर्म ग्राम या जगल में नहीं है और न वह कन्द-मूल खाने मे ही है। धर्म विवेक मे है, जीवाजीव आदि पदार्थो का यथार्थ बोध करके शुद्ध आचार का पालन करने मे है; प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की रक्षा करने में है।

भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। स्थानाङ्ग सूत्र के तीसरे स्थान में

कहा है—प्रथम, मध्यम और अन्तिम तीन याम—जीवन की तीन अवस्थाए है[1]। इन तीनो यामों मे जीवन सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट धर्म को पा सकता है, श्रद्धानिष्ठ बन सकता है, त्याग, व्रत एव प्रव्रज्या—दीक्षा को स्वीकार कर सकता है। आगम मे दीक्षा के लिए जघन्य आठ वर्ष की आयु बताई है, अर्थात् आठ वर्ष की आयु में मनुष्य सयम-साधना के योग्य बन जाता है। इसी दृष्टि को सामने रखकर कहा गया है कि भगवान ने त्रियाम धर्म का उपदेश दिया है। भगवान का उपदेश किसी भी देश-काल विशेष से आबद्ध नही है, वह तो पाप से निवृत्त होने में है। वैदिक परम्परा में सन्न्यास के लिए अन्तिम अवस्था निश्चित की गई है और अरण्यवासी सन्न्यासी होता है। परन्तु, भगवान ने त्याग-भावना को किसी काल—अवस्था या देश से बाध कर नही रखा, क्योंकि मन मे त्याग की जो उदात्त भावना आज उद्बुद्ध हुई है, वह अन्तिम अवस्था में रहेगी या नही? यदि त्याग की भावना बनी भी रही, तब भी क्या पता तब तक जीवन रहेगा या बीच मे ही मानव आगे के लिए चल पडेगा। अत. भगवान महावीर ने कहा है कि जब मन मे त्याग की भावना जगे, उसी समय उसे साकार रूप दे दो। काल का कोई विश्वास नही है कि वह मनुष्य को कब आ कर दबोच ले, अत. शुभ कार्य मे समय मात्र भी प्रमाद मत करो[2]। किसी भी काल एव देश की प्रतीक्षा मत करो। जिस देश और जिस काल—भले ही बाल्यकाल हो, यौवनकाल हो या वृद्ध काल हो, मे स्थित हो उसी काल मे त्याग के पथ पर बढ चलो। वस्तुत., धर्म सभी काल मे साधा जा सकता है। धर्म के लिए काल आवश्यक नहीं है, आवश्यक है पाप से, हिसा आदि दोषों से, विषय-कषाय से निवृत्त होना। अत: जिस समय मनुष्य पाप कार्य से निवृत्त होता है, तभी से वह धर्म की साधना कर सकता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शीलाक ने याम शब्द का व्रत अर्थ किया है और प्राणातिपात, मृषावाद एव परिग्रह के त्याग को तीन याम कहा है और ज्ञान, दर्शन एव चारित्र को भी तीन याम बताया है। त्रियाम का तीन व्रत के रूप में उल्लेख अपेक्षा विशेष से किया गया है। भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के शासन मे पाच

1 चूर्णिकार ने भी याम शब्द का अवस्था अर्थ किया है और 8 से 30 वर्ष की आयु को प्रथम याम, 30 से 60 वर्ष की आयु को मध्यम याम और उसके बाद की आयु को अन्तिम याम बताया है।

2. समय गोयम! मा पमायए। —उत्तराध्ययन, 10

याम—व्रत और शेष 22 तीर्थकरो के शासन मे चार याम—व्रत का उल्लेख मिलता है। इनमे परस्पर कोई विरोध नही है। क्योकि, ये सब वर्णन अपेक्षा विशेष के किए गए हैं। तीन याम में अस्तेय और ब्रह्मचर्य को छोड़ दिया है। मृषावाद और स्तेय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह किसी अश में चोरी भी करता है और जो चोरी करता है, वह झूठ भी बोलता है। इस तरह मृषावाद एव स्तेय दोनो को एक में ही स्वीकार कर लिया गया है। इसी तरह परिग्रह का अर्थ तृष्णा, लालसा एव पदार्थो की भोगेच्छा है और तृष्णा, आकाक्षा एवं भोगेच्छा का ही दूसरा नाम अब्रह्मचर्य है। अत- अब्रह्मचर्य का परिग्रह मे समावेश कर लिया गया है। इससे व्रतो की सख्या तीन रह गई। चार व्रतो मे ब्रह्मचर्य का अपरिग्रह में समावेश किया गया है और पाच व्रतों मे सबको अलग-अलग खोलकर रख दिया है, जिससे कि साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सके। इस तरह त्रियाम, चतुर्याम और पचयाम में केवल सख्या का भेद है सिद्धात का नही। क्योंकि, सर्वज्ञ पुरुषो के सिद्धान्त मे परस्पर विरोध नहीं होता है।

इस तरह प्रस्तुत सूत्र में त्रियाम[1] धर्म का उपदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति किसी भी समय मे धर्म के स्वरूप को समझकर अपनी आत्मा का विकास कर सकता है। जागने वाले के लिए जीवन का प्रत्येक समय महत्त्वपूर्ण है। जब जागे तभी सवेरा—चाहे बाल्य काल हो या प्रौढकाल, उसके लिए जीवनविकास का महत्त्वपूर्ण प्रभात है। मुमुक्षु पुरुप को पापकर्म से सर्वथा निवृत्त होकर प्रति समय सयम मे सलग्न रहना चाहिए।

इसी बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 वैदिक ग्रन्थो में भी 'याम' शब्द का उल्लेख मिलता है। वेदो मे 'याम' शब्द गति, प्रगति, मार्ग एव रथ आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति एव महाभारत आदि मे 'याम' शब्द का प्रयोग रात्रि और दिन के चतुर्थ भाग (¼) के अर्थ मे मिलता है। गति का सम्बन्ध काल मे होने के कारण 'याम' काल वाची भी मान लिया गया है। कालवाची 'याम' शब्द 'य'- धातु से बना है और व्रत वाची 'याम' शब्द 'यम्' धातु से।
त्रिपिटक मे भी तीन यामो का उल्लेख मिलता है और स्थानाग सूत्र की तरह उसके प्रथम आदि तीन भाग किए है। पञ्चयाम का तो नही, परन्तु चतुर्याम का वर्णन त्रिपिटको मे भी मिलता है और उसे निर्ग्रथो का धर्म बताया गया है।

मूलम्—उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंती च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे णं तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा, नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समणुजाणेज्जा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्तिबेमि॥198॥

छाया—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु सर्वतः सर्वाः (या काश्चन दिशः णं) प्रत्येकं जीवेषु कर्म समारम्भः (णं) तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं (आत्मना) एतेषु कायेषु दण्डसमारभेत्, नैवान्येन एतेषु कायेषु दंडं समारम्भयेत् नैवान्यान् एतेषु कायेषु दंडं समारभमाणानपि समनुजानीयात् ये चान्ये एतेष कायेष दंडं समारम्भन्ते तैरपि वयं लज्जामः तं परिज्ञाय मेधावी त वा दंडं अन्यद् वा नो दण्डभीः दंडं समारभेथाः इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**उड्ढं**—ऊंची। **अहं**—नीची। **तिरियं**—तिरछी। **दिसासु**—दिशाओ मे। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सव्वावंति**—सब। **च**—च शब्द से विदिशाओं में। **णं**—वाक्यालकार अर्थ में है। **पाडियक्कं**—प्रत्येक। **जीवेहिं**—जीवो में। **कम्मसमारंभे**—कर्म समारम्भ—उपमर्दन रूप क्रिया का आरम्भ। **णं**—प्राग्वत्। **तं**—उस समारम्भ को। **परिन्नाय**—जानकर—ज्ञ परिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर। **मेहावी**—बुद्धिमान। **नेवसयं**—न स्वात्मा से। **एएहिं काएहिं**—इन कायों पृथ्वी आदि कायो मे। **दंडंसमारंभिज्जा**—उपमर्दन रूप दड का समारम्भ करे। **नेवन्ने**—न अन्य व्यक्तियो से। **एएहिं काएहिं**—इन पृथ्वी आदि कायो में। **दंडं समारंभिज्जामि**—उपमर्दन रूप दंड का समारम्भ करावे। **नेवन्ने**—न अन्य व्यक्तियो को। **एएहिं काएहिं**—इन पृथ्वी आदि कायों में। **दंडं समारंतेऽवि**—उपमर्दन रूप दण्ड का समारम्भ करने वालो के कार्य को। **समणुजाणेज्जा**—अच्छा समझे, और। **जेवऽन्ने**—जो अन्य। **एएहिं काएहिं**—इन पृथ्वी आदि कायो मे। **दंडं समारंभंति**—उपमर्दन रूप का दड का समारम्भ करते है। **तेसिंपि**—उनके इस जघन्य कार्य से भी। **वय लज्जामो**—हम लज्जित होते हैं। **तं**—उन जीवो मे। **मेहावी**—बुद्धिमान। **परिन्नाय**—

ज्ञान से जानकर। **तं वा दडं**—उस दड को। **अन्नं वा**—मृषावाद आदि दंड को। **दडभी**—उपमर्दन रूप दड से डरने वाला भिक्षु। **दंडं**—दड का। **नो समारंभिज्जासि**—समारम्भ न करे और न करावे। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—ऊची-नीची और तिरछी दिशाओ तथा विदिशाओं में रहने वाले जीवों मे उपमर्दन रूप दंड समारम्भ को ज्ञान से जानकर मर्यादा शील भिक्षु स्वयं दंड का समारम्भ न करे और न अन्य व्यक्ति से दड समारम्भ करावे तथा दड समारम्भ करने वालो का अनुमोदन भी न करे। वह ऐसा माने कि जो लोग इन पृथ्वी आदि कायों मे दण्ड समारंभ करते है, उनके कार्य से हम लज्जित होते है। अत हिंसा अथवा मृषावाद आदि दंड से डरने वाला बुद्धिमान पुरुष हिसा के स्वरूप को जानकर दण्ड का समारम्भ न करे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र में हम देख चुके है कि धर्म देश-काल से आबद्ध नही है, प्रत्युत्त पाप से निवृत्त होने में है। प्रस्तुत सूत्र में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि भिक्षु को पाप कर्म से निवृत्त होना चाहिए। क्योकि, पाप कर्म के सयोग से चित्त वृत्तियो मे चंचलता आती है। अत मन को शान्त करने के लिए साधक को हिसा आदि दोषो का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे छह काय पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति एवं त्रस काय के जीवों का न तो स्वय आरम्भ-समारम्भ करना चाहिए, न अन्य व्यक्ति से करवाना चाहिए और न आरम्भ करने वाले व्यक्ति का समर्थन ही करना चाहिए। इसी तरह मृषावाद, स्तेय आदि सभी दोषो का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग करना चाहिए। हिसा आदि दोषो से निवृत्त होने रूप इस धर्म को स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही आत्मा का विकास करके निर्वाण पद को पा सकता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे असम्बद्ध साधु के साथ सम्बन्ध नही रखने का उपदेश दिया गया है। परन्तु, इसके लिए अकल्पनीय पदार्थो—आहार-पानी, स्थान, वस्त्र, पात्र आदि का त्याग करना भी आवश्यक है। अतः साधु को किस तरह का आहार-पानी लेना चाहिए एव कैसे स्थान में रहना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा, चिट्ठज्ज वा, निसीइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुन्नागारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भारायय‍णंसि वा, हुरत्था वा, कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, वत्थं वा, पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुञ्छणं वा, पाणाइं, भूयाइं, जीवाइं, सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स, कीयं, पामिच्चं अच्छिज्जं, अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुञ्जह, वसह, आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे आउसंतो! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि, नो खलु ते वयणं परिज्जाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा 4 वत्थं वा 4 पाणाइं वा 4 समारम्भ समुद्दिस्स कीयं, पामिच्चं, अच्छिज्जं अणिसट्ठं, अभिहडं, आहट्टु, चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई! एयस्स अकरणयाए॥199॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेद्वा, तिष्ठेद्वा, निषीदेद्वा, त्वग्वर्तेद्वा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा, वृक्षमूले वा, कुम्भकारायतने वा, अन्यत्र वा, क्वचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसंक्रम्य गृहपतिर्ब्रूयात्—आयुष्मन् भो श्रमण! अहं

खलु तवार्थाय अशनं वा, पानं वा, खादिमं वा, स्वादिमं वा, वस्त्रं वा, पतद्ग्रह (पात्र) वा, कम्बलं वा, पादप्रोञ्छनं, प्राणिनः, भूतानि, जीवान्—सत्त्वान्—सामरभ्य समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं, आच्छिद्यं, अनिसृष्टं, अभिहृतमाहृत्य ददामि, आवसथ वा समुच्छृणोमि तद् भुङ्क्ष्व वत्स आयुष्मन् श्रमण! भिक्षुस्तं गृहपतिं समनसं सवचसं प्रत्याचक्षीत्—आयुष्मन् गृहपते! नो खलु ते वचनमाद्रिये, न खलु ते वचनं परिजानामि यस्त्वं ममार्थाय अशनंवा 4, वस्त्रं वा 4, प्राणिनो वा 4 समारम्भ समुद्दिश्य क्रीतं, प्रामित्यं आच्छिद्यमनिसृष्टमभिहृतमाहृत्य ददासि आवसथं वा समुच्छृणोषि स (अहं) विरतः आयुष्मन् गृहपते! एतस्याकरणतया।

पदार्थ—से—वह सावद्य व्यापार से निवृत्त हुआ। **भिक्खू**—भिक्षु। **परिक्कमिज्ज**—भिक्षा एवं अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। **वा**—अथवा, अपेक्षा अर्थ मे जानना। **चिट्ठिज्ज वा**—खडा रहे। **निसीइज्ज वा**—बैठे या। **तुयट्टिज्ज वा**—करवट बदले या शयन करे। **सुसाणंसि वा**—श्मशान में। **सुन्नागारंसि वा**—शून्यागार—शून्य घर में। **गिरिगुहंसि वा**—पर्वत की गुफा मे। **रुक्खमूलंसि वा**—वृक्ष के मूल मे—वृक्ष के नीचे। **कुभारायतणंसि वा**—कुम्भकार की शाला में। **हुरत्था वा**—ग्राम के बाहर अन्यत्र। **कहिंचि**—किसी स्थान पर। **विहरमाणं**—विचरते हुए। **तं**—उस। **भिक्खु**—भिक्षु को। **गाहावई**—कोई गृहपति। **उवसकमित्तु**—आकर। **बूया**—ऐसा कहे कि। **आउसंतो समणा**—हे आयुष्मन् श्रमण! **खलु**—वाक्यालकारार्थ मे है। **अहं**—मै। **तव**—तुम्हारे। **अट्ठाए**—लिये। **असणं वा**—अन्न। **पाणं वा**—पानी। **खाइमं वा**—खाद्य पदार्थ—मिठाई आदि। **साइमं वा**—स्वादिम—लवगादि पदार्थ। **वत्थं वा**—वस्त्र। **पडिग्गहं वा**—काष्ठादि के पात्र। **कंबलं वा**—कम्बल—ऊन का वस्त्र। **पायपुञ्छणं**—पाद प्रोंछन—रजोहरण। **पाणाइं**—प्राणियो। **भूयाइं**—भूतो। **जीवाइं**—जीवों। **सत्ताइं**—सत्वो का। **समारब्भ**—उपमर्दन कर के। **समुद्दिस्स**—साधु के उद्देश्य से। **कीयं**—खरीद कर। **पामिच्चं**—किसी से उधार लेकर। **अच्छिज्जं**—किसी से छीन कर। **अणिसट्ठं**—दूसरे की वस्तु को बिना आज्ञा लेकर। **अभिहडं**—अपने घर से। **आहट्टु**—लाकर। **चेएमि**—देता हू और। **आवसहं वा**—आप के ठहरने लिए स्थान—उपाश्रय बनवाता हू और। **समुस्सिणोमि**—उनका जीर्णोद्धार करवा देता हू—पुराने बने हुए उपाश्रय का नया सस्कार करवा देता हू। **से**—वह कहे कि। **आउसंतो समणा**—हे आयुष्मान् श्रमण! आप। **भुंजह**—आहार-पानी करो और। **वहसं**—उस उपाश्रय में रहो।

गृहस्थ के ये वचन सुनकर वह। **भिक्खू**–भिक्षु-साधु। **तं**–उस। **गाहावइं**–गृहपति के प्रति। **समणसं**–मन से। **सवयसं**–वचन से। **पडियाइक्खे**–ऐसा कहे कि। **आउसंतो गाहावई**–हे आयुष्मान गृहपते! **ते**–तेरे। **वयण**–वचन का। **नो आढामि**–मै आदर नहीं कर सकता हू। **ते वयणं**–और तेरे वचन को। **नो परिजाणामि**–मै उचित नही समझता हू। **खलु**–यह अपि अर्थ में है। **जो तुमं**–जो तू। **मम**–मेरे। **अट्ठाए**–लिए। **असणं वा 4**–अन्नादि। **वत्थं वा 4**–वस्त्रादि। **पाणाइं वा 4**–प्राणी आदि का। **समारम्भ**–उपमर्दन करके। **समुद्दिस्स**–मेरे उद्देश्य से। **कीयं**–मोल लेकर। **पामिच्चं**–उधार लेकर। **अच्छिज्जं**–किसी से छीन कर। **अणिसट्ठं**–दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना लाकर या। **अभिहडं**–घर से। **आहट्टु**–लाकर मुझे। **चेएसि**–देता है या। **आवसहं** वा–उपाश्रय–मकान बनवा कर देता है या। **समुस्सिणासि**–जीर्णोद्धार करवा कर देता है, यह मुझे स्वीकार नही है, क्योंकि मैं। **से**–उक्त क्रिया से। **विरओ**–निवृत्त हो चुका हूं। **आउसो गाहावई**–हे आयुष्मान गृहपते! **एयस्स**–आपके उक्त वचन को। **अकरणयाए**–मै स्वीकार नहीं कर सकता हू।

मूलार्थ–वह भिक्षु (मुनि) आहारादि या अन्य कार्य के लिए पराक्रम करे। आवश्यकता होने पर वह खडा होवे, बैठे और शयन करे। जब वह श्मशान मे, शून्यागार मे, पर्वत की गुफा मे, वृक्ष के मूल मे या ग्राम के बाहर अन्य किसी स्थान पर विचर रहा हो, उस समय उसके समीप जाकर यदि कोई गृहपति इस प्रकार कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण! मै तुम्हारे लिए प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व आदि का उपमर्दन एव आरंभ-समारम्भ करके आहार-पानी, खदिम–मिठाई आदि, स्वादिम–लवग आदि, वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि बनवा देता हू या तुम्हारे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु को उसकी बिना अनुमति के लाकर एव अपने घर से लाकर तुम्हे देता हू। मै तुम्हारे लिए नया मकान–उपाश्रय बनवा देता हूं या पुराने मकान का नवीन संस्कार करवा देता हू। हे आयुष्मन् श्रमण! तुम अन्नादि पदार्थ खाओ और उस मकान में रहो। ऐसे वचन सुनकर वह भिक्षु गृहपति से कहे कि हे आयुष्मन् गृहस्थ! मै तेरे इस वचन को आदर नहीं दे सकता और मैं तेरे इस वचन को उचित भी नही समझता हू। क्योंकि

तू मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व आदि का उपमर्दन करके आहारादि पदार्थ बनाएगा या मेरे उद्देश्य से मोल लेकर, उधार लेकर, किसी से छीनकर या अन्य व्यक्ति की वस्तु को उसकी बिना आज्ञा लेकर और घर से लाकर देगा। तू नया मकान—उपाश्रय बनवा कर या पुरातन मकान का जीर्णोद्धार करवाकर देगा, परन्तु हे आयुष्मन् गृहस्थ! मै आप के इन पदार्थो को स्वीकार नहीं कर सकता हूं। क्योकि, मै विरत हूं, आरम्भ-समारम्भ का पूर्णतः त्याग कर चुका हू, अतः मै आपके उक्त प्रस्ताव का न आदर करता हूं और न उसे उचित ही समझता हू।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है। अत वह न तो स्वय भोजन बनाता है और न अपने लिए बनाया हुआ आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, मकान आदि स्वीकार ही करता है। वह गृहस्थ के अपने एवं उसके परिवार के उपभोग के लिए बने हुए आहार-पानी आदि को अपनी मर्यादा के अनुरूप होने पर ही स्वीकार करता है, परन्तु यदि उसके निमित्त कोई गृहस्थ आरम्भ-समारम्भ करके कोई पदार्थ तैयार करे, तो साधु को वह पदार्थ ग्रहण करना नही कल्पता है।

इसी तरह मुनि श्मशान में, शून्य स्थान में, पर्वत की गुफा में या इस तरह किसी अन्य स्थान मे बैठा हो, खडा हो या शयन कर रहा हो, उस समय यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त—गृहस्थ आकर मुनि से प्रार्थना करे कि मै आपके लिए भोजन तैयार कर के तथा वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर लाता हू और रहने के लिए मकान भी बनवा देता हू। उस समय मुनि उससे कहे कि हे देवानुप्रिय! मुनि को ऐसा भोजन एव वस्त्र-पात्र आदि लेना नही कल्पता है। क्योंकि, मैने आरम्भ-समारम्भ का त्रिकरण और त्रियोग से त्याग कर दिया है। अतः मेरे लिए भोजन आदि बनाने, खरीदने आदि मे अनेक तरह का आरम्भ होगा, अनेक जीवों का नाश होगा, इसलिए मै ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नही कर सकता हू।

इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि इस तरह की प्रार्थना जैन साधु के आचार से अपरिचित व्यक्ति ही कर सकता है। उस युग में बौद्ध आदि भिक्षु गृहस्थ का निमत्रण स्वीकार करते थे। आज भी अन्य मत के बहुत-से साधु-सन्न्यासी गृहस्थों का निमन्त्रण

स्वीकार करते है। अतः उनकी वृत्ति को देखकर कोई जैन मुनि को भी निमन्त्रण दे, तो मुनि उसे स्वीकार न करे। वह अपनी साधु वृत्ति से उसे परिचित कराकर अपनी निर्दोष साधना मे संलग्न रहे।

श्मशान आदि में ठहरने के पाठ को वृत्तिकार ने जिनकल्पी एव प्रतिमाधारी मुनि के लिए बताया है, स्थविर कल्पी के लिए नही[1]। परन्तु, वृत्तिकार का कथन उचित प्रतीत नही होता है। क्योंकि, उत्तराध्ययन सूत्र मे सभी साधुओं के लिए श्मशान आदि में ठहरने का उल्लेख मिलता है। कोई भी साधक आत्मचिन्तन के लिए ऐसे स्थान मे ठहर सकता है[2]। निषिद्या परीषह का वर्णन करते समय भी श्मशान आदि शून्य स्थान मे ठहरने का सभी साधुओं के लिए उल्लेख किया गया है[3]।

इससे यह स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त निर्दोष स्थानों मे स्थित साधु सदा निर्दोष वृत्ति से आहार-पानी आदि स्वीकार करके शुद्ध संयम का पालन करे। यदि कोई गृहस्थ स्नेह एव भक्ति वश सदोष वस्तु तैयार कर दे तो साधु उसे स्वीकार न करे।

वह उसका किस तरह निषेध करे, इसे बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणां तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा 4 वत्थं वा 4 जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाई भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा—अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा 4 वत्थं वा 4

---

1 गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिक न कल्पते, प्रमादस्खलितादौ व्यन्तराद्यु पद्रवात् तथा जिनकल्पार्थ सत्वभावना भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञात, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थान, जिनकल्पस्य वा तदपेक्षया श्मशान सूत्रम्।—आचाराङ्गवृत्ति।

2 सुसाणे सुन्नागारे वा, रुक्ख मूले वा इक्कओ।
पइरिक्के पर कडे वा, वास तत्थाभिरोयए॥ —उतराध्ययन, 35, 6

3 सुसाणे सुनागारे वा रुक्ख मूले वा एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा नय वित्तासए पर॥
तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभि धारए।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठिता अन्नमासण॥ —उत्तराध्ययन, 2,20—21

जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणए त्तिबेमि॥200॥

छाया—स भिक्षुः पराक्रमेत् यावदन्यत्र वा अन्यत्र ग्रामादेवेहिः क्वचिद्विहरन्तं तं भिक्षुमुपसक्रम्य गृहपतिरात्मगतया प्रेक्षया अशनं वा 4 वस्त्रं वा 4 यावदाहृत्य ददामि आवसथञ्च समुच्छृणोमि (करोमि) समुच्छृणोति परिघासयितुं (भोजयितुं) तञ्च भिक्षुः जानीयात् स्वसन्मत्या परव्याकरणेन अन्येभ्यो वा श्रुत्वा अयं खलु गृहपति· ममर्थाय अशन वा 4 वस्त्रं वा यावदावसथ वा समुच्छृणोति तं च भिक्षु· प्रत्युपेक्ष्यावगम्य ज्ञापयेदनासेवनया अति ब्रवीमि।

पदार्थ—से—वह। **भिक्खू**—भिक्षु। **परिक्कमिज्ज वा**—कभी श्मशानादि में ध्यानादि की साधना मे पराक्रम करता हो। **जाव**—यावत्। **हुरत्था वा**—किसी अन्य स्थान पर। **कहिंचि**—कभी। **विहरमाण**—विचरता हो तब। **तं**—उस। **भिक्खुं**—भिक्षु के। **उवसकमित्तु**—पास आकर। **गाहावई**—गृहपति। **आयगयाए पेहाए**—अपने आत्मगत भावो को साधु के सामने प्रकट न करता हुआ कि मै साधु को अवश्य दान दूंगा, इस आशा से। **असणं वा 4**—अशनादि। **वत्थ वा 4**—वस्त्रादि। **जाव**—यावत्। **आहट्टु**—लाकर। **चेएइ**—देता है। **आवसहं वा**—उपाश्रय का। **समुस्सिणाइ**—जीर्णोद्धार करवाकर नया मकान बनवा देता है। **परिघासेउं**—आहार लाने के लिए गया हुआ। **भिक्खू**—साधु। **च**—पुन·। **भिक्खू**—भिक्षु। **तं**—उस भोजन को। **सहसम्मइयाए**—अपनी सद्बुद्धि से। **परवागरणेणं**—तीर्थकर देव द्वारा कथित विधि विशेष से। **वा**—अथवा। **अन्नेसिं सुच्चा**—किसी अन्य परिजन आदि से सुनकर। **खलु**—अवधारणार्थ में है। **जाणिज्जा**—जान ले, कि। **अयं गाहावई**—यह गृहपति। **असण वा 4**—आहारादि। **वत्थं वा 4**—वस्त्रादि। **जाव**—यावत्। **आवसहं वा**—यह अभिनव, सुन्दर स्थानादि या। **समुस्सिणाइ**—जीर्णोद्धार किया हुआ मकान। **मम अट्ठाए**—मेरे लिए बनाया है, अत·। **च**—पुन। **तं**—उनका। **पडिलेहाए**— पर्यायलोचन करके। **आगमित्ता**—जानकर। **आणविज्जा**—उस गृहस्थ से कहे कि। **अणासेवण्णाए**—ये सब पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नही है, अत. मै इन्हें ग्रहण नही कर सकता। **त्तिबेमि**—मै इस प्रकार कहता हू।

मूलार्थ—वह भिक्षु श्मशानादि स्थानो मे ध्यानादि साधना मे पराक्रम करता हो या अन्य कारण से इन स्थानों में विचरता हो, उस समय यदि कोई गृहस्थ भिक्षु के पास आकर अपने मानसिक भावो को व्यक्त न करता हुआ, साधु को दान देने के लिए अन्न, वस्त्रादि लाकर या उसके निवास के लिए सुन्दर स्थान बनवाकर उसे देना चाहता है, तब आहारादि की गवेषणा के लिए गया हुआ भिक्षु अपनी स्व बुद्धि से अथवा तीर्थकरोपदिष्ट विधि से या किसी अन्य परिजन आदि से उन पदार्थो के सम्बन्ध मे सुनकर, यदि वह यह जान ले कि वस्तुत यह गृहस्थ मेरे उद्देश्य से बनाए या खरीद कर लाए हुए आहार, वस्त्र और मकान आदि मुझे दे रहा है, तो वह भिक्षु उस गृहस्थ से कहे कि ये पदार्थ मेरे सेवन करने योग्य नहीं हैं। अत· मैं इन्हे स्वीकार नही कर सकता। इस प्रकार मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे उल्लिखित विषय को स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि यदि कोई श्रद्धानिष्ठ भक्त मुनि को बिना बताए ही उसके निमित्त आहारादि बनाकर या वस्त्र-पात्र आदि खरीद कर रख ले और आहार के समय मुनि को उसके लिए आमन्त्रण करे। उस समय आहार आदि की गवेषणा करते हुए मुनि को अपनी बुद्धि से या तीर्थकरोपदिष्ट विधि से या किसी के कहने से यह ज्ञात हो जाए कि यह आहारादि मेरे लिए तैयार किया गया है या खरीदा गया है, तो वह उसे स्वीकार न करे। वह उस गृहस्थ को स्पष्ट शब्दों मे कह दे कि इस तरह हमारे लिए बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहारादि हम नहीं लेते है। वह उसे साध्वाचार का सही बोध कराए, जिससे वह फिर कभी किसी भी तरह का सदोष आहारादि देने का प्रयत्न न करे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हन्ता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पयह आलुम्पह विलुम्पह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइय॥201॥

छाया—भिक्षुञ्च खलु पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा यः इमे आहृत्य ग्रन्थात् स्पृशन्ति स हंता, हत, क्षणुत, छिन्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसा कारयत विपरामृशत तान् स्पर्शान्धीरः स्पृष्टः अधिसहेत अथवा आचार—गोचरमाचक्षीत, तर्कयित्वा अनीदृश अथवा वागुप्तिर्विधेया, गोचरस्यानुपूर्व्या सम्यक्प्रत्युपेक्षेत् आत्मगुप्तो बुद्धैरेतत् प्रवेदितम्।

पदार्थ—च—यह समुच्चय अर्थ मे है। **खलु**—यह वाक्यालकार अर्थ में है। **भिक्खुं**—भिक्षु को। **पुट्ठा वा**—पूछकर अथवा। **अपुट्ठा वा**—बिना पूछे। **जे**—जो। **इमे**—ये आहारादि पदार्थ। **गंथा वा**—बहुत धन खर्च करके बनाए है। **आहच्च**—वह उसके सामने लाकर देने पर जब मुनि उसे ग्रहण नही करता है, तब वह गृहस्थ मुनि को। **फुसंति**—कष्ट-परितापनादि देता है, यथा-। **से**—वह सम्पन्न गृहस्थ क्रोध के वशीभूत होकर साधु को। **हन्ता**--स्वय मारता है तथा अन्य व्यक्तियों को मारने का आदेश देता है, वह कहता है। **हणह**—इस भिक्षु को मारो। **खणह**—पीड़ित करो। **छिंदह**—इसके हाथादि अगोपागो का छेदन करो। **दहह**—इसे आग मे जला दो। **पयह**—इसके मास को पकाओ। **आलुपह**—इसके वस्त्र छीन लो। **विलुंपह**—इसका सब कुछ छीन लो। **सहसाकारेह**—इसको जल्दी मारो, जिससे इसकी मृत्यु हो जाए। **विप्परामुसह**—इसे अनेक तरह से पीडित करो। **ते फासे**—उन दु:ख रूप स्पर्शो से। **पुट्ठो**—स्पृष्ट हुआ। **धीरो**—वह धैर्यवान साधु। **अहियासए**—उन्हें सहन करे। **अदुवा**—अथवा। **आयारगोयरमाइक्खे**—उनसे साधु के आचारानुष्ठान को कहे। **तक्किया**—परन्तु साध्वाचार वताने के पूर्व यह सोच ले कि यह पुरुष माध्यस्थ वृत्ति वाला है, तो उसे। **ण**—वाक्यालकार मे है। **अणेलिसं**—अनुपम वचन कहे। यदि वह पुरुष दुराग्रही हो या अपनी आत्मा में उसे समझाने की शक्ति न हो। **अदुवा**—अथवा। **वइगुत्तीए**—तव वह वचन गुप्ति मे स्थित रहे। **गोयरस्स**—आचार-गोचर की। **अणुपुव्वेण**—अनुक्रम से। **सम्मं**—सम्यक् शुद्धि का। **पडिलेहए**—प्रतिलेखन करके। **आयगुत्ते**—आत्मा से गुप्त होता हुआ निरतर संयम-साधना में सलग्न रहे। **बुद्धेहिं**—बुद्धो—तीर्थकरो ने। **एयं**—इसका। **पवेइय**—प्रतिपादन किया है।

मूलार्थ—कोई सद्गृहस्थ, साधु को पूछकर या बिना पूछे ही बहुत-सा धन खर्चकर अन्नादि पदार्थ बना करके साधु के पास लाकर उसे ग्रहण करने की प्रार्थना

करता है। परन्तु, जब साधु उसे अकल्पनीय समझकर लेने से इनकार करता है, तब क्रोध के वशीभूत होकर वह गृहस्थ साधु को परिताप देता है, उसे मारता है तथा दूसरो से कहता है कि इस भिक्षु को मारो, इसका विनाश करो, इसके हाथ-पैर काट लो, इसको अग्नि मे जला दो, इसके मांस को काट कर पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो, इसका सब कुछ लूट लो और इसे नाना प्रकार से पीडित करो, जिससे इसकी जल्दी ही मृत्यु हो जाए। इत्यादि कठोर परीषहों—कष्टों के उपस्थित होने पर भी साधु उन कष्टो को बडे धैर्य से सहन करे। यदि वे समझने योग्य है, तो वह उन्हे साध्वाचार का यथार्थ स्वरूप समझा कर शान्त करे। यदि वे अयोग्य व्यक्ति है, तो वह वचन-गुप्ति का पालन करे—मौन रहे। वह अनुक्रम से अपने आचार का सम्यक् प्रतिलेखन करके आत्मा से गुप्त होता हुआ सदा उपयोग पूर्वक क्रियानुष्ठान मे सलग्न रहे। तीर्थकरो ने इस विषय का इस प्रकार से प्रतिपादन किया है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का महत्त्व सहिष्णुता मे है। अत. कठिनाई के समय भी साधु को समभाव पूर्वक परीषहो को सहते हुए संयम का परिपालन करना चाहिए। परन्तु, परीषहो के उपस्थित होने पर उसे सयम से भागना नहीं चाहिए। साधना की कसौटी परीषहो के समय ही होती है। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है कि साधु को खाने-पीने के पदार्थो एवं वस्त्र-पात्र आदि के प्रलोभन मे आकर अपने संयम मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए, परन्तु ऐसे समय मे भी समस्त प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध सयम का पालन करना चाहिए।

यदि कोई व्यक्ति स्वादिष्ट पकवान बनाकर या सुन्दर कीमती वस्त्र-पात्र ला कर दे और उसे ग्रहण करने के लिए अत्यधिक आग्रह भी करे, तब भी साधु उन्हे स्वीकार न करे। वह उसे स्पष्ट शब्दो मे समझाए कि इस तरह का आहार आदि लेना हमे नहीं कल्पता है। यदि इसपर भी वह गृहस्थ न माने, क्योकि कई पूंजीपति गृहस्थो को अपने वैभव का अभिमान होता है। वे चाहते है कि हमारे विचारो को कोई ठुकराए नही। जिन्हे वे अपना गुरु मानते है, उनके प्रति भी उनकी यह भावना रहती है कि वे भी मेरे विचारों को स्वीकार करे, मेरे द्वारा दिए जाने वाले पदार्थो या विचारो को अस्वीकार न करें। इस पर भी यदि कोई साधु अकल्पनीय वस्तु को स्वीकार नहीं

करता है, तो उनके अभिमान को ठेस लगती है और वे आवेश में आकर अपने पूज्य गुरु के भी शत्रु बन जाते है। वे उसे मारने-पीटने एवं विभिन्न कष्ट देने लगते है। ऐसे समय मे भी मुनि को अपने आचार पथ से नही गिरना चाहिए। मुनि को पदार्थो के लोभ मे आकर अपनी मर्यादा को तोडना नहीं चाहिए और न कष्टो से घबराकर ही सयम से विमुख होना चाहिए। परन्तु हर परिस्थिति मे सयम मे सलग्न रहते हुए उन्हे आचार का यथार्थ स्वरूप समझाना चाहिए।

इस विषय मे कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–ते समणुन्ने असमणुन्नस्स असणं वा जाव नो पाइज्जा, नो निमंतिज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि॥202॥

छाया–स समनोज्ञोऽसमनोज्ञायाशन वा यावन्ना प्रदद्यात्, न निमंत्रयेत्, न कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाण· इति ब्रवीमि।

पदार्थ–**से**–वह। **समणुन्ने**–समनोज्ञ मुनि। **असमणुन्नस्स**–अमनोज्ञ साधु को। **असणं वा**–आहार आदि पदार्थ। **परं आढायमाणे**–अति आदर पूर्वक। **नो पाइज्जा**–न देवे। **नो निमंतिज्जा**–न निमन्त्रित करे। **नो कुज्जा वेयावडिय**–न वैयावृत्य ही करे। **त्तिबेमि**–ऐसा मै कहता हू।

मूलार्थ–समनोज्ञ साधु अमनोज्ञ साधु को आदर-सम्मान पूर्वक आहार आदि नही दे और न उसकी वेयावृत्य ही करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम उद्देशक के 194वें सूत्र मे उल्लिखित विषय को दोहराया गया है। इसका विवेचन उक्त स्थान पर किया जा चुका है, अत हम यहा पिष्ट-पेषण करना उचित नहीं समझते, पाठक वहीं देख लें।

समनोज्ञ साधु को समनोज्ञ साधु के साथ कैसा बर्ताव रखना चाहिए, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्–धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि॥203॥

छाया—धर्म जानीत प्रवेदितं माहणेण मतिमता समनोज्ञः समनोज्ञाय अशनं वा यावत् कुर्याद्वैयावृत्यं परमाद्रियमाणः, इति ब्रवीमि।

पदार्थ—धम्ममायाणह—हे आर्य! तू धर्म को जान, जिसे। **मइमया**—मतिमान-सर्वज्ञ। **माहणेण**—भगवान ने। **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है, कि। **समणुन्ने**—समनोज्ञ साधु। **समणुन्नस्स**—समनोज्ञ साधु को। **असणं वा**—आहार आदि पदार्थ। **जाव**—यावत्। **पर आढायमाणे**—अत्यन्त आदर पूर्वक दे, और। **वेयावडियं कुज्जा**—उनकी वैयावृत्य करे। **त्तिबेमि**—ऐसा मै कहता हू।

मूलार्थ—हे आर्य! तू सर्वज्ञ भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को समझ। उन्होंने कहा है कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ साधु को आदरपूर्वक आहार आदि पदार्थ दे और उनकी सेवा-शुश्रूषा भी करे। ऐसा मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे अमनोज्ञ—शिथिलाचारी या अपने से असम्बद्ध साधु को आहार आदि देने का निषेध किया गया है। इस सूत्र मे अपने समान आचार वाले समनोज्ञ साधु को आदर पूर्वक आहार आदि देने एव उसकी वैयावृत्य करने का विधान किया गया है।

अपने समानधर्मी मुनि का स्वागत करना मुनि का धर्म है। इससे पारस्परिक धर्म-स्नेह बढता है और एक-दूसरे के सपर्क से ज्ञान, दर्शन एव चारित्र मे अभिवृद्धि होती है, सयम मे भी तेजस्विता आती है। अत साधक को समनोज्ञ मुनि का आहर-पानी से आदर-सम्मान पूर्वक उचित सत्कार करना चाहिए। उसकी सेवा—वेयावृत्य करनी चाहिए। क्योकि, सेवा-शुश्रूषा से कर्मो की निर्जरा होती है और उत्कट भाव आने पर तीर्थकर गोत्र का भी बन्ध हो सकता है। अतः साधक को सदा संयम-निष्ठ पुरुषों का स्वागत करना चाहिए।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक मे अकल्पनीय आहार आदि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे बताया गया है कि यदि भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट साधु शीत के कारण काप रहा हो और गृहस्थ के मन में यह शंका उत्पन्न हो गई हो कि साधु कामेच्छा के उत्कट वेग से काप रहा है, तो उस समय साधु को उसकी शका का निवारण कैसे करना चाहिए, इस सबन्ध में सूत्रकार कहते है–

मूलम्–मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सोच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकखंमाणा, अणइवाएमाणा, अपरिग्गहेमाणा, नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ओए जुइमस्स खेयन्ने उववायं चवणं च नच्चा॥204॥

छाया–मध्यमेन वयसापि एके संबुध्यमानाः समुत्थिताः श्रुत्वा मेधावी वचन पंडिताना निशम्य समतया धर्म आर्यैः प्रवेदितः ते अनवकाक्षमाणा· अनतिपातयन्तोऽपरिगृह्णन्तः नो परिग्रहवन्तः सर्वस्मिन्नपि च लोके (णं) निधाय दण्ड प्राणिषु (प्राणिभ्यः) पापं कर्म अकुर्वाणः एषो महान् अग्रन्थः व्याख्यात· ओजः द्युतिमतः खेदज्ञः उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा।

पदार्थ–एगे–कई एक। **मेहावी**–बुद्धिमान व्यक्ति। **मज्झिमेणं**–मध्यम-यौवन। **वयसावि**–वय-अवस्था मे। **पंडियाणं**–तीर्थकरादि पण्डित पुरुषों के। **वयणं**–वचन। **सुच्चा**–सुनकर। **निसामिया**–हृदय में सोच-विचार कर कि। **आरिएहिं**–आर्य पुरुषो–तीर्थकरादि ने। **समियाए**–समता भाव से। **धम्मे**–श्रुत और चारित्र रूप धर्म का। **पवेइए**–प्रतिपादन किया है। **ते**–वे। **संबुज्झमाणा**–बोध को प्राप्त हुए है, और। **समुट्ठिया**–दीक्षित होकर धर्म का परिपालन करने को उद्यत हुए है।

अणवकंखमाणा—काम-भोगों की इच्छा न रखते हुए। **अणइवाएमाणा**—प्राणियो की हिंसा न करते हुए। **अपरिग्गहेमाणा**— परिग्रह न रखते हुए। **नोपरिग्गहावंती**—अपने शरीर पर ममता नही रखते हुए। **च**—समुच्चय अर्थ में है। **ण**—वाक्यालंकार मे है। **सव्वावंति**—सर्व। **लोगंसि**—लोक मे। **निहाय दंडं पाणेहिं**—प्राणियो के दड-परिताप, पीडादि को छोडकर। पाव **कम्मं**—पाप कर्म। **अकुव्वमाणे**—नही करते है। **एस**—उन। **महं**—महान् पुरुषो को जो। **ओए**—राग-द्वेष से रहित हैं। **जुइमस्स**—संयम या मोक्ष मार्ग के। **खेयन्ने**—ज्ञाता—जानने वाले है। **उववायं**—देवो के उपपात। च—और। **चवणं**—च्यवन (मृत्यु) को। **नच्चा**—जानकर, जो पाप कर्म एव कषायो का त्याग कर देते हैं और। **अगथे**—जिनके पास धनादि परिग्रह नही है, उन्हें निर्ग्रन्थ। **वियाहिए**—कहते है।

मूलार्थ—कई एक व्यक्ति मध्यवय में भी बोध को प्राप्त होकर धर्म में उद्यत होते है। बुद्धिमान तीर्थकरादि के वचनो को सुनकर और समता भाव से हदय मे विचार कर, तीर्थकरो के प्रतिपादन किए हुए धर्म मे दीक्षित होकर वे काम-भोगो के त्यागी, प्राणियो की हिंसा से निवृत्त, धनादि परिग्रह से रहित होते हुए अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते है। वे महापुरुष सपूर्ण लोक मे स्थित समस्त प्राणियों के दड का परित्याग करके किसी भी प्रकार के पापकर्म का आचरण नहीं करते है। वे बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थि—परिग्रह से रहित होने के कारण निर्ग्रन्थ कहे गए है। अत. जो साधक राग-द्वेष से रहित है और सयम एव मोक्ष के ज्ञाता है, वे देवो के उपपात एवं च्यवन को जानकर कभी भी पापकर्म का आचरण नही करते है।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि मनुष्य तीनो अवस्थाओं—बाल्य, यौवन एव वृद्ध अवस्था मे साधना को साध सकता है। फिर भी यहां मध्यम अवस्था को लिया गया है। इस समय में प्राय· बुद्धि परिपक्व होती है। इसलिए वह अपने हिताहित का भली-भांति विचार कर सकता है। अत कोई व्यक्ति तीर्थकर के या आचार्य आदि के वचनों से बोध को प्राप्त होकर श्रुत और चारित्र धर्म को स्वीकार करता है। वह समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर समस्त आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर देता है। वह समस्त पदार्थो पर से—यहां तक कि अपने शरीर पर से भी [illegible]

लेता है। किसी भी पदार्थ मे उसकी ममता नहीं रहती है। वह इस बात को भली-भांति जानता हे कि ये भोग के साधन अस्थायी हैं, और तो क्या देवों का विपुल ऐश्वर्य भी अस्थायी है। वे भी एक दिन अपनी ऐश्वर्य सम्पन्न स्थिति से गिर जाते है। जब देवों की यह स्थिति है—जिन्हें लोग अमर कहते है, तो मनुष्य की क्या गिनती है? ऐसा सोचकर वे कभी भी पाप कर्म का आचरण नहीं करते है। समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर सदा सयम साधना मे सलग्न रहते है। ऐसे व्यक्ति ही निर्ग्रन्थ[1] कहलाते हैं।

परन्तु, जो युवक साधना पथ को स्वीकार करके भी उसमे ग्लानि को प्राप्त होते है, उनके सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्—आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं॥205॥

छाया—आहारोपचया देहाः परीषह प्रभंजिनः (भंगुरा) पश्यत एके सर्वैरिन्द्रियैः परिग्लायमानैः।

पदार्थ—पासह—हे शिष्य! तू देख। **आहारोवचया**—आहार से उपचित। **देहा**—शरीर मे। **परीसह**—परीषहो के उत्पन्न होने पर। **एगे**—कई एक व्यक्ति। **सव्विंदिएहिं**—सब इन्द्रियों से। **परिगिलायमाणेहि**—ग्लानि को, या। **पभगुरा**—नाश को प्राप्त होते है।

मूलार्थ—हे शिष्य! तू देख, यह आहार से परिपुष्ट हुआ शरीर परीषहो के उत्पन्न होने पर विनाश को प्राप्त होता है। अत कुछ साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर सब तरह से ग्लानि या नाश को प्राप्त होते है।

हिन्दी-विवेचन

शरीर की वृद्धि अनुकूल आहार पर आधारित है। योग्य आहार के अभाव मे शरीर क्षीण होता रहता है और इन्द्रियां भी कमजोर हो जाती हैं। अत. यह शरीर

---

1 धन-धान्य, घर-परिवार आदि बाह्य साधन-सामग्री बाह्य ग्रन्थि—गाठ कहलाती है और राग-द्वेष, ममत्व एव आसक्ति भाव आदि मनोविकार अभ्यन्तर ग्रन्थि कहलाते हैं और बाह्य एव अभ्यन्तर ग्रन्थि का त्यागी साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है।

क्षणिक है, नाशवान है, फिर भी धर्म-साधना करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। मनुष्य के शरीर में ही साधक अपने चरम उद्देश्य को सफल बना सकता है। वह सदा के लिए कर्मबन्ध से छुटकारा पा सकता है। इसलिए साधक को सदा इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ कायर लोग परीषहों के उत्पन्न होने पर ग्लानि का अनुभव करते हैं। वे नाशवान शरीर पर ममत्व लाकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

परन्तु वीर पुरुष किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट नही होते। वे परीषहों के उपस्थित होने पर किसी भी प्रकार की चिन्ता नही करते। इस विषय मे सूत्रकार कहते हे—

मूलम्—ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने, बलन्ने, मायन्ने, खणन्ने, विणयन्ने, समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइ॥206॥

छाया—ओजः दया दयते यः सन्निधानस्य खेदज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः, बलज्ञः, मात्रज्ञः, क्षणज्ञः, विनयज्ञः, समयज्ञः परिग्रहमममत्वेन कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञः उभयतः छेत्ता निर्वाति।

पदार्थ—ओए—रागादि से रहित अकेला भिक्षु क्षुधापरीषहादि के होने पर। **दयं दयइ**—दया का पालन करे। **जे**—जो। **संनिहाणसत्थस्स**—नरकादि के स्वरूप के निरूपक शास्त्र या कर्म रूप सन्निधान के शस्त्र—संयम का। **खेयन्ने**—परिज्ञाता है। **से**—वह। **भिक्खू**—भिक्षु। **कालन्ने**—काल के स्वरूप का परिज्ञाता। **बलन्ने**—बल का परिज्ञाता। **मायन्ने**—परिमाण को जानने वाला। **समयन्ने**—समय का ज्ञाता एव। **परिग्गहं**—परिग्रह के विषय में। **अममायमाणे**—ममत्व न करता हुआ। **कालेणुट्ठाइ**—समय पर कार्य करने वाला। **अपडिन्ने**—कषाय आदि की प्रतिज्ञा से रहित। **दुहओ**—दोनो प्रकार के राग-द्वेष अथवा द्रव्य और भाव से। **छित्ता**—मर्म का छेदन करने वाला। **नियाइ**—निश्चित रूप से सयमानुष्ठान मे सलग्न रहता है।

मूलार्थ—रागद्वेष से रहित भिक्षु क्षुधा आदि परीषहों के उत्पन्न होने पर भी दया का पालन करता है। वह भिक्षु जो नरक आदि के स्वरूप का वर्णन करने वाले शास्त्रो का परिज्ञाता है, काल का ज्ञाता है, अपने बल का ज्ञाता है, परिमाण आदि

का ज्ञाता है, अवसर का ज्ञाता है, विनय का ज्ञाता है तथा स्वमत और परमत का ज्ञाता है, परिग्रह में ममत्व नही रखता है और नियत समय पर क्रियानुष्ठान करने वाला है, वह साधक कषायों की प्रतिज्ञा से रहित और राग-द्वेष का छेदन करने वाला है और वह निश्चित रूप से सयम-साधना मे संलग्न रहता है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का क्षेत्र परीषहो का क्षेत्र है। साधु वृत्ति मे परीषहो का उत्पन्न होना आश्चर्य जनक नही है, अपितु परीषहों का उत्पन्न न होना आश्चर्य का कारण हो सकता है। अत· साधक परीषहो के उत्पन्न होने पर दया भाव का परित्याग नही करता है। वह जीवो की दया एव रक्षा करने में सदा सलग्न रहता है। दया सयम का मूल है, इसलिए यहां सूत्रकार ने दया शब्द का प्रयोग किया है। क्योंकि, दयाहीन व्यक्ति सयम का परिपालन नही कर सकता। इसलिए प्राणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी साधक दयाभाव का परित्याग नही करता है।

ऐसे सयम का पालन वही कर सकता है, जो कर्म शास्त्र का परिज्ञाता है और सयम विधि का पूर्ण ज्ञाता है[1]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुनि को कर्म बन्ध के कारण एव उसके क्षय करने के साधन का परिज्ञान होना चाहिए और यह परिज्ञान आगमों के अध्ययन, स्वाध्याय एवं चिन्तन से ही हो सकता है। स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन में संलग्न रहने वाला साधक ही उपयुक्त समय एव आहार आदि की मात्रा—परिमाण का ज्ञाता हो सकता है। वह परिग्रह मे ममत्व न रखते हुए शुद्ध सयम का पालन कर सकता है। अत· मुनि को निष्ठा पूर्वक स्वाध्याय एव चिन्तन में सलग्न रहना चाहिए और परीषहो के उत्पन्न होने पर भी दया भाव का त्याग नही करना चाहिए।

इससे सयम में निष्ठा बढती है और उसकी साधना मे तेजस्विता आती है। इस सबन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

---

1 यहा पर—"सनिहाण सत्थस्सखेयन्ने" के वृत्तिकार ने ऊपर बतलाये गए दोनों अर्थ इस प्रकार किये हैं—(सम्यङ्निर्धीयते नरकादिगतिषु येन तत्सन्निधान कर्म तस्य स्वरूप-निरूपक शास्त्रं तस्य खेदज्ञो—निपुण·, यदिवा सन्निधानस्य कर्मण· शस्त्रं सयम सन्निधान- शस्त्र तम्यखेदज्ञ·-सम्यक् सयमस्यवेत्ता") इत्यादि।

मूलम्—तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया-आउसंतो समणा! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति? आउसंतो गाहावई! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा (पज्जालित्तए वा) कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि॥207॥

छाया—तं भिक्षुं शीतस्पर्श परिवेपमानगात्रमुपसंक्रम्य गृहपतिः ब्रूयात्—आयुष्मन् श्रमण! नो खलु (ते) भवन्तं ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते? आयुष्मन् गृहपते! न खलु मम ग्रामधर्माः उद्बाधन्ते, शीतस्पर्श च न खलु अहं शक्नोमि अधिपोढुम्, न खलु मे कल्पते अग्निकाय (मनाग्) उज्ज्वालयितुं वा प्रज्वालयितुं वा कायं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा अन्येषां वा वचनात् स्यात् स एवं वदन्तं (वदतः) परः अग्निकाय उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य काय आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा तच्च भिक्षुः प्रतिलेख्य अवगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि।

पदार्थ—**तं**—उस। **भिक्खुं**—भिक्षु को। **सीयफासपरिवेवमाणगायं**—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से काप रहा है। **उवसंकमित्ता**—उसके समीप जाकर। **गाहावई**—गृहपति। **बूया**—कहे कि। **आउसंतो समणा**—हे आयुष्मन श्रमण! **खलु**—निश्चय ही। **ते**—तुझे। **गामधम्मा**—ग्राम धर्म। **नो उव्वाहंति**—पीडित नही करता है। **खलु**—निश्चयार्थ है, किन्तु। **अह**—मै। **च**—समुच्चय अर्थ मे है। **सीयफासं**—शीत के स्पर्श को। **अहियासित्तए**—सहन करने मे। **नो संचाएमि**—समर्थ नहीं हू। **खलु**—पूर्ववत। **अगणिकायं**—अग्नि काय को। **उज्जालित्तए वा**—उज्ज्वलित करना। **पज्जालित्तए वा**—प्रज्वलित करना। **कायं**—शरीर को। **आयावित्तए वा**—थोडा-सा तापना और। **पयावित्तए वा**—अधिक तापना अथवा। **अन्नेसि वा**—अन्य व्यक्ति को। **वयणाओ**—कह कर अग्नि प्रज्वलित करवाना। **सिया**—कदाचित्। **स**—वह। **एवं वयंतस्स**—इस प्रकार बोलने पर। **परो**—पर-गृहस्थ। **अगणिकाय**—अग्नि काय को। **उज्जालित्ता**—उज्ज्वलित करके। **पज्जालित्ता**—प्रज्वलित करके। **काय**—साधु

की काया—शरीर को। **आयाविज्ज वा**—थोडा-सा तपावे। **पयाविज्ज वा**—विशेष रूप से तपावे। **मे**—मुझे। **नो कप्पइ**—नहीं कल्पता। **च**—पुनः। **तं**—मुनि उस अग्निकाय के आरम्भ को। **पडिलेहाए**—अपनी बुद्धि से विचार कर। **आगमित्ता**—भली-भाति जानकर। **तं**—उस गृहस्थ से इस प्रकार। **आणविज्जा**—कहे। **अणासेवणाए**—यह अग्नि मेरे सेवन करने योग्य नही है। अत. मुझे इस अग्नि का सेवन करना नही कल्पता, अर्थात् मै इसका सेवन नही कर सकता हू। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हू।

मूलार्थ—जिसका शरीर शीत के स्पर्श से कॉप रहा है, ऐसे भिक्षु के समीप आकर यदि कोई गृहस्थ कहने लगे कि हे आयुष्मन् श्रमण! आप विषय विकार से पीडित तो नही हो रहे है? उसके इस सशय का निराकरण करने के लिए मुनि उसे कहे कि मुझे ग्रामधर्म पीडित नही कर रहा है, किन्तु मै शीत के स्पर्श को सहन नही कर सकता! मुझे अग्निकाय को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करना, अग्नि से शरीर को थोडा-सा गर्म करना या अधिक गरम करना अथवा दूसरो से करवाना नही कल्पता है। यदि साधु के इस प्रकार बोलने से कभी कोई गृहस्थ अग्नि को उज्ज्वलित-प्रज्वलित करके उस साधु के शरीर को थोड़ा या अधिक गरम करे या गरम करने का प्रयत्न करे, तो भिक्षु उस गृहपति को इस प्रकार प्रतिबोधित करे कि यह अग्नि मेरे लिए अनासेव्य है, अर्थात् मुझे अग्नि का सेवन करना नही कल्पता। अत मै इसका सेवन नही कर सकता। इस प्रकार मै कहता हूँ।

हिन्दी-विवेचन

जीवन मे कपन विकारो के वेग से होता है। विकार भी द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के होते है। शीत एव ज्वर आदि द्रव्य विकार है, जिनके कारण शरीर मे कपन होता है। काम, क्रोध, मोह आदि भाव विकार है और जब इनका वेग होता है, उस समय भी शरीर कापने लगता है। इस तरह भले ही सर्दी से, ज्वर से या काम आदि से शरीर मे कम्पन हो, वह विकारजन्य ही कहलाता है। परन्तु, द्रव्य विकारो से उत्पन्न कम्पन जीवन के लिए अहितकर नही है, परन्तु भाव विकारो के वेग से उत्पन्न कम्पन जीवन का पतन भी कर सकता है। इसलिए साधक को भाव विकारों के आवेग से सदा दूर रहना चाहिए।

कुछ मनुष्यो का स्वभाव होता है कि वे प्रत्येक मनुष्य की चेष्टा को अपनी चेष्टा के अनुरूप देखते या समझते है। उन्हे काम-भोगों के आवेग से कम्पन पैदा होता है, तो वे दूसरे व्यक्ति को कापते हुए देखकर उसे भी काम-विकार से पीडित समझने लगते है। ऐसे व्यक्ति के सन्देह को अवश्य दूर करना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र मे बताई गई है।

कोई साधु किसी गृहस्थ के घर भिक्षा को गया। सर्दी की अधिकता के कारण उसके शरीर को कापते हुए देखकर यदि कोई गृहस्थ पूछ बैठे कि क्या आपको काम-वासना का वेग सता रहा है? तो मुनि स्पष्ट शब्दो मे कहे कि मै वासना से प्रताडित नहीं हू, परन्तु सर्दी की अधिकता के कारण काप रहा हूं। यह सुनकर यदि गृहस्थ कहे कि तुम अग्नि ताप लो। यदि तुम हमारे चूल्हे के पास जाना नहीं चाहते हो, तो हम ताप का साधन यहा लाकर दे दे। उस समय मुनि कहे कि हे देवानुप्रिय! मुझे अग्नि तापना नही कल्पता है। चूँकि वह सजीव है, इसलिए आग तापने से तेजस्कायकि जीवो की हिसा होती है। इस तरह वह समस्त शकाओ का निराकरण करके विशुद्ध भावो के साथ साधना मे संलग्न रहे।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक में परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करने का उपदेश दिया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अभिग्रहनिष्ठ मुनि के लिए वस्त्र-पात्र रखने की मर्यादा का उल्लेख किया गया है और अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहो के उत्पन्न होने पर वह सयम का त्याग न करे—भले ही प्राणो का त्याग करना पड़े तो प्रसन्नता के साथ कर दे, इस बात का उपदेश दिया गया है। उद्देशक के प्रारम्भ मे वस्त्राचार का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पाय चउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा, अहा परिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा, नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एय खु वत्थधारिस्स सामग्गियं॥208॥

छाया—यो भिक्षु· त्रिभिर्वस्त्रै· पर्युषिते चतुर्थैः तस्य (ण) नैव भवति चतुर्थ वस्त्र याचिष्ये स यदैषणीयानि वस्त्राणि याचेत यथा परिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् न धोवेत्, नो धौतरक्तवस्त्राणि धारयेत्, अगोपयन् ग्रामान्तरेषु अवमचेलिकः एतत् वस्त्रधारिणः सामग्रियं (भवति)।

पदार्थ—**जे**—जो अभिग्रहधारी। **भिक्खू**—भिक्षु। **तिहिं वत्थेहिं**—तीन वस्त्र। **एव पाय चउत्थेहिं**—चौथे पात्र से। **परिवुसिए**—युक्त है। **ण**—वाक्यालकार मे। **तस्स**—उसको। **नो एव भवइ**—शीतादि के लगने पर यह विचार नहीं होता। **चउत्थ वत्थं जाइस्सामि**—मे वस्त्र की याचना करूगा। **से**—वह, यदि उसके पास तीन वस्त्रा से कम हो तो। **अहेसणिज्जाइं**—वह एपणीय—निर्दोष। **वत्थाइं**—वस्त्रों की। **जाइज्जा**—याचना करे और। **अहापरिग्गहियाइं**—जैसा वस्त्र मिला है। **वत्थाइं**—

वैसे ही वस्त्र को। **धारिज्जा**—धारण करे, किन्तु। **नो धोइज्जा**—उसे प्रक्षालित न करे। **नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा**—और जो वस्त्र प्रक्षालित करके रंगा हुआ है, उसे भी धारण न करे। **अपलिओवमाणे गामंतरेसु**—ग्रामादि मे वस्त्र को गुप्त रखता हुआ—छिपा कर न चले। **ओमचेलिए**—अभिग्रहधारी मुनि अवमचेलक होता है, अर्थात् परिमाण एव मूल्य की अपेक्षा से वह स्वल्प वस्त्र रखता है। **खलु**—अवधारण अर्थ में है। **एयं**—यह। **वत्थधारिस्स**—वस्त्रधारी मुनि की। **सामग्गियं**—सामग्री है।

मूलार्थ—जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रो से युक्त है। शीतादि के लगने पर उसके मन मे यह विचार उत्पन्न नही होता है कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूगा, यदि उसके पास तीन वस्त्रो से कम हों तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वैसा ही धारण करे, किन्तु उसको प्रक्षालित न करे और न धोकर रगे हुए वस्त्र को धारण करे। वह ग्रामादि में विचरते समय अपने पास के वस्त्र को छिपाकर न रखे। वह वस्त्रधारी मुनि परिमाण के स्वल्प एव थोडे मूल्य वाला वस्त्र रखने के कारण अवमचेलक—अल्प वस्त्र वाला भी कहलाता है। यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री भी सदाचार है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र अभिग्रहनिष्ठ या जिनकल्प की भूमिका पर स्थित साधु के विषय मे है। इसमे बताया गया है कि जिस मुनि ने तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि शीतादि का परीषह उत्पन्न होने पर भी चौथे वस्त्र को स्वीकार करने की इच्छा न करे। वह अपनी प्रतिज्ञा का दृढता से पालन करने के लिए समभाव पूर्वक परीषह को सहन करे, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा एव मर्यादा से अधिक वस्त्र सग्रह करने की भावना न रखे। यदि उसके पास अपनी की हुई प्रतिज्ञा से कम वस्त्र हैं, तो वह दूसरा वस्त्र ले सकता है। उस समय उसे जैसा वस्त्र उपलब्ध हो, उसका उसी रूप मे उपयोग करे। न उसे पानी आदि से साफ करे और न उसे रगकर काम मे ले। वह गाव आदि मे जाते समय उस वस्त्र को छिपाकर भी न रखे। उक्त मुनि के पास अल्प मूल्य के थोडे वस्त्र होने के कारण सूत्रकार ने उसे अवमचेलक—अल्प वस्त्रवाला कहा है।

वृत्तिकार ने पात्र शब्द से पात्र के साथ उसके लिए आवश्यक अन्य उपकरणो

को भी ग्रहण किया है। जैसे—1—पात्र, 2—पात्र बन्धन, 3—पात्र स्थापन, 4—पात्र केसरिक—प्रमार्जनिका, 5—पटल, 6—रजस्त्राण, 7—गोच्छक—पात्र साफ करने का वस्त्र, ये सात उपकरण हुए[1]। तीन वस्त्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका, इस प्रकार जिनकल्प की भूमिका पर स्थित एव अभिग्रहनिष्ठ मुनि के 12 उपकरण होते है[2]।

साधु को मर्यादित उपधि रखने का उपदेश देने का कारण यह है कि उपधि सयम का साधन मात्र है। अत साधु सयम की साधना के लिए आवश्यक उपधि के अतिरिक्त उपधि का सग्रह न करे, क्योकि अनावश्यक उपधि के संग्रह से मन मे ममत्व का भाव जगेगा और उसका समस्त समय जो अधिक-से-अधिक स्वाध्याय, ध्यान एव चिन्तन-मनन मे लगना चाहिए, वह उसमे न लगाकर अनावश्यक उपधि को सभालने मे ही व्यतीत कर देगा। इस तरह स्वाध्याय एवं चिन्तन में विघ्न न पड़े तथा मन मे सग्रह एवं ममत्व की भावना उद्बुद्ध न हो, इस अपेक्षा से साधु को मर्यादित उपकरण रखने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे वस्त्र धोने का जो निषेध किया गया है, वह भी विशिष्ट अभिग्रह सपन्न मुनि के लिए ही किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है क्योकि स्थविर कल्पी मुनि कुछ कारणो से वस्त्र धो भी सकते है। विभूषा के लिए वस्त्र धोने का निषेध किया गया है और उसके लिए प्रायश्चित्त भी बताया गया है[3], परन्तु भगवान महावीर के शासन के सब साधुओ के लिए—भले ही वे जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी, रगीन वस्त्र पहनने का निषेध है।

इस तरह अभिग्रहनिष्ठ मुनि मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि का उपयोग करे, परन्तु ग्रीष्म ऋतु आने पर उसे क्या करना चाहिए, इस बात का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे

---

1 पत्त, पत्ता बधो, पायट्ठवण च पायकेसरिया।
पडलाइ रयत्ताण च गोच्छओ पाय णिज्जोगो॥ —आचाराङ्ग वृत्ति

2 तदेव सप्त प्रकार पात्र कल्पत्रय रजोहरण मुखवस्त्रिका चेत्येव द्वादशधोपधि-। —आचाराङ्ग वृत्ति

3 जे विभूसावडियाए वत्थ वा 4 धोवइ धोवत वा साइज्जइ। —निशीथ सूत्र, 15, 159

पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा, ओमचेले, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले॥209॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्-अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरोऽथवा अवमचेलः अथवा एकशाटकः अथवा अचेल.।

पदार्थ—**अह**—अब। **पुण**—पुन.। **एवं**—इस प्रकार। **जाणिज्जा**—जाने। **खलु**—निश्चय। **हेमंते**—हेमन्त काल। **उवाइक्कते**—अतिक्रान्त हो गया है और। **गिम्हे**—ग्रीष्म काल। **पडिवन्ने**—आ गया है तब। **अहापरिजुन्नाइं**—यथा परिजीर्ण। **वत्थाइं**—वस्त्रो को। **परिट्ठविज्जा**—परिष्ठापन कर दे—छोड दे। **अदुवा**—अथवा। **सतरुत्तरे**—यदि शीत के पडने की सम्भावना हो तो वह समर्थ वस्त्र का त्याग न करे, उसे पहने या पास रक्खे। **अदुवा**—अथवा। **ओमचेले**—तीन वस्त्रो में से कम कर दे। **अदुवा**—अथवा। **एगसाडे**—एक ही वस्त्र रखे जिससे सारा शरीर आच्छादित हो जाए। **अदुवा**—अथवा। **अचेले**—रजोहरण और मुखवस्त्रिका के अतिरिक्त अन्य सब वस्त्रो को छोडकर अचेलक हो जाए।

मूलार्थ—वह अभिग्रहधारी भिक्षु जब यह समझ ले कि हेमन्त—शीत काल चला गया है और ग्रीष्मकाल आ गया है और ये वस्त्र भी जीर्ण-शीर्ण हो गए है। ऐसा समझकर वह उनको त्याग दे। यदि निकट भविष्य मे शीत की सभावना हो तो मजबूत वस्त्र को धारण कर ले अथवा पास मे पडा रहने दे। शीत कम होने पर वह एक वस्त्र का परित्याग कर दे और शीत के बहुत कम हो जाने पर दूसरे वस्त्र का भी त्याग कर दे, केवल एक वस्त्र रखे जिससे लज्जा का निवारण हो सके अथवा शरीर आच्छादित किया जा सके। यदि शीत का सर्वथा अभाव हो जावे तो वह रजोहरण और मुखवस्त्रिका को रखकर वस्त्र मात्र का त्याग करके अचेलक बन जाए।

हिन्दी-विवेचन

वस्त्र की उपयोगिता शीत एव लज्जा निवारण के लिए है। यदि शीतकाल समाप्त हो गया है और वस्त्र भी बिलकुल जीर्ण-शीर्ण हो गया है, तो वह पूर्व सूत्र मे

कथित अभिग्रहनिष्ठ मुनि उन वस्त्रों का त्याग करके एक वस्त्र रखे। यदि कुछ सर्दी अवशेष है, तो वह दो वस्त्र रखे और सर्दी के समाप्त होने पर केवल लज्जा निवारण करने के लिए और लोगो की निन्दा एवं तिरस्कार से बचने के लिए वह एक वस्त्र रखे। यदि वह लज्जा आदि पर विजय पाने मे समर्थ है, तो वह पूर्णतया वस्त्र का त्याग कर दे, परन्तु मुखवस्त्रिका एव रजोहरण अवश्य रखे, क्योंकि ये दोनो जीव रक्षा के साधन एव जैन साधु के चिह्न है।

चूर्णिकार ने 'सातरोत्तर' शब्द का अर्थ एक अन्तर पट और दूसरा उत्तर पट किया है। आचार्य शीलाक ने लिखा है कि कहीं-कही वह उत्तरीय से अपना अग ढाकता है और कभी-कभी उसे बगल मे रख लेता है[1]। इन दोनो मे चूर्णिकार का अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रथो में भी निर्ग्रन्थो के लिए एक शाटक वाले निर्ग्रन्थ शब्द का उल्लेख मिलता है[2]।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के शासन में अचेलक साधु भी थे या यो कहना चाहिए कि स्थविरकल्पी साधु सवस्त्र रहते थे और सवस्त्र अवस्था मे मुक्ति को प्राप्त करते थे।

वस्त्रो के त्याग से जीवन मे किस गुण की प्राप्ति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—लाघावियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ॥210॥

छाया—लाघविकमागमयन्, तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति।

पदार्थ—लाघाविय—वह मुनि लाघवता को। **आगममाणे**—प्राप्त करता हुआ वस्त्र का त्याग करे, इससे। **से**—उस त्याग निष्ठ साधक के। **तवे**—तप। **अभिसमन्नागए भवइ**—सम्मुख होता है।

---

1 क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् सान्तरमुत्तर—प्रावरणीय यस्य स तथा क्वचित् प्रावृणोति क्वचित् पार्श्ववर्ति बिभर्ति।
—आचाराङ्ग वृत्ति

2 निगठा एक साटका। —अगुत्तरनिकाय, भाग 3, पृष्ठ 383

मूलार्थ—वस्त्र के परित्याग से लाघवता होती है और वस्त्राभाव के कारण होने वाले परीषहो को समभावपूर्वक सहन करने से वह साधक तप से सम्मुख होता है, अर्थात् वस्त्र का त्याग भी तपस्या है।

हिन्दी-विवेचन

कर्म के बोझ से हलका बनना, अर्थात् उसका क्षय—नाश करना ही साधना का उद्देश्य है। हलकापन त्याग से होता है। इसलिए मुनि-जीवन त्याग का मार्ग है। वह सदा अपने जीवन को कम बोझिल बनाने का प्रयत्न करता है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि वस्त्र का त्याग कर देने से जीवन में लाघवता—हलकापन आ जाता है। वस्त्र के अभाव मे शीत, दशमशक—मच्छर आदि जन्तुओं का, तृण स्पर्श आदि परीषहो का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु, इन्हे समभाव पूर्वक सहन करने से तप होता है और तप से कर्मो की निर्जरा होती है। इस तरह साधक कर्म के बोझ से हलका होता हुआ सदा आत्म-अभ्युदय की ओर बढता है।

वस्त्र के त्याग से जीवन में लाघवता आती है। प्रतिलेखना मे लगने वाला समय भी बच जाता है। इससे स्वाध्याय एव ध्यान के लिए अधिक समय मिलने लगता है, ओर स्वाध्याय-ध्यान से आध्यात्मिक जीवन का विकास होता है। वस्तुत आत्म-विकास की दृष्टि से प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसी भाव को लेकर स्थानाङ्ग सूत्र मे 5 कारणो से अचेलकत्व को प्रशस्त बताया है[2]—1—इससे प्रतिलेखना कम हो जाती है, 2—वह विश्वस्त होता है, 3—उसमे तप होता है, 4—लाघवता होती है और 5—इन्द्रियों का निग्रह—दमन होता है।

यह उपदेश तीर्थकर भगवान द्वारा दिया गया है, इस बात को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा॥211॥

---

1. पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तंजहा-अप्पापडिलेहा, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, लाघविए पसत्थे, विउले इदियनिग्गहे। —स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान 5

छाया—यदेतद् भगवता प्रवेदित तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—जमेयं—जो यह। **भगवया**—भगवान महावीर ने। **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है। **तमेव**—उसी को। **अभिसमिच्चा**—विचार कर। **सव्वओ**—सब तरह से। **सव्वत्ताए**—सर्व आत्मतया। **सम्मत्तमेव**—सम्यक्त्व या समभाव को। **समभिजाणिज्जा**—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ--भगवान महावीर ने आगम में जो सचेलक एव अचेलक अवस्थाओ का प्रतिपादन किया है, उसे सब तरह से, सर्वात्मतया तथा समभावपूर्वक अथवा सम्यक्तया जाने।

हिन्दी-विवेचन

सचेलकत्व और अचेलकत्व दोनो अवस्थाओं मे साधक अपने साध्य की ओर बढता है। वस्त्र रखना या नही रखना ये दोनो साध्य-सिद्धि के साधन है। साध्य की प्राप्ति के लिए नग्नत्व का महत्त्व है, परन्तु द्रव्य नग्नत्व का नहीं। यह बिलकुल सत्य है कि जब तक आत्मा कर्म से आवृत रहेगी, तब तक मुक्ति नही हो सकती, भले ही वह वस्त्र से अनावृत हो। मोक्षप्राप्ति के लिए राग-द्वेष एव कर्मो से सर्वथा अनावृत होना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। आत्मा को अनावृत बनाने के लिए राग-द्वेष, कषाय एव कर्मबन्धन के अन्य कारणो का त्याग करना अथवा आस्रव का निरोध करना जरूरी है, न कि वस्त्र का त्याग करना। यदि कोई साधक लज्जा आदि को जीतने मे समर्थ है, तो वह वस्त्र का भी त्याग कर सकता है और यदि वह लज्जा आदि के परीपहो पर विजय पाने की क्षमता नही रखता है, तो स्वल्प, मर्यादित वस्त्र रखकर भी राग-द्वेप पर विजय पाने की या आत्मा को कर्मो से सर्वथा अनावृत करने की साधना कर सकता है।

इस तरह भगवान द्वारा प्ररूपित सचेल एव अचेल दोनो मार्गो का सम्यक्तया अवलोकन करके साधक को अपनी योग्यतानुसार मार्ग का अनुकरण करके राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी एक मार्ग को ही एकान्त रूप से श्रेष्ठ या निकृष्ट नही मानना चाहिए, क्योंकि, दोनो मार्ग आत्मा को कर्मो से अनावृत करने के साधन है, अत दोनो ही श्रेष्ठ है।

इस तरह प्रबुद्ध पुरुष भगवान के वचनो पर विश्वास करके समभावपूर्वक परीषहो को सहते हुए कर्मो से अनावृत होने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु, जो भगवान के मार्ग को सम्यक्तया नही जानते है, जव उनके सामने परीषह आते हैं, तब उनकी क्या स्थिति होती है, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स काल परियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, निस्सेस आणुगामियं, त्तिबेमि॥212॥

छाया–यस्य (णं) भिक्षो रेवं भवति–स्पृष्ट· खलु अहमस्मि नालमहमस्मि शीतस्पर्शमध्यासयितु स वसुमान् सर्वसमन्वाऽतप्रज्ञानेनात्मना कश्चिद-कारणतया आवृत्त· तपस्विनस्तत् श्रेय· यदैकः वेहानसादिकं तत्रापि तस्य कालपर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतनं हितं, सुखं। क्षमं निश्रेयसमानु-गामिकमिति ब्रवीमि।

पदार्थ–णं–वाक्यलकार मे है। **जस्स**–जिस। **भिक्खुस्स**–भिक्षु के। **एवं भवइ**–इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि। **पुट्ठो अहमंसि**–मैं शीतादि परीषहों से स्पर्शित हो गया हू। **खलु**–अवधारणार्थ मे है। **अहमंसि**–मै। **सीयफासं**–शीत स्पर्श को। **अहियासित्तए**–सहन करने मे। **नालं**–समर्थ नही हू। **से**–वह साधु। **वसुमं**–सयम रूप धन से युक्त। **सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं**–सब तरह से ज्ञान सम्पन्न होने से। **अप्पाणेण**–अपनी ज्ञान-निष्ठ आत्मा से। **केइ**–किसी उपसर्गादि के उपस्थित होने पर। **अकरणयाए**–ओषधि के न करने से। **आउट्टे**–सयम मे ठहरता है–अवस्थित है। **तवस्सिणो**–उस तपस्वी को। **हु**–जिससे। **तं**–उसके लिये। **सेयं**–मृत्यु श्रेयस्कर है। **जमेगे**–जो एक। **विहमाइए**–फासी लगा कर मर जाना। **तत्थावि**–वह मृत्यु। **तस्स**–जो कि उसका। **कासपरियाए**–काल पर्याय बनती है। **सेऽवि**–वह भी। **तत्थ**–उस समय। **विअंतिकारए**–अन्त क्रिया करने वाला है। **इच्चेयं**–यह पूर्वोक्त मृत्यु। **विमोहायतणं**–मोह के दूर करने का स्थान

है। **हिय**—हितकारी है। **सुह**—सुखकारी है। **खमं**—यथार्थ। **निस्सेसं**—मोक्ष प्रदात्री है। **आणुगामियं**—साथ चलने वाली है। **त्तिबेमि**—ऐसा मैं कहता हूं।

मूलार्थ—जिस भिक्षु को रोगादि के स्पर्श होने से अथवा शीतादि परीषहों से इस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं कि मैं शीतादि के स्पर्श को सहन नहीं कर सकता हू। फिर भी वह सयम एव ज्ञान संपन्न साधु किसी भी औषध का सेवन न करके भी सयम में स्थित है। उस तपस्वी मुनि को ब्रह्मचर्यादि की रक्षा के लिये फासी आदि से मृत्यु का आलिगन करना भी श्रेयस्कर है। उसकी वह मृत्यु कर्म-नाशक मानी गई है। वह मृत्यु उसके मोह को दूर करने वाली है। अत उसके लिए वह मृत्यु हितकारी है, सुखकारी है और शक्ति एव मोक्ष-प्रदायिनी है। वह संयम की रक्षा के लिए ऐसा कार्य करता है, अत' उससे निर्जरा एव पुण्यबध भी होता है। इसलिए यह मृत्यु भवान्तर मे साथ जाने वाला भी है।

हिन्दी-विवेचन

साधना के मार्ग मे अनेक परीषह उत्पन्न होते है, उन पर विजय पाने का प्रयत्न करना साधु का परम कर्तव्य है। परन्तु, अनुकूल या प्रतिकूल परीषहो से घबराकर सयम का त्याग करना उसके लिए श्रेयस्कर नही है। अपने व्रतो से भ्रष्ट होने वाला साधक अपने जीवन का पतन करना है और भवभ्रमण को बढाता है। अत ऐसी स्थिति आने पर विषादि खाकर या अनशन करके मर जाना उसके लिए अच्छा है, परन्तु संयमपथ का त्याग करना अच्छा नही है। जिस समय राजमती को गुफा के एकान्त स्थान मे देखकर रथनेमि विचलित हो उठना है और उससे विषय-भोग भोगने की प्रार्थना करता है, उस समय राजमती उसे सद्बोध देते हुए यही बात कहती है कि हे मुनि! तुझे धिक्कार है कि तू वमन किए त्यागे हुए भोगो की पुन इच्छा करता है। इस जीवन की अपेक्षा तेरे लिए मर जाना श्रेयस्कर है[1]।

जेन आगमो मे आत्महत्या करने का निषेध किया गया है। विष खाकर या फासी लगा कर मरने वाले को बाल—अज्ञानी कहा गया है। परन्तु, विवेक एवं ज्ञान

---

1 धिरत्थु तेऽजसोकामी जो त जीविय कारणा,
वन्त इच्छसि आवेउ सेयं ते मरण भवे। —दशवैकालिक, 2,7

पूर्वक धर्म एव संयम की सुरक्षा के लिए आत्महत्या करना पाप नहीं, बल्कि धर्म है। वह मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है।

अस्तु, प्रस्तुत सूत्र अपवाद स्वरूप है। धर्म-सकट के समय ही साधक को विषपान करके या गले मे फदा डालकर मरने की आज्ञा दी गई है। आगम मे कहा गया है कि भगवान ने दो प्रकार से मरने की आज्ञा नही दी है, परन्तु विशेष परिस्थिति में उसका निषेध भी नही किया है[1]। इसी अपेक्षा से प्रस्तुत उद्देशक मे सयम को सुरक्षित रखने के लिए मृत्यु को स्वीकार करने की आज्ञा दी है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

1. दो मरणाइ जाव णो णिच्च अब्भणुन्नाइं भवन्ति कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइ तजहा-देहाणसे चेव, गिद्धपिट्ठे चेव। —स्थानाङ्ग सूत्र, 2, 4

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

पंचम उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक मे अभिग्रहनिष्ठ मुनि के वस्त्र-पात्र की मर्यादा एव सयम की रक्षा हेतु विषपान आदि के द्वारा प्राणत्याग का मार्ग बताया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अभिग्रहनिष्ठ मुनि का एव पडितमरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्—जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायत्तइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ-तइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने, अहा परिज्जुन्नाइं वत्थाइं परिठट्विज्जा, अहापरिज्जुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतर संकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा 4 आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं 4 भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे॥213॥

छाया—यः भिक्षुः द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितः पात्रतृतीयाभ्यां तस्य (ण) नैवं भवति तृतीयं वस्त्र याचिष्ये तस्य अथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत् यावत् एवं तस्य भिक्षो· सामग्रयं अथ पुनरेवं जानीयात् अपक्रान्तः खलु हेमन्तः ग्रीष्मः प्रतिपन्नः यथा परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत् अथवा सान्तरोत्तरः अमवचेल· अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिद भगवता प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया

सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात् तस्य णं भिक्षोः एवं भवति स्पृष्टः अबलः अहमस्मि नालमहमस्मि गृहान्तरं संक्रमितुं भिक्षाचर्या गमनाय तदेवं वदतः परः अभिहृतं अशनं वा 4 आहृत्य दद्यात् सः पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन्! न खलु मे कल्पते अभिहृतं अशनं वा 4 भोक्तुं वा पातुं वा अन्यद् वा एतत् प्रकारम्।

पदार्थ—**जे**—जो। **भिक्खू**—भिक्षु—साधु। **दोहिं वत्थेहिं**—दो वस्त्रो और। **परिवुसिए**—युक्त है। **पायत्तइएहिं**—तृतीय—तीसरे पात्र। **णं**—वाक्यालंकार मे है। **तस्स**—उस भिक्षु। **नो एवं भवइ**—मन मे यह भावना नही होती कि। **तइयं वत्थं जाइस्सामि**—मै तीसरे वस्त्र की याचना करूगा। **से**—वह भिक्षु। **अहेसणिज्जाइं**—यदि उसके दो वस्त्रों मे कमी हो तो वह निर्दोष। **वत्थाइं**—वस्त्रो की। **जाइज्जा**—याचना करे। **जाव**—यावत्—शेष विषय पूर्ववत् समझे। **एवं खु**—इस प्रकार निश्चय ही। **तस्स**—उस। **भिक्खुस्स**—भिक्षु का। **सामग्गियं**—यह आचार है। **अह**—अब। **पुण**—पुन.। **एवंजाणिज्जा**—इस प्रकार जानना चाहिए कि। **खलु**—निश्चय ही। **हेमंते**—हेमन्त काल। **उववाइक्कन्ते**—अतिक्रान्त व्यतीत हो गया है और। **गिम्हे पडिवन्ने**—गीष्म काल आ गया है, तब। **अहापरिज्जुन्नाइ वत्थाइं**—वह परिजीर्ण हुए वस्त्रो का। **परिट्ठविज्जा**—परिष्ठापन करे त्याग कर दे। **अदुवा**—अथवा। **संतरुत्तरे**—यदि शीतादिकी सभावना हो तो वस्त्र धारण करे या अपने पास रखे। **अदुवा**—अथवा। **ओमचेले**—वस्त्र कम कर दे। **अदुवा**—अथवा। **एग साडे**—एक शाटक उत्तरीय वस्त्र चादर मात्र रखे। **अदुवा**—अथवा। **अचेले**—मुख वस्त्रिका और रजोहरण को छोड कर अन्य सब वस्त्रो का त्याग करके अचेलक बन जाए। **लाघवियं**—इस प्रकार लाघवता को। **आगममाणे**—प्राप्त हुए। **से**—मुनि को। **तवे**—तप—कायक्लेशरूप तप। **अभिसमन्नागए**—सम्मुख। **भवइ**—होता है। **जमेयं**—जिसका। **भगवया**—भगवान महावीर ने। **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है। **तमेव**—उसे। **अभिसमिच्चा**—सम्यक्तया भली-भाति जानकर। **सव्वओ**—सर्व प्रकार से। **सव्वत्ताए**—सर्वात्मभाव से। **सम्मत्तमेव**—सम्यक्त्व या समभाव को। **समभिजाणिया**—सम्यक् प्रकार से जाने। **णं**—वाक्यालकार में है। **जस्स**—जिस। **भिक्खुस्स**—भिक्षु का। **एवं**—इस प्रकार अध्यवसाय। **भवइ**—होता है, कि। **पुट्ठो**—

वातादि रोगों से स्पृष्ट होने से। **अबलो अहमंसि**–मै निर्बल हूं अत.। **गिहंतर संकमणं**–एक घर से दूसरे घर मे सक्रमण करने–जाने को तथा। **भिक्खायरियं**–भिक्षाचरी–आहारादि गवेषणा के लिए घरो मे। **गमणाय**–जाने के लिए। **नालमहमंसि**– मैं समर्थ नही हू। **से**–उसे। **एव**–इस प्रकार। **वयंतस्स**–बोलते हुए सुनकर। **परो**–गृहस्थ। **अभिहडं**–जीवादि का उपमर्दन करके बनाया हुआ। **असण वा 4**–आहार-पानी आदि खाद्य पदार्थ। **आहट्टु**–घर से लाकर। **दलइज्जा**–देवे। **से**–वह भिक्षु। **पुव्वामेव**–पहले ही। **आलोइज्जा**–यह विचार करे कि यह आहार दोष युक्त है, अत । **आउसंतो**–हे आयुष्मन् गृहस्थ। **खलु**–निश्चय अर्थ म जानना। **अभिहडं**–सम्मुख लाया हुआ। **असणं वा 4**–आहारादि। **भुत्तएवा**–खाना। **पायएवा**–पीना। **नो कप्पइ**–नही कल्पता है तथा। **एयप्पगारे**–इसी प्रकार से। **अन्ने वा**–अन्य उद्‌गमादि दोषयुक्त आहार भी मुझे ग्रहण करना नही कल्पता है।

मूलार्थ–जो भिक्षु दो वस्त्र और तीसरे पात्र से युक्त है, उसे यह विचार नही होता है कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा। यदि उसके पास दो वस्त्रो से कम हो तो वह निर्दोष वस्त्र की याचना कर लेता है। जैसा कि पूर्व मे वर्णन कर चुके है। यह सब भिक्षु का आचार है। जब उसे यह प्रतीत हो कि अब हेमन्त काल, शीत काल व्यतीत हो गया और ग्रीष्म काल–उष्णकाल आ गया है, तब वह जीर्ण फटे-पुराने वस्त्रो का त्याग कर दे। यदि उसे शीतादि के पडने की सभावना हो तो वह ऐसा वस्त्र अपने पास रख ले जो अधिक जीर्ण नही हुआ है या वह वस्त्र कम कर दे या एक चादर मात्र अपने पास रखे या मुखवस्त्रिका और रजोहरण को छोड़ कर अवशिष्ट वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जावे। वह भिक्षु लाघवता प्राप्त करने के लिए वस्त्रों का परित्याग करे। वस्त्रपरित्याग मे कायक्लेश रूप तप होता है। भगवान महावीर ने जिस आचार का प्रतिपादन किया है, उसका विचार करे और सर्वप्रकार तथा सर्वात्मभाव से सम्यक्त्व या समत्व–समभाव को जाने। जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं रोगादि के स्पर्श से दुर्बल होने से एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ हूँ, उसकी इस वाणी को सुनकर या भाव को समझ कर यदि कोई सद्‌गृहस्थ जीवो के उपमर्दन से सम्पन्न

होने वाले अशनादि पदार्थ साधु के लिए बनाकर या अपने घर से लाकर उसे दे या उन्हे ग्रहण करने के लिए साधु से विनती करे, तो साधु पहले ही उस आहार को देखकर उस गृहस्थ से कहे कि हे आयुष्मान्! मुझे यह लाया हुआ तथा इसी प्रकार का दूसरा सदोष आहारादि पदार्थ स्वीकार करना एव अपने उपभोग में लेना नहीं कल्पता। अतः मैं इसे ग्रहण नही कर सकता।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व सूत्र मे तीन वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि दो वस्त्र एव एक पात्र रखने वाला मुनि शीत आदि का परीषह उत्पन्न होने पर भी तीसरे वस्त्र की याचना न करे। वस्त्र सबधी पूरा वर्णन पूर्व सूत्र की तरह किया गया है।

यदि कभी वह अभिग्रहनिष्ठ मुनि अस्वस्थ हो जाए और घरों में आहार आदि के लिए जाने की शक्ति न रहे। वह भिक्षु ऐसा कहे कि मैं इस समय एक घर से दूसरे घर में भिक्षा के लिए नहीं जा सकता। उस समय उसके वचनो को सुनकर कोई सद्गृहस्थ अपने घर से साधु के लिए भोजन बनाकर साधु के स्थान मे लाकर उसे दे, तो वह साधु उसे स्पष्ट शब्दों मे कहे कि मुझे ऐसा आहार ग्रहण करना नहीं कल्पता है। साधु के लिए आरम्भ करके बनाया गया आहार तथा यदि कभी निर्दोष आहार भी हो तो भी साधु के लिए उसके स्थान पर लाया हुआ आहार लेना नही कल्पता। क्योकि, इसमें अनेक जीवो की हिंसा होती है और साधु आहार के दोषो की गवेषणा करके उनसे बच भी नही सकता है। इसलिए साधु अस्वस्थ अवस्था में भी ऐसा सदोष आहार स्वीकार न करे, परन्तु समभाव पूर्वक रोग एव भूख के परीषह को सहन करे।

इसके अतिरिक्त अभिग्रहनिष्ठ मुनि के अन्य कर्त्तव्यो का उल्लेख करते हुए। सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडिन्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंखं साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स

अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंखसाहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 1, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि 2, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 3, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि 4, एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेस्से तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं त्तिबेमि॥214॥

छाया—यस्य ण भिक्षोः अयं प्रकल्पः अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः ग्लानः अग्लानै अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाण वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि अहं चापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य अग्लानः ग्लानस्य अभिकांक्ष्य साधर्मिकस्य वैयावृत्यम् कुर्याम् करणाय आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वेषयिष्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि 1 आहृत्य प्रतिज्ञां अन्वीक्षिष्ये आहृतं च नो स्वादयिष्यामि 2 आहृत्य प्रतिज्ञां न अन्वीक्षिष्यामि आहृतं च न स्वादयिष्यामि 3 आहृत्य प्रतिज्ञा नान्वीक्षि आष्येहत च न स्वादयिष्यामि 4 एवं सः यथा कीर्तितमेव धर्म सम्यगभिजानन् शान्तः विरतः सुसमाहितलेश्यः तत्रापि तस्य कालपर्यायः स तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतद् विमोहायतनं हित सुखं क्षमं निश्रेयसं आनुगामिकमिति ब्रवीमि।

पदार्थ—**णं**—वाक्यालकार मे है। **जस्स**—जिस। **भिक्खुस्स**—भिक्षु का। **अयं**—यह—वक्ष्यमाण। **पगप्पे**—आचार है। **च**—समुच्चयार्थ मे। **खलु**—वाक्यालंकारार्थ मे है। **अहं**—मैं अन्य के द्वारा की हुई वैयावृत्य को। **पडिन्नत्तो**—स्वीकार करूंगा। **अपडिन्नत्तेहि**—उनसे यह नही कहूगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो, अर्थात् वे अप्रतिज्ञप्त है। **गिलाणो**—मै ग्लान हू पर। **अगिलाणेहिं**—अग्लानो से। **अभिकंख**—उद्देश्य करके। **साहम्मिएहिं**—सहधर्मियो समानधर्मियो से। **कीरमाणं**—करता हुआ। **वेयावडियं**—वैयावृत्य की। **साइज्जिस्सामि**—इच्छा करूंगा, जिस भिक्षु का यह आचार है, वह उसका पालन करता हुआ भक्त परिज्ञा से। मृत्यु प्राप्त करे किन्तु प्रतिज्ञा का भग न करे। **खलु**—वाक्यालकार अर्थ मे। **अवि**—पुनः अर्थ में जानना।

व–समुच्चार्थक है। **अहं**–मैं। **अपडिन्नत्तो**–अविहित। **पडिन्नत्तस्स**–वैयावृत्य करने के लिये कहे हुए के प्रति। **अगिलाणो**–मैं अग्लान हू। **गिलाणस्स**–ग्लान की निर्जरा के लिये वैयावृत्य करूंगा। **अभिकंख**–उद्देश करके। **साहम्मियस्स**–सहधर्मी के लिए। **वेयावडियं**–वैयावृत्य। **कुज्जा**–करूँगा, किस लिये? **करणाए**–उपकार आदि करने के लिये। **परिन्नं**–प्रतिज्ञा को। **आहट्टु**–ग्रहण करके वैयावृत्य करे। **अणुक्खिस्सामि**–पर सहधर्मी के लिये आहारादि का अन्वेषण करूंगा। **च**–और। **आहडं**–परका लाया हुआ आहार। **साइज्जिस्सामि**–मै आस्वादन करूगा। **आहट्टुपरिन्नं**–एक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है। **आहट्टु**–अन्य साधु के लिये। **आणुक्खिस्सामि**–अन्वेषण करूगा, किन्तु। **आहडं च**–उसके लाए हुए आहारादि का। **नो साइज्जिस्सामि**–मैं आस्वादन नहीं करूंगा। **आहट्टुपरिन्नं**–कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि। **नो आणक्खिस्सामि**–मै अन्य साधु के लिये आहार आदि की गवेषणा नही करूगा किन्तु। **आहडं च साइज्जिस्सामि**–उनके लाए हुए आहारादि का आस्वादन करूगा। **आहट्टुपरिन्नं**–कोई मुनि यह प्रतिज्ञा करता है कि। **नो आणक्खिस्सामि**–मैं अन्य के लिए आहारादि का अन्वेषण नहीं करूंगा और। **आहडं च नो साइज्जिस्सामि**–न उनका लाया हुआ ही खाऊंगा इस तरह भिक्षु विविध प्रतिज्ञाओ को ग्रहण करके कभी ग्लान होने पर जीवन का भले ही परित्याग कर दे, किन्तु प्रतिज्ञा का भग न करे। **एवं**–उक्त विधि से। **से**–वह भिक्षु। **अहाकिट्टियमेव**–भगवान द्वारा प्ररूपित। **धम्मं**–धर्म के स्वरूप को। **समभिजाणमाणे**–अच्छी तरह से जानता हुआ और उसका आसेवन करता हुआ विचरे। शेष वर्णन पूर्व कथित चतुर्थ उद्देशक की तरह समझे, तथा। **सन्ते**–कषायो के उपशम से शान्त। **विरए**–सावद्यानुष्ठान से विरत। **सुसमाहियलेसे**–सुसमाहित लेश्या वाला जिसने तेजो लेश्या आदि लेश्याओं का भली प्रकार से सग्रह किया है, उसका नाम सुसमाहित लेश्या है। **तत्थावि**–भक्त परिज्ञा मे। **तस्स**–उसकी। **कालपरियाए**–मृत्यु का अवसर, निर्जरा के लिए होता है, अत। **से**–वह भिक्षु। **तत्थ**–अनशन करने पर। **विअतिकारए**–यह समझे कि यह सब कर्म क्षय करने का कारण है। **इच्चेयं**–यह सर्व। **विमोहाययणं**–मोहनष्ट करने का स्थान है। **हियं**–इसलिए, यह मृत्यु हितकारी है। **सुहं**–सुखकारी है। **खमं**–क्षेमकारी है।

निस्सेसं—कल्याणकारी है। **आणुगामियं**—भवान्तर में साथ जाने वाली है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हूं।

मूलार्थ—जिस साधु का यह आचार है कि यदि मै रोगादि से पीड़ित हो जाऊं तो अन्य साधु को मैं यह नही कहूगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो। परन्तु यदि रोगादि से रहित, समान धर्म वाला साधु अपने कर्मो की निर्जरा के लिए मेरी वेयावृत्य करेगा, तो मै उसे स्वीकार करूगा। जब मै निरोग—रोगरहित अवस्था में होऊगा तो मै भी कर्मनिर्जरा के लिए समान धर्म वाले अन्य रोगी साधु की वैयावृत्य करूंगा। इस प्रकार मुनि अपने आचार का पालन करता हुआ अवसर आने पर भक्त परिज्ञा नाम की मृत्यु के द्वारा अपने प्राणो का त्याग कर दे, परन्तु अपने आचार को खण्डित न करे। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै साधुओ के लिए आहारादि लाऊगा और उनका लाया हुआ आहारादि ग्रहण भी करूगा। कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि मै अन्य साधु को आहारादि लाकर दूगा, परन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण नही करूँगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै अन्य साधुओं को आहार लाकर नही दूगा, किन्तु अन्य का लाया हुआ ग्रहण कर लूंगा। कोई साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मै न तो अन्य साधु को लाकर दूगा और न लाया हुआ खाऊगा। इस प्रकार भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को सम्यक्तया जानता हुआ उसका यथार्थ रूप से परिपालन करे। अत भगवान के कहे हुए धर्म का यथाविधि पालन करने वाले शान्त, विरत एव अच्छी लेश्या से युक्त साधु भक्त परिज्ञा से आयु कर्म के क्षय करने का कारण होता है। यह भक्त परिज्ञा मोह को नष्ट करने का स्थान है, इसलिए यह मृत्यु हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी और कल्याणकारी होने से भवान्तर मे साथ जाने वाली है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

साधना का जीवन स्वावलम्बन का जीवन है। साधक कभी अपने समानधर्मी साधक का सहयोग लेता भी है, तो वह अदीनभाव से एव उसकी स्वेच्छा पूर्वक लेता है। वह न तो किसी पर दबाव डालता है और न वह दीन स्वर से गिडगिड़ाता ही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया है कि परिहार विशुद्ध चारित्र निष्ठ एव अभिग्रह संपन्न मुनियो के ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि मै अस्वस्थ अवस्था मे किसी

भी समानधर्मी मुनि को वैयावृत्य—सेवा के लिए नही कहूंगा। यदि वह अपने कर्मो की निर्जरा के लिए सेवा करेगा तो उसे मै स्वीकार करूगा और इसी तरह मे भी यथा समय उसकी सेवा करूंगा। इस तरह वह अभिग्रहनिष्ठ मुनि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करे। कठिन-से-कठिन परिस्थिति मे भी प्रतिज्ञा को भंग न करे।

सेवा करने के संबन्ध मे चार भग—विकल्प बताए गए हैं। कुछ मुनि ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं अपने समान धर्मी अन्य मुनियों के लिए आहार लाऊंगा और उनका लाया हुआ आहार ग्रहण भी करूंगा। कुछ मुनि ऐसा नियम करते है कि मै अन्य मुनियो को आहार ला दूगा, परन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नही करूगा। कुछ मुनि ऐसा संकल्प करते हैं कि मै दूसरो का लाया हुआ ले लूगा, परन्तु उन्हे लाकर नही दूंगा। कुछ ऐसा नियम करते है कि मै न तो अन्य मुनि को आहार लाकर दूगा और न अन्य का लाया हुआ आहार स्वीकार ही करूगा।

भक्त परिज्ञा अनशन द्वारा पडितमरण को प्राप्त करने वाले भिक्षु के लिए बतायी गयी है कि वह कम-से-कम 6 महीने तक, मध्यम 4 वर्ष और उत्कृष्ट 12 वर्ष तक तप करे। इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की साधना से कर्मो की निर्जरा करके साधक अपनी आत्मा का विकास करता है। इसलिए इस तरह से प्राप्त होने वाली मृत्यु को सुखकारी, हितकारी एव कल्याणकारी कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि तपस्या से पाप मल नष्ट होता है और पाप मल के नाश होने से अन्त करण शुद्ध होता है और शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही समाधिमरण को प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक मुनि को अपनी ली हुई प्रतिज्ञा का दृढता से पालन करते हुए भक्त परिज्ञा अनशन के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करना चाहिए।

त्तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत समझे।

॥ पचम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

षष्ठ उद्देशक

पचम उद्देशक मे यह बताया गया है कि साधु अस्वस्थ अवस्था में भी अपने व्रतों एवं नियमो पर दृढ रहते हुए भक्त प्रत्याख्यान अनशन के द्वारा समाधिमरण को प्राप्त करे। अब प्रस्तुत उद्देशक मे एकत्व भावना का चिन्तन करते हुए इङ्गित मरण के द्वारा समाधि मरण को प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिईएण तस्सणं नो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभि—जाणिया॥215॥

छाया—यः भिक्षुः एकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्रद्वितीयेन तस्य नैवं भवति, द्वितीय वस्त्रं याचिष्ये, स अर्थैषणीयं वस्त्र याचेत् यथा परिगृहीतं वस्त्रं धारयेत् यावत् ग्रीष्मः प्रतिपन्न· यथा परिजीर्णवस्त्रं परिष्ठापयेत् अथवा एकशाटकः अथवा अचेलः लाघविकम् आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—**जे**—जो। **भिक्खू**—भिक्षु—साधु। **एगेण वत्थेण**—एक वस्त्र और। **पा बिईएण**—द्वितीय पात्र से। **परिवुसिए**—युक्त है। **णं**—वाक्यालंकार है। **तस्स**—उस भिक्षु के मन मे। **एवं**—इस प्रकार का। **नो भवइ**—विचार नही होता है कि वह शीतादि के लगने पर मै। **बिइयं**—द्वितीय। **वत्थं**—वस्त्र की। **जाइस्सामि**—याचना करूगा, यदि उसका वस्त्र जीर्ण हो गया हो तो। **से**—वह। **अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा**—एषणीय वस्त्र की याचना करे, और। **अहापरिग्गहिय**—याचना करने पर जैसा उसे वस्त्र मिले। **वत्थ**—वैसे ही वस्त्र को। **धारिज्जा**—धारण करे। **जाव**—यावत्।

गिम्हे पडिवन्ने—ग्रीष्म काल आ गया हो, तब। **अहापरिजुन्नं**—जो वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो चुका है। **वत्थं**—उस वस्त्र को। **परिट्ठविज्जा**—परिष्ठापित कर दे—त्याग दे। **अदुवा**—अथवा। **एगसाडे**—एक चादर रक्खे। **अदुवा**—अथवा। **अचेले**—वस्त्र का त्याग करके अचेलक बन जाए और वह। **लाघविय**—लाघवता को। **आगममाणे**—जानता हुआ। **जाव**—यावत्। **सम्मत्तमेव**—सम्यक्त्व या समभाव को। **समभिजाणिया**—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जो भिक्षु एक वस्त्र और दूसरे पात्र से युक्त है, उसको इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न नही होता कि शीतादि के लगने पर मै दूसरे वस्त्र की याचना करूगा। यदि उसका वस्त्र सर्वथा जीर्ण हो गया है तो फिर वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है। याचना करने पर उसे जैसा वस्त्र मिले वह उसे उसी रूप मे धारण करे और ग्रीष्म ऋतु के आ जाने पर जीर्ण वस्त्र को त्याग दे या एक शाटक—चादर रखे या अचेलक बन जाए। इस प्रकार वह लाघवता को प्राप्त होता हुआ सम्यक्तया समभाव को जाने।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अभिग्रहनिष्ट मुनि का वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस मुनि ने एक वस्त्र और एक पात्र रखने की प्रतिज्ञा की है, वह मुनि सर्दी लगने पर दूसरा वस्त्र लेने की भावना न करे। प्रस्तुत अध्ययन के चौथे उद्देशक मे तीन वस्त्र की और पाचवें उद्देशक मे दो वस्त्रों का प्रतिज्ञा करने वाले मुनियो का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक मे एक वस्त्र रखने वाले मुनि का वर्णन है। उत्तरोत्तर वस्त्र की सख्या मे कमी का उल्लेख किया गया है, शेष वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

यह हम पहले बता चुके है कि आत्म-विकास के लिए समभाव की आवश्यकता है। वस्त्र-पात्र आदि उपकरण शरीर-सुरक्षा के लिए आवश्यक है। अत· जब तक साधक शीत आदि के परीषह को समभाव पूर्वक सहन करने मे सक्षम नहीं है तथा लज्जा को नही जीत सकता है, तब तक उसे वस्त्र रखने की आवश्यकता है। इन कारणो के अभाव में, अर्थात् पूर्ण सक्षम होने पर वस्त्र की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः ऐसी स्थिति मे वह मुखवस्त्रिका एव रजोहरण—जो शरीररक्षा के लिए नही,

अपितु जीवरक्षा के लिए है—को छोड़कर शेष वस्त्रो का त्याग करके आत्मचिन्तन मे सलग्न रहे।

साधक को आत्म-चिन्तन कैसे करना चाहिए, इस विषय में सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया॥216॥

छाया—यस्य ण भिक्षोरेवं भवति एकोऽहमस्मि नमेऽस्ति कोपि, न चाहमपि कस्यापि एवं स एकाकिनमेवं आत्मानं समभिजानीयात् लाघविकं आगमयन् तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालकार में है। **जस्स**—जिस का विचार। **भिक्खुस्स**—भिक्षु को। **एवं**—इस प्रकार। **भवइ**—होता है कि। **एगे अहमंसि**—मै अकेला हू। **न मे अत्थि कोइ**—मेरा कोई नही है और। **न याहमवि**—न मै भी। **कस्सवि**—किसी का हू। **एवं**—इस प्रकार। **से**—वह साधु। **एगागिणमेव**—अकेला ही। **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को। **समभिजाणिज्जा**—सम्यक् प्रकार से जाने। **लाघविय**—लाघवता को। **आगममाणे**—जानता हुआ व पालन करता हुआ। **से**—उसके। **तवे**—तप। **अभिसमन्नागए भवइ**—अभिमुख—सम्मुख होता है। **जाव**—यावत्। **समभिजाणिया**—सम्यक् दृष्टि भाव को व समभाव को सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मै अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और न मै भी किसी का हू। इस प्रकार वह भिक्षु एकत्व भाव से सम्यक्तया आत्मा को जाने। क्योकि आत्मा मे लाघवता को उत्पन्न करता हुआ वह तप के सम्मुख होता है। अत वह सम्यक्तया समभाव को जाने, जिससे वह आत्मा का विकास कर सके।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे आत्मा के एकत्व भाव के चिन्तन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि साधक को यह सोचना-विचारना चाहिए कि इस संसार मे मेरा कोई सहयोगी

नहीं है और न मैं किसी का साथ दे सकता हूँ। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कृत कर्म के अनुसार सुख-दु:ख का वेदन करती है। अतः कोई भी शक्ति उसमे परिवर्तन नहीं कर सकती है। स्वय आत्मा ही अपने सम्यक पुरुषार्थ के द्वारा उस कर्म-बन्धन को तोडकर मुक्त बन सकता है। इसलिए यह आत्मा अकेला ही सुख-दु.ख का संवेदन करता है और कर्मबन्ध का कर्ता एव हर्ता भी यह अकेला ही है। इस प्रकार अपने एकाकीपन का चिन्तन करने वाला साधक प्रत्येक परिस्थिति में सयम मे सलग्न रहता है, वह परीषहो से घबराता नहीं। अत· साधक को सदा एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

चिन्तनशील साधक को आहार कैसे करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा4 आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासाएमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्त मेव समभिजाणिया॥217॥

छाया—स भिक्षुः वा भिक्षुणी वा अशन वा 4 आहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणां हनुं संचारयेत् आस्वादयन् दक्षिणतो वामा हनुं (क) नोसंचारयेत् आस्वादयन स अनास्वादयन् लाघविकं आगमयन् तप.तस्य अभिसमन्वागतो भवति यदिदं भगवता प्रवेदितं तदिद अभिसमेत्य सर्वत· सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—से—वह। **भिक्खू वा**—भिक्षु या। **भिक्खुणी वा**—भिक्षुणी-साध्वी। **असणं वा**—आहार-पानी, खादिम, स्वादिम आदि पदार्थो। **आहरेमाणे**—का उपभोग करते समय। **वामाओ हणुयाओ**—बाए कपोल से। **दाहिणं हणुयं**—दाहिने कपोल में। **आसाएमाणे**—आस्वादन करता हुआ। **नो संचारिज्जा**—सचार न करे और। **आसाएमाणे**—उन पदार्थो का आस्वादन करता हुआ। **दाहिणाओ**—दाहिने कपोल से। **वामं हणुयं**—बाए कपोल मे। **नो संचारिज्जा**—संचार न करे। **से**—परन्तु वह साधु। **आसाएमाणे**—अनास्वादन करता हुआ—पदार्थो का स्वाद न लेते हुए आहार

करे। **लाघवियं आगममाणे**—क्योकि आहार की लाघवता को जानता हुआ। **से**—वह। **तवे**—तप के। **अभिसमन्नागए भवइ**—सम्मुख होता है। **जमेयं भगवया**—भगवान ने जो भाव। **पवेइयं**—प्रतिपादन किया है। **तमेवं**—उस विषय को। **अभिसमिच्चा**—विचार कर। **सव्वओ**—साधक सर्व प्रकार से। **सव्वत्ताए**—सर्वात्मा से। **सम्मत्तमेव**—समभाव को। **समभिजाणिया**—सम्यक्तया जाने।

मूलार्थ—वह साधु या साध्वी आहार-पानी, खादिम और स्वादिम आदि पदार्थो का उपभोग करते समय बाए कपोल से दाहिने कपोल की ओर तथा दाहिने से बाए कपोल की ओर आस्वादन करता हुआ सचार न करे। किन्तु वह आहार का आस्वादन न करता हुआ आहार की लाघवता को जानकर तप के सन्मुख होता है। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है, उसे साधु सर्व प्रकार और सर्वात्मभाव से सम्यक्तया जानने एव समताभाव का परिपालन करने का प्रयत्न करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि आसक्ति एव तृष्णा कर्मबन्ध का कारण है। इसलिए साधक को अपने उपकरणो पर आसक्ति नही रखनी चाहिए। इतना ही नही, अपितु खाद्य पदार्थो को भी आसक्त भाव से नही खाना चाहिए। साधु का आहार स्वाद के लिए नहीं, परन्तु सयमसाधना के लिए है या यों भी कह सकते हैं कि सयमसाधना और शरीर को व्यवस्थित रखने के लिए उसे आहार करना पडता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि साधु को जैसा भी प्रासुक एव एषणीय आहार उपलब्ध हुआ हो, वह उसे बिना स्वाद लिए ही ग्रहण करे। इसमे यह भी बताया गया है कि रोटी आदि से ग्रास—कौर को मुह मे एक ओर से दूसरी ओर न ले जाए, अर्थात् इतनी जल्दी निगल जाए कि उस पदार्थ के स्वाद की अनुभूति मुह के जिस भाग में कौर रखा है, उसके अतिरिक्त दूसरे भाग को भी न हो।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'हनु' शब्द का अर्थ ठोडी नही, गाल (मुंह का भीतरी भाग) किया गया है और वह मुह मे एक गाल से दूसरे गाल की ओर फिरता जाता है। यहा ठोडी का अर्थ प्रसगोचित नहीं है।

इस प्रकार अनासक्त भाव से रूक्ष आहार करने से शरीर का रक्त एवं मास

सूख जाता है, उस समय साधक के मन मे समाधि मरण की भावना उत्पन्न होती है। उसी भावना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए से अणुपव्वेण आहारं संवट्टिज्जा अणुपुव्वेण आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे॥218॥

छाया–यस्य भिक्षो· एवं भवति तत् ग्लायामि च खलु अहं अस्मिन् समये इदं शरीरकं आनुपूर्व्या परिबोढुं स भिक्षुः आनुपूर्व्या आहारंसंवर्त्तयेत् आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकावस्थायी उत्थीय भिक्षुः अभिनिर्वृत्तार्चः।

पदार्थ–णं–वाक्यालकार मे है। **जस्स**–जिस। **भिक्खुस्स**–भिक्षु का। **एवं भवइ**–इस प्रकार का अभिप्राय होता है, कि। **च**–समुच्चय अर्थ में। **से**–तत् शब्द के अर्थ मे। यहा तत् शब्द वाक्योपन्यासार्थ मे है। च–समुच्चयार्थ मे है। **अहं**–मै। **इमंमि**–इस। **समए**–समय मे। **गिलामि**–ग्लानि को प्राप्त हो रहा हू अत । **इमं सरीरगं**–इसलिए शरीर को। **अणुपुव्वेणं**–अनुक्रम से। **परिवहित्तए**–क्रियानुष्ठान मे नही लगा सकता। **से**–अत वह भिक्षु। **अणुपुव्वेणं**–अनुक्रम से तप के द्वारा। **आहारं संवट्टिज्जा**–आहार का सक्षेप करे और। **अणुपुव्वेण**–अनुक्रम से। **आहारं**–आहार का। **संवट्टित्ता**–सक्षेप करके। **कसाए**–कषाय को। **पयणुए-किच्चा**–स्वल्प करके। **फलगावयट्ठी**–फलक लकडी के फट्टे की तरह अवस्थित। **उट्ठाय**–मृत्यु के लिए उद्यत होकर। **भिक्खू**–भिक्षु। **समाहियच्चे**–समाधि को प्राप्त करे। **अभिनिवुडच्चे**–और शरीर के सन्ताप से रहित बने।

मूलार्थ–जिस भिक्षु का यह अध्यवसाय होता है कि इस समय मै संयमसाधना का क्रियानुष्ठान करते हुए ग्लानि को प्राप्त हो रहा हू। रोग से पीडित हो गया हू। अतः मैं इस शरीर को क्रियानुष्ठान मे भी नही लगा सकता हू। ऐसा सोचकर वह भिक्षु अनुक्रम के तप के द्वारा आहार का सक्षेप करे और अनुक्रमेण आहार सक्षेप करता हुआ कषायों को स्वल्प–कम करके आत्मा को समाधि मे स्थापित करे। रोगादि के आने पर वह फलकवत् सहनशील बनकर पडितमरण के लिए उद्यत होकर

शरीर के सन्ताप से रहित बने। वह भिक्षु सयम में सलग्न एव नियमित क्रियानुष्ठान में लगा रहने से समाधिपूर्वक इगितमरण को प्राप्त कर लेता है।

हिन्दी-विवेचन

एकत्व भावना के चिन्तन में सलग्न मुनि अनासक्त भाव से रुक्ष आहार करते हुए शरीर मे क्षीणता एवं दुर्बलता का अनुभव करे और अपनी मृत्यु को निकट जान ले तो उस समय वह आहार का त्याग करके कषायों को उपशान्त करने का प्रयत्न करे। इस तरह कषायो को उपशान्त करने से उसे समाधि भाव की प्राप्ति होगी। क्योकि, चित्त मे अशान्ति का कारण कषाय वृत्ति है, उसका नाश होते ही अशान्ति भी समाप्त हो जाएगी और साधक परम शान्ति को प्राप्त कर लेगा।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'समाहियच्चे' का अर्थ है—जिस साधक ने सम्यक्तया शरीर एव मन पर अधिकार कर लिया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह निकला कि कषायो पर विजय पाने वाला साधक ही समाधिस्थ कहलाता है। 'फलगावयट्ठी' शब्द से यह बात परिपुष्ट होती है। जैसे काष्ठ फलक शीत-ताप आदि को बिना किसी हर्ष-शोक के सहता है तथा कारीगर की आरी के नीचे आकर कटने पर भी अपने रूप मे रहता है। उसी तरह साधक को प्रत्येक स्थिति मे समभाव पूर्वक अपनी आत्म-साधना मे स्थित रहना चाहिए। मान-सम्मान के समय न हर्ष करना चाहिए और न अपमान-तिरस्कार एव प्रहार के समय शोक या किसी पर द्वेष भाव लाना चाहिए।

इस तरह शारीरिक शक्ति का ह्रास हो जाने पर मुनि अनशन व्रत को स्वीकार करके समभावपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करे। यह मरण कहा पर प्राप्त करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अणु पविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कव्वडं वा मंडवं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणग दगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय 2 पमज्जिय 2 तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि

समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहो-वसग्गे अस्सि विस्संभणयाए भेखमणुचिन्ने तत्थावि तस्स काल परियाए जाव अणुगामियं त्तिबेमि॥219॥

छाया—अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगरं वा खेटं वा कर्बटं वा मंडपं वा पत्तनं वा द्रोणमुखं वा आकरं वा आश्रमं वा सन्निवेशं वा नैगमं वा राजधानीं वा तृणानि याचेत, तृणाणि याचित्वा स तानि आदाय एकान्तं अपक्रामेत् एकान्तं अपक्रम्य अल्पांडे अल्प्राणिनि अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पत्तिंगपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानके प्रत्युपेक्ष्य 2 प्रमृज्य 2 तृणानि संस्तीर्य अत्रापि समये इत्वरं कुर्यात् तत् सत्य सत्यवादी ओजः तीर्णः छिन्नकथंकथः अतीतार्थः अनातीत त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरव मनुचीर्णः तत्रापि तस्य कालपर्यायः यावत् आनुगामिकं इति ब्रवीमि।

पदार्थ—गामं वा—ग्राम मे। **वा**—यह सर्वत्र पक्षान्तर का द्योतक है। **नगरं वा**—नगर में। **खेडं वा**—खेट मे। **कव्वडं**—कर्वट मे। **मडवं**—मडप मे। **पत्तनं वा**—पत्तन में। **दोणमुहं वा**—द्रोणमुख में। **आगरं वा**—आकर मे—खान में। **आसमंवा**—आश्रम मे। **सन्निवेसंवा**—सन्निवेश मे। **नेगमं वा**—नैगम मे। **रायहाणिं वा**—राजधानी मे। **अणुपविसित्ता**—प्रवेश करके। **तणाइं**—तृणो की। **जाइज्जा**—याचना करें। **तणाइं जाइत्ता**—तृणों को याचना करके। **से**—वह भिक्षु। **तमायाए**—उन तृणों को लेकर। **एगंत मवक्कमिज्जा**—एकान्त गृह या गुफादि मे चला जाए। **एगंत-मवक्कमित्ता**—वहा एकान्त मे जाकर। **अप्पंडे**—जिस स्थान मे अल्प अडे है (यहा पर अल्प शब्द अभावार्थक है) अत अडे रहित। **अप्पपाणे**—अल्प प्राणी। **अप्पबीए**—अल्प बीज। **अप्पहरिए**—अल्पहरी। **अप्पोसे**—अल्प ओस। **अप्पोदए**—अल्प उदक—पानी। **अप्पुत्तिंग**—अल्प पिपीलिका—चीटियां। **पणग**—उल्ली विशेष। दग—पानी। **मट्टिय**—सचित्त मिट्टी। **मक्कड़ा संताणए**—मर्कट संतानक—मकडी का जाला आदि से रहित स्थानों में। **पडिलेहिय 2**—प्रतिलेखना करे। **पमज्जिय 2**—प्रमार्जन करे और प्रमार्जन करके। **तणाइं**—तृणों को। **सथरिज्जा**—बिछावे। **तणाइं संथरित्ता**—

तृणो को बिछाकर फिर। **इत्थवि**—यहा पर भी। **समए**—इस समय मे। **इत्तरियं कुज्जा**—इत्वर करे (पादोगमन की अपेक्षा से नियत देश प्रचारादि के अभ्युमगम से सम्पन्न होने वाले इंगित मरण का नाम इत्वर है)। **त**—वह इगित मरण। **सच्चं**—सत्य है। **सच्चवाई**—वह सत्यवादी है। **ओए**—राग-द्वेष से रहित है। **तिण्णे**—संसार-सागर से पार हो गया है। **छिन्नकहंकहे**—जिसने रागादि विकथा करनी छोड़ दी है। **आईयट्ठे**—जो जीवादि पदार्थो को जानने वाला है या जिसका कोई प्रयोजन शेष नही रहा। **अणाईए**—जो ससार से पार होने वाला। **भेउरं कायं**—जो विनाश होने वाली काया को। **चिच्चाण**—छोडकर और। **विरूवरूवे**—नाना प्रकार के। **परीसहो-वसग्गे**—परीषहोपसर्गो को। **संविहूय**—सहन करके। **अस्सि**—इस सर्वज्ञ प्रणीत आगम मे। **विस्सभणयाए**—विश्वास होने से। **भेरवमणुचिन्ने**—भयानक अनुष्ठान—इंगित मरण को स्वीकार करता है। **तत्थावि**—रोगादि के उत्पन्न हो जाने पर उसने इस अनशन को स्वीकार किया है। **तस्स**—उस कालज्ञ भिक्षु का। **काल परियाए**—यह काल पर्याय। **जाव**—यावत्—शेष पाठ पूर्ववत समझे। **अणुगामिय**—पुण्योपार्जक होने से भवान्तर मे साथ जाने वाला है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—वह भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मण्डप, पत्तन, द्रोणमुख, आकर—खान, आश्रम, सन्निवेश, नैगम और राजधानी इन स्थानो मे प्रवेश करे तथा उचित प्रासुक—जीवादि से रहित एव निर्दोष घास की याचना करके उस घास को एकान्त स्थान मे ले जाए। जहा पर अण्डे, प्राणी-जीव-जन्तु, बीज, हरी, ओस, जल, चीटिया, निगोद, मिट्टी ओर मकडी के जाले आदि न हो, उस स्थान को अपनी आखो से देखकर, रजोहरण से प्रमार्जन करके उस प्रासुक घास को बिछावे और उसे बिछाकर उचित अवसर मे इगित मरण स्वीकार करे। यह मृत्यु सत्य है। मृत्यु को प्राप्त करने वाला साधक सत्यवादी है, राग-द्वेष को क्षय करने में प्रयत्नशील है। अतः वह ससार-सागर से तैरने वाला है। उसने विकथा आदि को छोड दिया है। वह जीवाजीवादि पदार्थो का ज्ञाता है और संसार से पारगामी है। वह सर्वज्ञप्रणीत आगम में विश्वास रखता है, इसलिए वह इस नाशवान शरीर को छोड़ कर, नाना प्रकार के परीषहोपसर्गों को सहन करके इस इंगितमरण, जो कि कायर पुरुषों द्वारा आदेय नही है—को स्वीकार करता हे। अत. रोगादि के होने पर भी उसका काल पर्याय पुण्योपार्जक होता है। अत.

वह पडितमरण भवान्तर मे साथ जाने वाला है। शेष पाठ पूर्ववत् समझें। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

जीवन के साथ मृत्यु का सम्बन्ध जुडा हुआ है। उसका आना निश्चित है। इसलिए साधक मृत्यु से घबराता नहीं। उसके लिए यह आदेश दिया गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की साधना से वह अपने आपको पंडितमरण प्राप्त करने के योग्य बनाए। साधना करते हुए जब उसका शरीर सूख जाए, इन्द्रियां शिथिल पड़ जाए और शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगे, उस समय वह साधक जीवनपर्यन्त के लिए आहार आदि का त्याग करके समभाव पूर्वक आत्मचिन्तन मे सलग्न होकर समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

ग्राम, खेट, कोट, पत्तन, द्रोणमुख, आकर–खान, सन्निवेश, राजधानी आदि स्थानों मे से वह जिस किसी भी स्थान पर स्थित हो, वहां की भूमि की प्रतिलेखना कर लेनी चाहिए। भूमि प्रमार्जन के साथ पेशाब आदि का त्याग करने का स्थान भी भली-भांति देख लेना चाहिए। वहा पर जीव-जन्तु, हरी घास आदि न हो। ऐसे निर्दोष स्थान में तृण की शय्या बिछाकर और नमोत्थुण का पाठ पढ़कर इङ्गित-मरण अनशन को स्वीकार करे।

इस तरह समभाव पूर्वक प्राप्त की गई मृत्यु आत्मा का विकास करने वाली है। इससे कर्मो का क्षय होता है और आत्मा शुद्ध एव निर्मल बनती है। इस मृत्यु को वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जिसकी आगम पर श्रद्धा–निष्ठा है। क्योकि श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति ही परीषहों के उत्पन्न होने पर उन्हे समभाव पूर्वक सह सकता है और राग-द्वेष पर विजय पाने का प्रयत्न करता हुआ अपनी साधना में सलग्न रह सकता है।

यह अनशन सागारिक अनशन की तरह थोडे समय के लिए नही, अपितु जीवन पर्यन्त के लिए होता है। इन अनशन के द्वारा साधक समाधि मरण को प्राप्त करता है।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

सप्तम उद्देशक

षष्ठ उद्देशक मे एक वस्त्रधारी मुनि एवं इंगितमरण–अनशन का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत उद्देशक मे अचेलक मुनि एव पादोपगमन अनशन के द्वारा समाधि मरण प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्–जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबन्धणं धारित्तए॥220॥

छाया–यो भिक्षु· अचेलः पर्युषितः तस्य भिक्षोः एवं भवति शक्नोमि अहं तृणस्पर्श अधिसोढुम् (अध्यासयितुं) शीतस्पर्श अध्यासयितु (अधिसोढुं) तेजःस्पर्श (उष्णस्पर्श) अधिसोढुं दंशमशकस्पर्श अधिसोढुं अध्यासयितुं। एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अध्यासयितुं ह्रीप्रच्छादन तच्चाहं न शक्नोमि अध्यासयितुं एवं तस्य कल्पते कटिबन्धनं धर्तुम्।

पदार्थ–**जे**–जो प्रतिभासपन्न। **अचेले**–अचेलक। **भिक्खू**–भिक्षु–साधु। **परिवुसिए**–सयम मे अवस्थित है। **ण**–वाक्यालकार मे है। **तस्स**–उस। **भिक्खुस्स**–भिक्षु का। **एव भवइ**–इस प्रकार अभिप्राय होता है कि। **अहं**–मै। **तणफास**–तृण के स्पर्श को। **अहियासित्तए**–सहन करने मे। **चाएमि**–समर्थ हू। **सीयफासे अहियासित्तए**–शीत स्पर्श को सहन करने मे। **तेउफास**–उष्णस्पर्श को। **अहियासित्तए**–सहन करने मे। **दंसमसगफासं**–डास-मच्छर के स्पर्श को। **अहियासित्तए**–सहन करने मे। **एगयरे**–एक जाति के स्पर्श। **अन्नयरे**–अन्य प्रकार के स्पर्श–अनुकूल या प्रतिकूल। **विरूवरूवे**–नाना प्रकार के। **फासे**–स्पर्शो

को। **अहियासित्तए**—सहन करने में समर्थ हू, किन्तु। **अहं**—मैं। **हिरिपडिच्छायणं च**—लज्जा के कारण गुह्य प्रदेश के आच्छादन रूप वस्त्र का परित्याग करने में। **नो सचाएमि**—समर्थ नही हू। **एवं**—इस कारण से। **से**—उस भिक्षु को। **कडिबंधणं**—कटिबन्धन—चोलपट्टा। **धारित्तए**—धारण करना। **कप्पेइ**—कल्पता है।

मूलार्थ—जो प्रतिमासंपन्न अचेलक भिक्षु सयम में अवस्थित है और जिसका यह अभिप्राय होता है कि मै तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, डास-मच्छरादि के स्पर्श; एक जाति के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नाना प्रकार के अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शो को तो सहन कर सकता हू, किन्तु मै सर्वथा नग्न हो कर लज्जा को जीतने मे असमर्थ हू। ऐसी स्थिति मे उस मुनि को कटिबन्ध—चोलपट्टा रखना कल्पता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अचेलक मुनि का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि जो मुनि शीत आदि के परीषहो को सहने मे तथा लज्जा को जीतने में समर्थ है, वह वस्त्र का सर्वथा त्याग कर दे। वह मुनि केवल मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण के अतिरिक्त कोई वस्त्र न रखे। परन्तु, जो मुनि लज्जा एव घृणा को जीतने मे सक्षम नहीं है, वह कटिबन्धु, अर्थात् चोलपट्टक (धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र) रखे और गांव या शहर मे भिक्षा आदि के लिए जाते समय उसका उपयोग करे। परन्तु, जगल एवं एकान्त स्थान मे निर्वस्त्र होकर साधना करे।

यह हम चौथे उद्देशक मे स्पष्ट कर चुके है कि साधना की सफलता या मुक्ति नग्नता में है। वह नग्नता शरीरमात्र की नही, आत्मा की होनी चाहिए। जब आत्मा कर्मआवरण से सर्वथा अनावृत हो जाएगी, तभी मुक्ति प्राप्त होगी और उसके लिए आवश्यक है राग-द्वेष को क्षय करना। यह क्रिया वस्त्ररहित भी की जा सकती है और वस्त्रसहित भी। मर्यादित वस्त्र रखते हुए भी जो साधु समभाव के द्वारा राग-द्वेष पर विजय पाने मे सलग्न है, उसकी साधना सफलता की ओर है और यदि कोई साधु वस्त्र का त्याग करके भी राग-द्वेष एवं विषम भाव मे घूमता है तो उसकी साधना साध्य की ओर ले जाने वाली नही है। अत· असाधुता वस्त्र मे नही, कषायों मे है, ममता मे है, राग-द्वेष मे है। इन विकारों से युक्त वस्त्रयुक्त एव वस्त्ररहित कोई भी साधक क्यो न हो, वास्तव में वह साधुता से दूर है।

इससे स्पष्ट होता है कि वस्त्र केवल लज्जा एवं शीत निवारणार्थ है। इससे साधना का कोई सम्बन्ध नही है। क्योकि परिग्रह पदार्थ मे नहीं, ममता में है। आगमो एवं तत्त्वार्थ सूत्र दोनो में मूर्च्छा को परिग्रह माना है।[1] यदि शरीर पर एव शुभ कार्य तपस्या आदि पर भी आसक्ति है, तो वहां भी परिग्रह लगेगा और यदि उन पर एव वस्त्रो पर तथा अन्य उपकरणो पर ममत्व भाव नही है, तो परिग्रह नहीं लगेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि साधुत्व अनासक्त भाव मे है, राग-द्वेष से रहित होने की साधना मे है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया॥221॥

छाया—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शा· स्पृशन्ति, एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेल· लाघविक आगमयन् यावत् समभिजानीयात्।

पदार्थ—**अदुवा**—अथवा। **तत्थ**—सयम मे। **परक्कमंतं**—पराक्रम करते हुए मुनि को। **भुज्जो**—फिर। **अचेलं**—अचेलक को। **तणफासा**—तृणों के स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **सीयफासा**—शीत स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **तेउफासा**—उष्ण स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **दंसमसगफासा**—दंशमशक के स्पर्श। **फुसंति**—स्पर्शित होते है। **एगयरे**—वह एक जाति के स्पर्शो को तथा। **अन्नयरे**—अन्य जाति के स्पर्शो को। **विरूवरूवे**—नाना प्रकार के। **फासे**—स्पर्शो को। **अहियासेइ**—सहन करता है, और। **अचेले**—अचेल अवस्था में रहकर। **लाघवियं**—कर्मो की लाघवता को। **आगममाणे**—जानता हुआ। **जाव**—यावत्। **समभिजाणिया**—सम्यक् दर्शन या समभाव को सर्व प्रकार से जानता है।

---

1 यह धारणा दिगम्बर सम्प्रदाय को भी मान्य है।

मूलार्थ—यदि मुनि लज्जा को न जीत सके तो वस्त्र धारण कर ले और यदि वह लज्जा को जीत सकता है तो अचेलकता में पराक्रम करे। जो मुनि अचेलक अवस्था मे तृणो के स्पर्श, शीत के स्पर्श, उष्ण के स्पर्श, डांस-मच्छरादि के स्पर्श एक जाति के या अन्य जाति तथा नाना प्रकार के स्पर्शो के स्पर्शित होने पर उन्हे समभाव से सहन करता है, वह कर्मक्षय के कारणों का ज्ञाता मुनि सम्यग् दर्शन एवं समभाव का परिज्ञान करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को और स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मुनि लज्जा एवं परीषहो को जीतने मे समर्थ है, वह वस्त्र का उपयोग न करे। इससे स्पष्ट हो गया कि वस्त्र केवल संयमसुरक्षा के लिए है, न कि शरीर की शोभा एव शृंगार के लिए। अत· साधु को सदा समभाव पूर्वक परीषहो को सहते हुए सयम मे सलग्न रहना चाहिए। जो मुनि साधना के स्वरूप एव समभाव को सम्यक्तया जानता है, वह परीषहों के उत्पन्न होने पर अपने पथ से विचलित नही होता है। अत· साधक को सदा समभाव की साधना मे सलग्न रहना चाहिए और यदि उसमे शीत आदि के परीषहो को एव लज्जा को जीतने की क्षमता है तो उसे वस्त्र का त्याग कर देना चाहिए और यदि इतनी क्षमता नहीं है तो वह कम-से-कम कटिबन्ध (चोल पट्टक) या मर्यादित वस्त्र रख सकता है।

इसके बाद प्रतिमासम्पन्न मुनि के अभिग्रहो का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 1 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 2 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु असणं वा 4 आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि 3 जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा 4 आहट्टु नो दलइस्सामि

आहडं च नो साइज्जिस्सामि 4 अहं च खलु तेण अहाइरिणति अहेसणिज्जेण अहा परिग्गहिएणं असणेण वा 4 अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहंवावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा 4 अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया॥222॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति-अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा 4 आहृत्य दास्यमि आहृतं च स्वादयिष्यामि यस्य भिक्षो, एवं भवति-अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा 4 आहृत्यदास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि 2 यस्य च भिक्षोः एवं भवति अहं च खलु अशनं वा आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि 3 यस्य भिक्षोः एवं भवति अहं च खलु अन्येभ्यो भिक्षुभ्यः अशनं वा 4 आहृत्य नो दास्यामि आहृत च नो स्वादयिष्यामि 4 अहं च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा 4 अभिकाक्ष्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्यं कुर्यात्, वैयावृत्य करणाय, अहं वापि तेन यथारिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा 4 अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाण वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि लाघविक आगमयन् यावत् सम्यक्त्वमेव समभिजानीयात्।

पदार्थ—णं—यह वाक्यालकार मे है। जस्स—जिस। भिक्खुस्स—भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय होता है कि। च—पुन। खलु—अवधारण अर्थ में है। अहं—मै अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। असणं—अन्न-पानी, खादिम और स्वादिम पदार्थ। आहट्टु—लाकर। दलइस्सामि—दूँगा। च—और। आहडं च—उनका लाया हुआ। साइज्जिस्सामि—खा भी लूँगा। जस्सणं2—जिस भिक्षु का। एव भवइ—इस प्रकार का अभिप्राय हे कि। अहं च खलु—मैं। अन्नेसिं—अन्य। भिक्खूणं—भिक्षुओ को। असणं वा—अशनादि। आहट्टु—लाकर। दलइस्सामि—दूगा। आहडं च—परन्तु उनका लाया हुआ। नोसाइज्जिस्सामि—नही खाऊँगा। जस्सणं भिक्खुस्स 3 —जिस भिक्षु का। एवं भवइ—इस प्रकार का भाव होता है कि। अह च खलु—मैं। असणं वा 4—अन्न-पानी, खादिम और स्वादिमादि

पदार्थ। **आहट्टु**—अन्य साधु को लाकर। **नो दलइस्सामि**—नही दूंगा। **आहडं च साइज्जिस्सामि**—परन्तु उनका लाया हुआ आहार खा लूंगा 4। **जस्सणं भिक्खुस्स**—जिस भिक्षु का। **एवं भवइ**—इस प्रकार का अभिप्राय होता है। **अह च खलु**—मै। **अन्नेसिं**—अन्य। **भिक्खूणं**—भिक्षुओ को। **असणं वा**—अन्न-पानी, खादिम, स्वादिमादि पदार्थ। **आहट्टु**—लाकर। **नो दलइस्सामि**—नहीं दूगा। **आहडं नो साइज्जिस्सामि**—और न उनका लाया हुआ खाऊगा ही। अब इसके अतिरिक्त अन्य अभिग्रह के विषय में कहते है। **अहं च खलु**—मै। **तेण अहाइरित्तेण**—अपने अधिक लाए हुए आहार से। **अहेसणिज्जेण 4**—निर्दोष आहार से। **अहापरिग्गहिएणं**—अपने लिए लाए हुए। **असणेण वा**—आहारादि चारों पदार्थो से और। **अभिकंख**—निर्जरा का उद्देश्य करके। **साहम्मियस्स**—तथा सधर्मी के ऊपर उपकार। **करणाय**—करने के लिए उसकी। **वेयावडिय**—वैयावृत्य। **कुज्जा**—करूगा। **अहं वावि**—मैं भी। **तेण**—उस अन्य मुनि के पास। **अहाइरित्तेण**—अधिक आहार आ जाने से। **अहेसणिज्जेण**—उसके निर्दोष आहार से। **अहापरिग्गहिएणं**—वह अपने लिए जो आहार लाया है, उसमें से। **असणेण वा पाणेण वा 4**—अन्न-पानी आदि पदार्थ। **अभिकंख**—निर्जरा का उद्देश्य करके। **साहम्मिएहिं**—सधर्मियो के द्वारा। **कीरमाणं**—किए जाने वाली। **वेयावडियं**—वैयावृत्य को। **साइज्जिस्सामि**—स्वीकार भी करूंगा। **लाघवियं**—इस तरह कर्मो की लाघवता को। **आगममाणे**—जानता हुआ, अर्थात् कर्म क्षय करने के लिए। **जाव**—यावत्—शेष पाठ पूर्ववत् समझे। **सम्मत्तमेव**—सम्यग् दर्शन या समभाव को। **समभिजाणिया**—सम्यक् प्रकार से जाने।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओं को अन्नादि चतुर्विध पदार्थ लाकर दूगा और उनका लाया हुआ स्वीकार भी करूगा। 2 जिस भिक्षु का इस प्रकार का अध्यवसाय होता है कि मैं अन्य भिक्षुओ को आहारादि चार प्रकार के पदार्थ लाकर दूगा, किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार नही करूंगा। 3 जिस भिक्षु का इस प्रकार का प्रण होता है कि मै अन्नादि चतुर्विध आहार अन्य साधु को लाकर नही दूगा, किन्तु उनका लाया हुआ स्वीकार कर लूगा। 4 जिस भिक्षु की यह प्रतिज्ञा होती है कि मैं अन्य भिक्षुओ को अन्नादि चारो पदार्थ न लाकर दूंगा और न उनका लाया हुआ स्वीकार ही करूगा। इसके

अतिरिक्त उनके अन्य अभिग्रह का वर्णन भी किया गया जैसे कि मै अपने लिए लाए हुए अधिक निर्दोष एवं यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा को उद्देश्य करके या पर-उपकार के लिए सधर्मी की वैयावृत्य करूगा या मैं अन्य के अधिक लाये हुए निर्दोष एव यथा परिगृहीत आहार से निर्जरा के कारण सधर्मियो द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य को स्वीकार करूगा और निर्जरा के लिए अन्य के द्वारा की जाने वाली वैयावृत्य का अनुमोदन भी करूगा। इस तरह कर्मो की लघुता को मानता हुआ यावत् सम्यग् दर्शन या समभाव को सम्यक्तया जाने।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत सूत्र मे अभिग्रहनिष्ठ मुनि के आहार के सम्बन्ध मे चारो भंग पूर्व के उद्देशक की तरह ही बताए गए हैं। इसमे अन्तर इतना ही है कि पूर्व के उद्देशक में केवल निर्जरा के लिए वैयावृत्य करने का उल्लेख किया गया था और इस उदेशक में परोपकार एव निर्जरा दोनो दृष्टियो से वह वैयावृत्य करता है या दूसरे समानधर्मी साधु से वैयावृत्य करवाता भी है। वह यह भी निश्चय करता है कि मै अपने साधुओ की बीमारी के समय आहार आदि से वैयावृत्य करूगा या जो साधु वैयावृत्य कर रहा है, उसकी प्रशंसा भी करूगा। इस तरह वैयावृत्य मे परोपकृति एव कर्मनिर्जरा दोनों की प्रधानता निहित है। इस तरह मन-वचन और शरीर से सेवा करने, कराने एव अनुमोदना करने वाले साधक के मन में एक अपूर्व आनन्द एव स्फूर्ति की अनुभूति होती है और उससे उसके कर्मो की निर्जरा होती है। अस्तु, सेवाभाव से साधक की साधना मे तेजस्विता आती हे और उसकी साधना अन्तर्मुखी होती जाती है। इससे वह कर्मो से हलका वनकर आत्म-विकास की ओर बढ़ता है। अत साधक को अपनी स्वीकृत प्रतिज्ञा का दृढता से परिपालन करना चाहिए।

मुनि को रोग आदि के उत्पन्न होने पर घबराना नहीं चाहिए। यदि अन्तिम समय निकट प्रतीत हो तो उसे अन्य ओर से अपना ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक पडित-मरण का स्वागत करना चाहिए। इस विषय का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं

आहारे संवट्टिज्जा 2 कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव संथरिज्जा, इत्थवि समये कायं च जोगं च इरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहो-वसग्गे अस्सिं विसंभणयाए भेवमरणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ विअन्तिकारए इच्चेअं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं अणुगामियं त्तिबेमि॥223॥

छाया—यस्य भिक्षोः एवं भवति अथ ग्लायामि खलु अस्मिन् समये इदं शरीरकं आणुपूर्व्या परिवोढु आनुपूर्व्या आहारं संवर्तयेत् संवर्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकापदर्थी (फलकावस्थायी) उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृतार्च· अनुप्रविश्य ग्रामं वा नगर वा यावत् राजधानीं वा तृणानि याचित्वा यावत् संसस्तरेत् अत्रापि समये कायं च योगं च ईर्या च प्रत्याचक्षीत् तत् सत्य सत्यवादी ओज· तीर्णः—छिन्नकथकथः आतीतार्थः अनातीतः त्यक्त्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अस्मिन् विस्रम्भणतया भैरवमनुचीर्ण- तत्रापि तस्य काल पर्यायः सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः इत्येतत् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निश्रेयसं आनुगामिक इतिब्रवीमि।

पदार्थ—**जस्स भिक्खुस्स**—जिस भिक्षु का। **एवं भवइ**—इस प्रकार का अभिप्राय, होता है कि। **से**—वह अर्थात् मै। **गिलामि**—रोगादि से पीडित हू। **खलु**—वाक्यालकार मे है अत । **अहं**—मै। **इमम्मि**—इस। **समए**—समय मे। **इमं सरीरगं**—इस शरीर को। **अणुपुव्वेणं**—अनुक्रम से। **परिवहित्तए**—सयम साधना में लगाने के लिए। **नो सचाए**—समर्थ नही हूं। **से**—अत वह भिक्षु। **अणुपुव्वेणं**—अनुक्रम से। **आहारं संवट्टिज्जा**—आहार का संक्षेप करे, आहार का सक्षेप करके फिर। **कसाए**—कषाय को। **पयणुए**—स्वल्प। **किच्चा**—करके। **समाहियच्चे**—जिस साधु का शरीर समाधि-युक्त है। **फलगावयट्ठी**—यह फलकवत् सुख-दु ख के सहने वाला। **उट्ठाय**—मृत्यु के लिए उद्यत होकर। **भिक्खू**—साधु। **अभिनिव्वुडच्चा**—शरीर के सन्ताप से रहित होकर। **गामं वा**—ग्राम में। **नगर वा**—नगर में। **जाव**—यावत्। **रायहाणिं वा**—

राजधानी में। **अणुपविसित्ता**—प्रवेश करके। **तणाइं जाइज्जा**—तृणो की याचना करे। **जाव संथरिज्जा**—यावत् (शेष पाठ पूर्ववत्) तृणो को बिछाए। **इत्थवि समए**—इस समय मे। **काय च जोगं च**—वह काय योग को, अर्थात् शरीर को सकोचने और पसारने की क्रिया आदि। **च**—और। **इरियं च**—चलने-फिरने आदि का। **पच्चक्खाइज्जा**—प्रत्याख्यान करे। च शब्द से वचन योग के प्रयोग करने का भी प्रत्याख्यान करे। **तं**—वह पादोपगमन रूप अनशन। **सच्चं**—सत्य है। **सच्चावाई**—सत्यवादी है। **ओए**—वह राग-द्वेष से रहित। **तिन्ने**—ससार सागर से तीर्ण। **छिन्नकहंकहे**—विकथादि का परित्यागी। **आइयट्ठे**—जीवाजीवादि पदार्थो को जानकर साधु। **अणाइए**—जिसने ससार का अन्त कर दिया है। **भेउरं काय**—अपनी नाशवान काया को। **विच्चा**—छोडकर। **ण**—पूर्ववत्। **विरूवरूवे**—नाना प्रकार के। **परीसहोवसग्गे**—परीषह उपसर्गो को। **संविहणिय**—सहन करता है। **अस्सिं**—उसे इस जिन प्रवचन मे। **विस्संभणाए**—विश्वास होने से। **भेरवमणुचिन्ने**—उसने भयकर प्रतिज्ञा को ग्रहण किया है। **तत्थवि**—वहा पर भी। **तस्स**—उस साधु की। **कालपरियाए**—काल पर्याय और। **तत्थ**—वहा पर। **से वि**—वह भी। **वियंतिकारए**—कर्मो के क्षय करने वाले है। **इच्चेयं**—यह पूर्वोक्त मृत्यु। **विमोहाययणं**—मोह से रहित होने का स्थान है। **हिय**—इसलिए यह मृत्यु हितकारी है। **सुहं**—सुखकारी है। **खम**—सदर्थ है। **निस्सेसं**—कल्याणकारी है। **अणुगामियं**—भवान्तर मे साथ जाने वाली है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—जिस भिक्षु का यह अभिप्राय हो कि मै ग्लान हू, रोगाक्रान्त हू। अतः मै इस समय अनुक्रम से इस शरीर को सयमसाधना मे नही लगा सकता हू, तो वह भिक्षु अनुक्रम से आहार का सक्षेप करे और कषायो को स्वल्प बनाए। ऐसा करके वह समाधियुक्त मुनि फलक की भांति सहनशील होकर मृत्यु के लिए उद्यत होकर तथा शरीर के सन्ताप से रहित होकर ग्राम, नगर यावत् राजधानी मे प्रवेश करके, तृणों की याचना कर के गुफादि निर्दोष स्थान मे ले जाकर उसे बिछावे। इस स्थान पर भी वह इस समय काय के व्यापार और वचन के व्यापार तथा मन के अशुभ सकल्पो का प्रत्याख्यान करे। यह पादोपगमन अनशन सत्यवादी है, राग और द्वेष से रहित संसारसमुद्र से पार होने वाला है, काम आदि विकथाओ का त्यागी है, पदार्थो

के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता है। संसार का अत करने वाला है, नाशवान शरीर को त्याग करने का इच्छुक है। नानाविध परीषहोपसर्गो को सहन करने में समर्थ है। जैनागम मे आस्था रखने वाला और भयंकर प्रतिज्ञा का परिपालक है। उसका काल पर्याय कर्मो का नाशक है। यह पूर्वोक्त मृत्यु-मोह से रहित है। अत यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकारी है, कल्याणकारी है और भवान्तर मे साथ जानेवाली है। इस प्रकार मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

साधु का जीवन साधना का जीवन है। अत उसे न जीने में हर्ष है और न मृत्यु में दु.ख है। उसका समस्त समय साधना में बीतता है। मृत्यु भी साधना मे ही गुजरती है। इसलिए उसकी मृत्यु भी सफल मृत्यु है। इसलिए आगमकारो ने उसे पंडितमरण कहा है। रोगादि से या तपस्या से शरीर क्षीण एव शक्तिहीन होने पर साधक घबराता नही, परन्तु वह समभाव पूर्वक आने वाले परीषहों को सहता हुआ मृत्यु का स्वागत करता है। उस समय वह आहार आदि का त्याग करके शान्त भाव से पडितमरण को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत अध्ययन मे मरण के तीन प्रकार बताए गए हैं—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इगित मरण और 3—पादोपगमन। तीनों अनशन जीवनपर्यन्त के लिए होते है। इनमे अन्तर इतना ही है कि भक्त प्रत्याख्यान मे केवल आहार एव कषाय का त्याग होता है, इसके अतिरिक्त अनशन काल में साधक एक स्थान से दूसरे स्थान मे आ जा सकता है। परन्तु, इंगित मरण मे भूमि की मर्यादा होती है, वह मर्यादित भूमि से बाहर आ-जा नही सकता है। पादोपगमन में पेशाब-शौच आदि आवश्यक क्रियाओ के अतिरिक्त शारीरिक अग-उपागो का सकोच-विस्तार एव हलन-चलन आदि सभी क्रियाओं का त्याग होता हे। इस प्रकार अतिम समय निकट आने पर साधक तीनों प्रकार की मृत्यु में से किसी एक मृत्यु को स्वीकार करके पंडितमरण को प्राप्त करता है। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अष्टम अध्ययन : विमोक्ष

अष्टम उद्देशक

प्रस्तुत उद्देशक मे पूर्व के उद्देशको मे उपदिष्ट बातो का वर्णन गाथाओं मे किया गया है। सबसे प्रथम पडितमरण के सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज।
वसुमन्तो मइमन्तो, सव्वं नच्चा अणेलिसं॥1॥

छाया— आनुपूर्व्या विमोहानि, यानि धीराः समासाद्य।
वसुवन्तः मतिवन्तः सर्व ज्ञात्वा अनीदृशम्॥

पदार्थ—**अणुपुव्वेण**—अनुक्रम से। **विमोहाइं**—मोह से रहित। **जाइं**—जो भक्त प्रत्याख्यान आदि मृत्यु। **धीराः**—धैर्यवान साधु। **समासज्ज**—प्राप्त करके। **वसुमतो**—सयम-निष्ठ। **मइमन्तो**—बुद्धिमान। **सव्वं**—सब तरह के कर्तव्य-अकर्तव्य को। **नच्चा**—जानकर। **अणेलिसं**—अनुपम समाधि को प्राप्त करे।

मूलार्थ—अनशन करने के लिए जो सलेखना की विधि बताई गई है, उसके अनुसार धैर्यवान, ज्ञानसपन्न, सयमनिष्ठ एव हेयोपादेय का परिज्ञाता मुनि मोह से रहित होकर पडितमरण को प्राप्त करे।

हिन्दी-विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जो जन्म लेता है, वह अवश्य मरता है। अतः साधक मृत्यु से डरता नही, घबराता नही। वह पहले से ही जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए मृत्यु को सफल बनाने का प्रयत्न करना शुरू कर देता है। वह विभिन्न तपस्याओ के द्वारा अपनी साधना को सफल बनाता हुआ पण्डितमरण की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। पडितमरण के लिए 4 बातो का होना जरूरी है—1—सयम, 2—ज्ञान, 3—धैर्य और 4—निर्मोह भाव। सयम एव ज्ञान सम्पन्न साधक ही हेयोपादेय का परिज्ञान करके दोषो का परित्याग करके शुद्ध सयम का पालन कर सकता है और धैर्य के

सद्भाव मे ही साधक समभावपूर्वक परीषहों को सह सकता है। वह मोह से रहित होकर ही शुद्ध संयम का पालन कर सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सयम, ज्ञान एव धर्म से युक्त मोहरहित साधक ही पंडितमरण को प्राप्त करता है। मृत्यु को सफल बनाने के लिए धैर्य, ज्ञान एव अनासक्त होना आवश्यक है।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– दुविहंपि विइत्ताणं बुद्धाधम्मस्स पारगा।
अणुपुव्वीइ संखाए, आरंभाओ (य) तिउट्टइ॥2॥

छाया– द्विविधमपिविदित्वा बुद्धा· धर्मस्य पारगाः।
आनुपूर्व्या संख्याय आरम्भात् च त्रुट्यति॥

पदार्थ–णं–वाक्यालकार मे है। **दुविहंपि**–दो प्रकार के बाह्य और आभ्यान्तर रूप को। **विइत्त**–जानकर या ग्रहण करके। **बुद्धा**–तत्त्व के परिज्ञाता। **धम्मस्स**–श्रुत और चारित्र रूप धर्म के। **पारगा**–पारगामी। **अणुपुव्वीइ**–अनुक्रम से दीक्षा का परिपालन करके और मृत्यु के अवसर को। **संखाए**–जानकर। **आरम्भाओ**–आरम्भ से। **तिउट्टइ**–अष्ट प्रकार के कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

मूलार्थ–श्रुत और चारित्र रूप धर्म का पारगामी तत्त्वज्ञ मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप को धारण करके अनुक्रम से सयम का आराधन करते हुए मृत्यु के समय को जानकर आठ कर्मो से मुक्त हो जाता है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि धर्म के स्वरूप का परिज्ञाता, तत्त्वज्ञ साधक ही मृत्यु के समय को जानकर कर्मबन्धन से मुक्त हो सकता है। कर्मबन्धन स मुक्त होने के लिए ज्ञान का होना जरूरी है। ज्ञानसम्पन्न साधक वस्तु के हेयोपादेय स्वरूप को भली-भांति जान सकता है और त्यागने योग्य दोषों से निवृत्त होकर साधना मे सलग्न रहता है। वह मृत्यु से डरता नही, अपितु मृत्यु के समय को जानकर तप के द्वारा अष्ट कर्मो को क्षय करता हुआ समाधि मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान पूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया साधक को साध्य के निकट पहुचाती है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त "आरम्भाओ तिउट्टइ" पद मे पंचमी के अर्थ मे चतुर्थी विभक्ति एव भविष्यत् काल के अर्थ में वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। वृत्तिकार का भी यही मत है[1]।

किसी प्रति मे चतुर्थ पद मे "कम्मुणाओ तिउट्ठई" यह पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। इसका तात्पर्य है—आठ प्रकार के कर्मो से पृथक् होना।

अब सलेखना के आभ्यन्तर अर्थ को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए।
अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तिय॥3॥

छाया— कषायान् प्रतनून् कृत्वा, आहारः तितिक्षते।
अथ भिक्षुर्ग्लायेत्, आहारस्येव अन्तिकम्॥

पदार्थ—कसाए—कषाय। **पयणु**—पतली। **किच्चा**—करके। **अप्पाहारे**—अल्प आहार करने वाला। **तितिक्खए**—परीषहो एव दुर्वचनों को सहन करे। **अहं**—अथ-यदि। **भिक्खू**—साधु, आहार के बिना। **गिलाइज्जा**—ग्लानि को प्राप्त होता है, तो वह। **आहारस्सेव**—आहार का ही। **अन्तिय**—अन्त कर दे।

मूलार्थ—मुनि पहले कषाय कम करके फिर अल्पाहारी बने और आक्रोश आदि परीषहो को समभाव से सहन करे। यदि आहार के बिना ग्लानि पैदा होती हो तो वह आहार को स्वीकार कर ले, अन्यथा आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत स्वीकार कर ले।

हिन्दी-विवेचन

समाधिमरण को प्राप्त करने के लिए संलेखना करना आवश्यक है और सलेखना के लिए तीन बातो की आवश्यकता है—1—कषाय का त्याग, 2—आहार का कम करना और 3—परीषहो को सहन करना। कष् का अर्थ ससार है और आय का अर्थ

1 आरम्भण आरम्भ शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मक: तस्मात् त्रुट्यति अपगच्छ- तीत्यर्थ:। सुब् व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तर वा-कम्मुणाओ तिउट्टइ कर्माष्टभेद यस्मातु त्रुटयिष्यतीति त्रुट्यति, वर्तमानसामीप्येवर्तमान वद्धा (पा 3-3-131) इत्यनेन भविष्यत् कालस्य वर्तमानता। —आचाराग वृत्ति

वृद्धि है, अत कषाय का अर्थ है—ससार-परिभ्रमण मे वृद्धि होना। आहार से स्थूल शरीर को पोषण मिलता है और कषाय से सूक्ष्म कार्मण शरीर परिपुष्ट होता है, जबकि साधना का उद्देश्य शरीर-रहित होना है। अत उसके लिए स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर को परिपुष्ट करने वाले आहार एवं कषाय को कम करना जरूरी है, क्योकि इनका एकदम त्याग कर सकना कठिन है। अत. सलेखना काल मे कषायो एव आहार को कम करते-करते एक दिन कषायों से सर्वथा निवृत्त हो जाना ही साधना की सफलता है।

कषायो पर विजय पाने के लिए सहिष्णुता का होना आवश्यक है। परीषहो के समय विचिलत नही होने वाला साधक ही कषायो से निवृत्त हो सकता है। इस तरह कषाय एवं आहार को घटाते हुए साधक अपनी साधना में सलग्न रहे। यदि आहार की कमी से मूर्छा आदि आने लगे और स्वाध्याय आदि की साधना भली-भाति नही हो सकती हो तो साधक आहार कर ले और यदि आहार करने से समाधि भंग होती हो तो वह आहार का सर्वथा त्याग करके अनशन व्रत (संथारे) को स्वीकार कर ले। परन्तु ऐसा चिन्तन न करे कि मै सलेखना के तप को तोड़कर आहार कर लू और फिर तप आरम्भ कर लूगा।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— जीवियं नाभिकंखिज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा॥4॥

छाया— जीवितं नाभिकाक्षेत् मरणं नापिप्रार्थयेत्।
उभयतोपि न सज्जेत् जीविते मरणे तथा॥

पदार्थ—जीवियं—जीवन को। **नाभिकंखिज्जा**—न चाहे। **नोऽवि**—और न। **मरणं पत्थए**—मृत्यु की प्रार्थना करे। **जीविए तहा मरणे**—जीवन तथा मृत्यु। **दुहओवि**—दोनो मे। **न सज्जिज्जा**—आसक्ति न रखे।

मूलार्थ—संलेखना एव अनशन में स्थित साधु न जीने की अभिलाषा रखे और न मरने की प्रार्थना करे। वह जीवन तथा मरण दोनो मे अनासक्त रहे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि आसक्ति पापकर्म के बन्ध का कारण है। अतः संलेखना एवं संथारे मे स्थित साधु उपासकों के द्वारा अपनी प्रशसा होती हुई देखकर यह अभिलाषा न करे कि मै अधिक दिन तक जीवित रहू, जिससे कि मेरी प्रशंसा अधिक होगी। वह कष्टो से घबराकर मरने की भी अभिलाषा न करे। वह जन्म-मरण की अभिलाषा से ऊपर उठकर समभाव पूर्वक सलेखना एव अनशन की साधना मे सलग्न रहे।

ऐसे साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अन्तो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए॥5॥

छाया— मध्यस्थः निर्जरापेक्षी, समाधिमनुपालयेत्।
अन्तः बहिः व्युत्सृज्य अध्यात्मं शुद्धमेषयेत्॥

पदार्थ—मज्झत्थो—मध्यस्थ भाव में स्थित। **निज्जरापेही**—निर्जरा को देखने वाला मुनि। **समाहिं**—सदा समाधि का। **अणुपालए**—परिपालन करे। **अन्तो**—अन्तरङ्ग कषायो को और। **बहिं**—वा शरीर आदि उपकरणो को। **विउस्सिज्ज**—त्याग कर। **अज्झत्थं**—मन की। **सुद्धं**—शुद्धि का। **एसए**—अन्वेषण करे, अर्थात् मानसिक शुद्धि की अभिलाषा रखे।

मूलार्थ—मध्यस्थ भाव मे स्थित निर्जरा का इच्छुक मुनि सदा समाधि का परिपालन करे और अन्तरग कषायो एव बाह्य शरीरादि उपकरणो का त्याग कर मन की शुद्धि करे।

हिन्दी-विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील आत्मा जीवन-मरण की आकाक्षा का त्याग करके सलेखना को स्वीकार करता है। अत- उसके लिए यह आवश्यक है कि पहले वह कषायों का त्याग करे और उसके पश्चात् उपकरण एव शरीर का भी परित्याग कर दे। कषाय का त्याग करने पर ही आत्मा में समाधि भाव की ज्योति जग सकती है और साधक त्याग के पथ पर बढकर सभी कर्मो एवं कर्मजन्य साधनो से निवृत्त हो

सकता है। इसलिए साधक को सदा अपने अन्त करण को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध हृदय वाला व्यक्ति ही संयम की सम्यक् साधना करके कर्म से मुक्त हो सकता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– जं किंचुवक्कमं जाणे, आउ खेमस्समप्पणो।
तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए॥6॥

छाया– यं कञ्चन उपक्रमं जानीयात्, आयुःक्षेमस्य आत्मन.।
तस्यैव अन्तरकाले, क्षिप्रं शिक्षेत पण्डितः॥

पदार्थ–जं अप्पणो–यदि स्वात्मा की। **आउखेमस्स**–आयु को क्षेम रूप से यापन–बिताने का। **किंचुवक्कमं**–किचिन्मात्र–बहुत कम। **उवक्कमं**–उपाय। **जाणे**–जानता हो तो वह। **तस्स**–उस सलेखना काल के। **अन्तरद्धाए**–मध्य मे। **खिप्पं**–शीघ्र ही। **पंडिए सिक्खिज्ज**–उस भक्त परिज्ञा आदि से पंडित मरण को स्वीकार करे।

मूलार्थ–यदि मुनि अपनी (आत्मा की) आयु को क्षेम–समाधि पूर्वक बिताने का उपाय जानता हो तो वह उस उपाय को सलेखना के मध्य मे ही ग्रहण कर ले। यदि कभी अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाए तो वह शीघ्र ही भक्त परिज्ञा आदि सलेखना को स्वीकार करके पडितमरण को प्राप्त करे।

हिन्दी-विवेचन

यदि सलेखना के काल में कोई ऐसा रोग उत्पन्न हो जाए कि संलेखना का काल पूरा होने के पूर्व ही उस रोग से मृत्यु की सभावना हो तो उस समय साधक सलेखना को छोडकर औषध के द्वारा रोग को उपशान्त करके फिर से सलेखना आरम्भ कर दे। यदि कोई व्याधि तेल आदि की मालिश से शान्त हो जाती हो तो वैसा प्रयत्न करे और यदि वह व्याधि शान्त नही होती हो या उसके उग्र रूप धारण कर लेने से ऐसा प्रतीत होता हो कि इससे जल्दी ही प्राणान्त होने वाला है, तो साधक भक्तप्रत्याख्यान आदि अनशन स्वीकार करके समाधि मरण को प्राप्त करे।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को आत्महत्या की अनुमति नही है। जहा तक

शरीर चल रहा है और उसमे साधना करने की शक्ति है, तब तक उसे अनशन करने की आज्ञा नही है। रोग के उत्पन्न होने पर भी उसका उपचार करने की अनुमति दी गई है। अनशन उस समय के लिए बताया गया है कि जब रोग असाध्य बन गया है और उसके ठीक होने की कोई आशा नहीं रही है या उसका शरीर इतना जर्जरित निर्बल हो गया है कि अब भली-भाति स्वाध्याय आदि की साधना नहीं हो रही है। अतः अनशन (सथारे) को आत्महत्या कहना नितान्त असत्य है।

मृत्यु का समय निकट आने पर साधक को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया।
अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी॥7॥

छाया— ग्रामे वा अथवा अरण्ये, स्थण्डिलं प्रत्युत्प्रेक्ष्य।
अल्पप्राणं तु विज्ञाय, तृणानि संस्तरेत् मुनिः॥

पदार्थ—गामे वा—ग्राम में। **अदुवा**—अथवा। **रण्णे**—जगल मे स्थित संयमशील मुनि। **थंडिलं**—स्थडिल भूमि को। **पडिलेहिया**—प्रतिलेखन करके। **तु**—वितर्क के अर्थ मे है। **तणाइं**—तृणो को। **संथरे**—बिछाए।

मूलार्थ—ग्राम या जगल मे स्थित सयमशील मुनि सस्तारक बिछौने एव शौचादि के स्थान का प्रतिलेखन करे और जीव-जन्तु से रहित निर्दोष भूमि को देखकर वहां तृण बिछाए।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व के उद्देशक मे अनशन करने के स्थान का जो वर्णन किया गया है, उसी को इस गाथा मे दोहराया गया है। मृत्यु का समय निकट आने पर साधक जिस स्थान मे ठहरा हुआ हो, उस स्थान में या उससे बाहर जगल मे या अन्य स्थान में जहा उसे समाधि रहती है, वहा याचना करके निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर उस पर अनशन व्रत स्वीकार करे। इसके साथ पेशाब आदि का त्याग करने की भूमि का भी प्रतिलेखन कर ले। इस तरह निर्दोष भूमि पर निर्दोष तृण की शय्या बिछाकर जन्म और मरण की आकांक्षा रहित होकर अनशन व्रत को स्वीकार करे।

तृण शय्या बिछाने के बाद मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए।
नाइवेलं उवचरे माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ॥8॥

छाया– अनाहारः त्वग् वर्त्तयेत्, स्पृष्टस्तत्र अध्यायेत्।
नातिवेलं उपचरेत् मानुष्यैः विस्पृष्टवान्॥

पदार्थ–**अणाहारो**–यथाशक्ति तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग करे और यत्नापूर्वक। **संस्तारक**–सथारे पर। **तुयट्टिज्जा**–करवट बदले। **तत्थ**–वहॉ पर। **पुट्ठो**–परीषहों के स्पर्श होने पर। **अहियासए**–उस कष्ट को सहन करे और। **माणुस्सेहिं**–मनुष्यो के द्वारा। **विपुट्ठवं**–स्पर्शित अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों की। **नाइवेलं उवचरे**–मर्यादा का उल्लंघन न करे।

मूलार्थ–सस्तारक पर बैठा हुआ मुनि तीन या चार प्रकार के आहार का परित्याग करे। वह यत्ना से सस्तारक शय्या पर शयन करे, और वहा पर स्पर्शित होने वाले कष्टो को समभावपूर्वक सहन करे। वह मनुष्यो द्वारा स्पर्शित होने वाले अनुकूल या प्रतिकूल परीषहो के उपस्थित होने पर मर्यादा का उल्लंघन न करे। वह पुत्र एव परिजन आदि के सम्बन्ध को याद कर आर्तध्यान भी न करे।

हिन्दी-विवेचन

सस्तारक–तृणा शय्या बिछाकर मुनि उस पर बैठकर तीनो आहार-पानी को छोडकर शेष सब खाद्य पदार्थो का या चारो आहार-पानी सहित सभी खाद्य पदार्थो का त्याग करे। यदि उसे तृण आदि के स्पर्श से कष्ट होता हो या कोई देव, मनुष्य एवं पशु-पक्षी कष्ट देता हो, तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे, परन्तु, उस परीषह से घबराकर अपने व्रत को भग न करे, अपने साधना मार्ग का त्याग न करे। अनुकूल एव प्रतिकूल सभी परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करे। कठिनता के समय पर भी अपने मार्ग पर स्थित रहने मे ही साधना की सफलता है। इसलिए साधक को पुत्र, माता आदि परिजनों की ओर से ध्यान हटाकर समभाव पूर्वक अपनी साधना मे ही सलग्न रहना चाहिए।

अनशन को स्वीकार करने वाला साधक परीषहों के उत्पन्न होने पर भी क्रोध न करके समभावपूर्वक उन्हें सहन करे, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— संसप्पगा य जे पाणा जे य उड्ढमहेचरा।
भुञ्जंति मंससोणियं, न छणे न पमज्जए॥9॥

छाया— ससर्पकाश्च ये प्राणा (प्राणिनः) ये चोर्ध्वाधश्चरा।
भुंजंते मास शोणितं, न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत्॥

पदार्थ—**य**—पुन । **जे**—जो। **संसप्पगा**—चीटी और श्रृगाल आदि। **जे**—जो। **पाणा**—प्राणी है। **य**—पुन । **जे**—जो। **उड्ढ**—आकाश मे उडने वाले प्राणी। **अहेचरा**—विलो में रहने वाले प्राणी जब। **मंससोणिय**—मास और खून को। **भुजंति**—खाते है तब। **न छणे**—मुनि उनको न हाथ से हटाए और। **न पमज्जए**—न रजोहरण से प्रमार्जन करे, अर्थात् दूर हटाए।

मूलार्थ—अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर मे स्थित मांस एवं रक्त को यदि कोई भी चींटी-मच्छर आदि जन्तु, गृध्र आदि पक्षी एव सिह आदि हिसक पशु मास खाए या रक्त पीए तो मुनि न तो उन्हे हाथ से मारे और न रजोहरण से दूर करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि समभाव पूर्वक परीषहो को सहन करने वाला मुनि ही कर्मो से मुक्त हो सकता है। प्रस्तुत सूत्र मे भी यही बताया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाले मुनि को उत्पन्न होने वाले सभी परीषहो को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। यदि कोई चींटी, मच्छर आदि जन्तु, सर्प-नेवला आदि हिसक जन्तु, गृध्र आदि पक्षी और सिंह, ऋगाल आदि हिस्र पशु अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि के शरीर पर डक मारते है या उसके शरीर मे स्थित मास एव खून को खाते-पीते है, तो उस समय मुनि उस वेदना को समभावपूर्वक सहन करे, किन्तु अपने हाथ से न किसी को मारे, न परिताप दे और न किसी प्राणी को रजोहरण से हटाए। इस सूत्र मे साधक की साधना की पराकाष्ठा बताई गई है। साधक साधना करते हुए ऐसी स्थिति मे पहुच जाता है कि उसका अपने शरीर पर कोई ममत्व नही रह जाता

है। ऐसी उत्कट साधना को साधकर ही साधक कर्मबन्धन से मुक्त होता है। अतः उसे सदा परीषहो को सहने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस विषय मे कुछ और बातें बताते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ नवि उब्भमे।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणे अहियासए॥10॥

छाया— प्राणा (प्राणिनः) देहं विहिंसन्ति, स्थानात् नापि उद्भ्रमेत्।
आस्रवैः विविक्तै तप्यमानः अध्यासयेत॥

पदार्थ—पाणा—प्राणी। **देहं**—शरीर की। **विहिंसंति**—हिंसा कर रहे हैं अत मुनि। **ठाणाओ**—उस स्थान से। **नवि उब्भमे**—उठकर अन्यत्र न जावे। **आसवेहिं**—आश्रवों से। **विवित्तेहि**—रहित होने के कारण जो मुनि शुभ अध्यवसाय वाला है, वह उन प्राणियो के द्वारा भक्षण किए जाने पर भी। **तिप्पमाणे**—उस वेदना को अमृत के समान सिचन कार्य मानता हुआ। **अहियासए**—सहन करे।

मूलार्थ—हिसक प्राणियो द्वारा शरीर की हिसा होने पर भी मुनि उनके भय से उठकर अन्य स्थान पर न जाए। आस्रवों से रहित होने के कारण जो शुभ अध्यवसाय वाला मुनि है, वह उस हिसाजन्य वेदना को अमृत के समान सिचन की हुई समझकर सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व की गाथा मे हिस्र जन्तुओ द्वारा दिए गए परीषहो को सहन करने का उपदश दिया गया है। इस गाथा मे बताया गया है कि किसी भी हिस्र जन्तु को सामने आते देखकर अनशन व्रत की साधना मे सलग्न मुनि उस स्थान से उठकर अन्यत्र न जाए। वह उनके द्वारा उत्पन्न होने वाली वेदना को अमृत के समान समझे। इससे यह स्पष्ट किया गया है कि अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला साधक आत्मचिन्तन मे इतना सलग्न हो जाए कि उसे अपने शरीर का ध्यान ही न रहे। शरीर पर होने वाले प्रहारो की वेदना मनुष्य को तभी तक परेशान करती है, जब तक उसका मन शरीर पर स्थित है। जब साधक आत्मचिन्तन मे गहरी डुबकी लगा लेता है, तो उसे शारीरिक पीडाओं की कोई अनुभूति नही होती और वह समभाव

पूर्वक उस वेदना को सह लेता है। वह उसे कटु नहीं, अपितु अमृत तुल्य मानता है। जैसे अमृत जीवन में अभिवृद्धि करता है, उसी तरह वेदना को समभाव पूर्वक सहन करने से आत्मा के ऊपर से कर्ममल दूर होकर आत्मज्योति का विकास होता है, आत्मा के गुणों मे अभिवृद्धि होती है और आत्मा समस्त कर्मबन्धनो से मुक्त होकर सदा के लिए अजर-अमर हो जाती है। अत साधक को पूर्णत निर्भीक बनकर आत्मसाधना मे सलग्न रहना चाहिए।

इस बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— गन्थेहिं विवित्तेहिं आउकालस्स पारए।
पग्गहियत्तरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ॥11॥

छाया— ग्रंथैः विविक्तै., आयु. कालस्य पारग.।
प्रगृहीततरकं चेद, द्रविकस्य विजानतः॥

पदार्थ—**गन्थेहिं**—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रूप गाठ का। **विवित्तेहि**—त्याग करके अथवा। **गथेहि**—आचाराग आदि। **विवित्तेहिं**—विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहा हुआ मुनि। **आउ कालस्स**—आयुष्य काल का। **पारए**—पारगामी हो अर्थात् आयु पर्यन्त समाधि रखे। अब सूत्रकार इगित मरण के विषय मे कहते है। **च**—पुन। **इयं**—यह इगित मरण। **पग्गहियत्तरग**—आत्म-परिज्ञा से विशिष्टतर है अत। **वियाणओ**—गीतार्थ मुनि को ही इस मृत्यु की प्राप्ति हो सकती है, अन्य को नही।

मूलार्थ—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-परिग्रह का त्याग करने से मुनि आयुपर्यन्त समाधि धारण करे या आचाराङ्गादि विविध शास्त्रो के द्वारा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहता हुआ समय का ज्ञाता बने, अर्थात् जीवनपर्यन्त समाधि रखे। प्रस्तुत गाथा के अन्तिम दो पादो में सूत्रकार ने इगितमरण का वर्णन किया है। यह इगितमरण भक्त परिज्ञा से विशिष्टतर है। अत. उसकी प्राप्ति सयमशील गीतार्थ मुनि को ही हो सकती है, अन्य को नही।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भक्त प्रत्याख्यान और इगितमरण अनशन स्वीकार करने वाले

मुनि की योग्यता का उल्लेख किया गया है। उक्त अनशनो को स्वीकार करने वाला मुनि बाह्य एव आभ्यन्तर ग्रन्थि से मुक्त एवं आचाराङ्ग आदि आगमो का ज्ञाता होना चाहिए। क्योंकि, आगम ज्ञान से संपन्न एव बाह्य परिग्रह तथा कषायो से निवृत्त मुनि ही निर्भयता के साथ आत्म-चिन्तन मे सलग्न रह सकता है और उत्पन्न होने वाले परीषहो को समभाव पूर्वक सह सकता है।

इगितमरण अनशन के लिए कहा गया है कि गीतार्थ मुनि ही उसे स्वीकार कर सकता है। इस अनशन मे मर्यादित भूमि से बाहर हलन-चलन एव हाथ-पैर आदि का सकोच एवं प्रसार नही किया जा सकता। अत इस अनशन को श्रुत ज्ञान सम्पन्न एव दृढ सहनन वाला मुनि ही ग्रहण कर सकता है। इसी बात को बताने के लिए सूत्रकार ने **'दवियस्स वियाणओ'** इन दो पदों का उल्लेख किया है। इनका अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—"इगित मरण अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि कम से कम 9 पूर्व का ज्ञाता हो।" इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इतना ज्ञान प्राप्त करने वाले मुनि का सहनन कितना दृढ़ होगा।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अयं से अवरे धम्मे नाय पुत्तेण साहिए।
आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहातिहा॥12॥

छाया— अय स अपरः धर्मः, ज्ञातपुत्रेण स्वाहितः।
आत्मवर्ज्ज प्रतिचारं विजह्यात् त्रिधात्रिधा॥

पदार्थ—अयं से—यह। **अवरे**—अपर भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न इगित मरण रूप। **धम्मे**—धर्म का। **नायपुत्तेण**—भगवान महावीर ने। **साहिए**—प्रतिपादन किया है। **आयवज्जं**--आत्मा के। **पडीयार**—प्रतिचार—अगोपागो के व्यापार का त्याग करे और। **तिहातिहा**—तीन करण एव तीन योग से, आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का। **विजहिज्जा**—विशेष रूप से त्याग करे।

मूलार्थ—इस भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न इगितमरण रूप धर्म का भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया है। इसे स्वीकार करने वाला मुनि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य क्रियाओ का तीन करण और तीन योग से परित्याग करे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि इगितमरण भक्त प्रत्याख्यान से भिन्न है और इसकी साधना भी विशिष्ट है। भगवान महावीर ने इसके लिए बताया है कि शारीरिक क्रियाओ के अतिरिक्त नियमित भूमि मे कोई कार्य न करे और मर्यादित भूमि के बाहर शारीरिक क्रियाएं भी न करे।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त **'आयवज्जं पडियारं, विज्जहिज्जा तिहातिहा'** इन पदो का वृत्तिकार ने यह अर्थ किया है—आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर कर्मो की अनन्त वर्गणाए स्थित है, उन्हे आत्म प्रदेशो से सर्वथा अलग करना साधक के लिए अनिवार्य है और उन्हें अलग करने का साधन है—ज्ञान और सयम। जैसे साबुन से वस्त्र का मैल दूर करने पर वह स्वच्छ हो जाता है, इसी तरह ज्ञान और सयम की साधना से आत्मा पर आच्छादित कर्म हट जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। अत साधक को सदा ज्ञान एव सयम की साधना मे ही सलग्न रहना चाहिए।

इन गुणो की प्राप्ति का मूल अहिसा की साधना है। अत· उसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— हरिएसु न निवज्जिज्जा, थंडिले मुणियासए।
विओसिज्जा अणाहारो पुट्ठो तत्थ अहियासए॥13॥

छाया— हरितेषु न शयीत स्थंडिल मत्वा शयीत।
व्युत्सृज्य अनाहारः, स्पृष्टः तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—**हरिएसु**—मुनि हरी वनस्पति पर। **न निवज्जिज्जा**—शयन न करे। **थंडिले**—वह निर्दोष भूमि। **मुणिया**—जानकर। **सए**—उस पर शयन करे। **विओसिज्जा**—बाह्य और आभ्यन्तर उपधि को छोडकर। **अणाहारो**—आहार रहित होता हुआ। **तत्थ**—उस आसन पर। **पुट्ठो**—यदि कोई परीषह स्पर्शित हो तो। **अहियासए**—उसे सहन करे।

मूलार्थ—अनशन करने वाला मुनि हरी घास एव तृणादि पर शयन न करे। वह शुद्ध निर्दोष भूमि देखकर उस पर शयन करे, वह बाह्याभ्यन्तर उपधि को छोड

कर, आहार से रहित होता हुआ विचरे और यदि वहा पर कोई परीषह उत्पन्न हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

अनशन व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि किसी भी प्राणी को पीडा न दे। सब प्राणियों की रक्षा करना उसका धर्म है। क्योंकि, वह छह काय का रक्षक कहलाता है। इसलिए मुनि को अपनी तृण-शय्या ऐसे स्थान पर बिछानी चाहिए, जहा हरियाली बीज, अकुर आदि न हो। इसी तरह सचित्त मिट्टी एव जल काय आदि तथा छोटे-मोटे प्राणियो की भी विराधना नही होती हो। मुनि को चाहिए कि वह आहार आदि का त्याग करके सर्वथा निर्दोष भूमि पर तृणशय्या बिछाकर अनशन करे और उस समय उत्पन्न होने वाले परीषहो को समभावपूर्वक सहता हुआ आत्मचिन्तन मे सलग्न रहे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— इंदिएहिं गिलायंतो, समियं आहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए॥14॥

छाया—इन्द्रियैर्ग्लायमानः शामितमाहारयेन्मुनि·।
तथाप्यसौ अगर्ह्यः, अचलो यः समाहितः॥

पदार्थ—मुणी—आहारादि का त्याग करने वाला मुनि। **इंदिएहिं**—इन्दियो से। **गिलायंतो**—ग्लानि को प्राप्त करता हुआ। **समियं**—समता भाव को। **आहरे**—धारण करे, अर्थात् आत्मा मे समभाव रखे। यदि अगों का सकोचन या प्रसारण करना हो तो नियमित भूमि मे ही करे। **तहावि**—तथापि। **से**—वह मुनि नियमित भूमि मे शरीर सम्बन्धी चेष्टा करता हुआ। **जे**—जो। **समाहिए**—समाधि मे रहा हुआ। **अचले**—धर्म ध्यान या प्रतिज्ञा पर अटल है। **अगरिहे**—वह निन्दा का पात्र नही हो सकता।

मूलार्थ—आहार न करने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्लानि को प्राप्त हुआ मुनि अपनी आत्मा मे समता भाव को धारण करे। जो मुनि अपनी प्रतिज्ञा पर अटल है, यदि वह नियमित भूमि में अङ्गोपाग का प्रसारण करता है, तब भी वह निन्दा का पात्र नही बनता।

हिन्दी-विवेचन

इगितमरण स्वीकार करने वाले मुनि के लिए बताया गया है कि यदि शरीर मे ग्लानि उत्पन्न हो तो उसे उस वेदना को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को आत्मा की ओर लगाना चाहिए। यदि वह मुनि अपने मर्यादित प्रदेश में हाथ-पैर आदि का सकोच या प्रसार करता है तो भी वह अपने व्रत से नही गिरता। क्योकि, उसने मर्यादित स्थान से बाहर जाकर अग-सचालन करने का त्याग किया है। अत मर्यादित भूभाग मे अगो का सचालन करना बन्द नहीं है। इस तरह वह अपनी मर्यादा को ध्यान में रखते हुए समभावपूर्वक साधना मे सलग्न रहे, परन्तु उसे त्यागने का विचार न करे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।
काय सहारणट्ठाए, इत्थंवावि अचेयणो॥15॥

छाया–अभिक्रामण (अभिक्रामेत्) प्रतिक्रमण (प्रतिक्रामेत्) संकोच-येत्प्रसारयेत् कायसाधारणार्थ अत्रापि अचेतन॥

पदार्थ–काय सहारणट्ठाए–शरीर की समाधि के लिए। **अभिक्कमे**–सन्मुख होना। **पडिक्कमे**–पीछे हटना। **सकुचए**–अगादि का सकोच करना या। **पसारए**–विस्तार करना आदि क्रियाए मर्यादित भूमि मे करे। **वा**–पादोपगमन में मुनि अक्रियवत्–सक्रिय भी निष्क्रिय की तरह रहे। **इत्थवावि अचेयणो**–यदि शक्ति हो तो इगित मरण मे भी अचेतनवत्–क्रियारहित होकर स्थित रहे।

मूलार्थ–उक्त अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि शरीर को समाधि के लिए मर्यादित भूमि मे अगोपाग का सकुचन-प्रसारण करे। यदि उसके शरीर मे शक्ति हो तो वह इगितमरण अनशन मे अचेतन पदार्थ की तरह क्रिया एव चेष्टा रहित होकर स्थित रहे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भी पूर्व गाथा में उल्लिखित बात को ही पुष्ट किया गया है। इसमे बताया गया है कि यदि शरीर में ग्लानि का अनुभव होता हो तो वह मर्यादित

भूमि में घूम-फिर सकता है। यदि उसे ग्लानि की अनुभूति न होती हो तो उसे शान्त भाव से आत्मचिन्तन मे सलग्न रहना चाहिए। जहा तक हो सके हलन-चलन कम करते हुए या निश्चेष्ट रहते हुए साधना मे संलग्न रहना चाहिए और उससे उत्पन्न होने वाले सभी परीषहो को समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

यदि आत्मबल अधिक न हो तो इगितमरण स्वीकार करने वाले गीतार्थ मुनि को क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– परिक्कमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए।
ठाणेण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अंतसो॥16॥

छाया– परिक्रामेत् परिक्लान्तः, अथवा तिष्ठेत् यथायतः।
स्थानेन परिक्लान्तो निषीदेच्चान्तशः॥

पदार्थ–अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि। **परिक्कमे**–नियत प्रदेश मे चले। **परिकिलन्ते अदुवा**–अथवा थक जाने पर। **चिट्ठे**–बैठ जाए। **अहायए**–सीधा होकर लेट जाए। **ठाणेण**–यदि खडे होने से। **परिकिलन्ते**–कष्ट होता हो तो। **निसीइज्जा**–बैठ जाए। **अंतसो**–उसे जिस प्रकार समाधि रहे वैसा करे।

मूलार्थ–यदि अनशन स्वीकार करने वाले मुनि के शरीर को कष्ट होता हो तो वह नियत भूमि पर घूमे। यदि उसे घूमने से थकावट होती हो तो बैठ जाए और बैठने से भी कष्ट होता हो तो लेट जाए। इसी प्रकार पर्यक आसन, अर्ध पर्यक आसन करे और यदि इसके करने से भी कष्ट होता हो तो बैठ जाए। जिस तरह से उसे समाधि रहे, वैसा करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि यदि इंगितमरण अनशन को स्वीकार किए हुए साधक को थकावट प्रतीत होती हो, तो वह मर्यादित भूमि मे घूम-फिर सकता है। यदि घूमने से उसे थकावट मालूम हो, तो वह पर्यक आसन या अर्ध पर्यक आसन कर ले या बैठ जाए। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिस तरह से उसे समाधि रहती हो, उस तरह उठने-बैठने की व्यवस्था कर सकता है। परन्तु वह अपनी मर्यादा का उल्लघन न करे। यह बात अलग है कि मर्यादित भूमि मे वह खडा रहे या बैठा रहे

या पर्यक आसन करे या सीधा लेट जाए या एक करवट से लेट जाए। जिस किसी आसन से उसे समाधि रहती हो, आत्म-चिन्तन मे मन लगता हो, उसी आसन को स्वीकार करके आत्मसाधना मे सलग्न रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरए।
कोलावासं समासज्ज वितहं पाउरेसए॥17॥

छाया— आसीन· अनीदृश मरणं, इन्द्रियाणि समीरयेत्।
कोलावासं समासाद्य, वितथं प्रादुरेषयेत्।

पदार्थ—**मरण**—इगित मरण के। **अणेलिसं**—जो अनन्य सदृश अनुपम है मुनि। **आसीणे**—आश्रित हुआ मुनि। **इन्दियाणि**—इन्द्रियों को इष्ट और अनिष्ट विषयो से और। **समीरए**—राग-द्वेष से हटाने की प्रेरणा करे। यदि थकावट होने पर उसे अपनी कमर को सहारा देने के लिए पट्टे की आवश्यकता हो तो वह। **कोलावासं**—घुन आदि से युक्त। **समासज्ज**—पट्टे के मिलने पर उससे भिन्न। **वितहं**—जीवादि से रहित पट्टे की। **पाउरेसए**—गवेषणा करे।

मूलार्थ—सामान्य साधक के लिए जिसका आचरण करना कठिन है, ऐसे इगित मरण मे अवस्थित मुनि इन्द्रियो को विषय-विकारो से हटाने की प्रेरणा करे। यदि उसे सहारा लेने के लिए पट्टे की आवश्यकता अनुभव हो तो वह जीव-जन्तु से युक्त पट्टे के मिलने पर उसे ग्रहण न करके, जीवादि से रहित पट्टे की गवेषणा करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि इगितमरण अनशन व्रत को स्वीकार किए हुए मुनि को राग-द्वेष एव विकारो से सर्वथा निवृत्त रहना चाहिए। यदि कभी कषायो के उत्पन्न होने तथा मनोविकारो के जागृत होने की सामग्री उपस्थित हो तो मुनि अपने मन एव इन्द्रियो को उस ओर न जाने दे। वह अपनी साधना के द्वारा उस ओर से मन हटाकर आत्म-चिन्तन में लगा दे। मुनि को उस समय अपने योगो पर इतना काबू पाना चाहिए कि आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्यत्र योगों की प्रवृत्ति ही न हो।

इस तरह इगितमरण अनशन की साधना मे स्थित साधक योगो का निरोध करने का प्रयत्न करे।

यदि उसके उपयोग में आने वाले तख्त आदि में घुन आदि जीव-जन्तु हो तो उसे उस तख्त को काम मे नही लेना चाहिए। इससे जीवो की हिसा होती है। अहिसा के प्रतिपालक मुनि को जीवो से संयुक्त तख्त ग्रहण न करके जीवों से रहित अन्य तख्त ग्रहण करना चाहिए। इस तरह समस्त जीवो का रक्षण करते हुए साधक को अपने योगो को राग-द्वेष आदि मनोविकारो से रोकते हुए आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहना चाहिए।

अनशन करने वाले मुनि की वृत्ति कैसी रहनी चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— जओवज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए।
तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए॥18॥

छाया— यतः वज्रं [अवद्य] समुत्पद्येत्, न तत्र अवलंबेत्।
तत उत्कर्षेद् आत्मानं, स्पर्शान् तत्र अध्यासयेत्॥

पदार्थ—**जओ**—जिससे। **वज्जं**—वज्रवत् कर्म। **समुप्पज्जे**—उत्पन्न हो। **तत्थ**—ऐसे घुणादि से युक्त काष्ठ फलक का। **न अवलम्बए**—अवलम्बन न करे। **तउ**—उसके पश्चात्, वह। **अप्पाण**—आत्मा को। **उक्कसे**—आर्त ध्यान और दुष्ट योग से हटाए। **तत्थ**—वहा पर ही दु:ख रूप स्पर्शो को। **अहियासए**—सहन करे।

मूलार्थ—जिससे वज्रवत् भारी कर्म उत्पन्न हो, इस प्रकार वे घुणादि से युक्त काष्ठ फलक का अवलम्बन न करे। उसके पश्चात् वह आत्मा को दुष्ट ध्यान और दुष्टयोग से हटाए और वहा उपस्थित हुए दु:ख रूप स्पर्शो को समभावपूर्वक सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे इगितमरण अनशन का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि आवश्यकता पडने पर मुनि को घूमना पडे तो वह मर्यादित भूमि मे घूम-फिर सकता है। यदि उसे थकावट मालूम हो तो वह किसी काष्ठ फलक का सहारा लेकर खडा होना चाहे तो पहले उसे यह देख लेना चाहिए कि उसमें घुण आदि जीव-जन्तु तो

नहीं है। यदि उसमे जीव-जन्तु आदि हो तो उसका सहारा न ले और जीव-सहित किसी भी तख्त आदि का उपयोग न करे। क्योंकि, इससे जीवो की विराधना होती है और फलस्वरूप पापकर्म का बन्ध होता है। पापकर्म वज्रवत् बोझिल होता है। वह आत्मा को सदा नीचे की ओर घसीटता है। इसलिए जिस क्रिया से पापकर्म का बन्ध हो, उस क्रिया से साधक को सदा दूर रहना चाहिए और ऐसी किसी वस्तु का उपयोग नही करना चाहिए, जिससे जीवो की हिसा होती हो।

मुनि को सदा आत्मचिन्तन मे संलग्न रहना चाहिए। उसे अपने को कभी भी दुर्ध्यान मे नही लगाना चाहिए। दुष्ट चिन्तन एव बुरे विचार आत्मा को गिराने वाले है। अत मुनि को कठिन-से-कठिन परिस्थिति मे भी अपने चिन्तन की धारा को दुष्ट विचारो की ओर नही मोडना चाहिए। परीषहों के उत्पन्न होने पर भी उसे विचलित नही होना चाहिए, अपितु समभाव से सब परीषहो को सहन करना चाहिए और अपने चिन्तन को सदा आत्मविकास मे लगाए रखना चाहिए। इस तरह जीवो की रक्षा एवं शुद्ध चिन्तन के द्वारा साधक समाधिमरण को प्राप्त करता है और फलस्वरूप स्वर्ग या मुक्ति को प्राप्त करता है।

इगितमरण के बाद पादोपगमन अनशन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए।
सव्वगाय निराहेवि, ठाणाओ न विउब्भमे॥19॥

छाया— अयं चायततर· स्यात्, य· एवमनुपालयेत्।
सर्वगात्र विरोधेऽपि, स्थानाद् न व्युद्भ्रमेत्॥

पदार्थ—अयं—यह पादोपगमन अनशन। **च**—च शब्द से भक्त परिज्ञा और इगित मरण से। **आययतरे**—विशिष्टतर। **सिया**—है, अत । **जो**—जो इसे स्वीकार करने वाला साधक। **एव**—इस विधि से। **अणुपालए**—इसका पालन करे। **सव्वगाय-निरोहेवि**—सारे शरीर का निरोध होने पर भी। **ठाणाओ**—एक स्थान से दूसरे स्थान पर। **न विउब्भमे**—सक्रमण न करे, अर्थात् परीषहों के भय से वह स्थान का परिवर्तन न करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन भक्त परिज्ञा और इगितमरण से विशिष्टतर है, अर्थात विशेष यतना वाला है। अत· साधु उक्त विधि से इसका पालन करे। समस्त

शरीर का निरोध होने पर भी वह परीषहो से भयभीत होकर स्थानान्तर में न जाए।

हिन्दी-विवेचन

पंडितमरण को प्राप्त करने के लिए तीन तरह के अनशन बताए गए है—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इगितमरण और 3—पादोपगमन। पहले दो प्रकार के मरण का उल्लेख कर चुके हैं। अतिम अनशन का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह अनशन पूर्व के दोनो अनशनो से अधिक कठिन है। भक्त प्रत्याख्यान में साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी स्थान पर आ-जा सकता है, परन्तु इंगितमरण में वह मर्यादित स्थान से बाहर शरीर का सचालन नही कर सकता और पादोपगमन मे साधक बिलकुल स्थिर रहता है। वह जिस स्थान पर जिस आसन से—बैठे हुए या लेटे हुए, अनशन स्वीकार करता है, अन्तिम सास तक उसी आसन से रहता है। इधर-उधर घूमना-फिरना तो दूर रहा, वह शरीर का सचालन भी नही कर सकता है। केवल पेशाब एव शौच आदि से निवृत्त हो सकता है।

शारीरिक हलन-चलन न करने के कारण तथा कभी मूर्छा आदि आ जाने पर उसे मृत समझ कर कोई पशु-पक्षी उसको खाने आएं, तो उनसे डरकर वह अन्य स्थान मे नही जाए। वह वहीं निश्चेष्ट रहकर समभाव पूर्वक उत्पन्न होने वाले परीपहो को सहने करे। इसका तात्पर्य यह है कि अपने शरीर पर बिलकुल ध्यान न रखते हुए आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहे। यही इस अनशन की विशेषता है और इसी कारण यह पूर्वोक्त दोनो अनशनों से श्रेष्ठ माना गया है। वृत्तिकार का भी यही अभिमत है[1]।

इस बात का समर्थन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठे माहणे॥20॥

---

1 स चायततरो न केवल भक्त परिज्ञाया इगित मरण विधिरायततर अय च तस्मादायततर इति च शब्दार्थ । आयततर इत्याडभिविधौ सामस्त्येन यत आयत अयमनयो रतिशयेनायत आयततर, यदि वाऽयमनयोरति शयेनात्तो गृहीत आत्तर, यत्नेनाध्यवसित इत्यर्थ., तदेव अय पादोपगमनमरण विधिराततरो दृढतर· स्याद् भवेत्।

छाया— अयं सः उत्तमो धर्म., पूर्वस्थानस्य प्रग्रहः।
अचिरं प्रत्युपेक्ष्य, विहरेत् तिष्ठेत् माहनः॥

पदार्थ—अयं—यह। **से**—पादोपगमन अनशन। **उत्तमे धम्मे**—श्रेष्ठ धर्म है। **पुव्वट्ठाणस्स**—पूर्व दो अनशनों से। **पग्गहे**—यह प्रकृष्टतर है अत । **अचिरं**—स्थडिल भूमि को। **पडिलेहित्ता**—देखकर। **माहणे**—साधु। **चिट्ठे**—वहा ठहरे और। **विहरे**—विधिपूर्वक उसका परिपालन करे।

मूलार्थ—यह पादोपगमन अनशन उत्तम धर्म है और पूर्व कथित दोनो अनशनो से श्रेष्ठतर है। इस अनशन को स्वीकार करने वाले मुनि को मल-मूत्र त्याग करने की भूमि को देखकर वहा स्थित होना चाहिए और विधि पूर्वक अनशन का परिपालन करना चाहिए।

हिन्दी-विवेचन

पादोपगमन अनशन की विशेपता उसकी कठोर साधना के कारण है। इस अनशन मे साधक वृक्ष से टूटकर जमीन पर पडी हुई शाखा की तरह निश्चेष्ट होकर आत्मचिन्तन मे सलग्न रहता है। वह केवल मलमूत्र का त्याग करने के अतिरिक्त अपने अगोपागो का संचालन भी नही कर सकता है।

उक्त साधक की वृत्ति का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा॥21॥

छाया— अचित तु समासाद्य, स्थापयेत्तत्रात्मानम्।
व्युत्सृजेत् सर्वशः कायं, न मे देहे परीषहाः॥

पदार्थ—तु—वितर्क के अर्थ मे है। **अचित्तं**—निर्जीव स्थडिल एव तख्तादि को। **समासज्ज**—प्राप्त करके। **तत्थ**—वहा पर। **अप्पगं**—अपनी आत्मा को। **ठावए**—स्थापन करे और। **सव्वसो** —सब तरह से अपने। **कायं**—शरीर का। **वोसिरे**—व्युत्सर्जन कर दे। **परीसहा**—परीषहों के उत्पन्न होने पर वह यह भावना करे कि। **न मे देहे**—यह शरीर मेरा नहीं है। **परीसहा**—अत मुझे परीषह कैसे?

मूलार्थ—अचित स्थडिल एवं तख्त आदि को प्राप्त करके वह अपनी आत्मा को वहा स्थापित करे। वह अपने शरीर का पूर्णतः व्युत्सर्ग करके यह सोचे कि जब यह शरीर मेरा नही तो फिर इसे परीषह कैसे और किसको? इस भावना से वह उत्पन्न होने वाले परीषहो को सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

पादोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले साधक को निर्दोष तृणशय्या एव तख्त आदि, अर्थात् जीव-जन्तु आदि से रहित शय्या आदि का, एवं हरियाली, बीज, अकुर एव जीव-जन्तु से रहित स्थडिल भूमि का उपयोग करना चाहिए। उसे अपने शरीर की ममता का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि मेरी आत्मा इस शरीर से पृथक् है। इसके ऊपर मेरा कोई अधिकार नही है। इसे एक दिन अवश्य ही नष्ट होना है, परन्तु यह आत्मा सदा स्थित रहने वाला है। अत वह शरीर की बिलकुल चिन्ता न करते हुए, आत्मचिन्तन मे सलग्न रहे और उस समय उत्पन्न होने वाले सभी परीषहों को समभाव से सहन करे।

उसे अपने सामने आने वाले परीषहों को कब तक सहन करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— जावज्जीवं परिसहा, उवसग्गा इति संखया।
संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए॥22॥

छाया— यावज्जीवं परीषहाः, उपसर्गा· इतिसंख्याय।
सवृत्तः देहभेदाय, इति प्राज्ञः अध्यासयेत्॥

पदार्थ—**जावज्जीवं**—जीवन पर्यन्त। **परिसहा**—परीषह और। **उवसग्गा**—उपसर्ग। **इति**—इस प्रकार। **सखया**—जानकर सहन करना चाहिए। **देहभेयाए**—शरीर भेद के लिए। **संबुडे**—सवृतात्मा। **इय**—इस प्रकार। **पन्ने**—उचित विधान के जानने वाला। **अहियासए**—सहन करे।

मूलार्थ—इस तरह देह-भेद अनशन के विधान को जानने वाला सवृत्त आत्मा को जो परीषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हो, उन्हे जीवनपर्यन्त—अन्तिम सांस तक समभाव से सहन करे।

हिन्दी-विवेचन

परीषहो का सबन्ध शरीर के साथ है। शरीर के रहते हुए ही अनेक तरह की वेदनाए उत्पन्न होती है, अनेक कष्ट सामने आते है। शरीर के नाश होने के बाद तत्सम्बन्धित कष्ट भी समाप्त हो जाते हैं। अत. साधक को जीवन की अंतिम सास तक उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

इस गाथा मे यह भी बताया गया है कि सवृत्त आत्मा, अर्थात् समस्त दोषो से निवृत्त एवं सवर में स्थित आत्मा एव ज्ञान सपन्न–सदसद् के विवेक से युक्त साधु ही परीषहो को समभाव से सह सकता है। क्योकि, जो दोषो को जानता ही नही और जो उनसे निवृत्त ही नही है, वह साधना के पथ पर चल ही नहीं सकता है। इसलिए सदसद् के विवेक से संपन्न साधक ही सम्यक्तया पादोपगमन अनशन का परिपालन कर सकता है।

इतनी उत्कृष्ट साधना मे सलग्न साधक को देखकर यदि कोई राजा उसे भोगों का निमन्त्रण दे तो उस समय उसे क्या करना चाहिए, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्– भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि।
इच्छालोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया॥23॥

छाया– भिदुरेषु न रज्येत्, कामेषु बहतरेष्वपि।
इच्छा लोभ न सेवेत, ध्रुववर्ण सप्रेक्ष्य॥

पदार्थ–**भेउरेसु**–विनाशशील। **बहुतरेसु**–प्रभुततर। **कामेसु**–शब्दादि काम गुणो मे। **इच्छा लोभ**–इच्छा रूप लोभ का भी। **न सेविज्जा**–सेवन न करे। **धुववन्न सपेहिया**–निश्चल वर्ण शाश्वती कीर्ति का विचार करके अथवा संयम को जानकर वह इच्छा का परित्याग करे।

मूलार्थ–यदि कोई राजा-महाराजा आदि उक्त मुनि को भोगो के लिए निमत्रित करे तो वह विनाशशील प्रभुततर काम-भोगो मे राग न करे, उनमे आसक्त न होवे। निश्चल कीर्ति को जानकर वह यथावत् सयम-परिपालन करने के लिए इच्छा रूप लोभ का भी सेवन न करे।

हिन्दी-विवेचन

समस्त कर्मो से मुक्त होना ही साधना का उद्देश्य है। अतः साधक के लिए समस्त भोगो का त्याग करना अनिवार्य है। इसी बात को बताते हुए कहा गया है कि यदि कोई राजा-महाराजा आदि विशिष्ट धन एव भोग सम्पन्न व्यक्ति उक्त साधक को देखकर कहे कि तुम इतना कष्ट क्यो उठाते हो, मेरे महलो मे चलो मै तुम्हें सभी भोग-साधन दूगा, तुम्हारे जीवन को सुखमय बना दूगा। इस तरह के वचनो को सुनकर साधक विषयो की ओर आसक्त न होवे। वह सोचे कि जब भोगो को भोगने वाला शरीर ही नाशवान है, तब भोग मुझे क्या सुख देंगे? वस्तुतः ये काम-भोग अनन्त दु खो को उत्पन्न करने वाले हैं, ससार को बढाने वाले हैं। इस तरह सोचकर वह भोगो की आकाक्षा भी न करे और न यह निदान ही करे कि मैं आगामी भव मे राजा-महाराजा जैसे भोग-साधनो से संपन्न बनू। इन सभी सावद्य आकाक्षाओं से रहित होकर वह अपने आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहे। वह किसी भी तरह के वैषयिक चिन्तन की ओर ध्यान न दे।

उसे भोगो की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए; इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सद्दहे।
तं परिबुज्झमाहणे, सव्वं नूमं विहूणिया॥24॥

छाया— शाश्वतै· निमंत्रयेत् दियमाया न श्रद्धधीत।
तत् प्रतिबुध्यस्व माहनः, सर्वं नूमं विधूय।

पदार्थ—सासएहिं—यदि कोई व्यक्ति आयु-पर्यन्त रहने वाले धनादि पदार्थो से। **निमंतिज्जा**—निमन्त्रित करे, तब भी वह मुनि उसकी इच्छा न करे। **दिव्वमाय**—इसी प्रकार देवता सम्बन्धी माया पर भी। **न सद्दहे**—श्रद्धा-विश्वास न करे। **तं परिबुज्झ**—हे शिष्य! तू उस माया-जाल को समझ। **माहणे**—साधु। **सव्वं**—इन सबको। **नूमं**—कर्म-बन्धन का कारण **विहूणिया**—जानकर त्याग देता है, अत हे शिष्य! तुम देवादि के मायाजाल में मत फंसना।

मूलार्थ—यदि कोई व्यक्ति आयु पर्यन्त रहने वाले अथवा प्रतिदिन दान करने

से क्षय न होने वाले वैभव का भी निमंत्रण करे, तब वह साधु उसे ग्रहण करने की इच्छा न करे। इसी तरह देव सम्बन्धी माया की भी इच्छा नही करनी चाहिए। अत. हे शिष्य' तू माया के स्वरूप को समझ और इसे सर्व प्रकार से कर्मबन्ध का कारण जान कर इससे दूर रह, अर्थात् इसमें रागभाव मत रख।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया है कि यदि साधक को कोई इतना धन-वैभव दे कि वह जीवनपर्यन्त समाप्त न हो, तब भी उसे उस वैभव की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। मनुष्य के वैभव की तो बात ही क्या है, उसे स्वर्ग के वैभव को पाने की भी अभिलाषा नही रखनी चाहिए। क्योकि, वह नाशवान है और आरम्भ-समारम्भ एवं वासना को बढाता है, जिससे पापकर्म का बन्ध होता है और परिणामस्वरूप जन्म-मरण के प्रवाह मे बहना पडता हे। इसलिए साधक को भोगो की इच्छा नही रखनी चाहिए।

कभी-कभी मिथ्यात्वी देव उसे पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। विभिन्न प्रलोभनो एव कष्टो के द्वारा उसके ध्यान को भग करने का प्रयास करते है। उस समय साधक को समस्त अनुकूल एव प्रतिकूल परीषहों को सहन करना चाहिए, परन्तु अपने ध्येय से गिरना नही चाहिए। उसे देवमाया को भली-भाति समझकर अपने मन को सदा आत्म-चिन्तन में लगाए रखना चाहिए।

प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए।
तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं॥25॥ त्तिबेमि

छाया– सर्वार्थैः अमूर्छितः आयुः कालस्य पारग.।
तितिक्षा परमं ज्ञात्वा विमोहान्यतरं हितम्॥

पदार्थ–सव्वट्ठेहिं–वह मुनि समस्त शब्दादि विषयो मे। **अमुच्छिए**–आसक्त न बने। **आउकालस्स**–वह जीवन पर्यन्त उन विषयो मे निवृत्त होने मे। **पारए**–पारगत बने और। **तितिक्खं**–तितिक्षा को। **परमं नच्चा**–सर्वश्रेष्ठ जान कर। **विमोहन्नयरं हियं**–मोह रहित होकर यथाशक्ति तीनों में से किसी एक अनशन को हितकारी जानकर स्वीकार करे। **त्तिबेमि**–मै इस प्रकार कहता हू।

मूलार्थ—मुनि शब्दादि विषयों मे अनासक्त रहे। वह जीवनपर्यन्त उन विषयों से निवृत्त रहे और तितिक्षा को सर्व-श्रेष्ठ जानकर मोह से रहित बने। तीनो अनशनो में यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझकर स्वीकार करे। ऐसा मै कहता हूं।

हिन्दी-विवेचन

यह तो स्पष्ट है कि जन्म ग्रहण करने वाला प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है। मरना सभी को पडता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नही जन्मा है और न जन्मेगा ही जो न मरा हो और न कभी मरेगा। मरते सब है, परन्तु मरने-मरने मे अन्तर है। एक मृत्यु जन्म-मरण के प्रवाह को बढाती है, तो दूसरी मृत्यु उक्त प्रवाह को समाप्त कर देती है। पहली मृत्यु को आगमिक भाषा मे बाल—अज्ञान मरण और दूसरी को पडित—सज्ञान मरण कहते है। पडितमरण जन्म-मरण को समाप्त करने वाला है और साधना का उद्देश्य भी जन्म-मरण के प्रवाह को समाप्त करना है। अत साधक को अपनी साधना को सफल बनाने के लिए पडितमरण को प्राप्त करना चाहिए।

यह हम देख चुके है कि पडितमरण तीन प्रकार का है—1—भक्त प्रत्याख्यान, 2—इगितमरण और 3—पादोपगमन। पादोपगमन सर्वश्रेष्ठ है और इङ्गित मरण मध्यम स्थिति का है और भक्त प्रत्याख्यान सामान्य कोटि का है। ये श्रेणिया साधना की कठोरता की अपेक्षा से है। साधना की दृष्टि से तीनो मरण महत्त्वपूर्ण है। यदि साधक राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करके समभाव पूर्वक परीषहो को सहन करते हुए समाधि-मरण को प्राप्न करता है, तो वह प्रत्येक मरण से निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है। यह उसकी शारीरिक क्षमता पर आधारित है कि वह तीनो में से किसी भी एक मरण को स्वीकार करे। परन्तु, समभाव से उसका पालन करे, अन्तिम सास तक अपने पथ से भ्रष्ट न हो, इसी मे उसकी साधना की सफलता है।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

॥ अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

प्रथम उद्देशक

प्रस्तुत अध्ययन का नाम उपधान श्रुत है। इसमे भगवान महावीर के उपधान—तपनिष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। आचाराग सूत्र में साधु के आचार का वर्णन है और भगवान महावीर एक आदर्श साधु थे। अत उनका यह आचार-विषयक उपदेश अनुभवजन्य है। जिन परीषहो—कष्टों को सहने की तथा जिस साधना का परिपालन करने की बात आचाराङ्ग के आठ अध्ययनो मे कही गई है, वैसे परीषह भगवान महावीर ने स्वय सहन किए थे और उस साधना-पथ पर वे स्वय चले थे। अत जब ऐसा विश्वास साधक के मन मे हो जाता है कि यह साधना-पथ केवल भगवान का उपदेश मात्र नही, प्रत्युत उनके द्वारा आचरित भी है, तो उसकी साधना में तेजस्विता आ जाती है, उसके जीवन मे परीषहो को सहने की क्षमता बढ जाती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

यह हम पहले बता चुके है कि द्वादशागी श्रुत अनादि-अनन्त भी है। इस पर यहा यह प्रश्न उठता हे कि अनादि-अनन्त श्रुत में ऐतिहासिक घटना आ सकती है या नही। यह प्रश्न वेद को ईश्वर-कृत मानने वाली वैदिक परम्परा के सामने भी था। उनमे दो पक्ष मिलते है—कुछ वेदो मे ऐतिहासिक घटना मानते है और कुछ वेदो मे ऐतिहासिक घटना का अभाव मानते है। परन्तु, जैन विचारको ने इसका समाधान स्याद्वाद की भाषा मे दिया। उन्होंने कहा कि त्रैकालिक सत्य की अपेक्षा से द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। क्योकि त्रैकालिक सत्य सदा एक-सा रहता है। प्रत्येक काल-चक्र मे होने वाले प्रत्येक तीर्थकर भगवान अहिसा, सत्य आदि धर्मो का उपदेश स्याद्वाद या अनेकान्त की भाषा मे देते हे। उनके विचारों मे सैद्धातिक एकरूपता रहती है, इस दृष्टि से उनके द्वारा प्ररूपित द्वादशागी अनादि-अनन्त है। परन्तु प्रत्येक युग मे होने वाले तीर्थकर उसका उपदेश देते हे। अत उपदेष्टा की अपेक्षा से वह सादि-सान्त भी है और वे उपदेष्टा अपने पूर्व में हुए महापुरुषो के तथा अपने युग मे होने वाले महापुरुषों के जीवन का उदाहरण देकर त्रैकालिक सत्य को परिपुष्ट करते है। इस

तरह अनादि-अनन्त श्रुत में भी ऐतिहासिक महापुरुषों का उल्लेख होता है। इसमे सब आचार्यों की एक मान्यता है। जैन विचारको में इस मान्यता के सबन्ध मे दो विचार नहीं पाए जाते। अस्तु, इस तरह आचाराङ्ग मे भगवान के जीवन का वर्णन उसकी अनन्तता को भी बनाए रखता है।

उपधान शब्द की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने दो तरह का उपधान माना है—1—द्रव्य उपधान और 2—भाव उपधान। द्रव्य उपधान तकिया है, जिससे शयन के समय आराम मिलता है। परन्तु भाव उपधान तपस्या है। तपस्या के द्वारा जीव को अनन्त शान्ति, अनन्त सुख एव आनन्द की अनुभूति होती है, इसलिए यह भाव उपधान है। तपस्या से कर्म मैल का नाश होता है और आत्मा उज्ज्वल, समुज्ज्वल एव महोज्ज्वल बनती है और एक दिन सर्व कर्म मल से मुक्त होकर अपने आत्म-स्वरूप मे रमण करने लगती है। अत उपधान से आत्मा का उपधूनन—कर्म गाठ का भेदन होता है। कर्म गाठ का नष्ट होना ही वास्तव मे यथार्थ सुख को प्राप्त करना है। अत इस अध्ययन में भगवान महावीर के तप एव साधनानिष्ठ जीवन का वर्णन किया गया है। उनकी साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए।
संखाए तंसि हेमन्ते अहुणो पव्वइए रीइत्था॥1॥

छाया— यथा श्रुतं वदिष्यामि, यथा सः श्रमण भगवान् उत्थाय।
संख्याय तस्मिन् हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः रीयते स्म।

पदार्थ—अहासुयं—यथाश्रुत, अर्थात् आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि जैसे मैंने सुना है। **वइस्सामि**—मै वैसे ही कहूगा। **जहा**—जैसे। **से**—वह। **समणे भगव**—श्रमण भगवान। **उट्ठाए**—सम्यक् चारित्र को ग्रहण करके, कर्मो को क्षय करके, और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उद्यत होकर, और। **संखाए**—तत्त्व को जानकर। **तंसि**—उस। **हेमंते**—हेमन्त काल मे। **अहुणो**—तत्त्व मे। **पव्वइए**—प्रवर्जित होकर। **रीइत्था**—विहार किया।

मूलार्थ—आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते है कि हे जम्बू! मैंने जैसे श्रमण भगवान महावीर की विहारचर्या का श्रवण किया है, वैसे ही मै तुम्हारे प्रति

कहूगा। जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर ने कर्मो के क्षय करने और तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए सयममार्ग में उद्यत होकर, तत्त्व को जानकर उस हेमन्त काल मे तत्काल ही दीक्षित होकर विहार किया था।

हिन्दी-विवेचन

आचाराङ्ग सूत्र को प्रारम्भ करते समय आर्य सुधर्मा स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि हे जम्बू! मै तुम्हे वही श्रुत सुना रहा हूँ, जो मैने श्रमण भगवान महावीर से सुना है। इसके पश्चात् आठ अध्ययनो मे इस प्रतिज्ञा को फिर से नहीं दुहराया गया, परन्तु नौवे अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए इस प्रतिज्ञा का उल्लेख फिर से किया गया है। इसका कारण यह है कि आठ अध्ययन साध्वाचार से सबन्धित थे, इसलिए उनमे बार-बार उक्त प्रतिज्ञा को दुहराने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु प्रस्तुत अध्ययन भगवान महावीर की साधना से सम्बद्ध होने से यह शका हो सकती है कि सूत्रकार ने अपनी ओर से भगवान महावीर की स्तुति की है या उनकी विशेषता को बताने के लिए उक्त अध्ययन का वर्णन किया है। सूत्रकार के द्वारा आचाराङ्ग सूत्र के प्रारम्भ मे की गई प्रतिज्ञा को पुन दुहराने के बाद भी कुछ लोग प्रस्तुत अध्ययन को भगवान महावीर का गुण कीर्तन ही मानते है। उनका कथन है कि यह भगवान महावीर का यथार्थ जीवन-वर्णन नही, अपितु गणधरो ने उनके गुणो का वर्णन किया है[1]। इस तरह की शकाओं का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने इस "अहासुय" प्रतिज्ञा सूत्र का फिर से उल्लेख किया है। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन मे यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान महावीर के जीवन के सम्बन्ध मे मै अपनी ओर से कुछ नही कह रहा हूँ। मैने भगवान महावीर से उनकी सयम साधना के विषय मे जैसा सुना है, वैसा ही तुम्हे बता रहा हूँ, अर्थात् प्रस्तुत अध्ययन भगवान की स्तुति मे नही, अपितु, भगवान महावीर की साधना का यथार्थ चित्र है। सूत्रकार ने सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन मे भगवान महावीर का गुण-कीर्तन किया है और उस अध्ययन का नाम है—वीर स्तुति अध्ययन। यदि प्रस्तुत अध्ययन मे गणधर ने भगवान की स्तुति की होती तो वे सूत्र कृताङ्ग की तरह यहा भी उल्लेख करते। परन्तु उक्त अध्ययन में

---

1 अने इहा गणधरा भगवान रा गुण वर्णन कीधा। त्या गुणा मे अवगुणा ने किम कहे। गुणा मे तो गुणा ने इज कहे। —भ्रमविध्वसनम् पृष्ठ 231

सूत्रकार ने अपनी ओर से कुछ नही कहा है। वे कहते है कि जैसा भगवान महावीर ने अपनी संयम-साधना का वर्णन किया है, वही मै तुम्हें सुनाता हू।

भगवान महावीर का जन्म क्षत्रियकुण्ड नगर में हुआ था। महाराज सिद्धार्थ उनके पिता एव महारानी त्रिशला उनकी माता थी। वे अपने किसी पूर्वभव मे आबद्ध तीर्थकर नाम कर्म के कारण इस अवसर्पिणी काल के 24वे तीर्थकर हुए। जन्म के समय ही वे मति, श्रुत एव अवधि तीन ज्ञान से युक्त थे। वे शरीर से जितने सुन्दर थे, उससे भी अधिक आपका अतर जीवन दया, करुणा, क्षमा, उदारता एव वीरता आदि गुणो से परिपूर्ण था। उनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी के साथ हुआ और प्रियदर्शना नामक कन्या का जन्म हुआ, जिसका जमाली के साथ विवाह किया गया। आप संसार मे रहते हुए भी ससार से अलिप्त रहते थे। आप गर्भ मे की हुई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार माता-पिता के जीवित रहते उनकी सेवा मे सलग्न रहे। उनके स्वर्गवास के पश्चात् अपने ज्येष्ट भ्राता नन्दीवर्द्धन के सामने दीक्षा लेने का विचार रखा। अभी माता-पिता का वियोग हुआ ही था, अत वे भाई के विरह की बात को एक दम सह नहीं सके। इसलिए बडे भाई के अत्यधिक आग्रह के कारण आप दो वर्ष और गृहस्थवास मे ठहर गए। इन दो वर्षो मे त्याग-निष्ट जीवन बिताते रहे। फिर एक वर्ष अवशेष रहने पर उन्होने प्रतिदिन 1 करोड 8 लाख सोनैयो का दीन-हीन तथा गरीब जनो को दान देना आरम्भ किया और एक वर्ष तक निरन्तर दान देते रहे।

उसके पश्चात् मार्ग शीर्ष कृष्ण दशमी के दिन, दिन के चतुर्थ पहर मे भगवान ने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधु जीवन को स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन के समस्त वस्त्राभूषण आदि को उतार कर एवं पचमुष्ठि लुचन करके 'करेमि भते' के पाठ का उच्चारण करके समस्त सावद्य योगो से निवृत्त होकर साधना जीवन मे प्रविष्ट हुए और साधना जीवन मे प्रवेश करते ही उन्हे चौथा मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। इस समय इन्द्र ने उन्हे एक देवदूष्य वस्त्र प्रदान किया, जिसे स्वीकार करके भगवान महावीर ने वहा से कुमार ग्राम की ओर विहार कर दिया और साढे बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक मौन साधना एव घोर तपश्चर्या के द्वारा चार घातिक कर्मो को सर्वथा क्षय करके केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया।

इससे स्पष्ट होता है कि साधक को अपने स्नेही सम्बन्धियो के साथ अधिक समय तक नही रहना चाहिए। इससे अनुराग एवं मोह की जागृति होती है और मोह साधक के जीवन को पतन की ओर ले जाने वाला है। अत भगवान ने केवल उपदेश देकर ही नही, किन्तु स्वयं उनका आचरण करके बताया कि साधना के क्षेत्र मे प्रविष्ट साधक को किस तरह रहना चाहिए।

भगवान महावीर ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र का उपयोग किया और उसे क्यो स्वीकार किया, इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमन्ते।
से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स॥2॥

छाया— नो चैवानेन वस्त्रेण, पिधाम्यामि तस्मिन् हेमन्ते।
स पारग यवित्कथं, एतत् खलु अनुधार्मिकं तस्य।

पदार्थ—**च**—पुन·। **एव**—अवधारण अर्थ मे। **इमेण वत्थेण**—मै इस वस्त्र से। **तंसि हेमन्ते**—उस हेमन्त काल मे। **नो पिहिस्सामि**—अपने शरीर को नही ढकूगा। **से**—वह भगवान। **पारए**—प्रतिज्ञा के परिपालक और ससार के पारगामी थे। **आवकहाए**—जीवन पर्यन्त इसी वृत्ति को धारण करने वाले थे। **खु**—अवधारणार्थ मे है। **एवं**—यह वस्त्र रूप धर्म। **अणुधम्मियं**—अन्य तीर्थकरो ने ग्रहण किया है—इस कारण से। **तस्स**—उसी धर्म को भगवान ने ग्रहण किया है।

मूलार्थ—मै इस वस्त्र से हेमन्त काल मे शरीर को ढक लूगा, इस आशय से भगवान ने वस्त्र ग्रहण नही किया। भगवान तो जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा के पालक, परीषह और ससार के पारगामी है—किन्तु पूर्ववर्ती तीर्थकरो ने इसे ग्रहण किया है, इसलिए भगवान ने भी स्वीकार किया, अर्थात् पूर्व तीर्थकरो द्वारा आचरित होने से उस इन्द्र प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र को भगवान ने ग्रहण किया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि दीक्षा लेते समय स्वीकार किए गए देवदूष्य वस्त्र के सम्बन्ध मे भगवान ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं इस वस्त्र का अपने शरीर को ढकने के लिए उपयोग नही करूंगा और भगवान ने जीवनपर्यन्त इस प्रतिज्ञा का

पालन किया। वस्त्र स्वीकार करने के प्रायः तीन कारण होते है—1—हेमन्त, सर्दी में शीत से बचने के लिए, 2—लज्जा ढकने के लिए और 3—जुगुप्सा को जीतने का सामर्थ्य न हो तो। भगवान ने इन तीनो कारणों से वस्त्र को स्वीकार नही किया था। वे समस्त परीषहो को जीतने मे समर्थ थे और सदा परीषहो पर विजय पाते रहे है। परीपहो से घबराकर उन्होंने कभी भी वस्त्र का उपयोग नहीं किया। अतः उन्होंने वह वस्त्र अपने उपयोग के लिए स्वीकार नहीं किया। परन्तु पूर्व तीर्थकरों द्वारा आचरित परम्परा को निभाने के लिए या अपने सघ मे होने वाले साधु-साध्वियों के लिए आचरण का मार्ग स्पष्ट करने के लिए उन्होने देवदूष्य वस्त्र को स्वीकार करके अपने कन्धे पर रख लिया।

सभी साधको की बाहरी सहिष्णुता एक समान नहीं होती। सभी साधक महावीर नही बन सकते। इसलिए स्थविर कल्प मार्ग की आचार परम्परा को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने वस्त्र ग्रहण किया। क्योकि साधना का सम्बन्ध आत्मा के विशुद्ध भावो से है, राग-द्वेष को क्षय करने से है। वस्त्र रखने एव नही रखने से उसमे कोई अन्तर नही पडता ह। इसलिए भगवान महावीर ने न तो वस्त्र रखने का निषेध किया और न वस्त्र त्याग का ही निषेध किया। उन्होने तीर्थ परम्परा को अनवरत चालू रखने के लिए वस्त्र को ग्रहण किया।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अभिनव धर्म की स्थापना नही की, अपितु पूर्व से चले आ रहे धर्म को आगे बढ़ाया। पूर्व के समस्त तीर्थकरो द्वारा प्ररूपित त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया, जनता को धर्म का यथार्थ मार्ग बताया। इस प्रकार "अणुधम्मिय" पद से स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर ने पूर्व परम्परा के अनुसार आचरण किया। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है और आगम के पाठ के उद्धरण देकर वस्त्र रखने की परम्परा का समर्थन किया है[1]।

"अनुधर्मिता" शब्द का अर्थ चूर्णि मे गतानुगत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखने की परम्परा का पालन किया। चूर्णि

---

1 से बेमि जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहन्ता भगवन्ता जे य पव्वयन्ति जे य पव्वइस्सन्ति ते सोवही धम्मो देसिअव्वो त्ति कट्टु तित्थधम्मयाए एसाणु-धम्मिगत्ति एग दूसमायाए पव्वइस वा पव्वयति वा पव्वइस्सति वा।

मे इसका एक दूसरा अर्थ 'अनुकालधम्म' भी दिया गया है और उसका अभिप्राय यह बताया गया है कि तीर्थकरो को भविष्य में सोपधिक—वस्त्र-पात्र आदि उपधि सहित धर्म का उपदेश देना पडता है।

अनुधर्मिता शब्द का प्रयोग सस्कृत कोश में नहीं मिलता, किन्तु पालिकोश को देखने से ज्ञात होता है कि पालि मे यह शब्द 'अनुधम्मता' रूप से मिलता है। कोश मे इसका अर्थ—Lawfulness (धर्म सम्मतता), Conformity of Dhamma (धर्म के अनुरूप) किया गया है। पालि मे 'अनुधम्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उसका भी Conformity or accordance with the Law (नियम के अनुसार), Lawfulness (धर्म सम्मतता) Truth (सच्चाई) अर्थ किया गया है। पालि मे 'धम्मानुम्म' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। उसका अर्थ है—मुख्य-गौण सभी प्रकार का धर्म1 इन शब्दो के प्रयोग और उनके अर्थो पर ध्यान दिया जाए तो 'अनुधर्मिता' का अर्थ होता है कि भगवान महावीर ने धर्म के अनुकूल आचरण किया। अस्तु, चूर्णिकार एव टीकाकार ने भी जो अर्थ किया है, वह भी असगत नही है। क्योकि अब यह प्रश्न उठता है कि धर्म कौन सा? तब उत्तर यही मिलता है—'जो पूर्व मे आचरण का विषय बना हो।' अत' वह केवल धर्म नही, बल्कि अनुधर्म-परम्परा से प्रवहमान धर्म है। चूर्णिकार का 'अनुकाल धर्म' भी सामर्थ्य लब्ध अर्थ माना जा सकता है। जैसा उन्होंने स्वय आचरण किया, वैसा आचरण दूसरे साधु भी करे। इस अपेक्षा से 'अनुकाल धर्म' भी असगत नही कहा जा सकता है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि भगवान महावीर ने अपने उपयोग के लिए या उस से शीत आदि का निवारण करने की भावना से वस्त्र को स्वीकार नही किया। क्योंकि दीक्षा लेते ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा धारण कर ली थी कि मै इस वस्त्र का हेमन्त मे उपयोग नहीं करूगा, अर्थात् सर्दी के परीषह से निवृत्त होने के लिए इससे अपने शरीर को आवृत नही करूगा।

दीक्षा लेने के पूर्व भगवान के शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थो की मालिश एव लेपन किया गया था। उस सुगन्ध से आकर्षित होकर भ्रमर आदि जन्तु आकर भगवान को कष्ट देने लगे। उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

---

1 आचाराङ्ग सूत्र (प दलसुख मालवणिया) —श्रमण, वर्ष 9, अक 27

मूलम्— चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया अभिगम्म।
अभिरुज्झ कायं विहिरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिसु॥3॥

छाया— चतुरः समधिकान् मासान्, बहवः प्राणिजातयः समागत्य।
आरुह्य कायं विजहुः, आरुह्य तत्र हिंसन्तिस्म॥

पदार्थ—चत्तारि मासे—चार महीनों से। **साहिए**—अधिक। **बहवे पाणजाइया**—अनेक जातियों के प्राणी। **आभिगम्म**—आ कर के। **अभिरुज्झ कायं**—शरीर पर बैठ कर। **विहिरिंसु**—रहने लगे तथा। **आरुसिया**—मास एव रुधिर का आस्वादन करने के लिए शरीर पर चढ कर। **तत्थ**—वहा उस शरीर की। **हिंसिसु**—हिसा करने लगे, मास-खून आदि चखने लगे, भगवान के शरीर पर डक मारने लगे।

मूलार्थ—भगवान महावीर के शरीर एवं देवदूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर बहुत-सी जातियो के प्राणी उनके शरीर पर बैठने एव रहने लगे और करीवन साढे चार महीने तक उनके शरीर पर डक मारते रहे।

हिन्दी-विवेचन

दीक्षा के पूर्व भगवान को सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित जल से स्नान कराया गया था और उनके शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ लगाए थे। उन पदार्थो एव देव-दूष्य वस्त्र से निकलने वाली सुवास से आकर्षित होकर भ्रमर, मधु-मक्खी आदि अनेक प्राणी उनके शरीर पर बैठने लगे और सुवास का आनन्द लेने के साथ-साथ भगवान के शरीर पर डक भी मारने लगे। कुछ प्राणियो ने तो भगवान के शरीर को ही आवास-स्थान वना लिया। इतना कष्ट होने पर भी भगवान उन्हें हटाते नही थे। वे शारीरिक चिन्तन से ऊपर उठकर केवल आत्मचिन्तन मे सलग्न रहते थे।

भगवान महावीर की साधना प्रत्येकबुद्ध साधक की विशिष्ट साधना है। सामान्य साधक अपने शरीर पर बैठने वाले मच्छर आदि जन्तुओ को यतना पूर्वक हटा भी देता है। वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर का बचाव करते हुए दूसरे के शरीर का नाश न हो। इसलिए साधक प्रमार्जनी के द्वारा धीरे-से उस प्राणी को बिना आघात पहुचाए अपने शरीर से दूर कर देता है। परन्तु, विशिष्ट साधक उन्हें हटाने का प्रयत्न नही करते। वे अपने मन मे उनको दूर करने की कल्पना तक नहीं

करते, क्योकि वे शरीर पर से अपना ध्यान हटा चुके है। उनका चिन्तन केवल आत्मा की ओर लगा हुआ है। इसलिए उन्हे यह अनुभूति ही नही होती कि उनके शरीर पर क्या-कुछ हो रहा है। इस तरह भगवान महावीर ने साढ़े चार महीने तक जन्तुओं के परीषहो को समभावपूर्वक सहन किया।

ध्यान एव आत्म-चिन्तन मे सलग्न प्रत्येक साधक के लिए यह बताया गया है कि उस समय वह शरीर पर से ध्यान हटाकर आत्मभाव मे स्थित रहे। ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहते है। कायोत्सर्ग का अर्थ है—काय (शरीर) का त्याग कर देना। यहां शरीर त्याग का अर्थ—मर जाना नही, किन्तु शरीर से अपना ध्यान हटा लेना होता है। उस समय कोई भी जीव-जन्तु उसके शरीर पर डक भी मारे, तब भी वह साधक अपनी साधना से विचलित न होते हुए और उस प्राणी को न हटाते हुए समभाव पूर्वक अपनी साधना एव चिन्तन वृत्ति मे सलग्न रहे। इस प्रकार की आत्मसाधना से कर्मो का क्षय होता है। भगवान महावीर ने यह साधना केवल ध्यान के समय ही नही, अपितु सदा-सर्वदा चालू रखी।

वह देवदूष्य वस्त्र भगवान के पास कब तक रहा, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— संवच्छरं साहियं मासं, जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे॥4॥

छाया— सम्वत्सरं साधिकं मासं यन्न त्यक्तवान् वस्त्रं भगवान।
अचेलकः ततः त्यागी, तत् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः॥

पदार्थ—भगवं—भगवान ने। **संवच्छर**—एक वर्ष। **साहियं मासं**—एक मास अधिक अर्थात् 13 महीने तक। **ज**—जिस। **वत्थगं**—वस्त्र को। **न रिक्कासि**—नही छोडा। **तओ**—तत्पश्चात्। **चाइ**—वस्त्र के त्यागी हुए। **तं**—उसे। **वोसिज्ज**—छोड़ कर। **अणगारे**—अनगार-भगवान। **अचेलए**—अचेलक हुए।

मूलार्थ—भगवान 13 महीने तक वस्त्र को धारण किए हुए रहे, तत्पश्चात् वस्त्र को छोड़कर वे अचेलक हो गए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र भगवान के पास 13 महीने तक रहा। उसके पश्चात् भगवान ने उसका त्याग कर दिया और वे सदा के लिए अचेलक हो गए। सभी तीर्थकरो की यही मर्यादा है कि वे देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी वस्त्र को स्वीकार नही करते। उसका त्याग करने के बाद वे अचेलक ही रहते हैं। भगवान महावीर ने भी उसी परम्परा का अनुसरण किया।

इस गाथा मे 'चाइ' और 'वोसिज्ज' दो पद दिए हैं। पहले पद का अर्थ है त्याग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि त्याग करने पर ही त्यागी होता है और साधक अपनी साधना का विकास करने के लिए या विशिष्ट साधना के लिए सदा कुछ-न-कुछ त्याग करता ही है। इसका यह अर्थ नही है कि वह पदार्थ उसकी साधना को दूषित करने वाला है, इसलिए वह उसका त्याग करता है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि विशिष्ट साधना के लिए साधक उसका त्याग करता है। जैसे तपश्चर्या की साधना करने वाला साधक आहार-पानी का त्याग कर देता है। इससे यह समझना गलत एव भ्रान्त होगा कि आहार सयम का बाधक है। अस्तु, वह संयम पालन के लिए आहार का त्याग नही करना, अपितु, तप-साधना के लिए आहार का परित्याग करता है। इसी तरह नि:स्पृह भाव से वस्त्र रखते हुए भी शुद्ध सयम का पालन हो सकता है। फिर भी कुछ विशिष्ट साधक विशिष्ट साधना या शीत-ताप एव दशमशक आदि परीषहो को सहन करने रूप तप की विशिष्ट साधना के लिए वस्त्र का त्याग करते हे, जैसा कि भगवान महावीर ने किया था।

भगवान ने वस्त्र का कैसे परित्याग किया, इसका विस्तृत विवेचन कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका मे किया गया हे। यहा वृत्तिकार ने इतना ही बताया है कि एक बार भगवान सुवर्ण बालुका नदी के किनारे चल रहे थे। उस समय उसके प्रवाह मे बहकर आए हुए काटो मे फसकर वह वस्त्र उनके कन्धे पर से गिर गया भगवान ने उसे उठाने का प्रयत्न नही किया। वे उसे वहीं छोडकर आगे बढ गए और एक व्यक्ति ने उस वस्त्र को उठा लिया[1]।

---

1 तच्च सुवर्णवालुकानदी पूराहतकण्टकावलग्न धिग्जातिना गृहीतमिति।

—आचाराङ्ग वृत्ति

अब भगवान के विहार का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ।
अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु॥5॥

छाया—अथ पौरुषीं तिर्यग्भित्तिं, चक्षुरासाद्य अन्तःध्यायति।
अथ चक्षुर्भीताः संहिता, यो हत्वा हत्वा बहवः चक्रदुः॥

पदार्थ—अदु—आनन्तर्य अर्थ मे है। **पोरिसिं**—पुरुष परिमाण। **तिरियं भित्तिं**—ऊर्ध्व शकटवत् अर्थात् पीछे से सक्षेप और आगे से विस्तार वाली धुरी की तरह। **चक्खुमासज्ज**—दृष्टि को आगे रखकर अर्थात् देखकर। **अन्तसो**—वे अपने मन को। **झायइ**—ईर्या-समिति मे लगाते हुए चलते है। **अह**—अथ। **चक्खुभीया**—उस समय उनके दर्शन से डरे हुए। **ते**—वे। **संहिया**—बहुत-से बालक मिलकर। **हंता हता**—धूल से भरी हुई मुष्टि को मारते हुए। **बहवे**—बहुत-से वालक। **कंदिंसु**—कोलाहल करते है।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, पुरुष प्रमाण आगे के मार्ग को देखते हुए, अर्थात् रथ की धुरी प्रमाण भूमि को देख कर ईर्यासमिति मे ध्यान देकर चलते है। उनको चलते हुए देख कर उनके दर्शन से डरे हुए बहुत-से बालक इकट्ठे होकर भगवान पर धूल फेंकते है और वे अन्य बालको को बुलाकर कहते है कि देखो देखो! मुडित कौन है? वे इस प्रकार कोलाहल करते है।

हिन्दी-विवेचन

साधना का जीवन निवृत्ति का जीवन है, परन्तु शरीरयुक्त प्राणी सर्वथा निवृत्त नही हो सकता। उसे आवश्यक कार्यो के लिए कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति करनी होती है। इसलिए साधना के क्षेत्र मे भी निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति का उल्लेख किया गया है। अत निवृत्ति की तरह साधना मे सहायक प्रवृत्ति भी धर्म है। फिर भी दोनो मे अतर इतना ही है कि निवृत्ति उत्सर्ग है और प्रवृत्ति अपवाद है। या यो कहिए कि निवृत्ति के लिए सदा-सर्वदा आज्ञा है, साधक प्रतिसमय निवृत्ति कर सकता है, परन्तु प्रवृत्ति के लिए यह बन्धन है कि आवश्यक या अनिवार्य कार्य होने पर ही उसका उपयोग किया जाए। जैसे मौन रखने के लिए सदा आज्ञा है, उसके लिए कोई बन्धन नहीं है।

परन्तु, बोलने के लिए ध्रुव आज्ञा नहीं है। उसके लिए यह विधान है कि बोलने की आवश्यकता होने पर ही साधु निर्दोष एवं मर्यादित भाषा का प्रयोग करे।

इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के लिए समिति और गुप्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। समिति प्रवृत्ति की प्रतीक है और गुप्ति निवृत्ति परक जीवन की ससूचक है। प्रत्येक साधक की साधना समिति एवं गुप्ति से युक्त होती है। भगवान महावीर भी समिति-गुप्ति से युक्त थे। वे जब भी चलते थे, तब ईर्यासमिति के साथ चलते थे। वे अपनी दृष्टि को, अपने योगों को सब ओर से हटाकर मार्ग पर सगृहीत कर लेते थे। इससे रास्ते मे आने वाले किसी भी जीव की विराधना नही होती थी। वे रास्ते में आने वाले प्रत्येक प्राणी को बचाकर अपना मार्ग तय कर लेते थे। यदि दृष्टि मे एकाग्रता न हो तो रास्ते में आने वाले छोटे-मोटे प्राणियो की हिसा से बच सकना कठिन है। इसलिए यह नियम बना दिया गया कि साधक को अपनी दृष्टि एव अपने योगों को एकाग्र करके विवेक पूर्वक चलना चाहिए। भगवान महावीर ने इसका स्वय आचरण करके बताया कि साधक को किस प्रकार चलना चाहिए। भगवान महावीर केवल उपदेष्टा नहीं थे। इसलिए उन्होंने उपदेश देने से पहले स्वय आचरण करके साधना के मार्ग को बताया।

भगवान महावीर को पथ से गुजरते हुए देखकर बहुत-से बालक डरकर कोलाहल मचाते और अन्य बालको को बुलाकर भगवान पर धूल फेकते तथा हो-हल्ला मचाते। इससे भगवान का कुछ नहीं बिगडता। वे उनकी ओर दृष्टि उठाकर भी नहीं देखते। वे समभावपूर्वक अपने पथ पर चलते रहते। इस तरह सब परीषहो को सहते हुए भगवान ईर्या समिति पूर्वक विचरते थे।

पहले महाव्रत—अहिसा का वर्णन करके अब सूत्रकार चौथे महाव्रत के विषय मे कहते है—

मूलम्— सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय।
सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ॥6॥

छाया— शयनेषु व्यतिमिश्रेषु, स्त्रियः तत्र सः परिज्ञाय।
सागारिकं न सेवेत, स स्वयं प्रवेश्य ध्यायति॥

पदार्थ—**वितिमिस्सेहिं**—गृहस्थ और अन्य दर्शनियो से मिश्रित। **सयणेहिं**—जो बस्तिया है। **तत्थ**—वहा पर। **इत्थिओ**—स्त्रियो से प्रार्थित किए गए। **से**—वे **श्रमण** भगवान महावीर। **परिन्नाय**—मैथुन क्रीड़ा के परिणाम को जानकर। **सागारियं**—मैथुन कीडा का। **न सेवेइ**—सेवन नही करते थे। **य**—पुन'। **से**—वे। **सयं**—स्वय—अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग में। **पवेसिया**—प्रविष्ट होकर। **झाइ**—धर्म वा शुक्ल ध्यान मे निमग्न रहते थे।

मूलार्थ—यदि गृहस्थो एव जैनेतर सन्तो से मिश्रित बस्तियो में ठहरे हुए भगवान को वहा स्थित देखकर स्त्रिया विषय-भोग के लिए प्रार्थना करती तो वे मैथुन के परिणाम को जानकर उसका सेवन नही करते थे। वे स्वय अपनी आत्मा से वैराग्य मार्ग मे प्रवेश करके सदा धर्म एव शुक्ल ध्यान में ही सलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि भगवान महावीर सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे। वे प्राय' गाव के बाहर या जगल में ही ठहरते थे। फिर भी इधर-उधर से गुजरते समय उनके रूप-सौदर्य को देखकर कुछ कामातुर स्त्रिया उनके पास पहुचकर भोग भोगने की इच्छा प्रकट करती थी। वे अनेक तरह के हाव-भाव प्रदर्शित करके उन्हे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती थी, परन्तु भगवान उस ओर ध्यान ही नही देते थे। क्योंकि वे विषय-वासना के विषाक्त परिणामो से परिचित थे। वे जानते थे कि ये भोग ऊपर से मधुर प्रतीत होते है, परन्तु इनका परिणाम बहुत भयावना होता है। जैसे किपाक फल देखने मे सुन्दर लगता है, उसकी सुवास भी बडी सुहावनी होती है, उसका स्वाद भी मधुर होता है और उसका उपयोग करने वाले व्यक्ति को भी वह बडा प्रिय लगता है, परन्तु, खाने के बाद जब उसका असर होता है, तो मनुष्य निर्जीव हो जाता है। इस तरह रूप आदि मे सुन्दर प्रतीत होने वाला वह फल परिणाम की दृष्टि से भयकर है, उसी प्रकार काम-भोग बाहर से सुखद प्रतीत होने पर भी परिणाम की दृष्टि से दु:खद ही है। वे अनेक रोगो के जन्मदाता है, शारीरिक शक्ति का ह्रास करने वाले है और आत्मा को ससार में परिभ्रमण कराने वाले है। इसलिए भगवान ने न तो उनकी ओर आख उठाकर देखा और न उनकी

बातों पर ही ध्यान दिया। वे सदा-सर्वदा समभावपूर्वक अपने आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाइ।
पुट्ठोवि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू॥7॥

छाया– ये केचन इमे अगारस्था मिश्रीभावप्रहाय स ध्यायति।
पृष्टोऽपि नभ्यभाषत, गच्छति नातिवर्तते ऋजु.॥

पदार्थ–जे–यदि। **के**–कभी भगवान। **अगारत्था**–गृहस्थो से युक्त मकान मे ठहरते थे। तब से वे। **इमे**–इन। **मीसी भावं**–मिसीभाव को। **पहाय**–छोडकर। **झाइ**–धर्म ध्यान ध्याते थे अत·। **पुट्ठोवि**–वे पूछने या न पूछने पर भी। **नाभिभासिसु**–नही बोलते थे। वे सदा मोक्ष मार्ग की साधना के लिए ही। **गच्छइ**–गमन करते थे। **नाइवत्तइ**–वे किसी के कहने पर भी मोक्ष मार्ग का त्याग नही करते थे। **अजू**–इसलिए वे **ऋजु**–सरल थे।

मूलार्थ–गृहस्थो से मिश्रित स्थान को प्राप्त होने पर भी भगवान मिश्रभाव को छोडकर धर्म-ध्यान मे ही रहते थे। गृहस्थों के पूछने या न पूछने पर भी वे नही बोलते थे। अपने कार्य की सिद्धि के लिए गमन करते थे और किसी के कहने पर भी मोक्षमार्ग या आत्मचिन्तन का त्याग नहीं करते थे अथवा ऋजु परिणामी भगवान सयममार्ग मे विचरते रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर प्राय जगल मे या गाव के बाहर शून्य स्थानो मे ठहरते थे। कभी वे परिस्थितिवश गृहस्थो से युक्त स्थान मे अथवा शहर या गाव के बीच भी ठहर जाते थे, परन्तु ऐसे स्थानों में भी वे उनके सपर्क से दूर रहते थे। वे अपने आत्म-चिन्तन मे इतने सलग्न थे कि उनका मन गृहस्थो की ओर जाता ही नही था। यदि कोई व्यक्ति उन्हे बुलाने का प्रयत्न करता, उनसे कुछ पूछना चाहता तो भी वे नही बोलते थे। न उनकी बातो को सुनते थे और न उनका कोई उत्तर ही देते थे। इसका यह तात्पर्य नही कि गृहस्थो के शब्द उनके कर्ण-कुहरो मे प्रविष्ट ही नही होते

थे। शब्द तो उनके कानो मे पडते थे, परन्तु उन्हें ग्रहण करने वाला मन या चित्तवृत्ति आत्मचिन्तन मे लगी हुई थी। इसलिए उन्हे उनकी अनुभूति ही नही होती थी। क्योकि मन जब तक किसी विषय को ग्रहण नही करता, तब तक केवल इन्द्रिया उसे पकड नही सकती।

भरत चक्रवर्ती के समय की बात है कि उसने सुनार के मन मे स्थित सदेह—"भरत चकवर्ती मेरे से अल्प परिग्रही कैसे है?" को दूर करने के लिए उसे एक तेल का कटोरा भरकर दिया और सुसज्जित बाजार का चक्कर लगाकर आने का आदेश दिया। साथ मे यह भी सूचित कर दिया गया कि इस कटोरे से एक भी बूद नीचे नहीं गिरनी चाहिए। यदि तेल की एक बूद भी गिर गयी तो यह साथ मे जाने वाले सिपाही ही तुम्हारे मस्तक को धड से अलग कर देगे। वह पूरे बाजार मे घूम आया। बाजार खूब सजाया हुआ था। स्थान-स्थान पर नृत्य-गान हो रहे थे, परन्तु, वह जैसा गया था, वैसा ही वापस लौट आया। जब भरत ने पूछा कि तुमने बाजार मे क्या देखा? तुम्हे कौन-सा नृत्य या गायन पसन्द आया? तो उसने कहा महाराज, मैंने बाजार मे कुछ नही देखा और कुछ नही सुना। यह नितान्त सत्य है कि मेरी आख खुली थी और कानो के द्वार भी खुले थे। नृत्य एव गायन की ध्वनि कानो मे पड़ती थी और दृष्टि पदार्थो पर गिरती थी, परन्तु मेरा मन, मेरी चित्तवृत्ति तेल से भरे कटोरे मे ही केन्द्रित थी। इसलिए उस ध्वनि को मेरा मन पकड नही पाया। जैसे समुद्र की लहरे किनारे से टकराकर पुन· समुद्र मे विलीन हो जाती है, उसी तरह वह ध्वनि कर्णकुहरो से टकराकर पुन लोक मे फैल जाती थी।

भरत ने उसे समझाया कि तेरी और मेरी चित्तवृत्ति में यही अतर है। तुम्हारा मन भय के कारण अपने आप मे केन्द्रित था, परन्तु मेरा मन बिना किसी भय एव आकाक्षा के अपनी आत्मा मे केन्द्रित है। मै ससार मे रहते हुए भी ससार से अलग अपनी आत्मा मे स्थित होने के लिए प्रयत्नशील हू। सदा आत्मा को सामने रख कर ही कार्य करता हू। इसलिए भगवान ऋषभदेव ने मुझे तुमसे अल्प परिग्रही बताया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब इन्द्रियो के साथ मन, चित्तवृत्ति या परिणाम की धारा जुडी हुई होती है, तभी हम किसी विषय को ग्रहण कर सकते है, परन्तु जब मन

आत्मा के साथ सलग्न होता है, तो हजारो विषयो के सामने आने पर भी हमें उनकी अनुभूति नही होती। अस्तु, मन एवं परिणामो की धारा को विषयो के चिन्तन से रोकने के लिए आत्म-चिन्तन महत्त्वपूर्ण साधन है। भगवान महावीर का मन अपनी आत्मा मे इतना सलग्न था कि गृहस्थो की बातो का उनपर कोई असर नही होता था। वे उनके किसी भी प्रश्न का उत्तर-प्रत्युत्तर नही देते थे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका चिन्तन जगल एव शहर मे समान रूप से चलता था। किसी भी तरह के बाह्य वातावरण का उनके मन पर असर नही होता था। इस तरह वे गृहस्थो के मध्य मे रहते हुए भी मौन रहते थे और सदा आत्मचिन्तन में सलग्न रहते थे।

भगवान की सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— णो सुकरमेयमेगेसिं, नाभिभासे य अभिवायमाणे।
हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अपुण्णेहिं॥8॥

छाया—नोसुकरमे तदेकेषां, नाभिभाषते च अभिवादयतः।
हतपूर्वः तत्र दण्डै· लूषितपूर्व अपुण्यैः॥

पदार्थ—तत्थ—उस अनार्य देश मे। **अपुण्णेहिं**—पुण्यहीन अनार्य मनुष्य। **दण्डेहि**—दडो से। **हयपुव्वे**—पहले घायल करते। **लूसिय पुव्वे**—बालो को खीच कर या अन्य तरह उन्हे कष्ट देते, फिर भी भगवान महावीर। **अभिवायमाणे नाभिभासे**—अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उससे बात नहीं करते। **य**—और जो व्यक्ति अभिवादन नही करता, उस पर क्रोध नही करते, इसलिए। **एय**—यह भगवान की साधना। **एगेसिं**—कई एक व्यक्तियों के लिए। **णो सुकरं**—सुगम नही थी।

मूलार्थ—जब भगवान महावीर अनार्य देश मे विहार कर रहे थे, उस समय पुण्यहीन अनार्य व्यक्तियो ने भगवान को डडो से मारा-पीटा एव उन्हें विविध कष्ट दिए, फिर भी वे अपनी साधना में सलग्न रहे। वे अभिवादन करने वाले व्यक्ति पर प्रसन्न होकर न तो उससे बात करते थे और न तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर क्रोध ही करते थे। वे मान एव अपमान को समभाव पूर्वक सहन करते थे। अत' प्रस्तुत अध्ययन मे उल्लिखित भगवान महावीर की साधना जनसाधारण के लिए

सुगम नहीं थी, अर्थात् सामान्य साधक इतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर सकता था।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भगवान महावीर की साधना का उल्लेख किया गया है। इसमें बताया है कि भगवान सदा सभी प्राणियो पर समभाव रखते थे। उनका किसी भी प्राणी के प्रति रागद्वेष नही था। वे न तो किसी के वन्दन-अभिवादन आदि से प्रसन्न होते थे और न किसी के द्वारा मान-सम्मान या वन्दन न मिलने पर उस पर क्रुद्ध ही होते थे।

जब भगवान अनार्य देश मे गए तो वहा के लोग भगवान की साधना से परिचित नही थे। वे धर्म के मर्म को नही जानते थे। अतः वे भगवान का मखौल उडाते, उन्हे गालियाँ देते, उनके शरीर पर डंडों से प्रहार करते और उनके ऊपर शिकारी कुत्तो को छोड देते थे। इस तरह वे अबोध प्राणी भगवान को घोर कष्ट देते। फिर भी भगवान महावीर उन पर कभी क्रोध नही करते। वे समभावपूर्वक समस्त परीषहों को सहते हुए विचरण करते थे।

यह स्पष्ट है कि कृतकर्म कभी भी निष्फल नहीं जाते, चाहे तीर्थकर हो, साधु हो, या और कोई भी व्यक्ति क्यो न हो, अपने किए हुए कर्मो का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यह बात अवश्य है कि कुछ महापुरुष उस फल को समभावपूर्वक सहन कर लेते हैं और कुछ व्यक्ति हाय-हाय करके उसका वेदन करते है। जो व्यक्ति समभावपूर्वक पूर्व कर्मो का फल भोग लेता है, वह समभाव की साधना से नए कर्मो के आगमन को रोक लेता है और पुरातन कर्म को क्षय करके पथ पर बढ जाता है और जो आर्त-रौद्र ध्यान करता हुआ कृत कर्म के फल का सवेदन करता है, वह नए कर्मो का बन्ध करके ससार में परिभ्रमण करता रहता है। भगवान महावीर इस बात को भली-भाति जानते थे। अत वे परीषहों को अपने कृतकर्म का फल समझकर समभाव पूर्वक भोगते रहे।

ऐसा कहा जाता है कि भगवान महावीर के कर्म इस कालचक्र मे हुए सब तीर्थकरो से अधिक थे, 23 तीर्थकरो के कर्मो का समूह और भगवान महावीर का कर्मसमूह प्राय बराबर था। अत उसे क्षय करने के लिए भगवान महावीर ने कठोर तप एवं अनार्य देश मे विहार किया। अनार्य देश के लोग धर्म एवं साधु-जीवन से

अपरिचित होने के कारण उन्हें अधिक परीषह उत्पन्न होते थे और उनको समभाव पूर्वक सहन करने से कर्मो की अधिक निर्जरा होती थी। अस्तु, आबद्ध कर्मो को क्षय करने के लिए भगवान अनार्य देश मे पधारे और वहा उन्होने समभाव से अनेक कष्टो को सहन किया, परन्तु किसी भी व्यक्ति पर क्रोध एव द्वेष नहीं किया। भगवान महावीर की यह उत्कृष्ट साधना सब के लिए सुगम नहीं है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— फरुसाइं दुतितिक्खाइं, अइअच्च मुणी परक्कममाणे।
अघायनट्टगीयाइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥9॥

छाया— परुषाणि दुस्तितिक्षाणि, अतिगत्य मुनिः पराक्रममाण.।
आख्यात नृत्यगीतानि, दण्ड युद्धानि मुष्टि युद्धानि।

पदार्थ—**अघाय**—अनार्य पुरुषों द्वारा कहे हुए। **दुतितिक्खाइं**—अत्यन्त तीक्षण एव असहनीय। **फरुसाइं**—कठोर वचनो को। **अइअच्च**—सुनकर भी उन पर ध्यान नही देते हुए। **मुणी**—भगवान महावीर। **परक्कममाणे**—उन्हे सहन करने का पुरुपार्थ करते थे, और वे। **नट्टगीयाइं**—नृत्य एव गीतो को देखते एव सुनते नही थे। **दड जुद्धाइ**—दड युद्ध एवं। **मुट्ठि जुद्धाइं**—मुष्टि-युद्ध को देखकर विस्मित नही होते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर अनार्य पुरुषो के द्वारा कथित कठोर एव असह्य शब्द-प्रहारो से प्रतिहत न होकर, उन शब्दो को समभावपूर्वक सहन करने का प्रयत्न करते थे और प्रेमपूर्वक गाए गए गीतो एव नृत्य की ओर ध्यान ही नही देते थे और न दड-युद्ध एव मुष्टि-युद्ध को देखकर विस्मित ही होते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधक के लिए आत्मचिन्तन के अतिरिक्त सब बाह्य कार्य गौण होते हैं। वह अपनी निन्दा एव स्तुति से ऊपर उठकर आत्मसाधना मे सलग्न रहता है। भगवान महावीर भी सदा अपनी साधना मे सलग्न रहते थे। कोई उन्हे कठोर शब्द कहता, कोई गालिया देता, तब भी वे उस पर क्रोध नही करते थे। वे उसे समभावपूर्वक सह लेते थे। इसी तरह कोई उनकी प्रशसा करता या कही नृत्य-गान होता या मुष्टि एव

द्वन्द्व-युद्ध होता तो भी भगवान उस ओर ध्यान नही देते थे। क्योकि, इससे राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होती है और राग-द्वेष से कर्मबन्धन होता है। अतः भगवान समस्त प्रिय-अप्रिय विषयो की ओर ध्यान नहीं देते हुए तथा अनुकूल व प्रतिकूल सभी परीषहों को समभावपूर्वक सहते हुए आत्म-साधना में सलग्न रहते थे।

उनकी सहिष्णुता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– गढिए मिहुकहासु समयंमि, नायसुए विसोगे अदक्खु।
एयाइ से उरालाइं गच्छइ, नायपुत्ते असरणयाए॥10॥

छाया– ग्रथित· मिथः कथासु समये ज्ञातपुत्रः विशोकः अद्राक्षीत्।
एतानि स उरालानि, गच्छति, ज्ञातपुत्रः अशरणाय॥

पदार्थ–समयंमि–उस समय। **नायसुए**–ज्ञातपुत्र–भगवान महावीर। **गढिए मिहुकहासु**–लोगों को विषय-विकार से युक्त कथाए करते हुए देखकर भी भगवान। **विसोगे**–हर्ष एव शोक से रहित होकर। **अदक्खु**–उन्हे देखते थे, और। **से**–वह। **नायपुत्ते**–भगवान महावीर। **एयाइ उरालाइं**–इन अनुकूल एवं प्रतिकूल उत्कृष्ट परीषहो को सहन करते हुए। **असरणयाए**–दु·खों का स्मरण न करते हुए या दु खो से घबरा कर दूसरे की शरण न लेते हुए। **गच्छइ**–सयम मार्ग पर विचरण करते थे।

मूलार्थ–जहा कही लोग शृङ्गार रस युक्त कथाए करते थे या स्त्रिया परस्पर कामोत्पादक कथाओं मे प्रवृत्त होती, तो उन्हे देखकर भगवान महावीर के मन मे हर्ष एव शोक उत्पन्न नही होता था। अनुकूल एव प्रतिकूल कैसा भी उत्कृष्ट परीषह उत्पन्न हो, किन्तु फिर भी वे दीनभाव से या दु खित होकर किसी की शरण स्वीकार नही करते थे, अपितु समभावपूर्वक सयम-साधना मे संलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर के सामने कई तरह के प्रसग आते थे। वे जब कभी भी शहर या गाव के मध्य मे ठहरते तो वहा स्त्री-पुरुषो की पारस्परिक कामोत्तेजक बातें भी होती थी, परन्तु भगवान उनकी बातो की ओर ध्यान नही देते थे। वे विषय-विकार बढाने वाली बातो को सुनकर न तो हर्षित होते थे और न विषयों के अभाव का

अनुभव करके दुःखित ही होते थे। वे हर्ष और शोक से सर्वथा रहित होकर आत्म-साधना मे सलग्न रहते थे। क्योंकि वे भली-भांति जानते थे कि विषय-वासना मोह का कारण है और मोह समस्त कर्मों में प्रबल है, वह सब कर्मों का राजा है। उसका नाश करने पर शेष कर्मों का नाश सुगमता से किया जा सकता है। यही कारण है कि सर्वज्ञता को प्राप्त करने वाले महापुरुष सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय करते है, उसके बाद शेष तीन घातिक कर्मों का नाश करते है। अतः भगवान महावीर विषय-विकारो को मोह बढाने का कारण समझकर उनमे रस नही लेते थे। वे उस समय भी अपनी आत्म-साधना में ही संलग्न रहते थे।

भगवान की नि·स्पृहता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– अवि साहिये दुवे वासे सीओदं अभोच्चा निक्खंते।
एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नाय दंसणे संतेण॥11॥

छाया– अपि साधिके द्वे वर्षे, शीतोदकमभुक्त्वा निष्क्रान्तः।
एकत्वगतः पिहितार्चः स· अभिज्ञातदर्शन· शान्तः॥

पदार्थ–**अवि**–अपि-सभावनार्थक है। **साहिये दुवे वासे**–दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक। **सीओद**–शीतोदक–सचित्त पानी। **अभोच्चा**–पीए बिना। **निक्खंते**–दीक्षित हुए। **एगत्तगए**–जिन्होने एकत्व भावना से अपने अन्त·करण को भावित किया। **पिहियच्चे**–क्रोध की ज्वाला को शान्त कर लिया। **से**–वह। **अहिन्नायदंसणे**–ज्ञान दर्शन से युक्त भगवान महावीर। **सन्ते**–इन्द्रिय और नोइन्द्रिय मन को दमन करने के कारण शान्तचित्तवाले भगवान विचरते थे।

मूलार्थ–दो वर्प से कुछ अधिक समय तक गृहस्थ जीवन मे रहते हुए सचित्त जल को पिए बिना दीक्षित हुए थे और जिन्होने एकत्व भावना में सलग्न रहते हुए क्रोध की ज्वाला को शान्त किया था, ऐसे ज्ञान दर्शन से युक्त, शुद्ध अन्त·करण वाले और शान्तचित्तवाले भगवान महावीर विचरते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का जीवन सदा से त्यागनिष्ठ जीवन रहा है। जब वे गर्भ मे आए, तब उन्होने सोचा कि हाथ-पैर आदि के संचरण से माता को पीडा होगी।

इसलिए अगोपांगो को सकोच कर वे स्थिर हो गए। इससे माता को गर्भ के मरने या गलने या गिरने का संदेह हो गया और सुख के स्थान मे दु ख की वेदना बढ़ गई। इस बात को जानकर भगवान ने पुन· अपने शरीर का संचरण आरम्भ कर दिया। सारे घर में खुशी एव आनन्द का वातावरण छा गया। उस समय भगवान ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक माता-पिता जीवित रहेगे, तब तक मै दीक्षा नही लूंगा। इस कारण भगवान ने 28 वर्ष तक दीक्षा की बात नही की। 28 वर्ष की अवस्था मे माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने पर आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता से दीक्षा की आज्ञा मागी तो उन्होने उन्हे कुछ समय तक और ठहरने का आग्रह किया। भाई की बात को मानकर आप दो वर्ष और ठहर गए। परन्तु उन्होने ये दो वर्ष अपनी साधना मे ही बिताए। इन दिनों मे सचित्त (सजीव अर्थात् कुए, तालाब, नदी, वर्षा आदि के) पानी को नहीं पिया।

वे सदा एकत्व भावना मे सलग्न रहते थे। इससे आत्मा के साथ सबद्ध राग-द्वेष आदि विकारों की द्वैतता के क्षय करने मे प्रबल सहायता मिलती है और साधना मे तेजस्विता आती है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप के चिन्तन के कारण ही वे परीषहो को सहन करने मे सक्षम बने। क्योकि, वे आत्मा के अतिरिक्त समस्त साधनों को क्षणिक, नाशवान एव ससार मे परिभ्रमण कराने वाले समझते थे। इस कारण भगवान सब साधनो से अलग होकर अपने एकत्व के चिन्तन मे ही सलग्न रहते थे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'पिहियच्चे' का अर्थ है—जिसने क्रोध रूप ज्वाला को शान्त कर दिया है या जिसका शरीर गुप्त है—वस्त्र के अभाव मे भी जो नग्न दिखाई नही दते है। इससे भगवान की नि स्पृहता स्पष्ट होती है। उन्होंने केवल वस्त्र आदि का ही त्याग नही किया था, अपितु क्रोध आदि कषायो से भी वे सर्वथा निवृत्त हो चुके थे। कठिन-स-कठिन परिस्थिति मे भी उनके मन मे क्रोध की, प्रतिशोध लेने की भावना नही जगती थी। वे शान्त भाव से सदा आत्मशोधन में सलग्न रहते थे।

उनके त्यागनिष्ठ जीवन का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— पुढविं च आउकायं च, तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं सव्वसो नच्चा॥12॥

छाया– पृथिवीं च अप्कायं च, तेजस्कायं च, वायुकायं च।
पनकानि बीजहरितानि, त्रसकायं च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ–पुढविं–भगवान महावीर पृथ्वी काय। **आउकायं च**–अप्काय। **तेउकायं च**–तेजस्काय। **वाउकायं च**–वायुकाय। **पणगाइं**–निगोद–शैवाल के जीव आदि। **बीय हरियाइं**–बीज और नाना प्रकार की हरी वनस्पति एव। **तसकायं च**–त्रसकाय को। **सव्वसो**–सर्व प्रकार से। **नच्चा**–जानकर इस सब कायो की यतना करते हुए विचरते थे।

मूलार्थ–भगवान महावीर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय पनक–निगोद, बीज, हरी वनस्पति एवं त्रसकाय के जीवो को सर्व प्रकार से जानकर इन सब कायो की रक्षा करते हुए विचरते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर की साधना प्राणिजगत के हित के लिए थी। आगम मे बताया गया है कि समस्त प्राणियो की रक्षारूप दया के लिए भगवान ने अपना प्रवचन दिया था[1]। वे सब प्राणियों के रक्षक थे। उन्हे समस्त प्राणियो के स्वरूप का परिज्ञान था। क्योकि जीवो की योनियो का परिबोध होने पर ही साधक उनकी रक्षा कर सकता है।

इसलिए प्रस्तुत गाथा मे समस्त जीवो के भेदो का वर्णन किया गया है। समस्त जीव 6 प्रकार के है–1–पृथ्वीकाय, 2–अप्काय, 3–तेजस्काय, 4–वायुकाय, 5–वनस्पतिकाय और 6–त्रसकाय। पहले पाच प्रकार के जीव स्थावर कहलाते हैं और इनके केवल एक स्पर्श इन्द्रिय होती है। इस अपेक्षा से जीव दो श्रेणियो में विभक्त हो जाते है–1–त्रस और 2–स्थावर। स्थावर जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के होते है। सूक्ष्म जीव समस्त लोक मे व्याप्त है और बादर जीव लोक के एक भाग मे स्थित हैं[2]। बादर पृथ्वीकाय श्लक्षण और कठिन के भेद मे दो प्रकार के है। श्लक्षण पृथ्वीकाय सात प्रकार के है–1–कृष्ण, 2–नील, 3–लाल, 4–पीत, 5–श्वेत, 6–पंडुक और 7–मटिया। कठोर पृथ्वीकाय के शर्करा आदि 36 भेद

---

1 सव्व जग जीव, रक्खण दयट्ठाए भगवया पावयण कहिय। –प्रश्नव्याकरणसूत्र

2 सुहुमा सव्व लोगंमि, लोगदेसे य बायरा। –उत्तराध्ययनसूत्र 36, 79

बताए है[1]। बादर अप्काय के शुद्ध उदक (जल) आदि 5 भेद है[2]। बादर तेजस्काय (अग्नि) के भी अगारा आदि 5 भेद हैं[3]। बादर वायुकाय के भी उत्कालिक आदि 5 भेद है[4]। बादर वनस्पतिकाय के 6 भेद है–1–अग्रबीज, 2–मूलबीज, 3–पर्वबीज, 4–बीजरुह, 5–समूर्छिम और 6–स्कन्ध बीज। वनस्पतिकाय प्रत्येक और साधारण शरीर की अपेक्षा से दो प्रकार के है। जिस वनस्पति मे एक शरीर मे एक जीव रहता हो वह प्रत्येक शरीर वनस्पति कहलाती है और जिसके एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हो वह साधारण वनस्पतिकाय कहलाती है। प्याज, लहसुन, मूली-गाजर, शकरकंद आदि जमीन मे पैदा होने वाले कद-मूल साधारण वनस्पतिकाय या अनन्तकाय कहलाते है। शेष सभी प्रकार की वनस्पति के जीव प्रत्येक शरीर वनस्पति काय कहलाते है5। त्रसकाय के 4 भेद है–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। इनके भी अवान्तर भेद अनेक है। इन सब का परिज्ञान करके भगवान समस्त प्राणियो की रक्षा करते हुए विचरते थे।

वर्तमान काल मे वैज्ञानिक यंत्रो की सहायता से स्थावर जीवों की चेतना को

---

1 दुविहा य पुढवीजीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेव दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोधव्वा सण्हा सत्तविहा तहि॥
कण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा।
पडुपणगमट्टिया, खरा छत्तीसइविहा॥ –उत्तराध्ययन सूत्र 36, 71, 73

2 बायरा जे उ पज्जता, पचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से य, हरतणु महिया हिमे॥ –उत्तराध्ययन सूत्र 36, 86

3 बायरा जे उ पज्जता णेगहा ते वियाहिया।
इगाले मुम्मुरे, अगणी, अच्चिजाला तहेव य॥
उक्का विज्जू य बोधव्वाणेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता, सुहुमा ते वियाहिया। –उत्तराध्ययन सूत्र 36, 110-111

4 बायरा जे उ पज्जता, पचहा ते पकित्तिया॥
उक्कलिया, मडलिया घणगुञ्जा सुद्धवाया य।
सवट्टगवाया य णेगहा एवमायओ॥ –उत्तराध्ययन सूत्र 36, 119-120

5 उत्तराध्ययन सूत्र 94-100

जानने का प्रयत्न करते है। जगदीश चन्द्र बोस ने यन्त्रों के द्वारा वनस्पति की सजीवता को स्पष्ट रूप से दिखाया था। परन्तु, इन सब साधनों की सहायता के बिना विज्ञान युग से 2600 वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपने दिव्यज्ञान के द्वारा इन जीवो की सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था।

भगवान की साधना के सबन्ध मे वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमंताइ से अभिन्नाय।
परिवज्जिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे॥13॥

छाया– एतानि सन्ति प्रत्युपेक्ष्य, चित्तमंतानि स अभिज्ञाय।
परिवर्ज्य विहृतवान्, इति संख्याय सः महावीरः॥

पदार्थ–एयाइ–ये पृथिवी आदि जीव। **सति**–हैं। **पडिलेहे**–इस प्रकार विचार कर तथा। **चित्तमंताइ**–उन्हे चेतना वाले। **अभिन्नाय**–जानकर। **इय**–इस प्रकार। **संखाय**–अधिगत कर। **से**–वह भगवान। **महावीरे**–महावीर। **परिवज्जिय**–इनके आरम्भ का त्याग कर के। **विहरित्था**–विचरते थे।

मूलार्थ–भगवान महावीर पृथ्वी आदि के जीवो को सचेतन जानकर और उनके स्वरूप को भली-भाति अधिगत करके उनके आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होकर विचरते थे।

हिन्दी-विवेचन

श्रमण भगवान महावीर पृथ्वी आदि पाचो को सजीव मानते थे। उन्होने अपने ज्ञान के द्वारा उनकी सजीवता का प्रत्यक्षीकरण किया था। आगम एव अनुमान के द्वारा छद्मस्थ प्राणी भी उनमे सजीवता की सत्ता का अनुभव कर सकता है, परन्तु, वह सजीवता को प्रत्यक्ष नही देख सकता। उसे प्रत्यक्ष देखने की शक्ति सर्वज्ञ पुरुषों मे ही है।

जैन दर्शन में पृथ्वी आदि को सचेतन और अचेतन दोनो तरह का माना है। इस सम्बन्ध में हम प्रथम अध्ययन मे विस्तार से वर्णन कर चुके है। इन स्थावर जीवो मे सख्यात, असंख्यात एवं अनन्त जीव पाए जाते है।

जीवो की विचित्रता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्—अदु थावरा य तसत्ताए तसा य थावरत्ताए। अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला॥14॥

छाया— अथ स्थावराश्च त्रसतया, त्रसाश्च स्थावरतया।
अथवा सर्वयोनिकाः सत्त्वाः कर्मणा कल्पिताः पृथक् बालाः॥

पदार्थ—अदु—अथवा। **थावरा**—पृथिवी आदि स्थावर। **तसत्ताए**—त्रसकाय रूप मे परिणमन होते है। **य**—समुच्चय अर्थ में है। **तसाय**—और त्रस जीव। **थावरत्ताए**—स्थावर बने उत्पन्न होते है। **अदुवा**—अथवा। **सव्वजोणियासत्ता**—प्राणी सर्व योनियो मे आवागमन करने वाले होते है। **वाला**—अज्ञानी जीव। **कम्मुणा**—अपने कर्म से। **पुढो**—पृथक् रूप मे। **कप्पिया**—ससार मे स्थित है।

मूलार्थ—स्थावर जीव त्रस मे उत्पन्न होते है और त्रस जीव स्थावरकाय मे जन्म ले सकते है। या यो कहिए, ससारी प्राणी सब योनियो मे आवागमन करने वाले है। और अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न योनियो में उत्पन्न होते है।

हिन्दी-विवेचन

दुनिया मे प्रत्येक प्राणी अपने कृतकर्म के अनुसार योनि को प्राप्त करता है। स्थावर काय मे स्थित जीव अनन्त पुण्य का सचय करके त्रस काय मे जन्म ले लेते है और पाप कर्म के द्वारा त्रस जीव स्थावर योनि मे उत्पन्न हो जाते है। इसी तरह मनुष्य तिर्यञ्च, नरक, देव, मनुष्य आदि किसी भी गति मे जन्म धारण कर सकता है। वह अपने कृत कर्म के अनुसार चार गति मे से किसी एक गति मे उत्पन्न होता है। कुछ लोग यह मानते है कि व्यक्ति जिस रूप मे मरता है, उसी रूप मे जन्म लेता है। जैसे स्त्री सदा स्त्री के रूप मे ही रहती है और पुरुष पुरुष के लिग मे ही जन्म लेता है। परन्तु, यह मान्यता कर्म सिद्धान्त एव अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध नही होती। यदि लैंगिक रूप कभी बदलता ही नही या उसका अस्तित्व कभी समाप्त ही नही होता, तो फिर ये समस्त कर्म निष्फल हो जाएगे और यह हम प्रत्यक्ष मे देखते है कि कर्म कभी निष्फल नहीं जाते। अत· हम कहते है कि संसार-परिभ्रमण में कभी भी लैंगिक एकरूपता स्थित नहीं रह सकती। पुरुष स्त्री एव नपुंसक के लिंग में जन्म धारण कर सकता है। इसी तरह स्त्री एव नपुसक पुरुष के लिग मे जन्म ले सकते हैं

और वे लैगिक आधार को समाप्त करके अलिंग सिद्ध स्वरूप को भी प्राप्त कर सकते है।

इस तरह लैंगिक आकार एव योनि आदि की प्राप्ति कर्म के अनुसार होती है। जब व्यक्ति अपने ज्ञान एवं तप के द्वारा समस्त कर्मो का नाश कर देता है, तब वह जन्म-मरण एवं लैगिक बन्धनो से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब तक आत्मा मे अज्ञान एव राग-द्वेष है, तब तक वह कर्मो का बन्ध करती है और संसार-सागर में परिभ्रमण करती रहती है। अत योनियो मे परिभ्रमण करने का मूल कारण कर्म है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– भगवं च एवमन्नेसिं, सोवहिए, हु लुप्पइ बाले।
कम्मं च सव्वसो नच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं॥15॥

छाया– भगवान् च एवमन्यतो, सोपधिकं हु लुप्यते बालः।
कर्म च सर्वशः ज्ञात्वा तत् प्रत्याख्यातवान् पापकं भगवान्॥

पदार्थ–च–पुन । **भगवं**–भगवान ने। **एव मन्नेसि**–इस प्रकार जाना। हु–जिससे। **सोवहिए**–उपधि सहित ममत्व युक्त। **बाले**–अज्ञानी जीव। **लुप्पइ**–कर्म से पीडित होता है। **च**–पुन । **सव्वसो**–सब प्रकार से। **कम्म**–कर्म के स्वरूप को। **नच्चा**–जानकर। **भगवं**–भगवान ने। **तं**–उस। **पावगं**–पापकर्म को। **पडियाइक्खे**–त्याग दिया।

मूलार्थ–भगवान ने यह जान लिया कि अज्ञानी आत्मा कर्म रूप उपधि से आबद्ध हो जाता है। अत कर्म के स्वरूप को जानकर भगवान ने पापकर्म का परित्याग कर दिया।

हिन्दी-विवेचन

कर्म के कारण ही ससारी जीव सुख-दु ख का अनुभव करते है। वे विभिन्न योनियों में विभिन्न तरह की वेदनाओ का सवेदन करते हैं। अज्ञानी जीव अपने स्वरूप को भूल कर पापकर्म मे आसक्त रहते हैं, इससे वे ससार मे परिभ्रमण करते है। इसलिए भगवान ने कर्म के स्वरूप को समझकर उसका परित्याग कर दिया। इस तरह भगवान ज्ञान, दर्शन एव चारित्र से युक्त थे, क्योकि कर्मो के स्वरूप को जानने

का साधन ज्ञान है और दर्शन से उसका निश्चय होता है और त्याग का आधार चारित्र है। इस तरह रत्नत्रय की साधना से आत्मा निष्कर्म हो जाती है। आगम मे बताया गया है कि आत्मा ज्ञान के द्वारा पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस परिज्ञात स्वरूप पर विश्वास करता है, चारित्र से आने वाले नए कर्मो के द्वार को रोकता है और तप के द्वारा पूर्व काल मे बधे हुए कर्मो को क्षय करता है[1]। भगवान महावीर भी इन चारों तरह की साधना से युक्त थे और ज्ञान-दर्शन चारित्र एव तप से समस्त कर्मो को क्षय करके उन्होने निर्वाण पद को प्राप्त किया।

द्रव्य एव भाव के भेद से उपधि दो प्रकार की है। आत्मा के साथ पदार्थो का सबन्ध द्रव्य उपधि है और राग-द्वेष आदि विकारो का सम्बन्ध भाव उपधि है। भाव उपधि से द्रव्य उपधि प्राप्त होती है और द्रव्य उपधि भाव उपधि—राग-द्वेष को बढाने का कारण भी बनती है। इस तरह दोनो उपधिया संसार का कारण है। दोनो उपधियो का नाश कर देना ही मुक्ति है। ससारपरिभ्रमण का मूल कारण भाव उपधि है, भाव उपधि का नाश होने पर द्रव्य उपधि का नाश सुगमता से हो जाता है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष पहले भाव उपधि—राग-द्वेष का नाश करके वीतराग बनते हैं और उसके बाद द्रव्य उपधि का क्षय करके सिद्ध पद को प्राप्त करते है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी।
आयाण सोयगइ वायसोयं, जोग च सव्वसो णच्चा॥16॥

छाया— द्विविधि समेत्य मेधावी, क्रियामाख्यातमनीदृशं ज्ञानी।
आदान स्रोतः अतिपातस्रोतः योग च सर्वशः ज्ञात्वा॥

पदार्थ—**मेहावी**—बुद्धिमान सर्व भाव के ज्ञाता भगवान ने। **किरियं**—क्रिया कर्मो का नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप। **दुविह**—दो प्रकार के कर्म ईर्या प्रत्यय और साम्परायिक को। **समिच्च**—सम्यक्तया जानकर। **अणेलिसं**—अनुपम। **अक्खाय**—कहा है और। **नाणी**—ज्ञानयुक्त भगवान ने। **आयाणसोयं**—कर्मो के आने का स्रोत कहा है। **अइवाय सोय**—अतिपात हिसा स्रोत। **च**—और। **जोगं**—

1 नाणेण जाणइ भावे, दमणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ —उत्तराध्ययन 28, 35

योगरूप स्रोत को। **सव्वसो**—सर्व प्रकार से। **णच्चा**—कर्म बन्धन जानकर उनसे निवृत्त होने का उपदेश दिया है।

मूलार्थ—भावज्ञ और ज्ञानी भगवान ने ईर्यापथिक और साम्परायिक क्रिया को जिसे कि अनुपम और कर्मो का नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप कहा है तथा कर्मो के आने के स्रोत और हिंसा रूप स्रोत एव योगरूप स्रोत को कर्म बन्धन का कारण रूप जानकर इनकी शुद्धि के लिए सयमानुष्ठान का प्रतिपादन किया है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे दो प्रकार की क्रियाओ का वर्णन किया गया है—1—साम्परायिक और 2—ईर्यापथिक। कषायों के वश जो क्रिया की जाती है, वह साम्परायिक क्रिया कहलाती है। उससे सात या आठ कर्मो का बन्ध होता है और आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है। राग-द्वेष और कषाय-रहित भाव से यत्ना पूर्वक की जाने वाली क्रिया ईर्यापथिक क्रिया कहलाती है। इस क्रिया से ससार नही बढता है। यह क्रिया आत्मा को निष्क्रिय बनाने मे सहायक होती है। भगवान महावीर दोनो प्रकार की क्रियाओ के स्वरूप को भली-भाति जानते थे। वे साम्परायिक क्रिया का सर्वथा त्याग कर चुके थे और ईर्या पथिक क्रिया का उच्छेद करने मे प्रयत्नशील थे।

क्रिया के सम्बन्ध मे वर्णन करते हुए आगम मे कहा है कि अयत्ना-विवेक रहित गमनागमन आदि कार्य करते हुए प्राणी साम्परायिक क्रिया के द्वारा कर्मो का बन्ध करता है और आगम के अनुसार यत्ना-विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए ईर्याप्रत्यय कर्म का बन्ध करता है[1]। इससे स्पष्ट है कि कषाय युक्त भाव से की जाने वाली क्रिया ससार-परिभ्रमण कराने वाली है और कषायरहित अनासक्त भाव से की जाने

1 अणगारस्स ण भते! अणाउत्त गच्छमाणस्स व। चिट्ठमाणस्स वा णिसीयमाणस्स वा, अणाउत्त वत्थ परिग्गह कबल पाय पुछण गण्हमाणस्स वा, निक्खवमाणस्स वा, तस्स ण भते! कि इरिया वहिया किरिया कज्जइ, सपराइया किरिया कज्जइ? गोयमा! नो इरिया वहिया किरिया कज्जइ, सपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेण? गोयमा! जस्स ण कोह माणमाया लोभा वोच्छन्ना भवति तस्स ण इरिया वहिया किरिया कज्जइ, जस्स ण कोह मानया लोभा अवोच्छिण्णा भवति तस्स ण सपराइया किरिया कज्जइ, अहासुत्तरियमाणस्स इरिया वहिया किरिया कज्जइ, उसुत्तरियमाणस्स सपरइया किरिया कज्जइ, से ण उसुत्तमेव रियइ सेतेणट्ठेण। —भगवती सूत्र 7 1

वाली क्रिया ससार बढाने वाली नहीं, अपितु घटाने वाली है।

इसी विषय को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्– अइवत्तियं अणाउट्टिं, सयमन्नेसिं अकरणयाए।
जस्सित्थिओ परिन्नाया, सव्व कम्मावहाउ से अदक्खु॥17॥

छाया– अतियातिकाम् अनाकुट्टिं-स्वयं अन्येषां अकरणतया।
यस्य स्त्रियः परिज्ञाताः, सर्वकर्मावहाः सएवमद्राक्षीत्॥

पदार्थ–**अइवत्तियं**–भगवान ने पाप से अतिक्रान्त होने से निर्दोष। **अणाउट्टिं**–अहिसा। **सयं**–स्वय आचरण किया और। **अन्नेसिं**–दूसरो को। **अकरणयाए**–हिसा नही करने का उपदेश दिया। **जस्सित्थिओ**–जिन्हे स्त्रियो का स्वरूप एव उनके साथ भोगे जाने वाले भोगो का विपाक। **परिन्नाया**–परिज्ञात है और। **से**–उस श्रमण भगवान महावीर ने। **अदक्खु**–देखा था कि। **सव्व कम्मावहाउ**–ये भोग सर्व पाप कर्म के आधारभूत है।

मूलार्थ–भगवान ने स्वयं निर्दोष अहिसा का आचरण किया और अन्य व्यक्तियो को हिसा नही करने का उपदेश दिया। भगवान स्त्रियो के यथार्थ स्वरूप एव उनके साथ भोगे जाने वाले काम-भोगो के परिणाम से परिज्ञात थे। ये काम-भोग समस्त पाप कर्मो के कारण भूत है, ऐसा जानकर भगवान ने स्त्री-ससर्ग का परित्याग कर दिया।

हिन्दी-विवेचन

साधना का मूल अहिंसा है। हिंसक व्यक्ति साधना मे प्रवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उसके मन मे प्राणियो के प्रति दया भाव नही रहता है। अत: भगवान महावीर ने स्वय अहिसा व्रत का पालन किया। उन्होंने अपने साधना काल मे न किसी प्राणी की हिसा की और न किसी व्यक्ति को हिसा करने की प्रेरणा ही दी। उनके हृदय मे प्रत्येक प्राणी के प्रति दया एव करुणा का स्रोत बहता था। उन्होंने अपने समय में होने वाली याज्ञिक हिसा जैसे क्रूर कर्मो को समाप्त करके जीवों को अभयदान दिया।

साधक के लिए हिसा की तरह मैथुन भी त्याज्य है। इससे मोह की अभिवृद्धि होती है और मोह से पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए भगवान ने मैथुन के साधन स्त्री-संसर्ग का सर्वथा त्याग कर दिया। साधु के लिए स्त्री का एवं साध्वी के लिए

पुरुष-ससर्ग का त्याग करना जरूरी है। क्योकि दोनो के लिए दोनों मोह को जगाने का कारण हैं और मोह की जागृति से महाव्रतो का नाश होता है। अत भगवान ने अब्रह्मचर्य का सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार किया।

साधना मे प्रथम और चतुर्थ दो महाव्रत मुख्य हैं। दोनो मे अन्य तीनो महाव्रतों का समावेश हो जाता है। पूर्ण अहिसक एव पूर्ण ब्रह्मचारी साधक न झूठ बोल सकता है, न चोरी कर सकता है और न परिग्रह की आकाक्षा रख सकता है। अत दो महाव्रतो मे पाचो का समावेश हो जाता है।

मूल गुणों की व्याख्या करके अब सूत्रकार उत्तर ुणो का उल्लेख करते है—

मूलम्— अहाकडं न से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्खू।
जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था॥18॥

छाया— यथाकृत न सा सेवते, सर्वशः, कर्म अद्राक्षीत्।
यत्किंचित् पापकं भगवान् तदकुर्वन् विकटमभुक्त॥

पदार्थ—अहाकडं—साधु के वास्ते बनाया हुआ आहार आधाकर्म आहार कहलाता है। **से**—भगवान उस आहार का। **न सेवे**—सेवन नही करते थे, क्योकि उस आहार का सेवन करने से। **सव्वसो**—सर्व प्रकार से। **कम्म**—आठ प्रकार के कर्म का बन्ध होता है। **अदक्खू**—भगवान ने ऐसा देखा। **जं किंचि**—अत· जो आहार थोडे से। **पावगं**—पाप का कारण हो। **भगव**—भगवान। **तं**—उसको। **अकुव्वं**—न करते हुए। **वियडं**—प्रासुक निर्दोष आहार। **भुंजित्था**—ग्रहण करते थे।

मूलार्थ—आधाकर्म आहार को सब तरह से कर्मबन्ध का कारण जानकर भगवान ने उसका सेवन नही किया। भविष्य मे पाप का कारण होने के कारण उसका सेवन न करते हुए भगवान ने निर्दोष आहार ही ग्रहण किया।

हिन्दी-विवेचन

साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है और शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आहार आवश्यक है और आहार के बनने में हिसा का होना भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसी स्थिति मे पूर्ण अहिसक साधक अपनी साधना कैसे कर सकता है? इसके लिए यह बताया गया है कि साधु पाक-क्रिया से सर्वथा दूर रहे। वह न

स्वय आहार आदि बनाए और न अपने लिए किसी से बनवाए और अपने (साधु के) निमित्त बनाकर या खरीदकर लाया हुआ आहार आदि स्वीकार भी न करे। परन्तु गृहस्थ के घर मे अपने परिवार के लिए जो भोजन बना है, उसमे से अनासक्त भाव से सब दोषो को टालते हुए थोडा-सा आहार ग्रहण करे, जिससे गृहस्थ को बाद मे किसी तरह का कष्ट न हो या अपने खाने के लिए कम रहने पर उसे पुनः न बनाना पडे। इस तरह कई घरो से निर्दोष आहार लेकर साधु अपने शरीर का निर्वाह करे। परन्तु जिह्वा के स्वाद के लिए या शारीरिक पुष्टि आदि के लिए वह आधा कर्म आदि सदोष आहार न ले। जो आहार साधु के लिए बनाया जाता है, उसे आधाकर्म कहते है। उस आहार को ग्रहण करने से उसमे हुई हिंसा का पाप साधु को भी लगता है। अत· साधु अनासक्त भाव से निर्दोष आहार की गवेषणा करे।

भगवान महावीर ने केवल यह उपदेश ही नही दिया, प्रत्युत उन्होने स्वय इस नियम का परिपालन भी किया। उन्होने कभी भी आधा कर्म आदि दोषो से युक्त आहार को स्वीकार नहीं किया। इस तरह भगवान सदा निर्दोष आहार की गवेषणा करते और अपनी मर्यादा के अनुसार निर्दोष आहार उपलब्ध होने पर ही उसे स्वीकार करते थे। इसी तरह भगवान ने अन्य सावद्य सदोष व्यापार एव साधनो का भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वे सारे पाप कर्मो से निवृत्त होकर सदा निर्दोष साधना मे सलग्न रहते थे।

उनकी साधना के सबन्ध मे उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– णो सेवइ य परवत्थं परपाएवि से न भुंजित्था।
परिवज्जियाणं ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए॥19॥

छाया– नो सेवते च परवस्त्रं, परपात्रेपि स ना भुंक्ते।
परिवर्ज्यायमान गच्छति, सखडिं अशरणाय॥

पदार्थ–य–पुन । **परवत्थ**–भगवान दूसरे के वस्त्र का। **णो सेवइ**–सेवन नही करते थे। **परपाएवि**–अन्य व्यक्ति के पात्र मे भी। **से**–वे। **न भुंजित्था**–भोजन नही करते थे। **ओमाणं**–अत वे अपमान को। **परिवज्जियाण**–छोड़कर। **संखडिं**–सखडी मे–भोजनशाला मे। **असरणयाए**–किसी के सहारे के बिना। **गच्छइ**–जाते है।

मूलार्थ—भगवान ने दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का सेवन नही किया, और न दूसरे व्यक्ति के पात्र में भोजन ही किया। वे मान-अपमान को छोडकर बिना किसी के सहारे भिक्षा के लिए जाते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल मे न तो किसी भी व्यक्ति के पात्र मे भोजन किया और न दूसरे व्यक्ति के वस्त्र का उपयोग ही किया। यह हम देख चुके है कि भगवान ने दीक्षा लेते समय केवल एक देवदूष्य वस्त्र के अतिरिक्त कोई उपकरण स्वीकार नहीं किया था और वह देवदूष्य वस्त्र भी 13 महीने के बाद उनके कन्धे पर से गिर गया और जब तक वह उनके पास रहा, तब तक भी उन्होंने शीत आदि निवारण करने के लिए उसका उपयोग नही किया। आगम से यह भी स्पष्ट है कि वे अकेले ही दीक्षित हुए थे और साधनाकाल में भी अकेले ही रहे थे। बीच मे कुछ काल के लिए गोशालक उनके साथ अवश्य रहा था। परन्तु, अधिकतर वे अकेले ही विचरते रहते थे। ऐसी स्थिति में किसी अन्य साधु के वस्त्र आदि स्वीकार करने या न करने का प्रश्न ही पैदा नही होता।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने अपने साधनाकाल मे न किसी गृहस्थ के पात्र मे भोजन किया और न सर्दी के मौसम मे किसी गृहस्थ के वस्त्र को ही स्वीकार किया। उस युग मे एव वर्तमान मे भी अन्य मत के साधु गृहस्थ के बर्तन मे भोजन कर लेते है एव गृहस्थ के वस्त्रो को भी अपने उपयोग मे ले लेते हैं। परन्तु जैन साधु आज भी अपने एव अपने से सम्बन्धित साधुओ के वस्त्र-पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के वस्त्र-पात्र को स्वीकार नही करते है।

भगवान ने भिक्षा के लिए जाते समय किसी भी व्यक्ति का सहारा नही लिया। वे सदा मान-अपमान को छोडकर भिक्षा के लिए जाते थे। वे किसी दानशाला या महा-भोजनशाला के सहारे भी अपना जीवन निर्वाह नही करते थे। क्योंकि इससे कई दीन-हीन व्यक्तियो की अन्तराय लगती है और वहा आहार भी निर्दोष नही मिलता है। इसलिए वे अदीनमन होकर भिक्षा के लिए जाते और जैसा भी निर्दोष आहार उपलब्ध होता, वही स्वीकार करके अपनी साधना में सलग्न रहते थे।

उनकी साधना के सम्बन्ध मे और उल्लेख करते सूत्रकार कहते हैं—

**मूलम्— मायण्णे असणपाणस्स नाणुगिद्धेरसेसु अपडिन्ने।
अच्छिंपि नो पमज्जिज्जा, नोविय कंडूयए मुणी गायं॥20॥**

**छाया— मात्रज्ञः अशनपानस्य, नानुगृद्धः रसेषु अप्रतिज्ञः।
अक्ष्यपि नो प्रमार्जयेत्, नापि च कण्डूयते मुनिः गात्रम्॥**

पदार्थ—मुणी—भगवान महावीर। **असणपाणस्स**—अन्न-पानी के। **मायन्ने**—परिमाण को जानने वाले। **रसेसु**—रसो मे। **नाणुगिद्धे**—मूर्छारहित। **अपडिन्ने**—आज मै सिह केसरादि मोदक लूंगा ऐसी प्रतिज्ञा से रहित—ऐसी प्रतिज्ञा न करने वाला। **अच्छिंपि**—आख मे रज आदि के पड जाने पर भी। **नो पमज्जिज्जा**—उसे दूर करने के लिए प्रमार्जन नही करते। **य**—और। **गायं**—गात्र को। **नोवियकंडूयए**—खाज आने पर भी खुजवाते नही थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर अन्न-पानी के परिमाण को जानने वाले थे, रसो मे अमूर्च्छित थे, सरस आहार के लेने की प्रतिज्ञा से रहित थे। आख मे रज कण पडने पर भी उसे नहीं निकालते थे तथा खुजली आने पर भी शरीर को नही खुजलाते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का जीवन उत्कृष्ट साधना का जीवन था। वे केवल साधना को चालू रखने के लिए ही आहार ग्रहण करते थे, स्वाद एव शरीर को हृष्ट-पुष्ट वनाने के लिए नहीं। इसलिए उन्होंने कभी भी सरस एव प्रकाम आहार की गवेषणा नहीं की। वे नीरस आहार ही स्वीकार करते थे और वह भी निरन्तर नही लेते थे। कभी चार-चार महीने का, कभी छह महीने का, कभी एक महीने का तो कभी पन्द्रह दिन का तप तो कभी और कुछ तप करते थे। इस तरह उनका जीवन तपोमय था। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान ने कभी सरस एवं स्वादिष्ट आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा नहीं की थी। इसलिए उन्हें अप्रतिज्ञ कहा है।

परन्तु, यह 'अप्रतिज्ञ' शब्द सापेक्ष है। क्योकि सरस आहार की प्रतिज्ञा नही, की, किन्तु, नीरस आहार की प्रतिज्ञा अवश्य की थी। जैसे उडद के बाकले लेने की प्रतिज्ञा की थी। उन्होंने साधनाकाल मे आहार के सम्बन्ध मे कोई प्रतिज्ञा नहीं की,

ऐसी बात नही है; फिर भी सूत्रकार ने जो 'अप्रतिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि सरस आहार की प्रतिज्ञा न करने या इच्छा न रखने से उन्हे अप्रतिज्ञ ही कहा है। क्योकि शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार लेना आवश्यक है। यदि सरस एवं प्रकाम भोजन ग्रहण करते है तो उसमें आसक्ति पैदा हो सकती है और अधिक परिमाण मे खाने पर विकृति भी जागृत हो सकती है। परन्तु, नीरस एवं रुक्ष आहार में न आसक्ति होती है और न विकारो को उत्पन्न होने का अवसर मिलता है और नीरस आहार स्वाद एव विकारो पर विजय प्राप्त करने का साधन है। छह महीने के लगभग लम्बे तप के बाद रुक्ष उडद के बाकले खाना साधारण बात नही है। इसके लिए मन पर बहुत बडा अधिकार करना होता है। उस समय हमारा मन दूध आदि स्निग्ध एवं सुपाच्य आहार की इच्छा रखता है। उस समय रुक्ष उड़द के उबले हुए दाने और वह भी नमक-मिर्च से रहित स्वीकार करके समभाव पूर्वक खा लेना जबरदस्त साधक का ही काम है। इस तरह भगवान ने स्वाद एवं अपने योगों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इसी कारण उनकी नीरस आहार की प्रतिज्ञा को प्रतिज्ञा नही माना है। क्योंकि, वह आहार स्वाद एवं शक्ति बढ़ाने के लिए नही, अपितु साधना में तेजस्विता लाने के लिए करते थे। इस अपेक्षा से 'अप्रतिज्ञ' शब्द उपयुक्त ही प्रतीत होता है।

भगवान महावीर का लक्ष्य शरीर पर नही, आत्मा पर था। वे सदा आत्मा का ही ध्यान रखते थे। यदि कभी आख मे तृण या रेत के कण आदि गिर जाते तो उन्हें निकालने का प्रयत्न नही करते थे और शरीर मे खुजली आदि आती थी तो उसे भी नही खुजाते थे। वे शरीर की चिन्ता नही करते थे। शरीर की ओर उनका ध्यान ही नही जाता था। वे सदा आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

उनके विचरण करने की विधि का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अप्प तिरियं **पेहाए अप्पिं पिट्ठओ पेहाए।**
अप्पं वुइएऽपडिभाणी, पंथपेहि चरे जयमाणे॥21॥

छाया—अल्पं तिरश्चीनं प्रेक्षते, अल्पपृष्ठतः प्रेक्षते।
अल्पं ब्रूते अप्रतिभाषी, पथि प्रक्षी चरेद् यतमान॥

पदार्थ—अप्पं—अल्प शबद अभावार्थक है, अत भगवान चलते हुए।

तिरियं—तिर्यक् मार्ग को। **पेहाए**—नही देखते थे, उसी प्रकार। **अप्पिं पिट्ठओ**—खड़े होकर पीछे को नही। **पेहाए**—देखते। **अप्पंवुइए अपडिभाणी**—किसी के बुलाने पर नही बोलते थे। **जयमाणे**—यतनाशील। **पंथपेहि**—मार्ग को देखते हुए। **चरे**—वे चलते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर चलते हुए न तिर्यग् दिशा को देखते थे, न खड़े होकर पीछे को देखते थे और न मार्ग मे किसी के पुकारने पर बोलते थे। किन्तु मौन वृत्ति से यत्ना पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना का मूल उद्देश्य है—योगों की चचलता को रोकना। इधर-उधर विषयो मे परिभ्रमण करने वाले योगो को आत्म-चिन्तन मे केन्द्रित करना। इसके लिए समिति और गुप्ति की साधना बताई है। समिति का परिपालन करते समय साधक अपने आवश्यक कार्य में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस कार्य मे प्रवृत्त होता है, उसी मे अपने योगो को केन्द्रित कर लेता है। योगो को आत्म-चिन्तन मे केन्द्रित करने एव उनका निरोध करने का यह सबसे अच्छा उपाय है कि साधक उन्हे समिति-यत्नापूर्वक किए जाने वाले अपने आवश्यक कार्य मे केंद्रित करे। भगवान महावीर ने ऐसा ही किया था। जब वे चलते थे तो अपनी चित्तवृत्ति एवं योगो को ईर्यापथ में केन्द्रित कर लेते थे। उस समय उनका इधर-उधर या पीछे को ध्यान नहीं जाता था। वे न कभी दाए-बाए देखते थे और न खड़े होकर पीछे को ही देखते थे और न मर्यादित भूमि से आगे को या ऊपर आकाश में ही देखते थे। और न वे किसी से सभाषण करते थे। किसी के पूछने पर कोई उत्तर नही देते हुए अपने मार्ग पर बढ़ते रहते थे।

उनके विचरण के सम्बन्ध के कुछ और विशेष बाते बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ज वत्थमणगारे।
पसारित्तु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधंमि॥22॥

छाया— शिशिरे अध्वप्रतिपन्ने, तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः।
प्रसार्य बाहू पराक्रमते, नो अवलंब्य स्कन्धे (तिष्ठति)॥

पदार्थ—**सिसिरंसि**—शीतकाल मे—शिशिर ऋतु में। **अद्धपडिवन्ने**—मार्ग में

प्रतिपन्न हुए। **अणगारे**—भगवन। **त वत्थं**—उस वस्त्र को। **वोसिज्ज**—छोड़ कर, फिर। **बाहूं**—भुजाओं को। **पसारित्तु**—पसार कर। **परक्कमे**—चलते हैं। **कंधंमि**—स्कन्ध—कधे पर। **नो अवलम्बियाण**—दोनो हाथ रखकर खड़े नहीं होते थे।

मूलार्थ—शीतकाल मे मार्ग मे चलते हुए भगवान इन्द्रप्रदत्त वस्त्र को छोडकर दोनों भुजायें फैला कर चलते थे, किन्तु शीत से सन्तप्त होकर अर्थात् शीत के भय से भुजाओ का सकोच नहीं करते थे और न स्कन्ध में हस्तावलम्बन से खडे होते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर की साधना विशिष्ट साधना थी। भगवान ने अपने साधना-काल मे अपवाद को स्थान ही नही दिया है। वे परीषहो पर सदा विजय पाते रहे, सर्दी के समय शीत के परीषह से घबराकर न तो कभी उन्होने वस्त्र का उपयोग किया और न कभी शरीर को या हाथो को सिकोडकर रखा, जब कि दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् 13 महीने तक उनके कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र पडा रहा, फिर भी उन्होंने उससे शीत निवारण करने का प्रयत्न नही किया। इसके अतिरिक्त वे दोनों हाथो को फैला कर चलते थे और दोनो हाथों को फैला कर ही खडे होते थे। न चलते समय उन्होने कभी हाथो को सिकोडकर रखा और न खडे होते समय ही। उन्होंने खडे होते समय न तो कभी हाथो को कन्धे पर रखा और न किसी अन्य अग पर ही रखा। वे सदा अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहे और साधना मे उत्पन्न होने वाले सब परीषहो को समभाव पूर्वक सहते रहे। इससे स्पष्ट होता है कि उनका अपने योगों पर पूरा अधिकार था।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते है--

मूलम्— एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण ममइया।
बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियंति॥23॥ त्तिबेमि॥

छाया— एष विधिः अनुक्रान्त, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एव रीयन्ते॥

पदार्थ—ममइया—ज्ञानवान। **माहणेण**—भगवान महावीर ने। **एस**—इस। **विहि**—क्रियाविधि का। **अणुक्कन्तो**—स्वय आचरण किया। **बहुसो**—अनेक प्रकार से। **अपडिन्नेण**—निदानकर्म से रहित। **भगवया**—भगवान ने। **एवं**—इस प्रकार से

स्वय ही ग्रहण किया और दूसरों के प्रति आचरण करने का उपदेश दिया, अतः। **रियंति**—मुमुक्षुजन कर्मो का क्षय करने के लिए इस क्रिया विधि का अनुष्ठान करके मोक्षमार्ग मे गमन करते हैं। **तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रबुद्ध साधक भगवान महावीर ने इस विहार—विचरणचर्या (विधि) को स्वीकार किया था और उन्होंने बिना निदान कर्म किसी प्रकार के भौतिक सुखो की कामना के बिना इस विधि का आचरण किया और दूसरे साधको को भी इस पथ पर चलने का आदेश दिया। इसलिए मुमुक्ष पुरुष इसका आचरण करके मोक्ष-मार्ग पर कदम बढाते है।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक मे साधक के लिए विचरण करने की जो विधि बताई है, वह केवल भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट ही नही है, अपितु उनके द्वारा आचरित भी है। इस गाथा मे यह बताया है कि भगवान महावीर ने जिस साधना का उपदेश दिया है, उसे पहले उन्होने स्वय स्वीकार किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधना के द्वारा प्राप्त सर्वज्ञत्व से पहले भगवान महावीर भी एक साधारण प्राणी थे। वे सदा से किसी दैवी या ईश्वरी शक्ति के धारक नही थे। उन्होने भी अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण किया था। अनेको बार नरक एव निगोद के अनन्त दु:खो का सवेदन किया था। इस तरह ससार मे भटकते हुए ज्ञान को प्राप्त किया और अपने आत्मस्वरूप को समझकर साधनापथ पर आगे बढे और उसीके द्वारा आत्मा का विकास करते हुए सर्वज्ञत्व एव सिद्धत्व को प्राप्त किया। भगवान द्वारा आचरित साधना ही आत्मा को सिद्धत्व पद पर पहुचाती है। जैन धर्म का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा मे सिद्ध बनने की शक्ति है, प्रत्येक आत्मा सिद्धो के जैसी ही आत्मा है और साधनापथ को स्वीकार करके सिद्ध बन सकती है।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में भगवान महावीर की विहारचर्या-विधि का उल्लेख किया गया था। साधक चलता है तो उसे विश्राम भी लेना होता है, ठहरना भी पडता है। भगवान महावीर को भी अपनी साधना के लिए, आत्म-चिन्तन के लिए स्थान का सहारा लेना पडता था। अब प्रश्न यह है कि भगवान महावीर साधनाकाल मे कैसे स्थान में ठहरे थे। वहा उन्होने कौन-सी वस्तुओ का उपयोग किया था और साधक को कैसे मकान मे ठहरना चाहिए?

इसका समाधान करते हुए प्रस्तुत उद्देशक मे सूत्रकार कहते है–

मूलम्– चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ।
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे॥1॥

छाया– चर्यासनानि शयनानि एकैकानि यानि अभिहितानि।
आचक्ष्व तानि शयनासनानि यानि सेवितवान् स महावीरः॥

पदार्थ–**एगइयाओ**–एक बार। **बुइयाओ**–जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने। **चरियासणाइं**–विहारचर्या, आसन एव। **सिज्जाओ**–बस्तिओ के सम्बन्ध मे। **आइक्ख**–कहा। **जाओ**–जिन। **सयणासणाइं**–शय्या एव आसन का। **जाइं**–जो। **से**–उन भगवान महावीर ने। **सेवित्था**–सेवन किया।

मूलार्थ–विहार के समय मे भगवान महावीर ने जिस शय्या एवं आसन का सेवन किया, उसके सबन्ध में जम्बू स्वामी के पूछने पर सुधर्मा स्वामी ने इस प्रकार कहा।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा प्रतिज्ञा सूत्र है। इसमें सूत्रकार यह प्रतिज्ञा करता है कि इस उद्देशक मे मै यह बताऊंगा कि भगवान ने विहारकाल में कैसी बस्ती एवं शय्या आदि

का सेवन किया था। यह गाथा अपने आप मे इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत उद्देशक की इस गाथा को उद्धृत करके उसके विषय में— "ऐसा पूछा, अर्थात् यह प्रश्न है" —ऐसा कहा है। परन्तु, इसकी व्याख्या नहीं की किन्तु, आचार्य शीलाक ने लिखा है कि प्रस्तुत गाथा शास्त्र मे उपलब्ध होती है। परन्तु चिरन्तन टीकाकार ने उसकी व्याख्या नहीं की है। इसका कारण गाथा की सुगमता है या उन्होने इसे मूल सूत्र की गाथा नहीं माना। इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं कह सकते। आचार्य शीलाक ने किसी टीकाकार के नाम का उल्लेख न करके केवल चिरन्तन टीकाकार शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा लगता है कि चिरन्तन टीकाकार शब्द से चूर्णिकार अभिप्रेत हो सकते है, क्योंकि उन्होने इस गाथा को उद्धृत तो किया है, परन्तु, उसकी व्याख्या नही की और चूर्णिकार के अतिरिक्त अन्य ऐसे टीकाकार भी अभिप्रेत हो सकते हैं, जिनकी टीका उनके युग में प्रचलित रही हो, और आज उपलब्ध न हो। परन्तु, इतना स्पष्ट है कि शीलाक से भी पूर्व आचाराग पर टीका लिखी जा चुकी थी। इस तरह जैनागमो पर और भी अनेक टीकाए, चूर्णि एव भाष्य आदि लिखे गए है। परन्तु, आज उनके अनुपलब्ध होने के कारण आगम के कई पाठो एव उनके अर्थो मे सन्देह-सा बना रहता है[1]। वर्तमान मे प्राप्त टीका ग्रन्थ अपने युग मे प्रचलित प्राचीन टीका ग्रन्थों के आधार पर ही संक्षिप्त एव विस्तृत रूप से रचे गए हैं। किसी-किसी टीकाकार ने तो अपने पूर्व टीकाकार के भाव ही नही, अपितु, श्लोक एव गाथाए भी ज्यो-की-त्यो उद्धृत कर ली है। इससे यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि पुरातन टीकाएं कुछ अंश रूप मे वर्तमान टीकाओ मे सुरक्षित है।

---

1 बडे दुःख के साथ लिखना पडता है कि जैन समाज के प्रमाद, आलस्य एव ज्ञान और स्वाध्याय की कमी के कारण जैन साहित्य को बहुत बडी क्षति पहुची है। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थ तो भडारो मे पडे-पडे गल-सड गए, कुछ ग्रन्थो को दीमको ने चट कर लिया तो कुछ ग्रन्थ चूहो के पैने दातों के नीचे आ गए। कुछ ग्रन्थो को मुगलो ने आक्रमण के समय आग मे जलाकर एव जल मे प्रवाहित करके नष्ट कर दिया। कुछ श्रेष्ठ ग्रथो को अर्थलोलुप पुजारियो ने विदेशियो के हाथ बेच डाला। अत बहुत-से ग्रन्थ ऐसे है कि आज उनका नाम मात्र ही शेष रह गया है और कतिपय ग्रन्थ छिन्न-भिन्न अवस्था मे मिलते है। वस्तुत यह सब शोकास्पद ही है।

प्रस्तुत गाथा मे शय्या आदि के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो।
अदुवा पलियठाणेसु पलाल पुंजेसु एगया वासो॥2॥

छाया— आवेशनसभाप्रवासु, पण्यशालासु एकदावासः।
अथवा कर्म स्थानेषु, पलालपुजेषु एकदा वास.॥

पदार्थ—आवेसण—शून्य घर मे। **सभा**—सभा में। **पवासु**—पानी के स्थान—प्याऊ मे। **पणियसालासु**—पण्यशाला—दुकानों मे। **एगया वासो**—किसी समय पर भगवान ने निवास किया। **पलियठाणेसु**—लुहार आदि की शाला मे। **पलाल पुंजेसु**—पलाल पुज में जहां चारो ओर स्तम्भो के सहारे पलाल को एकत्रित करके रक्खा हो, ऐसे स्थान मे। **एगयावासो**—कभी निवास किया था—ठहरे थे।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने शून्य घर में, सभा-भवन मे, पानी पिलाने की प्याऊ मे, दुकान मे, लुहार की शाला मे या जहा पलाल का समूह एकत्रित कर रखा हो, ऐसे स्थान मे निवास किया, अर्थात् ऐसे स्थानो मे भगवान महावीर ठहरे थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे उस युग के निवास स्थानों का वर्णन किया गया है जिनमे लोग रहते थे या पथिक विश्राम लेते थे। वे इस प्रकार है—

1 **शून्य घर**—जिस मकान मे कोई न रहता हो तो उसे शून्य घर कहते है। आज कई प्राचीन शहरो एवं जगलो मे शून्य खण्डहर एव मकान मिलते है। भगवान महावीर भी कभी ऐसे स्थानो मे ठहर जाते थे। ये स्थान एकान्त एव स्त्री-पुरुष, पशु आदि से रहित होने के कारण साधना एव आत्मचिन्तन के अनुकूल होते है।

2. **सभा**—गॉव या शहर के लोगों के विचार-विमर्श करने के लिए एक सार्वजनिक स्थान होता था। बाहर गावों से आने वाले यात्री भी उसमे ठहर जाते थे। आज भी अनेक गावों में पथ से गुजरते हुए पथिको के ठहरने के लिए एक स्थान बना होता है और शहरो मे ऐसे स्थानो को धर्मशाला कहते है। उस युग मे उसे सभा कहते थे। भगवान भी कभी सूर्य अस्त हो जाने के कारण ऐसी सभाओं मे रात्रि व्यतीत करते थे।

3. **प्रपा (प्याऊ)**—जहा राहगीरों को पानी पिलाया जाता है, उसे प्रपा या प्याऊ कहते हैं। रात के समय यह स्थान प्राय खाली रहता है और चिन्तन के लिए अनुकूल रहता है।

4 **पण्यशाला (दुकानें)**—जहा लोगो के जीवन के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ एव वस्त्र आदि वेचे जाते है, उन्हे पण्यशाला करते है। ये स्थान भी रात में खाली रहते है। दुकानदार अपनी दुकान के—जिस मे सामान भरा रहता है, उसका ताला लगा देता है, फिर दुकान के आगे का छप्पर या ब्राण्डा खाली पडा रहता है। अत भगवान कई बार ऐसे स्थानो मे भी ठहरे और ये स्थान भी स्त्री-पुरुष, पशु आदि से रहित होने के कारण साधु के लिए ठहरने योग्य हैं।

5 **पणिय शाला**—जहा पर कर्मकार लोग मेहनत करते हो, ऐसे स्थानो को पणिय-कर्म-शाला कहते हैं। लुहार, बढई आदि के स्थान इसमे आ सकते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य है।

6 **पलाल पुज**—जहा पर पशुओ के लिए चार खभो के सहारे घास का समूह एकत्रित किया जाता है, उसे पलाल पुज कहते हैं। ये स्थान भी एकान्त होने के कारण साधक के ठहरने योग्य है।

इस तरह भगवान महावीर ने अपने साधना काल मे ऐसे स्थानों में निवास किया। इससे साधु जीवन की कष्टसहिष्णुता एव नि स्पृहता का तथा उस समय के लोगो की उदार मनोवृत्ति का पता लगता है। प्रत्येक गाव मे जाने वाला व्यक्ति भूखा-प्यासा एव निराश्रित नही रहता था। सार्वजनिक स्थानों के अतिरिक्त लुहार एवं बढई आदि श्रमजीवी लोगो की इतनी उद्योग शालाए थीं कि कोई भी यात्री बिना रोक-टोक के विश्रान्ति कर लेता था। इससे उस युग के ऐतिहासिक रहन-सहन एव उद्योग-धन्धे का भी पता चलता है। उस युग का रहन-सहन सादा था, मकान भी सादे होते थे। कुछ पूँजीपतियो के भवनो को छोड़कर साधारण लोग मिट्टी के बने साधारण घरो मे ही रहते थे। औद्योगिक एव कृषि कार्य अधिक था। गावों के लोग प्राय कृषि कर्म पर ही आधारित रहते थे। बडे-बड़े वैश्य भी कृषि कर्म करते या करवाते थे। आगमो मे अरण्यक आदि श्रावको का वर्णन आता है कि उन्होने अपनी-अपनी इच्छानुसार 500 हल या इससे कम-ज्यादा खेती करने की मर्यादा रखी थी। उस युग में कृषि कर्म को हेय नहीं माना जाता था।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि भगवान ऐसे स्थानो मे ठहरते थे कि जहा किसी को किसी तरह का कष्ट न हो और अपनी साधना भी चलती रहे। वे अपने ऊपर आने वाले समस्त परीषहो को समभावपूर्वक सह लेते थे, परन्तु अपने जीवन से किसी भी प्राणी को कष्ट नही देते थे।

जहा भगवान ठहरे थे, ऐसे और स्थानो को बताते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— आगन्तारे आरामागारे तह य नगरे व एगयावासो।
सुसाणे सुण्णागारे वा रुक्खमूले व एगयावासो॥3॥

छाया— आगन्तारे आरामागारे तथा च नगरे वा एकदावास.।
श्मशाने शून्यागारे वा वृक्षमूले वा एकदावास.॥

पदार्थ—**आगन्तारे**—जहा पर श्रमजीवी लोग आकर ठहरते हो। **आरामागारे**—बाग मे जहा घर हो। **तह**—तथा। **नगरे**—नगर मे। **य**—पुन । **व**—अथवा। **एगया**—एकदा। **वासो**—निवास किया। **आ**—अथवा। **एगया**—किसी समय। **सुसाणे**—श्मशान मे। **व**—अथवा। **सुण्णागारे**—शून्यागार मे। **व**—अथवा। **रुक्खमूले**—वृक्ष के नीचे। **वासो**—निवास किया।

मूलार्थ—किसी समय भगवान महावीर ने जहा पर नगर और ग्राम से बाहर प्रसगवशात् लोग आकर ठहरते हो, ऐसे स्थान मे, उद्यान-गृह मे, नगर मे, श्मशान, शून्य गृह मे और वृक्ष के मूल मे निवास किया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भी भगवान महावीर के ठहरने के स्थानो का वर्णन किया गया है। जहा श्रमजीवी लोग विश्राम करते हो, या बीमार व्यक्ति स्वच्छ वायु का सेवन करने के लिए कुछ समय के लिए आकर रहते हो, ऐसे स्थानो को 'आगन्तार' कहते है। ये स्थान प्राय शहरो के बाहर होते है। क्योकि शहरो के बाहर ही शुद्ध वायु उपलब्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त शहर के बाहर जो बाग-बगीचे होते हैं, जिनमे लोगो को एव पशु-पक्षियो को विश्राम-आराम मिलता है, उन्हे आराम कहते है और उनमें बने हुए मकानों को आरामागार कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्मशान, शून्य मकान एवं और कुछ नही तो वृक्ष की छाया तो यत्र-तत्र सर्वत्र सुलभ हो ही जाती है।

उपर्युक्त सभी स्थान एकान्त एव निर्दोष होने के कारण साधना के लिए बहुत उपयुक्त माने गए हैं। यो तो साधक के लिए सभी स्थान उपयुक्त हैं। जिस साधक का अपने योगो पर अधिकार है, वह सर्वत्र अपने चिन्तन मे सलग्न रह सकता है और जिसका अपने योगो पर अधिकार नही है, वह एकान्त स्थान मे भी स्थिर नही रह सकता। इसलिए साधना मे मकान की अपेक्षा चित्तवृत्ति की स्थिरता का महत्त्व अधिक है। फिर भी चित्तवृत्ति के ऊपर स्थान का भी कुछ असर होता है। महान साधक को वातावरण भी हिला नहीं सकता, परन्तु, सभी साधक भगवान महावीर जैसी साधना वाले नही थे और न अब है। उस युग के साधकों की साधना मे भी परस्पर अन्तर था और आज के युग की साधना मे भी अन्तर रहा हुआ है। इसलिए साधक को व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोष एव विकारोत्पादक साधनो से रहित स्थान मे ठहरना चाहिए। इसी वृत्ति का उपदेश देने के लिए समस्त विकारो एव परीषहो पर विजय पाने मे समर्थ भगवान महावीर चित्त को समाधि देने वाले एव आत्म-चिन्तन को प्रगति देने वाले स्थानो मे ठहरे। भगवान का आचार हमारे लिए जीवित शास्त्र है, जो हमारी साधना मे स्फूर्ति एव तेजस्विता लाने वाला है।

यह भी एक प्रश्न हो सकता है कि भगवान महावीर साधना काल मे कब तक रहे? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे।
राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ॥4॥

छाया— एतेषु मुनि· शयनेषु श्रमण· आसीत् प्रत्रयोदशवर्षम्।
रात्रि दिनमपि यतमान· अप्रमत्तः समाहितः ध्यायति॥

पदार्थ—मुणी—श्रमण भगवान महावीर। **एएहि सयणेहिं**—इन पूर्वोक्त बस्तियो मे। **समणे**—तपस्या युक्त होकर। **आसि**—स्थित रहे। **पतेरसवासे**—बारह वर्ष, छह मास और 15 दिन। **राइंदिवपि**—रात-दिन। **जयमाणे**—यतना पूर्वक। **अपमत्ते**—निद्रा आदि प्रमादो से रहित। **समाहिए**—समाधि युक्त होकर। **झाइ**—धर्म और शुक्ल ध्यान मे संलग्न रहे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर इन पूर्वोक्त स्थानो मे तप-साधना करते हुए

12 वर्ष, 6 महीने और 15 दिन तक रात-दिन यत्ना पूर्वक निद्रा आदि प्रमादों से रहित होकर समाधि पूर्वक धर्म एव शुक्ल ध्यान में संलग्न रहे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने 12 वर्ष 6 महीने और 15 दिन तक पूर्व सूत्रो मे उल्लिखित बस्तियो मे वर्षावास एव रात्रिवास किया। इतने समय तक भगवान छद्मस्थ रहे और सदा आत्म-चिन्तन मे संलग्न रहे। इतने लम्बे काल तक भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली और न प्रमाद का सेवन ही किया। प्रमाद साधना का दोष है, इससे साधना दूषित होती है। इसलिए साधक को सदा सावधानी के साथ विवेक पूर्वक क्रिया करने का आदेश दिया गया है। आदेश ही नही, प्रत्युत भगवान महावीर ने अपने साधना-काल में अप्रमत्त रहकर साधक के सामने प्रमाद से दूर रहने का आदर्श रखा है।

यहा एक प्रश्न होता है कि भगवान के साधनाकाल मे गोशालक उनके साथ रहने लगा और बाद मे भगवान ने भी उसे अपना शिष्य मान लिया था। एक बार विहार करते समय उसने आतापना लेते हुए बाल सन्न्यासी का मखौल उडाया तथा उसका तिरस्कार किया। उस समय उस बाल तपस्वी को गोशालक पर क्रोध आ गया और उसने उसे जलाकर भस्म करने के लिए उस पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया। जब गोशालक ने दूर से ही तेजोलेश्या को अपनी ओर आते हुए देखा तो वह चिल्लाया और अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगा। उस समय भगवान ने गोशालक पर अनुकम्पा करके पीछे की ओर शान्त नजर से देखा और शीतल लेश्या फैकी। उनकी साधना एवं अनन्त शान्ति के शीतल परमाणुओ ने तेजो लब्धि के सतप्त परमाणुओ को निस्तेज कर दिया। इस तरह गोशालक की रक्षा हो गई। कुछ लोगो का कहना है कि इसमे भगवान ने दो गलतियाँ की—1—कुपात्र गोशालक को बचाया जिसने सदा भगवान को परेशान किया और 2—लब्धि फोडकर पाप एव प्रमाद का सेवन किया। आगम मे कहा है कि वैक्रिय लब्धि फोडने वाले साधक को 5 क्रियाए लगती है। इसी तरह तेजो लब्धि का प्रयोग करने वाले को भी 5 क्रियाओ का दोष लगता है और भगवान ने भी शीतल लेश्या—तेजो लब्धि के ही दूसरे रूप का प्रयोग किया था[1]। इसलिए उस समय उन्हे भी 5 क्रियाए लगी। अत फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान ने साधनाकाल मे प्रमाद का सेवन नही किया?

---

1 भ्रमविध्वसन

आचाराग का यह कथन कि भगवान ने साढे बारह वर्ष और 15 दिन तक अप्रमत्त भाव से साधना की, यह प्रसग भगवान महावीर के सर्वज्ञ होने के बाद का है और सर्वज्ञ पुरुष कभी भी किसी बात को छिपाते नही, घटा-बढाकर या गलत रूप मे कहते नहीं। वे अपने द्वारा किए गए दोष का भी उसी रूप में उल्लेख कर देते हैं, उनकी वाणी मे अन्यथा बात नही होती, इसलिए हम कह सकते है कि भगवान ने साधनाकाल में प्रमाद का सेवन नही किया।

भगवान महावीर ने जिस समय गोशालक को बचाया, उस समय वे छद्मस्थ तो थे, परन्तु हम जैसे अल्पज्ञ नही थे। उस समय केवल ज्ञान के अतिरिक्त शेष 4 ज्ञान से युक्त थे और कल्पातीत थे। इसलिए उनके लिए कोई कल्प या मर्यादा नही थी। वे अपने विशिष्ट ज्ञान मे जैसा उपयुक्त देखते, वैसा करते थे। अत. उनकी साधना की हम आलोचना करने की योग्यता नही रखते। क्योकि उनमे चार ज्ञान थे और हममे दो ज्ञान है, वे भी विशुद्ध एव पूर्ण नही है। इसलिए उनकी साधना के लिए जिसका उल्लेख उन्होने सर्वज्ञ होने के बाद किया है, कुछ कहना अपनी अज्ञानता को ही प्रकट करना है।

साधना का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के अभाव मे ज्ञान एव चारित्र मिथ्या कहलाता है और सम्यक्त्व के अस्तित्व का पता पाच कारणो से चलता है—1—सम, 2—सवेग, 3—निर्वेद, 4—अनुकम्पा और 5—आस्तिक्य। इनमे अनुकम्पा को सम्यक्त्व का चौथा लक्षण बताया है। उसके अभाव मे सम्यक्त्व का ही अस्तित्व नही रह पाता, तो श्रावकत्व एवं साधुत्व की साधना कैसे रह सकती है? ऐसी स्थिति में भगवान द्वारा की गई गोशालक की रक्षा को दोष युक्त कैसे कहा जा सकता है? क्योकि भगवान ने किसी स्वार्थवश गोशालक का सरक्षण नही किया, अपितु अनुकम्पा एव दयाभाव से उन्होने उसको बचाया था। जब साधक के जीवन मे अनुकम्पा का सागर लहराता है, उस समय वह व्यक्ति के मुख को नहीं देखता कि वह बचने वाला मेरा मित्र है या शत्रु है, कपूत है या सपूत है। ये सारे प्रश्न स्वार्थी जीवन में उठते है, साधक के लिए सपूत-कपूत, शत्रु-मित्र सब समान होते है और भगवान महावीर जैसे महान् साधक के हृदय मे भेद की रेखा को अवकाश ही नही था। अत उनकी अनुकम्पा एव दया युक्त भावना को सदोष बताना साधना के स्वरूप को नहीं जानना है।

वैक्रिय लब्धि एव तेजोलब्धि का प्रयोग करने मे आरम्भ-समारम्भ होता है। वैक्रिय लब्धि करते समय अनेक पुद्गलों को ग्रहण करने मे सूक्ष्म हिसा हो सकती है एवं मन मे अहकार आदि विकार भी जाग सकता है और तेजोलब्धि से तो प्रत्यक्ष रूप से प्राणियों को परिताप होता ही है। जिस व्यक्ति पर उसका प्रयोग किया जाता है, वह व्यक्ति जलकर भस्म भी हो जाता है और उस व्यक्ति तक पहुंचने के पथ मे अनेक निरपराध स्थावर एव त्रस जीवों की भी हिंसा होती है, अत उसमें 5 क्रियाओं का लगना स्पष्ट है, परन्तु शीतल लब्धि तेजोलब्धि से भिन्न है। यह ठीक है कि यह तेजोलब्धि का ही एक रूप है, परन्तु इतना मात्र होने से वह सदोष नही कही जा सकती। जैसे हिसा दया एव अहिसा का ही एक रूप है, अहिसा हिंसा का दूसरा बाजू है या यो कहिए हिसा अहिसा का विपरीत रूप है। परन्तु, इतने मात्र से दोनो समान नही हो जाती है। हिसा की तरह अहिसा को हम सदोष नही कह सकते। हिसा मे दूसरे को परिताप देने की एव नुकसान पहुचाने की भावना होने से वह सदोष है, पापमय है। परन्तु अहिसा में दूसरे की रक्षा करने की भावना रहती है, पर-प्राणी को शान्ति पहुंचाने की वृत्ति रहती है और यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि परिताप, सताप देने एव उन्हे दूर करके शान्ति-सुख पहुचाने का प्रयत्न एक समान नही हो सकता।

यही बात तेजोलब्धि और शीतललब्धि के सम्बन्ध मे है। तेजोलब्धि का प्रयोग क्रोध एव आवेश के क्षणो मे होता है और क्रोध एव आवेश के समय मनुष्य का मन सतप्त एव दग्ध रहता है, इसलिए तेजोलब्धि के परमाणु भी तप्त एव प्रज्वलित निकलते है और वे जिस व्यक्ति पर पड़ते है, उसे संतप्त करते है, जलाकर भस्म कर देते है। परन्तु शीतल लेश्या शान्ति के क्षणो मे प्रसारित की जाती है। उस समय साधक का मन दया, करुणा, क्षमा एव शान्ति से आप्लावित होता है। उसके जीवन के कण-कण मे प्रेम-स्नेह, वात्सल्य एव विश्वबन्धुत्व की निर्मल भावना का प्रवाह प्रवाहित रहता है। इसलिए उसके जीवन से निकलने वाले परमाणु इतने शान्त एव शीतल होते है कि जिस व्यक्ति पर वे गिरते है, उसे ताप-सताप से बचा लेते हैं। इसी अन्तर के कारण तेजोलब्धि को सदोष माना है और शीतल लब्धि को निर्दोष। क्योकि शीतल लब्धि का प्रयोग करने वाले के लिए कही भी आलोचना करने का

उल्लेख नही है और इससे किसी प्राणी का अहित नहीं होता, इसलिए इसके प्रयोग में 5 क्रियाए नही लगती।

यह ठीक है कि इसका लब्धि के रूप में उल्लेख किया गया है, परन्तु, इसका प्रयोग वैक्रिय, तेजस आदि लब्धियो की तरह नही होता। इसलिए यह कहना भी गलत है कि छद्मस्थ अवस्था में लब्धि फोडते हुए साधक दोष का सेवन करता है। जैसे अन्य लब्धियो का प्रयोग किया जाता है, उस तरह इसका प्रयोग नही किया जाता। आगमो मे बताया गया है कि तीर्थकर भगवान जहा विचरते हैं, उसके आस-पास लगभग 200 मील तक प्रायः अशान्ति एव उपद्रव नही रहता। यह उनकी अनन्त शान्ति या शीतलता के परमाणुओ का ही प्रभाव है। सर्वज्ञ होने के बाद उनमे अनन्त-अनन्त शान्ति प्रकट हो जाती है और उनके जीवन मे निकलने वाले शान्त परमाणु बहुत दूर तक प्रदेश मे फैल हुए अशान्त परमाणुओ को शान्त कर देते हैं। फिर भी उनकी साधना सदोष नही मानी जाती। क्योंकि शीतलता एवं शान्ति आत्मा की विशुद्ध शक्ति है, न कि तेजोलब्धि की तरह आत्मगुणों से भिन्न शक्ति है। शीतलता आत्मा का गुण है और उष्णता आत्मा का विकार है। इसलिए दोनो को समान बताकर सदोष कहना बुद्धि का दिवालियापन प्रकट करना है।

यह भी कहा जाता है कि जब आग को पानी से बुझाते हैं तो उसमे दोष लगता है। तो यहा भगवान की शीतल लब्धि के प्रयोग से बाल तपस्वी द्वारा छोड़ी गई तेजोलब्धि मार्ग मे ही प्रतिहत—नष्ट कर दी गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस आग को नष्ट करना भी तो दोष युक्त है? आग और तेजोलब्धि एक नही है, इसलिए यहां आग-पानी का उदाहरण उपयुक्त नही कहा जा सकता। किसी वस्तु मे जलाने की शक्ति होने मात्र से वह वस्तु सजीव नही मानी जा सकती। सूर्य की प्रखर किरणो को उपयुक्त शीशे पर केन्द्रित कर लिया जाए और उसके नीचे घास या रूई रख दी जाए तो वह तुरन्त जल जाएगी। इसी तरह राजस्थान के रेगिस्तान मे ग्रीष्म-ऋतु के दोपहर में नंगे पैर चला जाए तो पैरो मे फफोले चमक उठेंगे, परन्तु इतने मात्र से सूर्य की किरणो एव उनसे तप्त रजकणो को—जो जलाने की भी शक्ति रखते है, सजीव नहीं कह सकते। इसी तरह तेजोलब्धि भी जलाने की शक्ति रखते हुए भी सजीव नहीं है। आगम मे तेजोलब्धि के पुद्गलो को अजीव कहा है। इसलिए उनके प्रतिहत होने मे किसी तरह की हिंसा नहीं होती। दूसरी बात यह है कि यहां प्रतिहत

शब्द उसके ताप को शान्त करने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, न कि किसी प्राणी को नाश करने के अर्थ में। अत. इस शब्द को लेकर उसके प्रयोग को सदोष कहना समझ का अभाव है।

इतनी लम्बी विचार-चर्या के बाद हम इस निर्णय पर पहुचे कि भगवान ने साधनाकाल में कभी भी प्रमाद का सेवन नही किया। वे सदा धर्म एवं शुक्ल ध्यान मे ही संलग्न रहे और यह वर्णन किसी गणधर या आचार्य द्वारा नहीं किया गया है, प्रत्युत स्वय भगवान ने इसका उल्लेख किया है[1]।

भगवान की अप्रमत्त साधना का और उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— निद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावेइ य अप्पाणं इसिं साईय अपडिन्ने॥5॥

छाया— निद्रामपि न प्रकामतः, सेवते भगवान् उत्थाय।
जागरयति च आत्मानं, ईषच्छायी च अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—निद्दपि—भगवान निद्रा का भी। **नोपगामाए सेवइ**—सेवन नहीं करते। यदि कभी निद्रा आने लगती तो। **भगवं**—भगवान। **उट्ठाए**—उठकर। **अप्पाणं**—अपनी आत्मा को। **जग्गावेइ य**—जागृत करते। **इसिंसाईय**—थोड़ी-सी निद्रा आने लगी कि अपनी आत्मा को अप्रमत भाव में लाकर, उसको उठाते, और। **अपडिन्ने**—निद्रा लेने की प्रतिज्ञा मे भी रहित थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर निद्रा का सेवन नही करते थे। यदि कभी उन्हे निद्रा आती भी थी तो वे सावधान होकर आत्मा को जगाने का यत्न करते। वे निद्रा लेने की प्रतिज्ञा से भी रहित थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि भगवान ने कभी भी निद्रा नहीं ली। क्योंकि यह भी प्रमाद का एक रूप है। इसलिए भगवान सदा इससे दूर रहने का प्रयत्न करते थे। निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है। इस कर्म का क्षय होने के बाद

---

1 इस बात को नवम अध्ययन के प्रारभ मे प्रतिज्ञा सूत्र की व्याख्या मे स्पष्ट कर चुके है।

निद्रा नही आती और भगवान इस कर्म को क्षय करने के लिए प्रयत्नशील थे। अतः जब भी निद्रा आने लगती थी, तब वे सावधान होकर जागृत होने का प्रयत्न करते। इससे स्पष्ट है कि उन्होने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नही किया और कभी आने भी लगी तब भी वे उसमे जागृत ही रहे। द्रव्य से भले ही क्षण भर के लिए निद्रित हो गए हो, परन्तु भाव से वे सदा जागते रहे। क्योंकि ऐसा वर्णन आता है कि एक बार भगवान को क्षण मात्र के लिए झपकी—निद्रा आ गई थी और उसमें उन्होंने 10 स्वप्न देखे थे[1]। परन्तु, उन्होने निद्रा लेने का कभी प्रयत्न नहीं किया तथा द्रव्य निद्रा लेने की उनकी भावना न होने से इसे अनिद्रा ही कहा गया है। क्योंकि इस तरह आने वाली झपकी को भी वे सदा दूर करने का प्रयत्न करते रहे थे।

वे निद्रा को कैसे दूर करते थे, इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए।
निक्खम एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तगं॥6॥

छाया— संबुध्यमानः पुनरपि, अवगच्छन् भगवान् उत्थाय।
निष्क्रम्य एकदा रात्रौ, बहिश्चंक्रम्य मुहूर्तकम्॥

पदार्थ—पुणरवि—फिर भी। **संबुज्झमाणे भगवं**—निद्रा को प्रमाद रूप जानने वाले भगवान महावीर। **उट्ठाए**—सयमानुष्ठान मे व्यवस्थित होकर। **आसिंसु**—अप्रमत्त भाव से विचरण करते थे। सावधानी रखते हुए भी यदि कभी झपकी आने लगती तो। **एगया**—कभी सर्दी की। **राओ**—रात में। **बहि**—बाहर निकल कर। **मुहुत्तगं चंकमिया**—मुहूर्त्त मात्र चक्रमण करके पुन ध्यान एवं आत्मचिन्तन मे सलग्न हो जाते थे।

मूलार्थ—निद्रा रूप प्रमाद को ससार का कारण जानकर भगवान सदा अप्रमत्त भाव से सयम-साधना मे सलग्न रहते थे। यदि कभी शीत काल मे निद्रा आने लगती तो भगवान मुहूर्त्त मात्र के लिए बाहर निकल कर चंक्रमण करने लगते। वे थोड़ी देर घूम-फिर कर पुन ध्यान एवं आत्म-चिन्तन मे सलग्न हो जाते।

---

1 भगवती सूत्र

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके है कि भगवान महावीर सदा प्रमाद से दूर रहे हैं। उन्होने कभी भी निद्रा लेने का प्रयत्न नही किया। क्योकि निद्रा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है और दर्शनावरणीय कर्म ससार-परिभ्रमण का कारण है। वह अनन्त दर्शन शक्ति को आवृत किए हुए है। अत- भगवान उसे नष्ट करने के लिए उद्यत हो गए। निद्रा आने के मुख्य कारण हैं—अति भोग-विलास और अति आहार। भगवान ने भोगो का सर्वथा त्याग कर दिया था और आहार भी वे स्वल्प ही करते थे। उनके बहुत-से दिन तो तपस्या मे बीतते थे, पारणे के दिन भी वे रूक्ष एव स्वल्प आहार ही स्वीकार करते थे। इससे उनकी अप्रमत्त साधना मे तेजस्विता वढती गई। फिर भी यदि कभी उन्हे निद्रा आने लगती तो वे खडे होकर उसे दूर करते थे। यदि सर्दी के दिनों मे गुफा मे या किसी मकान मे स्थित रहते हुए निद्रा आने लगती तो वे वाहर खुले मे आकर थोडी देर चक्रमण करने-टहलने लगते। इस तरह भगवान सदा द्रव्य एव भाव से जागृत रहे। द्रव्य से उन्होने कभी निद्रा का सेवन नही किया और भाव से सदा रत्नत्रय की साधना मे संलग्न रहे।

भगवान की विहारचर्या में उत्पन्न होने वाले कष्टो का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य।
संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति॥7॥

अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्ति हत्थाय।
अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइ या पुरिसा य ॥8॥

छाया— शयनेषु तत्रोपसर्गा भीमाः आसन् अनेक रूपाश्च।
ससर्पाकाश्च ये प्राणाः अथवा ये पक्षिणः उपचरन्ति॥
अथकुचरा उपचरंति, ग्रामरक्षकाश्च शक्तिहस्ताश्च।
अथ ग्रामिका उपसर्गाः स्त्रिय एकाकिनः पुरुषाश्च॥

पदार्थ—तत्थ सयणेहिं—भगवान को उन बस्तियो मे। **जे**—जो। **ससप्पगा**—सर्पादि। **पाणा**—प्राणियों से युक्त है। **य**—और। **अदुवा**—अथवा। **पक्खिणो**—गृधादि पक्षी हैं। **य**—पुन। **उवचरंति**—भगवान के निकट मासादि का भक्षण करते है, वहां

उन्हे। **अणेगरूवा**—अनेक तरह के। **भीमा**—भयंकर उपसर्ग। **आसी**—हुए। **एगइ**—एकाकी विचरण करने वाले भगवान का। **कुचरा**—चोरादि। **उवचरंति**—आकर कष्ट देते थे। **य**—पुन । **अदुवा**—अथवा। **सत्तिहत्था**—सशस्त्र। **गामरक्खा**—ग्राम रक्षक—कोतवाल। **अदु**—अथवा। **गामिया इत्थी**—विषय-वासना से उन्मत्त हुई स्त्रिया। **य**—तथा। **पुरिसा**—पुरुष उन्हे। **उवसग्गा**—उपसर्ग—कष्ट देते थे।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानो मे जहा सर्पादि विषैले जन्तु एव गृध्रादि मासाहारी पक्षी रहते थे, उन्होने भगवान महावीर को अनेक कष्ट दिए।

इसके अतिरिक्त चोर, सशस्त्र कोतवाल, व्यभिचारी व्यक्ति, विषयोन्मत्त स्त्रियों एव दुष्ट पुरुषो के द्वारा भी एकाकी विचरण करने वाले भगवान महावीर को अनेक उपसर्ग प्राप्त हुए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथाओ में बताया गया है कि भगवान महावीर को साधनाकाल मे अनेक कष्ट उत्पन्न हुए। भगवान महावीर प्राय. शून्य मकानो, जंगलो एव श्मशानो मे विचरते रहे है। शून्य घरों मे सर्प, नेवले आदि हिंस्र जन्तुओं का निवास रहता ही है। अत वे भगवान को डक मारते, काटते और इसी तरह श्मशानो मे गृध्रादि पक्षी उन पर चोंच मारते थे। इसके अतिरिक्त चोर-डाकू एवं धर्म-द्वेषी व्यक्तियो तथा व्यभिचारी पुरुषों एवं भगवान के सौदर्य पर मुग्ध हुई कामातुर स्त्रियो ने भगवान को अनेक तरह के कष्ट दिए। फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नही हुए।

साधना मे स्थित साधक अपने शरीर एव शरीर सबन्धी सुख-दुःख को भूल जाता है। ध्यानस्थ अवस्था मे उसका चिन्तन आत्मा की ओर लगा रहता है, अत क्षुद्र जन्तुओ द्वारा दिए जाने वाले कष्ट को वह अनुभव नही करता। साधक के लिए बताया गया है कि ध्यान के समय यदि कोई जन्तु काट खाए तो उसे उस समय अपनी साधना से विचलित नही होना चाहिए। साधक को उत्पन्न होने वाले कष्ट को पूर्व अशुभ कर्म का कारण या निमित्त समझकर उसे समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे केवल शरीर को कष्ट पहुंचता है और यदि कोई शरीर का ही विनाश करने लगे, तब भी यही सोचना चाहिए कि ये मेरे शरीर का नाश कर रहे हैं, परन्तु मेरी आत्मा का नाश नहीं कर सकते। मेरी आत्मा शरीर से भिन्न है, अविनाशी

है। उसका नाश करने मे कोई समर्थ नहीं है। इस तरह आत्मा का चिन्तन करते हुए भगवान सभी कष्टो को समभाव पूर्वक सहते हुए कर्मो का नाश करने लगे।

हिस्र पशु-पक्षी एव अधार्मिक व्यक्ति भी एकान्त स्थान पाकर उन्हें कष्ट पहुचाते और कुछ कामुक स्त्रिया भी एकान्त स्थान पाकर उनसे विषय-पूर्ति की याचना करती। भगवान के द्वारा उनकी प्रार्थना के स्वीकार न करने पर वे उन्हे विभिन्न तरह के कष्ट देती। इस तरह उन पर अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल कष्ट आए। ऐसे घोर कष्टो को सहन करना साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर है। प्रतिकूल उपसर्गो की अपेक्षा अनुकूल उपसर्गो को सहन करना अत्यधिक कठिन है। साधारण साधक उनसे घबरा कर भाग खडा होता है। परन्तु भगवान महावीर समभाव से उन सब कष्टों पर विजय पाते रहे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं।
अवि सुब्भिदुब्भिगन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं॥9॥

छाया– ऐह लौकिकान् पारलौकिकान् भीमान् अनेकरूपान्।
अपि सुरभिदुरभि गन्धान्, शब्दान् अनेकरूपान्॥

पदार्थ–**इहलोइयाइं**–भगवान इस लोक के–मनुष्य एव तिर्यच द्वारा दिए जाने वाले एव। **परलोइयाइ**–देवो द्वारा दिए जाने वाले उपसर्गो को सहन करते थे, और। **अपि**–सभावनार्थक है। **सुब्भिदुब्भिगन्धाइं**–सुवासित एव दुर्वासित अथवा सुगन्धित एवं दुर्गन्धित पदार्थो को सूंघकर तथा। **अणेग रूवाइ सद्दाइं**–अनेक प्रकार के कटु एव मधुर शब्दो को सुनकर भगवान हर्ष एव शोक नही करते थे।

मूलार्थ–भगवान महावीर देव, मनुष्य एव पशु-पक्षियो द्वारा दिए गए उपसर्गो को समभावपूर्वक सहन करते थे और सुगन्धित एव दुर्गन्धित पदार्थो से आने वाली सुगन्ध एव दुर्गन्ध तथा कटु एव मधुर शब्द सुनकर उन पर हर्ष एव शोक नही करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर ने साधनाकाल मे सबसे अधिक कष्ट सहन किए। कहा जाता है कि 23 तीर्थकरों के कर्म और भगवान महावीर के कर्म बराबर थे। इन्हें नष्ट करने

के लिए भगवान साधनापथ पर चल पडे। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन से परीषहो की बिजलिया कड़कड़ाने लगीं। उनके उपसर्गो का प्रारम्भ एक ग्वाले की अज्ञानता से हुआ और अत भी ग्वाले के हाथ से हुआ। पहला और अन्तिम कष्ट-प्रदाता ग्वाला था। बीच मे अनार्य देश में मनुष्यों एवं देवो के द्वारा भी भगवान को अनेक कष्ट दिए गए। छह महीने के लगभग सगम देव ने भगवान को निरन्तर कष्ट दिया। एक रात्रि में उसने भगवान को 20 तरह के कष्ट दिये। फिर भी भगवान अपनी साधना मे मेरु पर्वत की तरह अडिग रहे। भगवान का हृदय वज्र से भी अधिक कठोर था, अत. वह दु.खो की महा आग से भी पिघला नही और मक्खन से भी अधिक सुकोमल था। अत वह पर दु ख को नहीं सह सका, कहा जाता है कि सगम के कष्टो से भगवान बिलकुल विचलित नहीं हुए। परन्तु अब वह जाने लगा तो भगवान के नेत्रो से भी आसू की दो बूदें ढुलक पडी। सगम के बढते हुए कदम रुक गए और उसने भगवान से पूछा कि जब मै आपको कष्ट दे रहा था, तब आपके मन मे दु.ख का सवेदन नही देखा। अब तो मै जा रहा हू, न तो आपको कष्ट दे रहा हू और न भविष्य मे ही दूगा, फिर आप के नेत्रो मे आसू की बूदे क्यो? भगवान ने कहा—हे सगम! मुझे कष्टों का बिलकुल दु ख नही है। मुझे अनेक देव एव मनुष्यो ने कष्ट दिए और उनसे मै कभी नही घबराया, परन्तु जितने भी व्यक्ति मुझे कष्ट देने आए थे, वे अपने अपराधों को समझकर उनकी क्षमा याचना करके और अपने हृदय मे सम्यग् ज्ञान की ज्योति जगा कर गए। परन्तु, तुम अपने दुष्ट कार्यो का बिना पश्चात्ताप किए और अपराध की क्षमा याचना किए बिना ही जा रहे हो। अभी तो तुम्हे ज्ञान नहीं है कि इसका परिणाम क्या आने वाला है, परन्तु, जब तुम्हे इन कर्मो का फल भोगना पडेगा, तब तुम्हारी क्या स्थिति होगी, तुम्हारी उस अनागत काल की स्थिति को देखकर मेरा मन दया से भर गया है। यह है भगवान महावीर की साधना, जो घोर कष्टो मे भी मुसकराते हुए साधना के पथ पर बढ़ते रहे। न ग्वाले के प्रहार से घबराए, न चंडकौशिक जैसे महाविषधर से डरे और न संगम जैसे देवों के द्वारा प्रदत्त घोर कष्टों से विचलित हुए। वे सदा दुःखो की सतप्त दुपहरियों में मुसकराते हुए साधना-पथ पर बढते रहे।

उनकी कष्टसहिष्णुता के विषय में सूत्रकार बताते हैं—

मूलम्– अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं।
अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाइ॥10॥

छाया– अध्यासयति सदा समितः, स्पर्शान् विरूपरूपान।
अरतिंरतिं अभिभूयते माहन, अबहुवादी॥

पदार्थ–विरूवरूवाइं–भगवान महावीर नाना प्रकार के। **फासाइं**–दुःख रूप स्पर्शो को। **अहियासए**–सहन करते थे। **सयासमिए**–वे सदा पाच समिति से युक्त रहते थे। **अरइं**–अरति और। **रइं**–रति को। **अभिभूय**–पराभूत करके। **माहणे**–भगवान महावीर। **अबहुवाई**–प्रमाण से बोलने वाले थे और। **रीयइ**–सयमानुष्ठान मे स्थित रहते थे।

मूलार्थ–भगवान महावीर विविध परीषहो को सहन करते थे। वे सदा पांचो समिति से युक्त रहते थे। उन्होने रति-अरति पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार सयमानुष्ठान मे स्थित भगवान महावीर बहुत कम बोलते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान साधनाकाल मे समिति-गुप्ति से सपन्न थे। न उन्हें भोगो के प्रति अनुराग था और न सयम मे अरति थी। ये दोनो महादोष साधक को साधनापथ से भ्रष्ट करने वाले है और भगवान ने इन दोनो का सर्वथा त्याग कर दिया था। वे साधनाकाल में अत्यन्त कम बोलते थे। आहार की याचना करते समय या किसी से विहार में मार्ग पूछने के लिए या किसी विशेष परिस्थिति मे–जैसे गोशालक द्वारा तिल के पौधे मे कितने वीज या जीव है के प्रश्न का उत्तर देने तथा तेजोलब्धि के प्राप्त होने की विधि वताने के लिए ही उन्हे बोलना पडा था। इसके अतिरिक्त वे सदा मौन ही रहते थे और इस तरह साधना मे संलग्न रहते हुए उन्होंने सब परीषहो पर विजय प्राप्त की।

भगवान के ऊपर आए हुए उपसर्गो का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्– स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु एगचरा वि एगयाराओ।
अव्वाहिय कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिपन्ने॥11॥

छाया– स जनैस्तत्र (पृष्ठ) पप्रच्छुधएकचरा अपि एकरात्रो।
अव्याहृते कषायिताः प्रेक्षमाणः समाछियप्रतिज्ञा।

पदार्थ—**स**—भगवान महावीर। **जणेहिं**—लोगों के द्वारा। **पुच्छिसु**—यह पूछने पर कि तुम कौन हो? यहां क्यों खड़े हो, तथा। **एगया**—कभी। **राओ**—रात्रि में। **एगचर वि**—अकेले घूमने वाले व्यभिचारी व्यक्तियो के उक्त प्रश्न पूछने पर भगवान। **अव्वाहिए**—उसका उत्तर नहीं देते, इस कारण वे। **कसाइया**—क्रोधित होकर उन्हे मारने लगते, फिर भी भगवान। **समाहिं**—समाधि मे। **पेहमाणे**—स्थित रहते। **अपडिपन्ने**—परन्तु, उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नही रखते।

मूलार्थ—उन शून्य स्थानों मे स्थित भगवान को राह चलते व्यक्ति एव दुराचार का सेवन करने के लिए एकान्त स्थान की खोज करने वाले व्यभिचारी व्यक्ति पूछते कि तुम कौन हो? यहां क्यो खडे हो? भगवान उनका कोई उत्तर नही देते। इससे वे क्रुद्ध होकर उन्हे मारने-पीटने लगते, फिर भी भगवान शान्त भाव से परीषहो को सहन करते, परन्तु वे उनसे प्रतिशोध लेने की भावना नही रखते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर साधनाकाल मे प्राय शून्य घरों मे ठहरते और वही ध्यान मे संलग्न रहते। ऐसे स्थानो मे प्रायः चोर या व्यभिचारी या जुआरी आदि व्यसनी लोग छिपा करते थे या छिपकर दुर्व्यसनो का सेवन किया करते थे। इसलिए कुछ लोग उन्हे चोर समझ कर मारते-पीटते एव अनेक तरह से कष्ट देते। कुछ दुर्व्यसनी एव व्यभिचारी व्यक्ति वहा अपनी दुर्वृत्ति का पोषण करने पहुचते और वहा भगवान को खडे देखकर उन्हे पूछते कि तुम कौन हो और यहा क्यो खडे हो? भगवान उसका कोई उत्तर नही देते। तब वे उन्हे अपने दुराचार के पोषण मे बाधक समझ कर आवेश मे आकर उन्हे अनेक तरह के कष्ट देते। इस तरह अनेक व्यक्ति भगवान को महान कष्ट देते थे। फिर भी वह महापुरुष सुमेरु पर्वत की तरह अपनी साधना मे स्थित रहता। वचन और शरीर से तो क्या, मन से भी वे कभी विचलित नही हुए।

इस तरह कष्ट देने वाले प्राणियो पर भी मैत्री भाव रखते हुए भगवान घोर कष्टो को समभाव से सहते रहे और इस साधना से भगवान ने कर्म समूह का नाश कर दिया। अत कर्मो की निर्जरा के लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने ऊपर आने वाले परीषहो को समभाव से सहन करे। साधक को सदा-सर्वदा ध्यान रखना चाहिए कि वह साधनाकाल में जहा तक संभव हो सके मौन रहे, परीषहो के समय सहिष्णु

रहे, उस समय भी समाधि भाव मे स्थित रहे और प्रतिशोध लेने की भावना न रखे।

मौन जीवन की बहुत बड़ी शक्ति है। बोलने से मनुष्य की शक्ति का व्यय होता है। वैज्ञानिको ने अन्वेषण के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जितना अधिक बोलता है, वह उतना ही जल्दी मरता है। क्योकि उसकी शक्ति अधिक नष्ट होती है और शक्ति के क्षय होने का अर्थ है—मृत्यु को प्राप्त करना। जैनागमो मे आयुष्य का नाप वर्षो, महीनो, दिनों, घड़ियो एव मिनटो मे नही, अपितु श्वासोच्छ्वास में माना गया है। मनुष्य जितना तेज चलता है, जितना अधिक एवं जोर से बोलता है, जितना ज्यादा शयन करता है, जितना ज्यादा भोग-विलास एव व्यसनो में संलग्न रहता है, उसका श्वास उतनी ही तीव्र गति से चलता है और वह अपनी सचित आयु कर्म की पूजी को थोडे समय मे ही भोगकर आगे के लिए चल पडता है और जो व्यक्ति चलने, बैठने, बोलने, खाने-पीने एव भोग भोगने मे जितना अधिक संयम एवं विवेक रखता है, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। चूँकि मौन मे साधक के श्वासोच्छ्वास तेजी से नही चलते, इसलिए मौन रखना एव स्वल्प, धीमे और मृदु स्वर मे बोलना जीवन को सभाल कर रखना है। अस्तु, वैज्ञानिक एव आगमिक दृष्टि से अधिक बोलना अहितकर है और मौन रखना या मर्यादित बोलना हितप्रद है।

अधिक बोलने से मनुष्य की शक्ति का क्षय भी होता है और साथ मे मानसिक चिन्तन भी बिखर जाता है और मौन रखने से मनुष्य की वह शक्ति चिन्तन मे लगी रहती है और उससे आत्मा का विकास होता है। इसलिए मौन आत्मविकास मे सहायक है।

अधिक बोलने से व्यर्थ के झगडे वढ़ते है और फिर मनुष्य किसी भी बात को सहन नही कर सकता ओर साधक के लिए यह सबसे बड़ा दोष है। चूँकि अधिक बोलने से सहिष्णुता का नाश होता है, इसलिए मौन सहिष्णुता को बढ़ाने वाला है। सहिष्णुता से संसार के सघर्ष समाप्त हो जाते है और मन समाधि भाव में सलग्न हो जाता है। इससे वैर-विरोध एव प्रतिशोध की भावना का नाश हो जाता है। इस तरह शुद्ध भाव से रखा गया मौन सर्व गुणो में अभिवृद्धि करने वाला है। यह लोकोक्ति भी बिलकुल सही है—सब काम सिद्ध करने के लिए 'एक नकार भली।' अर्थात् मनुष्य

किसी भी संघर्ष का उत्तर न देकर आत्मचिन्तन में या अपने दोष देखने में लगा रहे तो उसके समस्त कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते है। श्रमण महावीर भी साधनाकाल मे बहुत कम बोलते थे।

किसी भी व्यक्ति के द्वारा अधिक आग्रहपूर्वक पूछने पर भगवान ने क्या उत्तर दिया, इस सम्बन्ध में सूत्रकार कहते है–

मूलम्– अयमंतरंसि को इत्थ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ॥12॥

छाया–अयमन्तः कोऽत्र! अहमस्मीति भिक्षुः आहृत्य।
अयमुत्तमः सधर्मः, तूष्णीकः कषायितेपिध्यायति ॥

पदार्थ–अयमंतरंसि–इस स्थान में यह। **कोइत्थ?**–कौन है? ऐसा पूछने पर भी भगवान मौन ही रहते। जब कोई विशेष कारण उपस्थित होता, तब वे केवल इतना कहते कि। **अहमंसित्ति भिक्खु**–मै भिक्षु हू। **आहट्टु**–यह सुनकर यदि वे कहते कि तुम यहां से चले जाओ तो भगवान उस जगह को अप्रीति का स्थान समझ कर वहा से चले जाते। और यदि वे जाने के लिए न कहकर केवल उन पर क्रोध करते तो भगवान मौन वृति से वही पर स्थित रहते और उनके द्वारा दिए गए उपसर्ग को समभाव पूर्वक सहन करते। **से**–वे। **अयमुत्तमे धम्मे**–यह समझ कर कि आत्म चिन्तन एव सहिष्णुता सर्व श्रेष्ठ धर्म है, अत वे। **तुसिणीए**–मौन रह कर। **कसाइए**–उनके क्रोधित होने पर भी। **झाइ**–ध्यान–आत्मचिन्तन से विचलित नही होते थे।

मूलार्थ–इस स्थान के भीतर कौन है? इस प्रकार वहा पर आए हुए व्यभिचारी व्यक्तियो के पूछने पर भगवान मौन रहते। यदि कोई विशेष कारण उपस्थित होता तो वे इतना ही कहते कि मै भिक्षु हू। इतना कहने से भी यदि वे उन्हें वहा से चले जाने को कहते तो भगवान उस स्थान को अप्रीति का कारण समझ कर वहां से अन्यत्र चले जाते। यदि वे व्यक्ति उन पर क्रुद्ध होकर उन्हें कष्ट देते तो भगवान समभाव पूर्वक उसे सहन करते और ध्यान रूप धर्म को सर्वोतम जानकर उन गृहस्थो के क्रुद्ध होने पर भी वे मौन रहते हुए अपने ध्यान से विचलित नही होते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे पूर्व गाथा की बात को ही दुहराया गया है। कुछ दुर्व्यसनी व्यक्तियों द्वारा पूछने पर कि तुम कौन हो? यहा क्यों खडे हो? भगवान मौन रहते। यदि वे अधिक आग्रहपूर्वक पूछते और उन्हे उत्तर देना आवश्यक होता तो भगवान इतना ही कहते कि—"मै भिक्षु हू।" यदि इस पर भी वे सन्तुष्ट नहीं होते और भगवान को वहां से चले जाने के लिए कहते तो भगवान शात भाव से चले जाते और यदि वे जाने के लिए नही कहते तो भगवान वही अपने ध्यान एवं चिन्तन मे सलग्न रहते और उनके द्वारा दिए गए परीषहो को समभाव से सहते। साधक जिस स्थान मे स्थित है, यदि वह स्थान अप्रीति का कारण बनता है तो साधक को मकान मालिक के यह कहने पर कि तुम यहा से चले जाओ, साधक को अन्य स्थान मे चले जाना चाहिए और यदि वह स्थान अप्रीति का कारण नही बनता है तो उसे वही अपनी साधना मे सलग्न रहते हुए परीषहों को सहन करना चाहिए।

भगवान की शीतकाल की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते।
तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति॥13॥

छाया— यस्मिनप्येके प्रवेयन्ते (प्रवेदयन्ति) शिशिरे मारुते प्रवाति।
तस्मिनप्येके अनगारा· हिमवाते निवातमेषयन्ति॥

पदार्थ—सिसिरे—शीतकाल में। **सिप्पेगे**—जिस समय शीत पडता है, तब कई एक व्यक्ति वस्त्रादि के अभाव के कारण। **पवेयन्ति**—कांपते रहते है, और। **मारुए पवायन्ते**—हिम के पडने से शीतल वायु चलता है। **तंसिप्पेगे**—उसमे कई एक। **अणगारा**—साधु। **हिमवाय**—हिम बर्फ के गिरने पर। **निवाय मेसन्ति**—हवा रहित स्थान की गवेषणा करते है।

मूलार्थ—जिस समय शीत पडता है, तब कई एक साधु कापने लगते है। शिशिर काल में जब शीतल पवन चलता है, उस समय कई एक अनगार हिम के पड़ने पर निर्वात—वायुरहित स्थान की गवेषणा करते है।

मूलम्– संघाडओ पवेसिस्सामो एहाय समादहमाणा।
पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमग संफासा॥14॥

छाया– संघाटीः प्रवेक्ष्यागः एधाञ्च समादहन्तः।
पिहिताः वा शक्ष्यामः अतिदुःख हिम संस्पर्शाः॥

पदार्थ–हिमग संफासा–हिम जन्य शीत स्पर्श। **अइदुक्खे**–अत्यन्त दुःख देने वाला है, अतः कई साधु सोचते हैं कि। **संघाडओ**–शीत निवारण के लिए चादर आदि वस्त्र को। **पवेसिस्सामो**–पहनेगे। **य**–और। **एहायसमाहमाणा**–वे जलाने के लिए काष्ठ ढूढते हैं। **पिहिया व सक्खामो**–कम्बल आदि वस्त्र पहनते है।

मूलार्थ–शीत काल मे जब ठडी हवा चलती है एवं बर्फ गिरती है, उस समय सर्दी को सहन करना कठिन होता है। उस समय कई साधु यह सोचते है कि सर्दी से बचने के लिए वस्त्र पहनेंगे या बन्द मकान मे ठहरेंगे। कई अन्य मत के साधु-सन्यासी शीत निवारणार्थ अग्नि जलाने के लिए ईधन खोजते हैं एवं कम्बल धारण करते है।

मूलम्– तंसि भगवं अपडिन्ने अहे बिगडे अहीयासए।
दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए॥15॥

छाया– तस्मिन् भगवान अप्रतिज्ञः अधोविकटे अध्यासयति।
द्राविक· निष्क्रम्य, एकदा रात्रौ स्थिती भगवान समतया।

पदार्थ–भगवं–भगवान। **तंसि**–से शीतकाल मे। **अपडिन्ने**–निर्वात–वायु-रहित स्थान की याचना रूप प्रतिज्ञा से रहित होकर। **अहीयासए**–शीत परीपह को समता पूर्वक सहन करते। **अहे बिगडे**–चारो तरफ की दीवारों से रहित केवल उपर से आच्छादित स्थान मे ठहर कर। **भगवं**–भगवान। **एगया**–कभी। **राओ**–रात्रि मे। **निक्खम्म**–बाहर निकल कर। **ठाइए**–वहां मूहूर्त मात्र ठहर कर। **समियाए**–फिर निवास स्थान मे आकर। समभाव से शीत परीषह को सहन करते और। **दविए**–सयम-साधना में सलग्न रहते थे।

मूलार्थ–श्रमण भगवान महावीर शीतकाल में वायुरहित चारों तरफ से बन्द मकान में ठहरने की प्रतिज्ञा से रहित हो विचरते थे। वे चारो ओर दीवारों से रहित

केवल ऊपर से आच्छादित स्थान में ठहर कर एव सर्दी मे बाहर आकर शीत परीषह को समभाव पूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत तीन गाथाओ में शीत परीषह का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जब हेमन्त ऋतु का पदार्पण होता है, सर्दी पड़ने लगती है, उस समय सब लोग कापने लगते है। जब शीत काल की ठण्डी हवा चलने लगती है तो सब लोग घबरा कर गरम स्थानो मे स्थित होने का प्रयत्न करते है। साधारण व्यक्तियो का तो कहना ही क्या? साधु भी बर्फ पड़ने एव ठण्डी तथा बर्फीली हवा के चलने पर निर्वात अनुकूल स्थानों मे चले जाते। उस समय पार्श्वनाथ भगवान के शासन में विचरने वाले मुनि थे। वे सर्दी के मौसम मे अनुकूल स्थान ढूढने का प्रयत्न करते थे। अन्य सप्रदायो या पथ के साधु भी अनुकूल स्थानों की खोज में फिरते रहते थे।

कई एक साधु शीत से बचने के लिए वस्त्र—चादर-कम्बल आदि रखते थे। कुछ अन्य मत के साधु अग्नि तापते थे। इस तरह वे शीत निवारण के लिए मकान, वस्त्र, गरम कम्बल एव आग आदि का सहारा लेते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि शीत परीषह को सहन करना कठिन है। कोई मुनि निर्दोष साधनो से यथाशक्य शीत से बचने का प्रयत्न करते है, तो जीवाजीव के ज्ञान से रहित अपने आप को साधु कहने वाले कुछ सन्न्यासी-तापस आदि सदोष-निर्दोष साधनो के विवेक से रहित होकर शीत से बचने का प्रयत्न करते है।

परन्तु ऐसे समय मे भगवान महावीर शीत परीषह पर विजय प्राप्त करके अपने आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे। हेमन्त काल मे निर्वात—चारो ओर से घिरे हुए मकान मे नही ठहरते थे और शीत निवारण के लिए अपने शरीर पर वस्त्र भी नही रखते थे। दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान ने जो देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया था, वह उनके पास 13 महीने तक रहा। परन्तु इस काल में उन्होंने उसे अपने शरीर पर धारण नहीं किया। उसके बाद तो उन्होने वस्त्र स्वीकार ही नही किया। इस तरह भगवान सर्दी से बचने के लिए न तो आवृत मकान ही ढूंढते, न वस्त्र धारण करते और न आग ही जलाते एव तापते थे। भगवान महावीर तो क्या, कोई भी जैन मुनि शीत निवारण के लिए अग्नि का आरम्भ नही करते है।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसहार करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एस विहि अणुक्कन्तो माहणेण मइमया।
बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीन्ति॥16॥ त्तिबेमि

छाया— एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन भगवता एवं रीयन्ते॥

पदार्थ—मइमया—मतिमान। **माहणेण**—श्रमण-भगवान महावीर ने। **एस**—इस। **विहि**—विधि का। **अणुक्कन्तो**—आचरण किया। **अपडिण्णेण**—अप्रतिबन्ध विहारी होने के कारण। **भगवया**—भगवान ने। **बहुसो**—अनेक बार इस विधि का पालन किया। **एवं**—इसी प्रकार अन्य साधु भी। **रीयन्ति**—आत्मविकासार्थ इस विधि का आचरण करते है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—परम मेधावी भगवान महावीर ने निदान रहित होकर अनेक बार इस विधि का परिपालन किया और अपनी आत्मा का विकास करने के लिए अन्य साधु भी इसका आचरण करते हैं। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उद्देशक मे बताई गई विधि का भगवान महावीर ने स्वयं पालन किया था। प्रथम उद्देशक के अन्त मे भी उक्त गाथा दी गई है। अत इसकी व्याख्या वहा की गई है। पाठक वही से देख लें।

'त्तिबेमि' की व्याख्या पूर्ववत समझे।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

तृतीय उद्देशक

द्वितीय उद्देशक में भगवान जिन बस्तियो मे ठहरे थे, उनका वर्णन किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक मे उक्त स्थानो मे भगवान को जो परीषह उत्पन्न हुए और भगवान ने जिस सहिष्णुता से उन्हे सहन किया, उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य।
अहियासए सयासमिए, फासाइं विरूव रूवाइं॥1॥

छाया— तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शाश्च तेजः स्पर्शाश्च दंशमशकांश्च।
अध्यासयति सदासमितः, स्पर्शान् विरूपरूपान्॥

पदार्थ—तणफासे—तृण स्पर्श। **य**—और। **सीयफासे**—शीत स्पर्श। य—और। **तेउफासे**—उष्ण स्पर्श। **य**—और। **दंसमसगे**—डास-मच्छरादि के स्पर्श। **य**—और। **विरूवरूवाइं**—अन्य विविध प्रकार के। **फासाइं**—स्पर्शो को। **सया**—भगवान सदा। **समिए**—समिति—समितियो से युक्त हो कर। **अहियासए**—सहन करते थे।

मूलार्थ—समिति-गुप्ति से युक्त श्रमण भगवान महावीर तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, दंशमशकस्पर्श और नाना प्रकार के स्पर्शो को, सदा समभावपूर्वक सहन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि भगवान को तृण-स्पर्श, शीतस्पर्श आदि के परीषह उत्पन्न होते थे। भगवान ने दीक्षा लेते समय जो देवदूष्य वस्त्र ग्रहण किया था, उसके अतिरिक्त अन्य वस्त्र नही लिया। वह वस्त्र भी उनके पास 13 महीने तक रहा था। उसके रहते हुए भी भगवान उसे शरीर पर धारण नहीं करते थे। वे बैठने के लिए तृण के आसन का उपयोग करते थे। अत वस्त्राभाव मे तृण का चुभना

स्वाभाविक है और उससे कष्ट का होना भी सहज ही समझ में आ जाता है। इसी तरह वस्त्र का उपयोग न करने के कारण भगवान को सर्दी एवं गर्मी का कष्ट भी होता था और मच्छर आदि भी डक मारते थे। इस तरह भगवान को ये परीषह उत्पन्न होते; फिर भी भगवान अपने ध्यान से विचलित नहीं होते थे। वे समस्त परीषहों को समभाव-पूर्वक सहते हुए आत्म-चिन्तन मे सलग्न रहते थे।

इतना ही नहीं, अपितु भगवान ने अनेक बार परीषहों को आमत्रण भी दिया, अर्थात् वे कभी भी कष्टों से घबराए नहीं। परीषह सहने के लिए ही भगवान ने लाट–अनार्य देश मे भी विहार किया। इस सम्बन्ध मे सूत्रकार कहते हैं–

मूलम्– अह दुच्चर लाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च।
पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥2॥

छाया– अथ दुश्चरलाढं, चीर्णवान् वज्रभूमिं च शुभ्रभू मिच।
प्रान्तां शय्यां सेवितवान् आसनानि चैव प्रान्तानि॥

पदार्थ–**अह**–अथ भगवान। **दुच्चर**–दुश्चर दुर्गम्य। **लाढं**–लाढ़ नामक देश में। **अचारी**–विचरे थे। **वज्ज भूमि च**–उस देश की वज्र और। **सुब्भभूमिं च**–शुभ भूमि मे और। **पंतं सिज्जं सेविंसु**–प्रान्त शय्या का सेवन किया। **च**–और। **एव**–निश्चय अवधारणार्थ मे। **आसणगाणि पंताणि**–प्रान्त आसन का सेवन किया।

मूलार्थ–भगवान ने दुश्चर लाढदेश की वज्र और शुभ्र भूमि मे विहार किया और प्रान्तशय्या एव प्रान्त-आसन का सेवन किया।

हिन्दी-विवेचन

यह हम पहले देख चुके है कि भगवान महावीर के कर्म का वन्धन इस काल चक्र मे हुए शेष सभी तीर्थकरो से अधिक था। अत उसे तोडने के लिए भगवान ने अनार्य देश मे विहार किया। जिस दिन भगवान ने दीक्षा ली, उसी दिन एक ग्वाले ने भगवान पर चाबुक का प्रहार किया था। उस समय इद्र ने आकर भगवान से प्रार्थना की थी कि प्रभो! साढे बारह वर्ष तक आपको देव-मनुष्यों द्वारा अनेक कष्ट मिलने वाले है, अत आपकी आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा मे रहू। उस समय भगवान ने

कहा—हे इन्द्र! जितने भी तीर्थकर एव सर्वज्ञ हुए है, वे स्वय ही अपने कर्म काट कर हुए हैं। अत: प्रत्येक आत्मा को अपने बाधे हुए कर्मो को तोडना होगा। दूसरे की सहायता से कर्मो को नहीं तोड़ा जा सकता है। तुम्हारे साथ रहने से तुम्हारे डंडे के भय से लोग मुझे कष्ट नही देंगे, इससे मेरी भावना मे सहिष्णुता का वेग नहीं आ सकेगा और परिणामस्वरूप कर्मो की निर्जरा भी रुक जाएगी। अत: देवेन्द्र! कोई भी अर्हन्त अपने कर्मो को तोडने के लिए देव या देवेन्द्र या किसी अन्य शक्ति का सहारा नही लेते हैं। वे स्वयं अपनी शक्ति से अपने कर्मो का नाश करते है।

इस तरह अपने कर्मो का क्षय करने के लिए भगवान धर्म से अपरिचित लाढ देश (अनार्य भूमि) मे चले गए। यह देश वज्र, कठोर और शुभ्र भूमि वाला है। परन्तु अधिकाश भाग वज्र भूमि वाला ही है। यहा के लोगों का हृदय भी वज्र की तरह ही कठोर था। उस देश मे भगवान को स्थान भी तुच्छ ही मिलता था और शय्या—तृण आदि भी तुच्छ ही मिलते थे।

पन्नवणा सूत्र के प्रथम पद मे साढे पच्चीस आर्य देशो के नाम गिनाए है। उन मे लाढ देश का नाम नही होने से यह अनार्य देश ही प्रतीत होता है। इस देश के लिए दिया गया 'दुश्चर' विशेषण और स्थान एव शय्या के साथ दिया गया प्रान्त तुच्छ शब्द का प्रयोग इस बात की ओर सकेत करता है कि यह देश आर्य देश के निकट एक अनार्य देश था।

प्रस्तुत गाथा मे दिए गए लक्षणो से ऐसा प्रतीत होता है कि यह देश तक्षशिला के निकट था। कल्प सूत्र की एक कथा मे बताया गया है कि भगवान महावीर जब 'सेविया' श्वेतवित्ता नगरी में पधारे तो वहा प्रदेशी राजा ने उनकी बहुत भक्ति की थी। सभव है कि उस नगरी के ऊपर के प्रदेश मे भगवान पधारे हो, जहा उन्होंने अनेक परीषहो को सहन किया था।

प्रस्तुत गाथा में 'पत'—प्रान्त शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है। उसमे पहले प्रान्त शब्द की व्याख्या अर्धमागधी कोष मे इस प्रकार दी है—1—तुच्छ, 2—खराब, निकम्मा, निम्न श्रेणी का, बिना रस का, 3—भोजन करने के बाद बची हुई जूठन, 3—धर्म भ्रष्ट हुआ व्यक्ति, 4—खराब लक्षण, 5—अपशब्द, 6—अन्तवर्ती,

7–इन्द्रिय प्रतिकूल, 8–दरिद्र, निर्धन, 9–जीर्ण, फटा हुआ है, 10–नष्ट हुआ पदार्थ[1]।

दूसरे प्रान्त शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने भी यही बताया है कि जहाँ तुच्छ भोजन एव तुच्छ तृण, तख्त आदि का आसन मिलता था[2]।

इन सबसे लाढ़ देश के व्यक्ति अनार्य प्रतीत होते है। उस देश मे भगवान के विचरण का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– लाढेहिं तस्सुवस्सग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंहिंसु निवइसु॥3॥

छाया– लाढेषु तस्योपसर्गाः बहवः जानपदाः लूषितवन्तः।
अथ रुक्षदेश्यं भक्तं, कुर्कुराः तत्र जिहिसु निपेतुः॥

पदार्थ–**लाढेहिं**–लाढ़ देश मे। **तस्सुवस्सग्गा**–उस भगवान को अनेक उपसर्ग हुए। **बहवे**–बहुत-से। **जाणवया**–लोग। **लूसिंसु**–उन्हे दांत आदि से काटते थे। **अह**–अन्य। **लूह देसिए**–रूक्ष। **भत्ते**–अन्न-पानी मिलता था और। **तत्थ**–उस देश मे उन्हे। **कुक्कुरा**–कुत्ते भी। **हिंहिंसु**–काटते थे और वे भगवान को। **निवइसु**–काटने के लिए छोडे जाते थे।

मूलार्थ–लाढ देश मे श्री भगवान को बहुत-से उपसर्ग हुए। बहुत-से लोगो ने उन्हे मारा-पीटा एव दातो तथा नखो से उनके शरीर को क्षत-विक्षत किया। उस देश मे भगवान ने रूक्ष अन्न-पानी का सेवन किया। वहा पर कुत्तो ने भगवान को काटा। कई कुत्ते क्रोध मे आकर भगवान को काटने के लिए दौड़ते थे।

---

1 पत-त्रि (प्रान्त) 1 तुच्छ, नढारू, खराब, हलकु, रस बिना नु। 2 जमता बाकी रहेल खुराक, 3. धर्म भ्रष्ट थयेल, 4 खराब लक्षण, 5 अप शब्द-गा, 6. अन्तवर्ती, 7 इन्द्रिय प्रतिकूल, 5 दरिद्रनिर्धन, 9 जीर्ण, फाट्यु तूट्यू, 10. व्यापन्न–विनष्ट। –अर्धमागधी कोष, पृष्ठ 288

2 प्रान्तानि चासनाभि पाशुत्करशर्करालोष्टद्यु पचितानि च काष्ठाभि च दुर्घटितान्या-सेवितानि। –आचाराग वृति।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर जब लाढ देश में पधारे तो वहा के लोगों ने उनके साथ क्रूरता का व्यवहार किया। उन्होने भगवान को डडों से, पत्थरों से मारा, दांतो से काटा और कुत्तो की तरह उन पर टूट पडे। इस तरह वहा के निवासियो ने भगवान को अनेक कष्ट दिए। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका जीवन कितना भयकर था एव उनका कर्म कितना क्रूर था। इसी अपेक्षा से वहा के लोगो को अनार्य कहा है।

अनार्य व्यक्तियो के हृदय मे दया, प्रेम-स्नेह एवं आतिथ्य-सत्कार की भावना कम होती है। इस तरह अनेक कष्ट सहने पर भी भगवान को उपयुक्त आहार नहीं मिलता था। यो भगवान तपस्या करते थे, उनका बहुत-सा समय तप मे ही बीतता था और पारणे के दिन भी तुच्छ एव रूक्ष आहार उपलब्ध होता था।

इतना कष्ट होते हुए भी भगवान ने कभी दु ख की अनुभूति नही की। उन्होने उसे निवारण करने का प्रयत्न भी नही किया। यदि वे चाहते तो सारे बाह्य कष्टो को भगा सकते थे। उनमे बडी शक्ति थी। परन्तु महान् पुरुष वही होता है, जो अपनी शक्ति का उपयोग शरीर के क्षणिक सुखो के लिए न करे, आत्मा के अनन्त सुखो को प्राप्त करने के लिए करता है या जो सामर्थ्य होते हुए भी आने वाले कष्टों को हंसते हुए सह लेता है।

भगवान महावीर अपने ऊपर आने वाले कष्टो को समभाव पूर्वक सहते हुए लाढ देश मे विचरे, इसका उल्लेख करते हुए फिर सूत्रकार कहते है–

मूलम्– अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे।
छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुडा दसंतत्ति॥4॥

छाया– अल्पः जनः निवारयति लूषकान् दशतः।
छुच्छुकारेति आहंसु श्रमणं कुर्कुरा दशन्तु इति॥

पदार्थ–अप्पे–बहुत थोडे। **जणे**–मनुष्य ऐसे है, जो। **लूसणाए**–काटते हुए कुत्तों को। **निवारेइ**–हटाते हैं, प्रायः ऐसे व्यक्ति है जो। **दसमाणे सुणए**–काटते हुए कुत्तो का। **छुच्छुकारिति**–छू-छू करते हुए। **आहंसु**–भगवान के पीछे लगाते हैं और ऐसा प्रयत्न करते है कि। **समणं**–श्रमण भगवान को। **कुक्कुडा**–ये कुत्ते। **दसंतत्ति**–काटें।

मूलार्थ—उस प्रदेश मे ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम थे, जो भगवान को काटते हुए कुत्तो से छुडाते थे। प्राय· वहा के लोग काटते हुए कुत्तों को छू-छू करके काटने के लिए और अधिक प्रोत्साहित करते थे। वे ऐसा प्रयत्न करते थे कि ये कुत्ते श्रमण भगवान महावीर को काटे।

हिन्दी-विवेचन

पूर्व गाथा मे बताया गया है कि अनार्य लोग भगवान पर कुत्तो की तरह दांतों का प्रहार करते थे। प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि वे जब किन्ही कुत्तों को भगवान पर झपटते हुए देखते तो उन्हें दूर नही हटाते, अपितु तमाशा देखने के लिए वहा खड़े हो जाते और उन्हे छू-छू करके और अधिक काटने की प्रेरणा देते थे। ऐसे क्रूर हृदय के लोगों मे कभी कोई एक-आध व्यक्ति ही ऐसा निकलता, जो कुत्तो को दूर करता था। भगवान स्वय कुत्तो को हटाते नही थे। वे इस कार्य को निर्जरा का कारण समझ कर समभावपूर्वक सहन करते थे। यह उनकी सष्णिुता एव वीरता का एक अनूठा उदाहरण है।

उस प्रदेश मे दिए गए कष्टों के विषय मे सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एलिक्खएजणा भुज्जो, वहवे वज्ज भूमि फरुसासी।
लट्ठिं गहाय नालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु॥5॥

छाया— ईदृक्षान् जनान् भूय· वहव· वज्र भूमौ परुषाशिन·।
यष्टिं गृहीत्वा नालिकां, श्रमणाः तत्र विजहुः।

पदार्थ—**एलिक्खए**—वहां इस प्रकार के स्वभाव वाले। **बहवे जणा**—बहुत से लोग थे। उस देश मे श्रमण भगवान महावीर। **भुज्जो**—पुन· पुन· विचरे और उस। **वज्जभूमि**—वज्र भूमि में बहुत-से लोग। **फरुसासी**—तामसी भोजन करने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे, अत·। **समणा**—बौद्ध आदि भिक्षु। **य**—अथवा। **नालियं लट्ठि गहाए**—अपने शरीर से चार अंगुल अधिक। **लट्ठिं**—लकडी लेकर। **तत्थ**—उस देश मे। **विहरिसु**—विचरते थे।

मूलार्थ—इस प्रकार के अनार्य देश में श्रमण भगवान ने पुन·-पुनः विहार किया था। उस वज्र भूमि मे निवसित क्रोधी मनुष्य भिक्षुओं के पीछे कुत्ते छोड़ देते

थे। अत बौद्ध भिक्षु या दूसरे परिव्राजक आदि साधु अपने शरीर से चार अगुल अधिक लम्बी लाठी का नालिका लेकर उस देश मे विचरते थे, जिससे कुत्ते उन पर प्रहार न कर सके।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में लाढ देश के लोगो के खान-पान एवं जीवन-व्यवहार का वर्णन किया गया है। इसमे बताया गया है कि वे लोग तुच्छ एव तामस आहार करते थे। इससे उनकी वृत्ति क्रूर हो गई थी। आहार का भी मनुष्य के जीवन पर असर होता है। तामस पदार्थो का अधिक उपभोग करने वाले व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है। उनका स्वभाव भी अति क्रूर था। वे साधु सन्यासियो के पीछे कुत्ते छोड़ देते थे। इस निए बौद्ध भिक्षु आदि साधु-सन्यासी भिक्षा आदि को जाते समय अपने शरीर से 4 अगुल ऊचा डण्डा रखते थे। इस तरह वे कुत्तों से अपना बचाव करते थे। परन्तु, भगवान महावीर पूर्ण अहिसक थे। वे किसी भी प्राणी को भयभीत नही करते थे। इसलिए अपने हाथ मे डण्डा आदि कोई भी हथियार नही रखते थे। वे किसी भी सकट से भयभीत नही होते थे। वे प्रत्येक सकट का स्वागत करते थे एव समभाव पूर्वक उसे सहन करते थे। भगवान का उस प्रदेश मे भ्रमण अपने कर्मो की निर्जरा एव अज्ञान अंधकार मे भटकते हुए प्राणियो के अभ्युदय के लिए होता था।

प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त समण—श्रमण शब्द यहां बौद्ध भिक्षुओ के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। क्योकि, जैन एव बौद्ध दोनो सप्रदायो मे मुनि या भिक्षु के लिए श्रमण शब्द प्रचलित था। भगवान महावीर एव बुद्ध दोनो समकालीन थे और तथागत बुद्ध एव उनके भिक्षुओ ने भी लाढ देश मे भ्रमण किया था। वे जब ऐसे प्रदेश मे जाते थे तो कुत्ते आदि के भय से बचने के लिए साथ मे डण्डा रखते थे। परन्तु भगवान बिना किसी शस्त्र को धारण किए निर्भय होकर विचरते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं।
संलुञ्चमाणा सुणएहिं, दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं॥6॥

छाया— एवमपि तत्र विहरन्तः स्पृष्टपूर्वाः आसन् श्वभिः।
संलुञ्च्यमानाः श्वभिः, दुश्चराणि तत्र लाढेषु॥

पदार्थ—एवंपि—इस प्रकार से ही। **तत्थ**—उस देश में। **विहरंता**—विचरते हुए बौद्धादि भिक्षुगण। **पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं**—कुत्तो से स्पर्शित हुए। **संलुंचमाणा सुणएहिं**—कई बार इधर-उधर घूमते हुए उन्हें कुत्तो ने भी काट लिया था। **तत्थ**—अत· उस। **लाढेहिं**—लाढ देश मे। **दुच्चराणि**—आर्य लोगों को चलना दुष्कर था।

मूलार्थ—उस देश मे बौद्धादि भिक्षु लाठी लेकर चलते थे; फिर भी इधर-उधर विचरण करते हुए कुत्ते उन्हें काट खाते थे। अत उस अनार्य भूमि मे भिक्षुओं एव साधु-सन्तों का भ्रमण करना दुष्कर था।

हिन्दी-विवेचन

लाढ देश के लोग इतने कठोर थे कि वहां साधुओ को अनेक तरह के कष्ट दिए जाते थे। बौद्ध भिक्षु कुत्तो से बचने के लिए अपने साथ डण्डा रखते थे, फिर भी वे पूर्णतया सुरक्षित नहीं रह पाते थे। कभी-न-कभी कही-न-कही से कुत्ते काट ही खाते थे। परन्तु भगवान महावीर जो अपने आत्मबल पर विचरते थे, उन्हे तो अनेक बार कुत्ते काट खाते थे, फिर भी वे उनका प्रतिकार नही करते थे।

प्रश्न हो सकता है कि इतने भयकर देश मे भगवान ने कैसे विहार किया? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— निहाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसिज्जमणगारे।
अह गामकंटए भगवंते अहियासए अभिसमिच्चा॥7॥

छाया— निधाय दड **प्राणिषु**, तं कायं **व्युत्सृज्य** अनगारः।
अथ ग्रामकण्टकान् भगवान् अध्यासयति अभिसमेत्य॥

पदार्थ—अणगारे—भगवान महावीर। **पाणेहि**—प्राणियो मे। **दण्डं**—मन-वचन और काया रूप दड। **तं**—उसको। **निहाय**—छोडकर और उसी प्रकार। **कायं**—शरीर के ममत्व को। **वोसिज्जं**—त्यागकर विचरते थे। **अह**—अत । **भगवं**—भगवान। **तं गामकंटए**—ग्रामीणो के उन कटक रूप वाक्यों को। **अभिसमिच्चा**—निर्जरा का कारण जानकर। **अहियासए**—सहन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने मन-वचन और काय रूप दड एवं शरीर के ममत्व का परित्याग कर दिया था। ग्रामीण लोगो के वचनरूप कंटको को कर्मो की निर्जरा का कारण समझकर भगवान ने उन्हे समभाव से सहन किया।

हिन्दी-विवेचन

यह नितान्त सत्य है कि कष्ट तभी तक कष्ट रूप से प्रतीत होता है, जब तक शरीर एवं अन्य भौतिक साधनो पर ममत्व रहता है। जब शरीर आदि से ममत्व हट जाता है, तब कष्ट दु:ख रूप से प्रतीत नही होता है। ममत्व भाव के नष्ट होने से आत्मा मे परीषहो को सहन करने की क्षमता आ जाती है। फिर उसके अन्दर किसी को दोष देने की वृत्ति नहीं रहती। इस तरह उसमे अहिसा की भावना का विकास होता है। इससे साधक वैर-विरोध एव प्रतिशोध की भावना से ऊपर उठ जाता है। वह कर्कश तथा कठोर शब्दो एव डडे आदि के प्रहारो को अपने कर्मो की निर्जरा का साधन मानकर सहन करता है।

भगवान महावीर एक महान साधक थे। उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नही था और न उनके मन में प्रतिशोध की भावना थी। परीषहो को सहने मे वे सक्षम थे। सगम देव द्वारा निरन्तर 6 महीने तक दिए गए घोर परीषहो से भी वे विचलित नही हुए थे। वे कष्ट देने वाले व्यक्ति से भी घृणा नही करते थे। उसे अपने कर्मो की निर्जरा करने मे सहयोगी मानते थे। क्योकि कष्टो के सहन करने से कर्मो की निर्जरा होती थी। इस अपेक्षा से वह कष्ट दाता साधक की कर्म निर्जरा मे सहायक हो जाता है। इस तरह भगवान अनार्य मनुष्यों द्वारा कहे गए कठोर शब्दो एव प्रहारो को समभावपूर्वक सहन करते थे।

भगवान की सहिष्णुता को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— नागो संगाम सीसे वा, पारए तत्थ से महावीरे।
एवंपि तत्थ लाढेहिं, अलद्ध पुव्वोवि एगया गामो॥8॥

छाया— नागो संग्राम शीर्षे वा पारगः तत्र स महावीरः।
एवमपि तत्र लाढेषु अलब्ध पूर्वोपि एकदा ग्रामः॥

पदार्थ—**नागो**—हस्ती। **संगाम सीसे**—सग्राम में वैरी को जीतकर। **वा**—अथवा। **पारए**—पारगामी होता है। **एवंपि**—इसी प्रकार। **से**—वह। **महावीरे**—भगवान महावीर। **तत्थ लाढ़ेहिं**—उस लाढ देश मे परीषह रूप सेना को जीत कर पारगामी हुए तथा। **एगया**—एक बार। **तत्थ**—उस लाढ देश मे। **गामो**—ग्राम। **अलद्धपुव्वोवि**—न मिलने पर उन्होंने अरण्य में ही वास किया।

मूलार्थ—जैसे रणभूमि में हाथी वैरी की सेना को जीत कर पारगामी होता है, उसी प्रकार भगवान महावीर भी उस लाढ देश मे परीषह रूपी सेना को जीत कर पारगामी हुए। एक समय उस लाढ़ देश मे ग्राम के न मिलने पर वे अरण्य मे ही ध्यानस्थ हो गए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे बताया गया है कि जैसे सुशिक्षित हाथी शत्रु के भालो की परवाह किए बिना उसके सैन्यदल को रौदता हुआ चला जाता है और शत्रु पर विजय प्राप्त करता है, उसी तरह भगवान महावीर ने लाढ देश में परीषह रूपी शत्रु सेना पर विजय प्राप्त की। वे साधनाकाल मे परीषहो से कभी नहीं घबराए।

लाढ देश मे विचरते समय एक बार भगवान को सध्या समय गांव नही मिला। इससे स्पष्ट होता है कि लाढ देश मे गाव बहुत दूर-दूर थे। रास्ते मे ही सध्या हो जाने के कारण भगवान जगल मे ही ध्यानस्थ हो गए। इस तरह भगवान जगल मे घबराए नही और यह भी नही सोचा कि यहा जगली जानवर मुझे कष्ट देंगे। वे निश्चिन्त होकर आत्म-चिन्तन मे सलग्न हो गए।

अब लाढ देश में अनार्य लोगो द्वारा भगवान को दिए गए परीषहो का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— उवसंकमन्तमपड़िन्नं, गामंतियम्मि अप्पत्तं।
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पलेहित्ति॥9॥

छाया— उपसक्रामन्त अप्रतिज्ञं, ग्रामान्तिकं अप्राप्तम्।
प्रतिनिष्क्रम्य अलूलिषुः इतः परं पर्येहीति॥

पदार्थ—**अपडिन्नं**—प्रतिज्ञा से रहित भगवान को। **उवसंकमन्तं**—भिक्षा या स्थान के लिए। **गामंतियम्मि**—ग्राम के समीप जाते हुए। **अप्पत्तं**—ग्राम के प्राप्त होने पर या अप्राप्त होने पर अथवा। **पडिनिक्खमित्तु**—ग्राम से बाहर निकलते हुए। **लूसिंसु**—उन लोगों ने भगवान को मारा और कहा कि। **एयाओ**—तुम इस स्थान से। **परं**—दूर। **पलेहित्ति**—चले जाओ।

मूलार्थ—जब अप्रतिज्ञ भगवान भिक्षा या स्थान के लिए ग्राम के समीप पहुंचते या नही पहुंचते अथवा ग्राम से बाहर निकलते हुए होते तो अनार्य लोग पहले तो भगवान को पीटते और फिर कहते कि तुम यहा से दूर चले जाओ।

मूलम्— हय पुव्वो तत्थ दण्डेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण।
अदु लेलुणा कवालेण हंता हंता बहवे कंदिंसु॥10॥

छाया— हत पूर्वः तत्र दण्डेन, अथवा गुष्टिना अथवा कुन्तफलेन।
अथवा लोष्टुना कपालेन, हत्वा हत्वा बहवश्चक्रन्दुः॥

पदार्थ—**तत्थ**—उस लाढ देश मे विचरते हुए भगवान को उन अनार्य लोगो ने। **पुव्वो**—पहले किससे मारा?। **दंडेन**—डंडो से। **अदुवा**—अथवा। **मुट्ठिणा**—मुक्कों से। **अदु**—अथवा। **कुन्तफलेण**—कुन्त आदि के अग्रभाग और फलक से। **अदु**—अथवा। **लेलुणा**—पत्थरो से। **कवालेण**—ठोकरों से। **हय**—मारा, इसके पश्चात्। **हन्ताहंता**—उन्हें मारते-मारते। **बहवे**—बहुत-से अनार्य लोग। **कन्दिंसु**—कोलाहल करते कि अरे लोगो! देखो, देखो यह कौन है?

मूलार्थ—उस लाढ़ देश में ग्राम से बाहर ठहरे हुए श्रमण भगवान महावीर को अनार्य लोग पहले तो डण्डो, मुक्को, कुन्त फलक, पत्थर और ठोकरो से मारते और उसके पश्चात् शोर मचाते कि अरे लोगो! आओ, देखो यह सिर मुण्डित नग्न व्यक्ति कौन है?

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओ में अनार्य लोगों के अशिष्ट व्यवहार का दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें बताया है कि जब भगवान विहार करते हुए रात को ठहरने के लिए या भिक्षा के लिए गांव मे जाते तो उस समय वहां के निवासी भगवान का उपहास

करते, उन्हे मारते-पीटते और अपने गाव से बाहर चले जाने को कहते। उनके द्वारा किए गए प्रहार एव अपमान का भगवान कोई उत्तर नही देते, वे मौन भाव से उन परीषहों को सहन करते हुए विचरण करते थे।

जब भगवान एकान्त स्थान में ध्यानस्थ होते तो उस समय लाढ़ देश के अनार्य लोग डण्डा लेकर वहा पहुच जाते और भगवान को डण्डे से पीटते और इधर-उधर राह चलते लोगो को इकट्ठा करके हल्ला मचाते और कहते देखो यह विचित्र व्यक्ति कौन है? इस तरह से अज्ञानी लोग भगवान को अनेक कष्ट देते; फिर भी भगवान उन पर रोष नहीं करते थे। कितना धैर्य था उनके जीवन मे एव थी कितनी सहन शीलता! वास्तव मे सहिष्णुता के द्वारा ही साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके निष्कर्म बन सकता है।

भगवान की कष्टसहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— मंसाणि छिन्नपुव्वाणि, उट्ठंभिया एगया कायं।
परिसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा उवकसिु॥11॥

छाया— मांसानि छिन्नपूर्वाणि, अवष्टभ्य एकदा काय।
परीषहाः च अलुंचिषुः अथवा पांसुना अवकीर्णवन्तः॥

पदार्थ—मसाणि छिन्नपुव्वाणि—वे अनार्य लोग उनके शरीर के मास को काटते थे। **एगया**—किसी समय। **काय**—शरीर को। **उट्ठंभिया**—पकडकर। **परिसहाइं**—नाना प्रकार के अन्य परीषह भी दिए। **लुंचिंसु**—उन्हे दु:खित भी किया। **अदुवा**—अथवा। **पसुणा उवकसिुं**—उन पर धूल भी फैकी।

मूलार्थ—उस अनार्य देश में वहा के लोगो ने किसी समय ध्यानस्थ खड़े भगवान को पकड कर उनके शरीर के मास को काटा। उन्हे नाना प्रकार के परीषहोपसर्गो से पीडित किया और उन पर धूल फेंकते रहे।

मूलम्— उच्चालइय निहणिंसु, अदुवा आसणाउ खलइंसु।
वोसट्ठकाय पणयाऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने॥12॥

छाया— उत्क्षिप्य निहतवन्तः, अथवा आसनात् स्खलितवन्तः।
व्युत्सृष्ट कायः प्रणतः आसीत्, दुःखसहः भगवान् अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—**उच्चालइय**—वे अनार्य लोग भगवान को ऊपर उठाकर। **निहणिंसु**—उन्हें नीचे भूमि पर गिरा देते थे। **अदुवा**—अथवा। **आसणाउ**—गोदुहादि आसन से बैठे हुए भगवान को। **खलइंसु**—धक्का मार कर दूर फेक देते थे। **वोसट्ठकाय-पणयाऽसी**—परन्तु भगवान अपने शरीर के ममत्व को छोडकर परीषहो को सहन करने मे सावधान थे। **भगवं**—भगवान। **दुक्खसहे**—परीषहजन्य दुःख को सहन करने वाले। **अपडिन्ने**—प्रतिज्ञा एव निदान से रहित थे।

मूलार्थ—कभी-कभी अनार्य लोग भगवान को ऊचे उठाकर नीचे फेकते, कभी धक्का मारकर आसन से परे फेक देते, परन्तु काया के ममत्व को त्यागकर परीषहो के सहन करने मे सावधान हुए अप्रतिज्ञ और परीषहजन्य वेदनाओं को समतापूर्वक सहन करने वाले श्रमण भगवान महावीर, अपने ध्यान से च्युत नही हुए।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओं मे भगवान की सहनशीलता का वर्णन किया गया है। इनमे बताया गया है कि जहा भगवान ध्यानस्थ खडे होते थे, वहां ये अनार्य लोग पहुच जाते और उनके शरीर का मास काट लेते, उन्हे पकड कर अनेक तरह की यातनाएं—कष्ट देते। उन पर धूल-पत्थर आदि फेकते। फिर भी उनके चिन्तन मे बिलकुल अन्तर नही आता था। उनके चिन्तन का प्रवाह उसी रूप मे प्रवहमान रहता था।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुमुक्षु पुरुष को कैसी कठिन परीक्षा मे उतरना पडता है। भगवान महावीर कठोर-से-कठोर परीक्षा मे सफल रहे। वे सदा परीषहो पर विजय प्राप्त करते हुए आत्मविकास की ओर बढते रहे। इसके लिए प्रस्तुत गाथा में उनके लिए 'दुक्खसहे' और 'अपडिन्ने' दो विशेषण दिए है। इनमे पहले विशेषण का अर्थ दुःख पर विजय पाने वाले और दूसरे का अर्थ है—प्रतिज्ञा रहित, अर्थात् भौतिक सुखो एवं आराम की कामना से रहित।

इससे स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर समभावपूर्वक परीषहों को सहन करते थे और उन्होंने उनका कभी भी प्रतिकार नहीं किया। यह नितान्त सत्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का बन्ध करता है और स्वय ही उन्हे तोड सकता है। दुनिया मे व्यक्ति जो भी दुःख-सुख भोगता है, वे उसके स्वय कृत कर्म के ही फल है। यह समझकर भगवान महावीर उनसे घबराए नही, अपितु समभावपूर्वक सहकर भगवान महावीर

उन्हें नष्ट करने में संलग्न रहे, जिससे वे कर्म फिर से उन्हें संतप्त न कर सकें। अस्तु, भगवान महावीर सदा कर्मो के बन्ध को रोकने का प्रयत्न करते रहे और तप से पूर्व कर्मो को क्षय करते रहे।

इस तरह वे निष्कर्म बनने का प्रयत्न करते रहे। उनकी इस महासाधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— सूरो संगाम सीसे वा संवुड़े तत्थ से महावीरे।
पड़िसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीयित्था॥13॥

छाया— शूरः सग्रामशिरसि वा संवृतः तत्र स महावीरः।
प्रतिसेवमानः च परुषान्, अचलः भगवान् रीयते स्म॥

पदार्थ—वा—जैसे। **सगाम सीसे**—संग्राम के आगे। **सूरो**—शूरवीर। **संवुड़े**—सवृताग होकर शस्त्रो से भेदन होता हुआ भी विजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार **से**। **महावीरे**—भगवान महावीर। **तत्थ**—उन लाढ आदि देशो मे। **पडिसेवमाणे**—परीषह रूप, सेना से पीडित हुए। **फरुसाइ**—कठिन परीषहो को सहन करते हुए। **भगव**—भगवान। **अचले**—मेरु पर्वत के समान अटल एव निष्कम्प रहकर। **रीयित्था**—मोक्षमार्ग मे पराक्रम करते अथवा मेरु की भाति स्थिर चित्त से विचरते थे।

मूलार्थ—जैसे कवच आदि से संवृत, शूर वीर पुरुष सग्राम में चारों ओर से शस्त्रादि का प्रहार होने पर भी आगे बढता चला जाता है, उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर उस देश मे कठिन-से-कठिन परीषहो के होने पर भी धैर्य रूप कवच से सवृत होकर मेरु पर्वत की तरह स्थिरचित्त होकर सयममार्ग पर गतिशील थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा मे भगवान महावीर की तुलना एक वीर योद्धा से की गई है। इस मे बताया गया है कि जैसे एक वीर योद्धा कवच से अपने शरीर को आवृत करके निर्भयता के साथ युद्धभूमि मे प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सवर के कवच से संवृत भगवान महावीर परीषहों से नही घबराते हुए लाढ़ देश मे विचरे। वहां के निवासियों ने उन्हें अनेक तरह के कष्ट दिए; फिर भी वे साधना-पथ से विचलित नहीं हुए। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की साधना मे संलग्न रहे।

इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक को परीषहों से न घबराकर कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए रत्नत्रय की साधना में सलग्न रहना चाहिए। साधना करते हुए यदि कष्ट उपस्थित हो तो उन्हें समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

अब प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मइमया।
बहुसो अपडिन्नेणं, भगवया एवं रीयंति॥14॥ त्तिबेमि

छाया— एष विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयते॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित। **भगवया**—ऐश्वर्य युक्त। **मइमया**—मतिमान। **माहणेण**—भगवान महावीर ने। **एस विहि**—उक्तविधि का। **बहुसो**—अनेक बार। **अणुक्कंतो**—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एव उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी। **एवं**—इसी प्रकार। **रीयंति**—आचरण करते है। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मैं कहता हूं।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित, ऐश्वर्य युक्त, परम मेधावी भगवान महावीर ने अनेक बार उक्त विधि का आचरण किया। उनके द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधक भी इसी प्रकार आचरण करते है। ऐसा मैं कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे कर चुके है।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझे।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन : उपधान श्रुत

चतुर्थ उद्देशक

तृतीय उद्देशक मे भगवान महावीर के परीषहो का वर्णन किया गया है और प्रस्तुत उद्देशक मे उनके चिकित्सा-त्याग का वर्णन किया गया है। भगवान महावीर ने बीमारी के समय कभी भी चिकित्सा नही की। उन्होने शारीरिक एवं आत्मिक दोनो व्याधियो को दूर करने के लिए तप का आचरण किया। तप सारे विकारो को नष्ट कर देता है। जैसे साबुन वस्त्र के मैल को दूर हटाकर उसे स्वच्छ करता है, उसी तरह तप से शरीर एवं मन शुद्ध हो जाता है। महात्मा गाधी ने उपवास के द्वारा गई रोगो की चिकित्सा की थी। शरीरविज्ञानवेत्ता भी कई रोगो को दूर करने मे उपवास का सहारा लेते हैं।

भारतीय सस्कृति में आत्म-शुद्धि या शरीर-शुद्धि के लिए तप को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इससे बाह्य एव आभ्यन्तर विकार नष्ट हो जाते हैं और आत्मा शुद्ध बन जाती है। आगम में बताया है कि ज्ञान से आत्मा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है, दर्शन से उस पर श्रद्धा करता है, चारित्र से अभिनव कर्म के आगमन को रोकता है और तप से आत्मा पूर्वकर्मो को क्षय करके शुद्ध बनता है[1]। अत. आत्म-विकास के लिए तप अत्यावश्यक है। इसी कारण भगवान महावीर ने साधना काल मे कठोर तप-साधना की, जिसका दिग्दर्शन प्रस्तुत उद्देशक मे कराया गया है[2]।

---

1 नाणेण जाणइ भावे, दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र, 28,35

2

तप-अवधि	सख्या	उसके दिन	वर्ष मास दिन
(1) छह मास—	1	6 × 30 × 1 = 180,	0 – 6 – 0
(2) पाच दिन कम छह मास—	1	6 × 30 – 5 = 175,	0 – 5 – 25
(3) चोमासी—	9	4 × 30 × 9 = 1080,	3 – 0 – 0
(4) तीन मासी—	2	3 × 30 × 2 = 180,	0 – 6 – 0
(5) अढाई मासी—	2	2½ × 30 × 2 = 150,	0 – 5 – 0

भगवान के तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– ओमोयरियं चाएइ, अपुट्ठेवि भगवं रोगेहिं।
पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं॥1॥

छाया– अवमौदर्य शक्नोति, अस्पृष्टोपि भगवान् रोगैः।
स्पृष्टो वा अस्पृष्टो वा न स स्वादयति चिकित्साम्॥

पदार्थ–भगवं–भगवान। **ओमोयरियं**–उनोदरी तप करने को। **चाएइ**–समर्थ थे। **अपुट्ठेवि रोगेहिं**–रोगों के स्पर्श न होने पर भी। **वा**–अथवा। **पुट्ठो**–रोगो के स्पर्श होने पर भी। **अपुट्ठे वा**–न होने पर भी। **से**–वह श्रमण भगवान महावीर। **तेइच्छं**–चिकित्सा को। **नोसाइज्जई**–नही चाहते थे।

मूलार्थ–भगवान महावीर रोगो के स्पर्श होने या न होन पर भी औनोदर्य तप करने मे समर्थ थे। इसके अतिरिक्त श्वानादि के काटने पर या श्वासादि रोग के स्पर्शित होने पर भी वे औषध-सेवन की इच्छा नही करते थे।

---

2 तप-अवधि	संख्या	उसके दिन	वर्ष मास दिन
(6) दो मासी–	6	2 × 30 × 6 = 360,	1 – 0 – 0
(7) डेढ मासी–	2	1॥ × 30 × 2 = 90,	0 – 3 – 0
(8) मास क्षमण–	12	1 × 30 × 12 = 360,	1 – 0 – 0
(9) पक्ष क्षमण–	72	0½ × 30 × 72 = 1080,	3 – 0 – 0
(10) सर्वतोभद्रप्रतिमा	1	10 दिवस की = 10,	0 – 0 – 10
(11) महाभद्रप्रतिमा–	1	4 दिवस की = 4,	0 – 0 – 4
(12) अष्टम–	12	3 × 12 = 36,	0 – 1 – 6
(13) षष्ठ–	229	2 × 229 = 458,	1 - 3 – 8
(14) भद्रप्रतिमा–	1	दो दिन की = 2,	0 – 0 – 2
(15) दीक्षा दिवस–	1	एक दिन की = 1,	0 – 0 – 1
(16) पारणा–	349	349 दिन की = 349,	0 –11 –19
(17) कुल दिवस	4515	वर्ष 12 मास 6 दिन 15	

जैन प्रकाश के उत्थान वीराक मे प्रकाशित
'त्रिभुवन दास मेहता' के लेख से उद्धृत

हिन्दी-विवेचन

शरीर रोगो का घर है। इसमे अनेक रोग रहे हुए है। जब कभी वेदनीय कर्म के उदय से कोई रोग उदय मे आता है तो लोग उसे उपशान्त करने के लिए अनुकूल औषध एवं पथ्य का सेवन करते है। परन्तु भगवान महावीर अस्वस्थ अवस्था में भी औषध का सेवन नही करते थे। वे स्वस्थ अवस्था मे भी स्वल्प आहार करते थे। स्वल्प आहार के कारण उन्हे कोई रोग नहीं होता था[1]। फिर भी कुत्तो के काटने या अनार्य लोगो के प्रहार से जो घाव आदि हो जाते थे, तो वे उसके लिए भी चिकित्सा नही करते थे। यदि कभी श्वास आदि का रोग हो जाता, तब भी वे औषध नही लेते थे। वे समस्त परीषहों एव कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे और तप के द्वारा द्रव्य एवं भाव रोग को दूर करने का प्रयत्न करते थे।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— संसोहणं च वमणं च, गायब्भंगणं च सिणाणं च।
संवाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए॥2॥

छाया— संशोधनं च वमनं च, गात्राभ्यंगनं च स्नान च।
संवाधन च न तस्य कल्पते दन्तप्रक्षालनं च परिज्ञाय॥

पदार्थ—**च**—पुन· अर्थ मे है। **परिन्नाए**—शरीर को अशुचि जानकर। **से**—भगवान महावीर को। **संसोहणं**—शरीर का संशोधन करना। **च**—पुन । **वमणं**—वमन। **च**—और। **गायब्भंगणं**—शरीर को तेल आदि से मर्दन करना। **च**—और। **सिणाणं**—स्नान करना। **च**—और। **दन्तपक्खालणं**—काष्ठादि से दातो का प्रक्षालन करना। **न कप्पे**—नही कल्पता था, अर्थात् वे इन बातो का आचरण नहीं कर थे।

मूलार्थ—शरीर को अशुचिमय समझ कर भगवान रोग की शान्ति के लिए शरीर सशोधनार्थ, विरेचन लेना, वमन करना, शरीर पर तैलादि का मर्दन करना,

---

1 टीकाकार एव चूर्णि कार इसमे एकमत है कि भगवान अपने शरीर के धातु क्षोभ के कारण प्राय· रोगातक नही होते थे। कभी बाह्य कारणो से हो सकते थे।
—आचाराङ्ग चूर्णि, पृष्ठ 321, टीका, पृष्ठ 284

स्नान करना और दॉतुन आदि से दॉतो को साफ करना इत्यादि क्रियाओ का आचरण नही करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान महावीर का ध्यान आत्मा की ओर लगा था। शरीर पर उन्होने कभी ध्यान नहीं दिया। वे जानते थे कि यह शरीर नश्वर है। इसलिए वे किसी रोग के उत्पन्न होने पर उसे उपशान्त करने के लिए या भविष्य मे रोग न हो, इस भावना से कभी विरेचन—जुलाब नही लेते थे और उन्होंने साधनाकाल मे अपने शरीर को स्वस्थ करने के लिए किसी भी तरह की चिकित्सा नही की। वे शरीर की ओर न देखकर सदा अपनी आत्मा की ओर देखते थे और आत्मा को अनावृत करने में ही प्रयत्नशील थे।

उनका चिन्तन किस ओर था, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— विरए गाम धम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई।
सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय॥3॥

छाया— विरतः ग्रामधर्मेभ्यः, रीयते माहनः अबहुवादी।
शिशिरे एकदा भगवान् छायायां ध्यायी आसीत्॥

पदार्थ—गामधम्मेहिं—विषय-विकारो से। **विरए**—निवृत्त हुए। **अबहुवाई**—अल्प भाषी। **माहणे**—भगवान महावीर। **रीयइ**—सयम में पुरुषार्थ करते हैं। **एगया**—कभी-कभी। **भगवं**—भगवान। **सिसिरमि**—शीत काल मे। **छायाए**—छाया में। **झाइ आसीय**—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

मूलार्थ—विषय-विकारो से निवृत्त हुए अल्पभाषी भगवान महावीर सयम मे पुरुषार्थ करते हुए शीतकाल मे भी कभी-कभी छाया में धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना के पथ पर गतिशील भगवान महावीर विषय-विकारो से सर्वथा निवृत्त हो गए थे। वे साधनाकाल मे प्राय मौन ही रहे थे और किसी के पूछने पर उत्तर देना

अत्यावश्यक हुआ तो एक ही बार बोलते थे। वे शीत आदि की परवाह नही करते थे। सर्दी की ऋतु मे भी छाया मे ध्यान करते थे। इस तरह वे शरीर की चिन्ता न करते हुए सदा आत्म-चिन्तन में ही सलग्न रहते थे।

साधना मे योगो का गोपन करना महत्त्वपूर्ण माना गया है। मन-वचन और काय इन तीनो योगो में मन सबसे अधिक सूक्ष्म और चचल है। उसे वश मे रखने के लिए काय और वचन योग को रोककर रखना आवश्यक है। वचन का समुचित गोपन होने पर मन को सहज ही रोका जा सकता है और मन आदि योगो का गोपन करने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है।

आगम मे बताया है कि मन का गोपन करने से आत्मचिन्तन मे एकाग्रता आती है और साधक सयम का आराधक होता है। वचन-गुप्ति से आत्मा निर्विकार होती है और निर्विकारता से अध्यात्म योग की साधना मे सलग्न होती है। कायगुप्ति से सवर की प्राप्ति होती है और उससे आश्रव—पापकर्म का आगमन रुकता है। इसी तरह मन-समधारणा से जीव एकाग्रता को जानता हुआ ज्ञान पर्याय को जानता है। उससे सम्यक्त्व का शोधन और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है। वचन-समाधारणा से आत्मा दर्शन पर्याय को जानता है, उससे दर्शन की विशुद्धि करके सुलभ बोधित्व को प्राप्त करता है और दुर्लभ बोधिपन की निर्जरा करता है। काय-समाधारणा से जीव चारित्र पर्याय को जानता है और उससे विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करता है और चार घातिक कर्मो का क्षय करके केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अवशेष चार अघातिक कर्मो का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध हो जाता है, समस्त कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है[1]। इस तरह योगो का गोपन करने से आत्मा निष्कर्म बन जाता है।

इस तरह भगवान महावीर भाषा को गोपन करते हुए एकाग्र मन से आत्म-चिन्नन मे सलग्न रहते थे। उनके चिन्तन की एकाग्रता एवं परीषहो की सहिष्णुता का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— आयावइय गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुड्डए अभित्तावे।
अदु जावइत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं॥4॥

1 उत्तराध्ययन सूत्र, 29, 53-58

छाया— आतापयति ग्रीष्मेषु, तिष्ठति उत्कुटुकः अभितापम्।
अथ यापयति स्म रुक्षेण ओदन मन्थु कुल्माषेण।

पदार्थ—गिम्हाणं—वे ग्रीष्म ऋतु मे। **आयावइ**—आतापना लेते थे। **य**—पुन.। **उक्कुड्डए**—उत्कुट आसन से। **अभित्तावे**—सूर्य के सन्मुख। **अच्छइ**—स्थित होते थे। **अदु**—अथवा। **लूहेणं**—रूक्षाहार एव। **ओयण मंथु कुम्मासेणं**—चावल या वैरादि का चूर्ण या कुल्माष—उड़द आदि से शरीर का। **जावइत्थ**—निर्वाह करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर ग्रीष्म ऋतु मे उत्कट आसन से सूर्य के सन्मुख होकर आतापना लेते थे और धर्म-साधना के कारण रूप शरीर को चलाने के लिए चावल, बेर का चूर्ण एव उडद के बाकले आदि रूक्ष आहार लेकर अपना निर्वाह करते थे।

मूलम्— एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठमासे अजावयं भगवं।
अपिइत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि॥5॥

छाया— एतानि त्रीणि प्रतिसेवते, अष्टौ मासानयापयत् भगवान।
अपियत् एकदा भगवान अर्द्धमासं अथवा मासमपि।

पदार्थ—एयाणि—ये। **तिन्नि**—तीनो आहारो का। **पडिसेवे**—सेवन करके। **भगव**—भगवान ने। **अट्ठमासे**—आठ मास तक। **अजावयं**—काल यापन किया। **एगया**—एक बार। **भगवं**—भगवान। **अद्धमासं**—अर्द्ध मास। **अदुवा**—अथवा। **मासं**—मास तक। **अपिइत्थ**—निराहार रहे—जल भी नही लिया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ने उक्त तीनो पदार्थो के द्वारा आठ मास तक समय यापन किया। कभी-कभी भगवान ने आधे मास या एक मास तक जल-पान भी नही किया, अर्थात् पानी भी नही पिया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत उभय गाथाओ मे भगवान महावीर की तपस्या का दिग्दर्शन कराया गया है। जैसे भगवान शीतकाल में छाया मे ध्यान करते थे, उसी तरह ग्रीष्म काल मे

उत्कट आसन से सूर्य के सम्मुख स्थित होकर ध्यानस्थ होते थे और रूक्ष आहार से अपने जीवन का निर्वाह करते थे।

आहार का मन एव इंद्रियों की वृत्ति पर भी असर होता है। प्रकाम आहार से मन में विकार जागृत होता है और इन्द्रिया विषयों की ओर दौड़ती है। इसलिए साधक के लिए प्रकाम—गरिष्ठ आहार के त्याग का विधान किया गया है। साधक केवल शरीर का निर्वाह करने के लिए आहार करता है और वह रूक्ष आहार से भली-भांति हो जाता है। उससे मन मे विकार नही जागते और इन्द्रिया भी शात रहती है जिससे साधना में तेजस्विता आती है, आत्म-चिन्तन मे गहराई आती है। अत· पूर्ण ब्रह्मचर्य के परिपालक साधु को सरस, स्निग्ध आहार नही करना चाहिए। उसके लिए रुक्ष आहार सर्व-श्रेष्ठ है। भगवान महावीर ने ओदन—चावल, बेर के चूर्ण एव कुल्माष आदि का आहार किया था।

यह ओदन आदि का आहार भगवान ने आठ महीने तक किया और इसी बीच एक महीने तक निराहार रहे, पानी भी नही पिया। इससे उनकी नि स्पृह एवं अनासक्त वृत्ति का स्पष्ट परिचय मिलता है। वे समय पर जैसा भी रूखा-सूखा आहार उपलब्ध हो जाता, वैसा ही अनासक्त भाव से कर लेते थे।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'अद्धमास अदुवा मासपि' की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने लिखा है कि भगवान ने एक महीने की तपस्या में पानी पिया था[1] और प्रदीपिकाकार ने लिखा है कि उन्होने महीने की तपस्या में पानी नही पिया[2]। इन दोनो में प्रदीपिकाकार का कथन संगत प्रतीत होता है। उपाध्याय पार्श्वचन्द्र जी ने भी प्रदीपिका के मत का अनुसरण किया है। आगे की गाथा से भी जल पीने का निषेध सिद्ध होता है। इससे ऐसा लगता है कि वृत्तिकार के प्रमाद से 'न पीतवान' मे 'न' छूट गया हो।

अव भगवान के विशिष्ट तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अवि साहिए दुवेमासे अदुवा छप्पिमासे विहरित्था।
राओवरायं अपडिन्ने अन्न गिलायमेगया भुंजे॥6॥

1 तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मासं भगवान् पीतयान्। —आचाराङ्ग वृत्ति

2 तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मास भगवान् न पीतवान्। —आचाराङ्ग प्रदीपिका

छाया— अपि साधिकं द्वयं मासं, षड्पिमासान् अथवा विहृतवान्।
रात्रोपरात्रं अप्रतिज्ञः, पर्युषितं च एकदा भुक्तवान्॥

पदार्थ—अवि—सम्भावनार्थ में है, भगवान। **साहिए दुवेमासे**—दो मास से कुछ अधिक। **छप्पिमासे राओवरायं**—छह महीने तक रात-दिन बिना पानी पिए। **विहरित्था**—विचरे। **अदुवा**—अथवा। **एगया**—एक बार। **अपडिन्ने**—पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित। **अन्नगिलाय**—बासी अन्न का जो रस चलित नहीं हुआ था। **भुंजे**—आहार किया।

मूलार्थ—भगवान महावीर ने दो मास से कुछ अधिक समय तक छह महीने अथवा दो महीने से लेकर छह महीने पर्यन्त बिना पानी पिये समय व्यतीत किया। वे पानी पीने की प्रतिज्ञा से रहित होकर रात-दिन धर्म-ध्यान मे सलग्न रहते थे। भगवान ने एक वार पर्युषित—वासी अन्न भी जिसका रस विकृत नही हुआ था, ग्रहण किया।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा से यह स्पष्ट होता है कि भगवान ने सर्वोत्कृष्ट छह महीने की तपश्चर्या की थी। भगवान ने इतनी लम्बी तपश्चर्या मे पानी का भी सेवन नही किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितनी तपश्चर्या की थी, उसमें पानी नही पिया था और इस तपसाधना के समय एक बार भगवान ने बासी अन्न—पहले दिन का बना हुआ आहार ग्रहण किया था। मूर्तिपूजक समाज का कहना है कि साधु को बासी आहार नही लेना चाहिए। परन्तु, जब हम आगम का अनुशीलन करते है तो उसमे उसका कही भी निषेध नही मिलता। भगवान महावीर ने—जो महान् साधक थे, स्वयं बासी आहार ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति मे उसे अभक्ष्य कैसे कहा जा सकता है? यह ठीक है कि ऐसा बासी आहार साधु को नही लेना चाहिए, जिसका रस विकृत हो गया हो। परन्तु, जिसका वर्ण, गंध, रस आदि विकृत नहीं हुआ, उस आहार को अभक्ष्य कहना आगम-विरुद्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि इतने लम्बे तप के बाद भी भगवान इस तरह का रूखा-सूखा एव बासी अन्न ग्रहण करते थे। इससे उनके मनोबल एव त्यागनिष्ठ तथा अनासक्त जीवन का स्पष्ट परिचय मिलता है।

इस गाथा से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान ने जितना भी तप किया था, वह सब निदान-रहित किया था। उनके मन मे स्वर्ग आदि की कोई आकाक्षा नहीं थी। उनका मुख्य उद्देश्य केवल कर्मो की निर्जरा करना था। उन्होंने आगम मे तप आदि की साधना के लिए जो आदेश दिया है, उस पर पहले उन्होने स्वयं आचरण किया। आगम में कहा गया है कि मुमुक्षु पुरुष को न इस लोक मे सुखो की आकाक्षा से तप करना चाहिए, न परलोक में स्वर्ग आदि प्राप्त करने की अभिलाषा से तप करना चाहिए और न यशकीर्त्ति एवं मान-सम्मान की कामना रख कर तप करना चाहिए, परन्तु केवल कर्मो की निर्जरा के लिए तप करना चाहिए[1]। इस तरह भगवान महावीर बिना किसी आकांक्षा के तप करते हुए रात-दिन धर्म एव शुक्ल ध्यान मे सलग्न रहते थे।

उनके तप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्– छट्ठेण एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं।
दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने॥7॥

छाया– षष्ठेन एकदा भुक्ते अथवा अष्टमेन दशमेन।
द्वादशमेनैकदा भुक्तवान् प्रक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ–एगया–एक बार। **छट्ठेण**–दो उपवास के पारने मे पर्युषित आहार। **भुजे**–किया। **अदुवा**–अथवा। **अट्ठमेण**–तीन उपवास के पारने में पर्युषित आहार किया। **एगया**–एक बार। **दसमेण**–चार उपवास के पारने मे और एक वार। **दुवालसमेण**–पाच उपवास के पारने में। **भुंजे**–बासी आहार किया। **समाहिं**–इस तरह भगवान समाधि का। **पेहमाणे**–पर्यालोचन करते हुए। **अपडिन्ने**–निदान रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

मूलार्थ–श्रमण भगवान महावीर कभी दो उपवास के पारने मे पर्युषित आहार

---

1 चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तजहा–नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्नसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा चउत्थ पय भवइ।

–दशवैकालिक सूत्र 9, 4 तवसमाहि।

करते, कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के पारने मे पर्युषित बासी आहार करते थे। वे इस तरह की कठोर तप-साधना करते हुए भी समाधि का पर्यालोचन करते हुए निदान-रहित क्रियानुष्ठान करते थे।

हिन्दी-विवेचन

भगवान की तपस्या का वर्णन करते हुए बताया गया है कि भगवान कभी दो उपवास के बाद बासी आहार से पारणा करते थे। इसी तरह कभी तीन, कभी चार और कभी पांच उपवास के बाद वे बासी आहार से पारणा करते थे। इससे भगवान की आहार एव शरीर आदि के प्रति स्पष्ट रूप से अनासक्ति प्रकट होती है। उनका अधिक समय तप एव आत्मचिन्तन मे ही लगता था।

प्रस्तुत गाथा . प्रयुक्त 'छट्ठेण एगया भुजे' का दो उपवास के बाद अर्थ कैसे हुआ? इसके समाधान मे यह जा सकता है कि वृत्तिकार ने इसका यही अर्थ किया है कि उपवास के पू दिन के दो वक्त मे से एक वक्त आहार करते है, उपवास के प्रथम एव द्वितीय दिन के दोनो वक्त आहार नही करते और पारणे के दिन भी दो वक्त मे से एक वक्त आहार करते हैं, इस तरह 1 + 2 + 2 + 1 = 6 अर्थात् षष्ठ वक्त या छट्ठ भत्त का अर्थ दो उपवास के बाद होता है[1]।

मूलम्— णच्चा णं से महावीरे, नोऽविय पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा ण कं रित्था, कीरंतंपि नाणुजाणित्था॥8॥

छाया— ज्ञात्वा ण स महावीरः, नापि च पापक स्वयमकार्षीत्।
अन्यै वा न अचीकरत् क्रियमाणमपि नानुज्ञातवान्॥

पदार्थ—से—वह। **महावीरे**—भगवान महावीर। **णच्चा**—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थो को जानकर। **सयं**—स्वय। **पावगं**—पापकर्म। **नोऽविय अकासी**—नहीं करते थे। **वा**—अथवा। **अन्नेहिं**—दूसरो से। **न कारित्था**—नहीं करवाते और।

1 किं च षष्ठेनैकदा भुक्ते—षष्ठ हि नाम एकस्मिन्नहानएक भक्त विध य पुनादन द्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽन्हि एक भक्तमेव विधत्ते, ततश्चाद्य तयोरेक भक्तदिनयो भक्तद्वय मध्य दिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णा भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवति एवं दिनादि बुद्धयाऽष्ट माद्यायोज्यमिति। —आचाराङ्ग वृत्ति।

कीरंतंपि—पाप कर्म करनेवाले व्यक्तियों का। **नाणुजाणित्थो**—अनुमोदन भी नही करते थे।

मूलार्थ—हेय-ज्ञेय और उपादेय रूप पदार्थो को जानकर श्रमण भगवान महावीर ने स्वय पापकर्म का आचरण नही किया, न दूसरों से करवाया और पापकर्म करने वालों का अनुमोदन भी नही किया।

हिन्दी-विवेचन

जीवन मे साधना के प्रविष्ट होते ही मुनि सबसे पहले तीन करण और तीन योग से पापकार्य से निवृत्त होने की प्रतिज्ञा करता है। वह मन-वचन और शरीर इन तीनों योगो से न स्वयं पापकर्म करता है, न अन्य से करवाता है और न पापकर्म करने वाले का समर्थन करता है। चूँकि पापकर्म से अशुभ कर्म का बन्ध होता है, संसार परिभ्रमण बढ़ता है, इसलिए पदार्थो के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञाता भगवान महावीर ने दीक्षित होने के बाद कभी भी पापकर्म का सेवन नही किया। वे त्रिकरण और त्रियोग से पापकर्म से निवृत्त रहे।

भगवान के त्याग-निष्ठ जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए।
सुविसुद्ध मेसिया भगवं आयत जोगयाए सेवित्था॥9॥

छाया— ग्राम प्रविश्य नगरं वा, ग्रामन्वेषयेत् कृतं परार्थाय।
सुविशुद्धं एषित्वा भगवान आयतयोगतया सेवितवान्।

पदार्थ—**गामं**—गाव। **वा**—अथवा। **नगरं**—नगर मे। **पविसे**—प्रवेश करके, वे। **घासमेसे**—आहार की गवेषणा करते। **परट्ठाए**—दूसरे के गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के लिए। **कडं**—बनाए गए आहार मे से। **सुविसुद्धमेसिया**—विशुद्ध आहार की गवेषणा करके। **भगवं**—भगवान। **आयत जोगयाए**—ज्ञान पूर्वक सयत योग से। **सेवित्था**—उस शुद्ध आहार का सेवन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर गांव या शहर में प्रविष्ट होकर गृहस्थ के द्वारा अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए आहार मे से अत्यन्त शुद्ध निर्दोष

आहार की गवेषणा करते और उस निर्दोष आहार को सयत योगों से विवेक पूर्वक सेवन करते थे।

हिन्दी-विवेचन

यह हम देख चुके हैं कि साधु सारे दोषो से निवृत्त होता है। वह कोई ऐसा कार्य नही करता, जिससे किसी प्राणी को कष्ट होता हो। यहा तक कि अपने शरीर का निर्वाह करने के लिए भी वह स्वयं भोजन नहीं बनाता। क्योकि इसमें पृथ्वी, पानी आदि 6 काय की हिसा होती है। अतः साधु गृहस्थ के घरों मे से निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं।

भगवान महावीर भी जब गांव या शहर मे भिक्षा के लिए जाते तो वे गृहस्थ के अपने एव अपने परिवार के पोषण के लिए बनाए गए निर्दोष आहार की गवेषणा करते। उसमें भी आहार के 42 दोषो को छोडकर शुद्ध आहार ग्रहण करते और आहार करने के 5 दोषों को त्याग कर आहार करते। इस तरह 47 दोषो का त्याग करके वे आहार करते थे। उसमे 16 उद्गमन सम्बन्धी दोष है जो अनुराग एवं मोह वश गृहस्थ लगा सकता है, 16 उत्पादन के दोष हैं, जो रस लोलुपी साधु द्वारा लगाए जा सकते है और 10 एषणा के दोष हैं, जो गृहस्थ एवं साधु दोनो द्वारा लगाए जा सकते है और 5 आहार करते समय के दोष है, जिनका सेवन साधु के द्वारा ही होता है।

प्रस्तुत गाथा में दिए गए विभिन्न पदो से भी इन दोषों की ध्वनि निकलती है। जैसे—'परट्ठाए' पद से 16 उद्गमन के दोषो का विवेचन किया गया है। 'सुविसुद्ध' से 16 उत्पादन दोष का एव 'एसिया' पद से 10 एषीणय दोषो का वर्णन किया गया है और 'आयत जोगयाए सेविता' पदों से आहार करते समय के 5 दोषों का वर्णन करके समस्त दोषो का त्याग करके आहार करने का आदेश दिया गया है। भगवान महावीर समस्त दोषो से रहित आहार-पानी की गवेषणा करते और ऐसे शुद्ध एव निर्दोष आहार को अनासक्त भाव से ग्रहण करके विचरण करते थे।

इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं—

मूलम्— अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता।
घासेसणाए चिट्ठन्ति सयय निवइए य पेहाए॥10॥

**छाया— अथ वायसा बुभुक्षार्ताः ये चान्ये रसैषिणः सत्वाः।
ग्रासैषणाय तिष्ठंति सततं निपतितान् च प्रेक्ष्य॥**

पदार्थ—सयय—निरन्तर। **निवइए य**—भूमि पर गिरे हुए। **घासेसणाए**—आहार को खाने के लिए। **दिगिंछत्ता**—बुभुक्षित। **वायसा**—कौवे या। **जे**—जो। **रसेसिणो**—आहार के इच्छुक है। **अन्ने सत्ता**—अन्य सत्त्व—प्राणी। **चिट्ठंति**—मार्ग मे बैठे हुए हैं। **पेहाए**—उन्हें देखकर विवेक पूर्वक चलते, जिससे उनके आहार करने में विघ्न न पडे।

मूलार्थ—भूख से बुभुक्षित वायसादि पक्षियो को मार्ग मे गिरे हुए अन्न को खाते हुए देखकर वे उन्हें नही उड़ाते हुए विवेक पूर्वक चलते, जिससे उनके आहार मे विघ्न न पडे।

हिन्दी-विवेचन

साधु सब जीवो का रक्षक है। वह स्वय कष्ट सह सकता है। परन्तु अपने निमित्त से किसी भी प्राणी को कष्ट हो तो उस कार्य को वह कदापि नहीं कर सकता। साधु के लिए आदेश है कि वह भिक्षा के लिए जाते समय भी यह ध्यान रखे कि उसके कारण किसी भी प्राणी की वृत्ति मे विघ्न न पडे। भगवान महावीर ने स्वय इस नियम का पालन किया था। वे उस घर में या उस मार्ग से आहार को नहीं जाते थे, जिस घर के आगे या मार्ग मे काग-कुत्ते एवं गरीब भिखारी रोटी की आशा से खडे होते थे। क्योंकि उनके पहुच जाने से उन्हे अन्तराय लगती थी। वह दातार उन गरीब भिखारियो को भूलकर भगवान को देने लगता था और इससे उनके मन मे द्वेष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इसलिए भगवान ऐसे घर मे भिक्षा को नहीं जाते थे, जिसके आगे अन्य प्राणी रोटी की अभिलाषा लिए हुए खडे हो।

इसी विषय मे सूत्रकार और भी बताते है—

**मूलम्— अदुवा माहणं च समणं च, गाम पिंडोलगं च अतिहिंवा।
सोवाग मूसियारिंवा, कुकुरंवावि विट्ठियं पुरओ॥११॥**

**छाया— अथवा माहनं च श्रमणं वा ग्रामपिंडोलकं च अतिथिं वा।
श्वपाक मूषिकारिं वा कुकुरवापि विस्थितं पुरतः॥**

पदार्थ—**अदुवा**—अथवा। **माहणं**—ब्राह्मण को। **च**—और। **समण**—शाक्यादि भिक्षु। **वा**—अथवा। **गामपिंडोलगं च**—और ग्राम के भिखारी। **वा**—अथवा। **अतिहिं वा**—अतिथि। **सोवाग**—चाण्डाल। **वा**—अथवा। **मूसियारिं**—विडाल—बिल्ली आदि। **वा**—अथवा। **कुकुरं**—कुत्ता। **अवि**—समुच्चयार्थक है। **विट्ठियं**—नाना प्रकार के प्राणी। **पुरओ**—आगे उपस्थित हो तो उनकी वृत्ति का भग न करते हुए भिक्षार्थ गमन करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर ब्राह्मण, श्रमण, गाव के भिखारी, अतिथि, चाडाल, श्वान और नाना प्रकार के अन्य जीव यदि खडे हो तो उनकी वृत्ति का भग न करते हुए भिक्षा के लिए नहीं जाते थे।

हिन्दी-विवेचन

इस गाथा मे पूर्व गाथा की बात को पूरी करते हुए बताया गया है कि किसी गृहस्थ के द्वार पर यदि कोई ब्राह्मण, बौद्ध भिक्षु, परिव्राजक, सन्यासी, शूद्र आदि खडे होते या बिल्ली, कुत्ता आदि खडे होते तो भगवान उनको उल्लघन कर किसी के घर मे प्रवेश नही करते थे। क्योकि इससे उनकी वृत्ति का व्यवच्छेद होता था। उनके अन्तराय लगने से उनके मन मे अनेक सकल्प-विकल्प उठते, द्वेप-भाव पैदा होता। इसलिए भगवान इन सब दोषो को टालते हुए आहार के लिए घरो मे प्रवेश करते थे।

भगवान की भिक्षा-वृत्ति पर और प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— वित्तिछेयं वज्जंतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो।
मंदं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था॥12॥

छाया— वृतिच्छेद वर्जयन् तेषामप्रत्ययं परिहरन्।
मदं पराक्रमते, भगवान् अहिंसन् ग्रासमेषितवान्॥

पदार्थ—**भगवं**—भगवान। **तेसिं**—उन जीवो की। **वित्तिछेय**—वृत्ति छेदन का। **वज्जंतो**—त्याग करते हुए तथा उनके। **अप्पत्तियं**—त्रास एव अप्रीति को। **परिहरन्तो**—दूर करते हुए। **मंदं**—शनै:-शनै:। **परक्कमे**—पराक्रम करते हुए तथा पर जीवो की। **अहिंसमाणो**—हिसा न करते हुए। **घासमेसित्था**—आहार-पानी की गवेषणा करते थे।

मूलार्थ—भगवान महावीर, उन जीवो की वृत्ति व्यवछेद को दूर करते हुए और उनकी अप्रीति का परिहार करते हुए शनैः-शनैः चलते और किसी भी जीव की हिसा न करते हुए आहार-पानी आदि की गवेषणा करते थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा पूर्व गाथा से संबद्ध है। इसमे बताया गया है कि यदि किसी गृहस्थ के द्वार पर पहले से कोई भिक्षु, श्रमण-ब्राह्मण आदि खडा होता तो भगवान उस घर में प्रवेश नही करते थे और वे इस प्रकार का भी आचरण नहीं करते थे जिससे उन्हे उनके प्रति अप्रीति पैदा हो, क्योकि इस तरह के कार्य से उनकी वृत्ति का छेदन होता और उनके मन मे द्वेष की भावना भी पैदा होती। इसलिए भगवान उनको लाघकर किसी भी घर में नहीं जाते थे। यदि किसी व्यक्ति के द्वार पर पहले से ही कोई व्यक्ति खडा हो और वह अपना कार्य समाप्त करके वहा से चला न जाए, तब तक साधक का वहा जाना नीति एव सभ्यता के अनुकूल भी नही है। लेकिन यहा तो अन्य भिक्षुओ के वृत्ति-विच्छेद का प्रसग होने के कारण भगवान पूरी तरह से सावधान रहते थे।

इससे स्पष्ट है कि भगवान सभी प्राणियो के रक्षक थे। वे किसी भी प्राणी को पीडा नही पहुचाते थे। इसलिए वे उन सब कार्यो से निवृत्त थे जो सावद्य थे एव दूषित वृत्ति से किए जाते थे, क्योकि दूषित वृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है। आगम मे बताया गया है कि क्रिया तीन तरह की होती है—1—प्रदोषिका क्रिया, 2—परितापिनी क्रिया और 3—प्राणातिपाति क्रिया। जैसे अपनी आत्मा पर द्वेष करना दूसरे को परिताप देना और अपनी एव दूसरे दोनो की आत्मा को कष्ट देना यह

---

1 कतिण भते! किरियाओ पण्णत्ताओ? गोयमा! पच किरियाओ पण्णत्ताओ तजहा—काइया, अहिगरणिया, पादोसिया, परियावणिया, पाणातिवाय किरिया ॥1॥ काइयाण भते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तजहा अणुवरय काइया य, दुप्पउत्त काइया य ॥2॥ अहिगरणियाण भते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तजहा सजोयणाहिगरणिया य निव्वत्तणाहिगरणिया ॥3॥ पादोसियाण भते! किरिया कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तजहा—जेण अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असुभ मण वा धारेति से त पादोसिया किरिया ॥4॥ पारियावणिया ण भते! →

इनकाा स्वरूप है[1]। भगवान महावीर इन दोषों से सर्वथा निवृत्त होकर अपनी साधना मे समाहित रहते थे। वे हिसा से निवृत्त होकर सदा संयम मे सलग्न रहते थे।

सूत्रकार फिर से इसी विषय में कहते हैं–

मूलम्– अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिंड पुराण कुम्मासं।
अदु वुक्कसंपुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए॥13॥

छाया– अपिसूपिकं वा शुष्कं वा, शीत पिंडे पुराणकुल्माषं।
अथ बुक्कस पुलाकं वा, लब्धे पिंउं आलब्ध द्रविकः॥

पदार्थ–**अवि**–सम्भावानार्थ में है। **सूइयं**–भगवान दधि आदि के आर्द्र आहार। **वा**–अथवा। **सुक्कं वा**–चणक आदि के शुष्क आहार अथवा। **सीयं पिड**–शीत पिंड–बासी आहार तथा। **पुराण कुम्मासं**–पुराने कुल्माष का आहार। **अदु**–अथवा। **वुक्कसं**–जीर्ण धान्य का आहार। **पुलागं वा**–जौ का आहार अथवा। **लद्धेपिंडे**–स्वादिष्ट आहार के मिलने पर हर्षित नही होते और। **अलद्धे**–स्वादिष्ट तथा पर्याप्त आहार न मिलने पर चिन्तातुर नही होते। **दविए**–वे सदा संयम युक्त रहकर अपने साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न शील रहते थे।

मूलार्थ–दधि आदि से मिश्रित आहार, शुष्क आहार, बासी आहार, पुराने कुल्माष और पुराने धान्य का बना हुआ आहार, जौ का बना हुआ आहार तथा सुन्दर आहार के मिलने या न मिलने पर सयम युक्त भगवान किसी प्रकार का राग-द्वेष नही करते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधु का जीवन आत्म-साधना का जीवन है। इसके लिए वह शरीर का ध्यान भी रखता है। क्योकि साधना के लिए उसका माध्यम भी आवश्यक है। परन्तु वह उसमे आसक्त नहीं रहता है। साधना मे सहयोगी होने के कारण वह शरीर को

→ किरिया कतिविहा पण्णता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तजहा–जेण अप्पणो वा परस्स दा तदुभयस्स वा असाय वेदण उदीरेति से त पारियावणिया किरिया ॥5॥ पाणाइवाय किरियाण भते! कतिविहा पण्णत्ता? गोयमा! तिविहा पण्णत्ता, तजहा–जेण अप्पाण वा पर वा तदुभय वा जीविया ओववरोयइ सेत पाणाइवाय किरिया॥6॥

–पन्नबना सूत्र, पद 22

आहार-पानी देता है, परन्तु उसमे वह इतना ध्यान अवश्य रखता है कि अपने शरीर के पोषण मे कहीं दूसरे प्राणियो का नाश न हो जाए। इस कारण वह सदा निर्दोष आहार ही स्वीकार करता है और समय पर सरस-नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हो, उसे समभावपूर्वक कर लेता है। वह उसमें हर्ष या शोक नही करता।

भगवान महावीर भी जैसा निर्दोष आहार उपलब्ध होता था, अनासक्त भाव से कर लेते थे। वे दधि आदि सरस पदार्थ मिलने पर हर्षित नही होते थे और कुल्माष आदि नीरस पदार्थ मिलने पर शोक नही करते थे। उनका उद्देश्य साधना को चालू रखने के लिए पेट को भरना था। इसलिए यथासमय जैसा भी शुद्ध आहार मिलता, उसीसे सतोष कर लेते थे। इससे रसना इन्द्रिय पर सहज ही विजय प्राप्त हो जाती है और इस वृत्ति से एक लाभ यह होता है कि साधु मे दाता की निन्दा एव प्रशंसा करने की भावना उद्बुध नही होती। जिसकी रसों मे आसक्ति होती है, वह सरस आहार देने वाले की प्रशसा एव नीरस आहार देने वाले व्यक्ति की निन्दा करके पाप कर्म का बन्ध कर लेता है। इसलिए साधु को समय पर सरस एव नीरस जैसा भी आहार उपलब्ध हो, उसे समभाव पूर्वक करना चाहिए।

टीकाकार ने प्रस्तुत गाथा मे आहार के विषय में प्रयुक्त शब्दो का निम्न अर्थ किया है—1—सुइय दध्यादिना भक्तामार्द्रीकृतमपि तथा भूतम्। 2—सुक्कं-वल्ल-चणकादि। 3—सीयपिड-पर्युषित भक्तम्। 4—बुक्कस—चिरन्तन धान्यौदनम्। 5—पुल्लग—यवनिष्पावादि।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनि स्वाद के लिए आहार नही करता, केवल साधना के लिए शरीर को स्थिर रखना होता है, इस कारण वह आहार करता है।

अव साध्य प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने॥14॥

छाया— अपि ध्यायति सः महावीर., आसनस्थ· अकोत्कुचः ध्यानम्।
ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् च प्रेक्षमाणः समाधिं अप्रतिज्ञः॥

पदार्थ—**अवि**—सम्भावनार्थ में है। **से**—वे। **महावीरे**—भगवान महावीर। **झाइ**—

ध्यान करते थे। **आसणत्थे**—आसनस्थ होकर। **अकुक्कुए**—मुखादि की चचलता को छोडकर। **झाणं**—धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। उड्ढं—ऊर्ध्व लोक। **अहे**—अधोलोक। **च**—और। **तिरियं**—मध्यलोक में जो जीवादि पदार्थ हैं, वे उन द्रव्यों और उनकी पर्यायो की नित्यानित्यता का चिन्तन करते थे और। **समाहिं**—अन्त करण की शुद्धि को। **पेहमाणे**—देखते हुए। **अपडिन्ने**—प्रतिज्ञा से रहित होकर ध्यान करते थे।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, स्थिर आसन एव स्थिर चित्त से धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याते थे। वे उस ध्यान मुद्रा मे ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और तिर्यग् लोक में स्थित द्रव्य और उनकी पर्यायों के नित्यानित्य रूप का चिन्तन करते थे। वे अपने अन्त करण की शुद्धि को देखते हुए प्रतिज्ञा से रहित होकर सदा ध्यान एव आत्मचिन्तन मे सलग्न रहते थे।

हिन्दी-विवेचन

साधना मे ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यान के लिए सबसे पहली आवश्यकता आसन की हे। ध्यान के लिए उत्कुट्क आसन, गोदुहिक आसन, वीरासन और पद्मासन आदि प्रसिद्ध है। इन आसनो से साधक शरीर को स्थिर करके मन को एकाग्र करके आत्म-चिन्तन मे सलग्न होता है। भगवान महावीर भी दृढ़ आसन से धर्म एव शुक्ल ध्यान ध्याते थे। इससे मन विषयो से हटकर आत्म-स्वरूप को समझने में लगता है, इससे कर्मो की निर्जरा होती है। ध्येय वस्तु द्रव्य और पर्याय रूप होती है। अत वह नित्यानित्य होती है। यह हम पहले बता चुके है कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है। अत. ध्यान में उसके यथार्थ स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

पातजल योग दर्शन मे भी योग के आठ अग माने गए है—1—यम, 2—नियम, 3—आसन, 4—प्राणायाम, 5—प्रत्याहार, 6—धारणा, 7—ध्यान और 8—समाधि। कुछ विचारक प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अग मानते है। कई साधक उत्साह, निश्चय, धैर्य, संतोष, तत्त्वदर्शन और देश त्याग को ही योग साधना मानते है और कोई मन के निरोध को ही सर्व सिद्धि का कारण मानता है।

प्रस्तुत गाथा में आत्मविकास के लिए 3 साधन बताए हैं—आसन, ध्यान और ध्येय—समाधि। आसनों के द्वारा साधक मन को एकाग्र कर लेता है। जैन योग ग्रन्थो मे कुछ आसन ध्यान योग्य बताए गए है। जैसे—1—पर्यकासन, 2—अर्द्ध पर्यकासन, 3—वज्रासन, 4 वीरासन, 5—सुखासन, 6—कमलासन और 7—कायोत्सर्ग[1]। इसके बाद यह बताया गया है कि जिस आसन से सुख पूर्वक स्थित होकर मुनि मन को एकाग्र कर सके, वही सबसे श्रेष्ठ आसन है[2]। ध्यान की विधि बताते हुए लिखा है कि अत्यन्त निश्चल सौम्यता युक्त एव स्पन्दन से रहित दोनो नेत्रो को नाक के सामने स्थिर करे[3]। ध्यान के समय मुख ऐसा शान्त हो जैसे कि वह तालाब जिसमे मत्स्य सो रहे हो। भ्रू निश्चल एव विकार हीन हों, दोनो ओष्ठ न अधिक खुले हो और न जोर से बन्द किए हुए हो। तात्पर्य यह है कि मुख पर किसी तरह की विकृति न हो, वह शान्त एव प्रसन्न हो।[4]

जैन दर्शन मे मन-वचन और शरीर को योग कहा है। इनकी शुभ वृत्तियों से चित्त की शुद्धि होती है और ध्यान, ध्याता एव ध्येय इन तीनो की एकरूपता से समाधि प्राप्त होती है। इसी प्रारभिक विकास का पदस्थ, पिडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत का नाम देकर इन्हे धर्मध्यान के अन्तर्गत माना है।

यह सत्य है कि धर्म ध्यान आत्म-विकास की प्रथम श्रेणी है और शुक्ल ध्यान चरम श्रेणी है। समस्त कर्मो का क्षय करके योगो का निरोध करते समय सर्वज्ञ पुरुष शुक्ल ध्यान में चतुर्थ भेद का ध्यान करके ही योगो का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करते है। उस स्थिति तक पहुचने के लिए या उस योग्यता को प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यान अत्यन्त आवश्यक है।

---

1 पर्यकमर्द्धपर्यक, वज्र वीरासन तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मत॥ —ज्ञानार्णव, 28, 10

2 येन-येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चल मन ।
तत्तदेव विधेय स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥ —ज्ञानार्णव 28, 11

3 नासाग्रदेशविन्यस्ते, धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने, निष्पन्दे मन्दतारके॥ —ज्ञानार्णव 28, 35

4 भ्रू वल्ली विक्रियाहीन, सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यहृदप्राय, विदध्यान्मुखपकजम्॥ —ज्ञानार्णव 28, 36

अन्य दर्शनो में राजयोग, हठयोग आदि प्रक्रियाएं मानी हैं। इससे कुछ काल के लिए मन का निरोध होता है। जब तक हठयोग की प्रक्रिया चलती है, तब तक मन रुका रहता है। उसकी प्रक्रिया समाप्त हुई कि मन फिर इधर-उधर उछल-कूद मचाने लगता है। इसलिए जैन दर्शन ने हठयोग आदि की साधना पर जोर न देकर सहज योग की बात कही। सहज योग कोई आगमिक प्रक्रिया का नाम नही है। आगम मे योगो को या मन को वश में करने के लिए 5 समिति बताई है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि साधक जिस समय जो क्रिया करे, उस समय तद्रूप बन जाए। यदि उसे चलना है तो उस समय अपने मन को चारो ओर के विचारों से हटाकर चलने में लगा दे, यहा तक कि चलते समय धार्मिक चिन्तन एवं स्वाध्याय आदि भी न करे। इस तरह अन्य क्रियाए करते समय अपने योगो को उसमे लगा दे। जिस समय हलन-चलन की क्रिया नही कर रहा हो, उस समय अपने योगों को स्वाध्याय या ध्यान मे लगा दे। इस तरह मन को प्रति समय किसी-न-किसी काम मे लगाए रखे, तो फिर उसे इधर-उधर भागने का अवकाश नही मिलेगा। वह सहज ही चिन्तन मे एकाग्र हो जाएगा। इसलिए इस साधना के लिए हमने सहज योग शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि इससे योगो को सहज रूप से एकाग्र किया जा सकता है।

इससे ये योग इतने सध जाते है कि निर्वाण के समय इनका निरोध करके आत्मा सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेती है। ससार मे रोक रखने के लिए आत्मा के साथ 6 पर्याप्त मानी गई है—1—आहार पर्याप्त, 2—शरीर पर्याप्त, 3—इन्द्रिय पर्याप्त, 4—मन पर्याप्त, 5—भाषा पर्याप्त और 5—श्वासोच्छ्वास पर्याप्त। इनसे उन्मुक्त होकर ही आत्मा मुक्त हो सकता है। अतः निर्वाण के समय आत्मा इनका भी निरोध कर लेता है। परन्तु एकाएक तो निरोध हो नही जाता। इसलिए साधक के लिए बताया गया है कि वह निराहार होने के लिए तप के द्वारा आहार को कम करते हुए शरीर पर से ममत्व हटाते हुए, इन्द्रिय एव मन को एकाग्र करते हुए मौन भाव को स्वीकार करके आत्मसाधना मे लीन रहे और समिति-गुप्ति के द्वारा योगो को अपने वश मे रखने का प्रयत्न करे। यह प्रक्रिया आत्मविकास के लिए उपयुक्त है। इसमें योगो के साथ किसी तरह की जवरदस्ती न करके उन्हे सहज भाव से आत्मसाधना में संलग्न किया जाता है।

भगवान महावीर ने इसी साधना के द्वारा योगों को अपने वश में किया था। या यों कहिए कि अपने योगो को धर्म एव शुक्ल ध्यान मे सलग्न किया था और आत्म-स्वरूप को पूर्णतया जानने के लिए उन्होने अपने योगो को लोक के स्वरूप का चिन्तन करने मे लगा दिया था, क्योकि किसी पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही आत्मा लोकालोक के यथार्थ स्वरूप को जान सकता है। जो व्यक्ति एक पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं जानता, वह सपूर्ण लोक के स्वरूप को भी नही जान सकता। अत· लोक के स्वरूप को जानने के लिए एक पदार्थ का सपूर्ण ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय युक्त है और लोक भी द्रव्य और पर्याय युक्त है। अत पदार्थ के सभी रूपों का ज्ञान करने का अर्थ है, सपूर्ण लोक का ज्ञान करना और सपूर्ण लोक का ज्ञान करने का तात्पर्य है, पदार्थ को पूरी तरह जानना। इस तरह एक के ज्ञान मे समस्त लोक का परिज्ञान और समस्त लोक के ज्ञान मे एक का परिबोध सबद्ध है। इसलिए भगवान महावीर सदा लोक एव आत्मा के स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए चिन्तन मे सलग्न रहते थे[1]।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्— अकसाई **विगय गेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।**
छउमत्थोवि परक्कममाणो, न पमायं सइंपि कुव्वित्था॥15॥

छाया—अकषायी विगत गृद्धिश्च शब्दरूपेषु अमूर्छितो ध्यायति।
छद्मस्थोपि पराक्रममाणः, न प्रमादं सकृदपि कृतवान्।

पदार्थ—अकसाई—भगवान कषायो से रहित। **य**—और। **विगयगेही**—गृद्धिपन से रहित तथा। **सद्दरूवेसु**—शब्द रूपादि मे। **अमुच्छिए**—अमूर्छित होकर। **झाई**—ध्यान करते थे। **छउमत्थोवि**—छद्मस्थ होने पर भी। **परक्कममाणो**—सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होने। **सइंपि**—एक बार भी। **पमायं**—प्रमाद। **न कुव्वित्था**—नही किया।

मूलार्थ—श्रमण भगवान महावीर, कषाय को छोड़कर, रस गृद्धि को त्यागकर,

---

1 विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु मेरा लिखा हुआ 'अष्टाग योग' अवश्य पढ़े।

शब्दादि में अमूर्छित होकर ध्यान करते थे। छद्मस्थ होने पर भी सदनुष्ठान में पराक्रम करते हुए उन्होंने एक बार भी प्रमाद नही किया।

हिन्दी-विवेचन

मन एव चित्तवृत्ति को स्थिर करने के लिए राग-द्वेष एवं कषायो का परित्याग करना आवश्यक है। जब तक जीवन में कषायों का अंधड चलता रहता है, तब तक मन की वृत्तिया चिन्तन मे एकाग्र नही हो सकती। दीपक की लौ हवा के झोकों से रहित स्थान में ही स्थिर रह सकती है। इसी तरह चिन्तन की ज्योति कषायो की उपशान्त स्थिति में ही स्थिर रहती है। इसके परिज्ञाता भगवान महावीर ने साधना-काल मे मन एव चित्तवृत्ति को आत्म-चिन्तन मे एकाग्र करने के लिए राग-द्वेष एव कषायो का परित्याग कर दिया और प्रमाद का भी त्याग करके राग-द्वेष का समूलत नाश करने के लिए प्रयत्नशील हो गए। प्रमाद शुभ कार्य मे बाधक है, वह आत्मा को अभ्युदय के पथ पर बढने नही देता है। इसलिए भगवान महावीर ने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया था। छद्मस्थ अवस्था में भगवान ने कभी भी प्रमाद का सेवन नही किया। इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक की चौथी गाथा में भी बताया है कि भगवान ने अप्रमत्त भाव से साधना की। यहा इस बात को और स्पष्ट कर दिया है कि भगवान ने छद्मस्थ काल मे कभी भी प्रमाद का सेवन नही किया था[1]।

छद्म का अर्थ होता है—छिद्र। यहा इसका तात्पर्य द्रव्यछिद्रों से नहीं, भावछिद्रो से है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म को भावछिद्र कहा है। अत ये भाव-छिद्र जिस आत्मा मे स्थित है, उन्हे छद्मस्थ कहते हैं और इनका क्षय कर देने पर व्यक्ति सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है। साधनाकाल मे भगवान भी छद्मस्थ थे। इनका नाश करने के लिए वे प्रमाद का त्याग करके सदा आत्म-चिन्तन एव सयम-साधना मे सलग्न रहते थे।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते है—

मूलम्—सयमेव अभिसमागम्म आयतयोगमाय सोहीए।
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी॥16॥

1 इसकी व्याख्या अ 9 उ 2 की गाथा 4 के विवेचन मे विशेष रूप से की गई है।

छाया– स्वयमेव अभिसमागस्य, आयतयोगमात्मशुद्धया।
अभिनिर्वृत्तः अमायावी यावत् कथं भगवान् समित्त आसीत्॥

पदार्थ–सयमेव–स्वात्मा से तत्त्व को। **अभिसमागम्म**–जानकर भगवान तीर्थ-प्रवर्तन करने के लिए उद्यत हुए। **आयसोहीए**–आत्म शुद्धि से। **आयत योगं**–सुप्रणिहित मन-वचन और काय योग को धारण करके। **अभिनिव्वुडे**–वे कषायों के उपशम से अभिनिर्वृत्त हो गए थे। **अमाइल्ले**–माया से रहित होकर। **भगवं**–भगवान। **आवकहं**–जीवन पर्यन्त। **समियासी**–पाच समिति और तीन गुप्तियों के परिपालक थे।

मूलार्थ–स्वत तत्त्व को जानने वाले भगवान महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध करके त्रियोग को वश मे करके कषायो से निवृत्त हो गए थे और वे समिति एवं गुप्ति के परिपालक थे।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा में बताया है कि भगवान ने किसी के उपदेश से दीक्षा नही ली थी। वे स्वयं बुद्ध थे, अपने ही ज्ञान के द्वारा उन्होने साधना-पथ को स्वीकार किया और राग-द्वेष, कषायो एव प्रमाद का त्याग करके आत्म-चिन्तन के द्वारा चार घातिक कर्मो का सर्वथा नाश करके वे सर्वज्ञ एव सवदर्शी बने।

साधना-पथ पर चलने वाले साधक के सामने कितनी कठिनाइया आती है, यह भी उनके जीवन की साधना से स्पष्ट हो जाता है। उन्होने कह कर ही नही, वल्कि स्वयं साधना करके यह बता दिया कि साधक को प्राणान्त कष्ट उत्पन्न होने पर भी अपने साधना-मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे सदा उत्पन्न होने वाले परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए। इस तरह भगवान महावीर समिति-गुप्ति से युक्त होकर साढे बारह वर्ष तक विचरे और अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेष एव घातिक कर्मो का क्षय करके सर्वज्ञ बने और आयुकर्म के क्षय के साथ अवशेष अघातिक कर्मो का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हो गए।

प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते है–

मूलम्— एस विहि अणुक्कंतो, माहणेण मईमया।
बहुसो अपडिन्नेण, भगवया एवं रीयंति ॥17॥ त्तिबेमि

छाया— एषः विधिः अनुक्रान्तः माहनेन मतिमता।
बहुशः अप्रतिज्ञेन, भगवता एवं रीयन्ते॥ इति ब्रवीमि

पदार्थ—अपडिन्ने—प्रतिज्ञा से रहित। **भगवया**—ऐश्वर्य सम्पन्न। **मईमया**—मतिमान। **माहणेण**—भगवान महावीर ने। **बहुसो**—अनेक बार। **एस विहि**—उक्त विधि का। **अणुक्कंतो**—आचरण किया और उनके द्वारा आचरित एव उपदिष्ट इस विधि का अन्य साधको ने भी अपने आत्म-विकास के लिए। **एवं**—इसी प्रकार। **रीयंति**—परिपालन किया। **त्तिबेमि**—इस प्रकार मै कहता हू।

मूलार्थ—प्रतिज्ञा से रहित ऐश्वर्य सपन्न, परम मेधावी भगवान महावीर ने उक्त विधि का अनेक वार आचरण किया और उनके द्वारा आचरित उव उपदिष्ट इस थिधि का अपने आत्मविकास के लिए अन्य साधक भी इसी प्रकार परिपालन करते है। इस प्रकार मै कहता हू।

हिन्दी-विवेचन

प्रस्तुत गाथा का विवेचन प्रथम उद्देशक की अन्तिम गाथा मे किया जा चुका है। यहा इतना ध्यान रखे कि यह गाथा प्रस्तुत अध्ययन के चारो उद्देशको के अन्त मे दुहराई गई है। इसमे 'माहणेण मईमया' विशेषण कुछ गम्भीरता को लिए हुए है। यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर क्षत्रिय थे, फिर भी उनको मतिमान माहण—ब्राह्मण कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण शब्द विशेष प्रचलित रहा है और इससे श्रमण सस्कृति के इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट रूप से सकेत मिलता हे कि जन्म से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नही होता, बल्कि कर्म से होता है। भगवान महावीर की साधना माहण—हिसा नही करने की साधना थी। वे सदा अहिसा एव समता के झूले मे झूलते रहे है। इसी कारण उन्हे मतिमान ब्राह्मण कहा है। कहा वैदिक यज्ञ अनुष्ठान मे उलझा हुआ, हिसा में अनुरक्त, रक्तरजित हाथो वाला ब्राह्मण और कहा अहिंसा, दया एव क्षमा का देवता ब्राह्मण। दोनो की जीवन रेखा मे आकाश-पाताल जितना अतर। यही कारण है कि सूत्रकार ने वैदिक परत्परा मे प्रचलित ब्राह्मण शब्द

का अर्थ-विकास करके घोर तपस्वी भगवान महावीर के लिए उसे विशेषण रूप से दिया है। इसके अतिरिक्त आचाराङ्ग सूत्र मे कई स्थलों पर आर्य, ब्राह्मण, मेधावी, वीर, बुद्ध, पंडित, वेदविद् आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने इन शब्दो के प्रयोग मे होने वाले हिसा, शोषण एव उत्पीड़न के जहर को अमृत के रूप मे परिणत करके इन शब्दो को गौरवान्वित किया और आर्य एव आर्यपथ को भी दिव्य-भव्य एवं उन्नत बनाया।

'त्तिबेमि' का विवेचन पूर्ववत् समझें।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ नवम अध्ययन समाप्त ॥

पारिभाषिक शब्दकोश

अकर्मभूमि-मनुष्य—जिस क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म (काम) नही करते। कल्पवृक्षो के द्वारा उनकी अभिलाषाओ एव इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।

अकल्पनीय—ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अकुशल—सदोष।

अग्रबीज—जिस वनस्पति के अग्र—आगे के भाग मे बीज है, जैसे—नारियलादि।

अगीतार्थ—जो साधु 16 वर्ष से कम आयु का है, वह वय-अगीतार्थ है और जो साधु श्रुत मे आचार-प्रकल्पागम, अर्थात् आचाराङ्ग और व्यवहार एव निशीथ के अर्थ का ज्ञाता नही है, वह श्रुत से अगीतार्थ है।

अचित्त—चेतना स रहित पदार्थ। जड पदार्थ अचित्त कहलाते है।

अचित्त-योनि—जो उत्पत्तिस्थान जीवप्रदेशो से रहित है।

अचेलक—स्वल्प या मर्यादित वस्त्र-युक्त या वस्त्र-रहित मुनि।

अतीरंगम—ससार-सागर को तैर कर किनारे पर पहुचने मे असमर्थ व्यक्ति।

अध्यवसाय—परिणाम या भाव-विचार।

अनगार—घर-परिवार से रहित साधु, श्रमण, निर्ग्रन्थ।

अनन्तानुबधी-क्रोध—जिसके क्रोध का अनन्त प्रगाढ अनुबन्ध—बन्धन है, अर्थात् जिसके साथ वैर-विरोध हो गया, वह जीवनपर्यन्त बना रहता है, उसका क्रोध कभी समाप्त नही होता, उसे अनन्तानुबन्धी क्रोध कहते है।

अन्तर्द्रष्टा—आत्मा को देखने वाला, आत्म-चिन्तन करने वाला।

अन्तराय-कर्म—आत्मा के स्वाभाविक गुणो को प्राप्त करने मे रुकावट डालने वाला कर्म।

अन्तेवासी—गुरु की सेवा में सलग्न रहने वाला या सदा गुरु की आज्ञा में विचरने वाला शिष्य।

अनन्त—जिसका कहीं अन्त नही आता।

अनन्त चतुष्क—आत्मा मे 1—अनन्त ज्ञान, 2—अनन्त दर्शन, 3—अनन्त सुख और 4—अनन्त वीर्य (शक्ति) की सत्ता (अस्तित्व) रहती है।

अनन्य-आराम—जो मोक्ष-मार्ग या आत्म-साधना के अतिरिक्त अन्यत्र शान्ति या आराम का अनुभव नहीं करता या जिसे आत्म-साधना मे ही आराम व शाति की अनुभूति होती है।

अनन्य दर्शी—यथार्थ द्रष्टा, आत्म-दर्शी।

अन्य-लिंगी—जैनेतर साधु के वेश मे।

अनर्थ-गत-जिज्ञासा—ससार के स्वरूप को जानने की अभिलाषा।

अनाथी मुनि—भगवान महावीर के युग का एक श्रमण, जिसने मगधाधिपति श्रेणिक को जीवन का यथार्थ रहस्य बताया था, उसे प्रतिबोध दिया था।

अनादित्व—पदार्थ के अस्तित्व मे आने की कोई आदि नही है, अर्थात् जो पदार्थ अनन्त काल से विद्यमान है, उसका कभी सर्वथा अभिनव निर्माण नही हुआ।

अनार्य देश—जहा के लोगो मे आर्यत्व—अहिसा, दया, प्रेम, स्नेह, सत्य आदि का अभाव था। जो कठोर हृदय वाले एवं निर्दयी तथा परपीडन मे आनन्द मनाने वाले थे।

अनावृत—खुला हुआ, नग्न, परदा या आवरण से रहित।

अनुकम्पा—किसी भी दुःखी प्राणी को पीडित देखकर आत्मा मे कम्पन होना। दया-भाव जागृत होना।

अनुपभुक्त—जो पदार्थ अभी भोगा नहीं गया है।

अनुभवन—अनुभूति या अनुभव होना।

अनुभाग बन्ध—बँधने वाले कर्मो का अनुभाग रस कैसा है? शुभ है या अशुभ, मन्द है या तीव्र? इस तरह कर्म मे रस के परिपाक को अनुभाग-बन्ध कहते हैं।

अनुमोदन—समर्थन।

अनुवर्त्तन—परिभ्रमण करना, घूमते रहना।

अनुष्ठान—क्रिया, साधना।

अनोघतर—ससार-प्रवाह को पार करने में असमर्थ व्यक्ति।

अप्काय—जिन जीवों ने पानी के शरीर को धारण कर रखा है।

अप्रतिज्ञ—इच्छा, वासना एवं कामना से रहित।

अप्रतिबन्ध-विहारी—वायु की तरह बिना किसी प्रतिबन्ध के विचरण करने वाला साधक।

अपरिज्ञात—अनजान, जिसे किसी पदार्थ के स्वरूप का बोध नही है।

अपरिमित—असीम (Boundless) जिसकी कोई सीमा या मर्यादा नहीं है।

अपवर्ग—मोक्ष या मुक्ति।

अपवाद—सयम रक्षा के लिए विशेष परिस्थिति मे जिस निषिद्ध मार्ग का अवलम्बन लिया जाए।

अपारंगम—ससार-समुद्र को पार करने मे असमर्थ व्यक्ति।

अपौरुषेय—जो पुरुष द्वारा निर्मित नही है, अर्थात् ईश्वर द्वारा उपदिष्ट शास्त्र।

अभक्ष्य—जो पदार्थ खाने योग्य नहीं है।

अभ्याख्यान—अपलाप करना।

अभिग्रह—प्रतिज्ञा विशेष।

अमनोज्ञ—चारित्र से हीन शिथिलाचारी साधु या चारित्र एव श्रद्धा से भ्रष्ट या रहित साधु-सन्न्यासी।

अयोगी गुणस्थान—आत्म-साधना का चरम विकास, इस गुणस्थान की आयु कुछ क्षणो की है—अ इ उ ऋ और लृ के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय की। यहा पहुचते ही आत्मा समस्त कर्मो का क्षय करके कर्म-जन्य मन-वचन और काय (शरीर) योग का निरोध कर लेता है और तुरन्त सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

अर्थगत-जिज्ञासा—मोक्ष के अर्थ को जानने की जिज्ञासा—भावना।

अरणक—भगवान महावीर के 10 श्रावकों (उपासकों) में से एक श्रावक।

अरिहन्त—कर्म रूपी शत्रुओ का नाश करने वाले महापुरुष।

अवधि-ज्ञान—मन और इन्द्रियो की बिना सहायता के मर्यादित क्षेत्र मे स्थित रूपी पदार्थो को स्पष्ट रूप से जानना-देखना।

अवमचेलक—स्वल्प एव मर्यादित वस्त्र से युक्त।

अव्रती—त्याग से रहित।

अवसर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमें 6 आरे—समय का एक माप—होते है। इसके प्रत्येक आरे मे सुख-समृद्धि, शरीर, सघयन, आयु आदि का ह्रास होता रहता है।

अविनाभाव-सम्बन्ध—जो सम्बन्ध एक-दूसरे के बिना रह नही सकता। जैसे—गुण और गुणी दोनो एक-दूसरे के अभाव मे रह नही सकते।

असंयत—गृहस्थ या जो संयत-साधु नहीं है।

असंवृत्त—सवर—आते हुए कर्म को रोकने की एक प्रक्रिया, से रहित है।

असदभियोग—झूठा आरोप लगाना।

असम्यक्—तत्त्वो एव लोक स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव।

असुरकाय—राक्षस, नीच जाति के देव। भवनपति, बाणव्यन्तर जाति के देवो को असुर कहते है।

अशाश्वत—क्षणिक, सदा नही रहने वाला।

अहिंसा—किसी प्राणी का वध नही करना तथा उसे सक्लेश नही पहुँचाना।

आगम—शास्त्र, सूत्र।

आचार्य हेमचन्द्र—12वीं शताब्दी के प्राकृत-सस्कृत के विद्वान जैनाचार्य, जो जैन शास्त्रो पर टीकाएं एव जैन दर्शन, योग शास्त्र, व्याकरण, काव्य, जीवन-चरित आदि विभिन्न विषयो के अनेक ग्रन्थों के निर्माता थे।

आचाराङ्ग—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट 12 अग शास्त्रो में प्रथम शास्त्र, जिसमे प्राय· साध्वाचार का उपदेश दिया गया है।

आजीविक—मखली पुत्र गौशालक की सम्प्रदाय, आज उसका अस्तित्व नहीं रहा और न उसका साहित्य ही उपलब्ध होता है।

आतंकदर्शी—नरक-तिर्यच आदि गति मे मिलने वाले दु:खों एव आतंक को देखने वाला या पाप-कर्म करते हुए डरने वाला।

आत्मतुला—आत्मा का तराजू, अर्थात् कार्य करने से पूर्व वह उसे अपनी आत्मा की आवाज से परख लेता है।

आत्मवादी—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला।

आत्मश्लाघा—अपनी आत्मप्रशसा।

आत्यन्तिक—पूर्ण रूप से।

आधाकर्मी आहार—जो आहार आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त हिंसा करके तैयार किए जाते है।

आप्त—पूर्ण पुरुष—जिसमे राग-द्वेष या दोषो की जरा भी कालिमा अवशेष नही रही है।

आम—अपक्व पापकर्म ओर आधाकर्म—जो आहार-पानी आदि उपभोग के पदार्थ साधु के निमित्त से बनाए जाते हे, दोष।

आयत—कभी समाप्त नही होने वाला स्वरूप, मोक्ष।

आयुकर्म—जिस कर्म के कारण जीव (आत्मा) अपने शरीर मे स्थित रहता है और जिसके समाप्त होते ही जीव (आत्मा) शरीर को छोड कर दूसरी गति या मोक्ष मे चला जाता हे।

आर्त—राग-द्वेष एव विषय-कषाय से आवृत्त घिरा हुआ।

आर्त-रौद्र-ध्यान—दु.ख से पीडित होकर सदा दु ख एव शोक मे डूब रहना तथा रुद्र—दूसरे का समूलत नाश करने का भाव रखना, सदा अत्यधिक दुर्भावनाओ मे डूबे रहना। दूसरे का नाश करने के उपायो को सोचते रहना।

आवृत—ढका हुआ, आच्छादित।

आवर्त—ससार।

आस्तिक्य—यथार्थ देव, गुरु और धर्म पर दृढ़ श्रद्धा-विश्वास होना।

आहार संज्ञा—खाद्य पदार्थो का उपभोग करने की अभिलाषा।

इङ्गित मरण—मृत्यु को निकट जानकर समाधि पूर्वक मृत्यु का आह्वान करना, अथवा जीवन पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करके रखी हुई मर्यादित भूमि मे ही विचरण करना।

इयत्ता—परिमितता, एक सीमा।

ईर्यापथिक-क्रिया—राग-द्वेष से रहित तीर्थकरों द्वारा की जाने वाली क्रिया, इससे पुण्य-पाप किसी भी तरह का बन्ध नही होता। केवल प्रथम समय में कर्म आते हैं, द्वितीय समय मे वेदन—आत्म-प्रदेशों से स्पर्शित होते है और तीसरे समय मे झड जाते है।

ईर्या समिति—चलते समय विवेक पूर्वक देखकर चलना। अपने मन-वचन और काय योग को धर्म-चर्चा, चिन्तन-मनन एवं अन्य सब विषयो से हटाकर मार्ग अवलोकन मे लगाना।

उपभोगावशिष्ट—उपभोग—काम में लेने के बाद शेष बचे हुए पदार्थ।

उत्पाद—उत्पन्न होना।

उत्सर्ग—वह मार्ग जिसकी साधना सदा-सर्वदा की जा सके। सदा आचरण करने योग्य साधना-पथ।

उत्सर्पिणी—यह दस कोटा-कोटि सागरोपम का काल होता है, इसमे 6 आरे—समय का एक (नाप)—होते है। इसके प्रत्येक आरे मे सुख-समृद्धि, शरीर, संघयन, आयु आदि की वृद्धि होती रहती है।

उद्‌गमन के दोष—आहार के वे दोष जो अन्ध अनुरागी भक्त के द्वारा लगाए जाते है। आधाकर्मी आदि—साधु के निमित्त आहार आदि बनाकर देना।

उत्पादन के दोष—आहार ग्रहण करने के वे दोष जो स्वाद लोलुपी साधु के द्वारा सेवन किए जाते है।

उद्‌भिज—पृथ्वी का भेदन करके उत्पन्न होने वाले प्राणी टिड्डी, पतंगे आदि।

उदीरणा—जो कर्म अभी तक उदय में नही आए है, उन्हे विशेष प्रक्रिया के द्वारा समय से पहले ही उदय में ले आने का नाम उदीरणा है।

उद्देशक—अध्ययन के अनेक विभागो मे से एक विभाग। अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न विषयो मे से अभिनव विषय को नए शीर्षक से प्रारम्भ करने की पद्धति।

उपकरण—वस्त्र-पात्र आदि साधन या सामग्री।

उपदेष्टा—उपदेशक।

उपधान—तप-साधना की एक प्रक्रिया।

उपयोग—आत्मा को जानने एव देखने की शक्ति, जिसे दर्शन और ज्ञान भी कहते है।

उपसर्ग—किसी देव-दानव या मानव द्वारा दिया जाने वाला कष्ट।

उपशम—शात, राग-द्वेष एवं काषायिक भावो को उपशांत कर देना।

उपादेय—स्वीकार करने योग्य।

उष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान में उष्ण—गरम स्पर्श पाया जाता है।

ऋजु—सरल, निष्कपट।

एक देश—एक भाग, एक हिस्सा।

एक शाटक—एक वस्त्र।

एषणा के दोष—आहार के वे दोष जो अनुरागी भक्त एव स्वाद लोलुप साधु दोनो के द्वारा लगाए लाते है।

ओघ संज्ञा—जीव की अविकसित एव अव्यक्त चेतना अवस्था।

औदयिक भाव—कर्म प्रकृतियो का उदय भाव रहना।

औदारिक—हड्डी, मास-मज्जा, रक्त, वीर्य आदि से युक्त स्थूल शरीर, जो मनुष्य ओर तिर्यच मे पाया जाता है।

औनोदर्य—अल्पाहार, क्षुधा—भूख से कम आहार करना।

औपपातिक—उत्पत्तिशील, जन्मातर में सक्रमण करने वाला या देव और नारकी।

देव और नारकी के जन्म-स्थान को उपपात कहते है और उपपात से उत्पन्न होने के कारण ये औपपातिक कहलाते है।

औपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमे दर्शन-मोह कर्म की सातो प्रकृतियों को उपशम शात कर दिया है, दबा दिया है।

अंगिरा—एक महान् ऋषि। वैदिक परपरा की मान्यता है कि ईश्वर ने इन ऋषियो (अङ्गिरा आदि) को वेदो का रहस्य बताया था।

अडज—अडे से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

अतर्दीपज-मनुष्य—लवण समुद्र में स्थित द्वीपो में जन्मने वाले मनुष्य। वैसे यह क्षेत्र भी अकर्मभूमि ही है।

कटिबन्ध—धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र।

कर्तृत्व—कर्म—कार्य का करने वाला।

कर्म बद्ध—कर्मो से बॅधी हुई।

कर्मभूमि मनुष्य—जिस क्षेत्र मे मनुष्य कृषि, व्यापार, नौकरी एवं शस्त्रास्त्र का काम करके, पुरुषार्थ करके अपना जीवन यापन करता है, उसे कर्मभूमि कहते हैं और उस क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य को कर्मभूमि-मनुष्य।

कर्मवादी—कर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला।

कर्माश्रव—कर्म के आने का द्वार।

कल्प-सूत्र—आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित एक शास्त्र, जिसमे मुनि-कल्प (मर्यादा), भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन का वर्णन, भगवान महावीर के शासन की पाट परम्परा (स्थविरावली) का वर्णन है।

कल्पातीत—जिनके लिए उनका अपना ज्ञान एव आचरण ही कल्प या मर्यादा थी।

कषायमूलक—बध्यमान कर्म—कषाय के मूल निमित्त से बंधे हुए कर्म।

कायोत्सर्ग—शरीर के ममत्व का त्याग करना।

कार्मण-शरीर—संसार मे स्थित आत्मा के साथ लगा हुआ एक सूक्ष्म शरीर जो कर्मो को ग्रहण करता है और सदा काल साथ रहता है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर

यहीं रह जाता है, परन्तु यह सूक्ष्म शरीर साथ रहता है और यही आत्मा को अपने उत्पत्ति स्थान पर ले जाता है।

काषायिक—कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त भाव।

किंपाक फल—एक प्रकार का फल जो वर्ण-रूप, गध, रस से सुन्दर, सुवासित एव स्वादिष्ट लगता है, परन्तु स्वभाव से विषाक्त होता है। वह खाने वाले को निष्प्राण बना देता है।

क्रियावादी—क्रिया—आचरण का मार्ग बताने वाला।

कुरान शरीफ—मुसलमानों का धर्म-ग्रथ।

कुशल—निर्दोष।

कूटस्थ—बिना किसी परिवर्तन के सदा-सर्वदा बने रहना।

कृत-अकृत—करने योग्य हो या न हो।

केवल ज्ञान—इन्द्रिय, मन एवं अन्य किसी भी ज्ञान की बिना अपेक्षा के तीनो लोक में स्थित द्रव्यो एवं उनके त्रिकाल-वर्ती भावों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना-देखना।

केशी-श्रमण—भगवान पार्श्वनाथ (23 वें तीर्थकर) के शिष्य, जो भगवान महावीर के शासनकाल में विद्यमान थे और गौतम स्वामी के साथ विचार-चर्चा करने के बाद भ महावीर के शासन मे सम्मिलित हो गए।

क्षयोपशम—कर्म की कुछ प्रकृतियो को नष्ट कर देना और कुछ को शान्त कर देना, अर्थात् उन्हें उभरने न देना।

क्षयोपशमिक-सम्यक्त्व—जिसमे दर्शन-मोह कर्म की कुछ प्रकृति क्षय एवं कुछ का उपशम होता है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—जिसमे दर्शन-मोह कर्म की 7 प्रकृतियो का क्षय कर दिया गया है।

क्षेत्रज्ञ—अग्नि के वर्ण आदि को जानने वाला।

क्षेमंकरी—कल्याणकारी।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान को आवृत करने, ढकने वाला कर्म।

खुदा—ईश्वर।

खेदज्ञ—अग्नि की दहन शक्ति को जानने वाला।

गजसुकमाल—कृष्ण-वासुदेव के लघु-भ्राता और भगवान अरिष्टेनेमिनाथ के सुशिष्य, जिन्होने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की, उसी दिन सिद्धत्व को पा लिया।

गणधर—गण (साधु-साध्वी के समूह) को धारण करने वाले, अर्थात् गण की व्यवस्था करने वाले। तीर्थकरों की अर्थ रूप वाणी को सूत्र रूप में ग्रथित करने वाले। भगवान महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि 11 गणधर थे।

गणि-पिटक—ज्ञान का पिटारा—ज्ञान-मजूषा (Treasure of Knowldge)।

गति—यू तो गति का अर्थ होता है—चलना, पर नरक, तिर्यच, मनुष्य व देव इन चार उत्पत्ति स्थानों को भी गति कहते है। यहा गति का अर्थ उक्त चार गति रूप ससार है।

गति-आगति—जीव के आवागमन के स्थान।

गति-त्रस—जिन जीवों ने त्रस नाम कर्म एव गति का बन्ध होने से त्रस—हलन-चलन करने वाले, जीवन को प्राप्त किया है, उन्हें गति-त्रस कहते है।

गुण—किसी वस्तु में रहने वाली पर्याय विशेष और शब्दादि विषय, विषय-विकार को भी गुण कहते हैं।

गुणार्थी—विषय-वासना का अभिलाषी।

गुणी—वह वस्तु विशेष, जिसमे गुण रहते है।

गुप्ति—मन-वचन और काय (शरीर) योग का गोपन करना।

गुरुत्व—भारीपन।

गौतम स्वामी—भगवान महावीर के प्रथम और प्रमुख शिष्य एव प्रथम गणधर।

गौशालक—मखली जाति का एक व्यक्ति, जो भगवान महावीर की प्रतिष्ठा को देखकर उनकी तरह उनके साथ रहने लगा और उन्हें अपना गुरु मानने लगा। वह 6 वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा। उसके बाद अलग होकर उसने अपना आजीवक सप्रदाय चलाया।

ग्रन्थि—गांठ।

ग्रामधर्म—काम-वासना या भोगेच्छा।

ग्लान—वृद्ध; रोगी और अस्वस्थ।

घातिक-कर्म—ज्ञान-दर्शन, सुख और वीर्य शक्ति, आत्मा के इन चार मूल गुणों की घात करने वाले, अर्थात् इन्हें आवृत करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहलाते हैं।

घ्राणेन्द्रिय—नाक, नासिका।

चक्रवर्ती—सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकच्छत्र राज्य करने वाला शासक।

चण्डकौशिक-सर्प—एक भयंकर विषधर (सर्प) जिसकी फुकार से मनुष्य क्या, पशु-पक्षी भी मर जाते थे, पेड़-पौधे पत्र-पुष्प एव फलो मे रहित हो जाते थे, जिसको निर्भयता पूर्वक भगवान महावीर ने उसकी बाम्बी पर जाकर उपदेश दिया और उसे निर्विष बनाकर उसके एव जनता के जीवन को शान्तिमय बनाया।

चतुरिन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा, नाक और आख चार इन्द्रिया हैं।

चौदह-पूर्व—तीर्थकर भगवान द्वारा उपदिष्ट विशाल ज्ञान, जो वर्तमान में उपलब्ध नही है।

चार ज्ञान—1—मति ज्ञान, 2—श्रुत ज्ञान, 3—अवधि ज्ञान, 4—मन पर्यव-ज्ञान और 5—केवल ज्ञान। ये पाच ज्ञान सम्यग् ज्ञान माने गए हैं। इसमें से पहले चार ज्ञान।

चार याम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह व्रत।

चारित्र—आत्मा मे स्थित कर्म-प्रवाह को समाप्त करने की एक साधना प्रक्रिया।

चारित्र धर्म—आगम मे उपदिष्ट साधना को जीवन में साकार रूप देना।

चारित्र मोहनीय—एक प्रकार का आवरण, जिसके रहते आत्मा त्याग-मार्ग को स्वीकार नहीं कर पाता।

चार्वाक—एक भारतीय दर्शन, जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व और नरक स्वर्ग को नहीं मानता।

चूलिका—मूल ग्रथ के विषय में रही हुई कमी को पूर्ण करने या विषय को स्पष्ट करने के लिए मूल ग्रन्थ के साथ जोडा गया ग्रंथ या अध्ययन।

चोलपट्टक—धोती के स्थान मे पहनने का वस्त्र।

छट्टा गुणस्थान—पूर्णतः त्याग मार्ग स्वीकार करने का स्थान।

छद्मस्थ—जिन प्राणियो को संपूर्ण (केवल) ज्ञान नहीं हुआ है। जिनमें अभी तक राग-द्वेष के भाव स्थित हैं।

जम्बू स्वामी—भगवान महावीर के पंचम गणधर और प्रथम आचार्य के सुशिष्य तथा भगवान महावीर के शासन के द्वितीय शास्ता—आचार्य।

जयन्ती—भगवान महावीर की ज्ञानवती एव सेवा-निष्ठ उपासिका जिसने अनेक बार भगवान से प्रश्न पूछे थे।

जरायुज—जेर से आवृत उत्पन्न होन वाले प्राणी, गाय-भैंस आदि।

जातिस्मरण ज्ञान—आत्मा की एक शुद्ध अवस्था या भावना, जिसके द्वारा आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना अपने निरन्तर सन्नी पंचेन्द्रिय (मन युक्त पशु-पक्षी या मनुष्य) के किए गए अनेक या 900 भवों को देख लेता है।

जिनकल्प—साधु-जीवन की विशिष्ट साधना। सघ से अलग रहकर एकाकी साधना करने वाले, दूसरो को उपदेश न देने वाले, शिष्य न बनाने वाले, अपने शरीर की भी सार-सम्भाल न करने वाले, नग्न रहने वाले साधु की मर्यादा।

जिनेंद्र—राग-द्वेष के विजेता।

जिनेश्वर—राग-द्वेष रूप समस्त भाव शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाले या मनोविकारों के विजेता।

जिनोपदिष्ट—राग-द्वेष विजेता तीर्थकर भगवान के द्वारा उपदेशित-प्ररूपित।

जैनदर्शन—जिन भगवान तीर्थकरोपदिष्ट सिद्धान्त, अर्थात् जो आप्त पुरुषो द्वारा उपदिष्ट जैनागमो को प्रमाण मानता है।

तप—आहार-पानी, स्वाद, रस एवं कषायों—क्रोध मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष का त्याग करना।

तादात्म्य सम्बन्ध—गुण और गुणी की एक-रूपता का सम्बन्ध, अर्थात् गुण और गुण का स्वाभविक या सदा स्थित रहने वाला सम्बन्ध।

तितिक्षा—सहनशीलता, सहिष्णुता।

तीर्थकर—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चतुर्विध—चार प्रकार के संघ (समूह) को तीर्थ कहते हैं और इसके सस्थापक को तीर्थकर। वर्तमान कालचक्र में 24 तीर्थकर हुए हैं, उनमें भगवान ऋषभदेव प्रथम है और भगवान महावीर अन्तिम।

तेजस्काय—जिन जीवो ने अग्नि के शरीर को धारण कर रखा है।

तेजोलेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा तपस्वी साधक अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रज्चल्यमान पुद्गल फैकता है, जिससे वह जलकर भस्म हो जाता है। इसे तेजोलब्धि भी कहते हैं।

तेरहवां गुणस्थान—जहा राग-द्वेष का अभाव होने से कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु मन-वचन और काय योग का सद्भाव होने से केवल कर्म आते है और तुरन्त झड जाते हैं। यहां आत्मा को पूर्ण ज्ञान होता है।

तैजस शरीर—पाचन क्रिया करने वाला एक सूक्ष्म शरीर। यह शरीर भी ससार अवस्था मे जीव के सदा साथ रहता है।

त्रस-स्थावर—जो प्राणी त्रास पाकर दु:ख से बचने के लिए सुख के स्थान में आ-जा सकते है, वे त्रस और जो कही आ-जा नहीं सकते, एक जगह स्थिर रहते है, वे स्थावर। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी त्रस और एकेन्द्रिय प्राणी स्थावर कहलाते है।

त्रिकालवर्ती—तीनो काल मे बर्तने वाला।

त्रि-करण—किसी कार्य को करना, करवाना और समर्थन करना।

त्रिपथ—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों मार्गो का सुमिलन।

त्रि-याम—जीवन की तीन अवस्थाएं—प्रथम याम 8 से 30 वर्ष, मध्यम-याम 30 से 60 वर्ष और अन्तिम याम 60 वर्ष से लेकर अन्तिम सास तक का समय। या सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र अथवा हिंसा, झूठ और परिग्रह का परित्याग।

त्रि-योग—मन-वचन और काय (शरीर) योग।

त्रीन्द्रिय—जिन प्राणियों के शरीर, जिह्वा और घ्राण—नाक केवल तीन इन्द्रियां ही है।

त्रैकालिक सत्य—आगत, वर्तमान और अनागत तीनों काल मे समान रूप से विद्यमान रहने वाला।

दण्ड रूप—हिंसक।

दर्शनमोहनीय—सम्यक् श्रद्धा पर मोह कर्म का आवरण, जिससे जीव तत्त्वों पर श्रद्धा नही कर पाता।

दर्शन सप्तक—अनन्तानुबंधी प्रगाढ़ क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व-मोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्र-मोहनीय इन सात प्रकृतियो को दर्शन सप्तक कहते है। जब तक इनका उदय रहता है, तब तक सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

दर्शनावरणीय कर्म—अवलोकन करने की सामान्य दृष्टि को आवृत करने वाला कर्म।

दशवैकालिक सूत्र—शयभवाचार्य द्वारा सकलित और चार मूल शास्त्रों में से पहला मूल शास्त्र, जिसमे साध्वाचार का वर्णन है।

दुख प्रतिघात—दुःखों का नाश करना या दुःखों से छुटकारा पाना।

दूष्प्रत्याख्यान—बुरा या मिथ्या त्याग।

देवदूष्य वस्त्र—तीर्थकरो को दीक्षा लेते समय इन्द्र द्वारा दिया जाने वाला एक वस्त्र। तीर्थकर इस वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र ग्रहण नही करते।

देवर्द्धिगणि—क्षमा-श्रमण—भगवान महावीर के लगभग 900 वर्ष बाद होने वाले आचार्य। इन्होने ही वी स 980 में आगमों को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया था।

द्रव-द्रवित—तरल (स्पुनपक) पदार्थ, परन्तु यहां इसका अर्थ है, संयम-साधना या राग-द्वेष से निवृत्त होना।

द्रविक—राग-द्वेष से निवृत्त होने वाला साधक।

द्रव्य—वस्तु का मूल स्वभाव पदार्थ।

द्रव्य-उपधि—कर्म एवं कर्मजन्य साधन—मन-वचन और काय (शरीर) योग।

द्वादशांगी—12 अग सूत्र, जिन्हें शास्त्र या आगम भी कहते है।

द्वीन्द्रिय—जिन प्राणियो के शरीर और जिह्वा सिर्फ दो इन्द्रियां ही है।

धर्मध्यान—आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का आत्मज्योति को विकसित करने के लिए, चिन्तन करना।

धर्मसंज्ञा—धर्म-पथ या साधनामार्ग पर चलने की भावना का उद्बुद्ध होना।

धुत—आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष के मैल को हटाना।

ध्यान—चिन्तन-मनन।

ध्रुवाचारी—मोक्ष प्राप्ति के साधन—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिपालन करने वाला साधक।

धृति—सहनशीलता।

ध्रौव्य—नित्यत्व, वस्तु का सदा सर्वदा स्थायी रहना।

नव तत्व—जैन दर्शन जीव, अजीव (जड), पुण्य, पाप, आस्रव (कर्म के आने का द्वार), सवर (आने वाले कर्मो को रोकने की एक प्रक्रिया), निर्जरा (कर्मो को एक देश से क्षय करने की साधना), बन्ध (कर्मो का बँधना) और मोक्ष (कर्मो से सर्वथा मुक्त होना), इन नौ को मूल तत्त्व (Elements) स्वीकार करता है।

नागासाकी और हिरोशिमा—जापान के दो बडे शहर, जिन्हे द्वितीय विश्व-युद्ध मे अमेरिका ने अणुबम गिराकर नष्ट कर दिया था।

नास्तिक—जिसे आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग, नरक एव पुनर्जन्मादि मे विश्वास नही है।

निकाचित—जो कर्म इतने चिकने एव प्रगाढ बँध गए है कि वे जिस रूप में बँधे है, उन्हे उसी रूप मे भोगे विना छुटकारा नही मिल सकता।

निगोद—जीव के उत्पत्ति स्थान की वह योनि जहा एक शरीर मे अनन्त जीव रहते है और अनन्त काल तक वही जन्म-मरण करते रहते है।

निग्रह—दमन।

निदान—कामना-फल की इच्छा एवं वासना।

निधत—कषायों के कारण जिन कर्म वर्गणा के पुद्गलो का आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो चुका है।

निमज्जित—डूबा हुआ।

नियागप्रतिपन्न—सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त।

निराम—पक्व, निष्पाप और आधाकर्म आदि दोषों से रहित।

निरावरण—आचरण या कर्म एव अज्ञान के परदे से रहित।

निरुक्ति—व्याख्या।

निरुपक्रमौआयुष्य—किसी प्रकार का उपक्रम—आघात लगने पर भी जीव का आयुष्य कम नहा होता।

निर्ग्रन्थ—धन-धान्य आदि द्रव्य-परिग्रह और राग-द्वेष, काम, क्रोधादि भाव-परिग्रह की गाठ से रहित साधु।

निर्जरा—आत्मा पर चिपटे हुए कर्मो को तप स्वाध्यायादि साधना के द्वारा आत्मा से अलग करना।

निर्द्वन्द्व—द्वन्द्व—सघर्ष से रहित।

निर्युक्ति—जैन आगमो (शास्त्रो) पर प्राकृत भाषा मे की गई गद्य या पद्यमय व्याख्या (टीका)।

निर्वाण—मुक्ति।

निर्वेद—वैराग्य भाव या वेद—सासारिक विषय-वासना से निवृत्त होना।

निवृत्ति—अपनी वृत्ति को ससार से हटा लेना।

निष्कम्प—कम्पन्न-रहित, स्थिर।

निष्कर्म-दर्शी—निष्कर्म सिद्ध वनने की दृष्टि (भावना) या सिद्धत्व को प्राप्त करने का अभिलाषी।

निश्चय दृष्टि—वास्तविक एव यथार्थ दृष्टि।

नैसर्गिक—स्वभाव से या दूसरे के उपदेश के बिना ज्ञान का होना।

पंच मुष्टि लुंचन—सिर के सभी बालो का—जो पांच मुष्टि स्थान मे विभक्त हैं, अपने हाथ से लुंचन करना (उखाड़ना)।

पचाचार—1. ज्ञान आचार, 2 दर्शन आचार, 3. चारित्र आचार, 4. तप आचार

और 5. वीर्य पुरुषार्थ आचार। अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—पुरुषार्थ का आचरण करना।

पंचेन्द्रिय—जिन प्राणियो के शरीर, जिह्वा, नाक, आंख और कान पाचों इन्द्रिया हैं।

पण्डित—ज्ञानी, सम्यग् दृष्टि। सम्यग् ज्ञान से युक्त, पापों से डरने या बचने वाला।

पण्डितमरण—ज्ञान पूर्वक मरण भाव को प्राप्त होना, अर्थात् समस्त पापों एव ममत्व भाव का परित्याग करके शान्त भाव से मृत्यु का आह्वान करना।

पांच महाव्रत—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

पांच याम—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत।

पांडित्याभिमानी—जिसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान है।

पर-प्रकाशक—ज्ञान, अपने ज्ञान से दूसरे पदार्थो के स्वरूप को प्रकाशित करता है--परन्तु अपने स्वरूप को प्रकाशित नही करता।

परम मेधावी—श्रेष्ठ—पूर्ण ज्ञानी।

परमाणु—पुद्गल का वह सबसे छोटा हिस्सा, जिसका एक से दूसरा विभाग न हो सके।

पर-व्याकरण—दूसरे का उपदेश या तीर्थकर भगवान का उपदेश।

परिग्रह—धन-सम्पत्ति एवं पदार्थो मे आसक्ति ममत्व भाव एव तृष्णा रखना।

परिग्रह संज्ञा—पदार्थो एव भोगोपभोग के साधनो तथा धन-वैभव पर आसक्ति भाव एव तृष्णा का जागृत होना।

परिणामी—परिवर्तित होने वाला।

परिणामी नित्य—वस्तु का पर्यायो की बदलती हुई स्थिति मे भी द्रव्य रूप से स्थायी रहना।

परिद्यून—जीर्ण-शीर्ण।

परिताप—विशेष ताप—कष्ट।

परितापनी क्रिया—दूसरे की आत्मा को परिताप—सन्ताप का कष्ट देना।

परिबोध—ज्ञान।

परिमित—सीमित।

परिवन्दन—अभिनन्दन या प्रशसा।

परिव्राजक—संन्यासी।

परीषह—शीत उष्णादि का कष्ट।

परेतर-उपदेश—पर का अर्थ यहां तीर्थकर है। अतः तीर्थकर के अतिरिक्त किसी अन्य महापुरुष का उपदेश।

पर्युषित—बासी आहार।

पर्व वीज—जिस वनस्पति की गाठो मे बीज होता है, गन्ना, बास आदि।

प्राणातिपातिनी क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा को कष्ट—पीडा देना या किसी के प्राणो का नाश कर देना।

पादोपगमन—मृत्यु को निकट जानकर साधक सदा के लिए आहार-पानी का त्याग करके निश्चेष्ट होकर वृक्ष की टूटी हुई शाखा की तरह निष्कम्प भाव से पडा रहता है।

पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी या साध्वाचार से गिरे हुए अथवा जिनके पास चारित्र का प्रतीक वेश तो है, परन्तु जीवन मे आचरण क्रियान्वित नही है।

पुद्गल—जड़ पदार्थ अणु-परमाणु पुद्गल का शुद्ध रूप है, अनन्त-अनन्त परमाणुओ के मिलने से एक स्कन्ध बनता है, जिसे आत्मा कर्म रूप से ग्रहण करता है और वही स्कन्ध इन्द्रिय एव मन के द्वारा जाना देखा जा सकता है।

पुनर्जन्म—जब तक कर्मो का पूर्णत· क्षय न हो जाए, तब तक मृत्यु के बाद पुन· जन्म ग्रहण करना।

पुरुष—आत्मा। साख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष शब्द से सबोधित किया है।

पुरुष प्रमाण मार्ग—चलते समय अपने सामने का साढे तीन हाथ लम्बा क्षेत्र।

पैगम्बर—खुदा (ईश्वर) का सन्देश वाहक।

पोतज—चर्ममय थैली से उत्पन्न होने वाले प्राणी, हाथी आदि।

प्रकृति—जड़ तत्त्व। सांख्य दर्शन जड पदार्थो को प्रकृति मानता है।

प्रकृति बन्ध—कर्मो की प्रकृति—स्वभाव का बंध होना, अर्थात् आने वाले कर्म ज्ञानावरण हैं, दर्शनावरण है या अन्य प्रकृति के है।

प्रज्ञापना सूत्र—12 उपांग सूत्रो में से चतुर्थ उपाग शास्त्र।

प्रज्ञावान—पदार्थो के हेय और उपादेय स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता, ज्ञानी।

प्रच्छन्न—छिपी हुई।

प्रतिमासंपन्न—विशेष प्रतिज्ञा धारण करने वाला साधक।

प्रतिलेखन—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों का सम्यक्तया अवलोकन करने की एक प्रक्रिया।

प्रत्यक्षीकरण—साक्षात् अनुभव।

प्रत्याख्यान—त्याग, नियम एवं प्रतिज्ञा ग्रहण करना।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी आत्मप्रेरणा एव आत्मजागृति से साधना पथ पर गतिशील साधक।

प्रदेश बंध—कर्म वर्गणा के पुद्गलो का आत्मा मे प्रविष्ट होना।

प्रदेशी राजा—श्वेताम्बिका नगरी का राजा जो किसी समय नास्तिक था, परन्तु भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण के प्रतिबोध से जैन बन गया था।

प्रदोषिका क्रिया—अपनी या अन्य की आत्मा पर द्वेष करना।

प्रबुद्ध—विशिष्ट ज्ञानी, सजग पुरुष।

प्रभूत—अत्यधिक, ऐसा खजाना जो कभी समाप्त नही होता।

प्रमादी—विषय, कषाय, मद, अव्रत, मिथ्यात्व आदि विकार प्रमाद है। अत इन विकारो मे सलग्न रहने वाला प्रमादी कहलाता है।

प्रमार्जनी—शरीर पर बैठे हुए मक्खी-मच्छर आदि को हटाने के लिए ऊन का बना हुआ एक छोटा-सा गुच्छक।

प्रवचन—उपदेश।

प्रशम—कषायों को अच्छी तरह से शान्त-उपशान्त करना।

प्रशस्त—सुन्दर, सरल और निष्कटक।

प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व—प्राण धारण करने के कारण 'प्राणी', तीनों काल मे रहने के कारण 'भूत', तीनो काल में जीवन (चेतना) युक्त होने से 'जीव', और पर्यायों के परिवर्तित होने पर भी आत्म द्रव्य की सत्ता मे अन्तर नहीं आने से 'सत्त्व' कहलाता है। ऐसे—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय को **प्राणी**, वनस्पति को **भूत**, पञ्चेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य को **जीव** और पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि काय को **सत्त्व** कहत है।

प्रान्त—निकृष्ट खाना एव तृण आदि की तुच्छ शय्या।

प्रासुक—हरी-सब्जी, बीज एव जीव-जन्तु आदि से रहित पदार्थ।

पृथ्वीकाय—जिन प्राणियों ने पृथ्वी का शरीर धारण कर रखा है।

बन्धमोक्ष—आत्मा का कर्मो के साथ बधन और उनसे (कर्मो से) सर्वथा मुक्त होना।

बहुश्रुत—शास्त्र, आगमो के रहस्य को जानने वाला।

बद्ध—बँधे हुए।

बाल—अज्ञानी।

बाल-संन्यासी—अज्ञान तप करने वाला संन्यासी साधक, जो कष्ट तो सह रहा था, परन्तु साधना के यथार्थ ज्ञान से शून्य था।

बाहुबली—भगवान ऋषभदेव का द्वितीय पुत्र, भरत चक्रवर्ती का छोटा भाई।

बौद्ध दर्शन—तथागत बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त।

ब्रह्म—ईश्वर, परमात्मा।

बृहत्कल्प भाष्य—छेद सूत्रो में से एक सूत्र (शास्त्र) और उस पर प्राकृत पद्य में विस्तृत विवेचन।

मांडले के दोष—आहार करते समय साधु द्वारा लगाए जाने वाले दोष—जैसे मूर्च्छा भाव से आहार की प्रशसा करके उसे खाना, उसकी निन्दा करते हुए खाना आदि।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन या बुद्धि की सहायता से पदार्थो का यथार्थ बोध करना।

मध्यस्थ भाव—तटस्थ भाव या वृत्ति।

मनःपर्यायज्ञान—मन और इन्द्रियो की सहायता के बिना सन्नी (मन वाले) पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावो को जानना।

मल्लि—वर्तमान कालचक्र के 19 वे तीर्थकर का नाम। 24 तीर्थकरों मे यह एक ही ऐसे तीर्थकर हुए है, जो स्त्री-लिग मे थे।

महा-परिज्ञा—विशिष्ट ज्ञान।

महायान—उत्कृष्ट चारित्र, मोक्षमार्ग।

मार—कामदेव, ससार।

मिथ्यादर्शन—अज्ञानी व्यक्तियो द्वारा प्ररूपित उपदेश या गलत समझ, गलत दृष्टि।

मुमुक्षु—मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रखने या मुक्ति के साधना-पथ पर चलने वाला साधक।

मुहम्मद—मुसलमानों के एक पैगम्बर (धार्मिक नेता)।

मूल-बीज—जिस वनस्पति के मूल मे बीज है।

मूलस्थान—कर्मबन्ध या ससार के मूल का कारण।

मेघकुमार मुनि—राजगृही के महाराज श्रेणिक का पुत्र और भगवान महावीर का शिष्य।

मैथुन-सज्ञा—स्त्री-पुरुष-सयोग की कामना का उदित होना।

मोहनीय-कर्म—आत्मा की शुद्ध—श्रद्धा एव त्याग भावना को आवृत करने वाला कर्म।

मोह संज्ञा—विषय-वासना एव कषायो मे आसक्त रहना।

भंग—विकल्प।

भक्त प्रत्याख्यान—मृत्यु को निकट जानकर जीवन-पर्यन्त के लिए अनशन व्रत स्वीकार करना।

भगवती सूत्र—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट पांचावा अग-शास्त्र। इसे विवाह पण्णत्ति भी कहते है।

भगवान ऋषभदेव—वर्तमान कालचक्र के प्रथम तीर्थंकर (अवतार पुरुष)।

भगवान महावीर—श्रमण—जैन-संस्कृति के 24वें तीर्थंकर (अवतार)।

भय संज्ञा—किसी भयकर वस्तु को देखकर या किसी अज्ञात अनिष्ट की कल्पना से मन में उत्पन्न होने वाले डर या भय का आभास होना।

भरत—भगवान ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र और भरत-क्षेत्र का प्रथम चक्रवर्ती राजा।

भव्य—जिस आत्मा मे मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है।

भोक्तृत्व—अपने कृत कर्म का फल भोगना।

भौतिक—सासारिक।

यति—साधु।

याज्ञिक हिंसा—यज्ञ की बलिवेदी पर की जाने वाली पशुओं या मनुष्यो की हिसा।

युगपत्—एक साथ।

योग—मन-वचन और काया (शरीर) की प्रवृत्ति या साधना की एक प्रक्रिया या चित्त की वृत्तियो का निरोध करके समाधिस्थ होना।

योजन—चार कोस, अर्थात् आठ मील अथवा लगभग तेरह किलोमीटर की लम्बाई।

योनि—जहां जीव जन्म ग्रहण करता है।

योनिपद—प्रज्ञापना सूत्र का वह विभाग जिसमे योनि—उत्पत्ति-स्थानो का वर्णन किया है।

रजोहरण—जीवो की यत्ना एव मकान आदि को साफ करने के लिए रखा जाने वाला ऊन का गुच्छक, यह साधु की साधुता का चिह्न भी है।

रत्न-त्रय—सम्यक् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र।

रम्यमान—रमण करने वाला।

रसज—खाद्य पदार्थो मे रस के विकृत होने से उत्पन्न होने वाले प्राणी।

रहनेमि—भगवान अरिष्टनेमि का लघुभ्राता, जिसने राजमती को अपने साथ भोग भोगने का आमन्त्रण दिया था और उससे प्रतिबोध पाकर साधनापथ पर पुन: दृढ़ हुआ।

राजमती—मथुरा के महाराज उग्रसेन की पुत्री, जिसका सम्बन्ध भगवान अरिष्टनेमि के साथ हुआ था। पशुओं की रक्षा के लिए जब अरिष्टनेमि उसे त्यागकर साधना करने चले गए, उस समय वह भी दीक्षित हो गई।

लोक—ससार, राग-द्वेष एवं काषायिक भाव।

लोकवादी—लोक के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाला।

लोक-सज्ञा—लोक मे प्रचलित रूढियो एव परम्पराओं पर विश्वास रखना।

लब्धि—शक्ति, आत्मा की एक ताकत।

लब्धि-त्रस—स्थावर नाम कर्म के उदय से जो एकेन्द्रिय जाति मे उत्पन्न हुए है, परन्तु फिर भी उनमें चारो दिशाओं मे गति करने की शक्ति है, उन्हे स्थावर होते हुए भी लब्धि-त्रस कहते है, जैसे—वायु और अग्नि।

लाघवता—हलकापन या कमी।

लाढ़-देश—यह बङ्गाल मे विहार की सीमा के निकट स्थित है, यहां के लोग अनार्य थे। यहा की भूमि वज्र कठोर होने से इसे वज्र भूमि भी कहते हैं।

लेश्या—परिणामों की शुभाशुभ धारा।

लोकभय—परिवार, समाज एवं राष्ट्र का भय।

वज्रऋषभनाराचसंघयण—इसमें शरीर की हड्डिया वज्र की तरह मजबूत होती है, उसमे वज्र सी हड्डी का कील और उसी का मर्कट बन्ध लगा रहता है। इस कारण वज्रऋषभनाराचसघयण वाले व्यक्ति पर अस्त्र-शस्त्र का जल्दी आघात नही लगता।

वज्रवत—वज्र की तरह कठोर।

वनस्पति-काय—जिन जीवो ने हरी-सब्जी, फल-फूल, पत्ते, अनाज के शरीर को धारण कर रखा है।

वात्स्यायन—एक वैदिक ऋषि, जिन्होने काम-सूत्र (काम-शास्त्र) की रचना की है।

वायु-काय—जिन जीवों ने हवा के शरीर को धारण कर रखा है।

विक्षिप्त—पागल।

विचिकित्सा संज्ञा—सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म एव तत्त्वों में संशय करना।

वितण्डावाद—विचार-चर्चा के समय एक-दूसरे पक्ष को परास्त करने के लिए तर्क के साथ छल-कपट का सहारा लेकर या हो-हल्ला मचाकर प्रतिपक्षी को परास्त करने का प्रयत्न करना।

विरूपरूप—बीभत्स एवं अमनोज्ञ स्वरूपवाला विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान अनावृत है, खुला है, स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

विहार—पैदल घूमना, पदयात्रा।

वेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीवन को सुख-दु.ख का सवेदन होता हो।

वेद—वैदिक—ब्राह्मण परम्परा के द्वारा मान्य शास्त्र।

वेदवित्—तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले आगम को वेद कहते हैं और उन आचाराङ्गादि आगमो को जाननेवाला वेदवित्।

वेदोदय—स्त्री, पुरुष या नपुसक वेद का उदय—अस्तित्व मे आना।

वैक्रिय—वह शरीर जिसमे हड्डी-मास आदि नही होता और जो आवश्यकतानुसार विभिन्न रूपो एव आकारों में बदला जा सकता है। वह नारकी और देवो में पाया जाता है।

वैक्रियलब्धि—एक शक्ति, जिसके द्वारा साधक अपनी इच्छानुसार विभिन्न रूप बना सकता है।

वैदिक दर्शन—वेद एव श्रुति-स्मृति को प्रमाण मानने वाला दर्शन, वेदान्त।

वैदिक परम्परा—जो दर्शन या सप्रदाय वेदो को ही प्रमाण मानती है।

वैयावृत्य—सेवा।

व्यय—क्षय होना, विनाश को प्राप्त होना।

व्यवच्छेद—छेदन।

संज्ञा—ज्ञान।

संगम देव—एक अज्ञानी देव, जो भगवान महावीर को साधनापथ से भ्रष्ट करने आया और उन्हें 6 महीने तक विभिन्न कष्ट देता रहा, परन्तु अपने उद्देश्य में असफल रहा। भगवान को साधनापथ से नही गिरा सका।

संघयण—शरीर की आकृति।

संठाण—शरीर की बनावट।

संयम—अपनी आत्मा को विषय-वासना, विकारो एव पाप कार्यो से निवृत्त करना। श्रमण, मुनि या सन्त जीवन की साधना।

संलेखना—शरीर आदि पदार्थो एवं आहारादि पर ममत्व को हटाने की एक साधना, जिसमे साधक तप के द्वारा अपनी वृत्तियो का सकोच कर लेता है।

संवृत्त योनि—जो उत्पत्ति-स्थान प्रच्छन्न है, ढका हुआ है।

संवृत्त-विवृत्त-योनि—जो उत्पत्ति-स्थान कुछ आवृत और कुछ अनावृत—खुला भी है।

संवेग—समभाव को अधिक वेग देना, अर्थात् समभाव की अभिवृद्धि।

संस्तारक—तृण या घास-फूस की शय्या।

संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणी, जू, लीख आदि।

सांख्यदर्शन—भारतीय षट्-दर्शन मे एक दर्शन, जिसके उपदेष्टा महात्मा कपिल थे।

सांतरोत्तर—एक अन्तर-पट और दूसरा उत्तर-पट, अर्थात् एक धोती के स्थान पर पहनने का वस्त्र और दूसरा शरीर के अन्य भाग को ढकने का वस्त्र—चद्दर।

सचित्त—चित्त अर्थात् चेतना से युक्त। हरी वनस्पति, पानी, अग्नि आदि सचित्त पदार्थ कहलाते है।

सचित्ताचित्त-योनि—जो उत्पत्ति स्थान जीव एव अजीव दोनो के प्रदेशो से युक्त है।

सचित्त-योनि—जो उत्पत्ति-स्थान जीव प्रदेशो से युक्त है।

सन्धि—जोड़ना। दर्शन और चारित्र मोहनीय और ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय

कर्म का क्षय या क्षयोपशम करना भाव सन्धि कहलाता है, जिससे सम्यग् दर्शन और ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है। आचाराङ्ग मे 'सन्धि' शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

सन्नी—मनयोग से युक्त प्राणी, अर्थात् जिन प्राणियों के मन है।

सन्मति—अच्छी बुद्धिवाला। भगवान महावीर का नाम।

समचौरंस सठाण—शरीर का एक प्रकार। सर्वाग परिपूर्ण और सुन्दर आकार को समचौरस सठाण कहते है।

समनोज्ञ—चारित्र एवं आचार संपन्न साधु।

समवाय सम्बन्ध—किसी पदार्थ के सामने आने पर आत्मा का उसके साथ होने वाला सम्बन्ध।

समिति—विवेक एवं यत्ना पूर्वक साधनापथ मे प्रवृत्त होना। साध्य की सिद्धि के लिए साधनाकाल में की जाने वाली प्रवृत्ति में विवेक, यत्ना एवं समभाव को बनाए रखना।

सम्मूर्च्छिम-मनुष्य—माता-पिता के सयोग के बिना मल-मूत्र आदि अशुचिजन्य स्थानो मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य।

सम्यग् ज्ञान—तत्त्वों एवं पदार्थो का यथार्थ ज्ञान—बोध।

सम्यक्त्व—तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा-निष्ठा रखना।

सम्यक्तया—परिणामों मे राग-द्वेष से युक्त भावों का सद्भाव।

सर्वज्ञ—सम्पूर्ण लोकालोक मे स्थित पदार्थो के तीनो काल के स्वरूप को अपनी शुद्ध आत्म-ज्योति से स्पष्टत देखने वाले महापुरुष।

सर्वथा पृथक्—पूर्ण रूप से अलग।

सागरोपम—समय का एक परिमाण। (कल्पना कीजिए कि यदि युगलियो के नवजात शिशु के बालो को इतना सूक्ष्म कर दिया जाए कि वे आख में न रड़कें, इस प्रकार के बाल खण्डों से एक योजन लम्बे, चौडे और गहरे कुएं को ठसाठस भर दिया जाए। फिर उस कुए मे से एक-एक बालखंड सौ-सौ वर्ष के पश्चात् निकाला जाए। जितने समय मे वह कुआं खाली हो, उसे एक पल्योपम कहते है। ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी कुएं खाली हों, उतने समय को एक सागरोपम कहते हैं।)

सादित्व—पदार्थ के अस्तित्व में आने की आदि।

साधनाभिमुख—साधना के पथ पर बढ़ने वाला।

साध्य-सिद्धि—अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लेना या अपने मुक्ति के उद्देश्य या ध्येय को पूरा कर लेना।

साम्परायिक क्रिया—कषाय युक्त भाव से की जीने वाली क्रिया। इससे व्यक्ति सात या आठ कर्म का बन्ध करता है और संसार मे परिभ्रमण करता है।

सामायिक—जिस क्रिया या साधना से समभाव का लाभ होता हो, समभाव की अभिवृद्धि होती हो।

सामिष—मासाहार।

सावद्य—पाप-युक्त।

सावद्य औषध—सदोष औषध या साधु के निमित जिस औषध को बनाने मे अनेक जीवों का वध होता हो।

सिद्ध-बुद्ध—समस्त कर्मो का नाश करके जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त होने वाली आत्मा।

सिद्ध भगवान—सपूर्ण कर्मो का क्षय करके जन्म-मरण के दुखो से एवं कर्म तथा कर्म-जन्य साधनो से सर्वथा मुक्त आत्मा।

सुधर्मा-स्वामी—भगवान-महावीर के पचम गणधर और उनके शासन के प्रथम आचार्य—शास्ता।

सुप्रत्याख्यान—सच्चा-यथार्थ एव अच्छा त्याग।

सूत्रकार—शास्त्रो के उपदेष्टा।

सोपक्रमी-आयुष्य—किसी प्रकार उपक्रम—आघात लगने पर जीव का आयुष्य कम भी हो सकता है।

स्कन्ध बीज—जिस वनस्पति के स्कन्ध मे बीज है।

स्थविर कल्प—सघ में रहकर मर्यादित वस्त्र, पात्र रखने एवं शहरादि मे मर्यादित काल के लिए रहकर धर्मोपदेश देने एव शिष्य बनाने वाले साधु निर्ग्रन्थो का कल्प—मर्यादा।

स्थानाङ्ग सूत्र—भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी वाणी में अंग शास्त्र।

स्थिति बन्ध—बँधने वाला कर्म कितने समय की आयु वाला है, अर्थात् बँधने वाले कर्म के काल या समय की मर्यादा।

स्थूलीभद्र—आचार्य भद्रबाहु के शिष्य, जिन्होंने आचार्य भद्रबाहु से 10 पूर्व का अध्ययन किया था। इस युग के ये अन्तिम 10 पूर्वधर माने जाते हैं।

स्पृष्ट—जो स्पर्शित हो रहे है।

स्याद्वाद—अनेक नयों—अपेक्षाओं से युक्त भाषा।

स्व-प्रकाशक—जो ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता—जानता है।

स्वमति—अपनी बुद्धि, अपने विचार और अपना ज्ञान।

स्वर्ग—मर्त्य लोक से ऊपर एक लोक विशेष, जहा आत्मा मर्त्य लोक मे किए हुए शुभ कर्म के फल का उपभोग करती है अथवा देवताओं के रहने का स्थान विशेष।

स्वलिंगि—जैन साधु के वेश मे।

स्वसंवेदक—अपने ज्ञान का स्वय को संवेदन—अनुभव होना।

स्वेतर—अपने से अतिरिक्त—भिन्न पदार्थ।

स्वानुभूति—आत्मा को अपने ज्ञान से अपने स्वरूप का अनुभव होना।

अवगाहना—शरीर की ऊंचाई।

शस्त्र-परिज्ञा—शस्त्रो की भयंकरता को जानकर, उसका परित्याग करना।

शाक्य—बौद्ध भिक्षु।

शीतयोनि—वह उत्पत्ति स्थान, जिसमे शीत—ठडा स्पर्श पाया जाता है।

शीतल लेश्या—एक शक्ति, जिसके द्वारा साधक तेजोलेश्या से प्रक्षिप्त जलाने वाले पुद्गलो को शान्त-प्रशान्त कर देता है।

शीतोष्ण योनि—जिस उत्पत्ति स्थान का स्पर्श ठण्डे और गर्मपन से मिश्रित है।

शील—संयम, महाव्रतों का परिपालन, तीन गुप्ति का आराधन, 5 इन्द्रिय एव कषायों का निग्रह, ब्रह्मचर्य।

शुक्ल ध्यान—राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा की शुद्ध परिणति मे रमण करना।

शोक संज्ञा—प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु का सयोग होने पर विलाप करना।

श्रमण—मोक्ष की साधना मे श्रम करने वाले साधु। यह शब्द जैन, बौद्ध, आजीवक और सांख्य मत के भिक्षुओ के लिए प्रयुक्त होता था।

श्रावक-श्राविका—जैन धर्म के आचार को अर्थात् अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक आशिक रूप से स्वीकार करने वाले सद् गृहस्थ (पुरुष और स्त्री)।

श्रुत—तीर्थकर द्वारा उपदिष्ट वाणी या आगम-शास्त्र।

श्रुत केवली—चौदह पूर्व या सपूर्ण आगमो का ज्ञाता।

श्रुत-ज्ञान—जैन आगमो का स्वाध्याय, श्रवण और चिन्तन-मनन करने से प्राप्त होने वाला ज्ञान।

श्रुत-ग्राही—श्रुत—आगमों को ग्रहण करने वाला।

श्रुत धर्म—आगम मे उपदिष्ट ज्ञान की साधना करना।

श्रुतस्कन्ध—शास्त्र के विभाग (Volume)।

श्रेणिक—मगध-देश का सम्राट् भगवान महावीर का उपासक भक्त, जिसे बौद्ध साहित्य मे बिम्बसार नाम से सम्बोधित किया गया है।

हरिकेशी मुनि—चण्डाल—शूद्र कुल मे उत्पन्न मुनि, जो साधना के द्वारा देवो का भी वन्दनीय बन गया। उत्तराध्ययन के 12वे अध्ययन मे इनके जीवन एवं साधना का वर्णन आता है।

हलुकर्मी—जल्दी प्रतिबोध पाने वाले व्यक्ति, जिनका ससार-परिभ्रमण स्वल्प रह गया है।

हेय—त्यागने योग्य।

समाप्त

जैन धर्म दिवाकर,
आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	—	राहों
पिता	—	लाला मनसारामजी चौपड़ा
माता	—	श्रीमती परमेश्वरी देवी
वश	—	क्षत्रिय
जन्म	—	विक्रम स. 1939 भाद्र सुदि वामन द्वादशी (12)
दीक्षा	—	वि स 1951 आषाढ शुक्ला 5
दीक्षा स्थल	—	बनूड (पटियाला)
दीक्षा गुरु	—	मुनि श्री सालिगराम जी महाराज
विद्यागुरु	—	आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज (पितामह गुरु)
साहित्य सृजन	—	अनुवाद, संकलन- सम्पादन-लेखन द्वारा लगभग 60 ग्रन्थ
आगम अध्यापन	—	शताधिक साधु-साध्वियो को।
कुशल प्रवचनकार	—	तीस वर्ष से अधिक काल तक।
आचार्य पद	—	पजाब श्रमण सघ, वि सं. 2003, लुधियाना।
आचार्य सम्राट् पद	—	अखिल भारतीय श्री वर्ध स्था जैन श्रमण संघ सादड़ी (मारवाड़) 2009 वैशाख शुक्ला
सयम काल	—	67 वर्ष लगभग।
स्वर्गवास	—	वि स 2019 माघवदि 9 (ई 1962) लुधियाना।
आयु	—	79 वर्ष 8 मास, ढाई घटे।
विहार क्षेत्र	—	पजाब, हरियाणा, हिमाचल, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि।
स्वभाव	—	विनम्र-शान्त-गभीर प्रशस्त विनोद।
समाज कार्य	—	नारी शिक्षण प्रोत्साहन स्वरूप कन्या महाविद्यालय एव पुस्तकालय आदि की प्रेरणा।

जैनभूषण, पंजाब केसरी, बहुश्रुत, महाश्रमण गुरुदेव श्री ज्ञान मुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म भूमि	—	साहोकी (पजाब)
जन्म तिथि	—	वि स 1979 वैशाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया)
दीक्षा	—	वि स. 1993 वैशाख शुक्ला 13
दीक्षा स्थल	—	रावलपिंडी (वर्तमान पाकिस्तान)
गुरुदेव	—	आचार्य सम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज
अध्ययन	—	प्राकृत, सस्कृत, उर्दू, फारसी, गुजराती, हिन्दी, पजाबी, अंग्रेजी आदि भाषाओ के जानकार तथा दर्शन एव व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित, भारतीय धर्मों के गहन अभ्यासी।
सृजन	—	हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण पर भाष्य, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना आदि कई आगमो पर बृहद् टीका लखन तथा तीस से अधिक ग्रन्थो के लेखक।
प्ररणा	—	विभिन्न स्थानको, विद्यालयो, औषधालयो, सिलाई केन्द्रो के प्रेरणा स्रोत।
विशेष	—	आपश्री निर्भीक वक्ता हैं, सिद्धहस्त लेखक हैं, कवि हैं। समन्वय तथा शान्तिपूर्वक क्रान्त जीवन के मगलपथ पर बढ़ने वाले धार्मनेता है, विचारक है, ममाज सुधारक है, आत्मदर्शन की गहराई मे पहुचे हुए साधक हैं। पजाब तथा भारत के विभिन्न अचलो मे बसे हजारे जैन-जैनेतर परिवारो में आपके प्रति गहरी श्रद्धा एव भक्ति है। आप स्थानकवासी जैन समाज के उन गिने-चुने प्रभावशाली सतों मे प्रमुख हैं जिनका वाणी-व्यवहार सदा ही सत्य का समर्थक रहा है। जिनका नेतृत्व समाज को सुखद, सरक्षक और प्रगति पथ पर बढाने वाला रहा है।
स्वर्गारोहण	—	मन्डी गोबिन्दगढ़ (पजाब) 23 अप्रेल 2003 (रात 11.30 बज)

आचार्य सम्राट् श्री शिवमुनि जी महाराज : शब्द चित्र

जन्म स्थान	—	मलौटमडी, जिला-फरीदकोट (पंजाब)
जन्म	—	18 सितम्बर, 1942 (भादवा सुदी सप्तमी)
माता	—	श्रीमती विद्यादेवी जैन
पिता	—	स्व श्री चिरजीलाल जैन
वर्ण	—	वैश्य ओसवाल
वश	—	भाबू
दीक्षा	—	17 मई, 1972 समय : 12.00 बजे
दीक्षा स्थान	—	मलौटमण्डी (पजाब)
दीक्षा गुरु	—	बहुश्रुत, जैनागमरत्नाकर राष्ट्रसत श्रमणसंघीय मलाहकार श्री ज्ञानमुनि जी महाराज
शिष्य-सपदा	—	श्री शिरीष मुनि जी, श्री शुभममुनि जी श्री श्रीयशमुनि जी, श्री सुव्रतमुनि जी एव श्री शमितमुनि जी
प्रशिष्य	—	श्री निशात मुनि जी श्री निरजन मुनि जी श्री निपुण मुनि जी
युवाचार्य पद	—	13 मई, 1987 पूना, महाराष्ट्र
श्रमणसंघीय आचार्य पदारोहण	—	9 जून, 1999 अहमदनगर, महाराष्ट्र
चादर महोत्सव	—	7 मई, 2001, ऋषभ विहार, दिल्ली में
विचरण क्षेत्र	—	पजाब, हरियाणा, हिमाचल, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटका, गुजरात आदि
अध्ययन	—	डबल एम.ए., पी-एच डी., डी.लिट्, आगमो का गहन गंभीर अध्ययन, ध्यान-योग-साधना मे विशेष शोध कार्य

श्रमण श्रेष्ठ कर्मठयोगी, मंत्री श्री शिरीष मुनि जी महाराज : संक्षिप्त परिचय

श्री शिरीषमुनि जी महाराज आचार्य भगवन् ध्यान योगी श्री शिवमुनि जी महाराज के प्रमुख शिष्य है। वर्ष 1987 के आचार्य भगवन के मुम्बई (खार) के वर्षावास के समय आप पूज्य श्री के सम्यक् सम्पर्क में आए। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठकर आपने आत्मसाधना के तत्त्व को जाना और हृदयगम किया। उदयपुर से मुम्बई आप व्यापार के लिए आए थे और व्यापारिक व्यवसाय मे स्थापित हो रहे थे। पर आचार्य भगवन के सान्निध्य मे पहुचकर आपने अनुभव किया कि अध्यात्म ही परम व्यापार है। भौतिक व्यापार का कोई शिखर नही है जबकि अध्यात्म व्यापार स्वय एक परम शिखर है और आपने स्वय के स्व को पूज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित-समर्पित कर दिया।

पारिवारिक आज्ञा प्राप्त होने पर 7 मई सन् 1990 यादगिरी (कर्नाटक) मे आपने आर्हती दीक्षा मे प्रवेश किया। तीन वर्ष की वैराग्यावस्था में आपने अपने गुरुदेव पूज्य आचार्य भगवन से ध्यान के माध्यम से अध्यात्म मे प्रवेश पाया। दीक्षा के बाद ध्यान के क्षेत्र मे आप गहरे और गहरे उतरते गए। साथ ही आपने हिन्दी, अग्रेजी, सस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं का भी तलस्पर्शी अध्ययन जारी रखा। आपकी प्रवचन शैली आकर्षक है। समाज मे विधायक क्रांति के आप पक्षधर है और उसके लिए निरतर समाज को प्रेरित करते रहते है।

आप एक विनय गुण सम्पन्न, सरल और सेवा समर्पित मुनिराज है। पूज्य आचार्य भगवन के ध्यान और स्वाध्याय के महामिशन को आगे और आगे ले जाने के लिए कृतसकल्प है। अहर्निश स्व-पर कल्याण साधना रत रहने से अपने श्रमणत्व को साकार कर रहे है।

शब्द चित्र में आपका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

जन्म भूमि	—	नाई (उदयपुर, राजस्थान)
जन्मतिथि	—	19-2-1964
माता	—	श्रीमती सोहनबाई
पिता	—	श्रीमान ख्यालीलाल जी कोठारी
वश, गौत्र	—	ओसवाल, कोठारी
दीक्षा तिथि	—	7 मई, 1990
दीक्षा स्थल	—	यादगिरी (कर्नाटक)
गुरु	—	श्रमण सघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य श्री शिवमुनिजी महाराज
दीक्षार्थ प्रेरणा	—	दादीजी मोहन बाई कोठारी द्वारा।
शिक्षा	—	एम ए (हिन्दी साहित्य)
अध्ययन	—	आगमो का गहन गभीर अध्ययन, जैनेतर दर्शना मे सफल प्रवेश तथा हिन्दी, सस्कृत, अग्रेजी, प्राकृत, मराठी, गुजराती भाषाविद्।
उपाधि	—	श्रमण सघीय मत्री, श्रमणश्रेष्ठ कर्मठयोगी, साधुरत्न
शिष्य सम्पदा	—	श्री निशात मुनि जी, श्री निरजन मुनि जी एव श्री निपुण मुनि जी
विशेष प्रेरणादायी कार्य	—	ध्यान योग साधना शिविरो का सचालन, बाल-सस्कार शिविरो और स्वाध्याय-शिविरो के कुशल सचालक। आचार्य श्री के अनन्य सहयोगी।

आचार्य भगवंत का प्रकाशित साहित्य

आगम सपादन

◆ श्री उपासकदशाग सूत्रम्	(व्याख्याकार आचार्य श्री आत्माराम जी म.)
◆ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग एक)	"
◆ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग दो)	"
◆ श्री उत्तराध्ययन सूत्रम् (भाग तीन)	"
◆ श्री अन्तकृद्दशाग सूत्रम्	
◆ श्री दशवैकालिक सूत्रम्	"
◆ श्री अनुत्तरौपपातिक सूत्रम्	"
◆ श्री आचाराग सूत्रम् (भाग एक)	"
◆ श्री आचारांग सूत्रम् (भाग दो)	"

साहित्य (हिन्दी)–

◆ भारतीय धर्मों मे मोक्ष विचार	(शोध प्रबन्ध)
◆ ध्यान · एक दिव्य साधना	(ध्यान पर शोध-पूर्ण ग्रन्थ)
◆ ध्यान-पथ	(ध्यान सम्बन्धी चिन्तनपरक विचारबिन्दु)
◆ योग मन सस्कार	(निबन्ध)
◆ जिनशासनम्	(जैन तत्व मीमासा)
◆ पढम नाण	(चिन्तन परक निबन्ध)
◆ अहासुह देवाणुप्पिया	(अन्तगडसूत्र प्रवचन)
◆ शिव-धारा	(प्रवचन)
◆ अन्तर्यात्रा	"
◆ नदी नाव सजाग	"
◆ अनुश्रुति	"
◆ मा पमायए	"
◆ अमृत की खोज	"
◆ आ घर लौट चले	"
◆ संबुज्झह किं ण बुज्झह	"
◆ प्रकाशपुञ्ज महावीर	(संक्षिप्त महावीर जीवन-वृत्त)
◆ सद्गुरु महिमा	(प्रवचन)

साहित्य (अग्रेजी)–

- दी जैना पाथवे टू लिब्रेशन
- दी फण्डामेन्टल प्रिंसीपल्स ऑफ जैनिज्म
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ द सल्फ इन जैनिज्म
- दी जैना ट्रेडिशन
- दी डॉक्ट्रीन ऑफ लिब्रेशन इन इंडियन रिलिजन विथ रेफरेंस टू जैनिज्म
- स्पीरीच्युन प्रक्टेसीज ऑफ लॉर्ड महावीरा।